• [illegible] •

श्रील सनातनगोस्वामिकृत 'दिग्दर्शिनी' टीकोपेतः

श्रील गोपालभट्टगोस्वामिविरचितः

श्रीहरिभक्तिविलासः

प्रथमो भागः

श्रीहरिदास शास्त्री

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः *

श्रील सनातनगोस्वामिकृत 'दिग्‌दर्शिनी' टीकोपेतः
श्रील गोपालभट्टगोस्वामिविलिखितः

श्रीहरिभक्तिविलासः

(१–१०)

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,
काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क
वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा
सम्पादितः ।

सद्ग्रन्थप्रकाशक
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरिप्रेस
श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो०—वृन्दावन, जिला—मथुरा,
(उत्तर प्रदेश) पिन—२८११२१

मुद्रक*प्रकाशक :—

श्रीहरिदासशास्त्री

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदास निवास, कालीदह,

पो०—वृन्दावन, जिला—मथुरा (उ० प्र०)

पिन—२८११२१

प्रकाशनतिथि—

श्रीजगन्नाथ देवस्य रथयात्रा

६-७-८६

प्रथम संस्करणम्—१०००

"भारतशासनाधीनशिक्षासंस्कृतिमन्त्रणालयतः प्राप्तसाहाय्येन मुद्रितोऽयं ग्रन्थः"

"Published with the financial assistance from the Ministry of Education. Govrnment of India."

प्रकाशन सहायता—

रु० १८०-००

❋ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❋

विज्ञप्तिः

सम्प्रति "श्रीहरिभक्तिविलास" नामक सुप्रसिद्ध वैष्णव-स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ विंशति विलास में पूर्ण है—प्रथम विलासः (गौरवो नाम), द्वितीय विलासः (दैक्षिको नाम), तृतीय विलासः (शौचीयो नाम), चतुर्थ विलासः (वैष्णवालङ्कारो नाम), पञ्चम विलासः (आधिष्ठानिको नाम), षष्ठ विलासः (स्नापनिको नाम), सप्तम विलासः (पौष्पिको नाम), अष्टम विलासः (प्रातरर्च्चा समापनो नाम), नवम विलासः (महाप्रसाद नाम), दशम विलासः (सत्सङ्गमो नाम), एकादश विलासः (नित्यकृत्य समापनो नाम), द्वादश विलासः (एकादशी निर्णय नाम), त्रयोदश विलासः (विष्णु व्रतोत्सवो नाम), चतुर्द्दश विलासः (चातुर्मासिको नाम), पञ्चदश विलास (विष्ण्वाविर्भावो नाम), षोड़श विलासः श्रीदामोदर प्रियो नाम), सप्तदश विलासः (पौरश्चरणिको नाम), अष्टादश विलासः (श्रीमूर्त्तिप्रादुर्भावो नाम), एकोनविंश विलासः (प्रातिष्ठिको नाम), विंश विलासः (प्रासादिको नाम)।

प्रस्तुत ग्रन्थांश में पञ्चम विलास पर्य्यन्त निबद्ध है। उक्त विलास समूह का विषय विवरण इस प्रकार है—

प्रथमविलासः श्लोक संख्या—२३५

मङ्गलाचरणम् १-४, लेख्य प्रतिज्ञा ५-२७, श्रीगुरूपसत्ति कारणम् २८-३१, श्रीगुरूपसत्तिः ३२-३५, श्रीगुरूपसत्ति नित्यता ३६-३७, श्रीगुरोर्लक्षणानि ३८-५५, अगुरु लक्षणम् ५६-५८, शिष्य लक्षणानि ५९-६३, उपेक्ष्याः (शिष्याः) ६४-७३, शिष्य परीक्षणम् ७४-७८, श्रीगुरुसेवा विधिः ७९-१००, द्वयोरपि (गुरुशिष्ययोरपि) महादोषः १०१, शिष्य प्रार्थना १०२-१०३, श्रीभगवन्माहात्म्यम् १०४-१२०, वैष्णवमन्त्र माहात्म्यम् १२१-१२४, द्वादशाक्षराष्टादशाक्षरयो र्माहात्म्यम् १२५-१४४, श्रीनरसिंहानुष्टुभ मन्त्रराजस्य माहात्म्यम् १४५-१४६, श्रीराममन्त्राणां माहात्म्यम् १४७-१५४, श्रीगोपालदेव मन्त्र माहात्म्यम् १५५-१५९, अष्टादशाक्षर मन्त्र माहात्म्यम् १६०-१९३, मन्त्रग्रहणाधिकार निर्णयः १९४-२००, सिद्ध-साध्यादि शोधनम् २०१-२२५, मन्त्र संस्कारः २२६-२३५।

द्वितीयविलासः श्लोक संख्या—२५३

मङ्गलाचरणम् १, दीक्षाविधि २, दीक्षा नित्यता ३-८, दीक्षा माहात्म्यम् ९-१२, दीक्षाकाले मास शुद्धिः १३-२१, बार शुद्धिः २२, नक्षत्र शुद्धिः २३-२४, तिथि शुद्धिः २५-२७, दीक्षाया अपवादः अर्थात् विशेष विधिः २८-३३, दीक्षामण्डप निर्म्माण विधिः ३४-३६, दीक्षा कुण्ड निर्म्माण विधिः ३७-५१, दीक्षामण्डल विधिः ५२-५४, दीक्षाङ्ग पूजा ५५, पूजायां कुम्भ स्थापन विधिः ५६-६३, शङ्ख स्थापन विधिः ६४-७८, कुम्भे श्रीभगवत् पूजाविधिः ७९-८३, दीक्षाहोम विधिः ८४-९२, दीक्षाङ्ग देवता ९३, अष्टमूर्त्तयः ९४-९९,

तृतीयविलासः श्लोक संख्या—३६०

चतुर्थविलासः श्लोक संख्या—३७६

१२०, तत्र निषिद्ध दिनानि १२१-१२२, आमलक स्नानम् १२३-१२६, तिल स्नानम् १२७-१२८, तैल स्नानम् १२९-१३७, तुलसी जलाभिषेक माहात्म्यम् १३८-१४४, वस्त्रधारण विधिः १४५-१६१, पीठम् १६२-१६३, आसन विधिः १६४-१६९,द्वादश तिलक विधिः१७०-१७५ किरीट मन्त्रः १७६,ऊर्द्ध्व पुण्ड्र नित्यता १७७-१९०, ऊर्द्ध्व पुण्ड्र माहात्म्यम् १९१-२०३, ऊर्द्ध्व पुण्ड्र निर्म्माण विधिः २०४-२१२,ऊर्द्ध्व पुण्ड्रस्य मध्यछिद्र नित्यता २१३-२१५, हरिमन्दिर लक्षणम् २१६-२२०, तिलक रचना अङ्गुलि नियमः २२१, ऊर्द्ध्व पुण्ड्र मृत्तिकाः २२२-२२६, श्रीगोपीचन्दन माहात्म्यम् २२७-२३१, गोपीचन्दनोर्द्ध्व पुण्ड्र माहात्म्यम् २३२-२४१, श्रीतुलसी-मूलमृत्तिका पुण्ड्र माहात्म्यम् २४२-२४६, मुद्राधारण नित्यता २४७-२५३, मुद्राधारण माहात्म्यम् २५४-२६६, मुद्राधारण विधिः २६७-३०४, चक्रादीनां लक्षणानि ३०५-३०६, मालादि धारणम् ३०७-३०८, मालाधारण विधिः ३०९-३१५, मालाधारण नित्यता ३१६-३१८, मालाधारण माहात्म्यम् ३१९-३३८, गृहे सन्ध्योपासन विधिः ३३९-३४१, श्रीगुरुपूजा ३४२-३४५, श्रीगुरु माहात्म्यम् ३४६-३६५, अत्रापवाद— अशास्त्रीय गुरुत्यागे सद्गुरुग्रहणे च विशेषविधिः ३६६, श्रीगुरुभक्ति फलम् ३६७-३७६ ।

पञ्चमोविलासः श्लोक संख्या—४८०

नमस्कारो वस्तु निर्देशश्च १-५, गृहप्रवेश माहात्म्यम् १४, गृहान्तः पूजा १५-१७, पूजार्थासनम् १८-२०, आसन मन्त्र २१-२२, आसनानि २३-२४, विशेषत आसन दोषगुणौ २५-२८, पात्रासादनम् २९-३१, पात्राणि, तन्माहात्म्यञ्च ३२-३९, मङ्गलघट स्थापनम् ४०-४२, अर्घ्यादि पात्राणि ४३-५४, मङ्गल शान्तिः ५५-५६, विघ्न निवारणम् ५७-५९, श्रीगुर्वाविनति ६०-६२, भूतशुद्धिः ६३-६४, तत् प्रकारश्च ६५-७३, प्राणायामः ७४-८२, प्राणायाम माहात्म्यम् ८३-८८, आदौ मातृकान्यासः ८९-९४, मातृकान्यासः ९५-९६, केशवादि न्यासः ९७-९८, ध्यानम् ९९, श्रीमूर्त्तयः १००-१०६, शक्तयः १०७-११६, तत्त्वन्यासः ११७-१२८, पुनः प्राणायामविशेषः १२९-१३१, तत्र कालः संख्याविकल्प्श्च १३२, पीठन्यासः १३३-१४३, अथ पीठमन्त्रः १४४-१४५, ऋष्यादि स्मरणम् १४६-१५७, अक्षरन्यासः १५८-१६०, पदन्यासः १६१-१६४, ऋष्यादि न्यासः १६५, मुद्रापञ्चकम् १६६-१६७, श्रीनन्दनन्दन भगवद् ध्यानविधिः १६८-२१७, अन्तर्यागः २१८-२१९, प्रार्थना विधिः २२०-२२१, शङ्खप्रतिष्ठा २२२-२३१, स्वदेहे पीठपूजा २३२, देवाङ्गे मन्त्राङ्गादि न्यासः २३३-२३६, वाद्योपचारैरन्तः पूजा २३७-२४१, अन्तर्याग माहात्म्यम् २४२-२४८, बहिः पूजा २४९-२५०, पूजा स्थानादि २५१-२५६, श्रीमूर्त्तयः २५७-२६०, श्रीमूर्त्तिलक्षणानि २६१-२७६, चतुर्विंशति मूर्त्यः २७७-२९५, शालग्राम-शिलाः २९६-२९८, शिलानां वर्णभेदेन गुणदोषौ २९९-३१२, तासामेवलक्षणविशेषेण संज्ञाविशेषः ३१३-३६२, श्रीशालग्रामशिला माहात्म्यम् ३६३-४२९, बाहुल्ये तासां शालग्राम शिलानां फलविशेषः ४३०-४३५, तत् शालग्रामशिला क्रयविक्रयनिषेधः ४३६-४३७, प्रतिष्ठानिषेधः ४३८-४३९, सर्वाधिष्ठान श्रैष्ठ्यम् ४४०-४४७, शालग्रामशिला पूजानित्यता ४४८-४५६, शालग्रामशिला श्रीद्वारका चक्राङ्कशीला संयोग माहात्म्यम् ४५७-४५९, श्रीद्वारकाचक्राङ्क लक्षणानि ४६०-४६२,द्वादश चक्राङ्क माहात्म्यम् ४६३-४६६, तेष्वेव चक्रभेदेन फल-भेदः ४६७-४७३, वर्णादिभेदेन शालग्रामशिलानां दोषगुणाः, पूज्यत्वापूज्यत्वे च ४७४-४८० ।

एतद्व्यतीत अवशिष्ट विलास समूह में क्रमशः ये सब विषय समूह सन्निविष्ट हैं । क्षालनादि शुद्धि, पीठपूजा, श्रीमूर्त्ति प्रभृति के आवाहनादि, मुद्रादि, आसनादि समर्पण, स्नान, शङ्ख-घण्टादि वाद्य, सहस्र नाम, पुराण पाठ, वसन, उपवीत, विभूषण, गन्ध, तुलकीकाष्ठ चन्दन, पुष्प, बिल्वादि पत्र, तुलसी, अङ्ग, उपाङ्ग एवं आवरणादिकी अर्च्चना, धूप, दीप, नैवेद्य, पान, होम,विष्वक्सेनादि भक्तवृन्द को भगवदुच्छिष्ट

दानरूप बलिक्रिया, गण्डूषार्थ जल, लवङ्ग ताम्बूलादि मुखवास, पुनर्वार दिव्यगन्धादि, राज्योपचार छत्र-चामरादि, गीत-वाद्य-नृत्य, महानीराजन, उस समय शङ्खादि वाद्य, सजल-शङ्ख द्वारा नीराजन, स्तुति, नति, प्रदक्षिण, जप, प्रार्थना, अपराध मार्जना, विविध अपराध, निर्म्माल्य धारण, भगवन्नीराजित शङ्ख-जल, श्रीचरण जल, तुलसी पूजा, तुलसी तलस्थ मृत्तिका, तुलसी काष्ठ, आमलकी माहात्म्य, स्नान का निषिद्ध काल, जीविकार्जन, मध्याह्न काल में बलि-वैश्वदेवादि श्राद्ध, श्रीविष्णुको अर्पण योग्यवस्तु, अर्चन व्यतीत भक्षण एवं अनिवेदित भक्षण से दोष, नैवेद्य भक्षण, साधुवृन्द का लक्षण, साधुसङ्ग, असत्सङ्ग त्याग, असत् लोक की गति, वैष्णव उपहास एवं निन्दादि से उत्पन्न कुफल, साधुवृन्द का सम्मानन, विष्णु शास्त्र, श्रीमद्भागवत, लीलाकथा, भागवत धर्म, सन्ध्योपासनादि क्रिया, वैष्णवों के पक्षमें काम्यकर्म्म, आचरण न करनेसे दोषाभाव, कालत्रय में पूजाविधिविशेष, रात्रि कृत्य, पूजाफल सम्पूर्णता का प्रकार, पूजा वा श्रीमूर्त्तिका दर्शन, श्रीविष्णु प्रीत्यर्थ कपिलादि धेनुदान, विविध उपचार, उपचार के अभाव होने पर पूजा सम्पादन, आचमन विधि, श्रीभगवत् पूजा माहात्म्य, श्रीनाम का अद्भुत माहात्म्य, नामापराध, भक्ति, प्रेम, शरणागति, पक्षद्वय में एकादशी, अष्ट महाद्वादशी, द्वादश मासके कृत्यादि, पुरश्चरण विधि, मन्त्रसिद्धि का लक्षण, भगवान की मूर्त्ति का निर्म्माण एवं संस्कार, श्रीमूर्त्ति प्रतिष्ठा, श्रीविष्णु मन्दिर, जीर्णोद्धार, श्रीतुलसी विवाह एवं एकान्ति भक्तवृन्द का कृत्य। ये सब विषयों की सप्रमाण विस्तृत आलोचना प्रस्तुत श्रीहरिभक्तिविलास ग्रन्थ में लिखित है।

अनुशासित मानव जीवन अभ्युदय अर्थात् उन्नति, भाग्योदय, सौभाग्य, श्रीवृद्धि, आनन्द, इष्टलाभ का एकमात्र हेतु है। अनुशासन के अभाव से मानव जीवन अतीव अशिव होता है, यहाँतक कि—अनुशासन हीन एक मानव ही पृथिवी के पक्षमें भार-स्वरूप होता तो है ही समस्त प्राणियों को उद्वेगदान-कारी भी होता है।

शास्त्रीय भक्तिधर्म सुनीति पूर्ण है, इसमें ही प्राणिमात्र के प्रति अभय प्रदान करने की एकमात्र व्यवस्था है, सर्वादि, सर्वनिरपेक्ष, सर्वहितकर, सर्वजन सुखसेव्य ही भक्तिधर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण ही उक्त भक्तिधर्म का नित्य प्रचारक हैं।

सर्वैश्वर्य्यमाधुर्य्यपूर्ण स्वीय अत्याश्चर्य्य लीला द्वारा चराचर विश्व का आकर्षणकारी परम प्रेमास्पद असाधारण प्रेमशक्ति सम्पन्न स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीहरि शब्द का वाच्य हैं। तद्विषयिणी भक्ति-रुचिकर परिचर्य्या का विलास-वैचित्र्य बहिर्विलास का सम्यक् अङ्कन प्रस्तुत ग्रन्थ में होने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम श्रीहरिभक्ति विलास है।

निर्निमित्त परोपकार हेतु जिन्होंने स्वीय विभूति, जीवन, एवं सुख को परम करुण विश्वस्रष्टा के चरणों में अर्पण किये हैं, वे ही सत् शब्द वाच्य हैं। उनके सहित संयोग ही सत्सङ्ग है, अनुशासन एवं मङ्गलोपदेशात्मक शास्त्र का ग्रहण सत् शब्द से मुख्यतया होता है, द्वितीयतः शास्त्रोपदेश को जीवातु मानकर जो मानव, स्वीय शास्त्रानुभूत विमल शिक्षा प्रदान के द्वारा हिंसा विद्वेषादि का अपसारण हृदय से करते रहते हैं, उनको भी सत् कहते हैं।

शुद्ध भक्ति ही परमोपादेय वस्तु है. इसमें ही प्राणिमात्र सुखपूर्वक अवस्थान कर सकते हैं। परोत्कर्षासहनी बुद्धिशून्य प्राणिमात्र के प्रति ऐकान्तिकी दयापरायण व्यक्ति ही उक्त उत्तमाभक्ति का अधिकारी होता है। भक्तिरसामृतसिन्धु के १।१।९ में शुद्धाभक्ति का लक्षण लिखित है—

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।।"

सर्वैश्वर्यमाधुर्य्यपूर्ण, स्वीय अत्याश्चर्य्य लीला द्वारा चराचर विश्व का आकर्षणकारी, परमप्रेमास्पद स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के निमित्त अथवा श्रीकृष्ण सम्बन्धि विश्ववस्तुसमूह के प्रति आनुकूल्यमय अनुशीलन ही उत्तमाभक्ति अथवा उत्तमाभक्ति का स्वरूप लक्षण है। जो जिस प्रकार होता है, वह ही उसका स्वरूप होता है। स्वरूप का परिचायक जो लक्षण—अर्थात् जो लक्षण स्वरूप का परिचय प्रदान करता है, वह ही उसका स्वरूप लक्षण अथवा मुख्य विशेषण है। 'अनुशीलन' शब्द 'शील' धातु से उत्पन्न हुआ है। क्रिया शब्द के द्वारा जिस प्रकार 'कृ' धातु का अर्थ बोध ही होता है, अनुशीलन शब्द के द्वारा भी उस प्रकार 'शील' धातु का अर्थमात्र ही उक्त होता है। 'शील' धातु का अर्थ शीलन, शील धातु अन् प्रत्यय योगसे निष्पन्न उक्त शब्दसे अभ्यास, आलोचना, परिदर्शन, प्रवर्त्तन अर्थ होते हैं। वह शीलन, प्रवृत्यात्मक एवं निवृत्यात्मक भेद से द्विविध हैं। शारीर, मानस, वाचिक चेष्टा, एवं प्रीतिविषयात्मक प्रसिद्ध मानस भाव है। भाव शब्द का अर्थ—वृत्ति है, मानस-भाव शब्द का अर्थ—मनोवृत्ति है। प्रसिद्ध मानसभाव शब्द से स्थायी एवं सञ्चारी भावसमूह का बोध होता है। प्रीति विषादात्मक शब्द का अर्थ—रागात्मक एवं द्वेषात्मक है। वाचिक चेष्टा—कीर्त्तन, मानस चेष्टा—स्मरण, शारीर चेष्टा—श्रवणादि हैं। निवृत्यात्मक चेष्टा से त्यागात्मक चेष्टा का बोध होता है। प्रवृत्यात्मक चेष्टा शब्द से—ग्रहणात्मक चेष्टा का बोध होता है। आनुकूल्यमय का अर्थ रुचिकर है। अतएव साक्षात् श्रीकृष्ण के निमित्त, अथवा श्रीकृष्ण सम्बन्धि वस्तु के प्रति, अर्थात् परम्परा क्रम से तन्निमित्त जो कुछ शारीरादि चेष्टा, एवं भाव, यह यदि भजनीय के अरुचिकर न होकर रुचिकर होता है,तब यह परिचर्य्या, सेवा, वरिवस्या, सद्व्यवहार प्रभृति भक्ति शब्दसे कथित होते हैं। अरुचिकर चेष्टा का अथवा भाव का, किन्तु निजमनोऽनुकूल आचरण का भक्तित्व सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् वह भक्ति नहीं है, वह आत्मम्भरिता है।

यह भक्ति—सोपाधिकी निरुपाधिकी भेद से द्विविधा हैं। भक्ति की दो उपाधि हैं,एक अन्याभिलाष, अपर अन्य मिश्रण। उपाधि विशिष्टा भक्ति को सोपाधिकी अथवा गौणी भक्ति कहते हैं, एवं उपाधिशून्या भक्ति को निरुपाधि अथवा मुख्या भक्ति कहते हैं। मूललक्षणस्थ उत्तमा शब्द का अर्थ मुख्या है। अतएव पूर्वोक्त अनुशीलन, अन्याभिलाष शून्य एवं अन्य मिश्रण शून्य होता है तो उसको उत्तमा भक्ति कहेंगे। उक्त भक्ति का यह तटस्थलक्षण अथवा गौण विशेषण है।

अन्याभिलाष शब्द से—भोगवासना एवं मोक्षवासना प्रभृति को जानना होगा। अन्यमिश्रण शब्द से ज्ञानकर्मादि के आचरण का बोध होता है। ज्ञान—जीवब्रह्मैक्य ज्ञान, कर्म—स्मृतिशास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिकादि कर्म, शुष्कवैराग्य,सांख्य एवं अष्टाङ्गयोग प्रभृति को जानना होगा। अतएव पूर्वोक्त अनुशीलन यदि भुक्ति मुक्ति कामना रहित होकर केवल श्रवण कीर्त्तनादिमय होता है तो, उसको उत्तमा भक्ति कहेंगे। यह उत्तमाभक्ति, निर्गुणा, शुद्धा, केवला, मुख्या, अनन्या, अकिञ्चना, एवं स्वरूपसिद्धा नाम से अभिहिता हैं। मुक्तिसाधक ज्ञानादि का मिश्रण न होनेपर एवं भक्तिभिन्न अन्याभिलाष का सम्पर्क न होनेसे भक्ति का उत्तमत्व अथवा शुद्धत्व सिद्ध होता है।

भोगवासना युक्ता भक्ति का नाम सकामा भक्ति है। मोक्षवासना युक्त भक्ति का नाम निष्कामा भक्ति है। तामस राजस गुण-सम्पन्न होने के कारण सकामा भक्ति का अपर नाम सगुणा भक्ति है। उस

भक्ति के अधिकारी आर्त्त एवं अर्थार्थी व्यक्तिगण हैं एवं स्वर्गादि भोग ही उसका फल है। उक्त सकामा भक्ति, सत्त्वगुण युक्त होने से मोक्ष वासनायुक्त होती है। तब उसका नाम निष्कामा होती है। मुमुक्षु व्यक्तिगण इसके अधिकारी हैं। यह मोक्ष वासना युक्ता निष्कामा भक्ति प्रायकर ज्ञान, योग एवं कर्म द्वारा मिश्रित होती है।

कर्म मिश्रा होने से कर्ममिश्रा, योग मिश्रा होने से योगमिश्रा एवं ज्ञान मिश्रा होने से इसको ज्ञान-मिश्रा भक्ति कहते हैं।

कर्ममिश्रा भक्ति का फल चित्तशुद्धि है, योगमिश्रा भक्ति का फल परमात्मसाक्षात्कार के अनन्तर क्रममुक्ति है, एवं ज्ञानमिश्रा भक्ति का फल ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् सद्योमुक्ति है।

कर्ममिश्रा भक्ति के अन्तर्गत निष्काम कर्मसमूह, साक्षात् भक्ति न होने पर भी, भक्ति का फल, चित्तशुद्धि उत्पादन द्वारा भक्तित्व का आरोप से सिद्ध अर्थात् भक्ति के आकार से आकारित होने के कारण उसको आरोपसिद्धा भक्ति कहते हैं। उस प्रकार योगमिश्रा भक्ति के अङ्गीभूत आसन प्राणायामादि क्रिया समूह एवं ज्ञानमिश्रा भक्ति के अङ्गीभूत जीवब्रह्मैक्य ज्ञान, साक्षात् भक्ति न होकर भी भक्ति के सङ्ग सिद्ध है, अर्थात् भक्ति का फल मोक्ष उत्पादन के द्वारा भक्ति के आकाराकारिता होने के कारण उक्त विषय समूह को सङ्गसिद्धा कहते हैं।

गुणराहित्यहेतु उत्तमाभक्ति निर्गुण है, एवं उक्त अपरापर भक्तिसमूह से सम्पूर्ण पृथक् है। कर्म, योग, ज्ञान, उत्तमाभक्ति के अधीन हैं, भक्तिमुखापेक्षी हैं। उत्तमाभक्ति कर्मज्ञानादिका अधीन, अथवा मुखापेक्षी नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण स्वाधीन है। उत्तमाभक्ति, स्वीय स्वातन्त्र्य से ही निष्काम कर्मफल, चित्तशुद्धि, योग का फल—क्रममुक्ति, एवं स्वरूपानुसन्धानात्मक ज्ञान का फल सद्योमुक्ति को प्रदान तो करती ही है, अधिकन्तु श्रीभगवत्साक्षात्कार प्रभृति फलसमूह प्रदान भी करती है।

यद्यपि उत्तमाभक्ति के श्रवणकीर्त्तनादि अङ्गसमूह कर्मरूप में, भजनीयत्वानुसन्धानादि अङ्ग-समूह, ज्ञानरूप में, एवं न्यासमुद्रादि अङ्गसमूह, योग रूप में प्रतीत होते हैं, तथापि वे सब प्रसिद्ध कर्म, ज्ञान, योग नहीं हैं। वे सब श्रीभगवान् की सच्चिदानन्दमयी स्वरूपशक्ति की परमावृत्ति हैं। श्रीभगवान् में नित्यसिद्ध स्वरूपशक्ति समूह ही उक्त वृत्ति समूह के मूलाश्रय हैं। तटस्थ शक्तिरूपा जीवशक्ति जिस प्रकार अन्तरङ्गा वहिरङ्गा शक्ति के सहित मिलित होने की योग्यता सम्पन्ना है। उस प्रकार साधक जीव के श्रवणादि इन्द्रिय समूह सिद्ध एवं साधक के एकत्र सम्मिलन क्षेत्ररूप में ही निर्मित हैं। साधकवृन्द के इन्द्रिय समूह उक्त सम्मिलन क्षेत्ररूप में निर्मित न होनेपर असिद्ध होते, अर्थात् सिद्धगण के सहित एकत्र सम्मिलन की अयोग्यतावशतः उक्त साधकवृन्द का सिद्धत्व होने की सम्भावना ही नहीं होती। नित्यसिद्ध स्वरूपशक्ति की वृत्ति समूह, असिद्ध साधक को आकर्षणार्थ उनकी इन्द्रियवृत्ति में अवतीर्ण होकर एवं उसके सहित एकीभूत होकर तत्तदाकार में आकारित होकर श्रवण आदि रूपमें आविर्भूत होते हैं।

स्वरूपशक्तिभूत आनन्दमयी वृत्ति के अवतरण से ही श्रवण कीर्त्तनादि, साधक के पक्ष में आनन्द दायक होते हैं। इन्द्रियवृत्ति में प्रकाशित देखकर ही मानव, उन सबको ज्ञानादि कर्मरूप में अनुभव करते हैं। वस्तुतः भगवदीय नामरूप गुणलीला के श्रवण-कीर्त्तनादि ज्ञान कर्मादि के अतीत आनन्दमय वस्तु हैं। एतज्जन्य भगवान् कपिलदेव ने कहा है—

"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविक कर्मणाम्।
सत्त्व एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥" भा० ३-२५-३२-३३

गुणत्रयोपाधिक एवं श्रुतिपुराणादिगम्य चरित देववृन्द के मध्य में सत्त्वे—अर्थात् स्वरूपशक्ति वृत्तिभूत शुद्ध सत्त्वमूर्त्ति श्रीविष्णु में, एकाग्रमनाः मानव की जो फलाभिसन्धिरहिता स्वाभाविकी वृत्ति अर्थात् तदानुकूल्यात्मक ज्ञान विशेष है, वह ही भक्ति है। वह भक्ति, सिद्धि, अर्थात् मुक्ति से भी गरीयसी है। जठरानल जिस प्रकार भुक्त अन्न को जीर्ण करता है, उक्त भक्ति भी उस प्रकार सत्वर जीवकोश को जीर्ण कर देती है।

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥"

भक्ति लक्षणोक्त अनुशीलन शब्द का भावरूप अर्थ होने के कारण भक्ति का ज्ञानविशेषत्व ही सिद्ध होता है। भक्ति को एकवार ज्ञानावरण शून्या 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' शब्द से कहकर पुनर्वार भक्ति को ज्ञानविशेष रूपा, कहने से विरुद्ध भाषण नहीं हुआ, कारण, भावरूपा वृत्ति—ज्ञान ही है। अन्तःकरण वृत्ति को ज्ञान कहते हैं, भाव भी अन्तःकरण वृत्ति ही है। दार्शनिकवृन्द के मत में ज्ञान द्विविध हैं, वृत्तिज्ञान एवं फलज्ञान, ज्ञेयवस्तु के आकार से अन्तःकरण आकारित होने से उसको वृत्तिज्ञान कहते हैं, तदनन्तर ज्ञेय वस्तु का प्रकाश से जो विचार प्रसूत ज्ञानोत्पन्न होता है, उसको फलज्ञान कहते हैं। स्वप्रकाश विषयी आत्मा का ज्ञान ही वृत्ति ज्ञान है, एवं आत्म प्रकाश्य घटपटादि विषयसमूह का विचारजनित ज्ञान ही फल ज्ञान है। वृत्तिज्ञान विचार निरपेक्ष है, अतएव स्वप्रकाश होने के कारण स्वाभाविक है, फलज्ञान, विचार निष्पन्न है, अतएव परप्रकाश्य होने के कारण कृत्रिम हैं। निर्मल निर्विषय अन्तःकरण आत्माकाराकारित होने से ही उसको आत्मज्ञान अथवा वृत्तिज्ञान कहते हैं। आत्मा का फल ज्ञान नहीं होता है। अन्तःकरण, घटपटादि विषयाकाराकारिता होने से बुद्धिस्थ चिदाभास के द्वारा विचार पूर्वक घटपटादि विषयक अज्ञानापसारण द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको फलज्ञान कहते हैं।

भावरूपा अन्तःकरण की स्वाभाविकी वृत्ति, पूर्वोक्त स्वप्रकाश आत्मज्ञान से भी विशेष है। आत्मज्ञान, अन्तःकरण को चित्सत्तारूपा वृत्ति है, भाव—उसकी चित्सत्तासाररूपा वृत्ति है। वह आनुकूल्यात्मिका सुखरूपा-आनन्दरूपा वृत्ति होने के कारण उसको चित्सत्ता सार रूपा वृत्ति कहते हैं। श्रीभगवान् के गुणादि श्रवणमात्र से उनमें जो अविच्छिन्न मन की प्रवाहरूपा गति होती है, वह ही भक्ति है, एवं वह ही भाव है। वह शुद्ध सत्त्व विशेषात्मक है, अर्थात् ह्लादिनी समवेत सम्बित् साररूपा है। वह प्रेमरूप अंशुमाली का अंशु है। वह प्रेम की अङ्कुर है। वह आनुकूल्य अर्थात् रुचिके द्वारा चित्त की स्निग्धता का सम्पादक है। उसका अपर नाम रति है।

श्रीकृष्णविषयिणी रति, जब श्रवणादि कर्त्तृक उपस्थापित विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारिभाव द्वारा व्यक्तीकृत होती है, अर्थात् आस्वाद योग्यता प्रापित होती है, तब उस भाव अथवा रति को भक्तिरस कहते हैं। भक्तिरस द्वादश विध हैं—तन्मध्ये सात गौण हैं, एवं पाँच मुख्य हैं। वीर, करुण, अद्भुत,हास्य, भयानक, रौद्र एवं बीभत्स—यह सात गौण भक्तिरस हैं, एवं शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर—पाँच

मुख्य भक्तिरस हैं। प्रत्येक रस में एक एक स्थायीभाव होता है। उत्साह, शोक, विस्मय, हास, भय, क्रोध एवं जुगुप्सा—यह सात वीरादि सात गौणरस के स्थायी भाव हैं। एवं शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं प्रियता—यह पाँच शान्तादि पञ्च मुख्यरस के स्थायी भाव हैं। उक्त स्थायीभाव समूह, श्रवणादि कर्त्तृक उपस्थापित विभावादि व्यक्तीकृत होकर रस रूप में परिणत होते हैं। तन्मध्य में जिसके द्वारा एवं जिसमें स्थायी भावादि का आस्वादन किया जाता है, उसका नाम विभाव है। विभाव द्विविध हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। आलम्बन भी विषयाश्रय भेद से द्विविध हैं। श्रीकृष्ण, भक्तिरस का विषयालम्बन है, एवं तदीय भक्तगण—आश्रयालम्बन है। श्रीकृष्ण के उद्देश में रति उत्सारित होती है, तज्जन्य श्रीकृष्ण को विषयालम्बन कहते हैं। एवं उक्त रति, श्रीकृष्णभक्तगण को आश्रयकर रहती है, तज्जन्य, श्रीकृष्ण भक्तगण रति का आश्रयालम्बन हैं। यद्द्वारा भाव का उद्दीपन होता है, उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं।

जो आलम्बन विभाव की चेष्टा, रूप एवं भूषणादि एवं देशकालादि भाव को उद्दीप्त करते हैं, तज्जन्य उन सबको उद्दीपन विभाव कहते हैं। जो अन्तरस्थ भावको बाहर प्रकट करता है, उसका नाम—अनुभाव है। अनुभाव मिश्र एवं सात्त्विक भेद से द्विविध हैं। सत्त्व मात्रोद्भव अर्थात् केवल मानसिक अनुभाव का नाम—सात्त्विक अनुभाव है, एवं कायवाङ् मानसिक मिश्रित अनुभाव का नाम मिश्रअनुभाव है। नृत्य, गीत एवं हास्य—मिश्रअनुभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, मूर्च्छा, यह आठ का नाम सात्त्विक अनुभाव है। जो सब भाव, स्थायी भाव में कभी उन्मग्न एवं कभी निमग्न होकर उक्त भाव के अभिमुख में सञ्चरण करते हैं, उन सबको सञ्चारिभाव अथवा व्यभिचारीभाव कहते हैं। व्यभिचारीभाव निर्वेदादि भेद से तेतीस हैं।

स्थायिभावाख्या रति भी ऐश्वर्य्यज्ञान मिश्रा एवं केवला भेद से द्विविधा हैं। गोकुल में ऐश्वर्य्यज्ञानशून्या केवला रति है, एवं मथुरा, द्वारकापुरीद्वय में एवं वैकुण्ठादि में ऐश्वर्य्यज्ञानयुक्ता मिश्रा रति है। ऐश्वर्य्यज्ञानयुक्ता मिश्रा रतिमें प्रेम के वृत्ति समूह यथेष्ट प्रसारित होने में अक्षम होने के कारण प्रेम सङ्कुचित होता है। ऐश्वर्य्यज्ञानशून्या केवलारति में प्रेम के वृत्तिसमूह, पराकाष्ठा में उन्नीत होने में समर्थ होने के कारण उक्त प्रेमका सङ्कोच अथवा विकाश दृष्ट नहीं होता है। वह सर्वदा एकरूप में ही अवस्थित होता है। केवला की रीति यह है कि वह ऐश्वर्य्य सन्दर्शन करके भी उसको स्वीकार नहीं करती है।

मिश्रारति में शान्त एवं दास्यरस में ऐश्वर्य्यज्ञान, स्थल विशेष में प्रेम का उद्दीपक होता है, एवं वात्सल्य में, सख्य में, एवं मधुर के स्थल विशेष में प्रेमका सङ्कोचक होता है।

श्रीकृष्ण, जिस समय देवकी-वसुदेव के चरण-वन्दन किये थे, उस समय श्रीकृष्ण का पूर्वदृष्ट ऐश्वर्य्य स्मरण कर वे भयभीत होगये थे। अर्जुन, श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य को देखकर विशेष भीत होकर निज धृष्टता निबन्धन क्षमा प्रार्थना किये थे। रुक्मिणीदेवी श्रीकृष्ण के परिहास वाक्य सुनकर त्याग भय से भीता हो गई थीं। गोकुल में किन्तु, उस प्रकार प्रेम के सङ्कोच-विकाशादि दृष्ट नहीं होते हैं। व्रजवासिवृन्द श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य को देखकर भी उसको मन में स्थान प्रदान नहीं करते हैं। मा यशोदा श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य्य को देखकर भी आत्मज बोध से श्रीकृष्ण को बाँध चुकी थीं। गोप-बालकवृन्द, श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य को देखकर भी कृष्ण के स्कन्धारोहण करते थे। गोपीगण, कृष्ण को, कितव, शठ कहने में कुण्ठिता नहीं होती थीं। श्रीराधिका तो श्रीकृष्ण के स्कन्धारोहण निमित्त पाद प्रसारण होकर चुकी थीं।

श्रीकृष्णनिष्ठा ही शान्त भक्तिरस का गुण है—इस रस में सच्चिदानन्द मूर्त्ति, नराकार परब्रह्म,

चतुर्भुज नारायण, परमात्मा एवं शान्त, दान्त, शुचि, वशी प्रभृति गुण सम्पन्न श्रीकृष्ण-विषयालम्बन हैं। ज्ञानिवृन्द भी मोक्षवासना त्यागकर श्रीकृष्ण-कृपा से यदि भक्ति वासनायुक्त होते हैं, तब वे सब भी आश्रयालम्बन होते हैं। पर्वत काननादि निवासी साधुजन सङ्ग एवं सिद्ध क्षेत्रादि उद्दीपन विभाव हैं। नासाग्रदृष्टि, अवधूत के समान चेष्टा, निर्ममता, भगवद्द्वेषि जन में विद्वेष राहित्य, भगवद्भक्तजन में भक्त्यातिशय्य का अभाव, मौन, ज्ञानशास्त्र में अभिनिवेश प्रभृति अनुभाव हैं। प्रलय वर्जित अश्रु-पुलकादि सात्त्विक भाव हैं। निर्वेद मति एवं धृति प्रभृति सञ्चारी भाव हैं।

दास्य भक्तिरस का गुण – सेवा। दास्यरस में ईश्वर प्रभु, सर्वज्ञ एवं भक्तवत्सल प्रभृति गुणान्वित श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं, ममतायुक्त, गौरवभावमय, श्रीभगवन्निष्ठ, निज आचरण द्वारा अपर का उपकारक दास्य सेवा-परायण, अधिकृत भक्त, आश्रित भक्त, पारिषद् एवं अनुगामी यह चतुर्विध भक्त-आश्रयालम्बन हैं, उनके मध्य में ब्रह्म शङ्करादि आधिकारिक देवतावृन्द, अधिकृत भक्त हैं, आश्रितभक्त-शरण्य, ज्ञानीचर एवं सेवानिष्ठ भेद से त्रिविध हैं। तन्मध्ये कालियनाग, मगधराज, जरासन्ध कर्त्तृक रुद्ध राजन्यवृन्द प्रभृति शरण्य हैं, प्रथम ज्ञानी होकर पश्चात् मोक्षेच्छा वर्जन पूर्वक जो दास्य में प्रवृत्त होते हैं, वे सब हो ज्ञानिचर हैं। सनकादि मुनिगण इस विभाग के अन्तर्गत हैं। उद्धव, दारुक एवं श्रुतदेवादि क्षत्रियगण एवं उपनन्द प्रभृति गोपगण पारिषद हैं। पुर में सुचन्द्र एवं मण्डनादि एवं व्रज में रक्तक, पत्रक एवं मधुकण्ठादि अनुगामी हैं। इन सबके मध्य में जो परिवार श्रीकृष्ण के प्रति यथोचित भक्ति करते हैं, उनका नाम धुर्य्य भक्त है। जो श्रीकृष्ण प्रेयसीवर्ग में अधिक आदरयुक्त हैं, उनका नाम धीरभक्त है। जो श्रीकृष्ण कृपा-लाभ से गर्वित होकर किसी की अपेक्षा नहीं करते हैं, वे सब धीर-भक्त हैं। यह सब सम्भ्रम प्रीतियुक्त भक्त के मध्य में श्रीकृष्ण में गुरुत्वबुद्धि विशिष्ट प्रद्युम्न एवं शाम्बादि श्रीकृष्ण के पाल्य हैं।

उक्त भक्त-समूह नित्यसिद्ध, साधनसिद्ध एवं साधक भेद से त्रिविध होते हैं। श्रीकृष्ण के अनुग्रह एवं उनकी चरणधूलि, महाप्रसाद प्रभृति उद्दीपन विभाव हैं। आज्ञा पालनादि अनुभाव हैं। इस रस की तीन अवस्थायें हैं—प्रेम, स्नेह एवं राग। तन्मध्ये अधिकृत भक्त में एवं आश्रित भक्त में प्रेमपर्य्यन्त स्थायिभाव है। पार्षद भक्त में, स्नेह पर्य्यन्त स्थायिभाव है। परीक्षित्, दारुक एवं उद्धव में राग पर्य्यन्त दृष्ट होता है। व्रजानुग रक्तक प्रभृति में एवं पुरस्थ प्रद्युम्न प्रभृति में उक्त समस्त दृष्ट होते हैं।

इस रस में अयोग, योग एवं वियोगात्मक अवस्थात्रय हैं। प्रथम दर्शन के पूर्व की अवस्था का नाम अयोगावस्था है। दर्शन के पश्चात् जो विच्छेद होता है, उसका नाम—वियोगावस्था है। मध्यावस्था में सङ्ग का नाम—योगावस्था है। वियोग में, अङ्गताप, कृशता, जागरण, आलम्बनशून्यता अथवा अनवस्था, अधीरता, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा एवं मृत्यु अर्थात् मृत्यु तुल्य अवस्था होती है। ये दश दशा हैं। अयोग में औत्सुक्यादि एवं योग में सिद्धि एवं तुष्टि प्रभृति दशा होती है।

सख्य भक्तिरस का गुण सम्भ्रमराहित्य है—इस रसमें वैदग्ध, बुद्धिमत्ता, सुवेश, एवं सुखित्व प्रभृति गुणयुक्त श्रीकृष्ण, विषयालम्बन हैं। ममतायुक्त, विश्वास भावमय श्रीभगवन्निष्ठ, निज आचरण के द्वारा अन्य का उपकारक, सख्यसेवापरायण, तदीय सखा समूह आश्रयालम्बन होते हैं। सुहृत्, सखा, प्रियसखा, एवं प्रियनर्म्म सखाभेद से उक्त आश्रयालम्बन चतुर्विध होते हैं। तन्मध्ये जो श्रीकृष्ण से वयस में किञ्चित् अधिक एवं किञ्चित् वात्सल्ययुक्त हैं, वे सब ही सुहृत् होते हैं। व्रज में बलभद्र, सुभद्र एवं मण्डलीभद्र प्रभृति सुहृत् हैं। और जो श्रीकृष्ण से वयसमें किञ्चिन्न्यून एवं किञ्चित् दास्यमिश्र होते हैं वे सब सखा हैं।

व्रज में, विशाल, वृषभ एवं देवप्रस्थ प्रभृति सखा हैं। जो वयस में श्रीकृष्ण के तुल्य हैं, वे सब प्रियसखा होते हैं। व्रज में श्रीदाम, सुदाम एवं वसुदाम प्रभृति प्रियसखा हैं, एवं जो प्रेयसी रहस्य का सहाय एवं शृङ्गार भावशाली हैं, वे सब प्रियनर्म्म सखा होते हैं।

सख्य में बाहुयुद्ध, क्रीड़ा, एक शय्या में शयन, प्रभृति अनुभाव हैं, अश्रुपुलकादि समस्त ही सात्त्विक भाव हैं। सख्यरति, उत्तरोत्तर वर्द्धित होकर प्रेम, स्नेह, प्रणय एवं राग— यह चतुर्विध आख्या से विभूषित होते हैं। पुर में अर्जुन, भीमसेन एवं श्रीदामविप्र प्रभृति सखा हैं, इस सख्यरस में दास्य के समान वियोग में दश दशा होती हैं।

वात्सल्य भक्तिरस का गुण स्नेह है—इस रस में कोमलाङ्गत्व, विनय, सर्वलक्षणयुक्तत्व प्रभृति गुणविशिष्ट श्रीकृष्णविषयालम्बन होते हैं। ममतायुक्त, अनुग्राह्य भाववन्त अर्थात् श्रीकृष्ण, हमारे अनुग्रह पात्र हैं, इस प्रकार बुद्धिविशिष्ट, निज आचरण द्वारा दूसरे का उपकारक, वात्सल्य सेवा परायण पित्रादि गुरुजनवृन्द आश्रयालम्बन होते हैं। उक्त आश्रयालम्बन व्रज में व्रजेश्वरी, व्रजराज, रोहिणी, उपनन्द एवं उनकी पत्नी प्रभृति हैं, एवं पुर में देवकी, कुन्ती एवं वसुदेवादि हैं। हास्य, मृदुमधुर वाक्य एवं बाल्य-चेष्टादि उद्दीपन विभाव हैं। मस्तकाघ्राण आशीर्वाद एवं लालन-पालना द अनुभाव हैं। स्तम्भ स्वेदादि समस्त एवं स्तनक्षरण यह नव सात्त्विक भाव हैं। हर्ष शङ्का प्रभृति व्यभिचारी भाव हैं। इस रति में प्रेम स्नेह एवं राग यह तीन अवस्था उत्तरोत्तर दृष्ट होती हैं। इसमें भी वियोग में पूर्ववत् दश दशा होती हैं।

मधुर भक्ति रस का गुण—अङ्गसुख दान है। इस रस में रूपमाधुर्य्य, वेणुमाधुर्य्य, लीलामाधुर्य्य एवं प्रेममाधुर्य्य का आधारभूत श्रीकृष्ण विषयालम्बन होते हैं। ममतायुक्त, सम्भोगभावमय, श्रीभगवद्विष्ठ निज आचरण द्वारा अपर का उपकारक, कान्तसेवा परायण प्रेयसीवृन्द आश्रयालम्बन हैं। मुरलीरव, वसन्त, कोकिलध्वनि, नवमेघ, मयूरकण्ठ प्रभृति श्रवण दर्शनादि उद्दीपन विभाव हैं। कटाक्ष, हास्य प्रभृति अनुभाव हैं। स्तम्भादि समस्त सात्त्विक भाव सूद्दीप्त पर्य्यन्त इसमें होते हैं। आलस्य एवं उग्रता वर्जित निर्वेदादि समस्त सञ्चारी भाव इसमें दृष्ट होते हैं, एवं प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव की समस्त अवस्था परिदृष्ट होती हैं।

मधुररस का विषयालम्बन श्रीकृष्ण में धीरोदात्तादि ९६ (छियानवें) प्रकार नायक गुण दृष्ट होते हैं। एवं आश्रयालम्बन श्रीराधिका में ३६० (तीन सौ साठ) प्रकार नायिका गुण दृष्ट होते हैं। साधारणी, समञ्जसा, समर्था भेद से नायिका तीन प्रकार हैं। श्रीराधिकादि गोपीगण ही समर्था नायिका हैं।

रस समूह की पराकाष्ठा मधुर रस में है। इस रस में समस्त रसों का समाहार होने के कारण समस्त रसोंके गुण परिदृष्ट होते हैं। इस रस में शान्त की कृष्ण-निष्ठा, दास्य की सेवा, सख्य का असङ्कोच, वात्सल्य का लालन एवं कान्ता का निजाङ्ग द्वारा सेवन—यह पञ्च गुण दृष्ट होते हैं। जिस प्रकार आकाश का गुण—वायु में, वायु का गुण—तेज में, आकाश-वायु-तेज का गुण—जल में एवं आकाश-वायु-तेज-जल का गुण—पृथ्वी में दृष्ट होते हैं, उस प्रकार शान्त का गुण – दास्य में, शान्त एवं दास्य का गुण—सख्य में, शान्त-दास्य-सख्य का गुण –वात्सल्य में, एवं शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य का गुण मधुर रस में दृष्ट होते हैं। स्वादाधिक्य में मधुर रस ही समस्त रसोंमें अनुपम चमत्कार सम्पादक है। एवं स्वकीय परकीय भेद से इसमें द्विविध संस्था हैं। पुरमें यथाविधि स्वकीयात्व है, व्रज में किन्तु, अलौकिक परकीयात्व ही है।

हरि भक्ति के चरम प्रकाश में स्वयं को उद्भासित करने के निमित्त अनुशासित जीवन होना आवश्यक है। ईश्वरीय आदेशानुसार निष्कपट भाव से समस्त आचरण करना ही धर्म है। कारण, शास्त्र विधिउलङ्घन पूर्वक आचरण ही उत्पथ एवं भयावह है। जीव, देह में निवासकर ईश्वरानुशासन के अनुसार यदि आचरण नहीं करता तो उसका आचरण संस्कारज ही होगा, वह ही अशान्ति का मूल बीज स्वरूप है। अतः श्रीहरिभक्तिविलास नामक ग्रन्थ की अतीव प्रयोजनीयता है।

जीव कल्याण व्रती भगवत् श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु काशी में श्रीसनातन गोस्वामीपाद को शिक्षा एवं शक्ति सञ्चार पूर्वक जगत् में शुद्धभक्ति सिद्धान्त स्थापन, व्रजमण्डलस्थ लुप्ततीर्थ उद्धार, श्रीकृष्ण-सेवा प्रकाश एवं वैष्णव-स्मृति प्रचार हेतु आदेश किये थे, एवं वैष्णव-स्मृति ग्रन्थ निर्म्माण हेतु सूत्र निर्देश भी करदिये थे, "चैतन्यचरितामृत" में इसका विशेष उल्लेख है—

"प्रभु कहे ये करिते करिबे तुमि मन,
कृष्ण, सेइ सेइ तोमाय कराबे स्फुरण।"

तथापि सूत्ररूप शुन दिग्‌दरशन। सकारण लिखि आदौ गुरु-आश्रयण ॥
गुरुलक्षण, शिष्यलक्षण, दोंहार परीक्षण। सेव्य भगवान्, सब मन्त्र-विचारण ॥
मन्त्र-अधिकारी, मन्त्र शुद्धयादि-शोधन। दीक्षा, प्रातःस्मृति कृत्य, शौच, आचमन ॥
दन्तधावन, स्नान, सन्ध्यादि वन्दन। गुरुसेवा ऊर्द्ध्वपुण्ड्रचक्रादि धारण ॥
गोपीचन्दन, माल्यधृति, तुलसी आहरण। वस्त्र पीठ, गृहसंस्कार, कृष्ण-प्रबोधन ॥
पञ्चषोड़श, पञ्चाशत् उपचारे अर्च्चन। पञ्चकाल पूजा आरति कृष्णेर भोजनशयन ॥
श्रीमूर्त्ति लक्षण आर शालग्राम लक्षण। कृष्णक्षेत्रयात्रा, कृष्णमूर्त्तिदरशन ॥
नाममहिमा, नामापराध, दूरे वर्जन। वैष्णव-लक्षण सेवा-अपराध खण्डन ॥
शङ्ख जल गन्ध पुष्प धूपादि लक्षण। जप, स्तुति, परिक्रमा, दण्डवत्, वन्दन ॥
पुरश्चरण-विधि कृष्ण-प्रसाद-भोजन। अनिवेदित-त्याग, वैष्णव-निन्दादि-वर्जन ॥
साधुलक्षण, साधुसङ्ग, साधुर सेवन। असत्-सङ्ग-त्याग, श्रीभागवत-श्रवण ॥
दिनकृत्य, पक्षकृत्य,एकादश्यादि-विवरण। मासकृत्य जन्माष्टम्यादि विधि-आचरण ॥
एकादशी, जन्माष्टमी, वामनद्वादशी। श्रीरामनवमी आर नृसिंहचतुर्दशी ॥
एइ सबेर विद्धात्याग अविद्धाकरण। अकरणे दोष कैले भक्तिलम्भन ॥
सर्वत्र प्रमाण दिबे पुराणवचन। श्रीमूर्त्ति विष्णुमन्दिर करण लक्षण ॥
सामान्य सदाचार आर वैष्णव आचार। कर्त्तव्याकर्त्तव्य सब स्मार्त्त व्यवहार ॥
एइ संक्षेपे सूत्र कैल दिग्‌दरशन। यबे तुमि लिख "कृष्ण" करावेन स्फुरण ॥

श्रीमन् महाप्रभु के आदेशानुसार श्रीसनातन गोस्वामी शास्त्रीय प्रमाण के सहित "श्रीहरिभक्ति विलास" नामक ग्रन्थ प्रणयण किये थे। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थके मङ्गलाचरण भी उक्त विषय में प्रमाण है।

"चैतन्यदेवं भगवन्तमाश्रये, श्रीवैष्णवानां प्रमुदेऽञ्जसा लिखन्।
आवश्यकं कर्म्म विचार्य्य साधुभिः सार्द्धं समाहृत्य समस्त शास्त्रतः ॥"

अनन्तर द्वितीय श्लोक में लिखित है—

"भक्तेर्विलासांश्चिनुते प्रबोधानन्दस्य शिष्यो भगवत् प्रियस्य।
गोपालभट्टो रघुनाथदासं सन्तोषयन् रूपसनातनौ च ॥"

एवं प्रत्येक विलास की समाप्ति में लिखित है—"इति श्रीगोपालभट्ट विलिखित श्रीभगवद्भक्ति विलासे" इससे प्रतीत होता है कि—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीचरण श्रीरूप-सनातन के सन्तोषार्थ श्रीभगवद्भक्ति विलास नामक ग्रन्थ प्रणयन किये थे।

उक्त ग्रन्थ की टीका भी श्रीसनातन गोस्वामीचरण किये हैं। उसका आरम्भ श्लोक इस प्रकार है—

※ श्रीश्रीमदनमोहन कृष्णो जयति ※

"ब्रह्मादिशक्तिप्रथमेश्वरं तं दातुं स्वभक्तिं कृपयावतीर्णम्।
चैतन्यदेवं शरणं प्रपद्ये यस्य प्रसादात् स्ववशेऽर्थसिद्धिः॥

लिख्यते भगवद्भक्ति विलासस्य यथामति।
टीका 'दिग्दर्शिनी नाम तदेकांशार्थबोधनी॥"

श्रीसनातन गोस्वामीपाद कृत लघु 'श्रीहरिभक्तिविलास' ग्रन्थ भी हस्त लिखित उपलब्ध है,—जिस का प्रकाशन अदूर भविष्य में होगा।

विज्ञ व्यक्तिगण इस विषय में इस प्रकार समाधान करते हैं। विभिन्न शास्त्र प्रणयनादि कार्य्य में श्रीसनातन गोस्वामीचरण व्यापृत होने के कारण तदीय अभिन्न हृदय भगवत् श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र प्रिय श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीचरण तदीय सम्मति के अनुसार "भगवद्भक्ति विलास" नामक ग्रन्थ सङ्कलन किये थे।

प्रसिद्धि हेतु श्रीजीव-गोस्वामीचरण स्वकृत 'वैष्णव तोषणी' में एवं श्रीकृष्णदास कविराज महाशय कृत 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ में श्रीसनातन गोस्वामीकृत ग्रन्थ तालिका में 'श्रीहरिभक्तिविलास' एवं इसकी 'दिग्दर्शिनी' टीका का उल्लेख है।

१४६३ शकाब्दा में रचित 'श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु' ग्रन्थ के १।२।७२-२४१ में 'श्रीहरिभक्ति विलास' ग्रन्थ का नामोल्लेख है। अतएव १४६३ शकाब्द के पूर्व में ही यह ग्रन्थ रचित हुआ है। ग्रन्थ समाप्ति श्लोक इस प्रकार है,—

"शकाब्दे पञ्चषट शक्र संख्ये सूर्य्ये तुलां गते।
वृन्दावनान्त र्ग्रन्थोऽयं नन्दावासे समापितः॥"

श्रीहरिभक्तिविलास स्मृति ग्रन्थ अतिशय प्रामाणिक होने के कारण वङ्गीय स्मार्त्त-स्मृति ग्रन्थ प्रणेता श्रीरघुनन्दन भट्टाचार्य ने भी इस ग्रन्थ का नामोल्लेख निज कृत अष्टाविंशति तत्त्व में किया है।

श्रीहरिभक्ति विलास धृत प्रमाण ग्रन्थ समूह की प्रामाणिकता हेतु एवं उससे उद्धृत श्लोक समूह का स्वतः प्रामाण्य हेतु विद्वद्गण इस ग्रन्थ का समादर करते हैं।

श्रीश्यामाचरण कविरत्न सम्पादित, श्रीरामनारायण विद्यारत्न सम्पादित, श्रीमत् पुरीदास सम्पादित तथा छत्रपुर संस्करण ग्रन्थ के अवलम्बन से प्रस्तुत संस्करण सम्पादित हुआ।

श्रीहरिदास शास्त्री

श्रीश्रीहरिभक्तिविलास-धृत प्रमाणग्रन्थानां तथा मातृकानुक्रमिकसूचिका

अगस्त्यसंहित, अग्निपुराणम्, अङ्गिरा, अत्रिस्मृतिः, अथर्व्वपरिशिष्टम्, अथर्व्ववेदः, अवन्तीखण्डः, आगमः, आग्नेयम्, आङ्गिरसः, आङ्गिरसपुराणम्, आदित्यपुराणम्, आद्यपुराणम् आदिवाराहम्, आपस्तम्बः, इतिहास-समुच्चयः, इतिहासोत्तमः, उपदेशतत्त्वसारः, ऋक्परिशिष्टम्, ऋग्वेदीयाश्वलायनशाखा, कठोपनिषत, कण्वः, कपिलपञ्चरात्रम्, कात्यायनः, कात्यायनसंहिता, कात्यायनस्मृतिः, कालिकापुराणम्, काशीखण्डः, काश्यप-पञ्चरात्रम्, कूर्म्मपुराणम्, कृष्णदेवाचार्य्यः, कौत्सः, कौर्म्मे श्रीव्यासगीता, क्रमदीपिका, गरुड़पुराणम्, गर्गः, गार्ग्यः, गालवः, गृह्यपरिशिष्टम्, गोभिलः, गौतमीयतन्त्रम्, छन्दोगपरिशिष्टम्, छान्दोग्योपनिषत्, जाबालिसंहिता, जैमिनिः, जैमिनिसंहिता, ज्ञानमाला, तत्त्वसागरः, तत्त्वसारः, तन्त्रम्, तान्त्रिकाः, तापनीय-श्रुति, तेजोद्रविण-पञ्चरात्रम्, त्रिकाण्डमण्डलम्, त्रैलोक्यसम्मोहन-तन्त्रम्, त्रैलोक्यसम्मोहन-पञ्चरात्रम्, दक्षः, दक्षस्मृतिः, देवलः, देवी, देवीपुराणम्, देवीरहस्यम्, देव्यागमः, द्वारकामाहात्म्यम्, ध्रुवचरितम्, नन्दिपुराणम्, नवप्रश्नपञ्चरात्रम्, नारदः, नारदतन्त्रम्, नारदपञ्चरात्रम्, नारद-स्मृतिः, नारदीय-कल्पः, नारदीयम्, नारायण-व्यूहस्तवः, निगमः, निर्णयामृतम्, नृसिंहपरिचर्य्या नृसिंहपुराणम्, पञ्चरात्रम्, पद्म-नाभीयम्, पद्मपुराणम्, पराशरः, पराशरसंहिता, पाण्डवगीता, पद्मोत्तर-खण्ड, पितामहः, पुराण-समुच्चयः, पुराणान्तरम्, पुराणोद्धारः, पुलस्त्यः, पुलहः, पुष्करपुराणम्, पूर्व्वतापनीयश्रुतिः, पैठीनसिः, प्रतिष्ठातन्त्रम्, प्रपञ्चसारः, प्रभासखण्डः, प्रभासपुराणम्, प्रह्लादपञ्चरात्रम्, प्रह्लादसंहिता, बह्वृचपरिशिष्टम्, बौधायनः, बौधायन-संहिता, बौधायन-स्मृतिः, ब्रह्मपुराणम्, ब्रह्मवैवर्त्तम्, ब्रह्मसंहिता, ब्रह्माण्डपुराणम्, ब्राह्मम्, भगवद्गीता, भरद्वाजस्मृतिः, भविष्यपुराणम्, भविष्योत्तरः, भागवतम्, भागवत-तन्त्रम्, भागवतादि-तन्त्रम्, भारतविभाग, भृगुः, भोजराजीयम्, मनुः मनुस्मृतिः, मन्त्रतन्त्रप्रकाशः, मन्त्रदेवप्रकाशिनी, मन्त्रमुक्तावली, मन्त्रार्णवः, मरीचिः, महाभारतम्, महासंहिता, मात्स्यम्, माधवीयम्, मार्कण्डेयः, मार्कण्डेय-पुराणम्, मुण्डकोपनिषत्, मूलागमः, मृत्युञ्जयसंहिता, मोक्षधर्म्मः, यमः, यमस्मृतिः, याज्ञवल्क्यः, याज्ञवल्क्यसंहिता, याज्ञवल्क्यस्मृतिः, यामलम्, योगवाशिष्ठम्, योगसारः, योगि-याज्ञवल्क्यः, रामायणम्, रामार्च्चन-चन्द्रिका, रुद्रयामलम्, लघुभागवतम्, लिङ्गपुराणम्, लोकाक्षिः, वशिष्ठः, वशिष्ठ-संहिता, वह्निपुराणम्, वामनकल्पः, वामनपुराणम्, वायुपुराणम्, वाराहम्, वार्षायणिः, वाशिष्ठम्, विश्वकर्म्मशास्त्रम्, विश्वामित्र-संहिता, विष्णुः, विष्णुधर्म्मः, विष्णुधर्म्मोत्तरः, विष्णुपुराणम्, विष्णुयामलम्, विष्णुरहस्यम्, विष्णुस्मृतिः, वृद्धमनुः, वृद्ध-वशिष्ठः, वृद्धशातातपः, वृहत्शातातपस्मृतिः, वृहद्गौतमीयम्, वृहद्विष्णुपुराणम्, वृहन्नारदीयम्, वृहन्नार-सिंहपुराणम्, वृहस्पतिः, वेङ्कटाचार्य्यपादाः, वैदिकाः, वैशम्पायन-संहिता, वैश्वानरसंहिता, वैष्णवचिन्तामणिः, वैष्णवतन्त्रम्, वैष्णवम्, वैहायसपञ्चरात्रम्, व्यासः, व्यासस्मृतिः, शङ्कराचार्य्यपादाः, शङ्खः, शङ्खस्मृतिः, शरत्प्रदीपः, शातातपः, शिवधर्म्मोत्तरः, शिवपुराणम्, शिवरहस्यम्, शिवागमः, शुक्रस्मृतिः, श्रुतिः, श्वेताश्वतरोपनिषत, षट्त्रिंशन्मतम्, संवर्त्तः, संवर्त्तकः, संहिता, सङ्गीतशास्त्रम्, सनत्कुमारः, सनत्कुमार-कल्पः, सनत्कुमारतन्त्रम्, सनत्कुमारसंहिता, सम्मोहनतन्त्रम्, सारदातिलकम्, सारदापुराणम्, सारसंग्रहः, सिद्धार्थसंहिता, सुमन्तुः, सुमन्तु-स्मृतिः, सौपर्णम, सौरधर्म्मः, सौरधर्म्मोत्तरः, सौरपुराणम्, स्कन्दपुराणम्, स्मार्त्ताः, स्मृतिः, स्मृतिमहार्णवः, स्मृत्यन्तरम्, स्मृत्यर्थसारः, हयशीर्षपञ्चरात्रम्, हरिभक्तिसुधोदयः, हरिवंशम्, हारीतः, हारीतस्मृतिः ।

❋ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ❋

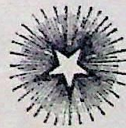
श्रीहरिभक्तिविलास ग्रन्थस्य सूचीपत्रम्

——:०❋:❋०:——

प्रथमविलासः (गौरवो नाम)

द्वितीय विलासः (दैक्षिको नाम)

तृतीयविलासः (शौचीयो नाम)



पत्र संख्या

पत्र संख्या

अष्टम विलासः

नवम विलासः

*

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रीश्रील-सनातनगोस्वामि-प्रभुणा विरचितः

तथा

श्रीश्रील-गोपालभट्टगोस्वामि-प्रभुणा समाहृतः

श्रीश्रीहरिभक्तिविलासः

प्रथमो भागः

प्रथम-विलासः

श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

अथ मङ्गलाचरणम्

चैतन्यदेवं भगवन्तमाश्रये श्रीवैष्णवानां प्रमुदेऽञ्जसा लिखन् ।
आवश्यकं कर्म विचार्य्य साधुभिः सार्द्धं समाहृत्य समस्त शास्त्रतः ॥१॥

श्रीश्रील-सनातनगोस्वामिप्रभुपादकृता
दिग्दर्शिनी टीका

श्रीश्रीमदनमोहनः कृष्णो जयति ।

ब्रह्मादिशक्तिप्रदमीश्वरं तं दातुं स्वभक्ति कृपयावतीर्णम् ।
चैतन्यदेवं शरणं प्रपद्ये यस्य प्रसादात् स्ववशेऽर्थसिद्धिः ॥
लिख्यते भगवद्भक्ति विलासस्य यथामति । टीका दिग्दर्शिनी नाम तदेकांशार्थबोधिनी ॥

सुदुष्करे कर्मणि प्रवर्त्तमानो ग्रन्थकारस्तत्संसिद्धये प्रथमं परमगुरुरूपं श्रीमदिष्ट दैवतं शरणत्वेनाश्रयति चैतन्येति । चैतन्यं विशुद्धं ज्ञानं तद्रूपो यो देवो जगत्पूज्यस्तं देवेषु मध्ये यो ज्ञानघनस्तमित्यर्थः । यद्वा

※ श्रीगदाधरगौराङ्गौ जयतः ※

प्रणिपत्य सतां वन्द्यं श्रीचैतन्यपदाम्बुजम् ।
हरिभक्तिविलासस्य व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥

मैं शास्त्रीय आचरणसम्पन्न वैष्णववृन्दों के आनन्द वर्द्धनार्थ उन सब वैष्णवगणों के आवश्यकीय कृत्य समूह का विचार, सदाचारपरायण शास्त्रज्ञ वैष्णववृन्दों के सहित करके वैष्णववृन्दों के अनुमत शास्त्र समूह से संग्रहपूर्वक उक्त विषय ग्रन्थन करने के निमित्त स्वेष्ट देव भगवान् श्रीचैतन्य देव की वन्दना करता हूँ ॥१॥

भक्तेर्विलासांश्चिनुते प्रबोधानन्दस्य शिष्यो भगवत्प्रियस्य ।
गोपालभट्टो रघुनाथदासं सन्तोषयन् रूप-सनातनौ च ॥२॥
मथुरानाथपादाब्ज प्रेमभक्तिविलासतः ।
जातं भक्तिविलासाख्यं तद्भक्ताः शीलयन्त्विमम् ॥३॥
जीयासुरात्यन्तिकभक्तिनिष्ठाः श्रीवैष्णवा माथुरमण्डलेऽत्र ।
काशीश्वरः कृष्णवने चकास्तु श्रीकृष्णदासश्च सलोकनाथः ॥४॥

चैतन्यस्य चित्तस्य देवोऽधिष्ठाता यः श्रीवासुदेवस्तम् । अथवा चैतन्यं चेतना जीवनहेतु स्तस्य देवो नाथस्तं प्राणेश्वरमित्यर्थः आश्रये शरणं यामि । किमर्थ ? श्रीमतां वैष्णवानां आवश्यकं अवश्य कृत्यं यत् कर्म तत् साधुभिः सदाचार परैर्वैष्णवैरेव सनं विचार्य्य लिखन् लिखितुं हेतौ शतृङ् तच्च किमर्थं तेषामेव प्रकृष्टमुदे परमहर्षाय । ननु तव नीचस्य कथमेतत् सिद्धयतु तत्राह भगवन्तमिति सर्वैश्वर्य्ययुक्तं कारुण्याद्यखिलभजनीय गुणवन्तं वा श्रीकृष्णमिति वा कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति श्रीभागवतोक्तेः । एवं पक्षत्रये क्रमेण सम्बन्धनीयम् । तादृशस्य महाप्रभोराश्रयणेन न किमप्यसाध्यमिति भावः । किञ्च तच्छक्त्यैव तन्नियोजनेन वा तन्माहात्म्येन वा अहमत्र प्रवृत्तोऽस्मि नतु स्वातन्त्र्यादिनेति निजौद्धत्यादिपरिहारः । स्वमते च श्रीचैतन्यदेवेति—प्रसिद्धसंज्ञं भगवन्तं महाप्रभुम् । तत् कारुण्यमहिम्ना तदाश्रितस्य मम न किमपि दुष्करं सर्वमेव सुखसाध्यमित्यर्थः । ननु तत् सर्वं श्रुतिस्मृतिपुराणागमादिषु सर्वत्र वर्तत एव किं तल्लिखनेन तत्राह समस्तेभ्यः शास्त्रेभ्यः सम्यक् आहृत्य आनीय । तत्र तत्र स्थाने स्थितमहमत्र यथा योग्यं सङ्गमय्य तत्तत् पद्य जातमेकत्रीकृत्य लिखिष्यामीत्यर्थः ॥१॥

विलासान् परमवैभवरूपान् भेदान् चिनुते समाहरति । भक्तिविलासानां चयनेनास्य ग्रन्थस्य भक्ति विलासेति संज्ञायां कारणमेकमुद्दिष्टम् । भगवत् प्रियस्येति बहुव्रीहिणा तत्पुरुषेण वा समासेन तस्य माहात्म्यजातं प्रतिपादितम् । एवं तच्छिष्यस्य श्रीगोपालभट्टस्यापि तादृक्त्वं बोद्धव्यम् । श्रीरघुनाथदासो नाम गौड़कायस्थकुलभास्करः परमभागवतः श्रीमथुराश्रितस्तदादीन् निजसङ्गिनं सन्तोषयितुमित्यर्थः ॥२॥

श्रीमथुरानाथस्य भगवतः पादाब्जे विषये श्रीगोपालभट्टस्य प्रेमभक्ति स्तस्य विलासतः उल्लासात् । यद्वा मथुरायां यो नाथस्तस्य प्रभोः श्रीकृष्णस्य पादाब्जयोर्भक्तिविलासः भक्तिक्षेत्रत्वात् तस्माज्जातं इदं ग्रन्थस्य भक्तिविलासेत्याख्यायां कारणान्तरं ज्ञेयम् । इमं ग्रन्थं तद्भक्ताः श्रीमथुरानाथपादाब्जे भ्रमराः शीलयन्तु अभ्यस्यन्त्वित्यर्थः । शोभयन्त्विति पाठे दोषापकरणेन निरन्तरश्रवणकीर्त्तनप्रचारणादिना वा अलङ्कुर्वन्त्विति विनयविशेषः ॥३॥

शोभापादनञ्चास्य श्रीमथुरानाथचरणारविन्दभक्तिरसिकानां श्रीमथुरायां सुखनिवासेन स्वतएव सम्पद्यते इत्याद्यभिप्रायेणाशास्ते जीयासुरिति श्रीभगवद्भक्तिप्रवर्त्तनादिलक्षण-निजोत्कर्षमाविस्कुर्वन्त्वित्यर्थः ।

भगवत् श्रीचैतन्यदेव के प्रिय परिकर श्रीप्रबोधानन्द के शिष्य श्रीगोपालभट्ट, मथुरामण्डलस्थ सुप्रसिद्ध वैष्णव श्रीरूपसनातन एवं श्रीरघुनाथदास को सन्तुष्ट करने के निमित्त श्रीहरिभक्तिविलास नामक ग्रन्थ प्रणयन कर रहे हैं ॥२॥

मथुरानाथ भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में श्रीगोपालभट्ट की जो प्रेमभक्ति विद्यमान् है, उक्त प्रेमभक्ति से ही प्रस्तुत श्रीहरिभक्तिविलास नामक ग्रन्थ प्रादुर्भूत हुआ है । अतः श्रीकृष्ण चरणारविन्द मकरन्द लोलुप भक्तगण प्रस्तुत ग्रन्थ का अनुशीलन करें ॥३॥

श्रीमथुरानाथ श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में जिन प्रेमभक्ति परायण वैष्णववृन्दों की अवस्थिति से मथुरामण्डल शोभित है, उनके मध्य में श्रीकाशीश्वर, श्रीकृष्णदास, श्रीलोकनाथ सर्वाग्रणी हैं । अर्थात्

तत्र लेख्यप्रतिज्ञा

आदौ सकारणं लेख्यं श्रीगुर्वाश्रयणं ततः। गुरुः शिष्यः परीक्षादिर्भगवान् मनवोऽस्य च।
मन्त्राधिकारी सिद्धचादिशोधनं मन्त्रसंस्क्रिया ॥५॥
दीक्षा नित्यं ब्राह्मकाले शुभोत्थानं पवित्रता ॥६॥
प्रातः स्मृत्यादि कृष्णस्य वाद्यादैश्च प्रबोधनम्।
निर्म्मार्ल्योत्तारणाद्यादौ मङ्गलारात्रिकं ततः ॥७॥
मैत्रादिकृत्यं शौचाचमनं दन्तस्य धावनम्।

मथुरामण्डले श्रीमथुरानगरमध्ये प्रायस्तत्रैव तेषामवस्थितेः कृष्णवनं वृन्दावनं तापनीय-श्रुत्युक्तानुसारात् तस्मिन् क्रीड़तु श्रवणकीर्त्तनादि भक्तया सुखं निवसत्वित्यर्थः। लोकनाथेन सह वर्त्तत इति तथा सः। इत्यन्योन्यं तयोः प्रीतिविशेषः सूचितः। एवञ्च यदैषां तत्र तत्र निवासस्तदानीमयं ग्रन्थो जात इत्यपि सूचितम् ॥४॥

लिखन्निति, यल्लिखितं तल्लेख्यमेव प्रतिजानीते आदावित्यादि-त्रयोविंशतिभिः। कारणसहितं श्रीगुरोराश्रयणं उपसत्तिरादौ लेख्यमित्यस्य लिङ्गवचनव्यत्ययेन यथायथं सर्वत्रान्वयः। तत स्तदनन्तरं, गुरुः कीदृश इति तस्य लक्षणं लेख्यमित्यर्थः। अस्य भगवतो मनवो मन्त्राश्च तन्माहात्म्यादिकञ्च लेख्यमित्यर्थः ॥५॥

दीक्षा तद्विधिर्लेख्य इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि सर्वत्र मूलग्रन्थानुसारेण यथायथमूह्यम्। नित्यमित्यस्य शरणागतिरित्यन्तमनुवृत्तिः। शरणागतेरपि नित्यकृत्येष्वन्तर्भावेन तदवधि नित्यकृत्यानामेव लिखनात्। अतएव तदनन्तरं नित्यकृत्यव्यवच्छेदार्थं पक्षेष्विति लेख्यम्। ब्राह्मकाले ब्राह्मचमुहूर्त्ते शुभं शुभकर्मार्थं कृष्णकृष्णेति कीर्त्तनादिना मङ्गलावहं वा यदुत्थानं शय्यात्याग स्तत्। पवित्रता पाणिपादप्रक्षालन-दन्तधावनाचमनादिना शुचित्वम्। एतदादि सर्वं यद्यप्यग्रे स्वतएव तत्तत् प्रकरणतो व्यक्तं भावि, तथापि सुखबोधार्थमधुनात्र किञ्चिदभिव्यज्यते ॥६॥

प्रातरिति नित्यमितिवत् मध्याह्नकृत्यं यावदनुवर्त्तत एव। एवं मध्याह्नादिकं चोह्यम्। स्मृतिः स्मरणम्। आदि शब्देन प्रातः कीर्त्तनप्रणमनविज्ञापनादि। प्रबोधनं वाद्यैः। आदि शब्दात् स्तुतिपाठादिभिः। निर्म्माल्योत्तारणं आदि शब्देन श्रीमुखप्रक्षालनदन्तकाष्ठार्पणादि। आदाविति प्रथमं निर्म्माल्योत्तारणस्य आवश्यकत्वात् ॥७॥

उक्त वैष्णववृन्दों के मथुरामण्डल में अवस्थान के समय ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन हुआ ॥४॥

तत्र लेख्यप्रतिज्ञा—

श्रीहरिभक्तिविलास नामक वैष्णव स्मृति ग्रन्थ में जिन विषयों का वर्णन होगा, उसका नामोल्लेख करते हैं।

प्रथमतः सहेतु श्रीगुरूपसत्ति का वर्णन, अर्थात् श्रीगुर्वाश्रय क्यों करेंगे? इसका कारण निर्देशपूर्वक श्रीगुर्वाश्रय करने का विधान। गुरु लक्षण, शिष्य लक्षण, भगवान्, श्रीभगवन्मन्त्रादि का माहात्म्य, मन्त्र प्राप्त करने का अधिकारी, सिद्धचादि शोधन, मन्त्र संस्कार ॥५॥

दीक्षा, प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त्त में श्रीकृष्णनाम कीर्त्तनपूर्वक शय्या से उत्थान, प्रातः कृत्यादि अर्थात् हस्त पद की शुद्धि, विधान, दन्तधावन एवं मुख प्रक्षालन, आचमनादि के द्वारा शुद्धि विधान ॥६॥

प्रातः स्मरण, अर्थात् स्मरण, कीर्त्तन, प्रणाम, विज्ञप्ति पाठादि, वाद्यादि के द्वारा श्रीकृष्ण प्रबोधन, निर्माल्योत्तारणादि अनन्तर मङ्गलारात्रिक ॥७॥

स्नानं तान्त्रिकसन्ध्यादि देवसद्मादिसंस्क्रिया ॥८॥
तुलस्याद्याहृतिर्गेहस्नानमुष्णोदकादिकम् ।
वस्त्रं पीठं चोर्द्ध्वपुण्ड्रं श्रीगोपीचन्दनादिकम् ॥९॥
चक्रादिमुद्रा माला च गृहसन्ध्यार्च्चनं गुरोः ।
माहात्म्यञ्चाथ कृष्णस्य द्वारवेश्मान्तरार्च्चनम् ॥१०॥
पूजार्थासनमर्घ्यादिस्थापनं विघ्नवारणम् । श्रीगुर्वादिनतिर्भूतशुद्धिः प्राणविशोधनम् ॥११॥
न्यासमुद्रापञ्चकञ्च कृष्णध्यानान्तरार्च्चने । पूजा पदानि श्रीमूर्त्तिशालग्रामशिलास्तथा ॥१२॥

निजदन्तधावनं यद्यप्युत्थानानन्तरमेव कृत्यमिति पवित्रतान्तः पूर्व प्रविष्टमेव तथापि शौचादिविधि प्रसङ्गतोऽत्र तद्विधिमात्रलिखनम् । तान्त्रिकी सन्ध्या तदुपास्तिः । आदि शब्देन जले भगवत् पूजा । देवसद्मनः भगवदालयस्य संस्क्रिया संमार्जनादिना स्वस्तिकनिर्म्माणध्वजपताकाद्यारोपणेन च । आदि शब्दात् पीठपात्रवस्त्रादिसंस्कारः ॥८॥

तुलस्याः, आदि शब्दात् पुष्पादीनाञ्चाहरणम् । गेहे निजगेहे, स्नानं तद्विधिः, तच्च वहिस्तीर्थभावेन किम्वा श्रीभगवदालयसंस्काराद्यनन्तरमेव पूजार्थं पुनः स्नानापेक्षया ज्ञेयं तत्रैवोष्णदकामलकादि-स्नानव्यवस्था च । वस्त्रं स्नानानन्तरं निजपरिधेयं पीठं आचमनाद्यर्थं निजासनम् ॥९॥

गुरोरर्चनं माहात्म्यञ्च । अथेति गुरुपूजानन्तरमेव भगवत् पूजाया विधेयत्वात् । द्वारं, वेश्मान्तरञ्च गृहमध्यं तयोरर्चनम् ॥१०॥

पूजार्थेति पूर्वलिखितात् निजपीठाद्भेदार्थं अर्घ्यपात्रादीनां स्थापनमिति तत्तद्रव्याणां तत्तत् पात्रे च तत्तत् पात्राणाञ्च तत्तत् स्थानेषु धारणं तथा मङ्गलघटस्थापनञ्चेत्यर्थः । प्राणविशोधनं प्राणायाम इत्यर्थः ॥११॥

न्यासाः मातृकादीनामृष्याद्यन्तानाम् । मुद्रापञ्चकं वेणुवनमालादिमुद्राः पञ्च । कृष्णस्य ध्यानं, अथ प्रकटसौरभेत्याद्युक्तम् । अन्तरर्चनञ्च ध्यानानन्तरमन्तर्यागः । पूजायाः पदानि स्थानानि, श्रीशालग्राम शिलादीनि सूर्य्याग्न्यादीनि च । श्रीमूर्त्तयः श्रीभगवत्प्रतिकृतयः श्रीशालग्रामशिलाश्च तत्तल्लक्षणादि ॥१२॥

अनन्तर शरीर शुद्धि हेतु मंत्र्यादि कृत्य, शौच, आचमन, दन्तधावन, तान्त्रिक सन्ध्यादि, देवसद्मादि सम्मार्जन ॥८॥

तुलसी पुष्पादि आहरण, गृह में स्नान, उष्णोदक स्नान, श्रीभगवदालय संस्कार के अनन्तर श्रीभगवत् पूजन के निमित्त द्वितीय स्नान की अपेक्षा से उक्त विधान है। स्नान के पश्चात् वस्त्र धारण, पीठ-उपवेशन के निमित्त आसन ग्रहण, आचमनादि, ऊर्द्धपुण्ड्र तिलक धारण, एवं श्रीगोपीचन्दनादि का वर्णन ॥९॥

चक्रादि मुद्रा धारण, माला धारण, गृह में सन्ध्यानुष्ठान, श्रीगुर्वार्चन माहात्म्य, अर्थात् श्रीगुरुपूजा, गुरु माहात्म्य, कारण—श्रीगुरुपूजा के अनन्तर ही श्रीभगवत् पूजा विधेय है। अनन्तर श्रीकृष्णमन्दिर के द्वार एवं गृह मध्य का अर्चन ॥१०॥

भगवत् पूजा के निमित्त निज उपवेशनार्थ आसन, अर्घ्य पात्रादि स्थापन, विघ्नापसारण, श्रीगुर्वादि नति, भूत शुद्धि प्राणायाम ॥११॥

मातृका न्यास, मुद्रापञ्चक, श्रीकृष्ण ध्यान, मानसिक अर्चन, पूजा का स्थान वर्णन, श्रीमूर्त्ति, शालग्राम शिला, लक्षणादि ॥१२॥

द्वारकोद्भवचक्राणि शुद्धयः पीठपूजनम् । आवाहनादि तन्मुद्रा आसनादिसमर्पणम् ॥१३॥
स्नपनं शङ्खघण्टादिवाद्यं नामसहस्रकम् । पुराणपाठो वसनमुपवीतं विभूषणम् ॥१४॥
गन्धः श्रीतुलसीकाष्ठचन्दनं कुसुमानि च । पत्राणि तुलसी चाङ्गोपाङ्गावरणपूजनम् ॥१५॥
धूपोदीपश्च नैवेद्यं पानं होमो बलिक्रिया । अवगण्डूषाद्यास्यवासो दिव्यगन्धादिकं पुनः ॥१६॥
राजोपचारा गीतादि महानीराजनं तथा । शङ्खादिवादनं साम्बुशङ्खनीराजनं स्तुतिः ॥१७॥
नतिः प्रदक्षिणा कर्म्माद्यर्पणं जप याचने । आगः क्षमापणं नानागांसि निर्म्माल्यधारणम् ॥१८॥

शुद्धयः क्षालनादिना श्रीमूर्त्यादिनाम् । आवाहनं आदि शब्दात् संस्थापनसंन्निधापनादि सप्तकम् । तन्मुद्राः आवाहनादि मुद्राः, आसनस्य, आदि शब्दात् स्वागतानन्तरं अर्घ्यपाद्याचमनीयमधुपर्क-पुनराचमनीयानाञ्च समर्पणम् ॥१३॥

स्नपने अभ्यङ्गद्रव्यपञ्चामृतोद्वर्त्तनादीनि न पृथक् लिखितानि, तेषां स्नपनाङ्गत्वात्, एवमन्यदप्यूह्यम् । भगवतः स्नाने शङ्खस्नपनस्य घण्टावाद्यस्य च फलविशेषोक्तेः शङ्खघण्टयोर्माहात्म्यं आदिशब्दात्तत्रैव शङ्खादिवाद्यस्य च माहात्म्यं लेख्यमित्यर्थः । वसनादिकं स्नपनानन्तरं भगवतेऽर्पणम् ॥१४॥

गन्धान्तर्गतस्यापि श्रीतुलसीकाष्ठचन्दनस्य पृथक् लेखो माहात्म्यविशेषतः एवमन्यदप्यूह्यम् । पत्राणि विल्वादीनाम् । अङ्गानां मन्त्रवर्णादीनां उपाङ्गानाञ्च वेदादीनाम् । आवरणानाञ्च गोपकुमारादीनां पूजा ॥१५॥

बलिक्रिया, विष्वक्सेनादिभ्यो भगवदुच्छिष्टांशप्रदानम् । अवगण्डूषं गण्डूषार्थजलम् । आदि शब्देन दन्तशोधनपुनराचमनश्रीमुखमार्जनादि । आस्यवासः लवङ्गताम्बूलादि मुखवासः ॥१६॥

राजोपचाराः छत्रचामरादयः, गीतं आदि शब्दात् वाद्यं नृत्यञ्च । शङ्खादीनां वादनं, पूर्वं स्नानसम्बन्धि अधुनाच महानिराजनविषयकमितिभेदः ॥

जलयुक्तशङ्खेन नीराजनम् । जपः याचनञ्च प्रार्थना । आगसामपराधानां क्षमापणम् । नाना,—नानाविधान्यागांसि । निर्म्माल्यस्य श्रीभगवत् पादाब्जोत्तीर्णस्य तुलस्यादेर्निजमस्तके धारणम् ॥१७-१८॥

श्रीद्वारकोद्भव चक्र, गोमती चक्र समूह, शुद्धि, श्रीमूर्त्ति स्नपन विधान, श्रीमूर्त्ति के आवाहनादि, संस्थापन, सन्निधापनादि सप्त । आवाहनादि मुद्रा, आसन समर्पण, अर्घ्य पाद्याचमनीयमधुपर्क पुनराचमनीय का समर्पण ॥१३॥

स्नान, अर्थात् स्नपन विषय में अभ्यङ्ग द्रव्य, पञ्चामृत, उद्वर्त्तनादि स्नानीय द्रव्यसमूह । स्नान काल में शङ्ख के द्वारा स्नपन, घण्टा वाद्यादि । सहस्र नाम का पाठ । पुराण पाठ, स्नपन के अनन्तर वसन प्रदान, उपवीत एवं अलङ्कारादि अर्पण ॥१४॥

गन्ध, चन्दन, तुलसी काष्ठ चन्दन प्रभृति, कुसुमसमूह, पत्र समूह, बिल्वपत्र प्रभृति, तुलसी, अङ्ग, उपाङ्ग, एवं आवरण पूजा ॥१५॥

धूप, दीप, नैवेद्य, पान, होम, बलिक्रिया, अर्थात् विष्वक्सेन प्रभृति भक्तवर्ग को भगवत् प्रसादी द्रव्य प्रदान, गण्डूषार्थ जल प्रदान, आदि शब्द से दन्तशोधन, पुनराचमन, श्रीमुख मार्जनादि, आस्यवास, अर्थात् लवङ्ग ताम्बूलादि मुखवास, पुनर्बार दिव्य गन्धादि प्रदान ॥१६॥

छत्र चामरादि राजोपचार, गीत, वाद्य, नृत्य, महानीराजन, शङ्खादि वादन, सजल शंख नीराजन, स्तुति ॥१७॥

प्रणाम, प्रदक्षिणा, कर्मादि अर्पण, मन्त्र जप, प्रार्थना, अपराध क्षमापण, विविध प्रकार अपराध, प्रसादी निर्माल्य धारण ॥१८॥

शङ्खाम्बुतीर्थं तुलसीपूजा तन्मृत्तिकादि च। धात्रीस्नाननिषेधस्य कालोवृत्तेरुपार्जनम् ॥१९॥
मध्याह्ने वैश्यदेवादि श्राद्धं चानर्प्यमच्युते। विनाच्चर्चामशने दोषा स्तथानर्पितभोजने ॥२०॥
नैवेद्यभक्षणं सन्तः सत्सङ्गोऽसदऽसङ्गतिः। असद्गतिर्वैष्णवोपहासनिन्दादिदुष्फलम् ॥२१॥

सतां भक्तिर्विष्णुशास्त्रं श्रीमद्भागवतं तथा।
लीलाकथा च भगवद्धर्म्माः सायं निजक्रियाः ॥२२॥
कर्म्मपातपरीहारस्त्रिकालाचर्चा विशेषतः।
नक्तं कृत्यान्यथो पूजाफलसिद्ध्यादिदर्शनम् ॥२३॥

शङ्खाम्बु श्रीभगवन्नीराजितशङ्खजलम्। तीर्थं श्रीचरणोदकम्। तुलसीवने श्रीभगवतस्तुलस्याश्च पूजनं तस्यास्तुलस्या मृत्तिका काष्ठादि। धात्री-आमलकी, तन्माहात्म्यमित्यर्थः ॥१९॥

वैश्वदेवादिकं श्राद्धश्च वैष्णवैर्यथा कार्यं तद्विधिरित्यर्थः वैष्णवकृत्यानामेव लिखनात्। अच्युते श्रीभगवति, अनर्प्यं अर्पणायोग्यम्। अर्चा भगवत्पूजां विना भोजने दोषाः। तथेति भगवत्यनर्पितस्य द्रव्यस्य भोजने च दोषाः। सन्तः श्रीभगवद्भक्ताः, असद्भिरसङ्गतिः, असत्सङ्गपरित्याग इत्यर्थः। असतां गतिर्निष्ठा। वैष्णवानामुपहासादिना यद्दुष्टं फलं भवति तत्। यद्यप्यसद्गत्यन्तर्गतमेव तत् स्यात् तथापि विशेषतो वैष्णवविषयकापराधलक्षणपरमासाधुत्वपरिहारार्थं पृथक् लिखितम् ॥२०-२१॥

भक्तिः, अभिगमन स्तुत्यादिना सम्माननम्। लीलाकथेति भगवल्लीलाकथायाः श्रवणकीर्त्तनादि। तत् त्यागे दोषश्च। निजक्रियाः, सन्ध्योपास्त्यादिकर्म्माणि। वैष्णवानां कर्म्मपातस्य परिहारः, तद्दोष-निराकरणसिद्धान्त इत्यर्थः। विशेषत स्त्रिकालार्चनं, कालत्रयपूजाविधिविशेष इत्यर्थः। नक्त कृत्यानि गीतवाद्यादिपूर्वकं श्रीभगवच्छयनोपचारकल्पनादीनि। पूजाफलस्य सिद्धिः यथा सम्पूर्णता स्यात् तत्प्रकार इत्यर्थः। आदि शब्देन अशक्तस्य पूजाफलप्राप्त्युपायः। दर्शनं पूजायाः श्रीमूर्त्तेर्वाऽवलोकनम् ॥२२-२३॥

श्रीभगवत् नीराजित शङ्ख जल निज मस्तक में धारण, श्रीभगवत् चरणोदक, तुलसी पूजा, तुलसी मृत्तिकादि ग्रहण, आमलकी माहात्म्य, स्नान निषेध का काल निर्णय। जीविका उपार्जन ॥१९॥

मध्याह्न समय में वैश्यदेवादि कृत्य, श्राद्ध, अर्थात् वैष्णव के करणीय श्राद्धादि की रीति। श्रीभगवान् में अर्पण के अयोग्य द्रव्यसमूह, भगवदर्चन व्यतीत भोजन में दोष, तथा अनर्पित भोजन में दोष ॥२०॥

नैवेद्य भक्षण, भगवद्भक्त, सत्सङ्ग, असत् सङ्ग का परित्याग, असत् की गति, वैष्णवोपहास, निन्दा प्रभृति का दुष्परिणाम ॥२१॥

शास्त्रज्ञ धार्मिकगणों को सम्मान प्रदर्शन, अर्थात् अभिगमन स्तुति प्रभृति के द्वारा सम्मान प्रदान, श्रीविष्णु प्रतिपादक शास्त्र एवं श्रीमद्भागवत शास्त्र का समादर, सायं कालीन सन्ध्योपासना, भगवत् लीला कथा का श्रवण कीर्त्तन प्रभृति भागवत धर्म का आचरण ॥२२॥

वैष्णवों के निमित्त काम्यकर्म परित्याग, काम्यकर्म परित्याग जनित दोष का निराकरण। विशेष कर त्रिकाल में श्रीभगवदर्चन विधि, रात्रिकृत्य—अर्थात् गीत वाद्यादि के सहित श्रीभगवत शयनोपचार की कल्पना, श्रीभगवत् अर्चन प्रभृति का फल कथन, अर्थात् अर्चन फल सिद्धि के निमित्त साधन कथन, आदि शब्द से अर्चन कार्य्य में अक्षम व्यक्ति को अर्चन फल प्राप्त कराने का विधान कथन। अर्चन दर्शन, श्रीमूर्त्ति का अवलोकन ॥२३॥

विष्णवर्थदानं विविधोपचारा न्यूनपूरणम्। शयनं महिमाच्चार्याः श्रीमन्नाम्नस्तथाद्भुतः ॥२४॥
नामापराधा भक्तिश्च प्रेमाथाश्रयणादयः। पक्षेष्वेकादशी साङ्गा श्रीद्वादश्यष्टकं महत् ॥२५॥
कृत्यानि मार्गशीर्षादि-मासेषु द्वादशेष्वपि। पुरश्चरणकृत्यानि मन्त्रं सिद्धस्य लक्षणम् ॥२६॥

मूर्त्त्याविर्भावनं मूर्त्तिप्रतिष्ठा कृष्णमन्दिरम्।
जोर्णोद्धृतिः श्रीतुलसीविवाहोऽनन्यकर्म्म च ॥२७॥

विष्णवर्थं कपिलादिदानम्। तद्दुग्धादिना नित्यपूजासिद्धेर्नित्यपूजार्थद्रव्यदानाभिप्रायतो वा नित्यकृत्य मध्ये लिखितम्। न्यूनपूरणं अलब्धोपचारसमाधानं शयनं निजशयनविधिः। अर्चायाः श्रीभगवत्पूजाया महिमा माहात्म्यं श्रीमन्नाम्नश्चमहिमा। अद्भुत इति श्रीभगवन्नाममाहात्म्येऽर्थवादकल्पना परमदोषावहा। नाम सेवया नाम।पराधक्षयश्चेत्यपि सूचयति। भक्तिः श्रीभगवद्भक्तेर्दौर्लभ्यादिमाहात्म्यं लक्षणञ्चेत्यर्थः। प्रेमा प्रेमसम्पत्तिलक्षणमित्यर्थः। आश्रयणं शरणागति स्तस्य कादाचित्कत्वेपि नित्यकृत्यान्तर्लेखो नित्यं श्रीभगवत्स्थानाश्रयादिलक्षणतया नित्यमानुकूल्यस्य सङ्कल्पादिलक्षणतया च नित्यकृत्यान्तरेव पर्य्यावसानात्। आदि शब्देन उच्चावचसदाचाराः। एवं लेख्यनित्यकृत्यानिक्रमेण प्रतिज्ञाय पक्षकृत्य मासकृत्यादीनि लेख्यानि प्रतिजानीते पक्षेष्वित्यादिना। अङ्गानि दशम्यादिदिनत्रयनियमाः जागरणं द्वादश्यपेक्षणादीनि च तैः सहितमेकादशीव्रतम्। तत्तन्माहात्म्यं तत्तद्व्रतदिननिर्णयादि चेत्यर्थः। एवमन्यदप्यूह्यम्। सङ्केति लिङ्गवचनव्यत्ययेन सर्वत्र यथायथं योज्यम्। सिद्धस्य पुरश्चरणादिना सिद्ध मन्त्रस्येत्यर्थः। मूर्त्तीनां श्रीभगवत्प्रतिमानामाविर्भावनं शिल्पादि द्वारा निष्पादनमित्यर्थः। कथञ्चिद्वैगुण्ये श्रीमूर्त्तेः पुनः संस्कारप्रतिष्ठा विध्यन्तर्गत एवेति पृथक् नोल्लिखितः एवं प्रकारादिनिर्णय-वृक्षरोपणादिकमपि मन्दिरानुसङ्गिकतया पृथक् नोल्लिखितम्। जीर्णानां प्रासादादीनां उद्धृतिरुद्धारः अनन्यानां एकान्तिनां कृतम् ॥२४-२७॥

श्रीविष्णु सेवा के निमित्त कपिलादि गो दान, गव्य दुग्धादि के द्वारा अर्चन सम्पन्न होने से नित्य पूजार्थ द्रव्य दान जनित अर्चन फल प्राप्ति, अतः नित्यकृत्य के मध्य में लिखित हुआ। न्यून पूरण, अर्थात् अलब्ध उपचार का समाधान, निज शयन विधि, अर्चा विग्रह - श्रीभगवत् पूजा की महिमा, श्रीमद् भगवन् नाम की अत्युद्भूत महिमा, श्रीभगवत नाम महिमा में अर्थवाद की कल्पना परम दोषावह है। नाम सेवा से नामापराध का क्षय। नामापराध समूह का वर्णन, भगवद्भक्ति की दुर्ल्लभता, माहात्म्य, लक्षण कथन, प्रेम सम्पत्ति का लक्षण कथन। शरणागति का वर्णन, कादाचित्क होने से भी नित्य कृत्य के प्रसङ्ग में उल्लेख का कारण,—नित्य भगवत् स्थानाश्रयणादि के स्वरूप होने से, नित्यानुकूल्यादि सङ्कल्पादि लक्षण के कारण नित्यकृत्य में ही शरणागति का अन्तर्भाव है। आदि शब्द से – उच्चावच सदाचार समूह। नित्यकृत्यादि का वर्णन के अनन्तर पक्ष कृत्य—मास कृत्य समूह का वर्णन। समस्त पक्षों की एकादशी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन। अष्ट महाद्वादशी, अङ्ग शब्द से—दशम्यादि दिन त्रय में नियम समूह, जागरण, पारण में द्वादशी की अपेक्षा, उसके सहित एकादशी व्रत, एकादशी माहात्म्य, व्रत दिन निर्णय, मार्गशीर्ष प्रभृति द्वादश मासों के कृत्य समूह, पुरश्चरणादि के द्वारा सिद्ध मन्त्र का वर्णन, श्रीमद् भगवत् प्रतिमा का आविर्भावन, अर्थात् शिल्पादि के द्वारा निष्पादन का वर्णन। वैगुण्य होने पर श्रीमूर्त्ति का पुनः संस्कार, मूर्त्ति प्रतिष्ठा, श्रीकृष्ण मन्दिर निर्माण, प्राकारादि निर्णय, वृक्ष रोपणादि। जीर्ण भगवन्मन्दिरों का उद्धार, श्रीतुलसी विवाह विधान वर्णन। ऐकान्तिक भक्तवृन्दों के कृत्यसमूह ॥२४-२७॥

तत्र श्रीगुरूपसत्तिकारणम्

कृपया कृष्णदेवस्य तद्भक्तजनसङ्गतः। भक्तेर्माहात्म्यमाकर्ण्य तामिच्छन् सद्गुरुं भजेत् ॥२८॥

अत्रानुभूयते नित्यं दुःखश्रेणी परत्र च। दुःसहा श्रूयते शास्त्रात्तितीर्षेदपि तां सुधीः ॥२९॥

तथा चोक्तमेकादशस्कन्धे (श्रीभा० ११।९।२९) भगवता श्रीदत्तेन—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते, मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव,-न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥३०॥

अधुना प्रतिज्ञातं तत्तदेव विस्तार्य्य लिखति तत्रेत्यादिना यावत् समाप्ति। तत्र तेषु श्रीगुरूपसत्तेः प्रपद्येत उपासित संश्रयतेत्यादिनाऽग्रे लेख्यायाः कारणमिदं लिख्यत इति शेषः; एवमग्रेऽपि सर्वत्र; तदेव लिखति—कृपयेत्यादिना पुरुषो वेदेत्यन्तेन। कृष्णदेवस्य कृपया यस्तस्य भक्तजनैः सङ्गस्तस्मात्, माहात्म्यं मोक्षादप्याधिक्यादि, तां भक्तिं, सन्तं लेख्यलक्षणं उत्तमं गुरुमाश्रयेत् ॥२८॥

ननु विषयसुखासक्तानां तादृशज्ञानं दुर्घटमेवेति कुतो भक्तीच्छाऽस्तु ? सत्यं, दुःखसागर-तरणेच्छयापि भक्तिं वाञ्छन् सद्गुरुमपेक्षेतैवेत्याशयेन लिखति—अत्रेति; दुःखस्य श्रेणी-परम्परा शास्त्राच्छ्रूयत इति वेदवाक्ये विश्वासात् सापि प्रत्येतव्यैव, न त्वविश्वसनीयेत्यर्थः; अतस्तां दुःखश्रेणीमपि तरितुमिच्छेत्, मा तादृश-माहात्म्यं भक्तिमिच्छत्वित्यहो वत शोच्यतेत्यपि-शब्दार्थः; सुधीश्चेत्, अन्यथा विचाराभावेन पशुवन्निर्बुद्धिरेवेत्यर्थः; यद्वा, मिथ्यादुःखावलीसहनेन व्याधादिवत् कुधीरेवेत्यर्थः ॥२९॥

स्वलिखितमेतदेव महापुराणोक्त-पद्यद्वयेन प्रमाणयति—तथा चोक्तमिति; 'ये श्रीभागवतादीनां श्लोकार्था

श्रीगुर्वाश्रित व्यक्ति ही श्रीभगवत्तत्त्व को जान सकता है। देवादिदेव श्रीकृष्ण की कृपा से तदीय भक्तजनों के सङ्ग से भक्ति माहात्म्य श्रवण के अनन्तर (अर्थात् मुक्तिप्रद एवं मुक्तिसुख तिरस्कारकारी भक्ति सुख का वृत्तान्त श्रवण के पश्चात्) भगवद्भक्ति लाभेच्छु होने से वक्ष्यमाण लक्षणाक्रान्त सद्गुरु चरणों का आश्रय ग्रहण करें ॥२८॥

विषयासक्त व्यक्तियों के लिए उत्तम ज्ञान प्राप्त करना अतिशय दुर्घट है। अतएव उक्त विषय लोलुप व्यक्तियों की श्रीभगवद्भक्ति प्राप्त करने की इच्छा क्यों होगी ? उत्तर, कथन सत्य ही है, तथापि पुनः पुनः शरीर ग्रहण जनित दुःखानुभव होने से एवं दुःख सागर से उत्तीर्ण होने की इच्छा होने से अवश्य ही सद्गुरु चरणाश्रय की अपेक्षा है, उसको कहते हैं,—सुख एवं दुःख शास्त्र का विवरण है। अर्थात् ईश्वरानुशासन, आज्ञा रूप शास्त्र श्रवण से ही सत् असत् सुख एवं दुःख का ज्ञान होता है। वेदादि शास्त्र वाक्य में विश्वास होने से ही उक्त शास्त्र से उक्त विषय श्रवण के पश्चात् उक्त विषयों में विश्वास होता है। अविश्वस्त रूप से श्रवण करने पर वेदादि शास्त्र श्रवण का फल लाभ नहीं होता है। प्रत्युत ईश्वर विमुखता की वृद्धि होती है। अतएव शास्त्रोक्त दुःख श्रेणी से निज को मुक्त करने की यदि किसी की इच्छा होती है, अपि शब्द से धिक्कार बोध को जानना होगा। अर्थात् परम अमृतरूप भक्ति वार्त्ता श्रवणानन्तर भी भक्ति के प्रति लालसा नहीं होती है, धिक् है। सुविवेकी यदि होता है, तब, अन्यथा पशु के समान निर्बुद्धि ही जानना होगा। अथवा निरवद्य आनन्द को छोड़कर मिथ्या दुःखावली सहन के द्वारा जो व्याधादि के समान जीवन यापन करता है, वह ही कुधी-कुबुद्धिविशिष्ट है ॥२९॥

महापुराणोक्त पद्य द्वय के द्वारा निज लिखित विषय को प्रमाणित करते हैं। भगवान् दत्तात्रय ने कहा है—धीर व्यक्ति अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति—अनेक जन्म के अनन्तर परम पुरुषार्थ प्रापक, अनित्य एवं दुर्लभ मनुष्य देह को प्राप्त कर जब तक मृत्यु के बाद पुनर्बार मृत्यु का प्रसङ्ग नहीं होता है, तब तक ही अति सत्वर निःश्रेयस् अर्थात् परम मुक्ति रूप भक्ति प्राप्त करने के लिए यत्न करे, अथवा निरन्तर

स्वयं श्रीभगवता च (श्रीभा० ११।२०।१७)—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं, पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥३१॥

अथ श्रीगुरूपसत्तिः

तत्रैव (श्रीभा० ११।३।२१) श्रीप्रबुद्ध-योगेश्वरोक्तौ—

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥३२॥

विदिता हि ते। सुदुर्गमस्तथाप्यर्थस्तेषु कश्चिद्विशिष्यते (विशद्यते) ॥' तथाहि—मृत्योरनु पश्चात् यावन्न पतेत् तावदेव निःश्रेयसाय तूर्णं यतेत; यद्वा, अनु निरन्तरं मृत्यवो मरणानि यस्य; यद्वा, मृत्युहेतवो रोगादयो मृत्यव इव विविधबहुलमहादुःखानि वा यस्मिन् तत्, विषयस्तु सर्वतः पश्वादियोनिष्वपि स्यादेव ॥३०॥

स्वयमिति - निजेष्टदैवत-श्रीकृष्णाभिप्रायेण; यद्वा, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' (श्रीभा० १।३।२८) इत्यभिप्रायेण; चकारादुक्तमिति पूर्वगतपदेनान्वयः, एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम्; नृदेहं प्लवं नावं प्राप्येत्याध्याहारः, आद्यं सर्वफलानां मूलम्, एतदुपार्जितकर्मभिः सर्वफलावाप्तेः; सुदुर्लभमुद्यमकोटिभिरपि प्राप्तुमशक्यम्, तथापि सुलभं सत्, यदृच्छया लब्धत्वात्; सुकल्पं पटुतरम्, गुरुः संश्रितमात्र एव कर्णधारो नेता यस्य तत्, मया स्मृतमात्रेणानुकूलेन मारुतेन प्रेरितम्; यद्वा, अत्रापि कृत्वेत्यध्याहार्य्य, वक्तुर्गाम्भीर्य्येण तदुक्तौ स्वभावत उन्नेयशतापातात्। ततश्चायमर्थः—नृदेहमिदं गुरुकर्णधारं कृत्वा कर्णधारनीयमानप्लववदाश्रयमात्रेण गुरुणा सत्कृत्याभिमुखं प्रवर्त्त्य तथानुकूलवातप्रेरितवत् स्मृतिमात्रेण मयाधिष्ठितं सत् कृतार्थं कृत्वा यो न तरेत्, स आत्महैवेति ॥३१॥

एवं कारणमुल्लिख्य कार्य्यं लिखति—तस्मादित्यादिना। शाब्दे ब्रह्मणि वेदाख्ये न्यायतो निष्णातं तत्त्वज्ञम्, अन्यथा संशयनिरासकत्वायोग्यत्वात्; परे च ब्रह्मणि अपरोक्षानुभवेन निष्णातम्, अन्यथा बोधसञ्चारायोगात्; परब्रह्मनिष्णातत्वद्योतकमाह—उपशमाश्रयं परमशान्तमिति; यद्वा, परे ब्रह्मणि

दिन यामिनी परिच्छेद के द्वारा जिस शरीर की मृत्यु होती रहती है। किंवा मृत्यु के कारणस्वरूप रोगादि जिस शरीर में हैं, अथवा मृत्युवत् विविध बहुल महादुःख समूह जिस शरीर में हैं, उसका पतन जब तक नहीं होता है, उसके पहले ही भक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करें। विषय भोग का अवसर पशु प्रभृति समस्त शरीरों में आशातीत रूप से विद्यमान है ॥३०॥

स्वयं भगवान् ने भी कहा है—स्व-कृत कर्मफल भोग का मूल स्वरूप ईश्वरेच्छा से प्राप्त, पटुतर, गुरुरूप कर्णधारविशिष्ट अनुकूल पवन द्वारा प्रेरित दुर्लभ मनुष्य देह रूप नाव को प्राप्त कर जो व्यक्ति स्वयं को जन्म-मृत्यु प्रवाहरूप समुद्र भवसागर से उत्तीर्ण नहीं कराता है, वह व्यक्ति ही आत्मघाती है। अर्थात् उत्तम नाविक युक्त सुदृढ़ नाव को प्राप्त कर सर्वानुकूल परिवेश में जो जन दुर्गम समुद्र से अपने को उत्तीर्ण नहीं कराता वह ही आत्मघाती होता है। उस प्रकार सद्गुरुरूप कर्णधार को प्राप्त कर ईश्वररूप अनुकूल पवन प्राप्त करके भी जो व्यक्ति शास्त्र श्रवण से परमामृतरूप भक्ति के लिए अपने को उन्मुख नहीं करता वह ही आत्महा है। सद्गुरु चरणाश्रय ग्रहण के अनन्तर श्रीहरि स्मरण से ही भगवदुन्मुखता होती है ॥३१॥

अथ श्रीगुरूपसत्तिः

श्रीगुरूपसत्ति के कारण को कहकर कार्य्य का विधान करते हैं। उत्तम श्रेयः जिज्ञासु व्यक्ति,—शब्दब्रह्म परब्रह्म में निष्णात एवं तदनुसार उपासनारत व्यक्ति को निज उपदेष्टा गुरु रूप में वरण करें। शब्दब्रह्म शब्द से वेदादि शास्त्र एवं पूर्वोत्तर मीमांसा प्रभृति शास्त्रसमूह को जानना होगा। निष्णात

स्वयं श्रीभगवदुक्तौ (श्रीभा० ११।१०।५)—

मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥३३॥

क्रमदीपिकायाञ्च—

विप्रं प्रध्वस्तकामप्रभृतिरिपुघटं निर्म्मलाङ्गं गरिष्ठां
भक्तिं कृष्णाङ्घ्रिपङ्केरुहयुगलरजोरागिणीमुद्वहन्तम् ।
वेत्तारं वेदशास्त्रागमविमलपथां सम्मतं सत्सु दान्तं
विद्यां यः संविवित्सुः प्रवणतनुमना देशिकं संश्रयेत ॥३४॥

श्रुतावपि (मु० १।२।१२, छा० ६।१४।२)—

तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।
आचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥३५॥

श्रीकृष्णे शमो मोक्षस्तदुपरि वर्त्तत इत्युपशमो भक्तियोगस्तदाश्रयं, सदा श्रवणकीर्त्तनादिपरं श्रीवैष्णववरमित्यर्थः। अन्यत् समानम् ॥३२॥

माम् अभितो भक्तवात्सल्यादिमाहात्म्यानुभवपूर्वकं जानातीति तथा तम्, अतएव मयि आत्मा चित्तं यस्य तं, बहुव्रीहौ कः; अस्य पद्यस्य पूर्वार्द्धम्—'यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः' इत्यत्रानुपयुक्तत्वान्न लिखितम्, एवमन्यत्राप्यग्रे ज्ञेयम् ॥३३॥

निर्मलाङ्गं व्याधिरहितं, वेदशास्त्रागमानां ये विमलाः पन्थानो मार्गास्तेषां वेत्तारम्, सत्सु सतां मतं सम्मतम्, विद्यां संसारदुःखतरणाद्युपायं मन्त्रम्, प्रवणा नम्रा विनीता देशिकैकपरा वा तनुर्मनश्च यस्य तथाभूतः

शब्द से उक्त शास्त्रों का यथार्थज्ञ, अर्थ सूचित होता है। गुरु में यथाविहित अध्ययन एवं यथार्थ तत्त्व ज्ञान न होने से शिष्य का संशय निरसन में सक्षमता गुरु में नहीं होगी। परे ब्रह्मणि-निष्णात शब्द से परब्रह्म में अपरोक्षानुभव में निपुण होना, बोध होता है। अन्यथा शिष्य में बोध संचार करने में गुरु असमर्थ होगा। परब्रह्म में निष्णात का अर्थ करते हैं, उपशमाश्रय होना, अन्तरिन्द्रिय वहिरिन्द्रिय संयत होना अर्थात् परम शान्त होना आवश्यक है। विषय चञ्चल गुरु पारमार्थिक पथ के अयोग्य हैं। अथवा परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण में शम—मोक्ष, उसके उपरिभाग में स्थित जो भक्तिसुख है, उसमें रत हैं, सदा श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तयङ्ग के अनुष्ठानरत श्रीवैष्णववर ही गुरु होने के योग्य हैं ॥३२॥

एकादश स्कन्ध में स्वयं श्रीभगवान् ने कहा भी है—मदभिज्ञ, शान्त, मदात्मक गुरु का चरणाश्रय करें। अर्थात् जो व्यक्ति सर्व प्रकार से भक्तवात्सल्यादि गुणपूर्ण मुझको अनुभव के साथ जानता है, वह ही गुरु होगा। इस पद्य के पूर्वार्द्ध की सङ्गति प्रस्तुत प्रकरण में न होने के कारण उसका उल्लेख नहीं हुआ। अग्रिम ग्रन्थ में भी इस रीति को जानना होगा ॥३३॥

श्रीकेशवाचार्य्यकृत क्रमदीपिका में उक्त है—जिन्होंने कामादि रिपु को विनष्ट किया है, जिनका शरीर व्याधि से मुक्त है, वेदादि शास्त्रागम समूह में वर्णित जो भक्तिरूप विमल पथ, उसका ज्ञाता, एवं श्रीकृष्ण चरणों में जिनकी अनुरागपूर्ण अत्युत्तम भक्ति है, सज्जनसम्मत पथानुगामी व्यक्ति को संसारदुःख तरण के उपायस्वरूप मन्त्र को अवगत होने के निमित्त जिनकी लालसा है, वह व्यक्ति शरीर एवं मन से विनम्र होकर शास्त्रोक्त विधान से गुरु रूप में वरण करें।

श्रुति में भी श्रीगुरूपसत्ति का प्रकार कथित है—"उक्त परम वस्तु को जानने के लिए समित्पाणि होकर वेदज्ञ ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के निकट गमन करे। जिन्होंने सद्गुरु वरण किया है, वे ही परम तत्त्व को जान सकते हैं ॥३४-३५॥

अथ गुरूपसत्तिनित्यता

श्रीभागवते दशमस्कन्धे (८७।३३) श्रुतिस्तुतौ—

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं, य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं, वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३६॥

श्रुतौ च (कठ० १।२।६)—

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ॥३७॥

अथ विशेषतः श्रीगुरोर्लक्षणानि

मन्त्रमुक्तावल्याम्—

अवदातान्वयः शुद्धः स्वोचिताचारतत्परः। आश्रमी क्रोधरहितो वेदवित् सर्वशास्त्रवित् ॥३८॥
श्रद्धावाननसूयश्च प्रियवाक् प्रियदर्शनः। शुचिः सुवेशस्तरुणः सर्वभूतहिते रतः ॥३९॥

सन्, देशिकं गुरुम्, एवं प्रवणतनुमनस्त्वादि श्रुत्युक्तसमित्पाणित्वादि च गुरूपसत्तेराद्यप्रकारो ज्ञेयः ॥३४-३५॥

विजितेन्द्रियप्राणैरपि अदमितमनोऽश्वं ये नियन्तुं प्रयतन्ते, गुरोश्चरणमनाश्रित्य ते उपायेषु खिद्यन्ते क्लिश्यन्तीत्युपायखिदः सन्तो बहुव्यसनाकुला इह संसारसमुद्रे सन्ति तिष्ठन्ति पुनः पुनर्दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः; हे अज भगवन्! अकृतकर्णधरा अस्वीकृतनाविका वणिजो यथा तद्वत् ॥३६॥

शोभनज्ञानाय श्रेष्ठा परमयोग्यत्वेन प्रियतमा एषा मतिरतर्केण निजन्यायेन हेतुना प्रोक्तादन्येन विधिना कृत्वा नापनेया अपमार्गे न प्रवेशनीयेत्यर्थः ॥३७॥

'शाब्दे परे च निष्णातम्' (श्रीभा० ११।३।२१) इत्यादिना प्राक् सामान्यतः संक्षेपेण गुरुलक्षणान्युल्लिख्याधुना तान्येव विशेषतो विस्तार्य्य, किंवा पूर्वं गुर्वाश्रयणानुषङ्गेन गौणतया लिखित्वेदानीं मुख्यत्वेन लिखति— अवदातेत्यादिना, अवदातः शुद्धः पातित्यादिदोषरहितोऽन्वयो वंशो यस्य, सद्वंशजात इत्यर्थः; शुद्धः स्वयमपि

अथ गुरूपसत्ति-नित्यता—

अनन्तर सद्गुरु चरण आश्रय ग्रहण की नित्यता को कहते हैं। श्रीभागवतस्थ श्रुति में उक्त है,— हे भगवन्! जो सब जन परम उपायस्वरूप सद्गुरु चरणाश्रय को छोड़कर प्राणवायु एवं इन्द्रियसमूह को संयत करके ही बहु वासनासङ्कुल भवसमुद्र उत्तीर्ण होने का प्रयत्न करते हैं, उन सब की स्थिति वैसी होती है, जिस प्रकार वणिक, नाविक विहीन नाव में आरोहण कर समुद्रयात्रा में रत होकर विपत्ति को प्राप्त करते हैं ॥३६॥

कठ श्रुति में कथित है,—अत्युत्तम ज्ञान प्राप्ति हेतु परम योग्य प्रियतम मति को मनुष्यमतिप्रभव तर्क युक्ति द्वारा असत् पथ में परिचालित न करें। सद्गुरु के समीप से ज्ञान लाभ ही शोभन ज्ञान है ॥३७॥

अथ विशेषतः श्रीगुरोर्लक्षणानि—

शब्दब्रह्म परब्रह्म में निष्णात एवं उपासना रत ही सद्गुरु हैं। संक्षेप से श्रीगुरु लक्षण वर्णन के अनन्तर विस्तारपूर्वक उक्त सद्गुरु लक्षण को कहते हैं। मन्त्रमुक्तावली में उक्त है—शुद्ध वंशोत्पन्न गुरु होंगे। अर्थात् जिनके कुल में पातित्यादि दोष नहीं है, अर्थात् सद्वंशजात हैं, एवं स्वयं भी पातित्यादि दोष रहित हैं। निजोचित आचरणसम्पन्न, आश्रमी, क्रोध रहित, वेदवित्, सर्वशास्त्रवित्, श्रद्धावान्, असूया रहित, मधुरभाषी, प्रियदर्शन, शुचि, सुवेश, तरुण, सर्वभूतों के हित में रत,

धीमाननुद्धतमतिः पूर्णोऽहन्ता विमर्शकः। सगुणोऽर्च्चासु कृतधीः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः ॥४०॥
निग्रहानुग्रहे शक्तो होममन्त्रपरायणः। ऊहापोहप्रकारज्ञः शुद्धात्मा यः कृपालयः।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तो गुरुः स्याद्गरिमानिधिः ॥४१॥

अगस्त्यसंहितायां च—

देवतोपासकः शान्तो विषयेष्वपि निस्पृहः। अध्यात्मविद्ब्रह्मवादी वेदशास्त्रार्थकोविदः ॥४२॥
उद्धर्त्तुं चैव संहर्त्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तमः। तत्त्वज्ञो यन्त्रमन्त्राणां मर्म्मभेत्ता रहस्यवित् ॥४३॥
पुरश्चरणकृद्धोममन्त्रसिद्धः प्रयोगवित्। तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते ॥४४॥

विष्णुस्मृतौ—

परिचर्य्यायशोलाभलिप्सुः शिष्याद्गुरुर्नहि। कृपासिन्धुः सुसम्पूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः ॥४५॥
निस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः। सर्वसंशयसंच्छेत्ताऽनलसो गुरुराहृतः ॥४६॥

पातित्यादिदोषरहितः, अहन्ता अहिंसकः ; यद्वा, अहन्ताया विमर्शकस्तत्त्वविचारकः, गुणा वात्सल्यादयस्तद्युक्तः, अर्चासु भगवत्पूजासु, पाठान्तरे सगुणस्य सत्त्वगुणाधिष्ठातुः कारुण्यादिगुणयुक्तस्य वा भगवतः अर्चासु प्रतिमासु कृतधीः तत्पूजायां कृतनिश्चय इत्यर्थः ॥३८-४०॥

गरिमेत्याकारान्तत्वमार्षत्वात् सोढ़व्यम् ; यद्वा, गरिम्ण आ सम्यक् निधिर्निधानम्, यद्वा, साक्षाद्गरिमरूपो निधिरूपश्चेति पदद्वयम्, गरिमाम्बुधिरिति पाठस्तु स्पष्ट एव ॥४१॥

ब्रह्मवादी—वेदाध्यापकः, मर्म्मभेत्ता—संशयग्रन्थिच्छेत्ता ॥४२-४४॥

तत्तद्गुणयुक्तोऽपि केवलं निजपरिचर्य्याद्यर्थं शिष्यानुबन्धको गुरुरुपेक्ष्य इति लिखति—परिचर्य्येति। लाभो धनादिः, शिष्यात् दीक्षयेत् शिष्यं कुर्यादित्यर्थः ; यद्वा, शिष्यात् शिष्यतः सकाशात् परिचर्य्यादिलिप्सुर्यः, स गुरुर्न भवतीत्यर्थः ; तर्हि किमर्थं गुरुः स्यात् ? इत्यपेक्षायां लिखति—कृपासिन्धुरिति ; परमदयालुतया

बुद्धिमान्, स्थिरबुद्धि, अनुद्धत मति, विषयभोग लिप्सा रहित, अहिंसक, तत्त्व विचारक, वात्सल्यादि गुणयुक्त, श्रीभगवद्विग्रहार्चन में दृढ़ बुद्धि, कृतज्ञ, शिष्य वत्सल, निग्रहानुग्रह समर्थ, होममन्त्र परायण, तर्क वितर्क प्रवीण, पवित्र चित्त, कृपालय प्रभृति सद्गुणयुक्त गुरु ही गरिमानिधि हैं ॥३८-४१॥

अगस्त्य संहिता में उक्त है—देवता उपासक, शान्त, विषय तृष्णाशून्य, अध्यात्मवित्, ब्रह्मवादी अर्थात् वेदादि शास्त्राध्यापक, मर्मभेत्ता, संशय ग्रन्थिच्छेदनकारी, वेदादि शास्त्र में सुपण्डित, मन्त्रोद्धार एवं मन्त्रसंस्कार कार्य्य में निपुण, उत्तम ब्राह्मण, तत्त्वज्ञ, मन्त्र-यन्त्र का मर्मज्ञ, सिद्धान्त वेत्ता, पुरश्चरणानुष्ठानकारी, होममन्त्र सिद्ध, मन्त्रादि प्रयोगवित्, तपस्वी, सत्यवादी, गृहस्थ गुरु होने का योग्य है ॥४२-४४॥

विष्णु स्मृति में लिखित है,—उक्त प्रकार गुणयुक्त होने पर भी वह यदि केवल निज परिचर्य्या एवं जीविका के निमित्त ही शिष्यकरण कार्य्य में व्रती है, तब वह सर्वथा उपेक्षणीय है। उसको विशद रूप से कहते हैं,—जो व्यक्ति शिष्य के निकट से परिचर्य्या, धनादि प्राप्ति, यशः प्रभृति प्राप्त करने का अभिलाषी है, वह गुरु नहीं होगा। अथवा धन लाभ की आशा से शिष्य करता है, वह गुरु नहीं होगा। तब किसके लिए गुरु होगा ? कहते हैं—जो करुणानिधि है, अर्थात् अपर के दुःख से जिसका हृदय विगलित होता है। परम दयालु स्वभाव के कारण ही लोकहित में प्रवृत्त है। अतएव विषय तृष्णाशून्य, अतः प्राणिमात्र के प्रति दयालु है। प्रतिष्ठा प्रभृति जागतिक विषयों में स्पृहाशून्य, सकल विषयों में सिद्ध, सर्वविद्या विशारद, सर्वसंशय छेत्ता, अनलस गुरु ही वरण योग्य है ॥४५-४६॥

श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीभगवान्नारदसंवादे—

ब्राह्मणः सर्वकालज्ञः कुर्य्यात् सर्वेष्वनुग्रहम्। तदभावाद्द्विजश्रेष्ठ शान्तात्मा भगवन्मयः ॥४७॥

भावितात्मा च सर्वज्ञः शास्त्रज्ञः सत्क्रियापरः।

सिद्धित्रयसमायुक्त आचार्य्यत्वेऽभिषेचितः ॥४८॥

क्षत्रविट्शूद्रजातीनां क्षत्रियोऽनुग्रहे क्षमः। क्षत्रियस्यापि च गुरोरभावादीदृशो यदि ॥४९॥

वैश्यः स्यात्तेन कार्य्यश्च द्वये नित्यमनुग्रहः। सजातीयेन शूद्रेण तादृशेन महामते ॥

अनुग्रहाभिषेकौ च कार्य्यौ शूद्रस्य सर्वदा ॥५०॥

किञ्च—

वर्णोत्तमेऽथ च गुरौ सति या विश्रुतेऽपि च। स्वदेशतोऽथ वान्यत्र नेदं कार्य्यं शुभार्थिना ॥५१॥

लोकहितार्थमेवेति भाव; अत्रोक्तानां सुसम्पूर्ण इत्यादीनांविशेषणानां हेतुहेतुमत्तोह्या; आहूतो व्याहृत उक्तो वा, गुरुराड्यमिति पाठः क्वचित् ॥४५-४६॥

एवं विप्र एव गुरुः स्यादित्यायातम्, तदभावे किं कार्य्यमिति लिखति—ब्राह्मण इति सार्द्धैश्चतुर्भिः; सर्वे पञ्चरात्रविधानोक्ताः पञ्च कालास्तान् जानातीति तथा सः, सर्वेषु वर्णेषु अनुग्रहं मन्त्रप्रदानादिकम्, तदभावाच्च क्षत्रियः क्षत्रादीनामनुग्रहे क्षम इति द्वाभ्यामन्वयः; हे द्विजश्रेष्ठ श्रीनारद! शान्तात्मा शान्तस्वभावः, भावितात्मा शुद्धचित्तः, सर्वं दीक्षाविधानादिकं जानातीति तथा सः; सिद्धित्रयं पुरश्चरणादिना मन्त्रगुरुदेवतानां यत् साधनं तेन संयुक्तः; आचार्य्यत्वे मन्त्रोपदेष्टृत्वे, पुरश्चरणानन्तरं निजगुरुणाभिषिक्तः, अन्यथोपदेशेऽधिकारानुपपत्तेः; तच्चोक्तं तत्रैव पुरश्चरणानन्तरमभिषेकान्ते—'ततोऽभिषिच्य विधिना स्वाधिकारे नियोजयेत्। गृहीत्वा तेन कर्त्तव्यं गुरुत्वमितरेषु च ॥' इति। स्वाधिकारे उपदेष्टृत्वादिके नियोजयेद्गुरुः तेन शिष्येणेति, ईदृशः—उक्तलक्षणक्षत्रियसदृशः, द्वये वैश्यशूद्रयोरित्यर्थः; अन्यत्र प्रातिलोम्यदोषापत्तेः, तच्चाग्रे निषिद्धमेव, तादृशेन उक्तलक्षणक्षत्रियसदृशेन ॥४७-५०॥

तत्रैवापवादमाह—वर्णोत्तम इति, इदम्—अनुग्रहादिकम् ॥५१॥

श्रीनारदपञ्चरात्रस्थ श्रीभगवान्नारद संवाद में वर्णित है,—कहा गया है, विप्र ही गुरु होगा, किन्तु उस प्रकार लक्षणाक्रान्त ब्राह्मण के अभाव से कर्त्तव्य क्या है? सार्द्ध चार श्लोकों से कहते हैं—

पञ्चरात्रविधानोक्त पञ्च कालवेत्ता ब्राह्मण ही समस्त वर्णों को मन्त्र प्रदान करने का अधिकारी है, उसके अभाव से हे द्विजश्रेष्ठ! शान्तात्मा, शान्त स्वभाव, भगवन्मय, शुद्धचित्त, सर्वदीक्षा विधानज्ञ, सर्वशास्त्रज्ञ, सत् क्रियापरायण, सिद्धित्रय युक्त, अर्थात् पुरश्चरण के द्वारा मन्त्र गुरु देवता साधनसम्पन्न, क्षत्रिय आचार्य्यरूप में वृत होंगे। उक्त क्षत्रिय—क्षत्रिय प्रभृति को मन्त्र प्रदान कर सकता है। इसमें भी निज गुरु के द्वारा मन्त्रोपदेशक रूप अधिकार में अभिषिक्त होने पर ही वह मन्त्र प्रदान का अधिकारी होगा। अन्यथा मन्त्रोपदेश करने का अधिकार उन का नहीं होगा। उक्त प्रकरण में ही कथित है—पुरश्चरण के अनन्तर अभिषेकान्त में उक्त है—अनन्तर विधिपूर्वक शिष्य को अभिषिक्त करके मन्त्रोपदेशक अधिकार में स्थापन करे। श्रीगुरु प्रदत्त अधिकार से अधिकारी होकर ही उपदेशक बनें।

क्षत्रिय वैश्य शूद्र को मन्त्र प्रदान क्षत्रिय कर सकता है। उक्त लक्षणाक्रान्त क्षत्रिय न होने से वैश्य—वैश्य शूद्र को मन्त्र प्रदान कर सकता है। हे महामतिमान्! उक्त लक्षणाक्रान्त शूद्र भी शूद्र को मन्त्र प्रदान कर सकता है। अन्यथा प्रातिलोम्य दोष की सम्भावना है। वह निषिद्ध है ॥४७-५०॥

और भी कथित है—पूर्वोक्त गुणवान् उत्तम वर्ण के गुरु स्वदेश में अथवा अन्यत्र विद्यमान् होने पर हिताकाङ्क्षी हीन वर्ण के व्यक्ति मन्त्र प्रदानादि कार्य्य न करे ॥५१॥

विद्यमाने तु यः कुर्य्यात् यत्र तत्र विपर्य्ययम् । तस्येहामुत्र नाशः स्यात्तस्माच्छास्त्रोक्तमाचरेत् ।
क्षत्रविट्शूद्रजातीयः प्रातिलोम्यं न दीक्षयेत् ॥५२॥

पाद्मे च—

महाभागवतश्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम् । सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः ॥५३॥
महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः ॥५४॥ इति ।
गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः । वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः ॥५५॥

अथ अ-गुरुलक्षणम्

तत्त्वसागरे—

बह्वाशी दीर्घसूत्री च विषयादिषु लोलुपः । हेतुवादरतोदुष्टोऽवाग्वादी गुणनिन्दकः ॥५६॥

इह लोकेऽमुत्र च तस्य नाशः सर्वार्थहानिः स्यात् ॥५२॥

महाभागवतश्रेष्ठोऽशेषवैष्णवधर्मरतः श्रीभगवन्माहात्म्यादिज्ञानवांश्च, अस्य लक्षणमग्रे भगवद्भक्तलक्षणे विशेषतो व्यक्तं भावि ॥५३॥

ब्राह्मणोऽपि सत्कुलधर्माध्ययनादिना प्रख्यातोऽपि अवैष्णवश्चेत्तर्हि गुरुर्न भवतीति सर्वत्रापवादं लिखति—महाकुलेति, कुले महति जातोऽपीति क्वचित् पाठः ; अतएवोक्तं पञ्चरात्रे—'अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत् । पुनश्च विधिना सम्यग्ग्राहयेद्वैष्णवाद्गुरोः ॥' इति । इतिशब्दप्रयोगोऽत्रोदाहृतानामन्यत्र वचनानां प्रायो निजग्रन्थवचनतो व्यवच्छेदार्थम्, एवमग्रेऽप्यन्यत्र, यद्यपि प्रतिप्रकरणान्ते उदाहृततत्तच्छास्त्रवचनान्ते च सर्वत्र-इतिशब्दो युज्येत, तथापि तत्तद्व्यवच्छेदः प्रकरणादीनामभेदाद्व्यक्त एवेति ग्रन्थबाहुल्यभयान्न लिखितः ॥५४॥

अवैष्णव इत्युक्तम्, तत्रादौ सामान्यतो वैष्णवलक्षणं लिखन् तदितरत्वेनावैष्णवं लक्षयति—गृहीतेति ; अस्माद्वैष्णवादितरो भिन्नः ॥५५॥

शास्त्रोक्त सत्पात्र की विद्यमानता में जो व्यक्ति स्वेच्छाचारी होकर विपरीत आचरण करता है, उसका इहलोक-परलोक विनष्ट होगा । सुतरां शास्त्रोक्त विधान का अनुसरण करना ही कर्त्तव्य है । क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, प्रातिलोम्य में दीक्षा दान न करे । अर्थात् निकृष्ट होकर उत्कृष्ट को दीक्षादान न करे ॥५२॥

पद्मपुराण में उक्त है,—महाभागवत श्रेष्ठ—अशेष वैष्णवधर्मरत, श्रीभगवन्महिमादि ज्ञानवान् ब्राह्मण ही समस्त मनुष्यों के गुरु होने के योग्य हैं । उक्त ब्राह्मण—समस्त लोकों के मध्य में श्रीहरि के तुल्य पूज्य हैं ॥५३॥

सत्कुल, धर्माध्ययनादि के द्वारा विख्यात ब्राह्मण होने पर भी वह यदि अवैष्णव है, तब वह गुरु नहीं हो सकता है । उसको कहते हैं,—महाकुलोत्पन्न, सर्व यज्ञ में दीक्षित, सहस्रशाखाध्यायी ब्राह्मण अवैष्णव होने से वैष्णव नहीं होगा । पञ्चरात्र में कहा भी है—अवैष्णवोपदिष्ट मन्त्र के द्वारा नरक गमन होता है। दैवात् मन्त्र ग्रहण होने से पुनर्बार वैष्णव गुरु के समीप मन्त्र ग्रहण करे ॥५४॥

अभिज्ञ व्यक्तिगण कहते हैं—श्रीविष्णुमन्त्र में दीक्षित, श्रीविष्णुपूजा परायण व्यक्ति वैष्णव शब्द से अभिहित होता है, एतद्व्यतीत व्यक्ति अवैष्णव है ॥५५॥

अथ अ-गुरुलक्षणम्—

अ-गुरु का लक्षण,—अतिशय भोजनकारी, दीर्घसूत्री, विषादि, लोलुप, असत् तर्कपरायण, दुष्ट,

अरोमा बहुरोमा च निन्दिताश्रमसेवकः। कालदन्तोऽसितौष्ठश्च दुर्गन्धिश्वासवाहकः ॥५७॥
दुष्टलक्षणसम्पन्नो यद्यपि स्वयमीश्वरः। बहुप्रतिग्रहासक्त आचार्य्यः श्रीक्षयावहः ॥५८॥

अथ शिष्यलक्षणानि

मन्त्रमुक्तावल्याम्—

शिष्यः शुद्धान्वयः श्रीमान् विनीतः प्रियदर्शनः।
सत्यवाक् पुण्यचरितोऽदभ्रधीर्दम्भवर्जितः ॥५९॥
कामक्रोधपरित्यागी भक्तश्च गुरुपादयोः। देवताप्रवणः कायमनोवाग्भिर्दिवानिशम् ॥६०॥
नीरुजो निर्जिताशेषपातकः श्रद्धयान्वितः। द्विजदेवपितॄणाञ्च नित्यमर्चापरायणः ॥६१॥
युवा विनियताशेषकरणः करुणालयः। इत्यादिलक्षणैर्युक्तः शिष्यो दीक्षाधिकारवान् ॥६२॥

एकादशस्कन्धे च (श्रीभा० ११।१०।६)—

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्म्ममो दृढ़सौहृदः। असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥६३॥

अथोपेक्ष्याः

अगस्त्यसंहितायाम्—

अलसा मलिनाः क्लिष्टा दाम्भिकाः कृपणास्तथा।
दरिद्रा रोगिणो रुष्टा रागिणो भोगलालसाः ॥६४॥

अवाग्वादी—अवाच्यपरपापादिवक्ता, ईश्वरः दानादिषु समर्थस्तथापि चेद्बहुप्रतिग्रहासक्तः ॥५६-५८॥

अदभ्रधीः महाबुद्धिः ॥५९-६२॥

दक्षः अनलसः, निर्ममः जायादिषु ममताशून्यः, गुरौ तु दृढ़सौहृदः, असत्वरः अव्यग्रः, अमोघवाक् व्यर्थालापरहितः ॥६३॥

तत्तद्गुणहीनानपि भक्त्यार्त्या वा प्रपन्नान् स्वीकुर्वतापि श्रीगुरुणा लेख्यदोषवन्तोऽवश्यमुपेक्ष्या इत्याशयेन

अवाच्य परपापादि का वक्ता, गुणनिन्दक, लोम रहित, अथवा बहुल लोमयुक्त, निन्दित आश्रम सेवी, कृष्णदन्त, कृष्ण ओष्ठ, दुर्गन्ध श्वास-प्रश्वास युक्त, दुष्ट लक्षणयुक्त, एवं स्वयं धनादि से सक्षम होने पर भी अनेक प्रतिग्रह करने के निमित्त आग्रहशील आचार्य्य के द्वारा श्री सम्पत्ति सौभाग्य प्रभृति नष्ट होते हैं ॥५६-५८॥

अथ शिष्यलक्षणानि—

मन्त्रमुक्तावली में उक्त है,—'विशुद्ध कुलोत्पन्न, श्रीमान्, विनीत, प्रियदर्शन, सत्यवादी, पवित्र चरित्र, महाबुद्धिसम्पन्न, दम्भवर्जित, काम-क्रोध परित्यागी, गुरुपादपद्म में भक्तिमान्, देवता प्रवणः, काय-वाक्य मन के द्वारा अहर्निशि देवता भक्तिपरायण, रोगशून्य, अशेष पातक वर्जित, श्रद्धालु, द्विज-देव-पितृपुरुषों के नित्य अर्चन में रत, युवक, संयतेन्द्रिय, करुणावान्' इत्यादि लक्षणों से अलङ्कृत व्यक्ति ही दीक्षित होने का अधिकारी है ॥५९-६२॥

भा० ११।१०।६ में कथित है - अमानी, मानलिप्सा वर्जित, मत्सरता शून्य—सर्वशुभाकाङ्क्षी, दक्ष, अनलस, पत्नी-पुत्र प्रभृति के प्रति ममताशून्य, श्रीगुरुदेव में दृढ़ सौहार्द्ययुक्त, असत्वर-अव्यग्र, अमोघवाक्, व्यर्थालाप रहित व्यक्ति ही शिष्य होने का योग्य है ॥६३॥

अथोपेक्ष्याः

अनन्तर उपेक्षणीय शिष्य का वर्णन करते हैं। अगस्त्य संहिता में उक्त है—अलस, मलिन, वृथा

असूयामत्सरग्रस्ताः शठाः परुषवादिनः। अन्यायोपार्जितधनाः परदाररताश्च ये ॥६५॥
विदुषां वैरिणश्चैव अज्ञाः पण्डितमानिनः। भ्रष्टव्रताश्च ये कष्टवृत्तयः पिशुनाः खलाः ॥६६॥
बह्वाशिनः क्रूरचेष्टा दुरात्मनश्च निन्दित। इत्येवमादयोऽप्यन्ये पापिष्ठाः पुरुषाधमाः ॥६७॥

अकृत्येभ्योऽनिवार्य्याश्च गुरुशिक्षासहिष्णवः।
एवम्भूताः परित्याज्याः शिष्यत्वे नोपकल्पिताः ॥६८॥

यद्येते ह्युपकल्पेरन् देवताक्रोशभाजनाः। भवन्तीह दरिद्रास्ते पुत्रदारविवर्जिताः ॥६९॥
नारकाश्चैव देहान्ते तिर्य्यञ्चः प्रभवन्ति ते ॥७०॥

हयशीर्षपञ्चरात्रे

जैमिनिः सुगतश्चैव नास्तिको नग्न एव च। कपिलश्चाक्षपादश्च षड़ेते हेतुवादिनः ॥७१॥
एतन्मतानुसारेण वर्त्तन्ते ये नराधमाः।
ते हेतुवादिनः प्रोक्तास्तेभ्यस्तन्त्रं न दापयेत् ॥७२॥ इति।

तयोः परीक्षा चान्योऽन्यमेकाब्दं सहवासतः। व्यवहारस्वभावानुभवेनैवाभिजायते ॥७३॥

तान् लिखति—अलसा इति पञ्चभिः; क्लिष्टा वृथाक्लेशकारिणः, रागिणो विषयासक्ताः, भोगलालसा लुब्धा इत्यर्थः; पिशुनाः परदोषसूचकाः, खलाः परदुःखदाः ॥६४-६७॥

गुरुशिक्षाया असहनशीलाः शिष्यत्वे न केनाप्युपकल्पिता न विहिताः, शिष्या न कृता इत्यर्थः; यद्वा, उपकल्पिता न भवन्ति, शिष्यत्वं नार्हन्ति, शिष्या न कार्य्या इत्यर्थः ॥६८॥

लोभादिना तेषां स्वीकारेण श्रीगुरौ महादोषाः पर्य्यवस्यन्तीत्याह—यद्यैत इति सार्द्धेन ॥६९-७०॥

परिश्रमपरायण, दाम्भिक, कृपण, दरिद्र, रोगी, क्रोधी, विषय लोलुप, भोग लालसायुक्त, असूया मत्सर युक्त, वञ्चक, कटु भाषी, अन्याय से उपार्जित धनसम्पत्तिमान्, परदाररत, विद्वान् विद्वेषी, अज्ञ होकर पण्डिताभिमानी, भ्रष्टव्रत, कष्ट से जीविका उपार्जनकारी, परदोष सूचक, खल—परपीड़ाकारी, अत्यधिक भोजनकारी, क्रूर चेष्टा, दुरात्मा, निन्दित कर्मकारी पापिष्ठ पुरुषाधम व्यक्ति शिष्य होने के अयोग्य है ॥६४-६७॥

जिसको असत् कार्य्य से निवृत्त नहीं किया जा सकता है, गुरुशिक्षा सहन करने में असमर्थ, इस प्रकार व्यक्ति को सर्वथा वर्जन करे, शिष्य रूप में अङ्गीकार न करे ॥६८॥

लोभ प्रभृति के वशवर्त्ती होकर उक्त निषिद्ध लक्षणाक्रान्त व्यक्ति को यदि कोई शिष्यकरे तो उसका महादोष होता है, देवता उसके प्रति असन्तुष्ट होते हैं, फलतः वह पुत्र दार विहीन होता है। मृत्यु के पश्चात् वह गुरु, नरक भोग करने के बाद तिर्य्यग्-योनि में जन्मग्रहण करेगा ॥६९-७०॥

हयशीर्षपञ्चरात्र में वर्णित है—जैमिनि, सुगत, नास्तिक, नग्न, कपिल, गौतम—हेतुवादी हैं, जो व्यक्ति इनके मतानुसरण कर चलते हैं, वे सब हेतुवादि कहलाते हैं। सुतरां उन सबको दीक्षा दान न करे ॥७१-७२॥

गुरु शिष्य के परस्पर स्वभाव का परिचय एक वत्सर साहचर्य्य वास से ही होता है। अर्थात् उभय का व्यवहार, चेष्टा, स्वभाव-शील-चरित्र का पारस्परिक ज्ञान उक्त आचरण के अनुभव से ही होता है। उससे ही गुरु एवं शिष्य की परीक्षा होती है ॥७३॥

अथ परीक्षणम्

मन्त्रमुक्तावल्याम्—

तयोर्वत्सरवासेन ज्ञाताऽन्योऽन्यस्वभावयोः ।
गुरुता शिष्यता चेति नान्यथैवेति निश्चयः ॥७४॥

श्रुतिश्च— नासम्वत्सरवासिने देयात् ॥७५॥

सारसंग्रहेऽपि— सद्‌गुरुः स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत् ॥७६॥
राज्ञि चामात्यजा दोषाः पत्नीपापं स्वभर्त्तरि ।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुः प्राप्नोति निश्चितम् ॥७७॥

क्रमदीपिकायान्तु—

सन्तोषयेदकुटिलार्द्रतरान्तरात्मा, तं स्वैर्धनैः स्ववपुषाप्यनुकूलवाण्या ।
अब्दत्रयं कमलनाभधियाऽतिधीर,-स्तुष्टे विवक्षतु गुरावथ मन्त्रदीक्षाम् ॥७८॥

तयोः गुरुशिष्ययोः, अन्योऽन्यमित्यस्य परार्द्धेनाप्यन्वयः, व्यवहारः चेष्टा, स्वभावः शीलम्, तयोरनुभवेनैव अभितो जायते ॥७३॥

गुरुणा त्ववश्यमेव शिष्यपरीक्षा कार्य्येत्यत्र हेतुमाह—राज्ञीति ॥७७॥

एवं 'वर्षमेकं परीक्षा च ततो दीक्षेति निश्चितम्' तत्र श्रीगोपालमन्त्रबरदीक्षायां वर्षत्रयगुरुसेवानन्तरमेव दीक्षेति तत्तत्त्वविदां मतं लिखन् दीक्षाप्राक्तनगुरुसेवाविधिञ्च संक्षेपेण दर्शयति—सन्तोषयेदिति ; तं गुरुम्, विवक्षतु वक्तुमिच्छतु, दीक्षार्थं प्रार्थनं कुर्य्यादित्यर्थः ; अब्दत्रयमित्यत्र बिशेषो ग्रन्थान्तरादद्रष्टव्यः ; तथाहि—

अथ परीक्षणम्—

अनन्तर परीक्षा विधि। मन्त्रमुक्तावली में उक्त है,—एक वत्सर गुरु के साहचर्य्यवास के द्वारा पारस्परिक स्वभाव का परिज्ञान होता है। इसके पश्चात् ही गुरुता एवं शिष्यता का निर्णय होता है, अन्य किसी प्रकार से स्वभाव की परीक्षा नहीं होती है ॥७४॥

श्रुति भी कहती है—श्रीगुरुदेव के सन्निकट में एक संवत्सर काल यावत् शिष्य निवास न करने से उसे दीक्षित न करे ॥७५॥

सारसंग्रह में लिखित है—सद्‌गुरु, निज आश्रित शिष्य को एक वत्सर यावत् परीक्षा करें ॥७३॥

शिष्य की परीक्षा करना गुरु के लिए अवश्य कर्त्तव्य क्यों है ? उसके प्रति कारण कहते हैं—जिस प्रकार अमात्य का दोष नृपति में, पत्नी का पाप निज भर्त्ता में संक्रमित होता है, उस प्रकार शिष्य के द्वारा अर्जित पापों का अधिकारी निश्चय रूप से गुरु होता है ॥७७॥

क्रमदीपिका में वर्णित है,—एक वर्ष यावत् शिष्य परीक्षा के पश्चात् ही दीक्षा का विधान निश्चित है। किन्तु श्रीगोपालमन्त्रबर की दीक्षा में वर्षत्रय गुरु सेवा के अनन्तर ही दीक्षा का विधान को तत्त्वविद्‌गण मानते हैं, उसको दर्शाने के लिए प्राक्तन गुरुसेवा विधि का वर्णन संक्षेप से करते हैं,—

अकुटिल एवं आर्द्रचित्त होकर शिष्य तीन वत्सर यावत् धन, शरीर, अनुकूलमुमिष्ट वाणी के द्वारा भगवद्‌बुद्धि से श्रीगुरुदेव की सेवा करे। श्रीगुरुदेव उसके आचरण से सन्तुष्ट होने से मन्त्र दीक्षा हेतु प्रार्थना करे। अब्दत्रय शिष्य परीक्षा का विवरण ग्रन्थान्तर से भी जानना आवश्यक है।

"त्रिषु वर्षेषु विप्रस्य षट्सु वर्षेषु भूभृतः। विशो नवसु वर्षेषु परीक्षा तु प्रशस्यते ॥

अथ विशेषतः श्रीगुरुसेवाविधिः

कौर्म्मे श्रीव्यासगीतायाम्—

उदकुम्भं कुशान् पुष्पं समिधोऽस्याहरेत् सदा। मार्जनं लेपनं नित्यमङ्गानां वाससां चरेत् ॥७९॥
नास्य निर्माल्यशयनं पादुकोपानहावपि। आक्रामेदासनं छायामासन्दीं वा कदाचन ॥८०॥
साधयेद्दन्तकाष्ठादीन्, कृत्यं चास्मै निवेदयेत् ॥८१॥
अनापृच्छ्य न गन्तव्यं भवेत् प्रियहिते रतः। न पादौ सारयेदस्य सन्निधाने कदाचन ॥८२॥
जृम्भाहास्यादिकं चैव कण्ठप्रावरणं तथा। वर्जयेत् सन्निधौ नित्यमथास्फोटनमेव च ॥८३॥

किञ्च—

श्रेयस्तु गुरुवद्वृत्तिर्नित्यमेव समाचरेत्। गुरुपुत्रेषु दारेषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥८४॥
उत्सादनं वै गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने। न कुर्य्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोः शौचमेव च ॥८५॥

'त्रिषु वर्षेषु विप्रस्य षट्सु वर्षेषु भूभृतः। विशो नवसु वर्षेषु परीक्षा तु प्रशस्यते॥ समास्वपि द्वादशसु तेषां ये वृषलादयः' इति। यच्च शारदातिलकादावुक्तम्—'एकाब्देन भवेद्विप्रा भवेदब्दद्वयन्नृपः। भवेदब्दत्रयैर्वैश्यः शूद्रो वर्षचतुष्टयैः॥' इति। तदत्यन्तपूर्वपरिशीलितविषयमिति विवेचनीयम् ॥७८॥

सन्तोषयेदित्यादिना सामान्यतः संक्षेपेण लिखितं श्रीगुरुसेवाविधि विशेषतो विस्तार्य्य लिखति—उदकुम्भमित्यादिना; अस्य गुरोर्मार्जनादिकं गृहस्य अङ्गानां चेत्यर्थः; तत्राङ्गानां लेपनञ्चन्दनादिनेति ज्ञेयम्; पादुकोपानहोश्चर्मकाष्ठादिभेदेनावान्तरभेदः, आसन्दीं—भोजनपात्राधारत्रिपदिकाम् ॥७९-८१॥

सारयेत् प्रसारयेत, आदिशब्दादुच्चैर्भाषादि, आस्फोटनमङ्गुल्यादीनाम् ॥८२-८३॥

नित्यं गुरुपुत्रादिषु श्रेयः हितं सम्यगाचरेत्; गुरुवद्वृत्तिः, गुराविव गुरुपुत्रादिष्वपि वृत्तिर्व्यवहारो यस्य तथाभूतः सन्, स्वा ज्ञातयो, बन्धवः सम्बन्धिनस्तेषु, पाठान्तरे श्रेयो यथा स्यात्तथा गुराविव तद्धियाचरेत्; यदाचरेत् तत् श्रेय इति वा ॥८४॥

तत्रापवादमाह—उत्सादनमिति त्रिभिः। गात्राणामुत्सादनम्, उद्वर्त्तनम्, शौचं प्रक्षालनम्, असवर्णा इति

समास्वपि द्वादशसु तेषां ये वृषलादय।" शारदातिलक में वर्णित है,—
"एकाब्देन भवेद्विप्रो भवेदब्दद्वयान्नृपः। भवेदब्दत्रयैर्वैश्यः शूद्रो वर्षचतुष्टयैः।।"
योग्यता के अनुसार ही परीक्षा समय का निर्व्वचन हुआ है ॥७८॥

अथ विशेषतः श्रीगुरुसेवाविधिः

अनन्तर श्रीगुरु सेवा विधि का वर्णन करते हैं। कूर्मपुराणस्थ श्रीव्यास गीता में उक्त है,—श्रीगुरुदेव के निमित्त, सर्वदा जलकुम्भ, कुश, पुष्प एवं समिध का आहरण करे। नित्य श्रीगुरुगृह का मार्जन, श्रीगुरुदेव के श्रीअङ्ग मार्जन, चन्दन लेपन, वसन प्रक्षालनादि कार्य्य करे। श्रीगुरुदेव के निर्माल्य, काष्ठ पादुका, चर्म पादुका, आसन, छाया एवं आसन्दी, भोजन पात्राधार का लङ्घन कदापि न करे। दन्तकाष्ठादि का संग्रह करे, एवं कर्त्तव्य विषयों का निवेदन भी श्रीगुरुदेव के निकट करे ॥७९-८१॥

अनुमति न लेकर अन्यत्र गमन न करे। श्रीगुरुदेव के प्रिय एवं हितकर कार्य्य में निरन्तर रत रहे, श्रीगुरुदेव के समीप में पाद प्रसारण कदापि न करे। जृम्भा, हास्यादि, उच्च भाषा, अङ्गुलिआस्फोटन प्रभृति न करे, एवं स्वीय उत्तरीय वसन के द्वारा कण्ठ को आवृत न करे ॥८२-८३॥

और भी कथित है,—श्रीगुरुदेव के समान ही आदर बुद्धि से गुरुपुत्र, गुरुपत्नी एवं बान्धवगण के प्रति व्यवहार करे! गुरुपुत्र के शरीर मार्जन, स्नान, उच्छिष्ट भोजन एवं पाद प्रक्षालन न करे। गुरुपत्नी

गुरुवत् परिपूज्याश्च सवर्णा गुरुयोषितः । असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥८६॥
अभ्यञ्जनं स्नापनञ्च गात्रोत्सादनमेव च । गुरुपत्न्या न कार्य्याणि केशानाञ्च प्रसाधनम् ॥८७॥

देव्यागमे श्रीशिवोक्तौ—

गुरुशय्यासनं यानं पादुके पादपीठकम् । स्नानोदकं तथा छायां लङ्घयेन्न कदाचन ॥८८॥
गुरोरग्रे पृथक्पूजामद्वैतञ्च परित्यजेत् । दीक्षां व्याख्यां प्रभुत्वञ्च गुरोरग्रे विवर्जयेत् ॥८९॥

श्रीनारदोक्तौ—

यत्र यत्र गुरुं पश्येत् तत्र तत्र कृताञ्जलि । प्रणमेत् दण्डवद्भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ॥९०॥
गुरोर्वाक्यासनं यानं पादुकोपानहौ तथा । वस्त्रं छायां तथा शिष्यो लङ्घयेन्न कदाचन ॥९१॥

श्रीमनुस्मृतौ—

नोदाहरेद्गुरोर्नाम परोक्षमपि केवलम् । न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषणचेष्टितम् ॥९२॥
गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् । न चाविसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत् ॥९३॥

श्रीनारदपञ्चरात्रे —

यथा तथा यत्र तत्र न गृह्णीयाच्च केवलम् । अभक्त्या न गुरोर्नाम गृह्णीयाच्च यतात्मवान् ॥९४॥

पूर्वं ब्राह्मणानां क्षत्रियादिकन्यापरिग्रहात्; यद्यप्येतत्; सर्वं श्रीव्यासदेवेन वेदाध्यापकगुरुसेवाधिकृत्योक्तं, तथापि साङ्गवेदाध्यापने मन्त्रोपदेशश्च स्वत एव सिध्यतीत्येवं मन्त्रगुर्वोरभेदात्, विशेषतश्च सेवाविधिसाम्यादत्र-लिखितमिति दिक्; एवमन्यत्राप्यूह्यम् ॥८५-८७॥

अद्वैतमभेदोक्तिः; दीक्षामन्यस्मै दीक्षाप्रदानम् ॥८८-८९॥

पादुकोपानहोश्चर्मकाष्ठादिभेदेनावान्तरभेदः पूर्वमेव लिखितः ॥९०-९१॥

केवलं शुद्धं नामाक्षरमात्रकमित्यर्थः ॥९२॥

स्वान् गुरून् पित्रादीन् ॥९३॥

तर्हि कुत्रचित् कथं गृह्णीयादित्यपेक्षायामाह—गृह्णीयाच्चेत्यादिना; अञ्जलीति दीर्घत्वमार्षम्; ॐ श्रीअमुक-

---

सवर्णा होने से वह गुरुवत् पूज्या है, असवर्णा होने से प्रत्युत्थान अभिवादन के द्वारा सम्माननीया है। गुरुपत्नी के अङ्ग में तैल मर्दन, स्नान, शरीर मार्जन, केश संस्कार प्रभृति कार्य्य भी न करे ॥८४-८७॥

देव्यागम में श्रीशिव ने कहा भी है—श्रीगुरु के शय्या, आसन, यान, पादुका, पादपीठ, स्नानोदक एवं छाया का लङ्घन कदापि न करे। श्रीगुरुदेव के सम्मुख में पूजा ग्रहण, एवं श्रीगुरु के सहित अभेदोक्ति, दीक्षा प्रदान, व्याख्या कार्य्य, प्रभुत्व प्रकट भी न करे। श्रीगुरु सेवा का प्रकरण,—श्रीवेदव्यासोक्त वेदाध्यापक गुरुसेवा में है। साङ्गवेदाध्यापन में मन्त्रोपदेश का प्रसङ्ग स्वतः ही होता है। इससे मन्त्रगुरु एवं वेदाध्यापक गुरु में अभेद प्रतीति होती है। विशेष कर सेवा विधि की समता से उक्त प्रकरण का उल्लेख हुआ है ॥८८-८९॥

श्रीनारद की उक्ति इस प्रकार है– श्रीगुरुदेव का दर्शन जहाँ जहाँ हो, वहाँ वहाँ ही कृताञ्जलि होकर छिन्नमूलद्रुम के समान भूमि में दण्डवत् पतित होकर प्रणाम करे। श्रीगुरु के वाक्य, आसन, यान, पादुका उपानत्, चर्म पादुका, वस्त्र, छाया का लङ्घन शिष्य कभी भी न करे ॥९०-९१॥

श्रीमनुस्मृति में लिखित है—श्रीगुरुदेव के नाम ग्रहण केवल शुद्ध नामाक्षर का परोक्ष से भी न करे। श्रीगुरुदेव के गमन, भाषण प्रभृति का अनुकरण न करे। श्रीगुरुदेव के गुरु के प्रति भी गुरुवत् आचरण करे, गुरु से आदेश प्राप्त कर ही आत्मीय गुरु वर्ग को प्रणाम करे ॥९२-९३॥

श्रीनारदपञ्चरात्र में वर्णित है– यत्र तत्र श्रीगुरु का नाम, सम्मानसूचक शब्द रहित शुद्ध नाम का

प्रणवः श्रीस्ततो नाम विष्णुशब्दादनन्तरम् । पादशब्दसमेतञ्च नतमूर्द्धाञ्जलीयुतः ॥९५॥

किञ्च—

न तमाज्ञापयेन्मोहात्तस्याज्ञां न च लङ्घयेत् ।
नानिवेद्य गुरोः किञ्चिद्भोक्तव्यं वा गुरोस्तथा ॥९६॥

अन्यत्र च—

आयान्तमग्रतो गच्छेद्गच्छन्तं तमनुव्रजेत् । आसने शयने वापि न तिष्ठेदग्रतो गुरोः ॥९७॥
यत्किञ्चिदन्नपानादि प्रियं द्रव्यं मनोरमम् । समर्प्य गुरवे पश्चात् स्वयं भुञ्जीत प्रत्यहम् ॥९८॥

श्रीविष्णुस्मृतौ—

न गुरोरप्रियं कुर्य्यात् ताड़ितः पीड़ितोऽपि वा ।
नावमन्येत तद्वाक्यं नाप्रियं हि समाचरेत् ॥९९॥
आचार्य्यस्य प्रियं कुर्य्यात् प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्म्मणा मनसा वाचा स याति परमां गतिम् ॥१००॥

अन्यथा द्वयोरपि महादोषः

श्रीनारदपञ्चरात्रे—

यो वक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः । तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम् ॥१०१॥

विष्णुपादा इत्येवम्, तच्च नतमूर्द्धाञ्जलियुक्तः सन् गृह्णीयादित्यर्थः ॥९४-९५॥

मोहादपि गुरोः किञ्चिन्न भोक्तव्यम्, तच्चाज्ञां विनेति बोद्धव्यम्, अन्यथाज्ञालङ्घनदोषापत्तेः; एतच्च सर्वं दीक्षानन्तरमपि शिष्यस्य कृत्यं ज्ञेयम्, सदैव गुरुभक्तेरनुष्ठेयत्वात्; अतएवैतत् दीक्षानन्तरमपि क्वचिदुक्तमस्ति ॥९६-१००॥

परीक्षां विना गुरुसेवादि विना च मन्त्रस्य कथने ग्रहणे च महाननर्थ इति लिखति—यो वक्तीति ; न्यायः

उच्चारण न करे। कैसे श्रीगुरु का नाम ग्रहण करना होगा ? अनादर अभक्तिपूर्वक नाम ग्रहण करना ही निषेध है, किन्तु अत्यावश्यक होने पर नतमूर्द्धाञ्जलि युक्त होकर नाम के पूर्व में "ओं श्री अमुक विष्णुपाद" कह कर ही नामोच्चारण करे ॥९४-९५॥

और भी कथित है—मोह वशतः कभी भी गुरु को आदेश न करे, एवं श्रीगुरुदेव का आदेश लङ्घन कभी न करे। श्रीगुरु को निवेदन न करके कभी भी कुछ भी भोजन न करे। अन्यथा आज्ञा लङ्घन दोष होगा। ये सब आचरण दीक्षा के अनन्तर भी करना आवश्यक है। गुरुभक्ति का अनुष्ठान सदैव कर्त्तव्य है। अन्यत्र भी उक्त है—

श्रीगुरु को आते देखकर उनके सम्मुख में उपस्थित होना कर्त्तव्य है। गमन के समय पश्चात् गमन करे। श्रीगुरु के सम्मुख में आसन अथवा शय्या में अवस्थित न होवे। मनोरम अन्न पानादि श्रीगुरुदेव को अर्पण करके पश्चात् ग्रहण करे। श्रीविष्णुस्मृति में कथित है—श्रीगुरुदेव के द्वारा ताड़ित, पीड़ित होने पर भी अनादर—अप्रिय आचरण प्रभृति श्रीगुरुदेव के प्रति न करे। आचार्य्य का प्रीतिविधान धन, प्राण, कर्म, मन, वाणी से सर्वदा करे। इस प्रकार आचरण परायण व्यक्ति परम पद को प्राप्त करता है ॥९६-१००॥

अन्यथा द्वयोरपि महादोषः

अन्यथा गुरु-शिष्य उभय के लिए ही दोषावह होगा। श्रीनारद पञ्चरात्र में वर्णित है,—यो व्यक्ति

अथ शिष्यप्रार्थना

वैष्णवतन्त्रे —

त्रायस्व भो जगन्नाथ गुरो संसारवह्निना।
दग्धं मां कालदष्टञ्च त्वामहं शरणं गतः ॥१०२॥ इति।

तत्र श्रीवासुदेवस्य सर्वदेवशिरोमणेः। पादाम्बुजैकभागेव दीक्षा ग्राह्या मनीषिभिः ॥१०३॥

अथ श्रीभगवन्माहात्म्यम्

प्रथमस्कन्धे (२।२३)—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै,-र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेतिसंज्ञाः, श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥१०४॥

द्वयोरन्योऽन्यपरीक्षणपूर्वकगुरुसेवादिप्रकारस्तद्रहितम् ॥१०१॥

एवं सेवया गुरुसन्तोषणानन्तरं मन्त्रदीक्षार्थं यथा शिष्येण प्रार्थयितव्यं तद्विज्ञापयितुं लिखति— त्रायस्वेति ॥१०२॥

तत्र तस्यां गृह्यमानायां दीक्षायां तु पादाम्बुजमेकमेव भजति आश्रयतीति तथा सा ; मनीषिभिरिति, अन्यथा निर्बुद्धितैवेति भावः ॥१०३॥

तत्र हेतुं दर्शयन् श्रीवासुदेवस्य भगवतो माहात्म्यं लिखति—सत्त्वमित्यादिना ; तत्र ब्रह्मादीनां त्रयाणामपीश्वरत्वेऽप्येकात्मत्वेऽपि च श्रीवासुदेवस्याधिक्यमाह—सत्त्वमिति ; इह यद्यप्येक एव परः पुमान् ईश्वरः अस्य विश्वस्य स्थितिसृष्टिलयार्थं हरिविरिञ्चिहरेतिसंज्ञा धत्ते, तथापि तत्र तेषां मध्ये सत्त्वतनोः श्रीवासुदेवादेव श्रेयांसि शुभफलानि स्युः ॥१०४॥

न्याय रहित उपदेश करता है, एवं जो व्यक्ति अन्याय रीति से श्रवण करता, वे दोनों ही अनन्त काल के लिए घोर अक्षय नरक को प्राप्त करते हैं। अर्थात् परीक्षा के विना एवं गुरु सेवा के विना मन्त्र कथन एवं ग्रहण में महान् अनर्थ होता है। न्याय शब्द का अर्थ—शास्त्रीय नियम, अर्थात् गुरुशिष्य के परस्पर परीक्षणपूर्वक गुरु सेवादि, उससे रहित होने से ही दोष होगा ॥१०१॥

अथ शिष्यप्रार्थना—

सेवा के पश्चात् गुरु सन्तोष के अनन्तर मन्त्र दीक्षा प्राप्त करने के लिए शिष्य किस प्रकार प्रार्थना करेगा उसको सूचित करते हैं—

हे जगन्नाथ! गुरो! मैं संसारानल से दग्ध हो रहा हूँ, एवं कालग्रस्त हूँ, मेरी रक्षा आप करें, मैं आपकी शरण में आया हूँ ॥१०२॥

जिसके द्वारा सर्वदेव शिरोमणि श्रीवासुदेव के चरणाश्रय होता है, मनीषिगण उस दीक्षा को ग्रहण करे। अन्यथा निर्बुद्धिता का ही परिचायक होगा ।१०३॥

अथ श्रीभगवन्माहात्म्यम्

भा० १।२।२३ में उक्त है,—ब्रह्मा विष्णु महेश्वर का ईश्वर एवं एकात्म होने पर भी श्रीवासुदेव का सर्वापेक्षा आधिक्य है। यद्यपि एक ही परमपुरुष विश्व के सृष्टि-स्थिति-लयात्मक कार्य्य हेतु हरि-विरिञ्चि-हर संज्ञा प्राप्त करते हैं, तथापि उनके मध्य में सत्त्वतनु श्रीवासुदेव से ही शुभ फल लाभ होता है ॥१०४॥

किञ्च, (श्रीभा० १।१८।२१)—

अथापि यत्पादनखावसृष्टं, जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्, को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥१०५॥

श्रीदशमस्कन्धे (८९।१४)—

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः। भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः क्षेमो यतोऽभयम् ॥१०६॥

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये यमब्राह्मणसंवादे—

व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा,-
स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि।
सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुः समस्तागम,-
व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेसु निश्चीयते ॥१०७॥

नारसिंहे—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुत्क्षिप्य भुजमुच्यते। वेदाच्छात्रं परं नास्ति न देवः केशवात् परः ॥१०८॥

यतः पाद्मे—

अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्मो धर्मतां व्रजेत्। सुप्रसन्ने हृषीकेशे विपरीते विपर्य्ययः ॥१०९॥

अथापि यद्यपि त्रय एवैते ईश्वरास्तथापीत्यर्थः; यद्वा, अथेत्यर्थान्तरे; विरिञ्चिनोपहृतं समर्पितमर्हणाम्भः अर्घ्योदकं यस्य पादनखादवसृष्टं निःसृतमपि, यद्वा, पादनखेनावज्ञया त्यक्तमपि ईशसहितं जगत् पुनाति; विरिञ्चोपहृतं शेषमित्यनेन श्रीब्रह्मशिवयोरप्युपासकत्वमुक्तम्, तस्मान्मुकुन्दाद्व्यतिरिक्तः को नाम भगवत्-पदार्थोऽभिधेयः, सर्वेश्वरः स विष्णुरेक एवेत्यर्थः ॥१०५॥

—तद्भृगुवर्णितं श्रीभगवन्माहात्म्यं, विस्मिता तादृशापराधेऽपि निर्विकारत्वेन, यद्वा, अविस्मितास्तस्य स्वतएव तथा सम्भावनया; भूयांसं महत्तमं; श्रद्दधुर्निश्चितवन्तः ॥१०६॥

जल्पन्त्वित्युपहासे, 'जानन्त एव जानन्तु' इत्यादिवत्, समस्तानामागमानां शास्त्राणां व्यापारेषु प्रयोजनेषु विवेचनस्य व्यापारस्य दूषणत्वेन तदेव स्कन्दपुराणादिविचारस्य व्यतिकरमासङ्गं प्रापितेषु सत्सु सिद्धान्ते विषये विष्णुरेक एव भगवान् सर्वेश्वर इति निश्चीयते ॥१०७॥

वेदाच्छास्त्रं परं परमं नास्तीति दृष्टान्तत्वेनोक्तम् ॥१०८॥

भा० १।१८।२१ में भी वर्णित है—श्रीवामनावतार में ब्रह्मा के द्वारा अर्पित अर्घ्योदक जिनके पादनख से निर्गत होकर भी ईश्वर से आरम्भ कर अशेष जगत् को पवित्र करता है, अर्थात् ब्रह्मा शिव के परम उपास्य मुकुन्द व्यतीत कौन हो सकता है, अतः भगवत् शब्द वाच्य सर्वेश्वर श्रीविष्णु एक ही हैं ॥१०५॥

भा० १०।८९।१४ में उक्त है—मुनिगण श्रीभृगु वर्णित श्रीभगवन्माहात्म्य श्रवण कर विस्मित एवं निःसन्देहाक्रान्त चित्त होकर मङ्गल एवं उभय का कारणस्वरूप श्रीविष्णु को मानते थे ॥१०६॥

पद्मपुराणीय वैशाख माहात्म्य के यम-ब्राह्मण संवाद में वर्णित है—पुराण एवं आगमगण जगत् में मोह विस्तार हेतु अपरापर देववृन्द को परम श्रेष्ठ रूप में वर्णन करने पर भी, शास्त्रसमूह की आवश्यकता को हृदयङ्गम करने से प्रतीत होता है कि—एक विष्णु ही सुनिश्चित सर्वेश्वर हैं ॥१०७॥

श्रीनृसिंह पुराण में उक्त है,—मैं बाहुद्वय उत्तोलन पूर्वक त्रिसत्य करके कहता हूँ, वेद से परतम शास्त्र नहीं है, एवं केशव व्यतीत श्रेष्ठ देव भी नहीं है ॥१०८॥

पद्मपुराण में तज्जन्य वर्णित है—हृषीकेश सुप्रसन्न होने से शत्रु-मित्र में, विष-पथ्य में, अधर्म-धर्म में

तत्रैव श्रीभगवद्वाक्यम्—

मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्माय कल्पते। मामनादृत्य धर्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः ॥११०॥

अतएवोक्तं स्कान्दे श्रीब्रह्मनारदसंवादे—

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते। स्वमातरं परित्यज्य श्वपचीं वन्दते हि सः ॥१११॥

तत्रैवान्यत्र—

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते।
त्यक्त्वाऽमृतं स मूढात्मा भुङ्क्ते हालाहलं विषम् ॥११२॥

महाभारते—

यस्तु विष्णुं परित्यज्य मोहादन्यमुपासते। स हेमराशिमुत्सृज्य पांशुराशिं जिघृक्षति ॥११३॥

अनादृत्य तु यो विष्णुमन्यदेवं समाश्रयेत्। गङ्गाम्भसः स तृष्णार्त्तो मृगतृष्णां प्रधावति ॥११४॥

पञ्चरात्रे—

यो मोहाद्विष्णुमन्येन हीनदेवेन दुर्मतिः।
साधारणं सकृद्ब्रूते सोऽन्त्यजो नान्त्यजोऽन्त्यजः ॥११५॥

वैष्णवतन्त्रे—

न लभेयुः पुनर्भक्तिं हरेरैकान्तिकीं जडाः। एकाग्रमनसश्चापि विष्णुसामान्यदर्शिनः ॥११६॥

एवं ब्रह्मादिभ्योऽखिलदेवेभ्यो माहात्म्यं विलिख्याधुना तत्परित्यागेनान्यदेवताभजनस्य दूषणत्वेन तदेव स्कन्दपुराणादिवाक्यैर्द्रढयति—वासुदेवमित्यादिना। उपासत इत्यार्षम्, उपास्ते ॥१०९-११२॥

गङ्गाम्भसः सकाशात्, तत्-परित्यज्येत्यर्थः ॥११३-११४॥

अस्तु तावत् परित्यागे न दोषः, अन्यदेवसामान्यदृष्टैव महाननर्थ इति लिखति—य इति; मोहादपि हीनेन विष्ण्वपेक्षया निकृष्टेन देवेन; जातावेकत्वम्; साधारणं तुल्यम्; सकृदपि, अत्यन्तनीचः स एव, न तु चाण्डालादिरित्यर्थः ॥११५॥

किञ्च, यस्त्विति, आदिशब्देन इन्द्रादयः; अयं भावः—श्रीब्रह्मरुद्रौ गुणावतारौ, इन्द्रादयो विभूतयः; भगवान् श्रीनारायणोऽवतारी परमेश्वर इत्येतत् शास्त्रैः प्रतिपाद्यते; अतोऽन्यैः सह तस्य साम्यदृष्ट्या

परिणत होता है। अन्यथा समस्त ही विपर्यस्त होता है ॥१०९॥

पद्मपुराणस्थ भगवद्वाक्य यह है,—मेरे निमित्त पाप आचरण भी धर्मरूप में परिणत होता है, मुझको अनादर करके धर्माचरण भी मेरे प्रभाव से पाप में परिणत होता है ॥११०।

अतएव स्कन्दपुराण में श्रीब्रह्म नारद संवाद में उक्त है—श्रीवासुदेव को परित्याग करके जो जन अन्य देवता का उपासक होता है, वह निज माता को परित्याग करके श्वपची की वन्दना करता है ॥१११॥

अन्यत्र भी वर्णित है—वासुदेव को छोड़कर जो जन अन्य देवता की उपासना करता है, अमृत को छोड़कर हालाहल विष पान करता है ॥११२॥

महाभारत में वर्णित है,—जो जन, विष्णु को छाड़कर अन्य देवोपासना में रत होता है, वह हेमराशि को छोड़कर पांशुराशि का ग्रहण करता है। श्रीविष्णु का अनादर करके जो जन अन्य देवाश्रय करता है, वह तृष्णार्त्त जन गङ्गोदक को छोड़कर मृगतृष्णा के प्रति धावित होता है ॥११३-११४॥

पञ्चरात्र में वर्णित है—जो जन मोह वशतः श्रीविष्णु के सहित अन्य देवता की तुलना करता है, वह अन्त्यज है। अन्त्यज—अन्त्यज नहीं होता है ॥११५॥

वैष्णव तन्त्र में लिखित है—अन्य देव के सहित श्रीविष्णु को अन्य देव के सहित ऐक्य बुद्धि से देखने

अन्यत्र च—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेत् सदा ।।११७।। इति ।
सहस्रनामस्तोत्रादौ श्लोकौघा सन्ति चेदृशाः ।
विशेषतः सत्त्वनिष्ठैः सेव्यो विष्णुर्न चापरः ।।११८।।

तथा च हरिवंशे श्रीशिववाक्यम्—

हरिरेव सदाराध्यो भवद्भिः सत्त्वसंस्थितैः ।
विष्णुमन्त्रं सदा विप्राः पठध्वं ध्यात केशवम् ।।११९।। इति ।

ईदृङ्माहात्म्यवाक्येषु संगृहीतेषु सर्वतः । ग्रन्थबाहुल्यदोषः स्याल्लिख्यन्तेऽपेक्षितानि तत् ।।१२०।।

शास्त्रानादरेण पाषण्डिता निष्पाद्यत इति ; अतएवोक्तं बृहत्सहस्रनामस्तोत्रे श्रीमहादेवेन—'नावैष्णवाय दातव्यं विकल्पोपहतात्मने । भक्तिश्रद्धाविहीनाय विष्णुसामान्यदर्शिने ।।' इति । तदन्ते श्रीदुर्गादेव्या च—'अहो सर्वेश्वरो विष्णुः सर्वदेवोत्तमोत्तमः । जगदादिगुरुर्मूढैः सामान्य इव वीक्ष्यते ।।' इति ।।११६-११७।।

ईदृशाः श्रीभगवन्माहात्म्यपरा इत्यर्थः ; तथा च तत्रैव श्रीमहादेववाक्यम्—'न यान्ति तत्परं श्रेयो विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् । सर्वभावैरनाश्रित्य पुराणं पुरुषोत्तमम् ।। तमेव तपसा नित्यं भजामि स्तौमि चिन्तये । तेनाद्वितीयमहिमा जगत्पूज्योऽस्मि पार्वति ।।' इति । तत्रैव नाममध्ये—'सर्वदेवैकशरणं सर्वदेवैकदैवतम् । सूर्य्यकोटिप्रतीकाशो यमकोटिदुरासदः ।। ब्रह्मकोटिजगत्स्रष्टा वायुकोटिमहाबलः । कोटीन्दुजगदानन्दी शम्भुकोटि-महेश्वरः ।।' इत्यादि । तदन्ते च श्रीदुर्गादेवीवाक्यम्—'अहो वत महत् कष्टं समस्तसुखदे हरौ । विद्यमानेऽपि सर्वेशे मूढाः क्लिश्यन्ति संसृतौ ।। यमुद्दिश्य सदा नाथो महेशोऽपि दिगम्बरः । जटाभस्मानुलिप्ताङ्गस्तपस्वी वीक्षते जनैः । ततोऽधिकोऽस्ति को देवो लक्ष्मीकान्तान्मधुद्विषः ।।' इत्यादि । वीक्ष्यते जनैरिति—न त्वेतदप्रत्यक्षं, किन्तु साक्षात् सर्वलोकैर्दृश्यत एवेत्यर्थः । आदिशब्देन लघुसहस्रनामस्तोत्रादिः ; तत्र लघुसहस्रनामस्तोत्रे आरम्भे—'परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः । परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ।।

पर वह व्यक्ति एकाग्रमनाः होने से भी विष्णुभक्ति लाभ करने का अधिकारी नहीं होगा ।।११६।।

अन्यत्र भी वर्णित है—जो जन, श्रीनारायण देव को ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र प्रभृति के सहित एक दृष्टि से देखता है, वह जन सुनिश्चित ही पाषण्डी होगा । अभिप्राय इस प्रकार है—श्रीब्रह्मा रुद्र गुणावतार हैं, इन्द्रादि विभूति हैं, श्रीभगवान् श्रीनारायण अवतारी हैं, यह शास्त्र का संवाद है । अतः अन्य देवता के सहित उनकी समानता से शास्त्र का अनादर होता है, इससे शास्त्रवाक्य में अविश्वासरूप दोष होता है । अतएव बृहत् सहस्रनाम स्तोत्र में भी महादेव ने कहा—अवैष्णव को प्रदान करना उचित नहीं, जिसकी मति संशयग्रस्त है । श्रद्धा भक्तिविहीन एवं विष्णु को सामान्य देवता माननेवाले को देना अनुचित है । अनन्तर श्रीदुर्गादेवी ने कहा—अहो ! सर्वेश्वर विष्णु सर्वदेवोत्तमोत्तम जगद्गुरु हैं, मूढ़ जनगण उन्हें सामान्य देवता के समान मानते हैं ।।११७।।

सहस्रनामस्तोत्रादि में उस प्रकार अनेक श्लोक विद्यमान हैं । सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न व्यक्तिगण श्रीविष्णु की आराधना करें । श्रीहरिवंश में श्रीशिव का कथन यह है—आप सब सात्त्विक प्रकृतिसम्पन्न हैं, श्रीहरि ही आपके लिए सदा आराध्य हैं । हे विप्रगण ! श्रीविष्णुमन्त्र का निरन्तर जप एवं श्रीकेशव का ध्यान आप सब निरन्तर करें । इस प्रकार माहात्म्य वाक्य समूह का उल्लेख से ग्रन्थ विस्तार होगा, अतः प्रयोजनीय विषय का ही उल्लेख करेंगे ।।११८-१२०।।

अत श्रीवैष्णवमन्त्रमाहात्म्यम्

आगमे—

मन्त्रान् श्रीमन्त्रराजादीन् वैष्णवान् गुर्वनुग्रहात् ।
सर्वैश्वर्य्यं जपन् प्राप्य याति विष्णोः परं पदम् ॥१२१॥
पुण्यं वर्षसहस्त्रैर्य्यैः कृतं सुविपुलं तपः । जपन्ति वैष्णवान्मन्त्रान्नरास्ते लोकपावनाः ॥१२२॥

वैष्णवे च—

प्रजपन् वैष्णवान्मन्त्रान् यं यं पश्यति चक्षुषा ।
पदा वा संस्पृशेत् सद्यो मुच्यतेऽसौ महाभयात् ॥१२३॥ इति ।
लिख्यते विष्णुमन्त्राणां महिमाथ विशेषतः । तात्पर्य्यतः श्रीगोपालमन्त्रमहात्म्यपुष्टये ॥१२४॥

पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम् । दैवतं देवतानाञ्च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥' इत्यादि । अन्ते च—'द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः । वासुदेवस्य वीर्य्येण विधृतानि महात्मनः ॥' इत्यादि च । विशेषत इति तमसा रजसा चोपहतचित्ताः किल कथञ्चिदन्यं वा भजन्तां नाम, सात्त्विकैस्त्ववश्यं श्रीविष्णुरेव भजनीय इत्यर्थः । अतो योऽन्यं भजेत्, स तमोरजोदूषित इति भावः । पठध्वं जपत, ध्यातेत्यार्षं, ध्यायत । ननु ईदृशानि हृत्कर्णरसायनानि श्रीभगवन्माहात्म्यपराणि वचनानि सर्वशास्त्रतः समाहृत्यापराण्यपि लिख्यन्ताम् । तत्राह—ईदृगिति ; ग्रन्थस्य बाहुल्यं विस्तरस्तेन तद्रूपो वा दोषो भवेत्, तत् तस्मात् हेतोः, यद्वा, तदित्यव्ययं तानीत्यर्थः ; यावन्ति यत्रापेक्षितानि भवन्ति, तावन्त्येव तत्र लिख्यन्ते, न त्वधिकानीत्यर्थः ; एतेन चेदृशानि बहुतराणि वचनानि सन्तीति बोधितम् । लिख्यन्त इति वर्त्तमाननिर्द्देशादग्रेऽप्येवमेव लेख्यानीति ज्ञेयम् ॥११८-१२०॥

एवं सामान्यतो लिखित्वा विशेषतो लिखितुं प्रतिजानीते—लिख्यत इति । अथ सासान्यतो लिखनानन्तरमधुना विशेषतो लिख्यते । ननु अग्रे श्रीमदनगोपालदेवस्य सम्मोहनाख्याष्टादशाक्षरमन्त्रपूजाविधिरेव लेख्यस्तत् किमन्यमन्त्रमाहात्म्यलिखनेन ? तत्राह—तात्पर्य्यत इति । अयमर्थः – श्रीगोपालदेवोऽयमवतारी 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' (श्रीभा० १।३।२८) इत्युक्तेः, विचित्रमाहात्म्यविशेषप्रकटनाच्च ; अतोऽवताराणां माहात्म्येन तस्यैव माहात्म्यविशेषसिद्धेः ; साक्षात्तन्मन्त्रस्यापि माहात्म्यं स्वतः पुष्टमेव स्यात्, अतस्तदर्थमेव लिख्यत इति ॥१२४॥

अथ श्रीवैष्णवमन्त्रमाहात्म्यम्

श्रीवैष्णवमन्त्र माहात्म्य । आगम में उक्त है—श्रीगुरुदेव के अनुग्रह से प्राप्त श्रीमन्त्रराजादि वैष्णव मन्त्र लाभ करने के पश्चात् उसका जप करने से सर्वैश्वर्य्य लाभ एवं विष्णुपद की प्राप्ति होती है ॥१२१॥

जिन्होंने सहस्र वर्ष यावत् पुण्यानुष्ठान के द्वारा विपुल तपः किया है, वे सब ही वैष्णव मन्त्र का जप करते हैं, एवं लोक पावन होते हैं ॥१२२॥

वैष्णव में उक्त है, वैष्णवमन्त्र जपकारी व्यक्ति नेत्रों से जिसको देखता है, अथवा पैर से जिसका स्पर्श करता है, वह व्यक्ति तत्काल महाभय से मुक्त होता है ॥१२३॥

श्रीगोपालमन्त्र की माहात्म्य पुष्टि के निमित्त श्रीविष्णु अवतारी हैं । भागवत (१।३।२८) में वर्णित है—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" विचित्र माहात्म्य विशेष प्रकटन हेतु—अवतार समूह का माहात्म्य सिद्ध होता है, सुतरां उनके मन्त्र का माहात्म्य का परिज्ञान भी होगा ॥१२४॥

तत्र द्वादशाक्षराष्टाक्षरयोर्माहात्म्यम्

पद्मपुराणे देवदूतविकुण्डलसंवादे—

साङ्गं समुद्रं सन्यासं सऋषिच्छन्ददैवतम् । सदीक्षाविधि सध्यानं सयन्त्रं द्वादशाक्षरम् ॥१२५॥

अष्टाक्षरञ्च मन्त्रेशं ये जपन्ति नरोत्तमाः ।

तान् दृष्ट्वा ब्रह्महा शुध्येत्ते यतो विष्णवः स्वयम् ॥१२६॥

शङ्खिनश्चक्रिणो भूत्वा ब्रह्मायुर्वनमालिनः । वसन्ति वैष्णवे लोके विष्णुरूपेण ते नराः ॥१२७॥

तत्रैव द्वादशाक्षरस्य चतुर्थस्कन्धे (८।५३) श्रीध्रुवं प्रति श्रीनारदोक्तौ—

जपश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज । यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ॥१२८॥

श्रीविष्णुपुराणे—

गत्वा गत्वा निवर्त्तन्ते चन्द्रसूर्य्यादयो ग्रहाः । अद्यापि न निवर्त्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्तकाः ॥१२९॥

अष्टाक्षरस्य यथा,—नारदपञ्चरात्रे—

त्रयो वेदाः षड़ङ्गानि छन्दांसि विविधाः सुराः ।

सर्वमष्टाक्षरान्तःस्थं यच्चान्यदपि वाङ्मयम् ॥१३०॥

सर्ववेदान्तसारार्थः संसारार्णवतारणः । गतिरष्टाक्षरो नृणां न पुनर्भवकाङ्क्षिणाम् ॥१३१॥

तत्र श्रीवैष्णवतन्त्रेषु मध्ये ; छन्देत्यदन्तत्वमार्षं छन्दोभङ्गभयात् । विष्णव इति विष्णुसारूप्यप्राप्तेः ; विष्णो रूपेणेत्यनुक्तवर्णाकारादिग्रहणार्थम् ॥१२५-१२७॥

सामान्यतो द्वयोरपि लिखित्वाऽधुना विशेषतो लिखति— तत्रेति ; तत्र द्वयोर्द्वादशाक्षराष्टाक्षरयोरेव मध्ये । श्रीनृपात्मज ! हे श्रीध्रुव ॥१२८॥

तत्र द्वादशाक्षराष्टाक्षरयोर्माहात्म्यम्

द्वादशाक्षर अष्टादशाक्षर मन्त्र माहात्म्य । पद्मपुराणीय देवदूत विकुण्डल संवाद में वर्णित है—अङ्ग, मुद्रा, न्यास, ऋषि, छन्दः, दीक्षाविधि, ध्यान, यन्त्रादि के सहित द्वादशाक्षर-अष्टादशाक्षर मन्त्रराज का जपकारी श्रेष्ठ व्यक्ति को देखकर ब्रह्मघाती व्यक्ति भी पवित्र होता है। कारण—उक्त मन्त्र जपकारी व्यक्ति साक्षात् विष्णुस्वरूप होता है। शङ्ख, चक्र, वनमाला से विभूषित होकर उक्त मन्त्र जपकारी व्यक्ति विष्णुलोक में अवस्थान करता है ॥१२५-१२७॥

भा० ४।८।५२में श्रीध्रुव के प्रति द्वादशाक्षर मन्त्र माहात्म्य वर्णन प्रसङ्ग में श्रीनारद ने कहा—परम गोपनीय मन्त्र का माहात्म्य इस प्रकार है,—सप्तरात्र जिस मन्त्र का जप करने से उसके प्रभाव से जपकारी व्यक्ति गगन में विचरणकारी देवगण का दर्शन लाभ करेगा ॥१२८॥

श्रीविष्णुपुराण में उक्त है—चन्द्र-सूर्य्यादि ग्रहगण निरन्तर गमनागमन परायण हैं, किन्तु द्वादशाक्षर मन्त्र जपकारी व्यक्ति का कभी पुनरागमन नहीं होता है ॥१२९॥

अष्टाक्षर मन्त्र का माहात्म्य वर्णन पञ्चरात्र में है—वेदत्रय—(ऋक्-यजुः-साम) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष रूप षड़ङ्ग, साहित्य प्रभृति विविध छन्दः, विविध देवता, एतद्व्यतीत अपर वाक्यसमूह भी अष्टाक्षर मन्त्र के अधीन हैं।

सर्ववेदान्त का साररूप संसारजलधि की नाव के तुल्य अष्टाक्षर मन्त्र मोक्षाकाङ्क्षी के एकमात्र आश्रय

यत्राष्टाक्षरसंसिद्धो महाभागो महीयते। न तत्र सञ्चरिष्यन्ति व्याधिदुर्भिक्षतस्कराः ॥१३२॥
देवदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याधरादयः। प्रणमन्ति महात्मानमष्टाक्षरविदं नरम् ॥१३३॥
व्यक्तं हि भगवानेव साक्षान्नारायणः स्वयम्। अष्टाक्षरस्वरूपेण मुखेषु परिवर्त्तते ॥१३४॥

पाद्मोत्तरखण्डे—

एवमष्टाक्षरो मन्त्रो ज्ञेयः सर्वार्थसाधकः। सर्वदुःखहरः श्रीमान् सर्वमन्त्रात्मकः शुभः ॥१३५॥

लिङ्गपुराणे—

किमन्यैर्बहुभिर्मन्त्रैः किमन्यैर्बहुभिर्व्रतैः। नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥१३६॥
तस्मात् सर्वेषु कालेषु नमो नारायणेति यः।
जपेत् स याति विप्रेन्द्र विष्णुलोकं सबान्धवः ॥१३७॥

भविष्यपुराणे

अष्टाक्षरो महामन्त्रः सर्वपापहरः परः। सर्वेषां विष्णुमन्त्राणां राजत्वे परिकीर्त्तितः ॥१३८॥

श्रीशुकव्याससंवादे च—

नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः। भक्तानां जपतां तात स्वर्गमोक्षफलप्रदः ॥१३९॥
एष एव परो मोक्ष एष स्वर्ग उदाहृतः। सर्ववेदरहस्येभ्यः सार एष समुद्धृतः ॥१४०॥
विष्णुना वैष्णवानान्तु हिताय मनुना पुरा। कीर्त्तितः सर्वपापघ्नः सर्वकामप्रदायकः ॥१४१॥

न पुनर्भवेत्यत्र समासेऽपि नकारस्थितिरार्षत्वात्। मुखेषु परिवर्त्तते आविर्भवतीति वाङ्मय-स्वरूपत्वात् ॥१२९-१३४॥

श्रीः सर्वशोभासम्पत्तिर्वा तद्वान्, सेवकस्य श्रीप्रद इत्यर्थः; स्वतश्च शुभः मङ्गलस्वरूपः ॥१३५॥

हे तात! हे शुक! विष्णुना समुद्धृतः, मनुना कीर्त्तितः जप्तः लोकेषु वा कथितः; मुदिताश्च

है। जहाँ पर अष्टाक्षर मन्त्र संसिद्धि भाग्यवान् महद्व्यक्ति का अवस्थान होता है, वहाँ व्याधि, दुर्भिक्ष एवं तस्कर का भय नहीं रहता है। अष्टाक्षर मन्त्रज्ञ व्यक्ति को देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर प्रभृति प्रणाम करते हैं। यह सुस्पष्ट है कि—श्रीभगवान् साक्षात् नारायण ही अष्टाक्षर मन्त्ररूप में जपकारी व्यक्ति के मुख में विलसित होते हैं ॥१३०-१३४॥

पाद्मोत्तर खण्ड में उक्त है,—सर्वार्थसाधक, सर्वदुःखहर, लक्ष्मीप्रद, शुभ, सर्वमन्त्रात्मक ही अष्टाक्षर मन्त्र है ॥१३५॥

लिङ्गपुराण में लिखित है—अनेक मन्त्र, व्रत प्रभृति के अनुष्ठान से प्रयोजन ही क्या है, "नमो नारायण" मन्त्र सर्वार्थसाधक है ॥१३६॥

अतएव सर्वदा जो व्यक्ति "नमो नारायण" मन्त्र का जप करता है, वह सबान्धव विष्णुलोक गमन करता है ॥१३७॥

भविष्य पुराण में लिखित है—अष्टाक्षर महामन्त्र—समस्त विष्णुमन्त्रों का राजा है, उक्त मन्त्र से निखिल पाप विनष्ट होते हैं ॥१३८॥

श्रीशुक व्यास संवाद में उक्त है—'नमो नारायणाय' मन्त्र सर्वार्थसाधक है। उक्त मन्त्र जपकारी भक्त, स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१३९॥

यह ही परममोक्ष, यह ही स्वर्ग है, एवं समस्त वेदों के सार से ही यह मन्त्र समुद्धृत है ॥१४०॥

पूर्वकाल में वैष्णवों के हित के निमित्त सर्वपापघ्न, सर्वकामप्रद मन्त्र का वर्णन विष्णु ने किया ॥१४१॥

नारायणाय नम इत्ययमेव सत्यं, संसारघोरविषसंहरणाय मन्त्रः ।
शृण्वन्तु सत्यमतयो मुदितास्तरागा, उच्चैस्तरामुपदिशाम्यहमूर्द्ध्वबाहुः ॥१४२॥
भूत्वोर्द्ध्वबाहुरद्याहं सत्यपूर्वं ब्रवीमि वः ।
हे पुत्रशिष्याः शृणुत न मन्त्रोऽष्टाक्षरात् परः ॥१४३॥

अतएवोक्तं गारुड़े—

आसीनो वा शयानो वा तिष्ठानो यत्र तत्र वा ।
नमो नारायणायेति मन्त्रैकशरणो भवेत् ॥१४४॥

अथ श्रीनारसिंहानुष्टुभमन्त्रराजस्य माहात्म्यम्

तापनीयश्रुतिषु—

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्—तस्य आनुष्टुभमन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहीति। स होवाच प्रजापतिः—य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमनुष्टुभं नित्यमधीते, स आदित्यपूतो भवति, सोऽग्निपूतो भवति, स वायुपूतो भवति, स सूर्य्यपूतो भवति, स चन्द्रपूतो भवति, स सत्यपूतो भवति, स ब्रह्मपूतो भवति, स विष्णुपूतो भवति, स रुद्रपूतो भवति, स सर्वपूतो भवति ॥१४५॥

तत्रैवान्ते—

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्समम्, उपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समम्, गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समम्, वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समम्, यतिनान्तु

तेऽस्तरागाश्च विरक्ताश्च, हे शिष्याः ॥१३६-१४३॥
तिष्ठान इत्यार्षम्, तिष्ठन् ॥१४४॥

मैं ऊर्द्धबाहु होकर कहता हूँ, वासनाशून्य मनीषिगण दत्तावधान होकर श्रवण करें, 'नारायणाय नमः' संसार घोर विष हरण के निमित्त सत्य मन्त्र है ॥१४२॥

मैं ऊर्द्धबाहु होकर सत्यपूर्वक कहता हूँ, हे पुत्र ! शिष्यवृन्द ! श्रवण करो, अष्टाक्षर मन्त्र से श्रेष्ठ मन्त्र नहीं है ॥१४३॥

अतएव गरुड़पुराण में वर्णित है—उपवेशन, शयन, अथवा किसी भी अवस्था में अवस्थित हो, 'नमो नारायणाय' मन्त्र का स्मरण करो ॥१४४॥

अथ श्रीनारसिंहानुष्टुभमन्त्रराजस्य माहात्म्यम्

श्रीनारसिंह अनुष्टुभ मन्त्रराज का माहात्म्य कहते हैं। तापनी श्रुति में उक्त है—देवताओं ने ब्रह्मा को कहा,—हे ब्रह्मन् ! प्रसिद्ध आनुष्टुभ नृसिंह मन्त्रराज का वर्णन करें। प्रजापति ने बोला,—आनुष्टुभ नृसिंह मन्त्रराज का जप जो करता है, वह आदित्य, देवतापूत, अग्निपूत, वायुपूत, सूर्य्यपूत, चन्द्रपूत, सत्यपूत, ब्रह्मपूत, विष्णुपूत, रुद्रपूत, सर्वपूत होता है ॥१४५॥

उसके अन्त में वर्णित है—एक उपनीत संस्कार सम्पन्न व्यक्ति, एकशत अनुपनीत व्यक्ति के समकक्ष है। एक गृहस्थ—शत उपनीत व्यक्ति के समान है, शत गृहस्थ के तुल्य—एक वानप्रस्थी है, शत

शतं पूर्णरुद्रजापकेन तत्समम्, रुद्रजापकशतमेकमेकेनाथर्वाङ्गिरसशाखाध्यापकेन तत्समम्, अथर्वाङ्गिरसशाखाध्यापकशतमेकमेकेन मन्त्रराजाध्यापकेन तत्समम्। यद्वा, एतत् परं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न दुःखादि, यत्र न सूर्य्यो भाति, यत्र न वायुर्वाति, यत्र न चन्द्रमास्तपति, यत्र न नक्षत्राणि भान्ति, यत्र नाग्निर्दहति, यत्र न मृत्युः प्रविशति, यत्र न दोषः। तत् सदानन्दं शाश्वतं शान्तं सदाशिव ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं, यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते योगिनः। तदेतदृचाभ्युक्तं—तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते, विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥१४६॥

अथ श्रीराममन्त्राणां माहात्म्यम्

अगस्त्यसंहितायाम्—

सर्वेषु मन्त्रवर्गेषु श्रेष्ठं वैष्णवमुच्यते। गाणपत्येषु शैवेषु शाक्तसौरेष्वभीष्टदम् ॥१४७॥

वैष्णवेष्वपि मन्त्रेषु राममन्त्राः फलाधिकाः।
गाणपत्यादिमन्त्रेषु कोटिकोटिगुणाधिकाः ॥१४८॥

विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्य्यां विनैव हि।
विनैव न्यासविधिना जपमात्रेण सिद्धिदाः ॥१४९॥

मन्त्रेष्वष्टस्वनायासफलदोऽयं षड़क्षरः। षड़क्षरोऽयं मन्त्रस्तु महाघौघनिवारणः ॥१५०॥

सर्वतः सर्वेभ्यः श्रीनृसिंहरघुनाथादिमन्त्रेभ्योऽपि वीर्य्यवत्तमाः परमप्रभाववन्तः। तत्र हेतुः—सर्वावतारवीजस्य, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' (श्रीभा० १।३।२८) इत्यवतारित्वोक्तेः ॥१५५॥

वानप्रस्थी के समान—एक यती है, एक रुद्रजापक—शत यति के समान ही है, शत रुद्रजापक—एक अथर्वाङ्गिरसशाखाध्यापक के समान है, शत अथर्वाङ्गिरसशाखाध्यापक के समान—एक मन्त्रराज जपकारी है। मन्त्रराज जपकारी का प्राप्य लोक ही श्रेष्ठ लोक है। मन्त्रराजाध्यापक के वहाँ दुःखादि नहीं है, वहाँ सूर्य्य प्रकाशित नहीं होता, वायु प्रवाहित नहीं होता, चन्द्रमा उदित नहीं होता, नक्षत्रसमूह प्रकाशित नहीं होते, अग्नि दहन नहीं करता, मृत्यु का प्रवेशाधिकार नहीं है, दोष भी नहीं है। वह सदानन्द, शाश्वत, शान्त, सदाशिव, ब्रह्मादि वन्दित, योगि ध्येय है। जहाँ जाने से योगियों का पुनरागमन नहीं होता है। श्रुति कहती है—सूरिगण उन श्रीविष्णु के परम धाम को निरन्तर दर्शन करते हैं, बाधाहीन चक्षु जिस प्रकार आकाश को देखता है। मेधावी, स्तवपरायण, प्रमाद हीन शब्दार्थ ज्ञानसम्पन्न बुधगण सम्यक् रूप से श्रीविष्णु के परमपद को प्रकाशित करते हैं ॥१४६॥

अथ श्रीराममन्त्राणां माहात्म्यम्

श्रीराममन्त्रों का माहात्म्य। अगस्त्य संहिता में वर्णित है,—गाणपत्य, शैव, शाक्त, सौर मन्त्र से अभीष्ट प्रद श्रेष्ठ मन्त्र वैष्णव मन्त्र है। समस्त वैष्णव मन्त्रों में राममन्त्र श्रेष्ठ है। गाणपत्य मन्त्र से कोटि गुणाधिक है। दीक्षा, पुरश्चरण, न्यासविधि के विना ही जप मात्र से ही राम मन्त्र सिद्धिप्रद है ॥१४७-१४९॥

मन्त्राष्टक के मध्य में "ओं नमो रामाय" षड़क्षर आशु फलप्रद एवं महापाप समूह विनाशक है।

मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः। दैनन्दिनन्तु दुरितं पक्षमासर्त्तुवर्षजम् ॥१५१॥
सर्वं दहति निःशेषं तूलाचलमिवानलः। ब्रह्महत्यासहस्राणि ज्ञानाज्ञानकृतानि च ॥१५२॥
स्वर्णस्तेयसुरापानगुरुतल्पयुतानि च। कोटिकोटिसहस्राणि ह्युपपापानि यान्यपि।
सर्वाण्यपि प्रणश्यन्ति राममन्त्रानुकीर्त्तनात् ॥१५३॥

तापनीयश्रुतिषु च—

य एतत्तारकं ब्राह्मणो नित्यमधीते, स पाप्मानं तरति, स मृत्युं तरति, स भ्रूणहत्यां तरति, स सर्वहत्यां तरति, स संसारं तरति, स सर्वं तरति, स विमुक्ताश्रितो भवति, सोऽमृतत्त्वञ्च गच्छति ॥१५४॥

अथ श्रीगोपालदेवमन्त्रमाहात्म्यम्

मन्त्रास्तु कृष्णदेवस्य साक्षाद्भगवतो हरेः। सर्वावतारवीजस्य सर्वतो वीर्य्यवत्तमाः ॥१५५॥

तथा च बृहद्गौतमीये श्रीगोविन्दवृन्दावनाख्ये—

सर्वेषां मन्त्रवर्याणां श्रेष्ठो वैष्णव उच्यते। विशेषात् कृष्णमनवो भोगमोक्षैकसाधनम् ॥१५६॥
यस्य यस्य च मन्त्रस्य यो यो देवस्तथा पुनः। अभेदात्तन्मनूनाञ्च देवता सैव भाष्यते ॥१५७॥
कृष्ण एव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः। स्मृतिमात्रेण तेषां वै भुक्तिमुक्तिफलप्रदः॥१५८॥ इति।
तत्रापि भगवत्तां स्वां तन्वतो गोपलीलया। तस्य श्रेष्ठतमा मन्त्रास्तेष्वप्यष्टादशाक्षरः ॥१५९॥

तत्र तेषु श्रीद्वारकानाथदैवतादिमन्त्रेष्वपि मध्ये तस्य श्रीकृष्णदेवस्यैव गोपलीलया निजां भगवत्तां तन्वतः विस्तारयतः सतो ये मन्त्रास्त एव श्रेष्ठतमाः; तेष्वपि मध्येऽष्टादशाक्षरः सम्मोहनाख्यया प्रसिद्धः श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥१५९॥

अतएव इसको मन्त्रराज कहते हैं, अर्थात् यह सर्वोत्तम मन्त्र है। प्रतिदिन, पक्ष, मास, ऋतु, वत्सर समूह में उत्पन्न पापसमूह को दग्ध करता है। जिस प्रकार तूला खण्ड को वह्नि दहन करता है। सहस्र ब्रह्महत्या, ज्ञानाज्ञानकृत पापसमूह स्वर्ण स्तेय, गुरुपत्नी गमन, एवं असंख्य उपपादक समूह श्रीराममन्त्र कीर्त्तन से विनष्ट होते हैं ॥१५०-१५३॥

तापनी श्रुति में उक्त है—तारक मन्त्रस्वरूप राममन्त्र का अध्ययन जो ब्राह्मण नित्य करता है, वह पापों से मुक्त होता है। मृत्यु, भ्रूण हत्या, सर्व हत्या से मुक्त होता है, संसार से उत्तीर्ण होकर विमुक्त पुरुषों के सङ्ग प्रभाव से वह मुक्त होता है ॥१५४॥

अथ श्रीगोपालदेवमन्त्रमाहात्म्यम्

अनन्तर श्रीगोपाल के मन्त्रमाहात्म्य कहते हैं,—समस्त अवतारों के वीजस्वरूप साक्षात् भगवान् हरि श्रीकृष्णदेव के मन्त्रसमूह अत्यधिक प्रभाव सम्पन्न हैं ॥१५५॥

समस्त मन्त्रश्रेष्ठ में वैष्णव मन्त्र ही श्रेष्ठ है, विशेषतः श्रीकृष्णमन्त्र भोग मोक्षद है। मन्त्र के सहित देवता की अभिन्नता है। अतः जिस जिस मन्त्र के जो जो देवता हैं, उन मन्त्र एवं देवता में अभिन्नता है। मन्त्रात्मक ही देवता हैं, उक्त देवता के मन्त्रसमूह के द्वारा श्रीकृष्ण ही उक्त होते हैं। परमब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण ही है। श्रीकृष्ण,—स्मरण मात्र से ही भुक्ति-मुक्ति प्रदान करते हैं। तथापि भगवत्ता का प्रकट गोपलीला से ही करते हैं। उनका ही श्रेष्ठतम मन्त्र—अष्टादशाक्षर मन्त्र है।

अर्थात् श्रीकृष्ण की द्वारकानाथादि रूप में अनेक मूर्त्ति हैं। उन उन मूर्त्तियों के मन्त्र भी पृथक् पृथक

अथाष्टादशाक्षरमन्त्रमाहात्म्यम्

तापनीयश्रुतिषु—

ॐ मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः—कः परमो देवः, कुतो मृत्युर्बिभेति, कस्य ज्ञानेन अखिलं ज्ञातं भवति, केनेदं विश्वं संसरतीति। तानु होवाच ब्राह्मणः— कृष्णो वै परमं दैवतम्, गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति, गोपीजनवल्लभज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति, स्वाहयेदं संसरति। तमु होचुः—कः कृष्णः, गोविन्दः कोऽसाविति, गोपीजनवल्लभः कः, का स्वाहेति। तानुवाच ब्राह्मणः—पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो वेदिता गोपीजनाविद्याकलाप्रेरकस्तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव, तद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति। ते होचुः—किं तद्रूपं, किं रसनं, कथं हो तद्भजनं, तत् सर्वं सुविविदिषतामाख्याहीति। तदु होवाच हैरण्यः—गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितमित्यादि ॥१६०॥

किञ्च, तत्रैवाग्रे—

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्म्यम्; कृष्णं तं बहुधा विप्रा यजन्ति, गोविन्दं सन्तं बहुधा आराधयन्ति, गोपीजनवल्लभो भुवनानि दध्रे, स्वाहाश्रितो जगदेजयत् स्वरेताः ॥१६१॥

ह स्फुटं, वै प्रसिद्धम्, ब्राह्मणं ब्रह्मवेत्तारं ब्रह्माणमित्यर्थः; तद्ब्रह्म दैवतमिति पूर्वप्रक्रान्तं वा; पापकर्षण इति द्वितीयस्य पदार्थः। गौः स्वर्गः, गोभूमिवेदेषु विदितः, तेषाञ्च वेदितेति तृतीयस्यार्थः। गोपीजनोऽविद्यायाः

हैं। तथापि गोपलीला में ही श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता सम्यक् रूप से प्रकाशित हुई है। अतः उनके मन्त्र श्रेष्ठ हैं। कारण—अष्टादशाक्षर मन्त्र ही सम्मोहन मन्त्र नाम से अभिहित है। उक्त विवरण बृहद्गौतमीय तन्त्रोक्त श्रीगोविन्दवृन्दावन ग्रन्थ में है ॥१५६-१५९॥

अथाष्टादशाक्षरमन्त्रमाहात्म्यम्

अष्टादशाक्षर मन्त्र महात्म्य। तापनी श्रुतिमें उक्त है—सनकादि मुनिगण श्रीब्रह्मा से पूछे थे। परमदेव कौन है? मृत्यु भी किससे भीत होती है? किसको जानने से समस्त ज्ञान होता है। समस्त संसार किससे प्रवर्त्तित होता? उत्तर में श्रीब्रह्मा ने कहा—कृष्ण ही परम देव, गोविन्द से मृत्यु भीत होती है। गोपीजनवल्लभ को जानने से सबकुछ ज्ञात होते हैं। स्वाहा शब्द के द्वारा ही संसरण होता है। मुनिओं ने कहा कृष्ण, कौन हैं? गोविन्द कौन हैं? गोपीजनवल्लभ कौन हैं? स्वाहा शब्द ही क्या है? ब्रह्मा ने कहा पाप कर्षण के कारण ही कृष्ण हैं। जो स्वर्ग, भूमि, वेद प्रभृति को जानते हैं, वह ही गोविन्द हैं। गोपीजन शब्द से अविद्या की कला, ज्ञानांश, उसका वल्लभ, अर्थात् प्रेरक हैं, उनकी माया,—समस्त ही परंब्रह्म हैं। उनका जो जन ध्यान, नामामृत आस्वादन, आनुकूल्य से अनुवर्त्तन करता है, वह मुक्त होता है। उन्होंने कहा, उनका रूप क्या है? रसन आस्वादन क्या है? भजन क्या है? जिज्ञासु हम सबको आप कहें। ब्रह्मा ने कहा,—गोपवेश, मेघश्यामलवर्ण, किशोर, कल्पद्रुम तलाश्रित हैं ॥१६०॥

उक्त तापनी के अग्रभाग में वर्णित है,—श्रीकृष्ण का भजन ही भक्ति है। इहलोक परलोकस्थ दृष्ट श्रुत पदार्थों के प्रति महत्त्व परित्याग पूर्वक श्रीकृष्ण में मनोनिवेश ही भक्ति है, एवं उसका अपर नाम ही नैष्कर्म्य है। विप्रगण अनेक रीति से श्रीकृष्ण की अर्चना करते हैं। श्रीगोविन्द की अनेक प्रकार से

वायुर्यथैवापघनं प्रविष्टो, जन्ये जन्ये पञ्चरूपो बभूव ।
कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्धितार्थं, शब्देनासौ पञ्चपदोऽवभाति ॥१६२॥ इति ।

किञ्च, तत्रैवोपासनविधिकथनानन्तरम्—

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य, एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति ।
तं पीठस्थं येऽनुयजन्ति धीरा,-स्तेषां सुखं शाश्वती नेतरेषाम् ॥१६३॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना,-मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तं पीठगं येऽनुयजन्ति विप्रा,-स्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१६४॥
एतद्धि विष्णोः परमं पदं ये, नित्योद्युक्ताः संयजन्ते न कामात् ।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्, प्रकाशयेदात्मपदं तदेव ॥१६५॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो विद्यास्तस्मै गोपयति स्म कृष्णः ।
तं प्रेमात्मवृत्तिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजेत् ॥१६६॥
ॐकारेणान्तरितं ये जपन्ति, गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुं तम् ।
तस्मै चासौ दर्शयेदात्मरूपं, तथा मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥१६७॥

कला: स्त्रीत्वात् अंशारतत्प्रेरकः; यद्वा, गोपीजना एव आ सम्यक् विद्या, प्राप्त्युपायत्वात्, सैव कला शक्ति-विशेषस्तस्याः प्रेरक इति चतुर्थस्य। तन्माया चेति पञ्चमस्येति दिक्। रसति आस्वादयति कीर्त्तनादिना,

---

आराधना करते हैं। गोपीजनवल्लभ निखिल भुवनों का पालन करते हैं। स्वाहा को आश्रयपूर्वक निज शक्ति के द्वारा जगत् का प्रवर्त्तन करते हैं ॥१६१॥

यद्रूप वायु शरीर में प्रविष्ट होकर प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान रूप पञ्च शब्दों से अभिहित होता है, तद्रूप श्रीकृष्ण एक होने पर भी जगत् के मङ्गलसाधन हेतु पञ्चपदी शब्द से अभिहित होते हैं। अष्टादशाक्षर श्रीकृष्ण मन्त्रराज का ही अपर नाम पञ्चपदी है ॥१६२॥

तापनी में उपासनाविधि वर्णन के अनन्तर उक्त है—श्रीकृष्ण ही एकमात्र अद्वय तत्त्व हैं। अर्थात् स्वजातीय, विजातीय स्वगत भेद रहित हैं। वशी अर्थात् नियन्ता है, सर्वग—व्यापक, विभु, अपरिच्छिन्न हैं। आनन्दस्वरूप, स्तुत्य, एक होकर भी अनेक प्रकारों से प्रतिभात होते हैं। पीठस्थ श्रीकृष्ण की अर्चना जो सब धीर व्यक्ति करते हैं, वे सब नित्य सुख का अधिकारी होते हैं, अपर व्यक्ति नहीं ॥१६३॥

श्रीकृष्ण—नित्य पदार्थों के मध्य में नित्य हैं, चेतन पदार्थों के चेतन हैं। एक होकर भी सब की आकाङ्क्षा पूर्त्ति करते हैं। जो सब विप्र पीठस्थ उन कृष्ण की अर्चना करते हैं, वे सब अनपायिनी सिद्धि लाभ के अधिकारी होते हैं। श्रीकृष्ण भजन वहिर्मुख व्यक्ति उस प्रकार सुख के अधिकारी नहीं होते हैं ॥१६४॥

जो व्यक्ति निर्विषय चित्त होकर सम्यक् रूप से श्रीविष्णु की आराधना करते हैं, उन सब के निकट ही श्रीकृष्ण स्वयं निज गोपालरूप को प्रकट करते हैं ॥१६५॥

सृष्टि के प्राक्काल में जिन्होंने ब्रह्मा को प्रकट किया, एवं विद्या प्रदान भी किया है, उन प्रेमात्मबुद्धि प्रकाशक श्रीकृष्णदेव की शरण मोक्षार्थीगण लेवें ॥१६६॥

जो जन श्रीगोविन्द के पञ्चपदी मन्त्र का जप ओंकार सम्पुटित करके करता है, उनको श्रीगोविन्द

तस्मादन्ये पञ्चपदादभूवन्, गोविन्दस्य मनवो मानवानाम् ।
दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दनाद्यै,-रभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत् ॥१६८॥

किञ्च, तत्रैव—

तद्दु होवाच ब्राह्मणोऽसावनवरतं मे ध्यातः स्तुतः परार्द्धान्ते सोऽवबुध्यत, गोपवेशो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव । ततः प्रणतेन मयानुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णं स्वरूपं सृष्टये दत्त्वान्तर्हितः; पुनः सिसृक्षा मे प्रादुरभूत् । तेष्वक्षरेषु भविष्यज्जगद्रूपं प्राकाशयत् । तदिह कादापो, लात् पृथिवी, ईतोऽग्निर्विन्दोरिन्दुस्तन्नादादर्क इति क्लींकारादसृजम् । कृष्णादाकाशं यद्वायुरित्युत्तरात् सुरभिं विद्यां प्रादुरकार्षम् । तदुत्तरात्तदुत्तरात् स्त्री-पुमादि चेदं सकलमिदमिति ॥१६९॥

तथा च गौतमीयतन्त्रे —

क्लींकारादसृजद्विश्वमिति प्राह श्रुतेः शिरः ।
लकारात् पृथिवी जाता ककाराज्जलसम्भवः ॥१७०॥
ईकाराद्वह्निरुत्पन्नो नादाद्वायुरजायत । बिन्दोराकाशसम्भूतिरिति भूतात्मको मनुः ।
स्वा-शब्देन च क्षेत्रज्ञो हेति चित्प्रकृतिः परा । तयोरैक्यसमुद्भूतिर्मुखवेष्टनवर्णकः ।
अतएव हि विश्वस्य लयः स्वाहार्णके भवेत् ॥१७१॥

एजयत् ऐजयत् चेष्टां कारयामास, गोपीजनवल्लभ एवेत्यर्थः । स्वरेताः स्वस्मादुद्भूतमित्यर्थः; अपघनं शरीरम्, जन्ये जन्ये प्रतिशरीरम्, पञ्चपदः अष्टादशाक्षरोऽयं मन्त्रः । प्रेम्णैवात्मवृत्तेः प्रकाशो यस्य तम् । पाठान्तरं सुगमम् । नित्यशान्त्यै नित्यायै अविनश्वरायै शान्त्यै सुखाय, अबुध्यत प्रबोधं प्राप्तः, पुनश्च स्तुतः सन् प्राकाशयद्भगवानेव; यद्वा, णि-प्रत्ययस्यात्रानधिकार्थत्वं प्राकाशतेत्यर्थः; प्राकाशयमिति वा पाठः ।

निज रूप का दर्शन कराते हैं। अतएव मुमुक्षुगण शान्ति प्राप्ति हेतु नित्य उक्त अष्टादशाक्षर मन्त्रराज का अभ्यास करें ॥१६७॥

अष्टादशाक्षर (पञ्चपदी) से अन्यान्य दशाक्षर प्रभृति मन्त्र का आविर्भाव हुआ है। अतएव इन्द्र प्रभृति देवगण— ऐश्वर्य्य की कामना में उक्त मन्त्र का जप यथाविधि करते हैं ॥१६८॥

और भी उक्त तापनी में वर्णित हैं,—ब्रह्मा ने कहा—मैंने उनका ध्यान अनवरत किया, उससे परार्द्ध के अन्त में गोपवेशधारी श्रीकृष्ण मेरे निकट आविर्भूत हुए थे। अनन्तर मैं प्रणाम करने पर मुझको सृष्टि कार्य्य के निमित्त अष्टादशाक्षर वर्णमय स्वरूप प्रदान करके अन्तर्हित हो गए। पुनर्बार सृष्टि करने की वासना मेरी होने से उक्त अक्षरसमूह से ही जगत् प्रकाशित हुआ। 'क'-कार से जल, 'ल'-कार से पृथिवी, 'ई'-कार से अग्नि, अनुस्वार से चन्द्र, एवं नाद अर्थात् चन्द्रबिन्दु सदृश वर्ण से अर्क प्रकाशित हुए, अर्थात् क्लीँ वीज से समस्त पदार्थों का सृजन मैंने किया। 'कृष्ण' शब्द से आकाश, 'य'-कार से वायु, 'गोविन्द' शब्द से गो जाति, 'गोपीजन' शब्द से चतुर्दश विद्या, एवं 'वल्लभ' शब्द से स्त्रीपुरुषादि का सृजन मैंने किया ॥१६९॥

उस प्रकार गौतमीय तन्त्र की उक्ति है—श्रेष्ठ श्रुतिगण कहती हैं—"क्लीँ" शब्द से विश्व का सृजन हुआ है। 'ल' से पृथिवी, 'क'-कार से जल उत्पन्न हुआ, 'ई'-कार से वह्नि उत्पन्न हुआ, 'नाद' से वायु एवं बिन्दु से आकाश की उत्पत्ति हुई। अतएव समस्त भूतात्मक ही उक्त मन्त्र है। 'स्वा' शब्द से

पुनश्च सा श्रुतिः—

एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं वेदयित्वा ॐकारान्तरालकं मनुमावर्त्तयत्। सङ्गरहितोऽभ्यानयत् । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्। तस्मादेनं नित्यमभ्यसेत् ।।१७२।। इत्यादि ।

तत्रैवाग्रे, तवत्र गाथा—

यस्य पूर्वपदाद्भूमिर्द्वितीयात् सलिलोद्भवः । तृतीयात्तेज उद्भूतं चतुर्थाद्गन्धवाहनः ।।१७३।।

पञ्चमादम्बरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसन् । चन्द्रध्वजोऽगमद्विष्णोः परमं पदमव्ययम् ।।१७४।।

ततो विशुद्धं विमलं विशोक,-मशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।

यत्तत् पदं पञ्चपदं तदेव, स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ।।१७५।।

तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि ।।१७६।। इति ।

किञ्च, स्तुत्यनन्तरम्—

अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्त्तयेद् यः, स यात्यनायासतः केवलं तत् । अनेजदेकं मनसो जवीयो, न यद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शात् ।।१७७।।

कात् ककारात्, आपो जलम्, लकारात् पृथिवी, ईकारादग्निः, बिन्दोः सकाशाच्चन्द्रः, तस्य नादादर्कः, यात् यकाराद्वायुरभूदिति शेषः। उत्तरात् गोविन्दायेत्यस्मात्, सुरभिं गोजातिम्, तदुत्तरात् गोपीजनेत्यस्मात् विद्याश्चतुर्दश, तदुत्तरात् वल्लभेत्यादितः। वेदयित्वा विदित्वा, अन्याभ्यो वा विज्ञाप्य। ॐकारान्तरालकं प्रणवपुटितमित्यर्थः। अभित आनयत् साधयामास। यस्य पूर्वपदादित्यादि च कल्पान्तरे प्रकारान्तराभिप्रायेण। पूर्वमर्शात् परामर्शात्; यद्वा, पूर्वेषां मर्शात् विचारादपीति ।।१६०-१७७।।

क्षेत्रज्ञ का बोध होता है, एवं 'हा' शब्द ज्ञानमयी परा प्रकृति प्रतीत होती है। मुख वेष्टन वर्ण, उन दोनों की एकता उत्पत्ति है, सुतरां विश्व का विनाश कार्य्य निश्चय ही स्वाहा शब्द से निष्पन्न होता है ।।१७०-१७१।।

पुनर्बार श्रुति कहती है,—अष्टादशाक्षर (पञ्चपद) मन्त्र जप के द्वारा चन्द्र ध्वज मोहमुक्त होकर आत्मज्ञ हुए थे। अतएव मानवगण! निरन्तर ॐकार पुटित मन्त्र का जप करें। प्राकृत विषयासक्ति वर्जित होकर मन्त्र जप करें। वह ही श्रीविष्णु का परम धाम है, सुरिगण जिसका दर्शन करते रहते हैं। विस्तृत लोचन जिस प्रकार आकाश का दर्शन करता है। सुतरां उक्त मन्त्र का जप नित्य करे, इत्यादि ।।१७२।।

उक्त श्रुति के अग्रभाग में उक्त है,—जिस पञ्चपदी के पूर्वपद से भूमि, द्वितीय पद से सलिल, तृतीय से तेजः, चतुर्थ से समीरण, पञ्चम से अम्बर की उत्पत्ति हुई है, उस एक मन्त्र जप द्वारा ही चन्द्रध्वज श्रीविष्णु के अव्यय परमपद को प्राप्त किए थे।

अतएव विशुद्ध, विमल, विशोक, अशेष दोषादि रहित जो पञ्चपद रूप मन्त्र है, वह ही श्रीवासुदेव हैं, तद्भिन्न अपर कुछ भी नहीं है। मैं मरुद्गण के सहित परम स्तुति के द्वारा वृन्दावन के कल्पवृक्ष के तलासीन सच्चिदानन्द पञ्चपदस्वरूप श्रीगोविन्द को निरन्तर सन्तुष्ट करता हूँ ।।१७३-१७६।।

स्तुति के अनन्तर वर्णित है—पञ्चपदस्वरूप मन्त्र की जो जन आवृत्ति करता है, वह अनायास से श्रीगोविन्द को प्राप्त करता है। अशेष विकार रहित अद्वितीय मनसागम्य होने के कारण देवगण निरन्तर

तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसयेत्तं यजेदिति, ॐ तत्सदिति ।।१७८।।

त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे च, देवीं प्रति श्रीमहादेवोक्ताष्टादशाक्षरप्रसङ्ग एव—

धर्मार्थकाममोक्षाणामीश्वरो जगदीश्वरः। सन्ति तस्य महाभागा अवताराः सहस्रशः ।।१७९।।

तेषां मध्येऽवताराणां बालत्वमतिदुर्ल्लभम्।
अमानुषाणि कर्माणि तानि तानि कृतानि च ।।१८०।।

शापानुग्रहकर्त्तृत्वे येन सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्य मन्त्रं प्रवक्ष्यामि साङ्गोपाङ्गमनुत्तमम् ।।१८१।।

यस्य विज्ञानमात्रेण नरः सर्वज्ञतामियात्। पुत्रार्थी पुत्रमाप्नोति धनार्थी लभते धनम् ।।१८२।।

सर्वशास्त्रार्थपारज्ञो भवत्येव न संशयः। त्रैलोक्यञ्च वशीकुर्य्यात् व्याकुलीकुरुते जगत् ।।१८३।।

मोहयेत् सकलं सोऽपि मारयेत् सकलान् रिपून्।
बहुना किमिहोक्तेन मुमुक्षुर्मोक्षमाप्नुयात् ।।१८४।।
यथा चिन्तामणिः श्रेष्ठो यथा गौश्च यथा सती।
यथा द्विजो यथा गङ्गा तथासौ मन्त्र उत्तमः ।।१८५।।

यथावदखिलश्रेष्ठं यथाशास्त्रन्तु वैष्णवम्। यथा सुसंस्कृता वाणी तथासौ मन्त्र उत्तमः ।।१८६।।

बालत्वं शैशवं चाञ्चल्यं वा, येन बालत्वेन हेतुना सर्वं जगत् शपनेऽनुग्रहणे च प्रतिष्ठां प्राप्तम्। तद्बाल्यचरितादिमहिम्ना विश्वमेव सर्वार्थशक्तिविशेषयुक्तमभूदित्यर्थः। श्रेष्ठः सर्वार्थसाधने परमोत्तमः। यथा चिन्तामण्यादयः सर्वार्थसाधकाः, तथा मन्त्रोत्तमोऽसौ अष्टादशाक्षरमन्त्रोऽपि सर्वार्थसाधक इत्यर्थः। यद्वा, यथा मणिषु चिन्तामणिः श्रेष्ठः, गोषु गौः कामधेनुः, यद्वा, पशुषु गौः, नारीषु च सती, वर्णेषु विप्रः, नदीषु

चिन्ता के द्वारा भी जिनको प्राप्त करने में अक्षम हैं ।।१७७।।

अतएव श्रीकृष्ण ही परम देव हैं, अर्थात् परमेश्वर हैं। उनका ध्यान, कीर्त्तन, श्रवणादि के द्वारा उनका आस्वादन, एवं उनकी परिचर्य्या करें। ओंकार स्वरूप श्रीकृष्ण ही एकमात्र सत्वस्तु हैं ।।१७८।।

देवी के प्रति त्रैलोक्य सम्मोहनोक्त अष्टादशाक्षर मन्त्र वर्णन प्रसङ्गक्रम में श्रीमहादेव ने कहा है— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का अधीश्वर जगदीश्वर श्रीकृष्ण हैं, उनके सहस्रशः अवतारसमूह हैं, उनके मध्य में बाल्यत्व अति दुर्ल्लभ है। बालत्व अर्थात् शैशव, चाञ्चल्य, जिस बालत्व के कारण समस्त जगत् निर्मित हुई हैं। उक्त बाल्यचरितादि की महिमा से ही विश्व सर्वार्थशक्तियुक्त है। उक्त शैशवलीला में ही लोकोत्तर अनेक कार्य्य सम्पन्न हुई हैं, जिस दुष्ट दमन शिष्ट पालन—अर्थात् दण्ड एवं अनुग्रह शिक्षा के द्वारा समस्त जगत् सुप्रतिष्ठ हुए हैं। उनका ही साङ्गोपाङ्ग श्रेष्ठ मन्त्र का वर्णन में करूँगा, जिसके विज्ञान से मानव सर्वज्ञ होते हैं, पुत्रार्थी—पुत्र लाभ करेगा, धनार्थी—धन प्राप्त करेगा, उससे ही मानव सर्वशास्त्रार्थपारज्ञ होगा। त्रैलोक्य का वशीकरण एवं उसको आश्चर्य्यचकित भी करने में सक्षम होगा। सब को मुग्ध करेगा, सकल रिपु को विनष्ट करेगा, अधिक कहने का प्रयोजन ही क्या है, मुमुक्षु मुक्ति प्राप्त उस मन्त्र से ही करेगा। उक्त मन्त्र सर्वार्थसाधनोपयोगी है। जिस प्रकार चिन्तामणि प्रभृति सर्वार्थसाधक है, उस प्रकार अष्टादशाक्षर मन्त्र भी सर्वार्थसाधक है। अथवा मणियों में श्रेष्ठ जिस प्रकार चिन्तामणि है, गोओं में कामधेनु, अथवा पशु में गौः, नारी में सती, वर्ण में विप्र, नदी में गङ्गा, अखिल शास्त्रों में वैष्णवशास्त्र, वाक्यसमूह के मध्य में सुसंस्कृत वाणी जिस प्रकार श्रेष्ठ है, उस प्रकार ही समस्त मन्त्रों में यह ही उत्तम मन्त्र है ।।१७९-१८६।।

किञ्च—

अतो मया परेशानि प्रत्यहं जप्यते मनुः । नैतेन सदृशः कश्चिज्जगत्यस्मिन् चराचरे ॥१८७॥

श्रीसनत्कुमारकल्पेऽपि—

गोपालविषया मन्त्रास्त्रयस्त्रिंशत् प्रभेदतः । तेषु सर्वेषु मन्त्रेषु मन्त्रराजमिमं शृणु ॥१८८॥

सुप्रसन्नमिमं मन्त्रं तन्त्रे सम्मोहनाह्वये । गोपनीयस्त्वया मन्त्रो यत्नेन मुनिपुङ्गव ॥१८९॥

अनेन मन्त्रराजेन महेन्द्रत्वं पुरन्दरः । जगाम देवदेवेशो विष्णुना दत्तमञ्जसा ॥१९०॥

दुर्वाससः पुरा शापादसौभाग्येन पीड़ितः । स एव सुभगत्वं वै तेनैव पुनराप्तवान् ॥१९१॥

बहुना किमिहोक्तेन पुनश्चरणसाधनैः । विनापि जपमात्रेण लभते सर्वमीप्सितम् ॥१९२॥

प्रभुं श्रीकृष्णचैतन्यं तं नतोऽस्मि गुरूत्तमम् ।
कथञ्चिदाश्रयाद्यस्य प्राकृतोऽप्युत्तमो भवेत् ॥१९३॥

अथाधिकारनिर्णयः

तान्त्रिकेषु च मन्त्रेषु दीक्षायां योषितामपि ।
साध्वीनामधिकारोऽस्ति शूद्रादीनाञ्च सद्धियाम् ॥१९४॥

गङ्गा, तथासौ मन्त्रेषूत्तम इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । यावत् सम्यक्तया अखिलेषु शास्त्रेषु श्रेष्ठम् ॥१८०-१८६॥

मुनिपुङ्गव हे नारद ॥१८९॥

एवं तत्तन्माहात्म्यलिखनेऽयोग्यस्याप्यात्मनो भगवन्महामहिम्ना योग्यतां सम्भावयन् परमगुरुं श्रीभगवन्तं प्रणमति—प्रभुमिति ॥१९३॥

सद्धियाम् उत्तमबुद्धीनां विप्रसेवादिपराणामित्यर्थः ॥१९४॥

और भी उन्होंने कहा है—हे परेशानि ! तज्जन्य मैं प्रत्यह उक्त मन्त्र का जप करता हूँ । चराचर जगत् में उक्त मन्त्र के सदृश मन्त्र है ही नहीं ॥१८७॥

श्रीसनत्कुमार कल्प में उक्त है—श्रीगोपालविषयक त्रयस्त्रिंशद् मन्त्र विद्यमान् है । उनमें से मन्त्रराज का वर्णन मैं करता हूँ ॥१८८॥

हे मुनिपुङ्गव नारद ! सम्मोहन नामक तन्त्र में यह मन्त्र सर्वाभीष्टप्रद रूप से वर्णित है । अतएव यत्नपूर्वक इस मन्त्र को गुप्त रखना ॥१८९॥

इस मन्त्र से ही पुरन्दर ने महेन्द्रत्व को प्राप्त किया है । अर्थात् अनायास से ही विष्णुप्रदत्त महेन्द्रपद को उन्होंने प्राप्त किया है ॥१९०॥

पूर्व काल में दुर्वासा के शाप से इन्द्र दुर्भाग्य ग्रस्त हुआ था । उक्त मन्त्र जप से ही पुनर्बार सुभगत्व प्राप्त हुआ ॥१९१॥

पुरश्चरण साधन विधान प्रभृति का अनेक वर्णन की आवश्यकता ही क्या है, उक्त पुरश्चरण प्रभृति अनुष्ठान के विना ही केवल जप मात्र से ही समस्त ईप्सित का लाभ होता है ॥१९२॥

जिनके यत्किञ्चित् आश्रय प्राप्त कर प्राकृत जन भी उत्तम होता है, उन सर्वोत्तम गुरु प्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यदेव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१९३॥

अथाधिकारनिर्णयः

अनन्तर अधिकार निर्णय करते हैं,—तान्त्रिक मन्त्र की दीक्षा में पतिव्रता स्त्री एवं उत्तम बुद्धिसम्पन्न विप्र सेवादि परायण शुद्र प्रभृति का भी अधिकार है ॥१९४॥

तथा च स्मृत्यर्थसारे, पाद्मे च वैशाखमाहात्म्ये श्रीनारदाम्बरीषसंवादे—

आगमोक्तेन मार्गेण स्त्रीशूद्रैश्चैव पूजनम्। कर्त्तव्यं श्रद्धया विष्णोश्चिन्तयित्वा पतिं हृदि ॥१९५॥

शूद्राणां चैव भवति नाम्ना वै देवतार्चनम्। सर्वे चागममार्गेण कुर्य्युर्वेदानुसारिणा ॥१९६॥

स्त्रीणामप्यधिकारोऽस्ति विष्णोराराधनादिषु। पतिप्रियहितानाञ्च श्रुतिरेषा सनातनी ॥१९७॥

अगस्त्यसंहितायां श्रीराममन्त्रराजमुद्दिश्य—

शुचिव्रततमाः शूद्रा धार्मिका द्विजसेवकाः। स्त्रियः पतिव्रताश्चान्ये प्रतिलोमानुलोमजाः।

लोकाश्चाण्डालपर्य्यन्ताः सर्वेऽप्यत्राधिकारिणः ॥१९८॥ इति।

गुरुश्च सिद्धसाध्यादिमन्त्रदाने विचारयेत्। स्वकुलान्यकुलत्वञ्च बालप्रौढ़त्वमेव च ॥१९९॥

स्त्री-पुं-नपुंसकत्वञ्च राशिनक्षत्रमेलनम्। सुप्तप्रबोधकालञ्च तथा ऋणधनादिकम् ॥२००॥

अथ सिद्धसाध्यादिशोधनम्

सरदातिलके—

प्राक् प्रत्यगग्रा रेखाः स्युः पञ्च याम्योत्तराग्रगाः।

तावत्यश्च चतुष्कोष्ठचतुष्कं मण्डलं भवेत् ॥२०१॥

राशिमेलनं नक्षत्रमेलनञ्च। आदिशब्देन राशिशुद्धिरित्येवमष्टधा शोधनं ज्ञेयम् ॥२००॥

यद्यप्येतत् सिद्धसाध्यादिज्ञानं मुद्रादर्शनप्रकारवद्विना गुरुमुखात् सम्यक् विज्ञातं न स्यात्, तथाप्यत्र शब्दार्थ एव केवलं लिख्यते। तथा हि—प्राञ्चि पूर्वाणि, प्रत्यञ्चि पश्चिमानि अग्राणि यासां ताः, पूर्वपश्चिमाभिमुखा ऊर्द्ध्वाः पञ्चरेखा लेख्या इत्यर्थः। तथा याम्योत्तराग्रगा दक्षिणोत्तरमुखास्तावत्यः पञ्चैव रेखा ऊर्द्ध्व-रेखोपरि समकोष्ठाभिप्रायेण तिर्य्यक् लेख्या इत्यर्थः। ततश्च, चत्वारि कोष्ठचतुष्काणि यस्मिन् तथाभूतं मण्डलं भवेत्। एवं चतुर्भिः कोष्ठैरेकं कोष्ठं ज्ञेयमित्येवं चत्वारि कोष्ठानि मुख्यानि भवन्ति। पुनश्च एकस्यैवावान्तरकोष्ठानि चत्वारीत्येवं षोड़श कोष्ठानि भवन्ति। तद्रूपमेकं चतुरस्रं मण्डलं स्यादित्यर्थः।

आगमोक्त मार्ग के द्वारा स्त्री शूद्र भी श्रद्धापूर्वक मानसिक एवं यथावस्थित देह से श्रीविष्णु की अर्चना करने में सक्षम होंगे। केवल भगवन्नाम ग्रहण से ही स्त्री शूद्रों का देवतार्चन सिद्ध होता है। अतएव समस्त व्यक्ति ही वेदानुग तन्त्र मार्ग के द्वारा देवतार्चन कर सकते हैं। पतिहिताकाङ्क्षिणी स्त्रियों का भी श्रीविष्णु के अर्चन में अधिकार है। सनातनी श्रुति की उक्ति उस प्रकार ही है ॥१९५-१९७॥

श्रीराममन्त्र को लक्ष्य करके अगस्त्य संहिता में उक्त है—पवित्र, व्रतपरायण, धार्मिक, द्विज सेवक शूद्र, पतिव्रता स्त्री, प्रतिलोम अनुलोमजात चाण्डाल पर्य्यन्त समस्त मानव ही इसमें अधिकारी है। सिद्ध साध्यादि मन्त्रदान के प्रसङ्ग में गुरुदेव ही स्वकुल—अन्यकुल, बालत्व, प्रौढ़त्व, स्त्रीत्व, पुंस्त्व, नपुंसकत्व, राशि, नक्षत्र मेलन, सुप्त प्रबोधन काल, तथा ऋण धनादि का विचार करेंगे ॥१९८-२००॥

अथ सिद्धसाध्यादिशोधनम्—

अनन्तर सिद्ध साध्यादि-शोधन का वर्णन करते हैं। सारदातिलक में वर्णित है—यद्यपि सिद्ध साध्यादि ज्ञान—मुद्रा दर्शन प्रकार की भाँति श्रीगुरुमुख से श्रवण के विना नहीं होगा, तथापि यहाँ केवल शब्दार्थ का उल्लेख करते हैं। पूर्वपश्चिमाभिमुख में ऊर्द्धदेश में पाँच सरलरेखा का विन्यास करें। अनन्तर उक्त उर्द्धरेखा के उपरिभाग में उत्तर से दक्षिण दिक् में पञ्च रेखा लिखें। इससे चतुष्क मण्डल उत्पन्न होगा। उक्त मण्डल के मध्य में वर्णों का विन्यास जिस रीति से होगा, उसका उल्लेख करते हैं। षोड़श

इन्द्वग्निरुद्रनवनेत्रयुगेनदिक्षु, ऋत्वष्टषोड़शचतुर्द्दशभौतिकेषु ।
पातालपञ्चदशवह्निहिमांशुकोष्ठे, वर्णांल्लिखेल्लिपिभवान् क्रमशस्तु धीमान् ॥२०२॥
जन्मर्क्षाक्षरतो वीक्ष्य यावन्मन्त्रादिमाक्षरम् । चतुर्भिः कोष्ठकैस्त्वेकमिति कोष्ठचतुष्टये ॥२०३॥

एतच्च दीक्षामण्डलादिवन्नाम्नैव मण्डलं, न तु मण्डलाकारं, चतुष्कोणत्वात् ॥२०१॥

तस्मिन्मण्डले च यत् कर्त्तव्यं, तदाह—इन्द्विति । लिपिभवान् वर्णान्—अकारादिक्षकारान्तपञ्चाशदक्षराणि। यद्वा, ककारषकारसंयोगसिद्धक्षकारव्यतिरिक्तान् पञ्चाशद्वर्णान्, इन्द्वादिसंख्यासङ्केतितेषु कोष्ठेषु क्रमशः अकारादिक्रमेण इन्द्वादिक्रमेण च लिखेत् । तत्र इन्दुश्चन्द्र एकः, तस्मिन् आद्ये कोष्ठे अकारं लिखेदित्यर्थः ; एवं अग्नौ तृतीये आकारम्, रुद्रे एकादशे इकारम्, इने सूर्य्ये द्वादशकोष्ठे, भौतिके पञ्चमे महाभूतपञ्चकत्वात्, वह्नयस्त्रयः, हिमांशुरेकः, अङ्कस्य वामगतित्वाद्वह्निहिमांशुभ्यां द्वाभ्यां त्रयोदशेति ज्ञेयम्, तत्र च त्रयोदशे कोष्ठे अकारस्य षोड़शवर्णं अ इतिवर्णं लिखेदित्यर्थः । पुनस्तथैव प्रथमकोष्ठे ककारं इत्येवं यावद्वर्णावलीसमाप्ति पुनः पुनर्लिखेत् । एवमेव श्रीकृष्णदेवाचार्य्येणापि श्रीनृसिंहपरिचर्य्याग्रन्थे लिखितम्—'आद्याग्नीशग्रहाक्षाब्धिसूर्य्यदिग्रसदिग्गजाः । कलामन्विषु सप्ताहविश्वे वर्णान् पुनर्न्यसेत् ॥'इति ॥२०२॥

ततः शिष्यस्य यज्जन्मनक्षत्रानुरूपनामाद्याक्षरं नामप्रथमाक्षरमित्यर्थः; मध्यदेशादावत्र प्रायो जन्मनक्षत्रानुरूपनामाद्यक्षरकरणात् । तस्मादारभ्य मन्त्रस्य ग्राह्यस्य आदिमाक्षरमाद्यवर्णं यावद्वीक्ष्यं विचारदितव्यम्;

कोष्ठ युक्त यह मण्डल है। इसको नामतः ही दीक्षा मण्डल कहते हैं। किन्तु यह गोलाकार नहीं है, चतुष्कोण है।

इन्दु, अग्नि, रुद्र, नव, नेत्र, युग, इन, दिक्, ऋतु, अष्ट, षोड़श, चतुर्दश, भौतिक, पाताल, पञ्चदश वह्नि, हिमांशु, धीमान् व्यक्ति उक्त षोड़श कोष्ठ में यथाक्रम से वर्णसमूह का विन्यास करें।

अकार से आरम्भ कर 'क्ष'-कारान्त पञ्चाशदक्षर होते हैं। 'क-ष' संयोग से 'क्ष' उत्पन्न होता है। इसे मूल वर्ण न मानने पर ऊनपञ्चाशद्वर्ण होते हैं। इन्दु—१, अग्नि—३, रुद्र—११, नव—९, नेत्र—२, युग—४, इन—१२, दिक्—१०, ऋतु—६, अष्ट—८, षोड़श—१६, चतुर्दश—१४, भौतिक—५, पाताल—७, पञ्चदश—१५, वह्नि—३, हिमांशु—१, इस प्रकार कोष्ठसमूह में अकारादि वर्णों का विन्यास करें। अर्थात् प्रथम कोष्ठ में अकार, तृतीय में आ, ११ में इ, ८ में ई, द्वितीय कोष्ठ में उ, १२ में ऊ, १० में ऋ, ६ में लृ, १६ में ए, ८ में ऐ, ५ में ओ, ७ में औ, १५ में अं, १३ में अः। पुनर्बार १ गृह में क, तृतीय में ख, एकादश में ग इत्यादि क्रम से षोड़श कोष में वर्ण विन्यास पूर्वक ऊनपञ्चाशत वर्ण की समाप्ति जब तक नहीं होती है, तावत् पर्य्यन्त उक्त रीति से वर्ण विन्यास करना होगा। यन्त्र तन्त्रसारादि ग्रन्थ में सुप्रसिद्ध है। श्रीकृष्णदेवाचार्य्य ने श्रीनृसिंह परिचर्य्या ग्रन्थ में लिखा है—

"आद्याग्नीशग्रहाक्षाब्धि-सूर्य्य-दिग्रसदिग्गजाः। कलामन्विषु सप्ताह विश्वे वर्णान् पुनर्न्यसेत् ॥"

सिद्ध साध्यादि परिज्ञान का क्रम इस प्रकार है—नव, एक पाँच होने से सिद्ध, छै, दस, दो साध्य, तिन, सात, ग्यारह—सुसिद्ध, चार, आठ, १२ शत्रु है। गणना के क्रम द्विविध है। प्रथम चार बृहत् मण्डल—अनन्तर अवान्तर मध्यगत मण्डल को लेकर षोड़श मण्डल होता है। उक्त क्रम से गणना होगी। सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, अरि—परस्पर मिलित होकर १६ प्रकार, समुदाय में विंशति प्रकार हैं। १ सिद्ध, २ साध्य, ३ सुसिद्ध, ४ अरि, ५ सिद्ध सिद्ध, ६ सिद्ध साध्य, ७ सिद्ध सुसिद्ध, ८ सिद्ध-अरि, ९ साध्य-सिद्ध, १०-११ साध्य सिद्ध, १२ साध्य-अरि, १३ सुसिद्ध सिद्ध, १४ सुसिद्ध साध्य, १५ सुसिद्ध सुसिद्ध, १६ सुसिद्ध अरि, १७ अरि सिद्ध, १८ अरि साध्य, १९ अरि सुसिद्ध, २० अरि अरि ॥२०१-२०२॥

अनन्तर शिष्य के जन्मनक्षत्राश्रित नाम का प्रथम अक्षरयुक्त गृह से आरम्भ करके जिस गृहमें मन्त्रस्थ

पुनः कोष्ठककोष्ठेषु सव्यतो जन्मभाक्षरात् ।
सिद्धसाध्यसुसिद्धारिक्रमाज्ज्ञेया विचक्षणैः ॥२०४॥
सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः । सुसिद्धो ग्रहमात्रेण अरिर्मूलनिकृन्तनः ॥२०५॥
सिद्धसिद्धो यथोक्तेन द्विगुणात् सिद्धसाधकः ।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति बान्धवान् ॥२०६॥
साध्यसिद्धो द्विगुणिकः साध्यसाध्यो ह्यनर्थकः ।
तत्सुसिद्धस्त्रिगुणितात् साध्यारिर्हन्ति गोत्रजान् ॥२०७॥
सुसिद्धसिद्धोऽर्द्धजपात्तत्साध्यस्तु गुणाधिकात् ।
तत्सुसिद्धो ग्रहादेव सुसिद्धारिः स्वगोत्रहा ॥२०८॥

यद्वा, सिद्धादिगणनया गुणदोषादिकं द्रष्टव्यमित्यर्थः । कथं कुत्र ? तदाह—चतुर्भिः कोष्ठैरेकं कोष्ठं द्रष्टव्यम्, एवं तन्मण्डले कोष्ठचतुष्टयं स्यात्, तस्मिन् प्रथमं वीक्ष्य ; यद्वा, सिद्धादिक्रमा ज्ञेयाः, इत्यनेन परेणान्वयः । पश्चात्तत्कोष्ठचतुष्टयस्य यान्यवान्तराणि कोष्ठानि षोड़श तेषु च ज्ञेया इति प्रकारद्वयम् । तत्र जन्मनक्षत्राक्षरात् सव्यतः वामगत्येत्यर्थः । अतएवोक्तं श्रीकृष्णदेवाचार्य्येण तत्रैव—सव्ये नामाद्याक्षरतः सिद्धादिक्रम इष्यते । इति । एवं सिद्धादिकोष्ठस्थानं च तेनैव दर्शितम्—'नवैकपञ्चभिः सिद्धः साध्यः षड़्दशपञ्चकैः । सुसिद्ध-स्त्रिसप्तरुद्रैस्तुर्य्याष्टद्वादशै रिपुः ॥' इति । एवं सारदातिलकस्य मतं विलिख्य श्रीकृष्णदेवाचार्य्यमतं लिखति—क्वचिच्चेत्यादिना । चतुर्षु पदेषु कोष्ठेषु तिष्ठति वर्त्तत इति । तथा तस्यां लिपौ चतुष्कोणमण्डलरूपलेखे, साधकस्य शिष्यस्य आख्या नाम तस्या आदिवर्णतः प्रथमाक्षरमारभ्य मन्त्रस्याद्याक्षरपर्य्यन्तं मुहुर्मुहुर्गणनीयम् । साधकानामाद्याक्षरतः सव्ये वामे क्रमेण सिद्धादयो ज्ञेया इत्यर्थः । यत्र मन्त्रस्याद्याक्षरं तत्र सिद्धः, ततो द्वितीये कोष्ठे साध्यः, तृतीये प्रसिद्धः, चतुर्थेऽरिः—इत्येतद्बुह्यम् ; अतएव तस्य सव्यत इत्युक्तमिति दिक् ॥२०३॥

तत्र च गणनया सिद्धादिस्थानं प्राप्ते सति मन्त्राद्यक्षरे यत् फलं स्यात्, तदाह—सिद्ध इत्यादि पञ्चभिः । ग्रहः ग्रहणं तन्मात्रेण अचिरादेव सिध्यतीत्यर्थः ॥२०५॥

एवं चतुःकोष्ठव्यवस्थया फलमुक्त्वाधुना तदवान्तरषोड़शकोष्ठव्यवस्थया पूर्वापराभ्यां चतुर्द्धान्योऽन्य-

---

आद्यक्षर है, उस गृह पर्य्यन्त सिद्ध साध्यादि की गिनती करनी होगी । प्रथमतः षोड़श मण्डल के चार मण्डल से एक मण्डल मानकर उक्त चार मण्डलों में, एवं उक्त चार मण्डलों के प्रत्येक मण्डल में जन्म नक्षत्र के अक्षर से वाम गति से गणना करने पर विचक्षण व्यक्ति शिष्यसम्बन्धीय मन्त्र को सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध एवं शत्रु क्रम विधान से जान सकते हैं ॥२०३-२०४॥

सिद्ध मन्त्र ग्रहण के समय में, साध्य मन्त्र जप एवं होम के द्वारा, एवं सुसिद्ध मन्त्र दीक्षा ग्रहण मात्र से ही सिद्ध होता है । एवं अरि—मूलङ्कष होता है ॥२०५॥

कोष्ठक चार की व्यवस्था से फल कथन के पश्चात् सम्प्रति उसके अन्तर्वर्त्ती षोड़श कोष्ठ व्यवस्था के द्वारा पूर्व एवं अपर के सहित सिद्धादि चार प्रकार परस्पर संयोग फल को कहते हैं.—सिद्ध-सिद्ध-तन्त्र में वर्णित समय में, सिद्ध साध्य उक्त समय के द्विगुण समय में, सिद्ध सुसिद्ध—जपसंख्या के अर्द्ध जप के समय सिद्ध होता है, और सिद्धारि मन्त्र बान्धव नाश करता है । साध्य सिद्ध द्विगुण काल में सिद्ध होता है । साध्य साध्य—अनर्थस्वरूप होता है । साध्य सुसिद्ध त्रिगुणित काल में सिद्ध होता है, और साध्य अरि गोत्रज जन को विनष्ट करता है । सुसिद्ध सिद्ध अर्द्ध जप से, सुसिद्ध साध्य द्विगुण जप से एवं सुसिद्ध सुसिद्ध ग्रहण मात्र से सिद्ध होता है । अरि—स्वीय गोत्र को ध्वंस करता है । अरि सिद्ध सन्तति त्रिवर्ग

अरिसिद्धः सुतान् हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाः ।
तत्सुसिद्धस्तु पत्नीघ्नस्तदरिर्हन्ति साधकम् ॥२०९॥ इति ।

तथा च तन्त्रे, अस्य च मन्त्रविशेषेऽपवादः—

नृसिंहार्कवराहाणां प्रासादप्रणवस्य च । वैदिकस्य च मन्त्रस्य सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥२१०॥
स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च त्र्यक्षरे ।
एकाक्षरे तथा मन्त्रे सिद्धादीन्नैव शोधयेत् ॥२११॥
स्वकुलान्यकुलत्वादि विज्ञेयं चागमान्तरात् । न विस्तरभयादत्र व्यर्थत्वादपि लिख्यते ॥२१२॥
श्रीमद्गोपालदेवस्य सर्वैश्वर्य्यप्रदर्शिनः । तादृक्शक्तिषु मन्त्रेषु नहि किञ्चिद्विचार्य्यते ॥२१३॥

तथा च क्रमदीपिकायाम्—

सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु, नारीषु नानाह्वय- जन्मभेषु ।
दाता फलानामभिवाञ्छितानां, द्रागेव गोपालकमन्त्र एषः ॥२२४॥

त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे च, अष्टादशाक्षरमन्त्रमधिकृत्य श्रीशिवेनोक्तम्—

न चात्र शात्रवा दोषा नर्णस्वादिविचारणा ।
ऋक्षराशिविचारो वा न कर्त्तव्यो मनौ प्रिये ॥२१५॥

संयोगेन फलमाह—सिद्धसिद्ध इति चतुर्भिः । तत्सुसिद्धः साध्यसुसिद्धः, तत्साध्यः सुसिद्धसाध्यः, तत्सुसिद्धः सुसिद्धसुसिद्धः, एवमग्रेऽपि ॥२०६-२०९॥

अस्य एवमुक्तस्य सिद्धादिशोधनस्य तु ॥२१०-२१२॥

व्यर्थत्वे हेतुं लिखति—श्रीमदिति । तादृशी श्रीगोपालदेवसदृशी शक्तिर्येषां तेषु ॥२१३॥

नानाविधा आह्वया नामानि जन्मभानि च जन्मनक्षत्राणि येषां वर्णादीनां तेष्वपि ; यद्वा, तेषां नानाह्वय-जन्मभेषु सत्स्वपि एष श्रीगोपालमन्त्रोऽभिवाञ्छितानां फलानां शीघ्रमेव दाता ॥२१४॥

अत्र अस्मिन् मन्त्रे शात्रवाः शत्रुसम्बन्धिनो दोषाः सिद्धादिशोधनोक्ताः ऋणञ्च स्वं धनञ्च तदादिविचारणा

को एवं अरि साध्य कन्यावर्ग को विनष्ट करता है । अरि सिद्ध पत्नी को, अरि-अरि साधक को ध्वंस करता है ॥२०६-२०९॥

तन्त्र, कल्प ग्रन्थ में मन्त्र विशेष में शोधन विधान पृथक् वर्णित है । तन्त्र में वर्णित है—नृसिंह, सूर्य्य, वराह, मन्त्रसमूह का तथा प्रसाद, 'ह्रौं' शिवमन्त्र प्रणव एवं वैदिक मन्त्रसमूह का सिद्धादि शोधन विचार न करें, स्वप्नप्राप्त स्त्रिलोक द्वारा प्रदत्त, एवं जिस मन्त्रमें विंशति अक्षर के अधिक अक्षर हैं, त्र्यक्षर मन्त्र, एकाक्षर मन्त्र प्रभृति का सिद्धचादि शोधन न करें । स्वकुल एवं भिन्नकुल रूप मन्त्रगत पार्थक्य का विचार अन्यान्य तन्त्र से अवगत होना कर्त्तव्य है । व्यर्थता एवं बाहुल्य भीति से यहाँ नहीं लिखा है ॥२१०-२१२॥

सर्वैश्वर्य्य समन्वित श्रीगोपालदेव के मन्त्र भी निखिल शक्तिपूर्ण एवं ऐश्वर्य्यप्रद हैं, सुतरां श्रीगोपाल मन्त्र में किसी प्रकार विचार करना आवश्यक नहीं है ।

श्रीकेशवाचार्य्यकृत क्रमदीपिका में उक्त है—समस्त वर्ण, समस्त आश्रम, स्त्रीजाति, जिनके नाम नक्षत्र पृथक् है । श्रीगोपालमन्त्र उन सबको अति सत्वर फलप्रदान करते हैं । कारण मन्त्र में श्रीगोपाल देव की सदृशी शक्ति विद्यमान है ॥२१४॥

त्रैलोक्य सम्मोहन तन्त्र में अष्टादशाक्षर मन्त्र को लक्ष्य करके श्रीमहादेव ने कहा है—हे प्रिये!

केचिच्छिन्नाश्च रुद्धाश्च केचिन्मदसमुद्धताः। मलिनाः स्तम्भिताः केचित् कीलिता दूषिता अपि।
एतैर्दोषैर्युतो नायं यतस्त्रिभुवनोत्तमः ॥२१६॥ इति।

सामान्यतश्च यथा बृहद्गौतमीये—

अथ कृष्णमनून् वक्ष्ये दृष्टादृष्टफलप्रदान्। यान् वै विज्ञाय मुनयो लेभिरे मुक्तिमञ्जसा ॥२१७॥
गृहस्था वनगाश्चैव यतयो ब्रह्मचारिणः। स्त्रियः शूद्रादयश्चैव सर्वे यत्राधिकारिणः ॥२१८॥
नात्र चिन्त्योऽरिशुद्ध्यादिर्नारिमित्रादिलक्षणम्।
न वा प्रयासबाहुल्यं साधने न परिश्रमः ॥२१९॥
अज्ञानतूलराशेश्च अनलः क्षणमात्रतः। सिद्धसाध्यसुसिद्धारिरूपा नात्र विचारणा ॥२२०॥
सर्वेषां सिद्धमन्त्राणां यतो ब्रह्माक्षरो मनुः। प्रजापतिरवापाग्र्यं देवराज्यं शचीपतिः।
अवापुस्त्रिदशाः स्वर्गं वागीशत्वं बृहस्पतिः ॥२२१॥ इत्यादि।

तथात्रैवान्ते—

विष्णुभक्त्या विशेषेण किं न सिध्यति भूतले। कीटादिब्रह्मपर्य्यन्तं गोविन्दानुग्रहान्मुने ॥२२२॥

च न कर्त्तव्या; अन्यमन्त्राणां दोषानाह—केचिदिति; उक्तञ्च छिन्नादीनां लक्षणं सारदातिलके—'मनोर्यस्यादिमध्यान्तेष्वानीलं वीजमुच्यते। संयुक्तं वा वियुक्तं वा स्वराक्रान्तं त्रिधा पुनः॥ चतुर्धा पञ्चधा वाथ समन्त्रश्छिन्नसंज्ञकः। माया नमामि च पदं नास्ति यस्मिन् स कीलितः॥ एकं मध्ये द्वयं मूर्द्धिन यस्मिन्नस्त्रपुरन्दरौ। न विद्येते स मन्त्रः स्यात् स्तम्भितः सिद्धिरोधनः॥ आदिमध्यावसानेषु भवेदर्णचतुष्टयम्। यस्य मन्त्रः स मलिनो मन्त्रवित्तं विवर्ज्जयेत्॥ मन्त्रो वाप्यथवा विद्या सप्ताधिकदशाक्षरः। फट्कारपञ्चकादिर्यो मदोन्मत्त उदीरितः॥ यस्य मध्ये दकारो वा क्रोधो वा मूर्द्धनि त्रिधा (द्विधा)। अस्त्रं तिष्ठति मन्त्रः स तिरस्कृत इतीरितः॥' इत्यादि। अयमष्टादशाक्षरः श्रीगोपालमन्त्रः ॥२१५॥

अष्टादशाक्षर गोपालमन्त्र में सिद्धादि शोधन में वर्णित अरि जनित दोषसमूह नहीं है, अतएव इसमें ऋण धन विचार की आवश्यकता नहीं है। नक्षत्र-राशि विचार करना भी उचित नहीं है ॥२१५॥

अपर मन्त्रों के विवरण को कहते हैं,—कतिपय मन्त्र रुद्ध, कतिपय मन्त्र मदोन्मत्त, कतिपय मन्त्र मलिन, कतिपय मन्त्र स्तम्भित, कीलित एवं दुष्ट हैं। किन्तु अष्टादशाक्षर गोपालमन्त्र उल्लिखित दोषों से अस्पृष्ट हैं। सुतरां यह मन्त्र त्रिभुवनस्थ मन्त्रों में सर्वोत्तम है ॥२१६॥

सामान्यतः बृहद् गौतमीय में वर्णित है—अनन्तर दृष्ट अदृष्ट फलप्रद कृष्णमन्त्र समूह का वर्णन करता हूँ। मुनिगण जिसको जानकर शीघ्र मुक्तिलाभ किए थे। गृहस्थ, वानप्रस्थ, यति, ब्रह्मचारी, स्त्री जाति, शूद्र प्रभृति समस्त मानव ही उक्त गोपालमन्त्र के अधिकारी हैं। इसमें अरिशुद्धि का विचार नहीं है। अरि मित्रादि विचार की आवश्यकता भी नहीं है। साधन में क्लेश बहुलता भी नहीं है। यह अज्ञानरूप तूला राशि के निमित्त अनल तुल्य है। सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, अरि विचार करना भी इसमें निष्प्रयोजन है। कारण समस्त सिद्ध मन्त्रों में श्रीगोपाल मन्त्र के अक्षर साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। इस मन्त्र के प्रभाव से ब्रह्मा का ब्रह्मपद, शचीपति का देवराज्य, देववृन्द को स्वर्ग एवं बृहस्पति का वागीशत्व लाभ हुआ है ॥२१७-२२१॥

उक्त विषय का वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में है,—हे मुने! विष्णुभक्ति विशेष के द्वारा पृथिवी में सब कुछ लाभ होता है। श्रीगोविन्द के अनुग्रह से कीटादि ब्रह्म पर्यन्त समस्त व्यक्ति निर्भय एवं सम्पद्युक्त

सर्वसम्पत्तिनिलयाः सर्वत्राप्यकुतोभयाः ।
इत्यादि कथितं किञ्चिन्माहात्म्यं वो मुनीश्वराः ॥२२३॥
आकाशे तारका यद्वत् सिन्धोः सैकतसृष्टिवत् । एतद्विज्ञानमात्रेण लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम् ॥२२४॥
एतदन्येषु मन्त्रेषु दोषाः सन्ति परे च ये । तदर्थं मन्त्रसंस्कारा लिख्यन्ते तन्त्रतो दश ॥२२५॥

अथ मन्त्रसंस्काराः

सरदातिलके—
जननं जीवनञ्चेति ताड़नं रोधनं तथा । अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः ।
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः ॥२२६॥
मन्त्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम् ।
प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णान् जपेत् सुधीः ॥२२७॥
एतज्जीवनमित्याहुर्मन्त्रतन्त्रविशारदाः । मनोर्वर्णान् समालिख्य ताड़येच्चन्दनाम्भसा ॥२२८॥
प्रत्येकं वायुना मन्त्री ताड़नं तदुदाहृतम् । विलिख्य मन्त्रं तं मन्त्री प्रसूनैः करवीरजैः ॥२२९॥
तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैर्हन्यादयत्तेन रोधनम् । स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया ॥२३०॥
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद्विशुद्धये । संचिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत् ॥२३१॥
मन्त्रे मूलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं त्विदम् । तारव्योमाग्निमनुयुग दण्डी ज्योतिर्मनुर्मतः ।
कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः ॥२३२॥

एवं सम्मोहनतन्त्राद्युक्तप्रकारेण ; अन्येषु श्रीगोपालदेवमन्त्रव्यतिरिक्तेषु ; परे सिद्धादिशोधनोक्तदोषतोऽन्येऽपि छिन्नत्वादयः, तदर्थमिति—ये केचिदन्यमन्त्रसाधका भवेयुस्तेषां तद्दोषशोधनार्थमित्यर्थः ; तच्च तात्पर्य्येण श्रीगोपालदेवमन्त्रमाहात्म्यविख्यापनार्थमेवेति भावः ; तन्त्रत आगमशास्त्रोक्ता इत्यर्थः ॥२२५॥

होते हैं। मुनीश्वरगण ! आपके समक्ष में मैंने यत् किञ्चित् माहात्म्य का वर्णन किया, आकाशस्थ नक्षत्रराजि एवं समुद्र तटस्थ बालुका श्रेणी के समान मन्त्र का माहात्म्य गणनातीत एवं अनिर्वचनीय है। यथार्थ रूप से इसको जानने से ही चतुर्विधा मुक्ति प्राप्ति होती है ॥२२२-२२४॥

इसको छोड़कर अन्यान्य मन्त्र में जो दोषसमूह हैं, उसका प्रतीकार निवन्धन तन्त्र से दशविध मन्त्र संस्कार लिखित हो रहा है ॥२२५॥

अथ मन्त्रसंस्काराः

अनन्तर मन्त्र संस्कार। शारदातिलक में उक्त है—जनन, जीवन, ताड़न, रोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन, गोपन, दसविध संस्कार है ॥२२६॥

मातृका यन्त्र के मध्य से मन्त्र समूह का उद्धार करने का नाम 'जनन' है। प्रणव के द्वारा सम्पुटित करके मन्त्र वर्णसमूह का जप को 'जीवन' कहते हैं। मन्त्रज्ञ व्यक्ति मन्त्र वर्णसमूह को लिखकर 'इं' वायु वीज के द्वारा चन्दन जल से मन्त्रस्थ प्रत्येक वर्ण में आघात करें, इसको 'ताड़न' कहते हैं। मन्त्रज्ञ व्यक्ति मन्त्रोक्त वर्ण संख्या के अनुरूप करवीर पुष्प के द्वारा उक्त मन्त्र को ताड़न करें, उसे शोधन कहते हैं। मन्त्रविद् व्यक्ति मन्त्र वर्ण के समसंख्यक अश्वत्थ पत्र के द्वारा विशुद्धि हेतु मन्त्र का अभिषेक करें। मन्त्री व्यक्ति मन से मन्त्र की चिन्ता करके, मन्त्र मध्यगत मूलत्रय का दाहन ज्योतिर्मन्त्र के द्वारा करे, इसको विमलीकरण कहते हैं। प्रणव, आकाश, अग्नि, मन्त्रसंयुक्त दण्ड अर्थात् 'ओँ हं रं ओँ' इसको

तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायनं स्मृतम्। मन्त्रेण वारिणा यन्त्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम् ॥२३३॥
तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते। जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ॥२३४॥
बलित्वात् कृष्णमन्त्राणां संस्कारापेक्षणं नहि। सामान्योद्देशमात्रेण तथाप्येतदुदीरितम् ॥२३५॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे गौरवो नाम प्रथमो विलासः।

ज्योतिर्मन्त्रेणेत्युक्तं, तमेवाह—तारमिति। व्योम्येत्यादिना तत्तद्बीजं बोध्यते, एवमग्रे मायादावपि ॥२३४-२३५॥

इति श्रीभगवद्भक्तिविलासटीकायां दिग्दर्शिन्यां
प्रथमो विलासः।

ज्योतिर्मन्त्र कहते हैं। मन्त्र जप्त कुश संपृक्त जल के द्वारा मन्त्रस्थ प्रत्येक वर्ण को मन्त्र के द्वारा विधिपूर्वक प्रोक्षण करने का नाम—'आप्यायन' है। मन्त्रपाठ करके जल के द्वारा यन्त्र के मध्य में तर्पण करने का नाम तर्पण है ॥२२७-२३३॥

तार, माया, लक्ष्मी योग अर्थात् 'ओँ ह्रीँ श्रीँ' मन्त्र के सहित युक्त करने से 'दीपन' होता है। जप्य मन्त्र का अप्रकाश करने का नाम 'गोपन' है। अति बलशाली होने के कारण कृष्णमन्त्र समूह की संस्कारापेक्षा नहीं है। तथापि सामान्यतः उद्देश पूर्वक ही इसका कथन हुआ ॥२३४-२३५॥

इति श्रीगोपालभट्ट विलिखित भगवद्भक्ति विलास में
गौरव नामक प्रथम विलास।



द्वितीय-विलासः

तं श्रीमत्कृष्णचैतन्यदेवं वन्दे जगद्गुरुम् । यस्यानुकम्पया श्वापि महाब्धिं सन्तरेत् सुखम् ॥१॥

अथ दीक्षाविधिः

दीक्षाविधिर्लिख्यतेऽत्रानुसृत्य क्रमदीपिकाम् ।
विना दीक्षां हि पूजायां नाधिकारोऽस्ति कस्यचित् ॥२॥

अथ दीक्षानित्यता

आगमे—

द्विजानामनुपेतानां स्वकर्माध्ययनादिषु । यथाधिकारो नास्तीह स्याच्चोपनयनादनु ॥३॥
तथात्रादीक्षितानान्तु मन्त्रदेवार्चनादिषु । नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्य्यादात्मानं शिवसंस्तुतम् ॥४॥

नमः श्रीकृष्णाय भगवते भद्रवनचन्द्राय ।

अन्धः पश्यति शास्त्राणि शिला तरति वारिधिम् । यस्य प्रभावतो वन्दे तं श्रीचैतन्यमीश्वरम् ॥
कर्त्तव्यांशस्य विज्ञानमवश्यं सम्यगिष्यते । अतो यस्तत्र संक्षिप्तो ग्रन्थः सोऽयं प्रपञ्चते ॥

तत्रादौ विविधमताकुलितदीक्षाविधिलिखने परमशक्तस्याप्यात्मनो भगवदनुग्रहेण शक्ततां सम्भवयन्निव प्रारिप्सितसिद्धये पूर्ववत् गुरुरूपमिष्टदेवतं प्रणमति—तमिति ; श्रीमान् कृष्णश्चासौ चैतन्यदेवश्च परमात्मेति तम् ; पक्षे श्रीकृष्णचैतन्येति विख्यातदेवमीश्वरम् ; साक्षात्तस्योपदेष्टृत्वासम्भवेऽपि चित्ताधिष्ठातृत्वादिना सर्वेषामपि जीवानां परमगुरुतयात्मनोऽपि स एव गुरुरित्यभिप्रेत्य लिखति—जगद्गुरुमिति । पक्षे सर्वत्रैव भगवन्नामसंकीर्त्तनप्रधानभक्तिप्रचारणाज्जगतां गुरुत्वेन विशेषतो दीनजनविषयकसमग्रोपदेशानुग्रहेण गुरुमिति ॥१॥

क्रमदीपिकामनुसृत्येति श्रीकेशवाचार्य्यविरचितक्रमदीपिकाख्यग्रन्थोक्तानुसारेणैव, न तु तदुक्तविरोधेनेत्यर्थः। दीक्षाविधिलिखने हेतुः—विनेति ; हि यतः ॥२॥

अनुपेतानामकृतोपनयनानाम् ; उपनयनात् यज्ञोपवीतदानात् अनु अनन्तरम् ; तु अधिकारः स्यादेव ; शिवसंस्तुतमिति दीक्षितमित्यर्थः, प्रधानत्वेन श्रीविष्णुदीक्षाग्रहणात् श्रीशिवस्यापि सम्यक्स्तुतिविषयमिति

जगद्गुरु श्रीमत् श्रीकृष्णचैतन्य देव की मैं वन्दना करता हूँ । जिनकी अनुकम्पा से कुक्कुर भी सुख पूर्वक महाब्धि पार कर लेता है ॥१॥

अथ दीक्षाविधिः

श्रीकेशवाचार्य्य विरचित क्रमदीपिकाख्य ग्रन्थानुसार दीक्षा विधि को लिखता हूँ । कारण—दीक्षा के विना श्रीभगवदर्चनादि कार्य्य में किसी का अधिकार नहीं होता है ॥२॥

अथ दीक्षानित्यता—

आगम में उक्त है—उपनयन संस्कार विहीन विप्र का जिस प्रकार देवादि कार्य्य में अधिकार नहीं है, उपनयन संस्कार के अनन्तर अधिकार होता है, उस प्रकार अदीक्षित व्यक्ति का अधिकार देवादि के कार्य्य में नहीं होता है । अदीक्षित व्यक्तियों का मन्त्र देवार्चन प्रभृति कार्य्य में अधिकार नहीं होता है, अतएव आपने को श्रीविष्णु मन्त्र में दीक्षित करे । दीक्षा के विना पूजादि कर्म में अधिकार नहीं होता है । भगवदर्चना के विना जो व्यक्ति भोजन, पान, करता है, वह चाण्डालादि की विष्ठा की कृमि होकर आकल्प काल तक रहता है । अतएव दीक्षा की नित्यता है । स्कन्दपुराणीय कार्त्तिक माहात्म्य के श्रीब्रह्म-नारद

स्कान्दे कार्तिकप्रसङ्गे श्रीब्रह्मनारदसंवादे—

ते नराः पशवो लोके किं तेषां जीवने फलम् । यैर्न लब्धा हरेर्दीक्षा नार्च्चितो वा जनार्द्दनः ॥५॥

तत्रैव श्रीरुक्माङ्गदमोहिनीसंवादे विष्णुयामले च—

अदीक्षितस्य वामोरु कृतं सर्वं निरर्थकम् । पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाविरहितो जनः ॥६॥

विशेषतो विष्णुयामले—

स्नेहाद्वा लोभतो वाऽपि यो गृह्णीयाददीक्षया ।
तस्मिन् गुरौ सशिष्ये तु देवताशाप आपतेत् ॥७॥

विष्णुरहस्ये च—

अविज्ञाय विधानोक्तां हरिपूजाविधिक्रियाम् ।
कुर्वन् भक्त्या समाप्नोति शतभागं विधानतः ॥८॥

भावः ; एवञ्च दीक्षां विना पूजायामनधिकारात् । तथा—'शालग्रामशिलापूजां विना योऽश्नाति किञ्चन । स चाण्डालादिविष्ठायामाकल्पं जायते कृमिः ॥' इत्यादिवचनैः पूजायाश्चावश्यकत्वाद्दीक्षाया नित्यत्वं सिध्यति । श्रीशालग्रामशिलाधिष्ठानं वर्गेषु मुख्यत्वात् सर्वाण्येव भगवदधिष्ठानान्युपलक्षयति ; नित्यत्वमेव ब्रह्मवचनेन साधयति—ते नरा इति । 'जनार्द्दनो यैर्नार्च्चितः' इति दीक्षां विनाऽर्च्चनासिद्धेः ॥३-५॥

अदीक्षया दीक्षाविधिव्यतिरेकेण । देवतानां सर्वासामेव, तन्मन्त्राधिष्ठातृदेवताया वा शापः ; यद्यपि पूर्वं लिखितायाः श्रीगुरूपसत्तेर्नित्यतया दीक्षाया अपि नित्यता सिद्धैव, तथाप्युपसत्तेराश्रयणमात्रताविवक्षया दीक्षायाश्च सविधिमन्त्रग्रहणादिरूपतया पृथगुल्लेख इति दिक् ॥७॥

ननु यथाकथञ्चिद्भगवदर्चनेन महाफलं श्रूयते, अतो गुरोः सकाशाद्दीक्षाग्रहणे कोऽयमाग्रहः ? तत्राह—अविज्ञायेति । हरिपूजाविधेः क्रियामनुष्ठानं विधानोक्तं पूर्वपूर्वैरुपदेष्टृभिर्यथाविध्येवोपदिष्टां श्रीगुरुमुखादविज्ञाय विशेषेणाज्ञात्वा विधानतो भक्त्या कुर्वन्नपि शतांशानामेकमंशं लभते । गुर्वनपेक्षया पूर्वपूर्वशिष्टदर्शितमार्गानादरेण पूजाफलं न सम्यग्भवतीति भावः ॥८॥

संवाद में उक्त है—जिन्होंने दीक्षा ग्रहणपूर्वक श्रीहरि की अर्चना नहीं की, जगत् में वे सब ही पशु शब्द से अभिहित होते हैं । उन सब का जीवित रहने का फल ही क्या है ॥३-५॥

श्रीरुक्माङ्गद मोहिनी संवाद में लिखित है—अदीक्षित व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठित समस्त कर्म निरर्थक होते हैं । दीक्षा विरहित जन पशुयोनि को प्राप्त करते हैं ॥६॥

विष्णुयामल में विशेष वर्णित है—जो गुरु, स्नेह अथवा लोभ से अदीक्षित व्यक्ति को ग्रहण करता है, उन गुरु एवं शिष्य के प्रति मन्त्राधिष्ठातृ देवता का एवं समस्त देवता का अभिशाप होता है । श्रीगुरूपसत्ति की नित्यता से ही यद्यपि दीक्षा की नित्यता स्थापित होता है, तथापि सविधि मन्त्रग्रहणादि की आवश्यकता से ही पृथक् उल्लेख हुआ है ॥७॥

विष्णु रहस्य में उक्त है—यथाकथञ्चित् भगवदर्चन से महाफललाभ होता है, तब गुरु के निकट से दीक्षित होना ही होगा, इसमें आग्रह की आवश्यकता ही क्या है ? परम्पराक्रमप्राप्त विधानावलि को श्रीगुरुमुख से न जानकर विधान एवं भक्ति से देवार्चन करने पर शतांश का एकांश फल लाभ होता है । गुरु के अनादर से ही पूर्व पूर्व शिष्ट मार्ग का अनादर होता है, उससे पूजा फल सम्यक् नहीं होता है ॥८॥

अथ दीक्षामाहात्म्यम्

विष्णुयामले—

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्य्यात् पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्त्वकोविदैः ॥९॥

अतो गुरुं प्रणम्यैवं सर्वस्वं विनिवेद्य च। गृह्णीयाद्वैष्णवं मन्त्रं दीक्षापूर्वं विधानतः ॥१०॥

स्कान्दे तत्रैव श्रीब्रह्मनारदसंवादे—

तपस्विनः कर्मनिष्ठाः श्रेष्ठास्ते वै नरा भुवि। प्राप्ता यैस्तु हरेर्दीक्षा सर्वदुःखविमोचनी ॥११॥

तत्त्वसागरे च—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः। तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥१२॥

अथ दीक्षाकालः, तत्र मासशुद्धिः

आगमे—

मन्त्रस्वीकरणं चैत्रे बहुदुःखफलप्रदम्। वैशाखे रत्नलाभः स्याज्ज्यैष्ठे तु मरणं ध्रुवम् ॥१३॥
आषाढ़े बन्धुनाशाय श्रावणे तु भयावहम्। प्रजाहानिर्भाद्रपदे सर्वत्र शुभमाश्विने ॥१४॥
कार्त्तिके धनवृद्धिः स्यान्मार्गशीर्षे शुभप्रदम्। पौषे तु ज्ञानहानिः स्यान्माघे मेधाविवर्द्धनम्।
फाल्गुने सर्ववश्यत्वमाचार्य्यैः परिकीर्त्तितम् ॥१५॥

क्वचिच्च—

समृद्धिः श्रावणे नूनं ज्ञानं स्यात् कार्त्तिके तथा।
फाल्गुनेऽपि समृद्धिः स्यान्मलमासं परित्यजेत् ॥१६॥

नित्यत्वमेव द्रढ़यन् नित्यत्वेपि दर्शपौर्णमासादिवत् फलविशेषञ्च दर्शयन् दीक्षामाहात्म्यं लिखति—दिव्यमिति त्रिभिः; तपस्विन इति। श्रेष्ठा ज्ञानादिनिष्ठेभ्यः परमोत्तमाः, नृणां सर्वेषामेव द्विजत्वं विप्रता ॥९-१२॥

क्वचिच्चेति—अगस्त्यसंहिताद्यनुसारिश्रीरामर्चनाचन्द्रिकायाम्। पूर्वोक्तेनाविरोधस्तु मन्त्रभेदेन विविध-

---

अथ दीक्षामाहात्म्यम्

विष्णु यामल में वर्णित है—जिस अनुष्ठान के द्वारा दिव्य ज्ञान की प्राप्ति एवं पापक्षय होता है। उसे तत्त्वज्ञ गुरुगण उक्त गुरु पादाश्रय को दीक्षा कहते हैं। अतएव श्रीगुरु को यथाविधि प्रणाम करके सर्वस्व निवेदन पूर्वक यथाविधि दीक्षित होकर मन्त्र ग्रहण करे। स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद संवादस्थ कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है,—जो लोक सर्वदुःख विनाशिनी श्रीहरि दीक्षा प्राप्त किए हैं, वे सब ही व्यक्ति जगत में तपस्वी, कर्मनिष्ठ एवं श्रेष्ठ हैं। तत्त्वसागर में उक्त है,—जिस प्रकार रस विधान के द्वारा कांस्य की सुवर्णता प्राप्ति होती है, उस प्रकार दीक्षा विधान के द्वारा मानव मात्र का द्विजत्व उत्पन्न होता है ॥९-१२॥

अथ दीक्षाकालः, तत्र मासशुद्धिः

आगम में लिखित है—चैत्र मास में मन्त्र ग्रहण से बहु दुःख प्राप्त होते हैं। वैशाख में रत्न लाभ, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में बन्धु नाश, श्रावण में भय सञ्चार, भाद्र में सन्तति नाश, आश्विन में सर्वत्र शुभ, कार्त्तिक में धन वृद्धि, अग्रहायण में शुभप्रद, पौष में ज्ञान हानि, माघ में विशेष रूप से मेधावर्द्धन, एवं फाल्गुण में सर्ववशीकरण की शक्ति लाभ होता है ॥१३-१५॥

अगस्त संहितानुसारि श्रीरामार्चन चन्द्रिका में लिखित है,—श्रावण में मन्त्र ग्रहण से समृद्धि, कार्त्तिक

गौतमीये —

मन्त्रारम्भस्तु चैत्रे स्यात् समस्तपुरुषार्थदः ।
वैशाखे रत्नलाभः स्यात् ज्यैष्ठे तु मरणं ध्रुवम् ॥१७॥
आषाढ़े बन्धुनाशः स्यात् पूर्णायुः श्रावणे भवेत् ।
प्रजानाशो भवेद्भाद्रे आश्विने रत्नसञ्चयः ॥१८॥
कार्त्तिके मन्त्रसिद्धिः स्यात् मार्गशीर्षे तथा भवेत् ।
पौषे तु शत्रुपीड़ा स्यात् माघे मेधाविवर्द्धनम् ।
फाल्गुने सर्वकामाः स्युर्मलमासं परित्यजेत् ॥१९॥

स्कान्दे तत्रैव श्रीरुक्माङ्गदमोहिनीसंवादे—

कार्त्तिके तु कृता दीक्षा नृणां जन्मनिकृन्तनी । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन दीक्षां कुर्वीत कार्त्तिके ॥२०॥
श्रीमद्गोपालमन्त्राणां दीक्षायान्तु न दुष्यति । चैत्रमासे यदुक्ता तद्दीक्षा तत्रैव देशिकैः ॥२१॥

अथ बारशुद्धिः

रवौ गुरौ तथा सोमे कर्त्तव्यं बुधशुक्रयोः ॥२२॥

अथ नक्षत्रशुद्धिः

नारदतन्त्रे—

रोहिणी श्रवणार्द्रा च धनिष्ठा चोत्तरात्रयः । पुष्यं शतभिषश्चैव दीक्षानक्षत्रमुच्यते ॥२३॥

फलभेदापेक्षया मतभेदेन वा ज्ञेयः ; एवमग्रेऽपि ॥१६॥

एवं निषिद्धेऽपि चैत्रे श्रीगोपालमन्त्रदीक्षामनुजानाति—श्रीमदिति । यद्यस्मात्तेषां श्रीगोपालमन्त्राणां दीक्षा चैत्र एव उक्ता श्रीकेशवाचार्य्यादिभिः । तथा च क्रमदीपिकायाम्— चैत्रे कृत्वैव तन्मासि कर्मेति । त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे च—'मधुमासे तु संप्राप्ते द्वादश्यां समुपोषितः । आपूर्य्यमाणपक्षे तु संशुद्धिं भावयेत्ततः ॥' इति ॥२१॥

में ज्ञान लाभ, फाल्गुन में समृद्धि होती है, किन्तु मलमास त्याज्य है। गौतमीय तन्त्र में उक्त है,— चैत्र में मन्त्र ग्रहण से समस्त पुरुषार्थ लाभ, वैशाख में रत्न लाभ, ज्येष्ठ में अवश्य ही मृत्यु, आषाढ़ में बन्धु हानि, श्रावण में पूर्णायुर्लाभ, भाद्र में सन्तति नाश, आश्विन में रत्न सञ्चय, कार्त्तिक अग्रहायण में मन्त्रसिद्धि, पौष में शत्रु पीड़ा, माघ में मेधा वृद्धि, फाल्गुन में कामना पूर्त्ति होती है। किन्तु मलमास त्याज्य है।

स्कन्दपुराणीय श्रीरुक्माङ्गद संवाद में उक्त है—कार्त्तिक मास में दीक्षा ग्रहण से जन्मबन्धच्छिन्न होता है। सुतरां कार्त्तिक मास दीक्षा ग्रहण का प्रशस्त काल है ॥१६-२०॥

चैत्र मास में दीक्षा ग्रहण निषिद्ध कहा गया है। उक्त निषेध—श्रीगोपालमन्त्र भिन्न अपर मन्त्र के लिए है। गुरुगण चैत्रमास में गोपालमन्त्र दीक्षा का विधान प्रदान करते हैं। २१॥

अथ बारशुद्धिः

रवि, गुरु (वृहस्पति) सोम, बुध एवं शुक्रबार में दीक्षा ग्रहण कर्त्तव्य है ॥२२॥

अथ नक्षत्रशुद्धिः

नारद तन्त्र में उक्त है—रोहिणी, श्रवणा, आर्द्रा, धनिष्ठा, स्वाति, विशाखा, हस्ता, ज्येष्ठा एवं

क्वचिच्च—

अश्विनीरोहिणीस्वातिविशाखाहस्तभेषु च। ज्येष्ठोत्तरात्रयेष्वेव कुर्य्यान्मन्त्राभिषेचनम् ॥२४॥

अथ तिथिशुद्धिः

सारसंग्रहे—

द्वितीया पञ्चमी चैव षष्ठी चैव विशेषतः। द्वादश्यामपि कर्त्तव्यं त्रयोदश्यामथापि च ॥२५॥

क्वचिच्च—

पूर्णिमा पञ्चमी चैव द्वितीया सप्तमी तथा।
त्रयोदशी च दशमी प्रशस्ता सर्वकामदा ॥२६॥ इति।

एवं शुद्धे दिने शुक्लपक्षे शुक्रगुरूदये। सल्लग्ने चन्द्रतारानुकूले दीक्षा प्रशस्यते ॥२७॥

अथात्रापवादः (विशेषविधिः)

रुद्रयामले—

सत्तीर्थेऽर्कविधुग्रासे तन्तुदामनपर्वणोः। मन्त्रदीक्षां प्रकुर्वीत मासर्क्षादि न शोधयेत् ॥२८॥
सुलग्नचन्द्रतारादिबलमत्र सदैव हि। लब्धोऽत्र मन्त्रो दीर्घायुःसम्पत्सन्ततिवर्द्धनः ॥२९॥
सूर्य्यग्रहणकालेन समानो नास्ति कश्चन। यत्र यद्यत् कृतं सर्वमनन्तफलदं भवेत्।
न मासतिथिबारादिशोधनं सूर्य्यपर्वणि ॥३०॥

अश्विन्यादिनक्षत्रेष्वत्र पूर्वोक्तेन विरोधभावेऽपि ततो विशेषलाभेन क्वचिच्चेति प्रयोगः; एवमग्रेऽपि। मन्त्राभिषेचनं दीक्षाम् ॥२४॥

शुक्रस्य गुरोश्च वृहस्पतेरुदये सति, न तु अस्तसमये ॥२७॥

तन्तुपर्वः श्रावणे पवित्रारोपणोत्सवः, दामनपर्वः चैत्रे दमनकारोपणोत्सवस्तयोः ॥२८॥

अत्र सत्तीर्थादौ ॥२९॥

सत्तीर्थादिष्वपि मध्ये सूर्य्यपर्वणः प्राशस्त्यं दर्शयति—सूर्य्येति सार्द्धेन ॥३०॥

उत्तरात्रय में मन्त्र ग्रहण प्रशस्त है ॥२३-२४॥

अथ तिथिशुद्धिः

सारसंग्रह में उक्त है—द्वितीया, पञ्चमी, षष्ठी, द्वादशी एवं त्रयोदशी में दीक्षानुष्ठान कर्त्तव्य है। अन्यत्र वर्णित है—पूर्णिमा, पञ्चमी, द्वितीया, सप्तमी, त्रयोदशी, दशमी दीक्षा ग्रहण में प्रशस्त एवं सर्वकामद है। इस प्रकार शुद्धदिन, शुक्लपक्ष, शुक्र, गुरु उदय में, शुभ लग्न—चन्द्र नक्षत्र अनुकूल होने से दीक्षा शुभकरी है ॥२५-२७॥

अथात्रापवादः (विशेषविधिः)

अनन्तर दीक्षा विषय में अपवाद अर्थात् विशेष विधान— सत् तीर्थ में, सूर्य्य चन्द्रग्रहण में, तन्तुपर्व—श्रावण मासीय पवित्रारोपणोत्सव में, चैत्र मासीय दमनकारोपणोत्सव में मन्त्र दीक्षा ग्रहणीय है। उसमें मास-नक्षत्रादि शुद्धि की आवश्यकता नहीं है ॥२८॥

समस्त काल में ही शुभ लग्न एवं चन्द्र नक्षत्रादि शुद्धि की आवश्यकता है। प्रधान तीर्थादि में गृहीत मन्त्र दीर्घायुः सम्पद्, सन्तति वृद्धिकारक है ॥२९॥

अन्यत्र लिखित है—सूर्य्यग्रहण समय के तुल्य समय अपर नहीं है। उक्त समय में कर्मानुष्ठान असीम फलप्रद है। सूर्य्य पर्व में मास, तिथि, बार शोधन की आवश्यकता नहीं है ॥३०॥

तत्त्वसागरे च

दुर्ल्लभे सद्गुरूणाञ्च सकृत् सङ्ग उपस्थिते । तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावासरो महान् ॥३१॥

ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये क्षेत्रे वा दिवसे निशि । आगच्छति गुरुर्दैवाद्यदा दीक्षा तदाज्ञया ॥३२॥

यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः । न तीर्थं न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया ।

दीक्षायाः करणं किन्तु स्वेच्छाप्राप्ते तु सद्गुरौ ॥३३॥

अथ मण्डपनिर्माणविधिः

क्रियावत्यादिभेदेन भवेद्दीक्षा चतुर्विधा । तत्र क्रियावती दीक्षा संक्षेपेणैव लिख्यते ॥३४॥

भूमिं संस्कृत्य तस्यां चार्चयित्वा वास्तुदेवताः । सप्तहस्तमितं कुर्य्यान्मण्डपं रम्यवेदिकम् ॥३५॥

अष्टध्वजं चतुर्द्वारं क्षीरपादपतोरणम् । त्रिगुणीकृतसूत्राढ्यं कुशमालाभिवेष्टितम् ॥३६॥

तत्र तत्रापि पुनरपवादं दर्शयति—यदैवेति सार्द्धेन ॥३३॥

आदिशब्देन कलात्मा (कलावती) वर्णमयी वेधमयी च ; तथा च सारदातिलके—'चतुर्विधा सा सन्दिष्टा क्रियावत्यादिभेदतः । क्रियामयी वर्णमयी कलात्मा वेधमय्यपि ॥' इति ॥३४॥

संस्कृत्य तुषकेशाङ्गारास्थिशर्करादिदोषापसारणेनोपस्कृत्य वास्तुदेवतार्चनविधिस्तु प्रसिद्ध एव सारदातिलकादिग्रन्थसम्मतोऽग्रे प्रासादनिर्माणे लेख्यो बाहुल्यभयादत्र न लिख्यते । सप्तभिर्हस्तैः परिमितम्, केचिच्च षड्भिरष्टभिर्द्वादशभिः षोडशभिर्वा हस्तैर्मितं मण्डपमिच्छन्ति ; तथा च वशिष्ठसंहितायाम्—'षड्द्वादशाष्टभिर्हस्तैः षोडशैर्वा समन्ततः' इति । रम्या अत्यन्तदैर्घ्यह्रस्वोच्चनीचत्वादिराहित्येन शोभना वेदिका यस्मिन् तत्, ताञ्च मण्डपमध्ये रचयेत् ; तथा चोक्तम्—'पञ्चहस्तमितां तत्र चतुरस्रां चतुर्मुखाम् । हस्तमात्रोच्छ्रितां रम्यां मध्ये वेदीं प्रकल्पयेत् ॥' इति ; वशिष्ठसंहितायाञ्च—'वायव्ये वाथ ऐशान्ये पूजावेदीं प्रकल्पयेत् । हस्तोन्नतां च विस्तीर्णां चतुरस्रां समन्ततः ॥' इति । अत्र च विरोधो मतभेदादिना मण्डपभेदेन परिहरणीयः ; मण्डपानुमानेनैव मध्ये वेदीमुत्तमां रचयेदिति स्थितिः ॥३५॥

मण्डपमेव विशिनष्टि—अष्टेति । अष्टदिक्षु अष्टौ ध्वजा यस्मिन् तत्, क्षीरयुक्तैः पादपैः प्लक्षादिभिर्हस्तमात्रं भूम्यन्तर्निखातैस्तोरणं वहिर्द्वारं यस्मिन् तत् ; तथा च मत्स्यपुराणे—'प्लाक्षं द्वारं भवेत् पूर्वं याम्यमौडुम्बरं भवेत् । पश्चादश्वत्थघटितं नैयग्रोधं तथोत्तरम् ॥' इति । त्रिगुणीकृतेन सूत्रेण आढ्यया युक्तया अभितो वेष्टितम्, सर्वतो निबद्धकुशजातेन त्रिगुणितसूत्रेण परिवृतमित्यर्थः ; केचिच्च त्रिसूत्र्या कुशमयरज्जोपवेष्टितमित्याहुः ॥३६॥

तत्त्वसागर में उक्त है—सद्गुरु का सङ्ग एकबार मात्र प्राप्त होने से उनके आदेश ही दीक्षा ग्रहण का प्रशस्त काल है । ग्राम, अरण्य, क्षेत्र, दिन, निशान्त, प्रभृति समय में समुपस्थित सद्गुरु के समीप से दीक्षा ग्रहण करे । श्रीसद्गुरु की इच्छा से समागत होने पर तीर्थ, व्रत, होम, स्नान, जप क्रिया प्रभृति की आवश्यकता दीक्षानुष्ठान में नहीं है । अर्थात् सद्गुरु के दर्शन मात्र से ही उनको आज्ञानुसार दीक्षा ग्रहण विधेय है ॥३१-३३॥

अथ मण्डपनिर्माणविधिः

क्रियावती (कलात्मा) वर्णमयी, वेधमयी अर्थात् क्रियामयी, वर्णमयी, कलात्मा, वेधमयी भेद से दीक्षा चार प्रकार हैं । यहाँ पर क्रियावती दीक्षा का वर्णन संक्षेप से करते हैं । भूमि संस्कार पूर्वक उसमें वास्तुदेवता की पूजा करके मनोहर वेदीविशिष्ट सप्त हस्त परिमित मण्डप का निर्माण करे । मण्डप में अष्ट ध्वज, चतुर्द्वार, प्लक्षादि क्षीरयुक्त वृक्ष के चार वहिर्द्वार एवं त्रिगुणीकृत सूत्रयुक्त अक्षमाला के द्वारा वेष्टित होगा ॥३४-३६॥

अथ कुण्डनिर्माणविधिः

तस्मिंश्च दिशि कौवेर्य्यां चतुष्कोणं त्रिमेखलम् ।
कुण्डं कुर्य्याच्चतुर्विंशत्यङ्गुलिप्रमितं बुधः ॥३७॥
खातं त्रिमेखलोच्छ्रायसहितं तावदाचरेत् ।
तस्मात् खाताद्बहिः कुर्य्यात् कण्ठमेकाङ्गुलं ध्रुवम् ॥३८॥
तत्राद्यमेखलोच्छ्रायविस्तारौ चतुरङ्गुलौ ।
द्व्यङ्गुलौ तौ द्वितीयायास्तृतीयाया युगाङ्गुलौ ॥३९॥
योनिश्च पश्चिमे भागे मेखलात्रितयोपरि ।
षड़ङ्गुलाश्च विस्तारे दैर्घ्ये च द्वादशाङ्गुलाम् ॥४०॥

तस्मिन् मण्डपे, तिस्रो मेखलाः खाताद्बहिरुपर्य्युपरि यथाविधि निर्माय्यमाणा वप्रा यस्मिन् तत् ॥३७॥

तावच्चतुर्विंशत्यङ्गुलिपरिमितं खातञ्च तिसृणां मेखलानामुच्छ्रायो नवाङ्गुलपरिमितस्तेन सहितमेव कुर्य्यात्, न तु भूम्यन्तरे च त.वत् सर्वं खातं खनेदित्यर्थः । एवञ्च मेखलात्रयादधः पञ्चदशाङ्गुलानि खनेत्, तेन च मेखलात्रयोच्छ्रायेण च मिलित्वा चतुर्विंशत्यङ्गुलगर्त्तसम्पत्त्या यथोक्तं कुण्डं सिध्यतीति ज्ञेयम् । केचित्तु मन्यन्ते—भूम्यन्तरे चतुर्विंशत्यङ्गुलिपरिमितं खातं कुर्य्यात, तस्मादुपरि मेखलात्रयं पृथगेवेति, यत् खातं मेखलात्रयाधोभूम्यन्तः कृतमस्ति तस्मात् ; ध्रुवमवश्यमेव ॥३८॥

तत्र कुण्डे, आद्यायाः प्रथमाया मेखलाया उच्छ्राय उच्चता विस्तारः, द्वितीयमेखलायास्तु तौ उच्छ्रायविस्तारौ, युगाङ्गुलौ द्व्यङ्गुलौ ; एवमासामुच्छ्रायो नवाङ्गुलपरिमितः सिद्धः ॥३९॥

योनिश्च कुण्डस्य पश्चिमभागे कुर्य्यादिति द्वाभ्यामन्वयः ; गजस्य हस्तिनोऽधरस्य ओष्ठस्येवाकृतिः, अग्रे सङ्कुचिताऽधोविस्तृता अश्वत्थदलसदृशी यस्यास्ताम् ; विधिवदिति—सा च प्राङ्मुखी, तस्याः परितश्चैकाङ्गुला मेखला कार्य्या, कुण्डमध्ये च प्रविष्टं योन्यग्रमेकाङ्गुलं योनिमूले च गजकुम्भद्वयाकृति वृत्तद्वयमर्घ्यपात्रस्यैव कार्य्यमित्यर्थः । तथा च वशिष्ठसंहितायाम्— 'गृहस्यैशानभागे तु मण्डपं कारयेद्बुधः । षड्द्वादशाष्टभिर्हस्तैः षोड़शैर्वा समन्ततः ॥ चतुर्द्वारसमायुक्तं तोरणाद्यैरलङ्कृतम् । कुण्डं तन्मध्यभागे तु कारयेच्चतुरस्रकम् ॥ वितस्तिद्वयखातं यत् कुण्डं सचतुरङ्गुलम् । विप्राणां क्षत्रियाणां तदङ्गुलत्रयसंयुतम् ॥ वैश्यानां द्व्यङ्गुलाधिक्यं शूद्राणां हस्तमात्रकम् । प्रथमा मेखला तत्र द्वादशाङ्गुलविस्तृता ॥ चतुर्भिरङ्गुलैस्तस्याश्चोन्नतत्वं समन्ततः । तस्याश्चोपरि वप्रः स्याच्चतुरङ्गुलमुन्नतः ॥' वप्रो मेखला—अष्टाभिरङ्गुलैः सम्यग्विस्तीर्णस्तु समन्ततः । तस्योपरि पुनः कार्य्यो वप्रः सोऽपि तृतीयकः ॥ चतुरङ्गुलविस्तीर्णश्चोन्नतश्च तथाविधः । योनिश्च पश्चिमे भागे प्राङ्मुखा मध्यसंस्थिता ॥ षड़ङ्गुलैश्च विस्तीर्णा चायता

अथ कुण्डनिर्माणविधिः

मण्डप के उत्तर दिक् में चतुष्कोण मेखलात्रयविशिष्ट चतुर्विंशति अङ्गुलि परिमित कुण्ड निर्माण करे। मेखलात्रय की उच्चता के सहित—अर्थात् चतुर्विंशति अङ्गुलि प्रमाण कुण्ड निर्माण होगा। उक्त कुण्ड के वहिर्भाग में निश्चय एक अङ्गुलि परिमाण रेखा प्रस्तुत करे। उक्त कुण्ड में प्रथम मेखला की उच्चता विस्तृति चतुरङ्गुलि परिमाण में होगी। द्वितीय मेखला की उच्चता एवं विस्तृति अङ्गुलित्रय प्रमाण से होगी। तृतीय मेखला की उच्चता विस्तृति द्व्यङ्गुलि परिमाण में होगी। तीन मेखला के ऊपर में, पश्चिम दिक् में यथाविधि षड़ङ्गुलि विस्तीर्णा द्वादशाङ्गुलि दीर्घा, एकाङ्गुलि उच्च, मध्य भाग में छिद्र संयुक्ता, हस्ती के अधर सदृश चतुर्द्दिक में मेखला संयुक्ता योनि की कल्पना करे।

एकाङ्गुलां तथोच्छ्राये मध्ये छिद्रसमन्विताम् ।
गजाधराकृतिं कुर्य्याद्विधिवन्मेखलान्विताम् ॥४१॥
शतार्द्धहोमे कुण्डं स्यादूर्द्ध्वं बमुष्टिकरोऽमितम् ॥४२॥
शतहोमेऽरत्निमात्रं सहस्रे पाणिना मितम् ।
लक्षे चतुर्भिर्हस्तैश्च कोटौ तैरष्टभिर्मितम् ।
चतुरस्रं कुण्डखातं कुर्वीताधश्च तादृशम् ॥४३॥
होमस्त्वधिकसंख्याकः कुण्डे वै न्यूनसंख्यया ।
कृते कार्य्यो न च न्यूनसंख्याकः संख्ययाधिके ॥४४॥
यथाविध्येव कर्त्तव्यं कुण्डं यत्नेन धीमता । अन्यथा बहवो दोषा भवेयुर्बहुदुःखदाः ॥४५॥

तदुक्तं तान्त्रिकैः—
एवं लक्षणसंयुक्तं कुण्डमिष्टफलप्रदम् । अनेकदोषदं कुण्डं यत्र न्यूनाधिकं भवेत् ॥४६॥
तस्मात् सम्यक् परीक्ष्यैव कर्त्तव्यं शुभमिच्छता ।
हस्तमात्रं स्थण्डिलं वा संक्षिप्ते होमकर्मणि ॥४७॥

द्वादशाङ्गुलैः । पृष्ठोन्नता गजौऽष्ठेव सच्छिद्रा मध्यमोन्नता ॥ कण्ठोऽष्टयवमात्रः स्यात् कुण्ड च करमात्रके । कण्ठो यत्नेन कर्त्तव्यो भुक्तिमुक्तिफलेप्सुभिः । नाभिरप्यथवा कुण्डमेकमेखलकं भवेत् ॥' इति ॥४०-४१॥

अपरमपि किञ्चिद्विशेषं लिखति—शतार्द्धेति । सहस्रे होमानाम्, एवमग्रेऽपि ॥४२॥

तैः हस्तैः, तादृशमिति यावद्दैर्घ्ये विस्तारे च तावदधस्तादपि खातं कुर्यादित्यर्थः । तच्च मेखलोच्छ्राय-सहितमेव ज्ञेयमिति पूर्वं लिखितमेव ॥४३॥

तत्रैवापरमपि विशेषं लिखति—होमस्त्विति । न्यूनया होमसंख्यातोऽल्पया संख्यया कृते कुण्डे अधिका कुण्डसंख्यातो बहुला संख्या यस्य स कार्य्यः, न्यूनसंख्यया ह्यधिकसंख्यायामन्तर्भावात् । न च न्यूनसंख्याको होमोऽधिकसंख्याके कुण्डे कार्य्य इत्यर्थः । यदुक्तञ्चाभियुक्तैः—'न्यूनसंख्योदिते कुण्डेऽधिको होमो विधीयते । अनुक्तकुण्डो न्यूनस्तु नाधिके शस्यते क्वचित् ॥' इति ॥४४॥

यथोक्तविधिकुण्डनिर्माणे गुणं, तदुल्लङ्घने च दोषं लिखति—यथेति ।४५॥

शतार्द्ध होम हेतु कुण्ड बद्धमुष्टि हस्त परिमित होगा। शत होम हेतु कनिष्ठा अङ्गुलि के अग्र भाग पर्य्यन्त हस्त प्रमाण से कुण्ड होगा, सहस्र होम हेतु एक हस्त परिमित कुण्ड, लक्ष होम के निमित्त चतुर्हस्त प्रमाण, एवं कोटि होम स्थल में अष्ट हस्त परिमित कुण्ड निर्माण होगा। कुण्ड के दैर्घ्य एवं विस्तार के समान ही कुण्ड का अधोभाग होगा।

अपर विशेष विधान—होम संख्या से स्वल्प संख्या परिमित कुण्ड में कुण्ड संख्या से अधिक संख्यक होम कार्य्य निष्पन्न होता है। किन्तु होम संख्या से अधिक संख्या युक्त कुण्ड में कुण्ड संख्या से स्वल्प संख्यक होम नहीं किया जा सकता है ॥३७-४४॥

विचक्षण विज्ञ व्यक्ति के द्वारा ही विधिवत् यत्नपूर्वक होम कुण्ड निर्माण होना आवश्यक है, अन्यथा अत्यन्त दुःखद दोष समूह उपस्थित होते हैं। तान्त्रिकगण कहते हैं—लक्षणान्वित कुण्ड ही अभीप्सित फलप्रद है। जहाँ पर कुण्ड मनमुखी रूप से अर्थात् अशास्त्रीय रीति से निर्मित है, वह कुण्ड अत्यन्त दोषावह है। तज्जन्य हितेच्छु व्यक्ति उत्तम रूप से परीक्षा करके ही कुण्ड निर्माण करे। संक्षिप्त होम

हारीतेनापि—

विस्ताराधिक्यहीनत्वे अल्पायुर्जायते ध्रुवम् ।
खाताधिक्ये भवेद्रोगी हीने तु धनसंक्षयः ।
कुण्डे वक्रे च सन्तापो मरणं छिन्नमेखले ॥४८॥
शोकस्तु मेखलोनत्वे तदाधिक्ये पशुक्षयः । भार्य्यानाशो योनिहीने कण्ठहीने शुभक्षयः ॥४९॥

अङ्गुलिपरिमाणं चोक्तम्—

तिर्य्यग्यवोदराण्यष्टावूर्द्ध्वा वा व्रीहयस्त्रयः ।
ज्ञेयमङ्गुलिमानं तु मध्यमा मध्यपर्वणा ॥५०॥ इति ।

मेखलाया ऊनत्वे न्यूनतायां सत्याम्, तस्या मेखलाया आधिक्ये ॥४९॥

कुण्डनिर्माणादावपेक्ष्यमङ्गुलमानञ्च लिखति—मध्यमाया अङ्गुले मध्यं पर्व वा ; अन्यत्राप्युक्तम्—'आहुर्मन्त्रविदोऽङ्गुलं वसुयवैस्तिर्य्यक् च संस्थापितै,-स्तालं द्वादशभिश्च तैः परिमितं हस्तो द्वितालः पुनः । तौ द्वौ किष्कुरिमौ धनुश्च धनुषां क्रोशः सहस्रं भवे,-त्तौ गव्यूतिमुदाहरन्ति मुनयस्ताभिस्त्रिभिर्योजनम् ॥' इति । वसुयवैः अष्टभिर्यवैः, तैरङ्गुलैः, इमौ द्वौ किष्कुः, स्रुक्स्रुवयोर्होमार्थकपात्रयोः, प्रक्रिया निर्माणादिविधिः, तत्प्रभृतिकोऽत्र कुण्डादिनिर्माणप्रकरणे योज्यो विशेषोऽपेक्षितः स्यात्, स वशिष्ठसंहितादिग्रन्थाद्विज्ञातव्योऽभिज्ञैः । आदिशब्देन अङ्कुरारोपणविध्यादिः, अत्र ग्रन्थे च आधिक्यभीत्या ग्रन्थविस्तारभयेन स न लिख्यते । स्रुक्स्रुवलक्षणं च वशिष्ठसंहितायामुक्तम्—'स्रुवं बाहुप्रमाणेन होमार्थं विदधीत वै । चतुरस्रं विधायादौ सप्तरञ्चाङ्गुलक्रमात् ॥ तृतीयांशेन गर्त्तं स्यात्तदन्तर्वृत्तशोभितम् । खात्वा समं तिर्य्यगूर्द्ध्वं तदधः शोधयेद्बहिः ॥ चतुर्थांशं चाङ्गुलस्य शेषाच्चार्द्धं तदन्ततः । रम्याञ्च मेखलां खाते शिष्टेनार्द्धेन कारयेत् ॥ कुर्य्यात् त्रिभागविस्तारमङ्गुष्ठेन समायुतम् । सार्द्धमङ्गुष्ठकं च स्यात्तदग्रे तु मुखं भवेत् ॥ चतुरङ्गुलविस्तारं पञ्चाङ्गुलमथापि वा । त्रिद्वयाङ्गुलकं तस्य मध्याग्तस्तु सुशोभनम् ॥ सुषिरं कण्ठदेशे स्याद्विशेद्यावत् कनीयसी । शेषं दण्डं तु कर्त्तव्यं यथारुचि विचित्रितम् ॥ चतुष्तोणसमायुक्तो हस्तमात्रः स्रुवो भवेत् । चतुष्कं शोभनं वृत्ति द्वयङ्गुलं विदधीत वै ॥ यथाल्पपङ्के गोः पादं रुचिरं दृश्यते तथा । पलाशपत्रे निश्छिद्रे रुचिरे स्रुक्स्रुवौ मुने । विदध्याद्वाश्वत्थपत्रे संक्षिप्ते होमकर्मणि ॥' इति । शारदातिलके च—'प्रकल्पयेत् स्रुचं विद्वान् वक्ष्यमाणेन वर्त्मना । श्रीपर्णीशिंशपाक्षीरशाखिष्वेकतमं बुधः ॥ गृहीत्वा विभजेद्धस्तमात्रं षट्त्रिंशता पुनः । विंशत्यंशैर्भवेत् कुण्डो वेदी तैरष्टभिर्भवेत् ॥ एकांशेन मितः कण्ठः सप्तभागमितं मुखम् । वेदीत्र्यंशेन विस्तारः कण्ठस्य परिकीर्त्तितः ॥ अग्रं कण्ठसमानं स्यान्मुखे मार्गं प्रकल्पयेत् । कनिष्ठाङ्गुलिमानेन सर्पिषो निर्गमाय च ॥ वेदीमध्ये विधातव्या भागेनैकेन कर्णिका । विदधीत वहिस्तस्या

कर्मस्थल में एक हस्त प्रमाण स्थण्डिल (बालुका द्वारा निर्मित होम कार्य्य निष्पन्न करने का अग्निस्थान) करना आवश्यक है ॥४५-४७॥

हारीत ने भी कहा है,—कुण्ड का अधिक विस्तार से निश्चय ही अल्पायुः होती है। कुण्ड गर्त्त के आधिक्य से रोगी, एवं न्यूनता से धनक्षय होता है। कुण्ड तिर्य्यग् होने से सन्ताप, छिन्न मेखल होने से मृत्यु, न्यून मेखल होने से शोक, मेखला का आधिक्य से पशुनाश, योनिहीन होने से पत्नी नाश, एवं कण्ठ शून्य होने से अमङ्गल होता है ॥४८-४९॥

अङ्गुलि परिमाण को कहते हैं—अष्ट यवोदर प्रस्थ में अथवा त्रियव ऊर्द्ध में हो तब उसे अङ्गुलि मान जानना होगा। किन्तु उक्त अङ्गुलिमान मध्यमा के मध्यपर्व प्रमाण के तुल्य है। कुण्ड निर्माण प्रकरण

विशेषोऽपेक्षितोऽन्यत्र स्रुक्स्रुवप्रक्रियादिकः ।
ज्ञेयो ग्रन्थान्तरात् सोऽत्राधिक्यभीत्या न लिख्यते ॥५१॥

अथ दीक्षामण्डलविधिः

अथोक्षिते पञ्चगव्यैर्गन्धाम्भोभिश्च मण्डपे । यथाविधि लिखेद्दीक्षामण्डलं वेदिकोपरि ॥५२॥
तन्मध्ये चाष्टपत्राब्जं वहिर्वृत्तत्रयं ततः । ततो राशींस्ततः पीठं चतुष्पादसमन्वितम् ॥५३॥
तस्माद्बहिश्चतुर्दिक्षु लिखेद्वीथीचतुष्टयम् । शोभापशोभाकोणाढ्यं ततो द्वारचतुष्टयम् ॥५४॥

एकांशे नाभितोऽवटः ॥ तस्य खातं त्रिभिर्भागैर्वृत्तमर्द्धांशतो वहिः । अंशेनैकेन परितो दलानि परिकल्पयेत् ॥ मेखलामुखवेद्योः स्यात् परितोर्द्धांशमानतः । दण्डमूलाग्रयोः कुण्डी गुणवेदांशकैः क्रमात् ॥ कुण्डी यमयुगांशे स्याद्दण्डस्यानाह ईरितः । षड्भिरंशैः पृष्ठभागो वेद्याः कूर्माकृतिर्भवेत् ॥ हंसस्य वा हस्तिनो वा पत्रिणो वा मुखं लिखेत् । मुखस्य पृष्ठभागे स्यात् सुप्रोक्षं लक्षणं स्रुचः ॥ स्रुचश्चतुर्विंशतिभिर्भागैर्वा रचयेत् स्रुवम् । द्वाविंशत्या दण्डमानमंशैरेतस्य कीर्त्तितम् ॥ चतुर्विंशतिरानाहः कर्षाज्यग्राहि तच्छिरः । अंशद्वयेन निखनेत् पङ्के मृगपदाकृतिम् । दण्डमूलाग्रयोः कुण्डी भवेत् कङ्कणभूषिता ॥' इति ॥५०-५१॥

अधुना मण्डलविधिं दर्शयति—अथेति त्रिभिः । उक्षिते प्रोक्षिते पञ्चगव्यैः सुगन्धिभिर्जलैश्च, यथाविधीति सर्वत्राग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयम्; वेदिकाया मण्डपान्तर्विरचिताया वेद्या उपरि ॥५२॥

तस्य मण्डलस्य मध्येऽष्टपत्रं पद्मं लिखेदिति परेण पूर्वेण वान्वयः । ततस्तस्मादब्जाद्बहिर्वृत्तत्रयम्, ततो वृत्तत्रयाद्बहिः राशीन् मेषादीन् द्वादश, तेभ्यो वहिः पादचतुष्टययुक्तं पीठम् आसनम्, तस्माद्बहिश्चतस्रो वीथ्यः, तस्माद्बहिश्चत्वारि द्वाराणि, तदुभयतः सर्वत्र शोभाम्, तत्पार्श्वतश्चोपशोभाम्, तत्प्रान्तेषु चत्वारि कोणानीत्यर्थः । तत्रायं सन्निवेशः—आदौ सप्तदशोर्द्धवरेखा लिखेत् पश्चात्तदुपरि समभागेन तावतीस्तिर्य्यग्रेखा लिखेत्; एवं षट्पञ्चाशदधिकं कोष्ठानां शतद्वयं भवति, तेषु च मध्ये षोड़श कोष्ठानि मार्जयित्वा तत्र पद्मं तद्बहिर्वृत्तत्रयं चाङ्कयेत्; तद्बहिः पंक्तिद्वयस्थान्यष्टाधिकचत्वारिंशत् मार्जयित्वा तत्र द्वादश राशीन् कल्पयेत्; तत्र राशिसन्निवेशार्थं पद्मदलाग्रवर्त्तिवृत्तत्रयस्य पीठसम्बन्धिवाह्यपङ्क्तेश्च मध्ये पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तररेखाचतुष्टयमङ्कयेत्; तद्बहिरेकपंक्तिस्थानि षट्त्रिंशत् मार्जयित्वा पीठं तत्रैव कोणेषु तत्र पादचतुष्कञ्च कल्पयेत्; तद्बहिरेकपंक्तिस्थानि चतुश्चत्वारिंशत् मार्जयित्वा चतुर्दिक्षु चतुर्वीथीः प्रकल्पयेत्; तद्बहिश्च पंक्तिद्वयस्थैर्द्वादशाधिकशतकोष्ठैश्चतुर्द्दिक्षु चत्वारि द्वाराणि, तदुभयतः शोभां, तदनन्तरमुपशोभां तदनन्तरञ्च चतुष्कोणानीति । तत्राप्ययं प्रकारः वाह्यपंक्तिस्थमध्यकोष्ठचतुष्टयं तदभ्यन्तरपंक्तिस्थमध्यकोष्ठद्वयं चेत्येवं कोष्ठषट्केनैकं द्वारं भवति । द्वारस्य एकस्मिन् भागे तथा पंक्तिस्थमेकं कोष्ठं तदभ्यन्तरपंक्तिस्थकोष्ठत्रयञ्च चेत्येवं कोष्ठचतुष्टयेनैका शोभा भवति । तथा वाह्यपंक्तिस्थं कोष्ठत्रयं तदभ्यन्तरपंक्तिस्थमेकञ्चेत्येवं कोष्ठचतुष्टयेनैकोपशोभा भवति ।

में स्रुक् स्रुव प्रक्रिया का एवं तत्संलग्न अन्यान्य विषयों का वर्णन नहीं हुआ, ग्रन्थान्तर में एवं एतत्संलग्न टीका में विशेष विवरण है ॥५०-५१॥

अथ दीक्षामण्डलविधिः

अनन्तर पञ्चगव्य एवं गन्ध जल द्वारा प्रोक्षित मण्डपस्थ वेदी के उपरिभाग में यथाविधि दीक्षा मण्डल का अङ्कन करें । पश्चात् वेदी के मध्य में अष्टदलयुक्त पद्म अङ्कन करे, उक्त पद्म के वहिर्भाग में वृत्तत्रय, वृत्तत्रय के वहिर्देश में मेषादि द्वादश राशि, उसके वहिर्देश में चतुष्पाद युक्त आसन, आसन के चतुर्दिक में चतुष्पथ, एवं उसके बाद शोभा, उपशोभा एवं कोणविशिष्ट चतुर्द्वार अङ्कन करे, अर्थात् द्वार चतुष्टय के प्रत्येक द्वार के उभय पार्श्व में शोभा, उपशोभा एवं चतुष्कोण अङ्कन होता है ॥५२-५४॥

अथ दीक्षाङ्गपूजा

प्रातःकृत्यं गुरुः कृत्वा यथास्थानं न्यसेत्ततः । शङ्खं पूजोपचारांश्च पुरोलेख्यप्रकारतः ॥५५॥

तत्रादौ कुम्भस्थापनविधिः

गुरून् गणेशं चाभ्यर्च्य पीठपूजां विधाय च ।
पद्ममध्ये न्यसेत् शालींस्तण्डुलांश्च कुशांस्तथा ॥५६॥
वह्नेर्दशकला यादिवर्णाद्याश्च कुशोपरि ।
न्यस्याभ्यर्च्य जपंस्तारं न्यसेत् कुम्भं यथोदितम् ॥५७॥

कोष्ठचतुष्केण कोणमिति । एवमपरस्मिन्नपि भागे शोभोपशोभा कोणानि ज्ञेयानि । एवमेवान्यदिक्त्रयेऽपीति मिलित्वा द्वादशाधिककोष्ठशतं भवतीति दिक् ॥५३-५४॥

अधुना कलसस्थापनविधिं दर्शयति—प्रातःकृत्यमित्यादिना भोज्यार्पणावधीत्यन्तेन । प्रातःकृत्यं प्रातःस्नानमारभ्यात्मार्पणान्तं भगवदर्चनं यावन्नित्यकर्म कृत्वा समाप्य; कथम्? पुरोऽग्रे लेख्यप्रकारेण, तत्प्रकारश्चाग्रे मुख्यपूजाप्रसङ्गे व्यक्तो भावीत्यर्थः । एवमन्यत्राप्यग्रे सर्वत्र बोद्धव्यम् । यथास्थानमिति; प्राङ्मुखो मण्डलस्याग्रे स्वासनोपविष्टो दीक्षासङ्कल्पं विधाय मातृकादिन्यासान् कृत्वा स्व-वामाग्रे शङ्खं पूजोपचारांश्चार्घ्यादिद्रव्याणि स्वस्व-पात्रे परिपूर्य यथोत्तरं स्थापयित्वा दक्षिणभागे च पुष्पादीनि न्यसेदित्यादिकं ज्ञेयम् । एतच्चाग्रे मुख्यपूजाप्रकरणे प्रपञ्चच लेख्यमेव ॥५५॥

गुरून् निजगुरुपरमगुर्वादीन् श्रीनारदादींश्चान्यानपि पूर्वसिद्धान् भागवतान् मण्डलान्तःपीठस्योत्तरे वायव्यकोणादैशानकोणपर्यन्तमभ्यर्च्य, चतुर्थीनमोऽन्तैस्तत्तन्नामभिर्गन्धादिना संपूज्य प्रणाममुद्रां प्रदर्श्यानुज्ञामादाय गणेशञ्च तद्दक्षिणभागे वीथ्यां यथोक्तक्रममभ्यर्च्य निर्विघ्नतां प्रार्थ्य मण्डलमध्यभागे पीटस्य पूजां च लेख्यविधिनैव कृत्वा पद्मस्य मण्डलान्तर्लिखितस्य मध्ये कर्णिकोपरि शालीन् धान्यानि एकाढ़कपरिमितानि, तथा तदष्टमांशपरिमितशुक्लतण्डुलान्यपि न्यस्य तदुपरि दर्भान् विन्यसेदित्येवं ग्रन्थान्तरानुसारेण विज्ञेयम् । तत्र च कूर्च्चाक्षतयुतान् दर्भानिति ज्ञेयम् । कूर्च्चोऽत्र कुशत्रयघटितब्रह्मग्रन्थिः, कुशमुष्टिरिति केचिदाहुः ॥५६॥

कुशानामुपरि च वह्नेर्दशकलाः प्रादक्षिण्येन न्यस्य गन्धपुष्पादिना ता एव पूजयित्वा तारं प्रणवं जपन् सन् तद्दर्भोपर्य्येव कलसं स्थापयेत् । कथम्भूताः? यकार आदिर्येषां ते वर्णा आद्या आदिस्थिता यासां ताः यकारादिक्षकारान्तदशाक्षरशिरस्का इत्यर्थः । यथोदितं शास्त्रविद्भिरुक्तमनतिक्रम्य, अनेन नवं लोहितमव्रणं त्रिगुणीकृत्य कन्याकर्त्तितशोभनकार्पससूत्रैरस्त्रमन्त्रेण त्रिर्वेष्टितमगुरुधूपामोदितमित्यादिकं बोद्धव्यम् । यथोदितमित्येतदग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयम् ॥५७॥

अथ दीक्षाङ्गपूजा—

श्रीगुरुदेव प्रातः कृत्य सम्पन्न करके पूर्वोल्लिखित विधान के अनुसार यथास्थान में शङ्ख, पुष्पोपचार समूह स्थापन करेंगे ॥५५॥

तत्रादौ कुम्भस्थापनविधिः

गुरुवृन्द की एवं गणेश की पूजा करके पीठपूजा सम्पादन पूर्बक पद्म के मध्य में धान्य, आतप तण्डुल, कुश समूह स्थापन करें ॥५६॥

अनन्तर जिस वह्नि के आदि में य-कारादि से आरम्भ कर क्ष-कारान्त वर्णसमूह हैं । अग्नि की उक्त दश कला का विन्यास कुश के ऊपर करके गन्धादि के द्वारा पूजन करें, अनन्तर प्रणव जप करते करते उक्त कुशसमूह के ऊपर यथाविधान से कलस स्थापन करें ॥५७॥

ताश्चोक्ताः—

धूम्रार्चिरुष्मा ज्वलनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी ।
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे अपि ॥५८॥ इति ।
काद्यैष्ठान्तैर्युता भाद्यैर्डान्तैश्चार्णैर्विलोमगैः ।
सूर्य्यस्य च कलाः कुम्भे द्वादश न्यस्य पूजयेत् ॥५९॥

ताश्चोक्ताः—

तपनी तापनी धूम्रा भ्रामरी ज्वालिनी रुचिः ।
सुषुम्ना भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ॥६०॥ इति ।

कुम्भान्तर्निक्षिपेन्मूलमन्त्रेण कुसुमं सितम् । साक्षतं ससितं स्वर्णं सरत्नं च कुशांस्तथा ॥६१॥
कुम्भञ्च विधिना तीर्थाम्बुना शुद्धेन पूरयेत् । जले चेन्दुकला न्यस्य सस्वराः षोड़शार्चयेत् ॥६२॥

हव्यवहा कव्यवहा चेति द्वे; प्रयोगश्चायं—धूमार्च्चिषे नम इत्यादि । केचिच्च दशदलकमलं सञ्चिन्त्य तत्कर्णिकायां मं वह्निमण्डलाय नमः इति न्यस्य तद्दशदलेषु दश वह्निकला न्यसेदित्याहुः । एवमेव हृदि द्वादशदलं भ्रूमध्ये (कण्ठमध्ये) च षोड़शदलं कमलं संचिन्त्य अं अर्कमण्डलाय नमः, उं सोममण्डलाय नमः— इति क्रमेण तत्तत्कर्णिकयोर्न्यस्य तत्तद्दलेष्वेव सूर्य्यसोमकला न्यसेदित्याहुः । अन्ये च आसामष्टत्रिंशतो वह्न्यादिकलानामन्यासाञ्च पञ्चाशतः प्रणवकलानां शुद्धजलपूर्णे शङ्ख एव न्यासमाहुः ॥५८॥

अधुना तस्मिन् कुण्डे सूर्य्यकलानां न्यासादिकं लिखति—काद्यैरिति; ककाराद्यैठकारान्तैरर्णैर्वर्णैर्युता द्वादशापि कलाः, चकारः समुच्चये, भकाराद्यैर्डकारान्तैर्वर्णैरपि युताः । ननु भकारादीनां द्वादशवर्णानां डकारान्तता कथं स्यात् ? क्रमेण क्षकारान्तताप्राप्तेस्तत्राह—विलोमगैः व्युत्क्रमप्राप्तैः । अयमर्थः—अनुलोमपठितककाराद्येकैकमक्षरं प्रतिलोमपठितभकाराद्येकैकाक्षरेण सहितमादौ सूर्य्यकलासु संयोज्य न्यासादिकं कुर्य्यादिति । प्रयोगश्च कं भं तपन्यै नम इत्यादि ॥५९॥

ततश्चोक्तप्रकारेणाधाररूपमग्निं कुम्भरूपं सूर्य्यञ्च विचिन्त्य कुम्भस्य तस्य अन्तर्मध्ये शुक्लकुसुमादिकं क्षिपेत्, ससितं सशर्करम् । तदुक्तम्—'प्रोत्तोलयित्वा तन्मध्ये शुक्लपुष्पं सितायुतम् । स्वर्णं रत्नञ्च कूर्चञ्च मूलेनैव विनिक्षिपेत् ॥' इति । यच्च मूलग्रन्थार्थादधिकं किञ्चिल्लिख्यते, तत् पूर्वगतस्य यथोदितमित्यस्यानुवर्त्तनादिति ज्ञेयम् ॥६१॥

विधिनेति—पीठकुम्भयोरैक्यं विचिन्त्य विलोमपठितैः क्षकाराद्यैरकारान्तैर्मातृकाक्षरैर्वारत्रयं मूलमन्त्रजपेन कुम्भं तं केवलविमलतीर्थोदकेन पूरयेत् । अत्र च शक्तौ कर्पुरादिजलैः गव्यदुग्धैः पञ्चगव्यैः सर्वौषधिजलैः

अग्नि की दशकला । धूम्रार्चि, उष्मा, ज्वलनी, ज्वालिनी, विष्फुलिङ्गिनी, सुश्री, सुरूपा, कपिला, हव्यहवा एवं कव्यहवा हैं ॥५८॥

अनुलोम क्रम से कादि ठान्त, एवं विलोम क्रम से भादि डान्त वर्णसमूह के सहित समन्वय पूर्वक सूर्य्य की द्वादश कला का विन्यास उक्त कुम्भ में करके अर्चन करें ॥५९॥

सूर्य्य की द्वादश कला । तपनी, तापनी, धूम्रा, भ्रामरी, ज्वालिनी, रुचि, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी, एवं क्षमा ॥६०॥

उक्त रीति से आधाररूपी एवं कुम्भ रूपी सूर्य्य की चिन्ता करके मन्त्रपाठ के सहित कुम्भ के मध्य में साक्षत सशर्कर, शुभ्र पुष्प एवं सरत्न सुवर्ण एवं कुश निक्षेप करें ॥६१॥

अनन्तर यथाविधि पवित्र तीर्थ जल के द्वारा कुम्भ को पूर्ण करें, तत्पश्चात् उक्त कुम्भ स्थित जल में

ताश्चोक्ताः—

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः । शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा।
पूर्णा पूर्णामृता च ॥६३॥ इति ।

अथ शङ्खस्थापनविधिः

शुद्धाम्बुपूरिते शङ्खे क्षिप्त्वा गन्धाष्टकं कलाः ।
आवाह्य सर्वास्ताः प्राणप्रतिष्ठामाचरेत् क्रमात् ॥६४॥

गन्धाष्टकं चोक्तम्—

उशीरं कुङ्कुमं कुष्ठं बालकं चागुरुर्मुरा ।
जटामांसी चन्दनञ्चेतीष्टं गन्धाष्टकं हरेः ॥६५॥ इति ।

केश्चिच्चन्दनकर्पूरागुरुकुङ्कुमरोचनाः । कक्कोलकपिमांस्यश्च गन्धाष्टकमिदं मतम् ॥६६॥
तथैवाकारजा वर्णैः कादिभिर्दशभिर्दश । उकारजाष्टकाराद्यैः पकाराद्यैर्मकारजाः ॥६७॥
चतस्रो बिन्दुजाः षाद्यैश्चतुर्भिर्नादजाः कलाः। स्वरैः षोड़शभिर्युक्ता न्यसेच्छङ्खे च षोड़श ॥६८॥

क्षीरद्रुमादिक्वाथजलैरन्यैर्वा महौषधितोयैः पूरयेदिति । स्वरा अकाराद्याश्चतुर्दश, साहचर्य्याद्विसर्गानुस्वारौ चेति षोड़श, तत्सहिता इन्दोः कलाः षोड़श कुम्भोदकैर्विधिना क्रमेण न्यस्य पुष्पादिना पूजयेत् ॥६२॥

ज्योत्स्ना चैका श्रीश्चैका, पूर्णा चैका पूर्णामृता चैका इति द्वे प्रयोगश्च—अं अमृतायै नम इत्यादि ॥६३॥

अथ शङ्खपूरणविधिं दर्शयति—शुद्धेति । पूर्वश्लोकस्थविधिनेत्यनुवर्त्तत एव । अतो हि मूलमन्त्रेण शुद्धाम्बुना परिपूरिते, शक्तौ च पूर्ववत् कर्पूरजलादिना पूरित इति ज्ञेयम् । ताः पूर्वोक्ताः, वह्न्यर्केन्दुकलाः सर्वाः शङ्ख एव क्रमात् पृथक् पृथगावाह्य तासां प्राणप्रतिष्ठां क्रमेणैव कुर्य्यात् । तत्तत्प्राणप्रतिष्ठाप्रकारश्च श्रीपुरुषोत्तमवनविरचितक्रमदीपिकाटीकादिग्रन्थान्तरतो विज्ञेयः ॥६४॥

इत्येतत् गन्धाष्टकं हरेः श्रीकृष्णस्य इष्टं प्रियम् ॥६५॥

कपिः शिह्लकः ॥६६॥

अथ पञ्चाशत् प्रणवकलानां न्यासं लिखति—तथैवेति । अकारजा दशकलाः ककारादिभिर्दशभिर्वर्णैर्युक्ता-

---

षोड़श स्वर संयुक्त षोड़श संख्यक इन्दु कला का विन्यास पूर्वक पूजन करें ॥६२॥

इन्दु की षोड़श कला,—अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अङ्गदा, पूर्णा एवं पूर्णामृता हैं ॥६३॥

अथ शङ्खस्थापनविधिः

शङ्ख स्थापन विधि । विशुद्ध जलपूर्ण शङ्ख के मध्य में गन्धाष्टक क्षेपण पूर्वक उक्त शङ्ख जल में चन्द्र के कलासमूह का आह्वान करके क्रमानुसार जनकी प्राण प्रतिष्ठा करें । पुरुषोत्तमवन विरचित क्रमदीपिका टीका में प्राण प्रतिष्ठा विधि द्रष्टव्य ॥६४॥

गन्धाष्टक—उशीर, कुङ्कुम, कुष्ठ, बालक, अगुरु, मुरा, जटामांसी एवं चन्दन हैं । श्रीहरि के यह ही गन्धाष्टक हैं ॥६५॥

कतिपय व्यक्ति के मत में—चन्दन, कुङ्कुम, कर्पूर, अगुरु, रोचना, कक्कोल, कपि (शिहलक) एवं जटामांसी गन्धाष्टक प्रिय हैं ॥६६॥

क-कारादि दश वर्ण के सहित अकारोत्पन्न दशकला, ट-कारादि दश वर्ण के सहित उ-कारोत्पन्न दश कला, प-कारादि दश वर्ण के सहित म-कारोत्पन्न दशकला, य-कारादि वर्ण चतुष्टय के सहित बिन्दुजात

ताश्चोक्ताः—

सृष्टिर्ऋद्धिः स्मृतिर्मेधा कान्तिर्लक्ष्मीर्धृतिः स्थिरा ।
स्थितिः सिद्धिरकारोत्थाः कला दश समीरिताः ॥६९॥
जरा च पालिनी शान्तिरैश्वरी रतिकामिके ।
वरदा ह्लादिनी प्रीतिर्दीर्घा चोकारजाः कलाः ॥७०॥
तीक्ष्णा रौद्रा भया निद्रा तन्द्री क्षुत् क्रोधनी क्रिया ।
उत्कारी चैव मृत्युश्च मकाराक्षरजाः कलाः ।
बिन्दोरपि चतस्रः स्युः पीता श्वेतारुणासिता ॥७१॥
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा ॥७२॥
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानाऽज्ञाना चाप्यायनी तथा ।
व्यापिनी व्योमरूपा च अनन्ता नादसम्भवाः ॥७३॥ इति ।
न्यासं कलानां सर्वासां कुर्य्यादेकैकशः क्रमात् ।
नामोच्चार्य्य चतुर्थ्यन्तं तत्तद्वर्णैर्नमोऽन्तकम् ॥७४॥

स्तस्मिन्नेव शङ्के न्यसेदिति द्वाभ्यामन्वयः । दशेति दशभिरिति चानुवर्त्तत एव, अत उकारजा दश टकाराद्यै-र्दशभिर्वर्णैर्युक्ताः; दशेति—मकारजाश्च दश पकाराद्यैर्दशभिर्युक्ता इति ज्ञेयम् । पकाराद्यैश्चतुर्भिर्वर्णैर्युक्ताश्चतस्रो बिन्दुजाः कला न्यसेत् । नादजाः षोड़श च कलाः षोड़शभिः स्वरैः अकारादिभिर्युक्ता न्यसेत् ॥६७-६८॥

निवृत्त्यादयो नादजाः षोड़श, क्वचिच्च सूक्ष्मसूक्ष्मेति पाठः । ततश्च सूक्ष्मा एका, सूक्ष्मामृता चैका पूर्णा पूर्णामृता चेतिवत् । केषाञ्चिन्मते च अनन्त इति बहुवचनान्तं नादसम्भवा इत्यस्य विशेषणम्, तथा च सारदातिलके—'अनन्ताः स्वरयुताः' इति । ततश्च सूक्ष्मा एका, असूक्ष्मा चैका, अमृता चैकेति तिस्रः ॥७२-७३॥

न्यासप्रकारं लिखति—न्यासमिति । तैस्तैः प्रागुद्दिष्टैर्वर्णैः सह, प्रयोगश्च—'कं सृष्टयै नमः' इत्यादि । केचिच्च प्रणवाद्यमेव सर्वं तत्तन्न्यासमाहुः, तथान्ये च अकारकलानां पादद्वयसन्ध्यग्रेषु, उकारकलानाञ्च करद्वय-सन्ध्यग्रेषु, मकारकलानाञ्च गुदाद्यङ्गेषु दशसु, बिन्दुकलानाञ्च कण्ठचिबुकभ्रूद्वयेषु, नादकलानाञ्च तत्तन्न्यास-

---

कला चतुष्टय एवं षोड़श संख्यक स्वरवर्ण के सहित नाद जात षोड़श कला के सहित उक्त शङ्ख स्थापन करें । उक्त कलासमूह इस प्रकार हैं—सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, धृति, स्थिरा, स्थिति एवं सिद्धि—दश अकारोत्पन्न कला हैं । जरा, पालिनी, शान्ति, ऐश्वरी, रति, कामिका, वरदा, ह्लादिनी, प्रीति एवं दीर्घा—दश उकारोत्था कला हैं । तीक्ष्णा, रौद्रा, भया, निद्रा, तन्त्री, क्षुत्, क्रोधनी, क्रिया, उत्करी एवं मृत्यु—म-कारोत्था कला, पीता, श्वेता, अरुण, एवं असिता चार अनुस्वार जात कला हैं ॥६७-७१॥

निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका, सूक्ष्मा, असूक्ष्मा, अमृता, ज्ञाना, अज्ञाना, आप्यायनी, व्यापिनी एवं व्योमरूपा कलासमूह स्वरयुक्त एवं चन्द्रबिन्दु से उत्पन्न हैं ॥७२-७३॥

उक्त वर्णों के सहित 'चतुर्थ्यन्त' नमोच्चारण पूर्वक अन्त में 'नमः' शब्द योग कर क्रमशः उक्त कला का स्थापन करें ॥७४॥

पूर्वं प्राणप्रतिष्ठायास्तासामावाहनात् परम्। ऋचः पञ्च यथास्थानं पठेत्ताश्चार्चयेत् कलाः ॥७५॥
हंसः शुचिषदित्यादौ प्रतद्विष्णुस्ततः परम्। त्रियम्बकं तत्सवितुर्विष्णुर्योनिमिति क्रमात् ॥७६॥
तच्च शङ्खोदकं कुम्भे मूलमन्त्रेण निक्षिपेत्। पिदध्यात्तन्मुखं शक्रवल्लीचूतादिपल्लवैः ॥७७॥
शरावेणाथ पुष्पादियुक्तेनाच्छाद्य तत् पुनः। संवेष्ट्य वस्त्रयुग्मेन ततः कुम्भञ्च मण्डयेत् ॥७८॥

अथ कुम्भे श्रीभगवत्पूजाविधिः

तस्मिन्नावाह्य कलसे परं तेजो यथाविधि। सकलीकृत्य चाचार्य्यः पूजयेदासनादिभिः ॥७९॥

सकलीकरणं चोक्तम्—

देवताङ्गे षड़ङ्गानां न्यासः स्यात् सकलीकृतिः ॥८०॥

केचिच्चाहुः करन्यास-पीठन्यासौ विनाखिलैः। न्यासैस्तत्तेजसः साङ्गीकरणं सकलीकृतिः ॥८१॥

स्थानेषु प्रकारभेदेन न्यासमाहुः। तत्तत्प्रतिष्ठादिविधिश्च श्रीपुरुषोत्तमवनविरचितक्रमदीपिकाटीकादिग्रन्थतो विशेषेणावगन्तव्यः ॥७४॥

किञ्च, पूर्वमिति तासामकारजादिकलानां, यथास्थानमिति—शङ्खजलेऽकारप्रभवानां कलानामावाहनानन्तरं प्राणप्रतिष्ठायाश्च प्राक् हंसः शुचिषदित्यृचम्, उकारप्रभवाणाञ्च प्रतद्विष्णुरिति, मकारप्रभवाणाञ्च त्रियम्बकमिति, विष्णुप्रभवाणाञ्च तत्सवितुरिति, नादप्रभवाणाञ्च विष्णुर्योनिमिति, क्रमात् पठेदिति ज्ञेयम्; क्वचिच्च त्र्यम्बकमिति पाठः ॥७५-७६॥

तत् कलान्याससंस्कृतञ्च शङ्खस्थमुदकं कुम्भे प्राक् स्थापिते तस्मिन् अर्पयेत्, तस्य कुम्भस्य मुखं शक्रवल्ल्या इन्द्रवल्ल्या आम्रादिपल्लवैश्चाच्छादयेत्। आदिशब्दादश्वत्थादि ॥७७॥

तत् कुम्भमुखं पुष्पादिसहितेन शरावेण पुनरुपरि आच्छाद्य, आदिशब्देन फलतण्डुलादि, पुनश्च तन्मुखमेव वस्त्रद्वयेन वेष्टयित्वा मण्डयेत् पुष्पचन्दनादिना ॥७८॥

परं तेजः नराकृति परं ब्रह्म श्रीकृष्णम्, यथाविधीति मूलमन्त्रेण श्रीमूर्त्तिं सञ्चिन्त्य कराभ्यां पुष्पाञ्जलिमादाय प्रवहन्नासापुटेन हृदयाद्देवतेजः पुष्पाञ्जलावानीय कलसादिकल्पितमूर्त्तावावाहनं तन्मन्त्रेण कुर्य्यादित्यर्थः। आसनादिभिरुपचारैः, ते चाग्रे नित्यपूजाप्रसङ्गे विस्तार्य्य लेख्याः ॥७९॥

उक्त समूह के आवाहन के अनन्तर एवं प्राण प्रतिष्ठा के पूर्व में यथास्थान में ऋक् पञ्चक का पाठ एवं कला समूह का पूजन करें ॥७५॥

प्रथम 'हंसः', तत्पश्चात् 'प्रतद्विष्णुः', अनन्तर 'त्रियम्बकः', पश्चात् 'तत् सवितुः', अनन्तर 'विष्णुर्योनि' क्रमानुसार ऋक् पञ्चक उच्चार्य्य हैं ॥७६॥

अनन्तर स्थापित कुम्भ के मध्य में कलान्यास-संस्कृत शङ्खजल का स्थापन करें, उक्त कुम्भ का मुख को शक्रवल्ली अश्वत्थ-आम्रादि पल्लव के द्वारा आच्छादित करें ॥७७॥

पुष्पयुक्त शराव के द्वारा उक्त कुम्भ के मुख को पुनर्बार आच्छादन पूर्वक हस्तद्वय के द्वारा वेष्टन करके उक्त कुम्भ को कुसुम, चन्दन प्रभृति के द्वारा मण्डित करें ॥७८॥

अथ कुम्भे श्रीभगवत्पूजाविधिः

कुम्भ में भगवत् पूजाविधि। उक्त कुम्भ में यथाविधि परब्रह्म श्रीकृष्ण का आवाहन कर, सकलीकरण के सहित आसनादि के द्वारा श्रीगुरुदेव पूजन करें। देवता के विग्रह में षड़ङ्ग न्यास को सकलीकरण कहते हैं। परम तेजःस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण का, यथाविधि मूल मन्त्र के द्वारा श्रीमूर्त्ति की चिन्ता करके हस्तद्वय द्वारा पुष्पाञ्जलि लेकर कलसादि कल्पित मूर्त्ति में आवाहन करें ॥७९-८१॥

एवञ्च कुम्भे तं साङ्गोपाङ्गं सावरणं प्रभुम् ।
अग्रतो लेख्यविधिनार्चयेद्भोज्यार्पणावधि ॥८२॥
नैवेद्यार्पणतः पश्चान्मण्डलस्य च सर्वतः ।
सदीपान् पैष्टिकान् न्यस्येत् सबीजाङ्कुरभाजनान् ॥८३॥

अथ दीक्षाहोमविधिः

ततो दीक्षाङ्गहोमार्थं कुण्डलस्य च सर्वतः । संमार्ज्य दर्भमार्जन्या यथाविध्युपलेपयेत ॥८४॥
विकीर्य्य सर्षपांस्तत्र गव्यैः संप्रोक्ष्य पञ्चभिः । मध्ये संपूजयेद्वास्तुपुरुषं दिक्षु तत्पतीन् ॥८५॥
शोषणादीनि कुण्डस्य कृत्वा प्रोक्ष्य कुशाम्बुभिः ।
उल्लिख्य चास्मिन् योन्यादिसहितं मण्डलं लिखेत् ॥८६॥

किमाहुस्तदेव लिखति—करेत्यादि ; तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य तेजसः साङ्गीकरणं ध्यानेन साकारतापादनम् ॥८१

तं नराकृति परब्रह्मरूपं, प्रभुं श्रीकृष्णम्, एवमावाहनादिना नैवेद्यसमर्पणान्तमर्चयेत् । कथम् ? अग्रे नित्यपूजाप्रसङ्गे मुख्यस्थाने लेख्येन प्रकारेण अतस्तत्रैव तत्सर्वप्रकारो विस्तार्य्य लेख्यस्तदृष्ट्याऽत्रापि तथैव पूजा कर्त्तव्या । अधुना तल्लिखनेनालमित्यर्थः ॥८२॥

बीजाङ्कुरपात्रसहितान् सतः उत्तमान् गव्यघृतादिसाधितान् सम्यगुज्ज्वलितान् दीपान् मण्डलस्य परितः स्थापयेत्, पैष्टिकान् पिष्टेन यवचूर्णादिना निर्मितान् पात्रानित्यर्थः ॥८३॥

दीक्षाहोमविधिं लिखति - तत इत्यादिना यथोदितमित्यन्तेन । यथाविधीति—वायुबीजजप्तदर्भमार्जन्यादि-सममाग्नेयीमारभ्य प्रादक्षिण्येन संमार्ज्य तथैव वरुणबीजेन लेपनं कुर्य्यादित्यर्थः । यथाविधीत्यस्याग्रेऽपि सर्वत्रानुवर्त्तनं कार्य्यम्, तत्तत्प्रकारविशेषश्च ग्रन्थान्तरतो ज्ञेयः । सर्षपान् अस्त्रमन्त्रजप्तान्, तत्र कुण्डे दिक्षु च दशसु तत्पतीन् दिक्पालान् ॥८४-८५॥

आदिशब्देन दहनप्लावनकाठिन्यादीनि, कुशयुक्तैरम्बुभिः, उल्लिख्य उल्लेखनञ्च कृत्वा, अस्मिन् कुण्डे, आदि शब्दाच्चक्रवृत्तादि ॥८६॥

आवाहनादि द्वारा अङ्ग, उपाङ्ग एवं आवरण के सहित श्रीकृष्ण की वक्ष्यमाण विधान से नैवेद्यार्पण यावत् पूजा करें ॥८२॥

नैवेद्य अर्पण के अनन्तर मण्डल के सकलादिक में बीजाङ्कुर पात्र संयुक्त दीप के सहित पैष्टिकसमूह स्थापन करें । अर्थात् बीजाङ्कुर पात्र के सहित उत्तम गव्यघृत के द्वारा निर्मित सम्यक् उज्ज्वल दीप का स्थापन मण्डल के चतुर्दिक में करें, एवं यवचूर्णादि पिष्टक निर्मित पात्रसमूह का स्थापन करें ॥८३॥

अथ दीक्षाहोमविधिः

दीक्षा होमविधि । अनन्तर श्रीगुरुदेव दीक्षाङ्ग होम के निमित्त कुश मार्जनी के द्वारा पूर्व निर्दिष्ट कुण्ड का सम्मार्जन एवं लेपन यथाविधि करें । तत्पश्चात् यथाविधि कुण्ड में सर्षप विकीरण करके पञ्च गव्य के द्वारा प्रोक्षण पूर्वक मध्यभाग में वास्तुपुरुष की पूजा करें । अर्थात् वायु बीज के द्वारा सम्मार्जन, वरुण बीज के द्वारा लेपन एवं अस्त्र मन्त्र के द्वारा दिक्पालों का पूजन करें ॥८४-८५॥

उसके बाद कुण्ड का शोषण कार्य्य करके कुश जल के द्वारा प्रोक्षण पूर्वक विलिखन करके उक्त कुण्ड में योन्यादि सहित मण्डल का अङ्कन करें ॥८६॥

श्रीवीजं मध्ययोनौ च विलिख्याभ्युक्ष्य पूजयेत् ।
निधाय तत्र पुष्पादिविष्टरं साधु कल्पयेत् ॥८७॥
तत्र लक्ष्मीमृतुस्नातां विष्णुञ्चावाह्य पूजयेत् ।
ताम्रादिपात्रेणानीयाग्रतोऽग्निं स्थापयेच्छुभम् ॥८८॥
गन्धादिनाग्निमभ्यर्च्य विष्णोः संक्रीड़तः श्रिया ।
रेतोरूपं विचिन्त्यामुं कुण्डं तारेण चार्चयेत् ॥८९॥
वैश्वानरेति मन्त्रेणाच्छाद्याग्निं तं सदिन्धनैः ।
चित्पिङ्गलेति प्रज्वाल्योपतिष्ठेदग्निमित्यमुम् ॥९०॥
जिह्वा न्यस्येत् सप्त तस्मिन्नभ्यङ्गेष्वङ्गदेवताः ।
षट्सु षट् न्यस्य मूर्त्तीश्च न्यस्याष्टाभ्यर्चयेच्च ताः ॥९१॥

अथाग्निसंस्कारं लिखिष्यन्नादौ तत्प्रतिष्ठां लिखति—श्रीवीजमिति त्रिभिः। पुष्पादिना यद्विष्टरं शय्या तत्; यद्वा, पुष्पादिकमेव विष्टरत्वेन कल्पयित्वा तत्र मध्ययोनावेव निधाय, आदिशब्देन अक्षतकूर्चौ ॥८७॥

शुभम् आनन्दितम्; तथाचोक्तं—'प्रणम्य विधिनैवाग्निमाहिताग्नेर्गृहादपि । आनीय चादधीतात्र कुशैः प्रज्वाल्य यत्नतः ॥' इति ॥८८॥

श्रिया सह संक्रीड़त आद्यरसमनुभवतः, अमुं अग्निम्, तारेण प्रणवेण ॥८९॥

एवमग्नेः प्रतिष्ठाविधिं लिखित्वोपस्थानविधिं लिखति—वैश्वेति । वैश्वानरेति मन्त्रस्याद्याक्षराणि, एवमग्रेऽपि; सद्भिरुत्तमैर्विहितैरुत्तमैरिन्धनैराच्छाद्य, चित्पिङ्गलेति मन्त्रेण, अग्निमिति मन्त्रेण अमुमग्निमुपतिष्ठेत् ॥९०॥

अथ संस्कारार्थमेव प्रथमं न्यासादिकं लिखति—जिह्वा इति चतुर्भिः। षट्सु अङ्गेषु मूर्द्धादिषु षट् अङ्गदेवता न्यस्य अष्टौ मूर्त्तीश्च न्यस्य ताश्च जिह्वाङ्गदेवतामूर्त्तीः प्रत्येकं चतुर्थीनमोऽन्तस्तत्तन्नामभिः पूजयेत् ॥९१॥

अग्नि प्रतिष्ठा विधि । योनि के मध्य प्रदेश में श्रीवीज लिख कर जल द्वारा प्रोक्षण करके पूजा करें। उसके ऊपर पुष्पादि विन्यास के द्वारा उत्तम शय्या की रचना करें ॥८७॥

अनन्तर ऋतुस्नाता लक्ष्मी एवं विष्णु का आवाहन करके पूजन करें। पश्चात् ताम्रादि पात्र के द्वारा शुभ अग्नि आनयन पूर्वक सम्मुख में स्थापन करें ॥८८॥

अनन्तर गन्धादि के द्वारा अग्नि की पूजा करके उक्त अग्नि की चिन्ता श्रीलक्ष्मी के सहित क्रीड़ाकारी श्रीविष्णु के रेतःस्वरूप में करें। पश्चात् प्रणव के द्वारा पूजन करें ॥८९॥

अग्नि उपस्थापन । 'वैश्वानर' प्रभृति मन्त्र के द्वारा वह्नि को उत्तम काष्ठ के द्वारा आच्छादित करे। अनन्तर 'चित् पिङ्गल' इत्यादि मन्त्र पाठ के सहित अग्नि को प्रज्वलित करके 'अग्निम्' मन्त्र के द्वारा अग्नि का स्थापन करे ॥९०॥

अग्नि संस्थापनार्थ न्यास । अनन्तर उक्त अग्नि में अग्नि की सप्तजिह्वा एवं षड़ङ्ग में छै अङ्ग देवता का न्यास करे, अनन्तर अग्नि की अष्ट मूर्त्ति स्थापन पूर्वक पूजन करे। प्रत्येक के नाम को चतुर्थ्यन्त करके अन्त में नमः शब्द युक्त करने से पूजन मन्त्र होता है। उन उन मन्त्र के द्वारा, अग्नि की अष्टमूर्त्ती, जिह्वाङ्ग देवता मूर्त्ती की पूजा करे ॥९१॥

सप्त जिह्वाश्चोक्ताः—

हिरण्या गगना रक्ता तथा कृष्णा च सुप्रभा। बहुरूपातिरूपा च सप्त जिह्वा वसोरिमाः ॥६२॥

अथाङ्गदेवताः

सहस्रार्च्चिः स्वस्तिपूर्ण उत्तिष्ठपुरुषस्तथा। धूमव्यापी सप्तजिह्वो धनुर्धर इति स्मृतः ॥६३॥

अष्टमूर्त्तयश्च

जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहन एव च। अश्वोदरज-संज्ञश्च तथा वैश्वानरोऽपरः।
कौमारतेजाश्च तथा विश्वदेवमुखाह्वयौ ॥६४॥ इति।
ततो वह्निं परिस्तीर्य्य संस्कृत्याज्यं यथाविधि।
हुत्वा च व्याहृतीः पश्चात्त्रीन् वारान् जुहुयात् पुनः ॥६५॥

ततोऽस्य गर्भधानादीन् विवाहान्तान् यथाक्रमम्। संस्कारानाचरेदुक्तमन्त्रेणाष्टाहुतैस्तथा ॥६६॥

इत्थं हि संस्कृते वह्नौ पीठमभ्यर्च्य तत्र च। देवमावाह्य गन्धादिदीपान्तविधिनार्चयेत् ॥६७॥

वसोरग्नेः; केचिच्च पद्मरागाः सुपर्णीत्याद्याः सप्त जिह्वा अत्र मन्यन्ते ॥६२॥

विश्वमुखो देवमुखश्चेति द्वौ; तथा च सारदातिलके—'जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहनसंज्ञकः। अश्वोदरजसंज्ञोऽन्यस्तथा वैश्वानराह्वयः। कौमारतेजाः स्याद्विश्वमुखो देवमुखस्तथा॥' इति ॥६४॥

परिस्तीर्य्य कुशाङ्कुरादिना अग्नेः परिस्तरणं कृत्वा, यथाविधीति सर्वत्रैव सम्बन्धनीयम्; ततश्च तापनाभिद्योतनादिनाज्यसंस्कारादिप्रकारश्च याज्ञिकेषु सुप्रसिद्ध एव। अत्रापेक्षितश्चेत् श्रीपुरुषोत्तमवन-विरचितक्रमदीपिकाटीकाग्रन्थतो ज्ञेयः। पश्चात् प्रणवव्याहृतीर्यथाविधि हुत्वा वैश्वानरेत्यादिना अग्नेर्मूल-मन्त्रेण पुनस्त्रिःकृत्यो जुहुयात् च। शास्त्रोक्तेन मन्त्रेण स्वाहान्तप्रणवेनान्येन च तत्तत्कर्मविषयकेण मन्त्रेण आहुत्यष्टकेन च अस्य वह्नेः संस्कारान् क्रमेण कुर्य्यात्, तत्तद्विधिरपि तत्तद्ग्रन्थत एव विशेषतः ज्ञेयः ॥६५-६६॥

तत्र तस्मिन् पीठे, गन्धार्पणमारभ्य दीपार्पणपर्य्यन्तमर्चयेदित्यर्थः। दीपान्तार्चनञ्चाग्निजिह्वायाः पुनर्भोगापेक्षया, पीठार्चनदेवावाहनादिविधिश्चाग्रे व्यक्तो भावी ॥६७॥

सप्त जिह्वा। हिरण्या, गगना, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरूपा एवं अतिरूपा ये सात अग्नि की जिह्वा हैं ॥६२॥

अथाङ्गदेवताः

अङ्ग देवता। सहस्रार्चिः, स्वस्तिपूर्ण, उत्तिष्ठ पुरुष, धूम व्यापी, सप्त जिह्वा एवं धनुर्द्धर ॥६३॥

अष्टमूर्त्तयश्च

अष्टमूर्त्ति। जातवेदाः, सप्तजिह्व, हव्यवाहन, अश्वोदरज, वैश्वानर, कौमार तेजाः, विश्वमुख एवं देवमुख ॥६४॥

अनन्तर अग्नि के चतुर्दिक में परिस्तरण 'विस्तार' करके यथाविधि घृत शोधन करके पश्चादुक्त विधि से व्याहृति होम करके पुनर्बार तीनबार होम करे। अनन्तर शास्त्रविहित मन्त्र के द्वारा अष्टाहुति अर्पणपूर्वक यथाक्रम से अग्नि के गर्भाधानादि विवाहान्त संस्कार समूह का समापन करे। इस विषय का विस्तृत विवरण अवगत होने के लिए श्रीपुरुषोत्तमवनविरचित क्रमदीपिका की टीका का अवलोकन करें ॥६५-६६॥

उक्त प्रकार से अग्नि संस्कृत होने से उसमें पीठपूजा करके उक्त पीठ में देवता आवाहन पूर्वक शास्त्र विधानानुसार गन्धार्पणादि दीपदानान्त पूजन करे ॥६७॥

तत्राग्निं देवरसनां संकल्प्याष्टोत्तरं बुधः । सहस्रं जुहुयात् सर्पिःशर्करापायसैर्युतैः ॥९८॥
हुत्वाज्येनाथ महतीर्व्याहृतीर्विधिना कृती । ग्रहर्क्षकरणादिभ्यो बलिं दद्याद्यथोदितम् ॥९९॥

अथ होमद्रव्यादिपरिमाणम्

कर्षमात्रं घृतं होमे शुक्तिमात्रं पयः स्मृतम् ।
उक्तानि पञ्चगव्यानि तत्समानि मनीषिभिः ॥१००॥
तत्समं मधुदुग्धान्नमक्षमात्रमुदाहृतम् ।
दधि प्रसृतिमात्रं स्यात् लाजाः स्युः मुष्टिसंमिताः ॥१०१॥ इत्यादि ।
अथ नत्वाम्बुपानार्थं प्रदायाचमनानि च ।
आत्मार्पणान्तमभ्यर्च्य लेख्येन विधिनाचरेत् ॥१०२॥

अथ गुरुशिष्यनियमादिः

व्रतस्थं वाग्यतं शिष्यं प्रवेश्याथ यथाविधि ।
तद्देहे मातृकां साङ्गां न्यस्याथोपदिशेच्च ताम् ॥१०३॥

तं संस्कृतमग्निञ्च देवस्य भगवतो जिह्वात्वेन संकल्प्य ; युतैर्मिलितैः ॥९८॥

अथानन्तरं महाव्याहृतीर्विधिना शास्त्रोक्तप्रकारेण आज्येन हुत्वा । कृतीति—एवं होमं सम्पाप्यात्मानं शिष्यञ्च प्रसादाम्बुभिरभ्युक्ष्य हुतभस्मना तिलकं कुर्य्यादित्यादिकं कृतित्वं ज्ञेयम् । यथोदितमिति मण्डलमध्ये राशिस्थानेषु तत्तन्मन्त्रैस्तत्तत्क्रमेण होमावशिष्टपायसंतृतीयांशेन ग्रहादिभ्यो बलिं दद्यात् ; तत्तत्प्रकारविशेषोऽपि तथैव ज्ञेयः । आदिशब्दाच्च मीनमेषयोरन्तराले सिंहव्याघ्रवराहखरगजऋषभादीनां बलिर्ज्ञेयः । तथा चतुर्थांशेन मण्डलस्य दक्षिणभागे गोमयोपलिप्तप्रदेशेऽग्नये तेजोऽधिपतये विष्णुपार्षदेभ्यश्च सर्वेभ्यो बलिर्देय इत्यादि बोद्धव्यम् । तत्र च सर्वे तत्तन्मन्त्रा जलगन्धपुष्पदाने नमोऽन्ताः, बलिदाने स्वाहान्ताः, पुनर्जलदाने तु तृप्यतामित्यन्ता अवगन्तव्या इति दिक् । यथोदितमित्यस्याग्रेऽप्यनुवर्त्तनं कार्य्यम् ॥९९॥

अथ बलिदानानन्तरं प्रणामं कृत्वा पानार्थं संस्कृतं जलं पश्चादाचमनार्थञ्च जलं प्रदाय, तत्तत्प्रकारोऽप्यपेक्षितो नित्यपूजाप्रसङ्गे व्यक्तो भाव्येव । अम्बुप्रदानानन्तरमन्यत् कृत्यं विष्वक्सेनाय नैवेद्यांशप्रदानं भगवते च गण्डूषार्घ्यार्पणमारभ्यात्मार्पणान्तं सर्वं समापयेत् ; तच्चाग्रे नित्यपूजाप्रसङ्गे लेख्यप्रकारेणैवेत्यर्थः ॥१०२॥

विचक्षण व्यक्ति उक्त वह्नि को श्रीभगवान् की जिह्वा मानकर घृत, शर्करा एवं पायसान्न के द्वारा अष्टोत्तर सहस्र होम करे ॥९८॥

यथाविधि घृत के द्वारा महा व्याहृति होम कार्य्य सम्पादन के पश्चात् ग्रह, नक्षत्र एवं करणादि को शास्त्रोक्त विधानानुसार बलि अर्पण करे ॥९९॥

अथ होमद्रव्यादिपरिमाणम्

घृत—कर्ष परिमित (१ तोला), दुग्ध—शुक्तिपरिमित (चार तोला), उसके समान पञ्चगव्य (प्रत्येक द्रव्य १ तोला), मधु (१ तोला), पायस—अक्षपरिमित (१ तोला), दधि—प्रसृत परिमित (गण्डूष तुल्य) एवं लाज, खील—एक मुष्टि परिमित, होम कार्य्य में प्रशस्त है ॥१००-१०१॥

बलि प्रदान के पश्चात् प्रणाम पूर्वक पानीय जल, आचमनीय जल प्रदान पूर्वक आत्मार्पणान्त पूजन करके समस्त कार्य्य सम्पन्न करे, विधान का वर्णन नित्य पूजा प्रसङ्ग में है ॥१०२॥

अथ गुरुशिष्यनियमादिः

गुरुशिष्य नियमादि—अनन्तर श्रीगुरु, व्रतपरायण वाक् संयमी शिष्य को यथाविधि मण्डप में प्रवेश

देवं सावरणं कुम्भगतं चानुस्मरन् गुरुः ।
जप्त्वाष्टोत्तरसाहस्रं शयीत प्राश्य किञ्चन ॥१०४॥
दर्भोपर्य्यजिने त्वंणे निविष्टो मातृकां स्मरन् ।
गुरुञ्च शिष्यो निद्राणं तां शयीत जपन् व्रती ॥१०५॥ इति पूर्वदिनकृत्यम् ।

अथ तद्दिनकृत्यानि

प्रातःकृत्यं गुरुः कृत्वा कुम्भं चाभ्यर्च्य पूर्ववत् ।
हुत्वा दत्त्वा बलिं कर्मान्यित् कुर्य्यात् स्वार्पणावधि ॥१०६॥
संहारमुद्रया कृष्णे संयोज्यावृतिदेवताः ।
तञ्चामृतमयं ध्यात्वा स्वस्मिंश्चाग्निं विलापयेत् ॥१०७॥

अथानन्तरमुपवासपरं मौनिनं शिष्यं पूर्वशिष्यैः प्रवेश्य, यथाविधीति प्रणामं कारयित्वा प्रोक्षणीवारिणाऽस्त्रमन्त्रेण तं संप्रोक्ष्य किञ्चित् पञ्चगव्यप्राशनं कारयित्वा च तद्देहे मातृकाङ्गानि मातृकाञ्च न्यस्य ध्यानपूर्वां मातृकां तस्मै गुरुरुपदिशेदित्यर्थः ॥१०३॥

यथाविधीत्यनुवर्त्तत एव, अतश्च आवरणसहितं भगवन्तं तत्स्थापितकलसगतं चिन्तयन् सन् तत्कलसजलं स्पृष्ट्वाष्टोत्तरसहस्रं जप्त्वा पुष्पाञ्जलिं कृत्वाऽभिवन्द्य पञ्चगव्यादिकं किञ्चित् प्राश्य दीक्षासम्बन्धिक्रियाकाण्डादिकं चानुसन्दधानः पवित्रशय्यायां शयनं कुर्य्यादित्यर्थः ॥१०४॥

शिष्योऽपि मातृकोपदेशं प्राप्य दर्भोपरि कृष्णाजिनोपविष्टः सन् मातृकां गुरुञ्च ध्यायन् मातृकां निद्रावशान्तं जपन् कृतोपवासः पूर्वशिरस्क उत्तरशिरस्को वा शयीतेति ॥१०५॥

प्रातःकृत्यं प्रातःस्नानमारभ्यात्मार्पणान्तं यावदशेषं कर्म समाप्य, कुम्भस्थं भगवन्तं पूर्ववदभ्यर्च्य होमञ्च तत्रैव कृत्वा बलिञ्च दत्त्वा बलिदानानन्तरं यदन्यत् पानार्थजलसमर्पणादि कर्म आत्मार्पणान्तं सर्वमेव पुनः कुम्भे कुर्य्यादित्यर्थः ॥१०६॥

कराकर तदीय शरीर में अङ्ग समन्वित मातृका वर्ण न्यास एवं ध्यान पूर्वक मातृका का उपदेश करे। अर्थात् उपवास रत मौनि शिष्य को पूर्व शिष्य के द्वारा प्रवेश कराकर प्रणाम करावे, पश्चात् प्रोक्षणी वारि के द्वारा अस्त्र मन्त्र से प्रोक्षण पूर्वक पञ्च गव्य प्राशन करावे, पश्चात् शिष्य के देह में अङ्ग के सहित मातृका वर्णन्यास एवं ध्यान के सहित मातृका वर्ण का उपदेश उक्त शिष्य को श्रीगुरु प्रदान करें ॥१०३॥

अनन्तर श्रीगुरु, आवरण सम्बलित भगवान् की चिन्ता कुम्भगत रूप में करके अष्टोत्तर सहस्र जप करने के बाद पञ्च गव्यादि सेवन पूर्वक पवित्र शय्या में शयन करें ॥१०४॥

व्रतपरायण शिष्य भी मातृका उपदेश प्राप्त कर कुशोपरि स्थित मृगचर्म आसन में उपविष्ट होकर मातृका एवं श्रीगुरदेव का ध्यान करते करते निद्रागमन पर्य्यन्त मातृका का जप करे, उपवासपूर्वक पूर्व शिरस्क अथवा उत्तरशिरस्क होकर शयन करे। इति पूर्वदिवसीय कृत्य ॥१०५॥

अथ तद्दिनकृत्यानि—

तद्दिन कृत्य, अर्थात् दीक्षा ग्रहण दिवसीय कृत्य। श्रीगुरदेव प्रातःकृत्य समूह का समापन करके अर्थात् प्रातः स्नान से आरम्भ करके आत्मार्पण पर्य्यन्त अशेष कर्म समापन करने के बाद, कुम्भस्थ भगवान् की अर्चना पूर्ववत् यथाविधि करें। अनन्तर होम, बलिदान, पानार्थ जल समर्पण आत्मसमर्पणादि समस्त अनुष्ठान उक्त कुम्भ में करें ॥१०६॥

गुरु-गणेश व्यतिरिक्त देवता, आवरण देवता हैं। संहार मुद्रा के सहित आवरण देवताओं को

ध्वजतोरणदिक्कुम्भमण्डपाद्यधिदेवताः ।
सर्वा विभाव्य चिद्रूपाः कुम्भे संयोज्य पूजयेत् ॥१०८॥
अतो गुरुं गणेशञ्च विष्वक्सेनञ्च पूजयेत् ।
उद्वास्य कलसं स्पृष्ट्वा शतमष्टोत्तरं जपेत् ॥१०९॥
कृतोपवासः शिष्योऽथ प्रातःकृत्यं विधाय सः ।
शुक्लवस्त्रः सुवेशः सन् विप्रान् द्रव्येण तोषयेत् ॥११०॥
गुरुञ्च भगवद्दृष्ट्या परिक्रम्य प्रणम्य च ।
दत्त्वोक्तां दक्षिणां तस्मै स्वशरीरं समर्पयेत् ॥१११॥

तथा च दशमस्कन्धे (८०।४१)—

इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्त्तव्यं गुरुनिष्कृतम् । यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥११२॥

आवरणदेवता गुरुगणेशव्यतिरिक्ताः भवति । उद्वासनेन संयोज्य लीना इति विभाव्य तच्च देवम् अमृतमयं निष्कलपूर्णानन्दरूपेणावस्थितं ध्यात्वा विलापयेत् लीनत्वेन चिन्तयेत् ॥१०७॥

ध्वजादीनामधिष्ठातृदेवताः, आदिशब्देन मण्डलकुण्डादि ॥१०८॥

अत इति गुरुं शिरस्युद्वास्याभ्यर्च्य गणेशञ्चाकाश उद्वास्याभ्यर्च्य यागावशिष्टद्रव्येण विष्वक्सेनं चाभ्यर्च्याकाश एवोद्वास्येत्यर्थः ॥१०९॥

प्रातःकृत्यं स्नानाद्यावश्यकं कर्म, स दीक्षार्थी शुक्ले वस्त्रे यस्य तथाभूतः सन्, सुशोभनो वेशोऽलङ्कारो यस्य तथाभूतः सन्, होमादिकृतो विप्रान् गोभूमिवस्त्रधान्यादिद्रव्येण तोषयेत् ॥११०॥

भगवद्दृष्ट्या भगवानेवायं साक्षादित्येवं बुद्ध्येत्यर्थः । उक्तां शास्त्रेण; तथा हि—'स्ववित्तार्द्धं चतुर्थांशं दशांशं वाथ शक्तितः' इति । एषा च गुरुसन्तोषणार्था प्रथमा दक्षिणा, चान्या मन्त्रदानानन्तरं लेख्या ॥१११॥

निष्कृतं प्रत्युपकारः, सर्वेषामर्थानामात्मनश्चार्पणम् ॥११२॥

श्रीकृष्ण में युक्त करे । अनन्तर श्रीकृष्ण का ध्यान निष्कल पूर्णानन्द रूपमें करे । पश्चात् अपनी चिन्ता अग्नि संपृक्त रूप में करे ॥१०७॥

अनन्तर ध्वज, तोरण, दिक्, कुम्भ, मण्डपाधिष्ठात्री देवताओं की चिन्ता चिद्रूप में करे, एवं उक्त देवताओं की अर्चना उक्त कुम्भ में करे । आदि शब्द से मण्डल कुण्डादि को जानना होगा ॥१०८॥

अनन्तर श्रीगुरु, गुरुदेव, गणेश एवं विष्वक्सेन की पूजा करें, विसर्जन पूर्वक कुम्भ को स्पर्श करके अष्टोत्तरशत जप करें ॥१०९॥

अनन्तर उपवासरत दीक्षार्थी शिष्य, स्नानादि आवश्यकीय कर्म प्रातःकृत्य सम्पन्न करके शुक्ल वस्त्र एवं सुवेश धारण पूर्वक, ब्राह्मणगण को, गो, भूमि, वस्त्र, धान्य प्रभृति के द्वारा प्रसन्न करे ॥११०॥

भगवद्दृष्टि से अर्थात् श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवान् हैं, इस प्रकार बुद्धि से प्रणाम, प्रदक्षिण एवं शास्त्र निर्दिष्ट दक्षिणा प्रदानपूर्वक आत्म-देह समर्पण करे । शास्त्रोक्त विधि—यथाशक्ति निज वित्त के चतुर्थांश अथवा दशांश अर्पण करे । यह दक्षिणा,—श्रीगुरु सन्तोषार्थ प्रथमा दक्षिणा है । अन्या दक्षिणा—मन्त्रदानानन्तर विधेय है ॥१११॥

भा० १०।८०।४१ में उक्त है—एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्त्तव्यं गुरुनिष्कृतम् । यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥ विशुद्ध भाव से श्रीगुरुचरण में स्वीय सर्वार्थ एवं आत्मार्पण ही सुयोग्य शिष्य का श्रीगुरु के समीप में प्रत्युपकार है ॥११२॥

अथाभिषेचनविधिः

यागालयादुत्तरस्यामाशायां स्नानमण्डपे ।
पीठे निवेश्य तं शिष्यं कारयेच्छोषणादिकम् ॥११३॥

पीठन्यासान्तमखिलं मातृकान्यासपूर्वकम् ।
न्यासं शिष्यतनौ कृत्वा पीठमन्त्रेण पूजयेत् ॥११४॥

सदूर्वाक्षतपुष्पाञ्च मूर्द्धिन शिष्यस्य रोचनाम् ।
निधाय कलसं तस्यान्तिके वाद्यादिना नयेत् ॥११५॥

श्रीकृष्णमथ संप्रार्थ्य गुरुः कुम्भस्य वाससा ।
नीराज्य शिष्यं तन्मूर्द्धिन न्यसेत्तत्पल्लवादिकम् ॥११६॥

गुरुकृत्यं लिखति—यागेत्यादिषड्भिः । आशायां दिशि ; अत्र चायं विधिर्द्रष्टव्यः—गोमयादिनोपलिप्ते विविक्ते वितानाद्यलङ्कृते मण्डपे पद्मस्वस्तिकादिकमुद्धृत्य तत्र पीठं स्थापयित्वा तस्मिंश्च शिष्यं पूर्वाभिमुखमुपवेश्य स्वयञ्च तदभिमुखमुपविश्य शोषणदहनप्लावनादिरूपां भूतशुद्धिं तस्य कारयेदिति ॥११३॥

पूजयेत्—तद्देह एव भगवन्तमुद्दिश्य पुष्पाञ्जलिं कुर्य्यादित्यर्थः ॥११४॥

दूर्वाक्षतपुष्पसहितां गोरोचनाम्, तया तिलकं तस्य कारयेदिति केचिदाहुः । तस्य शिष्यस्यान्तिके कलसं पूर्वसंस्कृतकुम्भं विश्वस्तसाधुजनहस्तेन नयेत् ; आदिशब्देन विप्राशीर्वादमङ्गलघोषगीतकीर्त्तनादि ॥११५॥

अथानन्तरं, हे भगवन्मदीयान्तःकरणे सन्निधिविशेषं कृत्वा शिशोरस्य साधुगुणसम्पन्नस्यानुग्रहं कर्त्तुमर्हसीति संप्रार्थ्य, स्वयमुत्तराभिमुखो वामहस्तेन कुम्भं धारयन्, कुम्भमुखवर्त्तिवस्त्रेण शिष्यं नीराज्य, तत्कुम्भमुखस्थपल्लवादिकं शिष्यस्य मस्तकेऽर्पयेदिति विधिरत्र द्रष्टव्यः ॥११६॥

अथाभिषेचनविधिः

अनन्तर श्रीगुरु के कृत्य का उल्लेख करते हैं—षट् श्लोकों के द्वारा । गोमयादि के द्वारा उपलिप्त, चन्द्रातप प्रभृति के द्वारा शोभित मण्डप में पद्म स्वस्तिकादि का अङ्कन करके तदुपरि पीठ स्थापन पूर्वक पूर्वाभिमुख में शिष्य को उपवेशन कराकर स्वयं उसके सामने उपविष्ट होकर शोषण-दहन प्लावनादिरूप भूतशुद्धि शिष्य की करें । यागालय के उत्तर दिक्स्थ स्नान मण्डप का यह कृत्य है ॥११३॥

पश्चात् शिष्य के शरीर में मातृका न्यासादि पीठन्यासान्त समस्त न्यास करके पीठमन्त्र के द्वारा पूजन करें । अर्थात् श्रीभगवान् को उद्देश्य करके पुष्पाञ्जलि प्रदान करें ॥११४॥

तत् पश्चात् शिष्य के शिरःप्रदेश में दूर्वा, अक्षत एवं पुष्प के सहित गोरोचना स्थापन करके उसके अग्रभाग में वाद्यादि संयोग से पूर्व संस्कृत कुम्भ का आनयन करावें । दूर्वाक्षतपुष्प सहित गोरोचना के द्वारा शिष्य के ललाट में तिलक प्रदान करें, यह मत कतिपय व्यक्ति का है । कलस का आनयन,—विश्वस्त साधुजन के हस्त से करावें । वाद्यादि शब्द से विप्राशीर्वाद-मङ्गलघोषगीत कीर्त्तनादि अनुष्ठान को जानना होगा ॥११५॥

तदनन्तर श्रीगुरु श्रीकृष्ण के समीप में प्रार्थना करें—"हे भगवन् ! मदीय अन्तःकरण में सन्निधिविशेष करके साधुगुणसम्पन्न शिष्य के प्रति अनुग्रह करें ।" तत्पश्चात् कुम्भ मुखस्थित वस्त्र के द्वारा शिष्य को नीराजन पूर्वक उक्त कुम्भस्थ पल्लवादि का अर्पण शिष्य के मस्तक में करें ॥११६॥

तदुक्तम्—

विधिवत् कुम्भमुद्धृत्य तन्मुखस्थान् सुरद्रुमान् ।
शिशोः शिरसि विन्यस्य मातृकां मनसा जपेत् ॥११७॥
ततः कुम्भाम्भसा शिष्यं प्रोक्ष्य त्रिर्मूलमन्त्रतः ।
विप्राशीर्मङ्गलोद्घोषैरभिषिञ्चेन्मनून् पठन् ॥११८॥

अथाभिषेकमन्त्राः

वशिष्ठसंहितायाम्—

सुरास्त्वामभिषिञ्चन्तु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । वासुदेवो जगन्नाथस्तथा सङ्कर्षणो विभुः ॥११९॥
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च भवन्तु विभवाय ते ।
आखण्डलोऽग्निर्भगवान् यमो वै निर्ऋतिस्तथा ॥१२०॥
वरुणः पवनश्चैव धनाध्यक्षस्तथा शिवः ।
ब्रह्मणा सहिता ह्येते दिक्पालाः पान्तु वः सदा ॥१२१॥
कीर्त्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया गतिः ।
बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिर्माया निद्रा च भावना ॥१२२॥
एतास्त्वामभिषिञ्चन्तु राहुः केतुश्च पूजिताः । देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥१२३॥
ऋषयो मुनयो गावो देवमातर एव च । देवपत्न्यो ध्रुवा नागा दैत्या अप्सरसां गणाः ॥१२४॥
अस्त्राणि सर्वशस्त्राणि राजानो वाहनानि च । औषधानि च रत्नानि कालस्यावयवाश्च ये ॥१२५॥

तदेवाभिव्यञ्जयति—विधिवदिति । सुरद्रुमान्—कुम्भमुखन्यस्तान् अश्वत्थपल्लवानित्यर्थः ॥११७॥

वारत्रयं मूलमन्त्रेण प्रथमं प्रोक्ष्य पश्चात् कुम्भं तं कराभ्यां गृहीत्वा तज्जलेन शिष्यस्य सर्वाङ्गं पूरयन् मूर्द्धन्यभिषेकं कुर्य्यादित्यर्थः; मनून्मन्त्रान् ॥११८॥

दानवा दनोः पुत्राः, दैत्या दितेः पुत्रा इति भेदः। अस्त्राणि शरादीनि, शस्त्राणि, खड्गादीनि ॥१२३-१२५॥

उक्त विषय में उक्त है कि—यथाविधि कलस उत्तोलन पूर्वक तन्मुखस्थ अश्वत्थ पल्लवादि शिष्य के मस्तक में स्थापनपूर्वक मनसा मातृका जप करें ॥११७॥

अनन्तर वारत्रय मूलमन्त्र के द्वारा प्रथम शिष्य को प्रोक्षण करके पश्चात् दोनों हाथों से कलस को उठाकर उसके जलके द्वारा शिष्य के सर्वाङ्ग मूर्द्धन्य अभिषेक विप्रों की आशीर्वाद वाणी एवं मङ्गलघोष के सहित करें ॥११८॥

अथाभिषेकमन्त्राः

वशिष्ठ संहिता में उक्त है,—ब्रह्मा विष्णु महेश्वर प्रभृति देवगण तुम्हें अभिषिक्त करें। वासुदेव, जगन्नाथ, विभु सङ्कर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध तुम्हारा मङ्गल करें। देवराज, अग्नि, भगवान् यम, निर्ऋति, वरुण, पवन, कुवेर, शिव, ब्रह्मा के सहित दिक्पालसमूह निरन्तर तुम्हें रक्षा करें। कीर्त्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, गति, बुद्धि, लज्जा, वपुः, शान्ति, माया, निद्रा, भावना एवं राहु, केतु, सब पूजित होकर तुम्हें अभिषिक्त करें। देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग, ऋषि, मुनि, गो, देवमातृगण, देवनारीवृन्द, ध्रुवगण, नागसमूह, अप्सरासमूह, शरादि अस्त्रनिचय, खड्गादि शस्त्रसमूह,

सरितः सागराः शैलास्तीर्थानि जलदा नदाः। एते त्वामभिषिञ्चन्तु धर्मकामार्थसिद्धये ॥१२६॥

अथ मन्त्रकथनविधिः

परिधायांशुके शिष्य आचान्तो यागमण्डपे।
गत्वा भक्त्या गुरुं नत्वा गुरोरासीत दक्षिणे ॥१२७॥
गुरुः समर्प्य गन्धादीन् पुरुषाहारसंमितम्।
निवेद्य पायसं कृष्णे कुर्य्यात् पुष्पाञ्जलिं ततः ॥१२८॥
साम्प्रदायिकमुद्रादिभूषितं तं कृताञ्जलिम्।
पञ्चाङ्गप्रमुखैर्न्यासैः कुर्य्यात् श्रीकृष्णसाच्छिशुम् ॥१२९॥
न्यस्य पाणितलं मूर्द्धिन तस्य कर्णे च दक्षिणे।
ऋष्यादियुक्तं विधिवन्मन्त्रं वारत्रयं वदेत् ॥१३०॥
दीर्घमन्त्रञ्च शिष्यस्य यावदाग्रहणं पठेत्।
गुरुदैवतमन्त्रैक्यं शिष्यस्तं भावयन् पठेत् ॥१३१॥

अंशुके वस्त्रयुग्मं, नवं सितं परिधाय स्नानवासोऽस्पृशन् कृताचमनः सन्; भक्त्या नत्वेति—भगवद्बुद्धया वहुशोऽष्टाङ्गप्रणामं सपादग्रहणं कृत्वेत्यर्थः। गुरोस्तस्य पूर्वाभिमुखमुपविष्टस्य प्रागेव कृतप्राणायामषड़ङ्ग-न्यासादिकस्य दक्षिणभागे तदेकचित्तोऽभिमुखो बद्धाञ्जलिः सन् उपविशेदिति ज्ञेयम् ॥१२७॥

आदिशब्देन पुष्पधूपादीन् ॥१२८॥

साम्प्रदायिकं गुरुपरम्परासिद्धम्, मुद्रा तिलकमालादि स्वर्णाङ्गुलीयकादि च तेन भूषितम्, शिशुं निज-शिशुत्वेन वर्त्तमानमिति स्नेहविषयता सूचिता; तं शिष्यम्, श्रीकृष्णसात् कुर्यात् श्रीकृष्णाय समर्पयेत् ॥१२९॥

तस्य शिष्यस्य मूर्द्धिन स्वकरतलं निधाय, विधिवदित्यत्रायं विधिर्द्रष्टव्यः—निमीलितनयनं शिष्यं पटान्तरित उपविष्टो गुरुरिदं वदेत्—'दिव्यदृष्टया भगवन्तमवलोकय' इति। ततः सुवर्णशलाकया तं वक्षसि

नृपगण, वाहनसमूह, औषध, रत्नपुञ्ज, मुहूर्त्तादि काल, सरित्समूह, सागर, शैलवर्ग, तीर्थ निचय, मेघवृन्द, नदीसमूह,—धर्म-काम-अर्थ सिद्धि के निमित्त तुम्हें अभिषिक्त करें ॥११९-१२६॥

अथ मन्त्रकथनविधिः

मन्त्र कथन विधि। शिष्य स्नानान्त में शुभ्र नवीन परिधेय एवं उत्तरीय धारण करके आचमनपूर्वक भक्तिपूर्वक भगवद्बुद्धि से श्रीगुरु के श्रीचरण ग्रहणपूर्वक अनेक साष्टाङ्ग प्रणति करे, पूर्वाभिमुख में उपविष्ट श्रीगुरु के दक्षिण भाग में, अभिमुख में तदेकचित्त बद्धाञ्जलि होकर उपवेशन करे ॥१२७॥

अनन्तर श्रीगुरुदेव गन्ध पुष्प धूप दीप अर्पणपूर्वक एक व्यक्ति के भोजन योग्य पायसान्न श्रीकृष्ण को निवेदन करके पुष्पाञ्जलि अर्पण करे ॥१२८॥

श्रीगुरुदेव गुरुपरम्परासिद्ध तिलक माला स्वर्णाङ्गुरीयकादि द्वारा भूषित कृताञ्जलि शिशु को पञ्चाङ्ग प्रमुख न्यास के सहित श्रीकृष्णार्पण करें ॥१२९॥

अनन्तर तदीय मस्तक में पाणितल स्थापनपूर्वक शिष्य के दक्षिण कर्ण में यथाविधि ऋष्यादि सम्वलित मन्त्र का वारत्रय उच्चारण करें। दीर्घ मन्त्र होने से जब तक शिष्य का अभ्यास नहीं होता है, तब तक पाठ करें। एवं शिष्य भी गुरु, देवता एवं मन्त्र की ऐक्य भावना करके मन्त्र की आवृत्ति मनसा करें ॥१३०-१३१॥

साक्षतं गुरुरादाय वारि शिष्यस्य दक्षिणे ।
करेऽर्पयेद्वदन्मन्त्रोऽयं समोऽस्त्वावयोरिति ।।१३२।।
स्वस्माज्ज्योतिर्मयीं विद्यां गच्छन्तीं भावयेद्गुरुः ।
आगतां भावयेच्छिष्यो धन्योऽस्मीति विशेषतः ।।१३३।।
महाप्रसादं शिष्याय दत्त्वा तत्पायसं गुरुः ।
निदध्यादक्षतान्मूर्द्धिन तस्य यच्छन् शुभाशिषम् ।।१३४।।
गुरुणा कृपया दत्तं शिष्यश्चावाप्य तं मनुम् ।
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा समयान् शृणुयात्ततः ।।१३५।।

अथ समयाः

श्रीनारदपञ्चरात्रे—

स्वमन्त्रो नोपदेष्टव्यो वक्तव्यश्च न संसदि । गोपनीयं तथा शास्त्रं रक्षणीयं शरीरवत् ।।१३६।।

स्पृशेत्; अथ शिष्यो महाफलमेकं दत्त्वा वदेदिदम्—'मयि प्रसीद लोचनाभ्यां विलोकय' इति; 'अज्ञान-तिमिरान्धस्य' इत्यादि पठेच्च। अथोन्मीलितनयनस्य शिष्यस्य तनौ भगवन्तमाविर्भूतं भावयन् गन्धादिभिरलङ्कृत्य पञ्चोपचारैश्च संपूज्य सुमुहूर्त्ते गीतवाद्यादिमङ्गलघोषेण शिष्यस्य शिरसि करतलं न्यस्य ऋषिच्छन्दोदेवतादिकमुपदिश्य मूलमन्त्रं वारत्रयं दक्षिणकर्णे ब्रूयादिति। आ सम्यक् ग्रहणं यावत् शिष्येण मन्त्रो यावता धृतो भवेत्तावद्वारं पठेदित्यर्थः। गुरुश्च देवता च मन्त्रश्च तेषामैक्यं चिन्तयन् तं मन्त्रमुच्चारयेत् ।।१३१।।

इतःपरमयं मन्त्रो मम तव च समोऽस्तु तुल्यफलदो भवत्वित्येतद्वदन् ।।१३२।।

स्वस्माद्गच्छन्तीं मन्त्रात्मिकां विद्याम्, धन्योऽस्मीति च विशेषतो भावयेत् ।।१३३।।

तद्भगवन्निवेदितं पुरुषाहारपरिमितं महाप्रसादरूपं पायसं दत्त्वा; शुभाशिषः—आयुरारोग्यमैश्वर्यमविनाशः स्वयंजयः। सौभाग्यञ्च—पुनश्चायुर्युष्माकं चास्तु सर्वदेत्याद्युक्ताः। जप्त्वा आवर्त्य, ततस्तस्माद्गुरोः सकाशात् समयान् आचारान् न्यासध्यानादीन् अन्यानपि वैष्णवधर्मान् शृणुयात् ।।१३४-१३५।।

उसके बाद—'हम दोनों को यह मन्त्र सम फलप्रद होवे', श्रीगुरुदेव, यह कहकर अक्षत सह जल, शिष्य के हस्त में अर्पण करें ।।१३२।।

स्वीय तनु से ज्योतिर्मयी मन्त्रात्मिका विद्या शिष्य देह में प्रविष्ट हो रही है, श्रीगुरु उस प्रकार चिन्ता करें, एवं शिष्य भी गुरु देह से स्वीय देह में समागता विद्या की भावना करके "मैं धन्य हुआ" इस प्रकार चिन्ता विशेष रूप से करे ।।१३३।।

भगवन्निवेदित पायसान्न प्रदान करके शिष्य को शुभाशिष प्रदान करें। श्रीगुरुदेव कृपापूर्वक जो मन्त्रापण करेंगे, शिष्य भी उक्त मन्त्र लाभपूर्वक अष्टोत्तर शत जप करे। अनन्तर श्रीगुरुदेव के निकट से समय समूह अर्थात् आचरण, न्यास ध्यानादि एवं अन्यान्य वैष्णव धर्म का श्रवण करे ।।१३४-१३५।।

अथ समयाः

समयसमूह का निर्णय। श्रीनारदपञ्चरात्र में वर्णित है—शिष्य श्रीगुरुदेव से मन्त्रप्राप्त होने के पश्चात् किसी को मन्त्रोपदेश न करे, एवं जन समक्ष में प्रकाश न करे। उस प्रकार श्रीभागवतादि शास्त्र किम्वा पूजादि विषयक ग्रन्थ का भी गोपन करे। एवं निज शरीर के समान रक्षा करे ।।१३६।।

वैष्णवानां परा भक्तिराचार्य्याणां विशेषतः। पूजनञ्च यथाशक्ति तानापन्नांश्च पालयेत् ॥१३७॥
प्राप्तमायतनाद्विष्णोः शिरसा प्रणतो वहेत्। निक्षिपेदम्भसि ततो न पतेदवनौ यथा ॥१३८॥
सोमसूर्य्यान्तरस्थञ्च गवाश्वत्थाग्निमध्यगम्। भावयेद्दैवतं विष्णुं गुरुविप्रशरीरगम् ॥१३९॥

यत्र यत्र परीवादो मात्सर्य्याच्छ्रूयते गुरोः।
तत्र तत्र न वस्तव्यं निर्यायात् संस्मरन् हरिम् ॥१४०॥
यैः कृता च गुरोर्निन्दा विभोः शास्त्रस्य नारद।
नापि तैः सह वस्तव्यं वक्तव्यं वा कथञ्चन ॥१४१॥
प्रदक्षिणे प्रयाणे च प्रदाने च विशेषतः।
प्रभाते च प्रवासे च स्वमन्त्रं बहुशः स्मरेत् ॥१४२॥
स्वप्ने वाक्षिसमक्षं वा आश्चर्य्यमतिहर्षदम्।
अकस्माद्यदि जायेत न ख्यातव्यं गुरोर्विना ॥१४३॥

पञ्चरात्रान्तरे—

समयांश्च प्रवक्ष्यामि संक्षेपात् पञ्चरात्रकात्। न भक्षयेन्मत्स्यमांसं कूर्मशूकरकांस्तथा ॥१४४॥

शास्त्रम्—श्रीभागवतादि पूजादिसम्बन्धि वा, आपन्नान् आपद्गतान् सतः ॥१३६-१३७॥

प्राप्तं निर्माल्यादि, अतएवोक्तं तत्रैव प्रायश्चित्तप्रकरणे—'विष्णोर्निवेदितं प्राप्य निक्षिपेत् यत्र कुत्रचित्। अयोग्यस्याथवा दद्यात् सोऽप्यमष्टशतं जपेत् ॥' इति ॥१३८॥

विभोः भगवतः ॥१४१॥

मत्स्यमांसे निषिद्धेऽपि पुनः कूर्मादिनिषेधः कदाचिद्रोगादिना मांसाशिनोऽप्यवश्यं तद्वर्जनाय ॥१४४॥

वैष्णववृन्दों के प्रति विशेषतः भक्तिवादी आचार्य्यगणों के प्रति भक्ति प्रदर्शन, यथाशक्ति उनकी पूजा, एवं आपत् ग्रस्त होने से उनकी रक्षा करें ॥१३७॥

श्रीविष्णुमन्दिर से निर्माल्यादि प्राप्त होने पर प्रणति पूर्वक निज मस्तक में उसका धारण करे, पश्चात् जल में उसका निक्षेप करे। मृत्तिका में पतित न हो ॥१३८॥

श्रीविष्णु की भावना,—सोम सूर्य्य के अन्तर्वर्त्ती रूप में गो, अश्वत्थ, अग्नि के अन्तर्गत रूप में, एवं गुरु एवं देहमध्यगत रूप में भावना करे ॥१३९॥

जहाँ जहाँ मात्सर्य्य वशतः श्रीगुरुदेव की निन्दा श्रुत होती है, उक्त स्थानों में अवस्थान न करे। श्रीविष्णु स्मरण पूर्वक वहाँ से प्रस्थान करें ॥१४०॥

हे नारद! जो लोक गुरुनिन्दा, भगवन्निन्दा एवं शास्त्रनिन्दा करते हैं, उसके साथ कभी भी अवस्थान कथोपकथन न करे ॥१४१॥

विशेषतः प्रदक्षिणा, गमन, दान, प्रातःकाल एवं प्रवास के समय स्वीय मन्त्र का स्मरण बारंबार करे ॥१४२॥

स्वप्न अथवा अक्षि सन्निकट में सहसा यदि किसी प्रकार अति हर्षद आश्चर्य्यकर घटना होती है, तो, उसको श्रीगुरुदेव के समीप भिन्न अन्यत्र कदापि व्यक्त न करे ॥१४३॥

पञ्चरात्रान्तर में वर्णित है—मत्स्य, मांस, कूर्म एवं वराह भोजन न करे ॥१४४॥

कांस्यपात्रे न भुञ्जीत न प्लक्षवटपत्रयोः। देवागारे न निष्ठीवेत् क्षुतं चात्र विवर्जयेत्।
न सोपानत्कचरणः प्रविशेदन्तरं क्वचित् ॥१४५॥

एकादश्यां न चाश्नीयात् पक्षयोरुभयोरपि। जागरं निशि कुर्वीत विशेषाच्चार्चयेद्विभुम् ॥१४६॥

सम्मोहनतन्त्रे च—

गोपयेद्देवतामिष्टां गोपयेद्गुरुमात्मनः।
गोपयेच्च निजं मन्त्रं गोपयेन्निजमालिकाम् ॥१४७॥ इति।
चतुर्युक्शतसंख्येषु प्राग्गुरोः समयेषु च।
शिष्येणाङ्गीकृतेष्वेव दीक्षा कैश्चन मन्यते ॥१४८॥

तथा च विष्णुयामले—

गुरुः परीक्षयेच्छिष्यं संवत्सरमतन्द्रितः।
नियमान् विहितान् वर्ज्यान् श्रावयेच्च चतुःशतम् ॥१४९॥
ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थानं महाविष्णोः प्रबोधनम्।
नीराजनञ्च वाद्येन प्रातःस्नानं विधानतः ॥१५०॥

विशुद्धाहतयुग्वस्त्रधारणं देवतार्चनम्। गोपीचन्दनमृत्स्नायाः सर्वदा चोर्द्ध्वपुण्ड्रकम् ॥१५१॥

देवागार इत्यग्रेऽत्रानुवर्त्तत एव; ततश्च अन्तरं, देवागाराभ्यन्तरमित्यर्थः। क्वचित् कदाचिदपि, यद्वा, कस्मिंश्चिदपि देवागारे ॥१४५॥

विशेषादिति अन्यतिथिभ्यो विशेषेण एकादश्यां तत्रापि विशेषतो जागरणेनार्चयेदित्यर्थः ॥१४६॥

समयश्रवणे मतान्तरं लिखति—चतुर्युगिति। प्राक् प्रथमं गुरोः सकाशादङ्गीकृतेष्वेव ॥१४८॥

विहितान् विधेयानित्यर्थः; चतुर्युक्तशतम् ॥१४९॥

अत्रादौ द्विपञ्चाशद्विहितानाह—ब्राह्म इत्यादिना चिन्तनमित्यन्तेन ॥१५०॥

विशुद्धञ्च पवित्रम्, आहतञ्च नूतनम् पाठान्तरे विशुद्धेन जनेनाहृतमानीतं यत् युग्वस्त्रं वस्त्रयुगमम् तस्य

कांस्य पात्र, अश्वत्थ पत्र, वट पत्र में भोजन न करे। देवालय में निष्ठीवन त्याग न करे, तथा न छींके। पादुका लेकर देवमन्दिर में प्रवेश न करे ॥१४५॥

उभय पक्ष की शुक्ल-कृष्ण एकादशी तिथि में भोजन न करे। एकादशी रात्रि जागरण एवं विशेषरूप में श्रीभगवत् पूजन करे ॥१४६॥

सम्मोहन तन्त्र में वर्णित है—इष्ट देव को गोपन करे, स्वीय गुरुदेव को गोपन करे, स्वीय मन्त्र को गोपन करे, एवं निज जप मालिका को भी गोपन करे ॥१४७॥

कतिपय व्यक्ति के मत में निर्णीत है कि—शिष्य, श्रीगुरु के निकट से एकशत चार नियम अङ्गीकार करने से ही वह दीक्षा प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है ॥१४८॥

उक्त विषय में विष्णु यामल में उक्त है,—गुरुदेव अतन्द्रित होकर एक वत्सर काल पर्य्यन्त शिष्य की परीक्षा करें, एवं एकशत चार नियम पालनीय है, एवं जो अपालनीय है, उसका उपदेश करें ॥१४९॥

सम्प्रति उक्त नियमसमूह का वर्णन करते हैं,—(१) ब्राह्ममुहूर्त्त में शय्या त्याग, (२) महाविष्णु का प्रबोधन, (३) वाद्य के सहित नीराजन, (४) यथाविधि प्रातःस्नान, (५) विशुद्ध नवीन परिधेय एवं उत्तरीय धारण, (६) तर्पणादि के द्वारा जल में स्वीय इष्ट देवता का पूजन, (७) गोपीचन्दन मृत्तिका के

पञ्चायुधानां विधृतिश्चरणामृतसेवनम् । तुलसीमणिमालादिभूषाधारणमन्वहम् ।
निर्माल्योद्वासनं विष्णोस्तच्चन्दनविलेपनम् ॥१५२॥
शालग्रामशिलापूजा प्रतिमासु च भक्तितः । निर्माल्यतुलसीभक्षस्तुलस्यवचयो विधेः ॥१५३॥
विधिना तान्त्रिकी सन्ध्या शिखाबन्धो हि कर्मणि । विष्णुपादोदकेनैव पितॄणां तर्पणक्रिया ।
महाराजोपचारैश्च शक्त्यां संपूजनं हरेः ॥१५४॥
विष्णुभक्त्यविरोधेन नित्यनैमित्तिकी क्रिया ।
भूतशुद्ध्यादिकरणं न्यासाः सर्वे यथाविधि ॥१५५॥
नवीन-फलपुष्पादेर्भक्तितः संनिवेदनम् । तुलसीपूजनं नित्यं श्रीभागवतपूजनम् ॥१५६॥
त्रिकालं विष्णुपूजा च पुराणश्रुतिरन्वहम् । विष्णोर्निवेदितानां वै वस्त्रादीनाञ्च धारणम् ॥१५७॥
सर्वेषां पुण्यकार्य्याणां स्वामिदृष्ट्या प्रवर्त्तनम् । गुर्वाज्ञाग्रहणं तत्र विश्वासो गुरुणोदिते ॥१५८॥
यथास्व-मुद्रारचनं गीतनृत्यादि भक्तितः । शङ्खादिध्वनिमाङ्गल्य-लीलाद्यभिनयो हरेः ।
नित्यहोमविधानञ्च बलिदानं यथाविधि ॥१५९॥

धारणम्; देवताया निजेष्टदैवतस्य अर्चनं तर्पणादिना जले पूजनम्; पाठान्तरेऽपि स एवार्थः ॥१५१॥

शालग्रामशिलायां पूजा प्रतिमासु च पूजेत्येष एको नियमः, निर्माल्यतुलस्या भक्षः भक्षणम्; भूषेति वा पाठः; भूषणत्वेन मस्तकादौ धारणमित्यर्थः; विधेर्यथाविधीत्यर्थः ॥१५३॥

शक्त्यां शक्तौ सत्याम्, शक्त्येति पाठेऽपि स एवार्थः, एवमग्रेऽपि ॥१५४॥

या विष्णुभक्त्या सह विरुद्धा न भवतीत्यर्थः; पाठान्तरं स्पष्टम् ॥१५५॥

पुराणानां श्रीभागवतादीनां श्रुतिः श्रवणम् ॥१५७॥

स्वामिदृष्ट्या भगवदाज्ञाबुद्ध्या; यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमीति बुद्ध्या वा; यद्वा, स्वामीतिबुद्ध्या दासभावेनेत्यर्थः ॥१५८॥

यथास्वं निजमन्त्रदेवतानुसारेण मुद्राणां रचनं बन्धनम्; तथा स्वेति पाठेऽपि स एवार्थः ॥१५९॥

द्वारा सर्वदा ऊर्द्धपुण्ड्र धारण, (८) नित्य आयुध पञ्चक—अर्थात् निज शरीर में शङ्ख, चक्र, गदा, खड्ग एवं शरासन धारण, (९) चरणामृत सेवन, (१०) प्रत्यह तुलसी मालिका एवं मणिमालादि धारण, (११) श्रीविष्णु निर्माल्यापसारण, (१२) निजाङ्ग में विष्णु निर्माल्य चन्दन लेपन, (१३) श्रीशालग्राम शिला एवं श्रीविष्णु प्रतिमा समूह का भक्ति पूर्वक पूजन, (१४) श्रीविष्णु निर्माल्य तुलसी भक्षण, (१५) यथाविधि श्रीतुलसी चयन, (१६) यथाविधि तान्त्रिक सन्ध्या की उपासना, (१७) धर्मकार्य्य में शिखा बन्धन, (१८) श्रीविष्णु पादोदक के द्वारा पितृ तर्पण कार्य्य समाधान, (१९) समर्थ होने पर महाराजोपचार से श्रीहरि की अर्चना, (२०) श्रीविष्णु भक्ति का अविरोधी नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान, (२१) भूतशुद्ध्यादि एवं न्यास समूह का यथाविधि सम्पादन, (२२) श्रीभगवान् को नूतन फलपुष्पादि का भक्तिपूर्वक अर्पण, (२३) नित्य तुलसी पूजन, (२४) नित्य श्रीभागवत पूजन, (२५) प्रतिदिन त्रिकाल श्रीभगवत् अर्चन, (२६) नित्य भागवतादि पुराण श्रवण, (२७) श्रीविष्णु निवेदित वस्त्रादि धारण, (२८) भृत्य भाव से श्रीभगवान् के समस्त कार्य्य सम्पादन। (२९) श्रीगुरुदेव का निर्देश ग्रहण, (३०) श्रीगुरूपदिष्ट वाक्य में विश्वास, (३१) स्वीय मन्त्रदेवता के अनुसार तिलक धारण, (३२) भक्ति भाव से गीत, (३३) एवं भक्ति भाव से नृत्यादि, (३४) श्रीहरिमन्दिर में शङ्खादि मङ्गल ध्वनि,

साधूनां स्वागतं पूजा शेषनैवेद्यभोजनम् । ताम्बूलशेषग्रहणं वैष्णवैः सह सङ्गमः ॥१६०॥
विशिष्टधर्मजिज्ञासा दशम्यादिदिनत्रये । व्रते नियमतः स्वास्थ्यं सन्तोषो येन केन वै ॥१६१॥
पर्वयात्रादिकरणं वासराष्टकसद्विधिः । विष्णोः सर्वर्त्तुचर्य्या च महाराजोपचारतः ॥१६२॥
सर्वेषां वैष्णवानाञ्च व्रतानां परिपालनम् । गुरावीश्वरभावश्च तुलसीसंग्रहः सदा ॥१६३॥
शयनाद्युपचारश्च रामादीनाञ्च चिन्तनम् ॥१६४॥
सन्ध्ययोः शयनं नैव न शौचं मृत्तिकां विना । तिष्ठताचमनं नैव तथा गुर्वासनासनम् ॥१६५॥
गुर्वग्रे पादविस्तारच्छायाया लङ्घनं गुरोः । शक्तौ स्नानक्रियाहानिर्देवतार्चनलोपनम् ॥१६६॥
देवतानां गुरूणाञ्च प्रत्युत्थानाद्यभावनम् ।
गुरोः पुरस्तात् पाण्डित्यं प्रौढ़पादक्रिया तथा ॥१६७॥

स्वागतं पूजा चेत्येक एव नियमः, विशेषतो धर्मस्य वैष्णवकृत्यस्य ; यद्वा, विशिष्टधर्मस्य भगवद्धर्मस्य जिज्ञासा ; दशम्यादिदिनत्रयेषु दशम्येकादशी द्वादशीषु यद्व्रतञ्च भक्षणादिनियमस्तस्मिन् नियमेण (निश्चयेन) स्वास्थ्यं श्रद्धया स्थैर्य्यमित्यर्थः। पर्व जन्माष्टम्यादिमहोत्सवः, यात्रा देवालयादिगमनम्, आदिशब्देन तुलसीपुष्पवाटिकादितत्तद्विधानम्, वासराष्टकम् अष्ट महाद्वादश्यः, तस्य सद्विधिः सत्कारः, यथाविधि प्रतिपालनमित्यर्थः। सर्वेषु ऋतुषु वसन्तादिषु चर्य्या तत्तत्कालीनपुष्पादिभिः परिचर्य्या दोलान्दोलनादिक्रिया वा ; सा च महाराजोपचारतः शक्तौ सत्यामिति ज्ञेयम् ॥१६०-१६२॥

शयनं शय्या, आदिशब्दात् पादसम्वाहनादिः, तत्तद्रूपो वा उपचारः ; रामादीनां चिन्तनं—'रामं स्कन्दं हनूमन्तं वैनतेयं वृकोदरम् । शयने यः स्मरेन्नित्यं दुःस्वप्नः तस्य नश्यति ॥' इत्याद्युक्तेः ॥१६४॥

अधुना वर्ज्ज्यान् द्विपञ्चाशन्नियमान् आह—सन्ध्ययोरित्यादिना सदेत्यन्तेन। तथाशब्देन नैवेति सर्वत्राग्रेऽप्यनुवर्ण्यते ॥१६५॥

प्रत्युत्थानादीनाम् अभावनम् अकरणमित्यर्थः। प्रौढ़पादलक्षणमुक्तम्—'आसनारूढ़पादस्तु जानुनोर्वापि जङ्घयोः। कृतावसक्थिको यस्तु प्रौढ़पादः स उच्यते ॥'१६७॥

---

(३५) लीलादि का अभिनय, (३६) यथाविधि प्रत्यह होम, (३७) यथाविधि नित्य नैवेद्यार्पण, (३८) साधु वृन्दों का स्वागत एवं अर्चन, (३९) शेष नैवेद्य भक्षण, (४०) ताम्बूल शेष ग्रहण, (४१) वैष्णव सङ्ग, (४२) भगवद् धर्म जिज्ञासा, (४३) दशमी, एकादशी एवं द्वादशी तिथित्रय में व्रत विषयक विधान ग्रहण, (४४) सर्व अवस्था में सदा सन्तोष धारण, (४५) पर्व एवं यात्रादि पालन, (४६) यथाविधि अष्टमहाद्वादशी प्रतिपालन, (४७) वसन्तादि समस्त ऋतुओं में महाराजोपचार से श्रीविष्णु की परिचर्य्या, (४८) समस्त वैष्णवव्रतों का प्रतिपालन, (४९) श्रीगुरुदेव के प्रति ईश्वराभाव, (५०) सर्वदा तुलसी संग्रह, (५१) शयनादि उपचार अर्पण, आदि शब्द से—पाद सम्बाहनादि, (५२) रामादि की भावना, "रामं स्कन्दं हनूमन्तं वैनतेयं वृकोदरम् । शयने यः स्मरेन्नित्यं दुःस्वप्नः तस्य नश्यति ॥"

अनन्तर वर्जनीय विषय का वर्णन करते हैं—(५३) उभय सन्ध्या में शयन परित्याग, (५४) मृत्तिका व्यतीत शौच न करना, (५५) दण्डायमान अवस्था में आचमन न करना, (५६) श्रीगुरुदेव के आसन में उपवेशन न करना, (५७) गुरुदेव के सम्मुख में पदप्रसारण न करना, (५८) श्रीगुरुदेव की छाया लङ्घन न करना, (५९) सामर्थ्य रहते हुए स्नान न करना, (६०) देवपूजा विलुप्त न करना, (६१) देवता एवं गुरुवर्ग की प्रत्युत्थानादि न करना, (६२) श्रीगुरुदेव के सम्मुख में स्वीय पाण्डित्य प्रकाश न करना, (६३) ऊर्द्धजानु

अमन्त्रतिलकाचामो नीलीवस्त्रविधारणम् ।
अभक्तैः सह मैत्र्यादि असच्छास्त्रपरिग्रहः ।
तुच्छसङ्गसुखासक्तिर्मद्यमांसनिषेवणम् ॥१६८॥
मादकौषधसेवा च मसुराद्यन्नभोजनम् ।
शाकं तुम्बी कलञ्जादि तथाऽभक्तान्नसंग्रहः ।
अवैष्णवव्रतारम्भस्तथा जप्यमवैष्णवम् ॥१६९॥
अभिचारादिकरणं शक्त्या गौणोपचारकम् ।
शोकादिपारवश्यञ्च दिग्विद्धैकादशीव्रतम् ॥१७०॥
शुक्लाकृष्णाविभेदश्चासद्व्यापारो व्रते तथा ।
शक्तौ फलादिभुक्तिश्च श्राद्धं चैकादशीदिने ॥१७१॥
द्वादश्याञ्च दिवास्वापस्तुलस्यवचयस्तथा ।
तत्र विष्णोर्दिवास्नानं श्राद्धं हर्य्यनिवेदितैः ॥१७२॥
वृद्धावतुलसीश्राद्धं तथा श्राद्धमवैष्णवम् । चरणामृतपानेऽपि शुध्यर्थाचमनक्रिया ॥१७३॥

मन्त्रं विना तिलकं आचामश्चाचमनमिति, द्वाभ्यामेक एव नियमः ॥१६८॥

आदिशब्देन दग्धान्नादि, आदिशब्दात् वृन्ताकादि, अभक्तात् अवैष्णवात् अन्नस्य संग्रहः परिग्रहः, संग्रह-शब्देन क्षुत्पीड़योदरभरणमात्रान्नग्रहणमनुज्ञातम् ॥१६९॥

दिग्‌दशमी, व्रते असद्व्यापारः द्यूतक्रीड़ादि ॥१७०-१७१॥

तत्र द्वादश्याम् ॥१७२॥

वृद्धौ वृद्धिश्राद्धे, तुलसीं विना श्राद्धम्, अवैष्णवं वैष्णवजनरहितं भगवदनिवेदितान्नादिविहितं वा चरणामृतपाने सत्यपि शुद्धचर्थम् इतरजलपानविहिताचमनं यथाकथञ्चित् पूर्वजातशुद्धेः पावित्र्यायाचमन-मित्यर्थः ॥१७३॥

होकर उपवेशन न करना, (६४) मन्त्र व्यतीत तिलक रचना एवं आचमन न करना, (६५) नील वसन धारण न करना, (६६) अभक्त अर्थात् श्रीहरि पराङ्‌मुख जनगण के सहित मित्रतादि न करना, (६७) असत् शास्त्र ग्रहण न करना, (६८) तुच्छ सङ्ग एवं तुच्छ सुख में आसक्त न होना, (६९) मद्य मांस सेवन न करना, (७०) मादकौषध सेवन न करना, (७१) मसूर एवं दग्ध द्रव्यादि भक्षण न करना, (७२) शाक भोजन न करना, (७३) तुम्बी, कलञ्ज वृन्ताकादि भोजन न करना, (७४) अवैष्णव के निकट से अन्नसंग्रह न करना, (७५) विष्णु सम्बन्धरहित व्रतान्तर का अनुशीलन न करना, (७६) श्रीविष्णु मन्त्र व्यतीत अन्य मन्त्र का जप न करना, (७७) अभिचारादि अर्थात् उच्चाटन वशीकरण प्रभृति का अनुष्ठान न करना, (७८) सामर्थ्य रहते हुए गौण उपचार अर्पण न करना, (७९) शोकादि का वशीभूत न होना, (८०) दशमी विद्धा एकादशी व्रत पालन न करना, (८१) शुक्ल एवं कृष्ण एकादशी में पार्थक्य न करना, (८२) व्रतालम्बन करके द्यूतादि क्रीड़ा न करना, (८३) सामर्थ्य रहते हुए व्रत में फलादि भोजन न करना, (८४) एकादशी में श्राद्ध न करना, (८५) द्वादशी में दिवा निद्रा न करना, (८६) द्वादशी में तुलसी चयन न करना, (८७) द्वादशी में श्रीविष्णु को दिन में स्नान न कराना, (८८) श्रीहरि के अनिवेदित अन्न के द्वारा श्राद्ध न करना, (८९) वृद्धिश्राद्ध में तुलसी व्यतीत श्राद्ध न करना, (९०) अवैष्णव

काष्ठासनोपविष्टेन वासुदेवस्य पूजनम् । पूजाकालेऽसदालापः करवीरादिपूजनम् ॥१७४॥
आयसं धूपपात्रादि तिर्य्यक्पुण्ड्रं प्रमादतः । पूजा चासंस्कृतैर्द्रव्यैस्तथा चञ्चलचित्ततः ॥१७५॥
एकहस्तप्रणामादि अकाले स्वामिदर्शनम् । पर्य्युषितादिदुष्टानामन्नादीनां निवेदनम् ॥१७६॥

संख्यां विना मन्त्रजपस्तथा मन्त्रप्रकाशनम् ।
सदा शक्त्यां मुख्यलोपो गौणकालपरिग्रहः ॥१७७॥
प्रसादाग्रहणं विष्णोर्वर्जयेद्वैष्णवः सदा ।
चतुःशतं विधीनेतान् निषेधान् श्रावयेद्गुरुः ॥१७८॥
अङ्गीकारे कृते वाढ़ं तन्नीराजनपूर्वकम् ।
देवपूजां कारयित्वा दक्षकर्णे मनुं जपेत् ॥१७९॥ इति ।
ततश्चोत्थाय पूर्णात्मा दण्डवत् प्रणमेद्गुरुम् ।
तत्पादपङ्कजं शिष्यः प्रतिष्ठाप्य स्वमूर्द्धनि ॥१८०॥

करवीरशब्देन गृहकरवीरम्, आदिशब्दाच्चार्कादि ज्ञेयम्, तेन यद्भगवतः पूजनं तत् ॥१७४॥
प्रमादतोऽपि ॥१७५॥

आदिशब्देन एकप्रदक्षिणादि, यद्यपि एतत् सर्वमग्रे लेख्यतत्तत्प्रकरणे विशेषतोऽभिव्यक्तं भावि, तथापि सुखबोधायात्र किञ्चिद्विवृतम् ॥१७६॥

शक्त्यां शक्तौ सत्यमपि, कदासक्त्येतिपाठे कुत्सितकर्माद्यभिनिवेशेन मुख्यकालस्य लोपः, अतएव गौणकालस्य परिग्रह इत्येक एव नियमः ॥१७७॥

वाढ़म् अङ्गीकारे शिष्येण तेषां स्वीकारे कृते सति, तस्य शिष्यस्य नीराजनपूर्वकम् ॥१७९॥
तस्य गुरोः पादपङ्कजं स्वीयमूर्द्धनि प्रतिष्ठाप्य चिरं भक्त्या निधाय ॥१८०॥

श्राद्ध न करना, अर्थात् वैष्णव पुरोहित रहित अथवा भगवदनिवेदित अन्नादि द्वारा श्राद्ध न करना, (९१) श्रीचरणामृत पान करके शुद्धि हेतु अन्य जल ग्रहण पूर्वक आचमन न करना, (९२) काष्ठासन में उपवेशन पूर्वक श्रीविष्णु पूजन न करना, (९३) पूजन के समय असद्वार्त्ता न करना, (९४) लौह निर्मित धूप पात्रादि का व्यवहार न करना, (९५) गृह करवीर एवं आकन्द पुष्प के द्वारा श्रीभगवान् का पूजन न करना, (९६) प्रमाद से वक्रतिलक धारण न करना, (९७) असंस्कृत द्रव्य के द्वारा तथा (९८) चञ्चल चित्त से भगवदर्चन न करना, (९९) एक हस्त के द्वारा प्रणाम, एकवार प्रदक्षिण न करना, (१००) असमय में देव दर्शन न करना, (१०१) संख्या व्यतीत मन्त्र जप न करना, (१०२) मन्त्र प्रकाश न करना, (१०३) सामर्थ्य रहते हुए समय लोप करके गौण समय को स्वीकार न करना, (१०४) श्रीविष्णु प्रसाद अनङ्गीकार करना । उक्त एकशत चार विधि एवं निषेधात्मक वैष्णव कृत्य का श्रवण श्रीगुरुदेव शिष्य को करावें ॥१५०-१७८॥

"वाढ़म्" शब्द उच्चारण पूर्वक शिष्य उक्त नियम समुदय अङ्गीकार करने पर शिष्य की नीराजन करके देव पूजा करवाकर श्रीगुरुदेव शिष्य के दक्षिण कर्ण में मन्त्र जप करें ॥१७९॥

अनन्तर शिष्य, आनन्दित चित्त से उठ कर श्रीगुरुपादपद्म का स्थापन निज मस्तक में अनेक क्षण पर्य्यन्त करे। पश्चात् श्रीगुरु चरणों में दण्डवत् प्रणाम करे ॥१८०॥

अथ न्यासान् गुरुः स्वस्मिन् कृत्वाऽन्तर्यजनं तथा ।
साष्टं सहस्रं तन्मन्त्रं स्वशक्त्यक्षतये जपेत् ॥१८१॥
शिष्यः कुम्भादि तत् सर्वं द्रव्यमन्यच्च शक्तितः ।
दत्त्वाऽभ्यर्च्य गुरुं नत्वा विप्रान् संपूज्य भोजयेत् ॥१८२॥
श्रीगुरोर्ब्राह्मणानाञ्च शुभाशीर्भिः समेधितः ।
ताननुज्ञाप्य गुर्वादीन् भुञ्जीत सह बन्धुभिः ॥१८३॥
इति दीक्षाविधानेन यो मन्त्रं लभते गुरोः ।
स भाग्यवान् चिरञ्जीवी कृतकृत्यश्च जायते ॥१८४॥

तथा च सम्मोहनतन्त्रे श्रीशिवोमासंवादे—

एवं यः कुरुते मर्त्यः करे तस्य विभूतयः । अतः परं महाभागे नान्यत् कर्मास्ति भूतले ।
यस्याचरणमात्रेण साक्षात् कृष्णः प्रसीदति ॥१८५॥
प्रायः प्रपञ्चसारादावुक्तोऽयं तान्त्रिको विधिः ।
दीक्षाया लिख्यते दिव्यो विधिः पौराणिकोऽधुना ॥१८६॥

तमुपदिष्टं मन्त्रम् अष्टोत्तरसहस्रवारान् जपेत्, स्वशक्तेः अक्षतये अहानये स्वसामर्थ्यरक्षणार्थमित्यर्थः । तत् दीक्षार्थानीतं मण्डपस्थितं कुम्भादिकं सर्वमेव द्रव्यम्; अन्यच्च मन्त्रदक्षिणादिरूपम्; तदुक्तं—'प्रकारान्तर-मालम्ब्य गुरुं यत्नेन तोषयेत् । गुरुपुत्रकलत्रादींस्तोषयेत् कनकादिभिः ॥' इति । विप्रान् ऋत्विजोऽन्यान् सद्ब्राह्मणान् शक्त्या सम्यक् पूजयित्वा ॥१८१-१८२॥

समेधितः सम्यग्वर्द्धितः ॥१८३॥

इति अनेनोक्तेन, गुरोः सकाशात् ॥१८४॥

एवमुक्तप्रकारेण, हे महाभागे देवि ॥१८५॥

अयं लिखितो यो दीक्षाविधिः स प्रायस्तान्त्रिकः, यतः प्रपञ्चसारादौ तन्त्रोक्तानुसारिणि ग्रन्थे उक्तः;

इसके बाद श्रीगुरुदेव अपने में न्यास एवं अन्तर्यजन अर्थात् मानसिक अर्चन पूर्वक स्व-शक्ति रक्षार्थ अष्टोत्तर सहस्र मन्त्र जप करें ॥१८१॥

शिष्य भी दीक्षार्थ आनीत मण्डपस्थित कुम्भादि द्रव्यसमूह एवं शक्त्यनुरूप मन्त्र दक्षिणा रूप अन्यान्य द्रव्यसमूह श्रीगुरुदेव को अर्पण कर पूजा एवं प्रणाम पूर्वक विप्रवृन्द का शक्त्यानुरूप अर्चन करके भोजन करावे ॥१८२॥

तत्पश्चात् गुरुदेव एवं विप्रवृन्द के शुभाशीर्वाद वाक्य के द्वारा सम्यक् वर्द्धित होकर श्रीगुरुदेव एवं विप्रवर्ग के आदेश ग्रहण पूर्वक बन्धुगण के सहित शिष्य भोजन करे ॥१८३॥

उक्त दीक्षा विधानानुसार जो व्यक्ति श्रीगुरुदेव के निकट से मन्त्र प्राप्त करता है, वह भाग्यवान्, चिरजीवी एवं कृतकृतार्थ होता है ॥१८४॥

सम्मोहन तन्त्रस्थ श्रीशिवोमा संवाद में वर्णित है,—जो व्यक्ति उक्त विधि के अनुसार कर्म करता है, उसके करतलगत समस्त विभूति होती है। हे महाभागे ! पृथिवी में उससे श्रेष्ठ कार्य्य और नहीं है। इसके आचरण मात्र से ही स्वयं श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं ॥१८५॥

प्रपञ्चसारादि ग्रन्थ में दीक्षाविधि वर्णित है,—यह प्राय तान्त्रिक है। सम्प्रति पुराण में वर्णित दिव्य

अथ वराहपुराणोक्तदीक्षाविधिः

इदानीं श्रृणु मे देवी पञ्चपातकनाशनम् । यजनं देवदेवस्य विष्णोः पुत्रवसुप्रदम् ॥१८७॥
इह जन्मनि दारिद्रचव्याधिकुष्ठादिपीड़ितः । अलक्ष्मीवानपुत्रस्तु यो भवेत् पुरुषो भुवि ।
तस्य सद्यो भवेल्लक्ष्मीरायुर्वित्तं सुताः सुखम् ॥१८८॥
दृष्ट्वा तु मण्डले देवि देवं देव्या समन्वितम् । नारायणं परं देवं यः पश्यति विधानतः ॥१८९॥
पूजितं नवनाभे तु षोड़शाब्जदले तथा । आचार्य्यदर्शितं देवं मन्त्रमूर्त्तिमयोनिजम् ॥१९०॥
कार्त्तिके मासि शुद्धायां द्वादश्यान्तु विशेषतः । सर्वासु च यजेद्देवं द्वादशीषु विधानतः ॥१९१॥
संक्रान्तौ च महाभागे चन्द्रसूर्य्यग्रहेऽपि वा । यः पश्यति हरिं देवं पूजितं गुरुणा शुभे ।
तस्य सद्यो भवेत्तुष्टिः पापध्वंसोऽप्यशेषतः ॥१९२॥

तथा च क्रमदीपिकायाम्—प्रपञ्चसारप्रथितात्र दीक्षेत्यादि । दिव्य इति पुराणानां माहात्म्यविशेषात् । तथा च पाद्मे श्रीशिवपार्वतीसंवादे—'वेदार्थादधिकं मान्यं पुराणार्थञ्च भामिनि' इति । यद्वा, निजप्रियतमां श्रीधरणीं प्रति पृथ्वीसमुद्धारकेण श्रीभगवता साक्षादुक्तत्वात् ॥१८६॥

हे देवि धरणि ! यजनं पूजाविधिम्, यद्यदि स्वयमेवायं भगवान् विष्णुस्तथापि परमविनयादिना आत्मानं साक्षादनिर्दिशन् विष्णोरित्युक्तवान् । एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम् ॥१८७-१८८॥

कुतो लक्ष्म्यादिकं भवति ? तदाह—दृष्ट्वेति द्वाभ्याम् । मण्डले सर्वतोभद्रादौ दर्शनप्रकारमेवाह—नारायणमिति । नवनाभे चक्रे षोड़शारेऽष्टपत्रे वेत्यर्थः । एतच्चाग्रे व्यक्तं भावि । आचार्य्योपदिष्टं मन्त्रमूर्त्तिं देवं यः पश्यति मन्त्रं सम्यक्जानाति, तस्य लक्ष्म्यादिकं सद्य एव भवतीत्यर्थः ॥१८९-१९०॥

दीक्षाकालमाह—कार्त्तिक इति सार्द्धेन । शुद्धायां शुक्लायाम्, सर्वास्विति मार्गशीर्षमाघादिचतुष्टय श्रावणाश्विनानां शुक्लाद्वादशीषु चेति ग्रन्थान्तरानुसारतो ज्ञेयम् । तथा संक्रान्ताविति, तत्तन्माससंक्रान्तिष्वपीत्यर्थः । एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम् ॥१९१-१९२॥

दीक्षाविधि प्रदर्शित हो रही है ॥१८६॥

अथ वराहपुराणोक्तदीक्षाविधिः

वराहपुराण में वर्णित दीक्षाविधि । श्रीभगवान् वराह रूप में आविर्भूत होकर रसातलगत मही को उद्धार किए थे । हे देवि ! अधुना पञ्चपातक (ब्रह्महत्या, सुरापान, चौर्य्य, गुरुदार गमन, पापीजन सङ्ग, पञ्च पातक हैं) नाशन, पुत्र धन प्रद देवदेव श्रीविष्णु की पूजा पद्धति का श्रवण करो ॥१८७॥ भूतल में जो व्यक्ति दारिद्रच, व्याधि कुष्ठादि द्वारा प्रपीड़ित, अलक्ष्मीवान् एवं पुत्रहीन है, उसकी सद्यः लक्ष्मी, आयु, वित्त एवं सुख प्राप्ति होती है ॥१८८॥

हे देवि ! जो व्यक्ति, यथाविधि सर्वतोभद्र मण्डल में लक्ष्मी समन्वित श्रीनारायण का दर्शन करता है, अथवा नवनाभ षोड़शारचक्र में किंवा अष्टदल पद्म में आचार्य्य के उपदेशानुसार अयोनिज मन्त्रमूर्त्ति सदृश देव की पूजा करता है, वह ही लक्ष्मी प्राप्त करता है ॥१८९-१९०॥

अनन्तर दीक्षा समय का वर्णन करते हैं—कार्त्तिक मास की शुक्ला द्वादशी तिथि में एवं अन्यान्य द्वादशी तिथि में भी यथाविधि श्रीकृष्ण की पूजा करे । हे महाभागे ! हे कल्याणि ! जो संक्रान्ति में अथवा चन्द्र सूर्य्य ग्रहण समय में श्रीगुरुदेव के द्वारा पूजित श्रीकृष्ण देव का दर्शन करता है, उसकी सद्यः तुष्टि प्राप्ति एवं अशेष पापहानि होती है । अन्यान्य समस्त शुक्ला द्वादशी संक्रान्ति, अग्रहायण, माघ, फाल्गुण, चैत्र, श्रावण, आश्विन मास की शुक्ला द्वादशी संक्रान्ति को दीक्षाग्रहण का प्रशस्त समय जानना होगा । ग्रन्थान्तर

स सामान्यो हि देवानां भवतीति न संशयः ॥१६३॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परीक्षणम् ।
सम्वत्सरं गुरुः कुर्य्याज्जातिशौचक्रियादिभिः ॥१६४॥
उपसन्नांस्ततो ज्ञात्वा हृदयेनावधारयेत् ।
तेऽपि भक्तिमतो ज्ञात्वा आत्मनः परमेश्वरम् ।
संवत्सरं गुरोर्भक्तिं कुर्य्युर्विष्णाविवाचलाम् ॥१६५॥
संवत्सरे ततः पूर्णे गुरुञ्चैव प्रसादयेत् ॥१६६॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन संसारार्णवतारणम् । इच्छामस्त्वैहिकीं लक्ष्मीं विशेषेण तपोधन ॥१६७॥
एवमभ्यर्थ्य मेधावी गुरुं विष्णुमिवाग्रतः । अभ्यच्चर्च तदनुज्ञातो दशम्यां कार्त्तिकस्य तु ॥१६८॥

देवानां ब्रह्मादीनां सामान्यः सदृश इत्यर्थः ॥१६३॥

दीक्षाधिकारिण आह—ब्राह्मणेति सार्द्धद्वयेन । भक्तानामिति पाठेऽपि सेवकानां शूद्राणामित्यर्थः ॥१६४॥

उपसन्नान् निकटागतान् प्रति, ततः संवत्सरानन्तरमेव, जात्यादि ज्ञात्वा दीक्षाया योग्या अयोग्या वेति मनसा विचारयेत् । यद्वा, सहवासादिना निकटवर्त्तिनः सतस्तान् ज्ञात्वा व्यवहारादिना परीक्ष्य हृदयेन बुद्धया अवधारयेत् दीक्षायोग्यत्वेन निश्चिनुयात्; यद्वा, उपसन्नान्—कृतोपसत्तिकान् दीक्षाधिकारिण इति दृढं जानीयादित्यर्थः । उपपन्नानिति पाठेऽपि तथैवार्थः । भक्तिमतो भक्तियुक्तान् आत्मनः स्वान् प्रति परमेश्वरं गुरुं ज्ञात्वा; यद्वा, षष्ठचन्तमेव पदद्वयं, ततश्च भक्तिमत इत्यात्मनो विशेषणम्; यद्वा, भक्तिमन्तः प्रीतियुक्ताः सन्तः, गुरुमात्मनः परमेश्वरं ज्ञात्वा, ततश्च भक्तिमत इत्यार्षम् ॥१६५॥

तेषु यः परीक्षितः शिष्यः स प्रसादयेत् ॥१६६॥

तत्प्रकारमेवाह—भगवन्निति । इच्छाम इति बहुत्वं निजपुत्राद्यपेक्षया ॥१६७॥

अभ्यर्थ्य प्रार्थ्य, अभ्यच्चर्च धनादिना संमान्य, तेन गुरुणाऽनुज्ञातः सन्, कार्त्तिकस्य दशम्यां क्षीरयुक्तवृक्षोद्भूतं

में इसका विशेष विवरण है ॥१६१-१६२॥

वह देववृन्द के सदृश होता है, इस विषय में सन्देह नहीं है ॥१६३॥

श्रीगुरुदेव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रादि की जाति शुद्धाचार एवं क्रियादि के द्वारा सम्वत्सर काल परीक्षा करें । पाठान्तर में 'शूद्राणां' के स्थान में 'भक्तानां' पाठ दृष्ट होता है ॥१६४॥

निकटागत व्यक्ति समूह की परीक्षा एक वत्सर करे, अनन्तर जात्यादि जानकर दीक्षा प्राप्त करने का योग्य अथवा अयोग्य है, मनसा विचार करें । अथवा निकट में अवस्थान हेतु व्यवहारादि के द्वारा परीक्षा करके हृदय से निश्चय करे कि वह व्यक्ति दीक्षित होने का योग्य है अथवा नहीं । श्रीगुरुरूप निज के प्रति वह व्यक्ति परमेश्वर बुद्धि से भक्ति करता है, अथवा नहीं, इसका परिज्ञान करे । अथवा भक्तिमान् शब्द का अर्थ प्रीतिमान् है । अर्थात् प्रीतियुक्त हृदय से श्रीगुरु को परमेश्वर मानकर परिचर्य्या करता है अथवा नहीं, जानकर ही दीक्षा प्रदान करें ॥१६५॥

संवत्सर पूर्ण होने से श्रीगुरु को प्रसन्न करे ॥१६६॥

श्रीगुरु को किस रीति से प्रसन्न करना होता है, उसका प्रकार कहते हैं,—हे भगवन्! हे तपोधन! आपके अनुग्रह से संसार से उत्तीर्ण होने का एवं ऐहिक लक्ष्मी विशेष लाभ करने का इच्छुक हूँ ॥१६७॥

मेधावी शिष्य उक्त प्रकार से प्रार्थना करके सर्वप्रथम विष्णुवत् श्रीगुरुदेव की पूजा करे, अनन्तर

क्षीरवृक्षसमुद्भूतं मन्त्रितं परमेष्ठिना । भक्षयित्वा शयीतोर्व्यां देवदेवस्य सन्निधौ ॥१९९॥
स्वप्नान् दृष्ट्वा गुरोरग्रे श्रावयेत विचक्षणः । ततः शुभाशुभं तद्वदालपेत् परमो गुरुः ।
एकादश्यामुपोष्याथ स्नात्वा देवालयं व्रजेत् ॥२००॥
गुरुश्च मण्डलं भूमौ कल्पितायान्तु वर्त्तयेत् । लक्षणैर्विविधैर्भूमिं लक्षयित्वा विधानतः ॥२०१॥
षोड़शारं लिखेच्चक्रं नवनाभमथापि वा । अष्टपत्रमथो वापि लिखित्वा दर्शयेद्बुधः ॥२०२॥
नेत्रबन्धं प्रकुर्वीत सितवस्त्रेण यत्नतः । वर्णानुक्रमतः शिष्यान् पुष्पहस्तान् प्रवेशयेत् ॥२०३॥
नवनाभं यदा कुर्य्यान्मण्डलं वर्णकैर्बुधः । तदानीं पूर्वतो देवमिन्द्रमैन्द्र्यां तु पूजयेत् ॥२०४॥

दन्तकाष्ठं परमेष्ठिना मूलमन्त्रेण मन्त्रितं सायं सन्ध्यानन्तरं भक्षयित्वा देवालये भूमौ शयीत ॥१९८-१९९॥

तद्वदिति—स्वप्नानुसारेणेत्यर्थः । तदुक्तम्—'क्रूरस्वप्नेऽधमा दीक्षाऽदुष्टस्वप्ने तु मध्यमा । उत्तमस्वप्नपूर्वा तु दीक्षा सर्वोत्तमा मता ॥' इति ॥२००॥

कल्पितायां संस्कृतायाम्, वर्त्तयेत् विरचयेत, विधानत इति—पुण्याहं स्वस्त्यादिकं वाचयित्वेत्यादिकं बोद्धव्यम्; एवमग्रेऽप्यस्य पदस्यानुवर्त्तनाद्विज्ञेयमिति दिक् । पञ्चवर्णेन रजसा यथाशोभनं लिखेत् ॥२०१-२०२॥

शुक्लवस्त्रेण नेत्रबन्धं शिष्याणां कुर्य्यात्, शिष्याणां प्रवेशनञ्च मण्डलान्तःस्थापितकलसेषु भगवत इन्द्रादीनाञ्च पूजानन्तरमेव ज्ञेयम् ॥२०३॥

वर्णकैः—पञ्चवर्णैश्चूर्णादिभिः; इन्द्रमैन्द्र्यां पूजयेदित्यत्र दिङ्मण्डले च विन्यस्येत्यादिवक्ष्यमाणवचनतो ग्रन्थानुसारतश्चैवं विधानं ज्ञेयम् । नवनाभमण्डले प्रागादिक्रमेणाष्टासु दिक्ष्वष्टकलसान्, मध्ये चैकमित्येवं नवकलसान् एकाकारानव्रणानुदध्यक्षतवस्त्रयुग्मपुष्पमालागन्धालङ्कृतान् अन्तःप्रक्षिप्तपञ्चपल्लवसप्तमृत्तिकातीर्थोदकपरिपूरितान् उपरिस्थापितयवशाल्यन्यतरपूर्णसदीपशरावमुखान् यवानां व्रीहीणां चोपरि विन्यस्यादौ मध्यकलसे मूलमन्त्रेण भगवन्तमावाहनादिगन्धपुष्पान्तैरुपचारैः संपूज्य पश्चादिन्द्रं पूर्वस्यां दिशि अग्न्यादींश्च स्वस्वदिशि क्रमेण पूजयेदिति ॥२०४॥

तदीय आज्ञा ग्रहणपूर्वक कार्त्तिक मास की शुक्ला दशमी तिथि में क्षीर वृक्ष समुद्भुत दन्तकाष्ठ द्वारा दन्तधावन करके देवदेव के सम्मुख में भूतल शय्या में शयन करे ॥१९८-१९९॥

धीमान् शिष्य, निशीत में स्वप्न दर्शन करके श्रीगुरुदेव को निवेदन करे, अनन्तर श्रीगुरुदेव उक्त स्वप्नानुसार शुभाशुभ निर्णय करेंगे। तदनन्तर शिष्य एकादशी में उपवास करके द्वादशी में स्नानपूर्वक देवालय में गमन करे ॥२००॥

श्रीगुरुदेव, संस्कृत भूमि में मण्डलाङ्कन करें। पश्चात् विविध लक्षण के द्वारा भूमि निर्दिष्ट करके यथाविधि षोड़शार अथवा नवनाभ चक्र रचना करके अथवा अष्टदल पद्म अङ्कन करके दर्शन करावें ॥२०१-२०२॥

शिष्य के नेत्रयुगल को शुक्ल वस्त्र के द्वारा आबद्ध करें, एवं पुष्प हस्तयुक्त शिष्य को प्रवेश वर्णक्रमानुसार करावें। यह प्रवेश—मण्डलान्तःस्थापित कलस में भगवान् एवं दिक्पाल इन्द्रादि के पूजन के अनन्तर ही होगा ॥२०३॥

शास्त्रज्ञ गुरुदेव, यथाविधि पञ्चवर्ण चूर्ण के द्वारा नवनाभ मण्डल की रचना करे, उक्त समय में इन्द्राधिकृत पूर्वदिक् में इन्द्र की पूजा भी करें ॥२०४॥

लोकपालमथाग्नेय्यामग्निं संपूजयेद्द्विजः। यमं तदनु याम्यायां नैर्ऋत्यां निर्ऋतिं न्यसेत्।
वारुण्यां वरुणं चैव वायव्यां पवनं यजेत् ॥२०५॥

धनदं चोत्तरे न्यस्य रुद्रमैशानगोचरे। संपूज्यैवं विधानेन दिक्पत्रेषु विशेषतः।
अधःपत्रे तथा विष्णुमर्चयेत् परमेश्वरम् ॥२०६॥

पूर्वपत्रे बलं पूज्य प्रद्युम्नं दक्षिणे तथा। अनिरुद्धं तथा पूज्य पश्चिमे चोत्तरे तथा।
पूजयेद्वासुदेवं तु सर्वपातकशान्तिदम् ॥२०७॥
ऐशान्यां विन्यसेच्छङ्खमाग्नेय्यां चक्रमेव च।
सौम्यायान्तु गदा पूज्या वायव्यां पद्ममेव च ॥२०८॥
नैर्ऋत्यां मुषलं पूज्यं दक्षिणे गरुड़ं तथा।
वामतो विन्यसेल्लक्ष्मीं देवदेवस्य बुद्धिमान् ॥२०९॥
धनुश्चैव च खड्गञ्च देवस्य पुरतो न्यसेत्।
श्रीवत्सं कौस्तुभञ्चैव देवस्य पुरतोऽर्चयेत् ॥२१०॥
एवं पूज्य यथान्यायं देवदेवं जनार्द्दनम्।
दिङ्मण्डले च विन्यस्य चाष्टौ कुम्भान् विधानतः।
वैष्णवं कलसं चैव नवमं तत्र कल्पयेत् ॥२११॥

द्विजो गुरुः, न्यसेदिति—तत्र स्थापितकलसे आवाह्य पूजयेदित्यर्थः ॥२०५॥

संपूज्य पूजयित्वा, विधानेनेत्युक्तेरेवं ज्ञेयम्—व्याहृतिभिः शुक्लाक्षतैः इन्द्रागच्छेत्यादिप्रयोगेणावाह्य प्रणवादिना चतुर्थीनमोऽन्तेन तत्तन्नाममन्त्रेण सशक्तिकान् सपरिवारान् सायुधान् सवाहनान् सगन्धपुष्पाद्यैरुपचारैः संपूज्येति विधानेनेति पदमग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयम् ॥२०६॥

ततो मध्यमकलसस्यैव परितः पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरपत्रेषु श्रीसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धवासुदेवान् क्रमेण तथैव पूजयेदित्याह—पूर्वेति सार्द्धेन ॥२०७॥

यथान्यायं यथोचितं पूज्य संपूज्य, तच्च क्रमदीपिकाद्यनुसारेण द्रष्टव्यम् ॥२०८-२११॥

अग्नि कोण में अग्नि का, दक्षिण कोण में यम का, निर्ऋति का नैऋत कोण में, पश्चिम दिक् में वरुण का वायु कोण में पवन का पूजन करें ॥२०५॥

उत्तर दिक् में कुवेर की, ईशान कोण में रुद्र की, इस प्रकार दिक् पत्र समूह में यथाविधि पूजा करके मध्यपत्र में परमेश्वर श्रीविष्णु की अर्चना करें ॥२०६॥

अनन्तर पूर्वपत्र में सङ्कर्षण की, दक्षिण पत्र में प्रद्युम्न की, पश्चिम पत्र में अनिरुद्ध की एवं सर्वपातक नाशक वासुदेव की अर्चना उत्तर पत्र में करे ॥२०७॥

ईशान कोण में शङ्ख, अग्नि कोण में चक्र, उत्तर में गदा, वायु कोण में पद्म, नैर्ऋत कोण में मुषल, एवं दक्षिण में गरुड़ की अर्चना करें। अवशेष में विचक्षण गुरु देव के वाम पार्श्व में लक्ष्मी के अग्रभाग में धनुष, खड्ग, श्रीवत्स, कौस्तुभ का अर्चन करें। इस प्रकार यथारीति देवदेव जनार्दन की पूजा करके यथाविधान अष्ट दिक् में अष्ट कुम्भ स्थापनपूर्वक विष्णु सम्बन्धी नवम कुम्भ का स्थापन उक्त स्थान में करें ॥२०८-२११॥

स्नापयेन्मुक्तिकामांस्तु वैष्णवेन घटेन तु । श्रीकामात् स्नापयेत्तद्वदैन्द्रेनाथ घटेन तु ॥२१२॥
जयप्रतापकामांस्तु आग्नेयेनाभिषेचयेत् । मृत्युञ्जयविधानेन याम्येन स्नापनं तथा ॥२१३॥
दुष्टप्रध्वंसनायालं नैर्ऋतेन विधीयते । शान्तये वारुणेनाथ पापनाशाय वायवम् ॥२१४॥
द्रव्यसम्पत्तिकामस्य कौवेरेण विधीयते । रौद्रेण ज्ञानहेतुस्तु लोकपालघटास्त्विमे ॥२१५॥
एकैकेन नरः स्नातः सर्वपापविवर्ज्जितः । भवेदव्याहतज्ञानः श्रीमांश्च पुरुषः सदा ॥२१६॥
किं पुनर्नवभिः स्नातो नरः पातकवर्ज्जितः । जायते विष्णुसदृशः सद्यो राजाथवा पुनः ॥२१७॥

अथवा दिक्षु सर्वासु यथासंख्येन लोकपान् ।
पूजयेत् स्वस्वनाम्ना तु षड़्भिन्नेन विधानतः ॥२१८॥
एवं संपूज्य देवांस्तु लोकपालान् प्रसन्नधीः ।
पश्चात् परीक्षितान् शिष्यान् बद्धनेत्रान् प्रवेशयेत् ॥२१९॥
आग्नेयधारणादग्धान् वायुना विधूतांस्ततः ।
सोमेनाप्यायितान् पश्चाच्छ्रावयेन्नियमान् बुधः ॥२२०॥

ततो धूपदीपाद्यैरशेषैरुपचारैर्भगवन्तमिन्द्रादींश्च पूजयित्वा शिष्याय मण्डलं दर्शयित्वा पुष्पाञ्जलिपूर्वकं प्रणामं कारयित्वा वैष्णवादिभिर्नवभिरेव कलसैः शिष्यं स्नापयेदिति ज्ञेयम् ; तत्र च कलसभेदेन फलभेदमाह —स्नापयेदिति चतुर्भिः ॥२१२-२१५॥

पुनश्चैकैकेन स्नानस्य फलविशेषं समुचितैश्च तैर्महाफलमाह—एकैकेनेति द्वाभ्याम् ॥२१६-२१७॥

पूजायां पक्षान्तरमाह—अथवेति । स्वस्वनाम्ना स्वस्वनाममन्त्रेण हृदयादिक्रमेण षड़्भिन्नेन इन्द्रादीनां षड़ङ्गपूजा कार्य्येत्यर्थः ॥२१८॥

अथ परिहितशुक्लनववस्त्रं तादृगुत्तरीयमाचान्तमलङ्कृतं शुक्लवस्त्रबन्धनेत्रं शिष्यं मण्डलं प्रदक्षिणेन प्रवेश्य प्राङ्मुखमुपविष्टं तं वाय्वग्निवरुणवीजैः कृतभूतशुद्धिं प्रणतं प्रह्वीभूतं समयान् श्रावयेदित्याह—एवमिति द्वाभ्याम् । आग्नेय्या, धारणया दग्धानिति, तद्दग्धत्वं ध्यानेनैवेति ज्ञेयम्; एवमग्रेऽपि ॥२१९-२२०॥

अनन्तर कुम्भ भेद से स्नान के द्वारा फलभेद का वर्णन करते हैं—वैष्णव कुम्भ के द्वारा मुमुक्षु को स्नान करावें। श्री कामी को इन्द्रकुम्भ के द्वारा, जयाभिलाषी को एवं प्रतापाभिलाषी को आग्नेय कुम्भ के द्वारा, मृत्युञ्जयाभिलाषी को यम कुम्भ के द्वारा, दुष्ट विनाशाकाङ्क्षी को नैर्ऋत कुम्भ के द्वारा, शान्तिकामिगण को वरुण कुम्भ द्वारा, पातक नाशेच्छु को वायव्य कलस द्वारा, द्रव्य सम्पत्ति कामी को कौवेर कुम्भ द्वारा एवं ज्ञानलाभेच्छु को रौद्रकुम्भ द्वारा स्नान कराने से उक्त पुरुष सर्वदा सर्वपापरहित, अव्याहत ज्ञानी एवं श्रीमान् होते हैं। नव संख्यक कुम्भ के द्वारा स्नात होने से उसका फल क्या कहूँ। वह व्यक्ति पातक शून्य एवं सद्यः विष्णुसदृश अथवा राजा होता है ॥२१२-२१७॥

सम्प्रति अर्चन के सम्बन्ध में पक्षान्तर का वर्णन करते हैं,—अथवा दिक् समूह में यथासंख्य स्व-स्व नाम मन्त्र द्वारा लोकपालगणों का हृदयादि क्रम से षड़ङ्ग भेद से पूजन करें ॥२१८॥

प्रसन्नचेता श्रीगुरुदेव, लोकपालों की पूजा करके पश्चात् परीक्षित बद्धनेत्र शिष्य को प्रवेश करावें। अनन्तर अग्नि, वायु एवं वरुणवीज द्वारा भूतशुद्धि करने के बाद नियमसमूह का श्रवण करावें ॥२१९-२२०॥

न निन्देद्ब्राह्मणान्देवान् विष्णुं ब्राह्मणमेव च ।
रुद्रमादित्यमग्निञ्च लोकपालान् ग्रहांस्तथा ।
वन्देत वैष्णवं चापि पुरुषं पूर्वदीक्षितम् ॥२२१॥
एवन्तु समयान् श्राव्य पश्चाद्धोमं तु कारयेत् ।
तत्त्वानि शिष्यदेहेषु विन्यस्य च विशोधयेत् ॥२२२॥
ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वरूपिणे हुँ स्वाहा ॥२२३॥
षोड़शाक्षरमन्त्रेण होमयेज्ज्वलितानलः । गर्भाधानादिकाश्चैव क्रियाः सर्वाश्च कारयेत् ॥२२४॥
त्रिभिस्त्रिभिराहुतिभिर्देवदेवस्य सन्निधौ । ततोऽपनीय दृग्बन्धं पुरः शिष्यं निवेश्य च ।
प्रायः पूर्वोक्तविधिना मन्त्रं तस्मै गुरुर्दिशेत् ॥२२५॥

समयानेवाह—न निन्देदिति सार्द्धेन । पूर्वदीक्षितं दीक्षाक्रमेण स्वस्मात् ज्येष्ठमित्यर्थः । ब्राह्मणादीनामेतेषां वन्दनादिना सम्माननैव कार्य्या, न तु कदाचिदपि निन्देदित्यर्थः ॥२२१॥

श्राव्य श्रावयित्वा, शिष्येण सहर्ष तदङ्गीकारे कृते पश्चाद्धोमं कुर्य्यात ; तत्त्वानि विन्यस्य क्रमदीपिकायुक्ततत्त्वन्यासादिकं कृत्वा तद्देहात् विशोधयेत् । होमविधिमाह—षोड़शेति सार्द्धेन होमयेत् होमं कुर्य्यात्, तत्प्रकारमेव शिष्यं विशिष्य दर्शयति—गर्भेति । आदिशब्देन पुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौड़ोपनयनस्नानविवाहाख्याः संस्काराः । अत्र चायं प्रकारो ग्रन्थान्तरानुसारेण द्रष्टव्यः—षोड़शारचक्रेऽष्टदलकमले वा पीठपूजां कृत्वावाहनादिभिरुपचारैर्भगवन्तमभ्यर्च्च्य स्वगृह्योक्तविधिनाग्निस्थापनादिकर्म पूर्वलिखितवद्विधायात्रोक्तेन षोड़शाक्षरमन्त्रेणाग्नेर्गर्भाधानादिसंस्कारान् कुर्यात् । तत्र च प्रत्येकसंस्कारमाहुतित्रयं जुहुयादिति । किञ्च, अनन्तरमाज्यभागान्ते मूलमन्त्रेणाग्नौ देवमावाह्य गन्धादिभिरुपचारैरभ्यर्च्च्य षोड़शाक्षरमन्त्रेणाष्टोत्तरं सहस्रं शतं वा संस्कृत्याज्येन जुहुयात् । ततः स्विष्टकृतादिहोमशेषं समाप्य पूर्णाहुतिं दत्त्वा वैश्वानरं प्रणवादिनमोऽन्तमन्त्रेण गन्धादिभिरुपचारैरभ्यर्च्च्य शिष्यं प्रणमय्य मण्डलस्यैशानदिशि पुष्पादिभूषितायां भुवि रचितं भद्रपीठमानीयास्त्रमन्त्राभिमन्त्रितैः पुष्पैः सम्भाव्य पाशनिराकरणबुद्ध्या नेत्रबन्धनवस्त्रमपनीय ज्ञानरूपहैमशलाकया नयने उन्मील्य पुष्पाञ्जलिं ग्राहयित्वा, 'अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥' इति गुरुपादयोर्दत्तपुष्पाञ्जलिं भद्रपीठे पुरत उपविष्टो गुरुः स्वन्यस्तासने तमुपवेश्य शक्त्युच्चलनमार्गेण निजमध्यमनाड़ीं तन्मध्यमनाड्यां समाविशन्तीं विचिन्त्य शक्तिञ्च तन्नांशिकतया तद्धृदये समुल्लसन्तीं परिभाव्य स्वहृदयाच्च परविद्यां वर्णरूपेण चिदानन्दस्फुलिङ्गमालामिव तद्वदनं प्रविशन्तीं ध्यायेत् । ततश्च मूलमन्त्रं त्रिः शिष्यकर्णे श्रावयेत् । पश्चादर्घ्यपात्रजलेन

ब्राह्मण, देवता, विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र, सूर्य्य, वह्नि, लोकपाल, ग्रह एवं पूर्वदीक्षित वैष्णवगण की निन्दा न करे, प्रणामादि के द्वारा सम्मान करे ॥२२१॥

श्रीसद्गुरु के निकट से नियमसमूह श्रवण के अनन्तर यदि शिष्य उक्त नियमों का पालन सहर्ष करे तो, होम कार्य्यारम्भ करे, एवं शिष्य के शरीर में तत्त्वसमूह का न्यास पूर्वक शोधन करे । अतःपर अग्नि प्रज्वलित करके 'ओं नमो भगवते विष्णवे सर्वरूपिणे हुँ' इस षोड़षाक्षर मन्त्र के द्वारा होम करे एवं देवदेव के सन्निधान में तीन आहुति द्वारा वह्नि के गर्भाधानादि क्रियासमूह का सम्पादन करे, अनन्तर गुरुदेव शिष्य का नेत्र बन्धन मोचन करके सम्मुख में शिष्य को उपवेशन कराकर पूर्ववर्णित विधान से उक्त शिष्य को मन्त्रोपदेश प्रदान करें ॥२२२-२२५॥

होमान्ते दीक्षितः पश्चाद्दापयेद्गुरुदक्षिणाम् । हस्त्यश्वरत्नकटकं हेमग्रामादिकं नृपः ।।२२६।।
दापयेद्गुरवे प्राज्ञो मध्यमो मध्यमां तथा । दापयेदितरो युग्मं सहिरण्यं यथाविधि ।।२२७।।
एवं कृते तु यत् पुण्यं माहात्म्यं जायते धरे । तदशक्यं तु गदितुमपि वर्षशतैरपि ।।२२८।।

दीक्षितात्मा गुरोर्भूत्वा वाराहं शृणुयाद्यदि ।
तेन वेदाः पुराणानि सर्वे मन्त्राः सुसंग्रहाः ।।२२९।।
जप्ताः स्युः पुष्करे तीर्थे प्रयागे सिन्धुसागरे ।
देवहूते कुरुक्षेत्रे वाराणस्यां विशेषतः ।।२३०।।
ग्रहणे विषुवे चैव यत् फलं जपतां भवेत् ।
तत् फलं द्विगुणं तस्य दीक्षितो यः शृणोति च ।।२३१।।
देवा अपि तपः कृत्वा ध्यायन्ति च वदन्ति च ।
कदा मे भारते वर्षे जन्म स्याद्भूतधारिणि ।।२३२।।

अमुकर्षिममुकछन्दस्कममुकदेवताकममुकनाम्ने मदंशाय तुभ्यमहं संप्रददे, अयं चावयोः समानफलप्रदो भवत्विति तद्धस्ते निक्षिपेत् । तथैव शिष्योऽपि गुरुदेवतामन्त्रैक्यं भावयन् यथाशक्ति जपेदिति ।।२२२-२२५।।

ततश्च पुण्याहं वाचयित्वा गुरुवे दक्षिणां दद्यादित्याह—होमान्त इति । दीक्षितः गृहीतदीक्षाकः सन् नृप इति राजतुल्यशक्तिश्चेदित्यर्थः ; युग्मं वस्त्रद्वयम्, तत्पश्चाच्चैवमत्र विधानं ज्ञेयम्—अद्य प्रभृति यावज्जीवं श्रीविष्णुप्रीतिकामः प्रत्यहं भगवन्तं श्रीकृष्णं पूजयिष्य इति सङ्कल्प्य देवं गुरूपदिष्टमार्गेण पूजयित्वा सर्वदेवता उद्वास्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा दीक्षोपकरणजातं गुरवे निवेद्य स्वजनानपि सम्मानयेदिति ।।२२६-२२७।।

दीक्षाफलमाह—एवमित्यादिना श्रुतिरित्यन्तेन ।।२२८।।

'जयमाधव—शब्दाढ्यमानसोल्लासपुरतकात् । दीक्षापद्धतिमालोच्य टीवेयं लिखिता मया ।।' वाराहं वराहपुराणम्, षोड़शानां श्रीभागवतव्यतिरिक्तपद्मपुराणादीनाम्, आत्मानम् आश्रयं प्रवर्त्तकं वा प्रथमं श्रीव्यासतस्तस्यैवाविर्भावप्रसिद्धेः, देहे युक्त्वा श्रवणादिना संयुज्य, यद्वा, षोड़शानां तत्त्वानामात्मानमधिष्ठातारं

बुद्धिमान् शिष्य दीक्षित होकर होमावसान में पुण्याहं उच्चारण पूर्वक गुरुदक्षिणा प्रदान करे । शिष्य, राजा के तुल्य वित्तशाली होने से गुरुदेव को हस्ती, अश्व, रत्नाभरण, स्वर्ण एवं ग्राम प्रभृति का अर्पण दक्षिणा रूप में करे । मध्यवित्त होने से मध्यवित्त दक्षिणा एवं तद्भिन्न अन्यान्य व्यक्ति यथाविधि यथाशक्ति स्वर्ण के सहित वसनद्वय का अर्पण करे ।।२२६-२२७।।

दीक्षाफल का वर्णन करते हैं—हे पृथिवि ! उक्त रीति से कार्य्य करने से जो पुण्य एवं माहात्म्य सञ्चय होता है, उसका वर्णन शतवर्ष में भी नहीं हो सकता है ।।२२८।।

शिष्य दीक्षित होकर यदि श्रीगुरुदेव के निकट से वराहपुराण श्रवण करता है, तब उसके द्वारा शिष्य का समग्र वेद, समग्र पुराण, समग्र मन्त्र सुसंग्रह होता है । एवं पुष्कर, प्रयाग, सागर सङ्गम, नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, विशेषतः काशिधाम में मन्त्र जप करने से जो फल होता है, वह फल होता है । चन्द्र सूर्य्य ग्रहण के समय एवं विष्णु संक्रान्ति में जप के द्वारा जो फल होता है, दीक्षित होकर वराहपुराण श्रवण से तदपेक्षा द्विगुण फल लाभ होता है । हे भूतधारिणि ! देवगण भी तपश्चरण पूर्वक उक्त प्रकार भावना करते हैं, एवं कहते हैं—कब हमारा जन्म भारतवर्ष में होगा, कब वहाँ हम सब दीक्षित होंगे, कब हम सब

दीक्षिताश्च भविष्यामो वाराहं शृणुमः कदा। वाराहं षोड़शात्मानं युक्ता देहे कदाचन।

पश्यामः परमं स्थानं यद्गत्वा न पुनर्भवेत् ॥२३३॥

एवं जल्पन्ति विबुधा मनसा चिन्तयन्ति च।

वाराहयागं कार्त्तिक्यां कदा द्रक्ष्यामहे धरे ॥२३४॥

एष ते विधिरुद्दिष्टो मया ते भूतधारिणि।

देवगन्धर्वयक्षाणां सर्वथा दुर्लभो ह्यसौ ॥२३५॥

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन यश्च पश्यति मण्डलम्।

यश्चेमं शृणुयाद्देवि सर्वे मुक्ता इति श्रुतिः ॥२३६॥

अथ संक्षिप्तदीक्षा

संक्षिप्तश्चाथ दीक्षाया विधिरेष विलिख्यते।

मुख्यकल्पे ह्यशक्तस्य जनस्य स्याद्धिताय यः ॥२३७॥

सुमुहूर्त्तेऽथ संप्राप्ते सर्वतोभद्रमण्डले। नूतनं गन्धपुष्पादिमण्डितं कलसं न्यसेत् ॥२३८॥

वस्त्रावृतं पयःपूर्णं पञ्चपल्लवसंयुतम्। सर्वौषधिपञ्चरत्नमृत्सप्तकगर्भितम् ॥२३९॥

मृत्तिकाश्च सप्तोक्ताः—

अश्वस्थानाद्गजस्थानाद्वल्मीकाच्च चतुष्पथात्।

राजद्वाराच्च गोष्ठाच्च नद्याः कूलान्मृदः स्मृताः ॥२४०॥ इति।

षोड़शयज्ञमूर्त्ति वा श्रीवराहरूपं भगवन्तं देहे मनःप्रधाने इन्द्रियाद्यात्मके वा ध्यानादिना साक्षादिव स्फोरयित्वा ॥२२९-२३३॥

किं चिन्तयन्ति? तदाह—वाराहयागमिति। हे धरे! इति तच्चिन्तनं कथयन् श्रीवराहभगवान् धरणीं सम्बोधयति ॥२३४॥

उद्दिष्टः संक्षेपेण कथितः ॥२३५॥

अशक्तस्य हिताय यः स्यात्। साष्टम् अष्टोत्तरं सहस्रम् ॥२३७-२४१॥

वराहपुराण श्रवण करेंगे, एवं कब पद्मपुराणादि षोड़श पुराणों का आश्रयस्वरूप वराहपुराण धारण कर जहाँ गमन करने से पुनर्जन्म नहीं होता है, उस श्रेष्ठ स्थान का दर्शन करेंगे ॥२२९-२३३॥

हे धरे! सुरगण चिन्ता करते हैं, एवं कहते हैं कि—कब हम सब कार्त्तिकी पौर्णमासी में वराह याग का दर्शन करेंगे? ॥२३४॥

हे भूतधारिणि! मैंने संक्षेप से तुम्हारे निकट दीक्षाविधि का वर्णन किया। यह देव, गन्धर्व, यक्षादि के लिए दुर्लभ हैं, हे देवि? श्रुति भी कहती है—जो तत्त्वतः उक्त विषय को जानता है, जो मण्डल का अवलोकन करता है, एवं जो एतद्विषय का श्रवण करता है, वे सब ही मुक्त होते हैं ॥२३५-२३६॥

अथ संक्षिप्तदीक्षा

मुख्य कल्प में असमर्थ होने से हितकर दीक्षाविधि का वर्णन संक्षेप से करते हैं,—सुमुहूर्त्त उपस्थित होने से सर्वतोभद्र मण्डल में गन्ध पुष्पादि भूषित, वस्त्र आच्छादित, जलपूर्ण, पञ्चपल्लव समन्वित, सर्वौषधि, पञ्च रत्न एवं सप्त मृत्तिका गर्भित नूतन कुम्भ स्थापन करें ॥२३७-२३९॥

सप्तमृत्तिका—अश्वशाला, गजशाला, वल्मीक, चतुष्पथ, राजद्वार, गोष्ठ एवं नदीतीर। उक्त स्थान

कृष्णमभ्यर्च्च्य तं कुम्भं कुशकूर्च्चेन देशिकः ।
देयमन्त्रेण साष्टन्तु सहस्रमभिमन्त्रयेत् ॥२४१॥
तदद्भिः पूर्ववच्छिष्यमभिषिच्य दिशेन्मनुम् ।
शिष्योऽर्च्चयेद्गुरुं भक्त्या यथाशक्ति द्विजानपि ॥२४२॥

अथोपदेशस्तत्त्वसारे—

अत्राप्यशक्तः कश्चिच्चेदब्जमभ्यर्च्च्य साक्षतम् ।
तदम्भसाभिषिच्याष्ट वारान्मूलेन के करम् ॥२४३॥
निधायामुं जपेत् कर्णे उपदेशेष्वयं विधिः ।
चन्द्रसूर्य्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये ।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते ॥२४४॥

तत्र तत्रैव विशेषः श्रीनारदपञ्चरात्रे—

वित्तलोभाद्विमुक्तस्य स्वल्पवित्तस्य देहिनः । संसारभयभीतस्य विष्णुभक्तस्य तत्त्वतः ॥२४५॥
अग्नावाज्यान्विते वीजैः सलिलैः केवलैश्च वा । द्रव्यहीनस्य कुर्वीत वचसानुग्रहं गुरुः ॥२४६॥
यः समः सर्वभूतेषु विरागो वीतमत्सरः । जितेन्द्रियः शुचिर्दक्षः सर्वाङ्गावयवान्वितः ॥२४७॥

दिशेत् कथयेत् ॥२४२॥
के मस्तके, करं निधाय, अमुं मूलमन्त्रम् ॥२४३-२४४॥
पूर्वलिखितविस्तीर्णे संक्षिप्ते च विधावपवादं लिखतिवित्तेति सार्द्धैः पञ्चभिः । वीजैर्यवादिभिः, वचसैव वा ॥२४५-२४६॥
ननु तथा दीक्षाविधिः कथं संपूर्णोऽस्त्वित्याशङ्क्याह—य इति सार्द्धत्रिभिः । सर्वैरङ्गस्य देहास्यावयवैरन्वितः,

---

समूह से आनीत मृत्तिका को सप्तमृत्तिका कहते हैं । श्रीगुरुदेव, श्रीकृष्ण पूजन करके कुशनिर्मित ब्रह्मग्रन्थि संयोग से उक्त कुम्भ को अष्टोत्तर सहस्रबार देय मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित करें ॥२४०-२४१॥

अनन्तर उक्त कुम्भस्थित जल के द्वारा पूर्वोक्त विधि से शिष्य को अभिषिक्त करके मन्त्रोपदेश करें। शिष्य भी यथाशक्ति भक्ति के सहित गुरु एवं विप्रवर्ग की पूजा करे ॥२४२॥

तत्त्वसार में उक्त है,— उक्त विधि में असमर्थ होने पर एक अक्षत पद्म की पूजा करके तज्जल के द्वारा मूल मन्त्रोच्चारण पूर्वक अष्टवार शिष्य को अभिषिक्त करके पश्चात् शिष्य के मस्तकोपरि हस्त स्थापन पूर्वक शिष्य के कर्ण में मूल मन्त्र जप करें, उपदेशसमूह के मध्य में यह ही विधि है । चन्द्र सूर्य्य ग्रहण समय में, तीर्थ स्नान में, सिद्ध क्षेत्र में अथवा शिवायतन में केवलमात्र मन्त्रदान को ही उपदेश कहते हैं ॥२४३-२४४॥

पूर्वोक्त विस्तीर्ण एवं संक्षिप्त दीक्षाविधि के सम्बन्ध में श्रीनारदपञ्चरात्र में वर्णित है,—वित्तलोभमुक्त, संसारभय ग्रस्त, वास्तविक विष्णुभक्त, स्वल्प वित्त, वित्तहीन व्यक्ति के सम्बन्ध में श्रीगुरुदेव घृतसमन्वित अग्नि में यवादि वीज के द्वारा अथवा केवल जल के द्वारा अथवा केवल वाक्य के द्वारा होम कार्य्य सम्पन्न करके मन्त्र प्रदान रूप अनुग्रह करें ॥२४५-२४६॥

जो व्यक्ति, सर्वत्र समदर्शी, विषयराग शून्य, मात्सर्य्य रहित, जितेन्द्रिय, पवित्र, दक्ष, अङ्गहानि

कर्मणा मनसा वाचा भीते चाभयदः सदा । समबुद्धिपदं प्राप्तस्तत्रापि भगवन्मयः ॥२४८॥
पञ्चकालपरश्चैव पञ्चरात्रार्थवित्तथा । विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकं चानेकभेदगम् ।
दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसन्नतान् ॥२४९॥

अथ मन्त्रदानमाहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारदसंवादे—

इह कीर्त्ति वदान्यत्वं प्रजावृद्धिं धनं सुखम् । विद्यादानेन लभते सात्त्विको नात्र संशयः ॥२५०॥
यथा सुराणां सर्वेषां परमः परमेश्वरः । तथैव सर्वदानानां विद्यादानं परं स्मृतम् ॥२५१॥
यावच्च पातकं तेन कृतं जन्मशतैरपि । तत् सर्वं नाशमाप्नोति विद्यादानेन देहिनाम् ॥२५२॥
विद्यादानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति । येन दत्तेन चाप्नोति शिवं परमकारणम् ॥२५३॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे दैक्षिको नाम द्वितीयो विलासः ।

समबुद्धीनां ज्ञानिनां पदम्; पञ्चसु कालेषु यत् कृत्यं तत्पर इत्यर्थः; एकमप्यनेकभेदप्राप्तमिति भेदाभेदसिद्धान्तापेक्षया, उपसन्नतान् भक्त्या प्रपन्नानित्यर्थः ॥२४७-२४९॥

विद्यामन्त्र एवात्र सर्वपुरुषार्थोपायत्वात्; अतएव क्रमदीपिकायाम्—'विद्यां न यः संविवित्सुः' इति। कीर्त्ति प्रतिष्ठाम्, वदान्यत्वञ्च दानशीलताम्; यद्वा, वदान्यत्वरूपां कीर्त्ति कृतमहादानत्वात्; सात्त्विकः निष्कपटः श्रद्धावान् वा ॥२५०॥

देहिनां देहिनः प्रति; शिवं मङ्गलरूपं परमसुखात्मकं वा; परमकारणम् श्रीब्रह्म श्रीकृष्णं वा ॥२५२-२५३॥

इति द्वितीयो विलासः ।

रहित, जो कर्मणा, मनसा, वाचा, भयाकुल व्यक्ति को सदा अभय प्रदान करता है, जिन्होंने ज्ञानी पद प्राप्त किया है, उससे अन्तर बाहर भगवन्मय दर्शन किया है, जो पाञ्चकालिक क्रिया दक्ष, जो पञ्चरात्र ग्रन्थार्थवेत्ता, उस प्रकार व्यक्ति बहुभेद प्राप्त अथच एक विष्णु तत्त्व को अवगत होकर आश्रित भक्त की बात तो क्या वह समग्र पृथिवी को दीक्षित करने का अधिकारी है ॥२४७-२४९॥

अथ मन्त्रदानमाहात्म्यम्

स्कन्द पुराण के ब्रह्म-नारद संवाद में उक्त है,—सात्त्विक व्यक्ति इस जगत् में विद्या दान के द्वारा प्रतिष्ठा, वदान्यत्व, सन्तति वर्द्धन, धन एवं सुख प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है। परमेश्वर विष्णु जिस प्रकार समस्त देववृन्द में श्रेष्ठ हैं, उस प्रकार समस्त दानों के मध्य में विद्या दान ही श्रेष्ठ दान है ॥२५०-२५१॥

विद्यादान के द्वारा दाता का अनुष्ठित शतजन्म के पातक समूह विनष्ट होते हैं। जिस दान के द्वारा परम कारण मङ्गलस्वरूप श्रीभगवान् का लाभ होता है। उक्त विद्यादान की अपेक्षा उत्तम दान अपर नहीं है ॥२५२-२५३॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते भगवद्भक्तिविलासे
दैक्षिको नाम द्वितीयो विलासः ।

तृतीय-विलासः

वन्देऽनन्ताद्भुतैश्वर्य्यं श्रीचैतन्यं महाप्रभुम्। नीचोऽपि यत्प्रसादात् स्यात् सदाचारप्रवर्त्तकः ॥१॥
पुंसो गृहीतदीक्षस्य श्रीकृष्णं पूजयिष्यतः। आचारो लिख्यते कृत्यं श्रुतिस्मृत्यनुसारतः ॥२॥

अथ दीक्षितस्य पूजाया नित्यता

आगमे—

लब्ध्वा मन्त्रन्तु यो नित्यं नार्चयेन्मन्त्रदेवताम्।
सर्वकर्माफलं तस्यानिष्टं यच्छति देवता ॥३॥ इति।

अथ सदाचारः

न किञ्चित् कस्यचित् सिध्येत् सदाचारं विना यतः।
तस्मादवश्यं सर्वत्र सदाचारो ह्यपेक्ष्यते ॥४॥

प्रभुः श्रीकृष्णचैतन्यो जीयात् यत्कृपया भवेत्।
श्वापि सिंहस्तृणं मेरुर्मूर्खो विद्वान् मृतोऽसुमान् ॥

निकृष्टस्याप्यात्मनः सदाचारलिखने श्रीभगवतोऽनुकम्पयाधिकारं सामर्थ्यञ्च द्योतयंस्तं प्रणमति—वन्दे इति। यस्य प्रसादाद्धेतोर्नीचजनोऽपि लिखनादिद्वारा सदाचाराणां प्रवर्त्तको भवति; तत्र हेतुः—अनन्तमद्भुतञ्चावितर्क्यमैश्वर्य्यं प्रभावो यस्य तम्, यतो महाप्रभुं परमेश्वरम् ॥१॥

पुंसः पुंमात्रस्येत्यर्थः, श्रीविष्णुदीक्षाग्रहणमात्रेण सर्वेषामेव तत्राधिकारात्; यद्यपि स्त्रीणामप्यधिकारोऽस्ति इति पूर्वं लिखितम्, तथापि कर्मसु पुंसः प्राधान्यात् पुंस इत्यत्र लिखितम्। एवमग्रे लेख्यं ब्राह्मणमित्यादिकमप्यूह्यम्। श्रीकृष्णं पूजयिष्यत इति तत्पूजार्थक इत्यर्थः। श्रुत्याद्यनुसारेण कृत्यमवश्यं कर्त्तुं योग्यं यत् यत् कर्म, श्रुतिस्मृत्यनुसारत इत्यस्य लिख्यत इत्यनेन वा सम्बन्धः ॥२॥

ननु पूजाविधिरेव लिख्यताम्, किमन्याचारलिखनेनेत्याशङ्क्य प्रथमं सदाचारस्य नित्यतां लिखति—न किञ्चिदिति। हि निश्चये, एतेन शास्त्रादिप्रमाणं सूचितम् ॥४॥

जिनके अनुग्रह से अयोग्य व्यक्ति भी सदाचार प्रवर्त्तक होने में सक्षम होता है, उन असमोर्द्ध अत्यद्भुत शक्तिसम्पन्न महाप्रभु श्रीचैतन्य देव की वन्दना करता हूँ ॥१॥

लब्ध दीक्ष व्यक्ति श्रीकृष्ण की अर्चना करें, मैं उनके निमित्त श्रुतिस्मृति के अनुसार कृत्यसमूह लिख रहा हूँ ॥२॥

अथ दीक्षितस्य पूजाया नित्यता

दीक्षित व्यक्ति की पूजननित्यता। आगममें वर्णित है,—मन्त्र प्राप्त कर जो व्यक्ति प्रत्यह मन्त्रदेवता की अर्चना नहीं करता है, उसके समस्त कर्म विफल होते हैं, एवं मन्त्रदेवता अनिष्ट प्रदान करते हैं ॥३॥

अथ सदाचारः

सदाचार व्यतीत किसी का कुछ भी कार्य्यं सिद्ध नहीं होता है, अतएव समस्त विषयों में सदाचार अवश्य अपेक्षणीय है ॥४॥

विष्णुपुराणे—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारणम् ॥५॥

अथ सदाचारस्य नित्यता

मार्कण्डेयपुराणे श्रीमदालसालर्कसंवादे—

गृहस्थेन सदा कार्य्यमाचारपरिपालनम् । न ह्याचारविहीनस्य सुखमत्र परत्र च ॥६॥

यज्ञदानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये । भवन्ति यः सदाचारं समुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते ॥७॥

भविष्योत्तरे च श्रीकृष्णयुधिष्ठिरसंवादे—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः, यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।

छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति, नीड़ं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥८॥

कपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ वा यथा पयः । दुष्टं स्यात् स्थानदोषेण वृत्तहीने तथाऽशुभम् ।

आचाररहितो राजन्नेह नामुत्र नन्दति ॥९॥ इति ।

लेख्येन स्मरणादीनां नित्यत्वेनैव सेत्स्यति ।

स्मरणाद्यात्मकस्यापि सदाचारस्य नित्यता ॥१०॥

अन्यः सदाचाराद्विष्णोराराधनात् परः पन्थाः केवलयोगाभ्यासादिः, तस्य विष्णोस्तोषकारको न भवति; अतएवोक्तं प्रथमस्कन्धे (श्रीभा० १।२।६)—'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे' इति । इति धर्मस्तु सदाचारलक्षण एव ॥५॥

मृत्युकाले त्यजन्ति—परलोके किमपि फलं न प्रयच्छन्तीत्यर्थः ॥८॥

वृत्तं सदाचारः, तेन हीने; शुभं तीर्थाटनादि पुण्यकर्म; ननु अन्यैरपि विशेषवचनैः स्पष्टसदाचारस्य नित्यत्वं लिख्यताम्, तत्र लिखति—लेख्येनेति । स्मरणादीनां स्मरणमारभ्यात्र ग्रन्थे लेख्यानां नित्यपक्ष-मासादिकृत्यानामग्रे लेख्येन नित्यत्वेनैव सदाचारस्यापि नित्यता सेत्स्यत्येव, अतएवाधुना तत्तद्वचनलिखन-बाहुल्येनालमिति भावः । ननु भगवत्स्मरणादेर्नित्यतया सदाचारस्य नित्यता कथमस्तु ? तत्र लिखति—

विष्णुपुराण में उक्त है,—वर्णाश्रमाचार सम्पन्न पुरुष, श्रीविष्णु की आराधना करें, तद्व्यतीत श्रीविष्णु सन्तोष का अपर पन्था नहीं है ॥५॥

अथ सदाचारस्य नित्यता

सदाचार की नित्यता । मार्कण्डेय पुराणस्थ मदालसा एवं अलर्क संवाद में वर्णित है,—गृही व्यक्ति सर्वदा सदाचार पालन करे । इस जगत् में आचार विहीन व्यक्ति का कुत्रापि सुख नहीं होता है ॥६॥

जो व्यक्ति सदाचार परित्याग पूर्वक कार्य्य में अग्रसर होता है, यज्ञ, दान, तपस्या प्रभृति उस व्यक्ति के लिए मङ्गल जनक नहीं होते हैं ॥७॥

भविष्योत्तर पुराण के श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर संवाद में वर्णित है,—षड़ङ्ग वेदाध्ययनकारी व्यक्ति सदाचार विहीन होने से पवित्र नहीं होता है । जातपक्ष पक्षिगण जिस प्रकार नीड़ को परित्याग करते हैं, उस प्रकार वेदसमूह उस व्यक्ति को मृत्यु समय में परित्याग करते हैं ॥८॥

जिस प्रकार नरकपालस्थ अथवा कुक्कुर चर्म निर्मित पात्रस्थ जल अथवा दुग्ध स्थानदोष से दुष्ट होता है, हे राजन् ! आचार वर्जित व्यक्ति उस प्रकार इस जगत् एवं परजगत् में सुखी नहीं होता है ॥९॥

लेख्य स्मरणादि की अवश्यकर्त्तव्यता के द्वारा निर्द्धारित होता है कि—सदाचार अवश्य पालनीय है । कारण,—स्मरणादि ही सदाचार हैं ॥१०॥

अथ सदाचारमाहात्म्यम्

विष्णुपुराणे तत्रैव गृहिधर्मप्रसङ्गे—

सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि ॥११॥

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः। तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ॥१२॥

काशीखण्डे स्कन्दागस्त्यसंवादे—

अनध्ययनशीलञ्च सदाचारविलङ्घिनम्। सालस्यञ्च दुरन्नादं ब्राह्मणं बाधतेऽन्तकः ॥१३॥

ततोऽभ्यसेत् प्रयत्नेन सदाचारं सदा द्विजः। तीर्थान्यप्यभिलष्यन्ति सदाचारसमागमम् ॥१४॥

भविष्योत्तरे च तत्रैव—

आचारप्रभवो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः। साधूनाञ्च यथा वृत्तं स सदाचार इष्यते ॥१५॥

तस्मात् कुर्य्यात् सदाचारं य इच्छेद्‌गतिमात्मनः। सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान्नृप।

श्रद्दधानोऽनसूयश्च सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥१६॥

किञ्च—

आचार एव धर्मस्य मूलं राजन् कुलस्य च।

आचाराद्विच्युतो जन्तुर्न कुलीनो न धार्म्मिकः ॥१७॥

स्मरणाद्यात्मकस्येति, सदाचारस्यैव तत्तल्लक्षणत्वादित्यर्थः ॥१०॥

सदाचारस्यैव लक्षणमाह—साधव इति ॥१२॥

यद्यपि काशीखण्डमाधुनिकं कल्पितं काव्यमिति पुराणतत्त्ववित्सु प्रसिद्धम्, तथापि तदाकारस्कान्दवायव्यकौर्मादिप्रतिपादितसदाचारविषयकाणि कानिचिद्वचनानि स्मृतिसम्वलितान्यत्र संगृहीतानि इत्यदोषः। अनध्ययनशीलमिति सालस्यमिति दुरन्नादमिति च दृष्टान्तत्वेन हेतुत्वेनैवोक्तम्; तत्र च तेषां हेतुहेतुमत्ता यथाक्रममूह्या ॥१३॥

सम्यगुत्कृष्ट आचारः समुदाचारः सदाचार एव तद्वान् ॥१६॥

अथ सदाचारमाहात्म्यम्

सदाचार माहात्म्य। विष्णुपुराण के गृहिधर्म प्रसङ्ग में उक्त है,—सदाचार सम्पन्न पुरुष के द्वारा इहलोक परलोक जित होता है ॥११॥

दोष रहित व्यक्तिगण ही साधु हैं, सत्-शब्द, साधु का वाचक है। उक्त साधुगण के व्यवहार ही सदाचार शब्द से अभिहित है ॥१२॥

काशीखण्ड के स्कन्द-अगस्त्य संवाद में वर्णित है,—अध्ययनहीन, सदाचार लङ्घनकारी, आलस्य परायण, दुष्टान्न भोजी ब्राह्मण को कृतान्तदेव दण्ड प्रदान करते हैं ॥१३॥

सुतरां द्विजातिगण यत्नपूर्वक सदाचार का अभ्यास करें। समस्त तीर्थ सदाचार परायण व्यक्ति का समागम की आकाङ्क्षा करते हैं ॥१४॥

भविष्योत्तर में वर्णित है,—धर्म आचार से उत्पन्न है। साधुगण सदाचार विशिष्ट होते हैं। सुतरां साधुगण के आचार समूह को सदाचार कहते हैं ॥१५॥

अतएव जिनकी इच्छा शुभगति प्राप्त करने की है, वह सदाचार पालन करे। हे राजन्! श्रद्धावान् असूयारहित, सदाचारपरायण व्यक्ति सर्वसुलक्षणहीन होने पर भी अखिल अभिलषित फल प्राप्त करते हैं ॥१६॥

वर्णित है—हे राजन्! आचार ही धर्म एवं कुल का मूल है। आचार विहीन व्यक्ति कुलीन भी

किञ्च—

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्त्तिवर्द्धनः। आचाराद्वर्द्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१८॥

आचार एव नृपपुङ्गव सेव्यमानो, धर्मार्थकामफलदो भवितेह पुंसाम्।
तस्मात् सदैव विदुषावहितेन राजन्, शास्त्रोदितो ह्यनुदिनं परिपालनीयः ॥१९॥

अथ तत्र नित्यकृत्यानि

ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्थाय कृष्ण कृष्णेति कीर्त्तयन्। प्रक्षाल्य पाणिपादौ च दन्तधावनमाचरेत् ॥२०॥

आचम्य वसनं रात्रेस्त्यक्त्वान्यत् परिधाय च। पुनराचमने कुर्य्याल्लेख्येन विधिनाग्रतः ॥२१॥

अथेच्छन् परमां शुद्धिं मूर्द्धिन ध्यात्वा गुरोः पदौ।
स्तुत्वा च कीर्त्तयन् कृष्णं स्मरंश्चैतदुदीरयेत् ॥२२॥

अलक्षणम्—दारिद्रयादि अपमृत्य्वादि वा ॥१८॥

यथा स्मरणादीनां नित्यतया सदाचारस्य नित्यता, तथा तेषां माहात्म्येनाप्यस्य माहात्म्यं सुसिध्येदेवेति लिखितन्यायेन स्पष्टत्वान्न लिखितम् ॥१९॥

सदाचारमेव नित्यपक्षमासादिकृत्येन ग्रन्थसमाप्तिपर्य्यन्तं लिखन् आदौ अत्र नित्यकृत्यानि लिखति—ब्राह्म इत्यादिना। कृष्णकृष्णेति कीर्त्तयन् समुत्थाय, दन्तानां धावनं शोधनम्, तच्च कदाचिद्विहितकाष्ठैः कदाचित्तृणादिभिश्च; तत्तु पूजानिरतानां श्रीभगवत्प्रबोधनाद्यर्थं तदग्रे गमिष्यतां ततः प्रागधुनैव युक्तम्; यत उक्तं श्रीवराहेण—'दन्तकाष्ठमखादित्वा यस्तु मामुपसर्पति। सर्वकालकृतं कर्म तेनैवैकेन नश्यति॥' इति। तत्र च दन्तकाष्ठमखादित्वेति दन्तानशोधयित्वेति ज्ञेयम्, प्रतिपदादिषु दन्तकाष्ठनिषेधात्। तद्विशेषश्चाग्रे विस्तरतो व्यक्तो भावी ॥२०॥

रात्रेः—रात्रौ परिहितमित्यर्थः; अन्यत् शुद्धवसनम्; आचमने आचमनद्वयम्; तथा चोक्तम्—'सुप्तवासः परीधाय तथा दृष्ट्वाप्यमङ्गलम्। प्रमादादशुचि स्पृष्ट्वा द्विराचान्तः शुचिर्भवेत्॥' इति। ननु दन्तधावनादिकमत्र कथ्यताम्, तत्र लिखति—अग्रतस्तत्तन्मुख्यप्रकरणे लेख्येन विधिनेति। ब्राह्ममुहूर्त्तकृत्यलिखनप्रकरणे प्रातःस्मरणकीर्त्तनादिमुख्यकर्मपरित्यागेनोत्थानमात्रलिखनानन्तरं दन्तधावनादिविधिविस्तारलेखो न युक्तः, अतोऽग्रे लेख्यः ॥२१॥

परमाम् उत्कृष्टां, वहिरन्तर्विशोधनात्; श्रीगुरुपदध्याने चागमोक्तोऽयं विशेषो द्रष्टव्यः—ब्रह्मरन्ध्रस्थिते पद्मे

भी नहीं है, धार्मिक भी नहीं है ॥१७॥

आचार से ऐश्वर्य्य होता है, आचार कीर्त्ति वर्द्धनकारी है, आचार से आयुः वर्द्धित होती है, एवं सदाचार- दारिद्र्य, अपमृत्यु, प्रभृति को विनष्ट करता है ॥१८॥

हे नृप पुङ्गव! आचार पालन करने से उक्त आचरण ही इह लोक परलोक में धर्मार्थकामद होता है। सुतरां हे राजन्! विद्वान् व्यक्ति सतत अवहित होकर अनुदिन शास्त्रविहित आचरण करे ॥१९॥

अथ तत्र नित्यकृत्यानि

ब्राह्म मुहूर्त्त में 'कृष्ण कृष्ण' नाम कीर्त्तन करते करते शय्या त्याग करे, एवं कर-चरण प्रक्षालनपूर्वक दन्त मार्जन करे ॥२०॥

अनन्तर आचमन पूर्वक रात्रिवास त्याग एवं अन्य वस्त्र परिधान कर वक्ष्यमाण नियम से बारद्वय आचमन करे ॥२१॥

पश्चात् परमा शुद्धि के निमित्त स्वीय मस्तक में श्रीगुरुदेव के पादपद्म का ध्यान एवं उनका स्तव पाठ करके श्रीकृष्ण कीर्त्तन, स्मरण पूर्वक श्लोक पाठ करे ॥२२॥

अथ प्रातःस्मरणकीर्त्तने

(श्रीभा० -१०।९०।४८)—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो, यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन, व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ॥२३॥

सहस्रदलशोभिते। श्रीगुरुं परमात्मानं व्याख्यामुद्राजसत्करम्। द्विनेत्रं द्विभुजं पीतं ध्यायेदखिलसिद्धिदम्॥ इति। गुरोः पादावेव स्तुत्वा तस्य उत्कर्षमुत्कीर्त्य पश्चान्निजेष्टदैवतं कृष्णं कीर्त्तयन् स्मरंश्च लेख्यं जयतीत्यादि पठेत्। यद्यपि स्मरणस्य मनःसंयोगलक्षणत्वादादौ स्मरणे सत्येव पश्चात् कीर्त्तनं, तथाप्यत्र कीर्त्तनस्य मुख्यत्वाभिप्रायेण स्मरणस्य पश्चान्निर्देशः। पूर्वं कृष्णकृष्णेति तन्नामोच्चारणमेव, अधुना तु शुद्धयानन्तरं श्रीभागवतादिश्लोकपाठेन रूपलीलादिविशेषेण कीर्त्तनमिति विशेषः। शतृङ्द्वयस्य तदुदीरणमेव तत्कीर्त्तनं स्मरणात्मकमित्यर्थः। यद्वा, द्वयमपि हेतौ कीर्त्तयितुं स्मर्त्तुञ्चेति तथैवार्थः; ततश्च कीर्त्तनेनैव स्मरण विशेषोपपत्तेः स्मरंश्चेति पश्चाल्लिखितम् ॥२२॥

जयति सर्वोत्तमतया वर्त्तते श्रीकृष्णः, जनेषु निवसति अन्तर्य्यामितयेति तथा सः, अतो देवक्यां जन्मेति वादमात्रं यस्य सः; यदुवराः परिषत् सभासेवकरूपा यस्य सः, इच्छामात्रेण निरसनसमर्थोऽपि दोर्भिरधर्मं निरस्यन् क्षिपन्, स्थिरचरवृजिनघ्नः अधिकारिविशेषानपेक्षया वृन्दावनतरुगवादीनां संसारदुःखहन्ता, तथा विलासवैदग्ध्यनपेक्षया व्रजवनितानां पुरवनितानाञ्च सुस्मितेन श्रीमता मुखेनैव कामदेवं वर्द्धयन्, कामश्चासौ दीव्यति विजिगीषते संसारमिति देवश्च तम्, भोगद्वारा मोक्षप्रदमित्यर्थः। अथवा, 'श्रीधरस्वामिपादानां व्याख्यातोऽधिकमत्र यत्। किञ्चिल्लिखामि तत्तैस्तु क्षन्तव्यं गुरवो हि ते॥' श्रीकृष्णो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते; तदेव प्रतिपादयति—जनानां जीवानां निवास आश्रयः; यद्वा, जनेषु निजभक्तेषु नितरां प्राकट्येन वासो यस्य; अतएव भक्तवात्सल्येन देवक्यां जन्म आविर्भावः वादश्च भाषणं तदाश्वासनाद्यर्थं तादृशनिजभक्तेषु जन्मकारणादिकथनरूपो यस्य तथा; यदुवरस्य यादवराजस्य कंसपितुरपि उग्रसेनस्य; यद्वा, यदूनां सामान्येन सर्वेषामेव यादवानां वरा दिव्या सभा सुधर्माख्या यस्मात्। तथा जन्ममात्रेणैव पनीतमपि अधर्मं निजभक्तविनोदार्थं स्वैः सौन्दर्य्यादिना असाधारणैर्दोर्भिरस्यन्नधर्महेतुतत्तदैत्यादिवधेन विनाशयन्, दोर्भिरिति बहुत्वं भारताद्युक्तानुसारेण भारतयुद्धादौ चतुर्भुजानाम्, तथा हरिवंशोक्तानुसारेण बाणयुद्धादावष्टभुजानां च प्रकटनात्। यद्वा, दोर्भिरिव दोर्भिः भक्तवात्सल्येन साहाय्यकल्पितैरित्यर्थः। यद्वा, क्षत्रियाणां भगवतो बाहुजत्वात् बलाधिक्याद्यपेक्षया कार्य्यकारणाभेदेन दोर्भिः क्षत्रियैरित्युक्तम्, तत्रापि स्वैर्निजैः यादव पाण्डवादिभिः; स्थिराणां चराणाञ्च सर्वेषामपि तदानीन्तनानां जीवानां संसारदुःखहन्ता। व्रजपुरवनितानाम् यद्वा, व्रज एव पुरं विचित्रविलासवैदग्धीविषयत्वात् तद्वनितानाम्; कामेषु देवः श्रेष्ठस्तदेकनिष्ठत्वात् परमप्रेमपरिणतिरूपकामविशेषाञ्च तं वर्द्धयन्; तच्च निजेन सुस्मितेन श्रीमुखेनैव। एवं तेनैव परममोहन सौन्दर्य्यादिना तादृशकामवर्द्धनान्मोक्षानन्देऽपि सामान्यभजनानन्देऽपि च परमनैरपेक्ष्यादयुक्तमेव तत् कामस्य श्रैष्ठ्यम्। वर्द्धयन्निति वर्त्तमानत्वेन तादृशकामस्य परमप्रेमपरिणामलक्षणतया प्रेम्णश्चातृप्तिस्वभावकत्वेन परिच्छेदाभावो दर्शितः। एवं दशमस्कन्धशेषे निखिललीलाकथनान्ते तथोक्त्यासर्वदैव ताभिः सह संयोग

अथ प्रातःस्मरणकीर्त्तने

प्रातःस्मरण कीर्त्तन। अन्तर्य्यामी रूप में जो समस्त जीवों में अवस्थित हैं, देवकी गर्भ से आविर्भूत हुए हैं, इस प्रकार अपवाद जिनका है, यदुवंशीयगण जिनके सभासद् रूप में अवस्थित हैं, जिन्होंने स्वीय भुजबल से अधर्म नाश किया है, एवं वृन्दावनस्थित स्थिरचर तरु गवादि का संसार क्लेश विनष्ट किया है, सुस्मित श्रीमुख के द्वारा व्रजवनिता, पुरवनितागणों का कामदेव को वर्द्धित किया है, तादृश श्रीकृष्ण जययुक्त होवे ॥२३॥

स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषस्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥२४॥
विदग्धगोपालविलासिनीनां, सम्भोगचिह्नाङ्कितसर्वगात्रम् ।
पवित्रमाम्नायगिरामगम्यं ब्रह्म प्रपद्ये नवनीतचौरम् ॥२५॥

दशमस्कन्धे (४६।४६)—
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं, व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो, निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥२६॥ इति ।
पठेत् पुनश्च साधूनां सम्प्रदायानुसारतः । चतुःश्लोकीमिमां सर्वदोषशान्त्यै शुभाप्तये ॥२७॥
प्रातः स्मरामि भवभीतिमहार्त्तिशान्त्यै, नारायणं गरुड़वाहनमब्जनाभम् ।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं, चक्रायुधं तरुणवारिजपत्रनेत्रम् ॥२८॥

सूचितः । किञ्च, शतृङन्तपदस्यावश्यकक्रियापदसहितान्वयेन तासां तादृशकामवर्द्धनेनैव, जयतीति—परमोत्कर्षताभिप्रेता । एवं तदर्थमेव देववर्यां जन्मादिकमित्येवं सर्वमवतारप्रयोजनं तत्रैव पर्य्यवस्यतीति दिक् । 'मङ्गलायास्य पद्यस्य पाठ्यमानस्य सर्वतः । विस्तार्य्य लिखितोऽत्रार्थो लेख्योऽग्रे यो हि दुर्गमः ॥'२३॥

एवं मङ्गलमाचर्य्य सर्वकर्मसिद्धये भगवदेकशरणो भवेदित्याशयेन लिखति—स्मृत इति । यत्र यस्मिन् हरौ ॥२४॥

कौशिकीवृत्तिगानाद्यभिप्रायेण श्रीकृष्णस्य प्रातःकालीनरूपलीलादिस्मरणकीर्त्तनार्थं लिखति—विदग्धेति । पवित्रमपि वेदवाक्यागोचरम्, परब्रह्मापि विदग्धानां गोपरमणीनां सम्भोगस्य चिह्नैर्नखक्षतादिभिरङ्कितानि सर्वगात्राणि यस्य तं प्रपद्ये । नवनीतस्य प्रातर्दधिमन्थनोत्थितस्य, चौरं चौर्य्येण भक्षयन्तमित्यर्थः ; तथा च तच्चिह्नाङ्कितमपि ज्ञेयम् ॥२५॥

एवं साक्षाद्भगवतः कीर्त्तनस्मरणे लिखित्वा प्रियजनप्रेमद्वारापि कीर्त्तनस्मरणविशेषं लिखति—उद्गायतीनामिति । दिशां दशदिक्स्थानां जीवानाममङ्गलम् ऐहिकामुष्मिकमखिलमभद्रम् ; यद्वा, अकारो विष्णुस्तद्रूपं मङ्गलम्, किम्वा, न विद्यते मङ्गलं यस्मात् तदमङ्गलम् अनुत्तमादिवत् परममङ्गलमित्यर्थः । तच्च मुख्यवृत्त्या श्रीभगवत्प्रेमैव, यत् येन ध्वनिना दिशः प्रति नितरां रस्यते आस्वादः कार्य्यत इत्यर्थः ॥२६॥

यद्यपि लेख्यश्लोकचतुष्टये श्रीगोपालदेवस्य कीर्त्तनस्मरणविशेषो नास्ति, तथापि बहुलशिष्टाचारापेक्षया तत् पठितव्यमिति लिखति—पठेदिति । सर्वेषां दुःस्वप्नादिदोषाणां शान्तये—इत्येषां श्लोकानां प्रायो गजेन्द्र-मोक्षाख्यानपरतया दुःस्वप्नाद्युपशान्तय इत्यादि तत्रत्योक्त्यभिप्रायेण ॥२७॥

सर्वविध कल्याणभाजन जिनके स्मरण से होता है, उन अज, सनातन, पुरुष श्रीहरि की शरण लेता हूँ ॥२४॥

पवित्र होकर भी श्रुति वाक्यों का अगम्य, परब्रह्म होकर भी चतुरा गोपालविलासिनीवृन्द के नखदन्त क्षतादि सुशोभित, उन नवनीत चौर श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता हूँ ॥२५॥

दशम स्कन्ध में वर्णित है,—कमलनयन श्रीकृष्ण के गानतत्पर व्रजाङ्गनागण के कण्ठरव दधि मन्थनोत्थित ध्वनि के सहित मिश्रित होकर नभो मण्डल को स्पर्श कर रहा है, उक्त शब्द द्वारा दिक् समूहस्थ जीव निकर का अशुभ विनष्ट होता है ॥२६॥

साधुसम्प्रदाय के अनुसार सकल दोष शान्ति के निमित्त एवं मङ्गल प्राप्ति हेतु पुनर्वार श्लोक चतुष्टय का पाठ करे ॥२७॥

मैं भवभयरूप महारोग को उपशम करने के लिए गरुड़वाहन, पद्मनाभ, ग्राह के द्वारा अभिभूत गजेन्द्र

प्रातर्नमामि मनसा वचसा च मूर्द्धना, पादारविन्दयुगलं परमस्य पुंसः।
नारायणस्य नरकार्णवतारणस्य, पारायणप्रवणविप्रपरायणस्य ॥२९॥
प्रातर्भजामि भजतामभयङ्करं तं, प्राक्सर्वजन्मकृतपापभयापहत्यै।
यो ग्राहवक्त्रपतिताङ्घ्रिगजेन्द्रघोर,-शोकप्रणाशमकरोद्धृतशङ्खचक्रः ॥३०॥
श्लोकत्रयमिदं पुण्यं प्रातः प्रातः पठेत्तु यः।
लोकत्रयगुरुस्तस्मै दद्यादात्मपदं हरिः ॥३१॥ इति।

तदेतल्लिखितं कुत्र कुत्रचिद्व्यवहारतः। किन्तु स्वाभीष्टरूपादि श्रीकृष्णस्य विचिन्तयेत् ॥३२॥
इत्थं विदध्याद्भगवत्कीर्त्तनस्मरणादिकम्। सर्वतीर्थाभिषेकं वै वहिरन्तर्विशोधनम् ॥३३॥

तथा च स्कान्दे स्कन्दं प्रति श्रीशिवोक्तौ—

सकृन्नारायणेत्युक्त्वा पुमान् कल्पशतत्रयम्। गङ्गादिसर्वतीर्थेषु स्नातो भवति पुत्रक ॥३४॥

अन्यत्र च—

शयनादुत्थितो यस्तु कीर्त्तयेन्मधुसूदनम्।
कीर्त्तनात्तस्य पापस्य नाशमायात्यशेषतः ॥३५॥ इति।

पारायणं वेदाध्ययनसाकल्यं तस्मिन् प्रवणस्तत्पर इत्यर्थः। यद्वा, पारायणेन प्रवणः प्रणतो यो विप्रस्तस्य परं परममयनमाश्रयस्तस्य ॥२९॥

भगवत्कीर्त्तनस्मरणे एव सर्वतीर्थाभिषेक इत्यत्र प्रमाणं लिखति—सकृदिति। कल्पशतत्रयमित्यस्य नित्य तात्पर्य्यं सदैवेत्यर्थः ॥३४॥

कथं वहिरन्तर्विशोधनम्? तल्लिखति—शयनादिति। कीर्त्तनात् केवलादेव ॥३५॥

मोक्षणकारी, चक्रास्त्रधारी, नवीनकमलदललोचन, श्रीनारायण का स्मरण प्रातःकाल में करता हूँ ॥२८॥

जो वेदाध्ययनशील विप्रवर्ग का एकमात्र आश्रय है, मैं प्रातःकाल में मनः, वाक्य एवं मस्तक के द्वारा नरकार्णवतारण, परमपुरुष श्रीनारायण के पादपद्मयुगल को प्रणाम करता हूँ ॥२९॥

ग्राहग्रस्त गजराज दारुण शोक से अभिभूत होने पर जिन्होंने शङ्ख-चक्र धारणपूर्वक गजराज के शोक को विदूरित किया था, मैं जन्मान्तरीण निखिल पापभय विनाशार्थ भक्तभयापहारक का प्रातःकाल में भजन करता हूँ ॥३०॥

जो व्यक्ति प्रत्यूष में पवित्र श्लोकत्रय का पाठ करता है, लोकत्रय के गुरु उनको निज आत्मपद प्रदान करते हैं ॥३१॥

सदाचार के अनुसार यह कृत्य लिखित हुआ, किन्तु अभीष्ट देव के अनुसार श्रीकृष्ण रूपादि की भावना विधेय है ॥३२॥

उक्त रीति से श्रीभगवन्नामकीर्त्तन-स्मरणादि का अनुष्ठान करे। उससे सर्वतीर्थाभिषेक का फल लाभ, वहिः शुद्धि, एवं अन्तःशुद्धि होती है ॥३३॥

स्कन्द पुराण में स्कन्द के प्रति श्रीशिव ने कहा—हे पुत्र! तीनशत कल्प सतत गङ्गादि निखिल तीर्थ स्नान करने से जो फल लाभ होता है। 'नारायण' शब्द का सकृत् उच्चारण के द्वारा उक्त फल का अधिकारी मानव होता है ॥३४॥

अन्यत्र वर्णित है—जो शय्या से गात्रोत्थान पूर्वक श्रीमधुसूदन नाम कीर्त्तन करता है, कीर्त्तन प्रभाव

माहात्म्यं कीर्त्तनस्याग्रे लेख्यं मुख्यप्रसङ्गतः ।
स्मरणस्य तु माहात्म्यमधुना लिख्यते कियत् ॥३६॥

तत्रादौ तस्य नित्यता

पाद्मे बृहत्सहस्रनामस्तोत्रे—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥३७॥

स्कान्दे कार्त्तिकप्रसङ्गे श्रीमदगस्त्योक्तौ—

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजड़मूकता । यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ॥३८॥

काशीखण्डे च श्रीध्रुवचरिते—

इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव च । अभाग्यं परमं चैतद्वासुदेवं न यत् स्मरेत् ॥३६॥
ये मुहूर्त्ताः क्षणा ये च याः काष्ठा ये निमेषकाः ।
ऋते विष्णुस्मृतेर्यातास्तेषु मुष्टो यमेन सः ॥४०॥ इति ।
नित्यत्वेऽप्यस्य माहात्म्यं विचित्रफलदानतः । ज्ञेयं शास्त्रोदितं दर्शपूर्णमासादिवद्बुधैः ॥४१॥

मुख्ये प्रसङ्गे इति कीर्त्तनस्यैव प्राधान्येन प्रसङ्गे सति लेख्यम्, अधुना चान्यसङ्गत्या गौणत्वात् लिखितुमयोग्यमित्यर्थः, एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ॥३६॥

जातुचित् कदाचिदपि न विस्मर्त्तव्यः । एतयोः स्मरणयोरेव किङ्कराः अनुगाः; स्मृतौ सर्वे विधयः तत्कृतपुण्यानि, विस्मृतौ च सर्वे निषेधास्तत्कृतपापानि, स्वयमेवानुगच्छन्तीत्यर्थः ॥३७॥

ऋते विष्णुस्मृतेर्विष्णुस्मरणं विना, यस्य जनस्य, याता अपगताः, तेषु मुहूर्त्तादिषु मुष्टो वञ्चितो वशीकृत इत्यर्थः ॥४०॥

ननु शास्त्रेषु स्मरणस्य तत्तत्फलश्रवणात् कथं नित्यत्वं सिध्येदित्याशङ्क्याह—नित्यत्वेऽपीति । अस्य स्मरणस्य शास्त्रोदितं विचित्रफलदानतो माहात्म्यं दर्शपौर्णमासादिवत्; आदिशब्दादग्निहोत्रादि, यथा तेषां

से ही उसका निखिल पाप निःशेष से विदूरित हो जाते हैं ॥३५॥

कीर्त्तन प्रसङ्ग में कीर्त्तन का माहात्म्य लिखेंगे । सम्प्रति स्मरण का माहात्म्य लिखते हैं ॥३६॥

तत्रादौ तस्य नित्यता

स्मरण नित्यता । पद्मपुराण में बृहत्सहस्र नाम की महिमा लिखित है,— सर्वदा श्रीविष्णु का स्मरण करे । कभी भी विस्मरण न हो, सकल विधिनिषेध उक्त विधिनिषेध के ही अधीन हैं ॥३७॥

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में अगस्त्य की उक्ति है—क्षण अथवा मुहूर्त्त यदि वासुदेव चिन्तन व्यतीत अतिवाहित होता है तो उसे ही महती हानि, अन्धता, जड़ता एवं मूकतास्वरूप जानना होगा ॥३८॥

काशीखण्ड के ध्रुव चरित में उक्त है,—वासुदेव का स्मरण न करने से महत् हानि होती है, वह ही उपसर्ग एवं विशेष अभाग्यस्वरूप है ॥३६॥

विष्णु स्मरण व्यतीत जो मुहूर्त्त अतिवाहित होता है, उक्त क्षण, काष्ठा, निमेषसमूह ही यमराज के अधिकार में आते हैं ॥४०॥

दर्शपौर्णमास एवं अग्निहोत्रवत् श्रीविष्णुस्मरण की नित्यता होने से भी नाना प्रकार फलदान निबन्धन बुधगण शास्त्र में श्रीविष्णु स्मरण का माहात्म्य गान करते हैं ॥४१॥

अथ स्मरणमाहात्म्यम्

तत्र सर्वतीर्थस्नानाधिकत्वम्

उक्तञ्च स्मार्त्तैरपि—

मान्त्रं पार्थिवमाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।
वारुणं मानसं चेति स्नानं सप्तविधं स्मृतम् ॥४२॥
शन्न आपस्तु वै मान्त्रं मृदालम्भन्तु पार्थिवम् ।
भस्मना स्नानमाग्नेयं स्नानं गोरजसानिलम् ॥४३॥
आतपे सति या वृष्टिर्दिव्यं स्नानं तदुच्यते ।
वहिर्नद्यादिषु स्नानं वारुणं प्रोच्यते बुधैः ।
ध्यानं यन्मनसा विष्णोर्मानसं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥४४॥

किञ्च—

असामर्थ्येन कायस्य कालदेशाद्यपेक्षया । तुल्यफलानि सर्वाणि स्युरित्याह पराशरः ॥४५॥
स्नानानां मानसं स्नानं मन्वाद्यैः परमं स्मृतम् । कृतेन येन मुच्यन्ते गृहस्था अपि वै द्विजाः ॥४६॥

नित्यत्वेऽपि सति फलानि श्रूयन्ते, तथात्रापि बुधैः शास्त्रविद्भिर्ज्ञेयम्; एतच्च मीमांसाशास्त्रनिपुणैः श्रीकृष्णदेवाचार्य्यादिभिरेकादशीप्रसङ्गे विवृत्य लिखितमस्तीति नात्र विस्तार्य्यते। एवमग्रेऽपि सर्वत्रैव बोद्धव्यमिति ॥४१॥

स्मार्त्तैरपीति – भगवद्भक्तिपरैरुच्यत एव स्मृत्युक्त कर्मपरैरप्युक्तमित्यर्थः। शं न आपस्त्विवति मन्त्राद्यवर्णाः; इदमपि स्मार्त्तानामेव मतं, वैष्णवानान्तु मूलमन्त्रादिनैव। मृदः मृत्तिकाया आलम्भः स्पर्शनं यस्मिन् तत्; मनसा ध्यानमिति केवलमनःसंयोगमात्ररूपं स्मरणं लक्ष्यते, ध्यानमित्युक्तेऽपि मनसेति प्रयोगात् ॥४२-४४॥

न चैतेषु व्यापारतारतम्यादिना तारतम्यं ज्ञेयमिति लिखति—असामर्थ्येनेति, कालाद्यपेक्षया च; आदिशब्देन अधिकारी ग्राह्यः; किञ्च, स्नानानामिति द्विजा इति—तेषामेव स्नानादौ मुख्यत्वात्; हे द्विजा इति वा ॥४५-४६॥

अथ स्मरणमाहात्म्यम्—

तत्र सर्वतीर्थस्नानाधिकत्वम्—

स्मार्त्तगण कहते हैं—मान्त्र, पार्थिव, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण एवं मानस सप्त प्रकार स्नान हैं। "शन्नः, आपः" इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक स्नान को मन्त्रस्नान कहते हैं। मृत्तिका स्पर्श करके स्नान को पार्थिव, भस्म द्वारा स्नान को आग्नेय स्नान, गोधूलि द्वारा वायव्य स्नान, आतप के विद्यमान में वृष्टि के द्वारा स्नान को दिव्यस्नान कहते हैं, नद्यादि में स्नान को बुधगण वारुण स्नान कहते हैं, मानसिक श्रीविष्णु ध्यान को मानस स्नान कहते हैं ॥४२-४४॥

श्रीपराशर ने कहा है—शारीरिक असामर्थ्य होने से काल देश, अधिकारी की अपेक्षा न करके समस्त स्नान का ही समान फल है। मनु प्रभृति ने कहा है,—जिस स्नान के द्वारा गृहस्थाश्रमी द्विजगण मुक्ति लाभ करते हैं उक्त मानस स्नान ही समस्त स्नानों के मध्य में श्रेष्ठ स्नान है ॥४५-४६॥

परमशोधकत्वम्

गारुड़े श्रीनारदोक्तौ, विष्णुधर्मे च पुलस्त्योक्तौ—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स वाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥४७॥
यद्यप्युपहतः पापैर्मनसात्यन्तदुस्तरैः ।
तथापि संस्मरन् विष्णुं स वाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥४८॥

पापोन्मूलनत्वम्

श्रीविष्णुपुराणे—

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै । यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥४९॥
कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते । प्रायश्चित्तन्तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ॥५०॥

किञ्च—

कलिकल्मषमत्युग्रं नरकार्त्तिप्रदं नृणाम् । प्रयाति विलयं सद्यः सकृद्यत्रानुसंस्मृते ॥५१॥

स वाह्याभ्यन्तर इति—वाह्येन शरीरादिना आभ्यन्तरेण च मनआदिना सह शुद्धोऽभूदित्यर्थः ॥४७॥

मनसाऽपि अत्यन्तदुस्तरैः, अनन्तत्वात् गणयितुमशक्यैः, किं पुनर्वाचेत्यर्थः; यद्वा, मनःसङ्कल्पितेनापि प्रायश्चित्तशतेन परमःपरिहार्य्यैः, किं पुनः साक्षात् प्रायश्चित्तकर्मानुष्ठानेनेत्यर्थः, तस्य दुष्करत्वात्; यद्वा, मनसा संस्मरन् इत्यन्वयः । ततश्च मनसेति केवलं मनसि कथञ्चित् संयोगमात्रमभिप्रेतम् ॥४८॥

तपांसि कृच्छ्रादीनि, कर्माणि दानजपादीनि तदात्मकानि, तेषां मध्ये तेभ्यो वा परं श्रेष्ठम् ॥४९॥

श्रेष्ठत्वमेवाह—कृत इति । प्रकर्षेण जायते, तस्यैव मन्वाद्युक्तानां तपोदानादीनां मध्ये एकं किञ्चिदनुरूपं प्रायश्चित्तम्, तदननुतप्तस्य तेष्वनधिकारात्; हरिस्मरणन्तु परमनुतापानपेक्षया निःशेषपापक्षयहेतुत्वात्, 'अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते' इति, 'हरिर्हरति पापानि' इत्याद्युक्तेः ॥५०॥

अधुना परमदुष्परिहरकलिमहापातकस्यापि नाशकमित्याह- कलीति । सद्यः तत्कालीनमेव कलिसुदुस्तरम्; यद्वा, यत्र यस्मिन् हरौ, अनुकरणेनापि संस्मृते सति, अनुकरणेनापि स्मृतेः, सम्यक्त्वाभिप्रायेण सं-शब्दः । ५१

परमशोधकत्वम्—

मानस स्नान का परमशोधकत्व । गरुड़पुराण में लिखित है,—श्रीनारद कहते हैं—अपवित्र अथवा पवित्र, किंवा समस्त अवस्था में पुण्डरीकाक्ष के स्मरण से वाह्य आभ्यन्तर की शुद्धि होती है । विष्णुधर्म में श्रीपुलस्त्य ने भी उस प्रकार ही कहा है ॥४७॥

अगणित पापराशि के द्वारा दूषित होने पर भी श्रीविष्णुस्मरण से वाह्य आभ्यन्तर शुद्ध होता है ॥४८॥

पापोन्मूलनत्वम्—

श्रीविष्णुपुराण में कथित है,—समस्त प्रायश्चित्त, तपस्या, दान, जप एवं व्रत प्रभृति के मध्य में श्रीकृष्ण स्मरण ही सर्वप्रधान है ॥४९॥

पापाचरण करने के पश्चात् जिसका अनुताप होता है, उसके निमित्त एकमात्र श्रीहरि स्मरण ही श्रेष्ठ प्रायश्चित्त है ॥५०॥

वर्णित है—एकबार श्रीहरि स्मरण करने से ही नरक यन्त्रणाप्रद अति घोर कलिकलुष से मानव सद्यः मुक्त होता है ॥५१॥

कौर्मे श्रीभगवदुक्तौ—

ये मां जनाः संस्मरन्ति कलौ सकृदपि प्रभुम् । तेषां नश्यति तत्पापं भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥५२॥

बृहन्नारदीये शुकबलिसंवादे—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः । अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥५३॥

तत्रैव प्रायश्चित्तप्रसङ्गान्ते—

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः । स वै विमुच्यते सद्यो यस्य विष्णुपरं मनः ॥५४॥

ब्रह्मवैवर्त्ते—

कर्मणा मनसा वाचा यः कृतः पापसञ्चयः ।
सोऽप्यशेषः क्षयं याति स्मृत्वा कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥५५॥

अतएवोक्तं स्कान्दे कार्त्तिकप्रसङ्गे श्रीपराशरेण—

यममार्गं महाघोरं नरकांश्च यमं तथा । स्वप्नेऽपि न नरः पश्येद् यः स्मरेद्‌गरुड़ध्वजम् ॥५६॥

षष्ठस्कन्धे (१।१६।) श्रीशुकेन—

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो,-र्निवेशितं तद्‌गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्, स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥५७॥

तस्य कलेरपि पापम्, यतस्तेन स्मरणेनैव, पुरुषोत्तमे मयि, भक्तानां भक्तिमतां सताम् ॥५२॥

'स्वप्नेऽपि न नरः पश्येत्' इति पापानुत्पत्तेः, कथञ्चित् जातस्यापि संक्षयाद्वा ॥५६॥

सकृदपि, एवम् अपि-शब्दस्य सर्वत्रान्वयादयमर्थः—किं पुनः सदा, किं पुनः सर्वेन्द्रियाणि, किं पुनः सर्वाङ्ग-सौन्दर्य्यादौ, किं पुनः स्वतो निविष्टं, किं पुनस्तद्रूपनामानुरागीति । कारुण्यादिना गुणरागित्वेनोपकारापेक्षया सोपाधिकत्वापत्तेस्तस्य न्यूनतया कैमुतिकन्यायसिद्धिः । तथा यैरपि कैश्चित् इहापि यत्र कुत्रचित् इति ; तथा कुतो याम्या यातनाः, कुतश्च बन्धनार्थानीतपाशान्, कुतश्च निर्वलान् यमदूतानिति ; तथा कुतः साक्षाद्भय-तर्ज्जनादिकमनुभवेयुरिति ; यतः चीर्णनिष्कृताः तेनैव कृतप्रायश्चित्ताः ; एवं यथाकथञ्चित् स्मरणमात्रेण सर्वपापक्षयात् सर्वेषामेव नरकाद्यभावोऽभिप्रेतः ; इत्थञ्च विष्णुपरं मन इत्यत्र विष्ण्वाश्रयं कथञ्चित् तत्समीपगमिति ज्ञेयम् । तथा हरिसंस्मरणमित्यादौ संशब्दादिकं भगवत्स्मरणस्य सर्वस्मरणतः सम्यक्तया

कूर्मपुराण में श्रीभगवदुक्ति,—कलिकाल में जो मनुष्य एकबार भी प्रभुस्वरूप मुझको स्मरण करता है, उस भक्तियुक्त व्यक्ति का कलिकाल जनित सुदुस्तर पाप सद्यः विनष्ट होता है ॥५२॥

बृहन्नारदीय पुराण में बलि-शुक्र संवाद इस प्रकार है—दुष्टचित्त व्यक्तिगण के द्वारा स्मृत होकर भी श्रीहरि उसके पापसमूह का हरण करते हैं, कारण अनिच्छा से भी संस्पृष्ट अनल,—दग्ध करता है ॥५३॥

उक्त पुराण के प्रायश्चित्त प्रसङ्गान्त में उक्त है—महापातक युक्त, अथवा सर्वपातकयुक्त व्यक्ति भी श्रीविष्णु में मनोनिवेश के द्वारा सद्यः पापों से मुक्त होता है ॥५४॥

ब्रह्मवैवर्त्त में वर्णित है—कर्म द्वारा, मनो द्वारा एवं वाक्य के द्वारा सञ्चित पापसमूह का नाश—श्रीकृष्णपादपद्म स्मरण द्वारा होता है ॥५५॥

अतएव श्रीपराशर ने स्कान्दस्थ कार्त्तिक प्रसङ्ग में कहा है—जो व्यक्ति, गरुड़ध्वज श्रीहरि का स्मरण करता है, वह स्वप्न में भी महाभयङ्कर यममार्ग, नरकसमूह एवं यम का दर्शन नहीं करता है ॥५६॥

भा० ६।१।१६ में श्रीशुक ने भी कहा है—श्रीकृष्ण के पदपङ्कज में भगवद्‌गुणानुरागी स्वीय मन को एकबार मात्र निविष्ट करने से स्वप्न में भी यम अथवा यमपाशधारी व्यक्ति का दर्शन नहीं होता है।

सर्वापद्विमोचकत्वम्

श्रीविष्णुपुराणे श्रीप्रह्लादोक्तौ—

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः, शीर्णा यदेते न बलं ममैतत् ।
महाविपत्पातविनाशनोऽयं, जनार्द्दनानुस्मरणानुभावः ॥५८॥

वामनपुराणे च—

विष्टयो व्यतिपाताश्च येऽन्ये दुर्नीतिसम्भवाः ।
ते सर्वे स्मरणाद्विष्णोर्नाशमायान्त्युपद्रवाः ॥५९॥

पाद्मे माघमाहात्म्ये देवद्युतिस्तुतौ—

यस्य स्मरणमात्रेण न मोहो न च दुर्गतिः ।
न रोगो न च दुःखानि तमनन्तं नमाम्यहम् ॥६०॥

दुर्वासनोन्मूलनत्वम्

द्वादशस्कन्धे (३।४७)—

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दौर्वर्ण्यं हन्ति धातुजम् । एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥६१॥

सर्वमङ्गलकारित्वम्

पाण्डवगीतायाम्—

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः । येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थ जनार्द्दनः ॥६२॥

स्वरूपनिर्देशमात्रपरं, न तु विशेषणपरमिति दिक् । यद्यपि परमशोधकत्वपापोन्मूलनत्वयोरभेद एव पर्य्यवस्यति, तथापि परमशोधकत्वस्य तात्कालिकपापाद्यशुद्धितो वाह्याभ्यन्तरपवित्रतामात्रलक्षणत्वेन पापोन्मूलनत्वस्य चानेकजन्मकृतवासनाशेषपापक्षपणरूपतया कश्चिद्भेदः कल्प्यः ; एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥५७॥

धातुजं ताम्रादिसंश्लेषजातं, हेम्नो दौर्वर्ण्यं मालिन्यं हेम्नि स्थितः सन् वह्निरेव हरति, एवं योगिनामपि, सताम् आत्मगतो मनसि प्राप्तः स्मृतः सन्, विष्णुरेव, न तु योगादिकमित्यर्थः ॥६१॥

कारण श्रीभगवान् में मनोनिवेश निबन्धन निखिल प्रायश्चित्त होता है ॥५७॥

सर्वापद्विमोचकत्वम्—

श्रीविष्णु स्मरण द्वारा सर्वपापविमोचकत्व वर्णित है—श्रीविष्णुपुराण में प्रह्लाद की उक्ति,—हस्तिगण के दन्त समूह वज्र से भी अधिक कठिन होने पर भी जब विशीर्ण हो गए थे तब उक्त बल मेरा नहीं है, महाविपद् विनाशन श्रीगोविन्द स्मरण का ही उक्त प्रभाव है ॥५८॥

वामनपुराण में उक्त है—विष्टि, व्यतीपात एवं अन्यान्य दुर्नीति सम्भव उपद्रव समूह श्रीविष्णु स्मरण से विनष्ट होते हैं ॥५९॥

पद्मपुराणीय माघ माहात्म्य की देवद्युति स्तुति में उक्त है,—जिनके स्मरण मात्र से मोह विनष्ट होता है, दुर्गति विनष्ट होती है, रोग-दुःख अपसारित होते हैं, मैं उन अनन्त को प्रणाम करता हूँ ॥६०॥

दुर्वासनोन्मूलनत्वम्—

(भा० १२।३।४७) जिस प्रकार अग्नि सुवर्ण संश्लिष्ट होकर ताम्रादि संश्लेष जनित मालिन्य का अपसारण करता है, उस प्रकार श्रीविष्णु आत्मगत होकर योगिगणों के अशुभसमूह को विनष्ट करते हैं ॥६१॥

सर्वमङ्गलकारित्वम्—

श्रीविष्णु स्मरण का सकल मङ्गलकारित्व। पाण्डवगीता में वर्णित है,—इन्दीवर श्यामलसुन्दर

सर्वसत्कर्मफलदत्वम्

स्कान्दे कार्त्तिकप्रसङ्गेऽगस्त्योक्तौ—

देवेषु यज्ञेषु तपःसु चैव, दानेषु तीर्थेषु व्रतेषु चैव ।
इष्टेषु पूर्त्तेषु च यत् प्रदिष्टं, नृणां स्मृते तत्फलमच्युते च ॥६३॥

कर्मसाद्गुण्यकारित्वम्

बृहन्नारदीये—

न्यूनातिरिक्तता सिद्धा कलौ वेदोक्तकर्मणाम् । हरिस्मरणमेवात्र सम्पूर्णफलदायकम् ॥६४॥

स्मृतौ च—

प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् । स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति स्मृतिः ॥६५॥

सर्वकर्माधिकत्वम्

बृहन्नारदीये कलिप्रसङ्गे—

तुलापुरुषदानानां राजसूयाश्वमेधयोः । फलं विष्णोः स्मृतिसमं न जातु द्विजसत्तम ॥६६॥

द्वादशस्कन्धे (३।४८)—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री,-तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा, यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥६७॥

सिद्धेति—स्वभावतोऽवश्यं स्यादेवेत्यर्थः ॥६४॥

विद्या उपासना अध्ययनं वा, तपः स्वधर्माचरणम्, प्राणनिरोधः प्राणायामः, मैत्री भूतेषु स्नेहः, अन्तरात्मा मनः, हृदिस्थे स्मृते ॥६७॥

जनार्दन जिनके हृदयस्थ होते हैं, सर्वत्र ही उन सब का लाभ, जय होते रहते हैं, उन सब की पराभव सम्भावना कहाँ ? ॥६२॥

सर्वसत्कर्मफलदत्वम्—

श्रीविष्णुस्मरण सकल सत्कर्म का फल प्रद है। स्कन्दपुराण में अगस्त्योक्ति- यज्ञ, तपस्या, दान, तीर्थ, व्रत, इष्ट कर्म एवं जलाशयादि निर्माण कार्य्य में जो भी फल विहित है, श्रीभगवत् स्मरण से उक्त समस्त फललाभ होता है ॥६३॥

कर्मसाद्गुण्यकारित्वम्—

विष्णुस्मरण का साद्गुण्यकारित्व । बृहन्नारदीय पुराण में उक्त है,—कलियुग में वेदोक्त कर्मसमूह की न्यूनता एवं आधिक्य होना सम्भव है, किन्तु उक्त विषय में श्रीहरिस्मरण ही समधिक फलदायक है ॥६४॥

स्मृति में वर्णित है,—यज्ञादि क्रिया में यज्ञ कर्मकर्त्तृगण के प्रमाद से कर्माङ्ग की हानि होती है, उसकी सम्पूर्णता श्रीविष्णु स्मृति से ही होती है ॥६५॥

सर्वकर्माधिकत्वम्—

श्रीविष्णु स्मरण का सर्वकर्माधिकत्व । बृहन्नारदीय पुराण में लिखित है—हे द्विजसत्तम ! तुलापुरुष दान, राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ समूह का फल कदाच श्रीविष्णु स्मरण के समकक्ष नहीं है ॥६६॥

भा० १२।३।४८ में उक्त है—भगवान् अनन्त हृदिस्थ होने से अन्तरात्मा की विशुद्धि जैसी होती है, विद्या, तपः, प्राणनिरोध (प्राणायाम), मैत्री, तीर्थसेवा, व्रत, दान एवं जप के द्वारा उस प्रकार शुद्धि की सम्भावना नहीं है ॥६७॥

सर्वभयापहारित्वम्

विष्णुपुराणे हिरण्यकशिपुं प्रति श्रीप्रह्लादोक्तौ—

भयं भयानामपहारिणि स्थिते, मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति ।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरोद्भवानि, भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात ॥६८॥

मोक्षप्रदत्वम्

तत्रैवान्यत्र—

विष्णुसंस्मरणात् क्षीणसमस्तक्लेशसञ्चयः ।
मुक्तिं प्रयाति स्वर्गाप्तिस्तस्य विघ्नोऽनुमीयते ॥६९॥

बृहन्नारदीये—

वरं वरेण्यं वरदं पुराणं, निजप्रभाभासितसर्वलोकम् ।
सङ्कल्पितार्थप्रदमादिदेवं, स्मृत्वा व्रजेन्मोक्षपदं मनुष्यः ॥७०॥

स्कान्दे—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् । विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥७१॥

तत्रैव कार्त्तिकप्रसङ्गे श्रीपराशरोक्तौ—

तदैव पुरुषो मुक्तो जन्मदुःखजरादिभिः । भक्त्या तु परया नूनं यदैव स्मरते हरिम् ॥७२॥

विष्णोः संस्मरणात् क्षीणः क्षयं गतः समस्तक्लेशानां पापमूलानां रागादीनां सञ्चयः समूहो यस्य सः, स्वर्गप्राप्तिस्तु तस्यातितुच्छत्वात् विघ्नप्रायैवेत्यर्थः ॥६९॥

वरं वरेण्यं परमश्रेष्ठमित्यर्थः ; यद्वा, वरं श्रेष्ठं वरेण्यं सर्व्वैर्वरणयोग्यमित्यर्थः ॥७०॥

प्रभविष्णवे नित्यप्रभावशीलाय, अतोऽत्र न किमपि विचार्य्यमिति भावः । तथाहि पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये —'न चात्र संशयः कार्य्य ईशितृत्वमिदं हरेः । राजा हि कस्यचिद्धृत्वा सर्वस्वं चेत् प्रयच्छति । परस्मै तस्य कस्तत्र नियन्ता स्यात् प्रभोर्यथा ।' इति ॥७१॥

सर्वभयापहारित्वम्—

सर्वभयहारित्व । विष्णुपुराण में श्रीप्रह्लाद की उक्ति,—हे तात ! जिनका स्मरण से जन्म, जरा जन्य सर्वविध भय विदूरित होते हैं, सकल भयविनाशन श्रीअनन्त जब मेरे हृदय में अधिष्ठित हैं, तब भय कहाँ रहेगा ? ॥६८॥

मोक्षप्रदत्वम्—

मोक्षप्रदानकारित्व । उक्त ग्रन्थ में उक्त है—श्रीविष्णु स्मरण से जिनकी पापराशि ध्वंस हुई है, वह ही मुक्ति प्राप्त करता है । सुतरां स्वर्ग प्राप्ति उनके लिए विघ्नस्वरूप है ॥६९॥

बृहन्नारदीय में लिखित है—जो परममहान्, वरदाता पुराणपुरुष, जो निज प्रभा के द्वारा सर्वलोक को प्रकाशित करते हैं, एवं सर्वाभीष्ट फलदाता हैं, उन आदिदेव का स्मरण करने से मनुष्य मुक्त होता है ॥७०॥

स्कन्दपुराण में वर्णित है,—जिनका स्मरण से जन्म-मरण रूप संसार बन्धन विनष्ट होता है, उन प्रभावशील श्रीविष्णु को नमस्कार ॥७१॥

उक्त प्रसङ्ग में श्रीपराशर ने कहा है—परम भक्तिभाव से जब ही श्रीहरि का स्मरण किया जाता है, तब ही पुरुष भय, दुःख, जरा, प्रभृति से निःसन्देह मुक्त होता है ॥७२॥

भगवत्प्रसादनम्

बृहन्नारदीये—

येन केनाप्युपायेन स्मृतो नारायणोऽव्ययः ।
अपि पातकयुक्तस्य प्रसन्नः स्यान्न संशयः ।।७३।।

श्रीवैकुण्ठलोकप्रापकत्वम्

वामनपुराणे—

अनाद्यनन्तमजरामरं हरिं, ये संस्मरन्त्यहरहर्नियतं नरा भुवि ।
तत् सर्वगं ब्रह्म परं पुराणं, ते यान्तिवैष्णवपदं ध्रुवमव्ययञ्च ।।७४।।

पाद्मे देवदूतविकुण्डलसंवादे यमस्य दूतानुशासने—

ये स्मरन्ति सकृद्दूताः प्रसङ्गेनापि केशवम् ।
ते विध्वस्ताखिलाघौघा यान्ति विष्णोः परं पदम् ।।७५।।

ब्रह्मपुराणे विष्णुरहस्ये च—

शाठ्येनापि नरा विष्णुं ये स्मरन्ति जनार्द्दनम् ।
तेऽपि यान्ति तनुं त्यक्त्वा विष्णुलोकमनामयम् ।।७६।।

विष्णुधर्मोत्तरे—

निराशीर्निर्ममो यस्तु विष्णोर्ध्यानपरो भवेत् ।
तत्पदं समवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ।।७७।।

वैष्णवपदं श्रीविष्णोः स्थानं, तस्यैव विशेषणं सर्वगमित्यादि, सच्चिदानन्दरूपत्वात् ।।७४।।
हे दूताः ! परं सर्वतः श्रेष्ठम् ।।७५।।
अनामयं सर्वदोषरहितम् ।।७६।।

भगवत्प्रसादनम्—

श्रीभगवत्प्रसादत्व । बृहन्नारदीय में वर्णित है,—जिस किसी प्रकार से ही हो, अव्यय श्रीनारायण का स्मरण करने से पापी के प्रति भी श्रीनारायण प्रसन्न होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ।।७३।।

श्रीवैकुण्ठलोकप्रापकत्वम्—

तद्द्वारा श्रीभगवल्लोक प्राप्ति । वामन पुराण में उक्त है—धरातल में जो व्यक्ति अहरहः नियत रूप से अनादि अनन्त, जरामरणशून्य श्रीहरि का स्मरण करता है, वह सर्वग, ब्रह्मस्वरूप, परम पुरातन, नित्य एवं अव्यय वैष्णव पद को प्राप्त करता है ।।७४।।

पद्मपुराण में यम का दूत के प्रति अनुशासन,—हे दूतगण ! जो लोक प्रसङ्ग क्रम से भी सकृत् केशव का स्मरण करते हैं, वे सब अखिल पातकराशि को विध्वंस करके परम धाम को जाते हैं ।।७५।।

ब्रह्मपुराण एवं विष्णुरहस्य में वर्णित है—जो मानव शठतापूर्वक जनार्दन श्रीविष्णु का स्मरण करता है, वह देहावसान में सर्वदोष रहित विष्णुलोक को प्राप्त करता है ।।७६।।

विष्णुधर्मोत्तर में उक्त है,—जो जन वासना रहित एवं ममता वर्जित होकर विष्णु ध्यान में रत होता है, वह विष्णुलोक प्राप्त करता है, जहाँ शोक नहीं है ।।७७।।

सारूप्यप्रापणम्

काशीखण्डे श्रीविन्दुमाधवप्रसङ्गे अग्निविन्दुस्तुतौ—

ये त्वां त्रिविक्रम सदा हृदि शीलयन्ति, कादम्बिनीरुचिररोचिषमम्बुजाक्ष ।
सौदामिनीविलसितांशुकवीतमूर्त्ते, तेऽपि स्पृशन्ति तव कान्तिमचिन्त्यरूपाम् ॥७८॥

श्रीभगवद्गीतासु (८।५)—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥७९॥

श्रीभगवद्वशीकरणम्

दशमस्कन्धे (८०।११) पृथुकोपाख्याने—

स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं त्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ॥८०॥

स्वतः परमफलत्वम्

वैष्णवे—

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्च्चनादिषु ।
तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादि सत् फलम् ॥८१॥

शीलयन्ति अभ्यस्यन्ति, स्पृशन्ति किञ्चित् सादृश्येन लभन्ते, इहैव यथा श्रीप्रह्लादोद्धवादयः; अत्र च पेशस्कारिस्मरणात् कीटोऽत्र एवेति दृष्टान्तो द्रष्टव्यः ॥७८॥

अप्यर्थे चकारः, अन्तकालेऽपि, किं पुनः सर्वकालं स्वस्थावस्थायामित्यर्थः । मद्भावं मत्त्वं मत्सारूप्यमिति यावत् ॥७९॥

अर्थान् कामांश्च यच्छति, इति किंवक्तव्यमित्यर्थः । कथम्भूतान् नात्यभीष्टान् भगवतो भजतो वा जनस्य अनतिप्रायान्, परिणामविरसत्वात् । जगद्गुरुरिति—भक्तस्य कथञ्चिदत्यभीष्टानपि सतस्तस्मै पिता पुत्रायापथ्यमिव न दद्यादिति भावः ॥८०॥

जपादिषु कर्मसु तत्साद्गुण्यार्थमपि यस्य वासुदेवे मनः, येन श्रीकृष्णस्मरणं कृतमित्यर्थः । यद्वा, येषु

सारूप्यप्रापणम्—

विष्णु स्मरण से सारूप्य प्राप्ति । काशीखण्ड के विन्दुमाधव प्रसङ्ग में वर्णित है,—हे त्रिविक्रम ! हे अम्बुजाक्ष ! तुम कादम्बिनी की भाँति सुन्दर हो, हे सौदामिनी विलसित पीतवस्त्र समावृत विग्रह ! जो लोक निज हृदय में सर्वदा तुम्हारा ध्यान करता है, वह भी तुम्हारी अचिन्त्यरूपा कान्ति को प्राप्त करता है ॥७८॥

श्रीगीता में उक्त है—मृत्यु काल में मेरा स्मरण कर जो व्यक्ति जीवन त्यागता है, वह मत्सारूप्य प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥७९॥

श्रीभगवद्वशीकरणम्—

श्रीविष्णु स्मरण से श्रीभगवान् वशीभूत होते हैं । भा० १०।८०।११ पृथुकोपाख्यान में उक्त है,—जिनके चरणकमल का स्मरण करने से जो अपने को दान कर देता है, उन जगद्गुरु का भजन करने से उनसे अभीप्सित फल मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥८०॥

स्वतः परमफलत्वम्—

श्रीविष्णुस्मरण का स्वाभाविक परमफलत्व । विष्णुपुराण में वर्णित है, पराशर ने कहा,—हे मैत्रेय !

गारुड़े—

महतस्तपसो मूलं प्रसवः पुण्यसन्ततेः। जीवितस्य फलं स्वादु नियतं स्मरणं हरेः ॥८२॥

द्वितीयस्कन्धे (१।६)—

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया। जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥८३॥

अतएव जरासन्धनिरुद्धनृपवर्गैः प्रार्थितं दशमस्कन्धे (७३।१५)—

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः। स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥८४॥

श्रीनारदेनापि (श्रीभा० १०।६९।१८)—

दृष्टं तवाङ्घ्रिकमलं जनतापवर्गं, ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं, ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥८५॥ इति।

क्रियमाणेष्वपि वासुदेव एव मनः जपादिसाध्यमैन्द्रयपदम्, आदिशब्दाद्ब्राह्म्यञ्च तत्तत्कृतचित्तशुद्ध्यादिजात मुक्त्यादिकमपि सर्वमन्यत् फलं विघ्न एव, तत्स्मरणस्यैव परमफलत्वात् ॥८१॥

प्रसवः फलं, नियतं निश्चितमेव ॥८२॥

सांख्यमात्मानात्मविवेकः, योगोऽष्टाङ्गस्ताभ्याम्, तथा स्वधर्मे परितो निष्ठाया कृत्वा पुंसां जन्मनो यो लाभः फलमेतावानेव, न त्वन्य इति योगादीनां तदेकपरतोक्ता। कोऽसौ ? तदाह—नारायणस्य स्मृतिरिति। अन्ते तु स्मृतिः परमो लाभः, न तन्महिमानं वक्तुं शक्यत इत्यर्थः। यद्वा, अन्तेऽपि स्मृतिः परमो लाभः किं पुनराजन्म सदास्मृतिरित्यर्थः। अन्यत् समानम् ॥८३॥

येन उपायेन, यथा यथावत् स्मृतिः प्रेमस्मरणमित्यर्थः। यद्वा, यथावत् संसरतां देहाद्यासक्त्या नितरां संसारदुःखं लभमानानामपीत्यर्थः ॥८४॥

जनताया भक्तवर्गस्यापवर्गरूपम्, ब्रह्मादिभिरपि हृदि चिन्त्यमेव; संसारकूपे पतितानामुत्तरणाय सुखोत्थानाय अवलम्बमाश्रयम्, ईदृशं तवाङ्घ्रिकमलं मया दृष्टम्, अतः कृतार्थोऽस्मि; तथापि भगवत्स्मृतिर्यथा स्यात्तथानुगृहाण, येन तवाङ्घ्रिं ध्यायन्नेव चरामि; यद्वा, अधुना दृष्टमन्यत्र गतोऽपीमं त्वदङ्घ्रिं ध्यायन्नेव किञ्च, यथावत् स्मृतिः स्यादित्यनुग्रहं कुरु; यद्वा, एवमनन्यगतिकत्वेन मम त्वदीयाङ्घ्रिकमलध्यानं कदाचिदेतद्दर्शनञ्च भवेदेव, किन्तु मद्विषयिका तव स्मृतिर्मनोवृत्तिर्यथास्यात्तथानुगृहाण; यद्वा, दृष्टत्वादन्यत्र गतोऽप्येतदेवचिन्तयन्नुचरिष्यामि, किन्त्वनेनानुग्रहेणालमधुनातथानुग्रहं कुरु, यथा अस्मृतिः स्मरणाभावः स्यात्।

जप, होम, अर्चनादि कार्य्य में जिसका मन वासुदेव में अर्पित है, इन्द्रत्वादि सत्कर्म फल एवं मुक्त्यादि फल भी उनके लिए विघ्न स्वरूप है ॥८१॥

गरुड़पुराण में वर्णित है,—श्रीविष्णु स्मरण, निश्चय ही महती तपस्या का फलस्वरूप है, पुण्यसमूह का उत्पादक एवं जीवन का स्वादुमय फल है ॥८२॥

भा० २।१।६ में उक्त है—अन्तःकाल में भगवत् स्मृति परम लाभकर है, स्वधर्मरत होकर आत्म अनात्म विचार, अष्टाङ्ग योग, एतदुभय के द्वारा अन्तःकाल में जो श्रीनारायण स्मरण, वह ही पुरुष का परम लाभ अर्थात् जन्म साफल्य है ॥८३॥

भा० १०।७३।१५ में राजन्य वर्ग की प्रार्थना में उक्त है—हे भगवन् ! आप हम सबको उपदेश प्रदान करें, जिससे संसारी होकर भी अनवरत आपके चरणारविन्दों की स्मृति हमारी हो ॥८४॥

भा० १०।६९।१८ में श्रीनारद कहते हैं—भक्तजनमुक्तिप्रद आपके चरणों का दर्शन मैंने किया, अपरिमित विज्ञानसम्पन्न ब्रह्मादि देवगण जिनका स्थापन हृदयाभ्यन्तर में करते हैं। संसारकूप में निपतित

कृष्णस्मरणमाहात्म्यमहाब्धिर्दुस्तरो धिया । यो पिपासति तत्पारं स हि चैतन्यवञ्चितः ॥८६॥

ततः पदोदकं किञ्चित् प्राक् पीत्वा तुलसीदलैः । गृहीतेनाचरेत्तेन स्वमूर्द्धन्यभिषेचनम् ॥८७॥

अथादौ श्रीगुरुं नत्वा श्रीकृष्णस्य पदाब्जयोः ।
किञ्चिद्विज्ञापयन् सर्वस्वकृत्यान्यर्पयेन्नमेत् ॥८८॥

अथ प्रातःप्रणामः

वामनपुराणे—

सर्वमङ्गलमङ्गल्यं वरेण्यं वरदं शिवम् । नारायणं नमस्कृत्य सर्वकर्माणि कारयेत् ॥८९॥

अथ विज्ञापनम्

विष्णुधर्मोत्तरे—

यदुत्सवादिकं कर्म तत्त्वया प्रेरितो हरे । करिष्यामि त्वया ज्ञेयमिति विज्ञापनं मम ॥९०॥

अन्यत्र गतस्य सतस्तत्स्मरणेन विरहदुःखवृद्धेर्वरमस्मरणमेवानुग्रह इत्यर्थः । एतच्च सदा श्रीकृष्णपादपद्मान्तिके वासमलभमानस्य प्रेमोद्रेकवाक्यगाम्भीर्य्यम्, एवमपि स्मरणस्यैव परममाहात्म्यं पर्य्यवस्यतीति दिक् ॥८५॥

धिया दुस्तरः अर्थतो वचनतश्च बुद्ध्यापि, अस्तु तावल्लिखनेन, पारं गन्तुमशक्यमित्यर्थः । धियेत्यस्याग्र एवान्वयः, तस्य पारं यो यातुमिच्छति, स चैतन्येन वञ्चितः अचेतन इत्यर्थः । स्वमते श्रीचैतन्यदेवेन मायया प्रतारितः परित्यक्तो वेत्यर्थः, निजाशक्ये कर्मणि प्रवृत्तेः ॥८६॥

पादोदकं श्रीभगवच्चरणामृतं प्राक् आदौ पीत्वेत्यत्र कारणमग्रे लिख्यम्—'शालग्रामशिलातोयमपीत्वा यस्तु मस्तके । प्रक्षेपणं प्रकुर्वीत ब्रह्महा स निगद्यते ॥' इति । तुलसीदलैः कृत्वा सह वा गृहीतेन तेन पादोदकेनैव स्वमस्तकेऽभिषेकं कुर्य्यात् ॥८७॥

विज्ञापनद्वारैव सर्वाणि स्वस्य कृत्यानि अर्पयन् नमेत् साष्टाङ्गप्रणामं कुर्य्यात्, अग्रे यथाविधीति लिखनात् ॥८८॥

विज्ञापयन्निति लिखितं तत्प्रकारमेव लिखति—यदिति । तच्च तवाज्ञेयमित्येव करिष्यामि ॥९०॥

जनोद्धारकारी उन पादपद्म का ध्यान करते करते जैसे चिरकाल बिचरण करूँ, आप मेरे प्रति उस प्रकार अनुग्रह करें ॥८५॥

श्रीकृष्ण माहात्म्यरूप दुस्तर महासिन्धु का पार करने की इच्छा जो जन मन से भी करता है, वह अचेतन है, अथवा श्रीचैतन्यदेव की माया से प्रतारित है ॥८६॥

अतःपर सर्वप्रथम किञ्चित् चरणामृत पान करके तुलसी पत्र के द्वारा उक्त चरणामृत निज मस्तक में स्थापन करें, पान न कर मस्तक में प्रक्षेपण न करे ॥८७॥

अनन्तर प्रथमतः श्रीगुरुः को प्रणाम करके श्रीकृष्ण पादपद्म में किञ्चित् निवेदन के सहित निज कृत्य समूह का अर्पण एवं प्रणाम करे ॥८८॥

अथ प्रातःप्रणामः

वामनपुराण में उक्त है—समस्त मङ्गलों का मङ्गलस्वरूप श्रेष्ठ, वरद, मङ्गलमय श्रीनारायण को नमस्कार करके समस्त कार्य्य करे ॥८९॥

अथ विज्ञापनम्

अनन्तर विज्ञापन । विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है, –हे हरे ! मैं आपके द्वारा प्रेरित होकर उत्सवादि जो कुछ कार्य्य करूँगा, आपकी आज्ञानुसार ही करूँगा, यह ही मेरा विज्ञापन है ॥९०॥

प्रातःप्रबोधितो विष्णो हृषीकेशेन यत्त्वया। यद्यत् कारयसीशान तत् करोमि तवाज्ञया ॥६१॥

त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव, श्रीनाथ विष्णो भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं, संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये ॥६२॥
संसारयात्रामनुवर्त्तमानं, त्वदाज्ञया श्रीनृहरेऽन्तरात्मन्।
स्पर्द्धातिरस्कारकलिप्रमाद,-भयानि मा माभिभवन्तु भूमन् ॥६३॥
जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति,-र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥६४॥

अथ प्रणामवाक्यानि

महाभारते—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गो-ब्राह्मणहिताय च। जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥६५॥

गरुड़पुराणे—

असुरविबुधसिद्धैर्ज्ञायते यस्य नान्तः, सकलमुनिभिरन्तश्चिन्त्यते यो विशुद्धः।
निखिलहृदि निविष्टो वेत्ति यः सर्वसाक्षी, तमजममृतमीशं वासुदेवं नतोऽस्मि ॥६६॥

कारयसीति करोत्यर्थस्य सर्वधात्वर्थेष्वन्तर्भावात्, वाह्याभ्यन्तरसर्वेन्द्रियचेष्टितं व्याप्नोषि ॥६१॥
संसारयात्रां लोकव्यवहारम् ॥६२॥
मा मां, भूमन् हे महत्तम, एवं यदुत्सवादिकं कर्मेत्यादिनोक्त्वम्; यथाविधीति पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामित्यादिनाग्रे लेख्यप्रकारेणेत्यर्थः। चतुःसंख्या अवरा अन्त्या येषु तान्, चतुःसंख्याया न्यूनान्न कुर्यात्

हे विष्णो! हे ईशान! आप हृषीकेश हैं, अर्थात् इन्द्रियगणों का अधीश्वर हैं, मैं आपके द्वारा ही प्रातःकाल जाग्रत हुआ हूँ। आप जो कुछ करावेंगे, आपकी आज्ञानुसार ही मैं सबकुछ करूँगा ॥६१॥

हे लोकत्रय के चैतन्यस्वरूप! हे आदिदेव! हे श्रीनाथ! हे विष्णो! आपके आदेश से प्रातःकाल में जगकर आपकी प्रसन्नता के लिए संसार यात्रा का अनुष्ठान करूँगा ॥६२॥

हे श्रीनृहरे! हे अन्तरात्मन्! हे भूमन्! मैं जब आपकी आज्ञा से संसार यात्रा का अनुष्ठान करूँगा, तब स्पर्धा, तिरस्कार, कलह, प्रमाद एवं भयसमूह मुझको जैसे अभिभूत न कर सकें ॥६३॥

मैं धर्म को जानता हूँ। तथापि उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्म भी जानता हूँ। तथापि उससे निवृत्ति भी नहीं होती है। हे हृषीकेश! आप हृदय में अवस्थित होकर मुझको जिस प्रकार नियुक्त करेंगे, मैं वैसा ही करता रहता हूँ ॥६४॥

अथ प्रणामवाक्यानि—

प्रणाम वाक्यसमूह। महाभारतोक्ति—ब्रह्मण्यदेव, गो-ब्राह्मण हितकारी, जगत् के शुभदायक गोविन्द कृष्ण को पुनः पुनः नमस्कार ॥६५॥

गरुड़ पुराणोक्ति—असुर, देवता, सिद्धसमूह जिनका अन्त जान नहीं सकते हैं, मुनिगण जिनकी चिन्ता अभ्यन्तर में करते रहते हैं, जो निर्मल हैं, जो सब के हृदय में अवस्थित होकर सब कुछ जानते हैं, जो सबके साक्षीस्वरूप हैं, उक्त जन्मरहित, अमृत अर्थात् विशुद्ध सत्त्वस्वरूप ईश्वर वासुदेव को नमस्कार करता हूँ ॥६६॥

विष्णुपुराणे—

यज्ञिभिर्यज्ञपुरुषो वासुदेवश्च सात्वतैः। वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते यो नतोऽस्मि तम् ॥९७॥

एवं विज्ञापयन् ध्यायन् कीर्त्तयंश्च यथाविधि।
प्रणामानाचरेच्छक्त्या चतुःसंख्यावरान् बुधः ॥९८॥
श्रीगोपीचन्दनेनोर्द्ध्वपुण्ड्रं कृत्वा यथाविधि।
आसीत प्राङ्मुखो भूत्वा शुद्धस्थाने शुभासने ॥९९॥

तथा च नारदीयपञ्चरात्रे—

निर्गत्याचम्य विधिवत् प्रविश्य च पुनः सुधीः।
आसने प्राङ्मुखो भूत्वा विहिते चोपविश्य वै ॥१००॥
सम्प्रदायानुसारेण भूतशुद्धिं विधाय च।
प्राणायामांश्च विधिवत् कृष्णं ध्यायेत् यथोदितम् ॥१०१॥

तथा चोक्तम्—

उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च। प्रविश्य रजनीपादं विष्णुध्यानं समाचरेत् ॥१०२॥

वैहायसपञ्चरात्रे च—

तथैव रात्रिशेषन्तु कालं सूर्य्योदयावधि। कर्त्तव्यं सजपं ध्यानं नित्यमाराधकेन वै ॥१०३॥

अधिकानेव कुर्य्यादित्यर्थः ॥९३-९८॥

यथाविधि हरिमन्दिरनिर्माणादिप्रकारेण, शुभे उत्तमे विहितासने, तत्तत् सर्वमग्रे व्यक्तं भावि ॥९९॥

निर्गत्य गृहान्निःसृत्य मूत्रोत्सर्गादिकं कृत्वेत्यर्थः। विधिवदाचम्य अस्य क्रियान्वयश्लोकोऽत्रानुपयुक्तत्वात् न लिखितः ॥१००॥

निजसम्प्रदायस्यानुसारेणेति भूतशुद्धेर्विविधरूपत्वात् प्राणायामांश्च विधाय ॥१०१॥

उपपातकादिष्वपि निमित्तेषु, किं पुनर्विष्णुध्यानार्थम्; रात्रेः शेषं कालं व्याप्य तस्मादारभ्येत्यर्थः ॥१०२-३॥

विष्णुपुराणोक्ति,—याज्ञिकगण, जिनको यज्ञपुरुष, सात्वत अर्थात् भक्तगण जिनको वासुदेव, एवं वेदान्त शास्त्रज्ञगण जिनको विष्णु कहते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ ॥९७॥

विज्ञ व्यक्ति, उक्तरूप विज्ञापन, स्मरण, कीर्त्तन करके शक्ति के अनुसार यथाविधि चतुर्बार प्रणाम करे ॥९८॥

गोपीचन्दन के द्वारा यथाविधि ऊर्द्ध्वपुण्ड्र श्रीहरिमन्दिर तिलक निर्माण करके शुद्ध पवित्र आसन में पूर्वमुख होकर उपवेशन करे ॥९९॥

नारदपञ्चरात्र में वर्णित है—सुधी व्यक्ति, गृह से निर्गत होकर मैत्र्यादि कृत्य के पश्चात् यथारीति आचमन करके पुनर्बार गृह में प्रविष्ट होकर शास्त्र निर्दिष्ट आसन में पूर्वाभिमुख में उपवेशन करे ॥१००॥

भूतशुद्धि का विविध प्रकार है, उसमें से निज सम्प्रदाय के अनुसार भूतशुद्धि एवं प्राणायाम करके यथाविधि श्रीकृष्ण ध्यान करे ॥१०१॥

अतएव वर्णित है—निखिल उपपातक, महापातक से मुक्त होने के लिए गृह में प्रविष्ट होकर श्रीविष्णु का ध्यान रात्रि के अन्तिम भाग में करे ॥१०२॥

वैहायस पञ्चरात्र में वर्णित है,—आराधनाकारी व्यक्ति रात्रि शेष से आरम्भ कर सूर्य्योदय पर्य्यन्त

विभज्य पञ्चधा रात्रिं शेषे देवार्चनादिकम् । जपं होमं तथा ध्यानं नित्यं कुर्वीत साधकः ॥१०४॥

अतएव विष्णुस्मृतौ—

रात्रेस्तु पश्चिमे यामे मुहूर्त्तो ब्राह्मय उच्यते ॥१०५॥ इति ।
पादोदपानादीनाञ्च स विधिर्महिमाग्रतः ।
लेख्योऽधुना तु ध्यानस्य स संक्षेपेण लिख्यते ॥१०६॥

अथ प्रातर्ध्यानम्

तापनीयश्रुतिषु—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥१०७॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमलताश्रयम् । दिव्यालङ्करणोपेतं रक्तपङ्कजमध्यगम् ॥१०८॥
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् । चिन्तयंश्चेति तं कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥१०९॥

मृत्युञ्जयसंहितानुसारोदित-सारदातिलके च—

स्मरेद्वृन्दावने रम्ये मोहयन्तमनारतम् । गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोपकन्याः सहस्रशः ॥११०॥
आत्मनो वदनाम्भोजप्रेरिताक्षिमधुव्रताः । कामवाणेन विवशाश्चिरमाश्लेषणोत्सुकाः ॥१११॥
मुक्ताहारलसत्पीनोत्तुङ्गस्तनभरानताः । स्रस्तधम्मिल्लवसना मदस्खलितभाषणाः ॥११२॥

आदिशब्देन प्रणामोर्द्ध्वपुण्ड्रभूतशुद्धिप्राणायामादिः ॥१०५॥
विधिः तत्पानतन्मन्त्रोच्चारणादिप्रकारस्तत्सहितः, स ध्यानस्य विधिर्महिमा चेत्यर्थः ॥१०६॥
गोपैर्गोपीभिर्गोभिश्च आवीतं परिवेष्टितम् ॥१०८॥
गोपकन्या एव विशिनष्टि—आत्मन इति त्रिभिः। गोविन्दस्य वदनाम्भोजे प्रेरिता अक्षिमधुव्रता

नित्य जप एवं ध्यान का अनुष्ठान करे ॥१०३॥

रात्रि को पाँच भागों से विभक्त करके रात्रि के शेष भाग में नित्य देवपूजादि, जप, होम एवं ध्यान करे ॥१०४॥

अतएव विष्णुस्मृति में लिखित है—रात्रि के शेषप्रहर के शेषमुहूर्त्त को ब्राह्मय मुहूर्त्त कहते हैं ॥१०५॥

पादोदक पानादि की विधि एवं उसका माहात्म्य का उल्लेख पश्चात् होगा । सम्प्रति संक्षेप से ध्यान विधि एवं माहात्म्य लिखते हैं ॥१०६॥

अथ प्रातर्ध्यानम्—

गोपालतापनी श्रुतिमें वर्णित है—श्रीकृष्ण का ध्यान,—प्रस्फुटित कमलसदृशनयनविशिष्ट, नीरदकान्ति, तड़ित् सदृश पीताम्बर धारी, द्विहस्त, मौनमुद्रायुक्त, वनमालाधारी, ईश्वर, गोप, गोपी, गो समूह से परिवेष्टित, कल्पवृक्ष के तलदेश में समासीन, दिव्य विभूषण द्वारा विभूषित, रक्तोत्पल के अन्तर्भाग में सन्निविष्ट, यमुना सलिल के तरङ्ग संसर्ग वायु के द्वारा सेवित रूप में करने से संसार बन्धन विनष्ट होता है ॥१०७-१०९॥

मृत्युञ्जयसंहितानुसार लिखित सारदातिलक में वर्णित है—सहस्र सहस्र गोपबालिकागण श्रीकृष्ण के मुखकमल में निज निज नयनभ्रमर को नियुक्त किए हैं, स्मर के आवेश से विवश होकर गाढ़ आलिङ्गन के लिए उत्कण्ठिता हैं, एवं मुक्ताहारालङ्कृत पीनोन्नत कुच से अवनत हैं, उन सबके वेणीबन्धन एवं वस्त्र

दन्तपंक्तिप्रभोद्भासिस्पन्दमानाधराञ्चिताः । विलोभयन्तीर्विविधैर्विभ्रमैर्भावगर्भितैः ॥११३॥

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं वर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम् ।
गोपीनां नयनोत्पलार्च्चिततनुं गो-गोपसङ्घावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥११४॥ इति ।

श्रीगौतमीयतन्त्रादौ तद्ध्यानं प्रथितं परम् ।
अग्रतोऽत्रापि संलेख्यं यदिष्टं तत्र तद्भजेत् ॥११५॥

याभिस्ताः, विलोभयन्तीर्गोविन्दमेव ॥१११-११३॥

आदिशब्देन त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रसनत्कुमारकल्पादितन्त्राः । तस्य गोविन्दस्य परञ्च ध्यानं प्रसिद्धमेव, अत्र ग्रन्थेऽप्यग्रतो लेख्यम्, क्रमदीपिकोक्तमथ प्रकटसौरभेदित्यादि, श्रीगौतमीयतन्त्रे च 'पीताम्बरधरः' इत्यादि । तत्र ध्याने यस्य यत् प्रियं स्यात्, तत् संसेवताम् । तत्र श्रीगौतमीयतन्त्रे 'नवीननीरदश्यामम्' इत्यादिकं सुप्रसिद्धमेव । संमोहनतन्त्रे च श्रीशिवेनोक्तम्—'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि रहस्यं भुवनेश्वरि । तवैव पौरुषं रूपं गोपिकावदनामृतम् ॥ सदा निषेवितं रागाद्धवद्विरहभीरुणा । सत्यभामादिरूपाभिर्मायामूर्त्तिभिरष्टभिः ॥ ध्यायेन्मदनगोपालं संज्ञया भुवनत्रये । ध्यानं तस्य प्रवक्ष्यामि सर्वपापप्रणाशनम् ॥ सर्वरोगोपशमनं सत्पुत्रावाप्तिकारकम् । सौभाग्यदायकं नृणां स्त्रीणाञ्चैव विशेषतः ॥ किमत्र बहुनोक्तेन ध्यानेनानेन भाविनि । यद्यदिच्छति तत् सर्वं नरः प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ श्रीमद्वालार्कसङ्काशं पद्मरागारुणप्रभम् । बन्धूकबन्धुरालोकं सन्ध्यारागोपमद्युतिम् ॥ मुकुटानेकमाणिक्यप्रभापल्लविताम्बरम् । किरीटोपान्तविन्यस्तवर्हिवर्हावतंसकम् ॥ कस्तूरीतिलकाक्रान्तकमनीयालकस्थलम् । स्मरकोदण्डविन्यस्तसुसान्द्रकुटिलभ्रूवम् ॥ स्मेरगण्डस्थलं श्रीमदुन्नतायतनासिकम् ॥ करुणालहरीपूर्णकर्णान्तायतलोचनम् ॥ कर्णावलम्बिसौवर्णकर्णिकारावतंसिनम् । निस्तुलस्थूलमाणिक्यचारुमौक्तिककुण्डलम् ॥ दन्तांशुसुसमाश्लिष्टकोमलाधरपल्लवम् । असाधारणसौभाग्यचिवुकोद्देशशोभितम् ॥ शशाङ्कविम्बाहङ्कारश्लाघानन्दकराननम् । अनर्घ्यरत्नग्रैवेयविलसत्कम्बुकन्धरम् ॥ सौरभालोलैरालम्बैः शुभैर्मन्दारदामभिः । तदंशुमौक्तिकैर्हारैर्वैजयन्त्या च मालया ॥ श्रीवत्सकौस्तुभाभ्याञ्च परिष्कृतभुजान्तरम् । रत्नकङ्कणकेयूरैर्भूषितैर्दशभिर्भुजैः ॥ चक्रं पुष्पशरं पद्मं शूलं शङ्खेन्दुकार्मुकम् । गदां पाशं च मुरलीं विभ्राणं मोहनाकृतिम् ॥ निम्ननाभि रोमराजिवलिमत्पल्लवोदरम् । विशङ्कटकटीदेशं वाचालमणिमेखलम् ॥ स्फुरत्सौदामिनीच्छायादायादकनकाम्बरम् । मणिमञ्जीरकिरणैः किञ्जल्कितपदाम्बुजम् ॥ शानोल्लीढ़मणिश्रेणीरम्याङ्घ्रिनखमण्डलम् । आपादकण्ठमामुक्तभूषाशतमनोहरम् ॥

शिथिल है, मत्तता के कारण वाक्य स्खलित, दशन कान्ति विकम्पित अधर से शोभित, एवं विविध शृङ्गारादि भावमय विभ्रम द्वारा कृष्ण को प्रलुब्ध करती रहती हैं। मनोरम वृन्दावन के मध्य में नित्य गोपकन्या विमोहन पद्मपलाशलोचन श्रीविष्णु का स्मरण करें ॥११०-११३॥

जो विकसित कमलवत् कान्तिमान् हैं, जिनका वदन चन्द्र के समान कमनीय है, मयूरपिञ्छ भूषण ही जिनका प्रिय है, जो श्रीवत्स चिह्नित मनोहर कौस्तुभधारी हैं। पीताम्बर, सुदृश्य, गोपिकावृन्द के मनोहर नेत्रकमल के द्वारा अर्चित विग्रह, एवं गो-गोपवृन्द द्वारा परिवेष्टित, उन कलवेणु वादनशील दिव्याङ्ग भूषणधारी श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ ॥११४॥

श्रीगौतमीय तन्त्रादि में कृष्ण ध्यान वर्णित है, उत्तर ग्रन्थ में उसका वर्णन होगा, उक्त ध्यानसमूह के मध्य में जिस की प्रीति जिस ध्यान में होगी, वह उस ध्यान के द्वारा ही श्रीकृष्ण भजन करे ॥११५॥

अथ ध्यानमाहात्म्यम्, तत्र पापप्रणाशनत्वम्

बृहत्शातातपस्मृतौ—

पक्षोपवासाद् यत् पापं पुरुषस्य प्रणश्यति । प्राणायामशतेनैव यत् पापं नश्यते नृणाम् ॥११६॥

प्राणायामसहस्रेण यत् पापं नश्यते नृणाम् । क्षणमात्रेण तत् पापं हरेर्ध्यानात् प्रणश्यति ॥११७॥

विष्णुधर्मे—

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥११८॥

विष्णुपुराणे च—

ध्यायेन्नारायणं देवं स्नानादिषु च कर्मसु ।
प्रायश्चित्तं हि सर्वस्य दुष्कृतस्येति निश्चितम् ॥११९॥

कल्पवृक्षमहारामे महिते रत्नमण्डपे । चिन्तामणिमहापीठे मध्ये हैमसरोरुहे ॥ कर्णिकोपरि संदी
श्रीमच्चक्रासने शुभे । तिष्ठन्तं देवदेवेशं त्रिभङ्गीललिताकृतिम् ॥ वामांसशिखरोपान्तव्यालोलमणिकुण्डलम्
उदञ्चितभ्रुवं किञ्चित् सुशोणाधरपल्लवम् ॥ गानव्याजामृतरसैर्व्यञ्जितश्रुतिवैभवैः । तत्तत्स्वरानुगु
वेणुरन्ध्राण्यनुक्रमात् ।। आवृण्वन्तं विवृण्वन्तं मुहुरङ्गुलिपल्लवैः । उपास्यमानमानन्दात् सदारैर्दिविषद्गणैः
कृतदुन्दुभिनिर्घोषैर्मुक्तप्रसववृष्टिभिः । ध्यायेन्मदनगोपालं मन्त्री शुचिरलङ्कृतः ॥ सर्वान् कामानवाप्नो
दुर्लभानप्ययत्नतः ॥' इति । तत्रैवान्यत्र—'ध्यायेद्वृन्दावने सम्यक् सिद्धचारणवेष्टिते । गोगोपगोपिकाव्रा
कल्पपादपशोभिते ॥ तन्मध्ये द्विभुजं ध्यायेत् पञ्चवर्षमथाच्युतम् । स्निग्धेन्द्रनीलरुचिरं पूर्णचन्द्रनिभाननम्
प्रसन्नवदनं शान्तं स्निग्धलीलालकावृतम् । काकपक्षधरं मन्त्री दामभूषितमूर्द्धजम् ॥ किङ्किणीजालसद्र
कटिसूत्रविभूषितम् । मुक्तादामलसद्गात्रं हरिचन्दनचर्च्चितम् ॥ केयूरकटकानद्धं रत्नोल्लसितकुण्डलम्
दधानं दक्षिणे पाणौ नवनीतं सुशोभनम् ॥ वामे हाटकसन्नद्धां यष्टिमिष्टां सुशोभनाम् । हेमपद्मोपरि सं
नृत्यन्तं वनमालिनम् ॥' इति । अस्मिंश्च ध्याने पञ्चवर्षत्वादिना पूर्वस्मिंश्चारुणकान्तिदशभुजत्वादि
निजमनोऽतृप्तया ध्यानद्वयमिदं मूले न लिखितमिति ज्ञेयम् । अत्र चान्यत्र सौन्दर्य्यविशेषाद्युक्त्यपेक्ष
लिखितं सनत्कुमारकल्पे च—'कह्लारकुसुमश्याममम्भोरुहनिभेक्षणम् । वेणुनादरतं देवं वर्हिवर्हावतंसकम्
दिव्यपीताम्बरधरं पूर्णचन्द्रनिभाननम् । वन्यैस्तमालकुसुमैः शोभितं वनमालया ॥ नेत्रोत्पलैश्च गोपीनामर्चि
सुन्दराकृतिम् । हारकेयूरमुकुटकुण्डलोदरवन्धनैः ॥ विराजमानं श्रीवत्सकौस्तुभोद्भासितोरसम् । गोपीज
परिवृतं मूले कल्पतरोः स्थितम् ॥ गोपालैर्गोपनिवहैः शुद्धसत्त्वैरमत्सरैः । आवृतं देवतावृन्दैः पुष्पाञ्जलि
करैर्दिवि ॥ वेणुनादसमाविष्टचित्तवृत्तिभिरन्वितम् । दिव्येन वेणुनादेन नयन्तं स्ववशं जगत् ॥' इति
एतच्च पूर्वाचार्य्यैर्लिखितत्वादत्र न लिखितमिति दिक् ॥११५॥

भूयोऽधिकं यथा स्यात्तथा, पङ्क्तेः पावनादपि पावनः परमपावन इत्यर्थः ॥११८॥

अथ ध्यानमाहात्म्यम्, तत्र पापप्रणाशनत्वम्

ध्यान माहात्म्य—पापप्रणाशनत्व । बृहत्शातातपस्मृति में वर्णित है—पक्ष काल यावत् उपवास से जो पाप विनष्ट होता है, शत संख्यक प्राणायाम द्वारा जो पाप विध्वंस होता है, प्राणायाम सहस्र के द्वारा जो पाप ध्वंस होता है, क्षणमात्र श्रीकृष्ण ध्यान के द्वारा वह पाप सत्वर विनष्ट होता है ।।११६-११७।।

विष्णुधर्म में वर्णित है—यदि कोई व्यक्ति निखिल पापों से पातकी होकर भी निमेषमात्र श्रीभगवान् का ध्यान करता है, तो वह व्यक्ति पुनर्बार तपस्वी होकर पवित्र व्यक्तिसमूह को पवित्र करेगा ।।११८।।

विष्णुपुराण में लिखित है—स्नानादि सकल कर्म में श्रीनारायण का ध्यान करे, श्रीनारायण ध्या

कलिदोषहरत्वम्

बृहन्नारदीये कलिप्रसङ्गे —

समस्तजगदाधारं परमार्थस्वरूपिणम् । घोरे कलियुगे प्राप्ते विष्णुं ध्यायन्न सीदति ॥१२०॥

सर्वधर्माधिकारित्वम्

स्कान्दे कार्तिकमाहात्म्ये अगस्त्योक्तौ —

किन्तस्य बहुभिस्तीर्थैः किन्तस्य बहुभिर्व्रतैः ।
यो नित्यं ध्यायते देवं नारायणमनन्यधीः ॥१२१॥

मोक्षप्रदत्वम्

बृहन्नारदीये प्रदक्षिणमाहात्म्यान्ते —

ये मानवा विगतरागपरापरज्ञा, नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति ।
ध्यानेन तेन हतकिल्विषवेदनास्ते, मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति ॥१२२॥

श्रीवैकुण्ठप्रापकत्वम्

स्कान्दे श्रीब्रह्मोक्तौ —

मुहूर्त्तमपि यो ध्यायेन्नारायणमतन्द्रितः । सोऽपि सद्गतिमाप्नोति किं पुनस्तत्परायणः ॥१२३॥

विगतरागाश्च ते परापरज्ञाश्च कारणकार्य्याभिज्ञाः परमेश्वरजीवतत्त्वज्ञा वा ध्यानरूपेण तेन स्मरणेन सततस्मरणात् । अत्र च वामनपुराणे —'ते धौतपाण्डुरपटा इव राजहंसाः, संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम्' इति परार्द्धम् ॥१२२॥

अतन्द्रितः अनलसः सन्, सतीमुत्तमां, सतां वा भक्तानां गतिं गम्यं प्राप्यं श्रीवैकुण्ठलोकम् ॥१२३॥

निश्चय ही अखिल दुष्कर्म का प्रायश्चित्त स्वरूप है ॥११९॥

कलिदोषहरत्वम्—

कलिदोष नाशकत्व । बृहन्नारदीयपुराण में उक्त है—निविड़ कलिकाल उपस्थित होने से जो व्यक्ति निखिल जगदाधार परमार्थस्वरूप विष्णु का ध्यान करता है, वह कभी भी क्लेशभागी नहीं होता है ॥१२०॥

सर्वधर्माधिकारित्वम्—

सर्वधर्माधिकारित्व । स्कन्दपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में उक्त है, श्रीअगस्त्य कहते हैं—जो एकान्त मन से श्रीनारायण का ध्यान करता है, अनेक प्रकार तीर्थ बहु प्रकार व्रतानुष्ठान से उसका क्या प्रयोजन है ॥१२१॥

मोक्षप्रदत्वम्—

मोक्षप्रदायकत्व । बृहन्नारदीय में प्रदक्षिण माहात्म्य के अन्त में लिखित है,—जो लोक विगतराग, ईश्वर तत्त्वाभिज्ञ होते हैं, वे सब ही देवगुरु नारायण का ध्यान करते हैं, उससे उन सब का पातक नष्ट हो जाता है, सुतरां पुनर्बार उन सबको मातृ स्तन्य पान करना नहीं पड़ता है, अर्थात् वे सब मुक्त हो जाते हैं ॥१२२॥

श्रीवैकुण्ठप्रापकत्वम्—

वैकुण्ठधाम प्रापकत्व । स्कन्दपुराण में ब्रह्मा की उक्ति है—जो भगवद्ध्यान परायण हैं, उनकी बात क्या कहूँ ? जो व्यक्ति अनलस होकर मुहूर्त्त काल भी श्रीनारायण का ध्यान करता है, वह सद्गति लाभ करता है ॥१२३॥

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये यमब्राह्मणसंवादे—

ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यमच्युतञ्च स्मरन्ति ये। लभन्ते तेऽच्युतस्थानं श्रुतिरेषा पुरातनी ।।१२४।।

सारूप्यप्रापणम्

एकादशस्कन्धे (५।४८)—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालशाल्व,-पौण्ड्रादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ, तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ।।१२५।।

स्वतः परमफलत्वम्

चतुर्थस्कन्धे (२०।२९) श्रीपृथूक्तौ—

भजन्त्यथ त्वामतएव साधवो, व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम्।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां, निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ।।१२६।।

स्कन्दपुराणे ब्रह्मोक्तौ च—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः।
इदमेव सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ।।१२७।।

ध्यायन्ति—श्रीपादाब्जतलमारभ्य श्रीकेशाग्रपर्य्यन्तं तत्तत्सौन्दर्य्यादिसहितं चिन्तयन्ति ; अप्यर्थे चकारः ध्यायन्तीत्येतदस्तु, ये स्मरन्त्यपि—यथाकथञ्चित् भगवति मनः संयोजयन्ति, तेऽपि ; एवं ध्यानस्मरणयोरभेदः कल्पनीयः ; ध्यान्तीति स्मरन्तीति पृथक् प्रयोगात्। अतएवाग्रे लेख्यः भेदः कल्प्येत सामान्यविशेषाभ्यां तयोरिति, केचिच्च कल्पयन्ति—लघुलघूच्चारणं स्मरणं कीर्त्तनन्तूच्चैरिति, कुत्रचिन्नामकीर्त्तनप्रसङ्गेऽस्मरणोक्तेः तच्चासङ्गतमिव। 'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणम्' इत्यादौ वागुपासनारूपात् कीर्त्तनान्मानसोपासनारूपस्य स्मरणस्य पृथगुक्तेः ; एवञ्च नामकीर्त्तनप्रसङ्गे स्मरणं नाम्न एव मनसि चिन्तनमिति ज्ञेयमिति दिक् ।।१२४।।

शयनादौ वैरेणापि यं भगवन्तं ध्यायन्तः गत्यादिभिः आकृतधियः तत्तदाकारा धीर्येषां तथाभूताः सन्तस्तत्साम्यं सारूप्यं प्रापुः, ततोऽनुरक्तधियां तत्साम्यप्राप्तिर्भवतीति किं वाच्यम् ।।१२५।।

पद्मपुराण के यम-ब्राह्मण संवाद में उक्त है—जो लोक दिव्यपुरुष अच्युत का ध्यान स्मरण करते हैं, वे सब अच्युत धाम प्राप्त करते हैं। यह उक्ति अति प्राचीन श्रुतियों की है ।।१२४।।

सारूप्यप्रापणम्—

स्वारूप्यलाभ। भा० ११।५।४८ में उक्त है,—श्रीनारद बोले—शिशुपाल, शाल्व, पौण्ड्रक प्रभृति राजन्यवर्ग, शत्रु भाव से शयनासन भोजनादि समय में गति, विलास, विलोकनादि में आविष्ट होकर जिनकी आकृति की चिन्ता निरन्तर करके सारूप्य मुक्ति के अधिकारी हुए हैं, अनुरागी भक्तगण निरन्तर ध्यान के द्वारा सद्गति को प्राप्त करेंगे, इसमें आश्चर्य्य क्या है ? ।।१२५।।

स्वतः परमफलत्वम्—

श्रीकृष्ण ध्यान का स्वतः श्रेष्ठफलत्व। श्रीभागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पृथुमहाराज की उक्ति—हे भगवन् ! आप दीनवत्सल हैं, अतः साधुगण आपका भजन करते हैं। आपमें मायिक गुणों के विलासभूत कुछ भी कार्य्य नहीं हैं। सुतरां आपके चरणकमल की सेवा को छोड़कर स्वजनों का अपर कोई कृत्य नहीं है ।।१२६।।

स्कन्दपुराण में ब्रह्मोक्ति इस प्रकार है—बारम्बार समस्त शास्त्र मन्थन, विचारपूर्वक सुनिर्णय हुआ है कि—सतत श्रीनारायण ध्यान ही एकान्त आवश्यक है ।।१२७।।

अतएवोक्तं हयशीर्षपञ्चरात्रे नारायणव्यूहस्तवे—

ये त्यक्तलोकधर्मार्था विष्णुभक्तिवशं गताः।
ध्यायन्ति परमात्मानं तेभ्यो नित्यं नमो नमः ॥१२८॥ इति।
स्मरणे यत्त माहात्म्यं तद्ध्यानेऽप्यखिलं विदुः।
भेदः कल्प्येत सामान्यविशेषाभ्यां तयोः कियान् ॥१२९॥

अथ श्रीभगवत्प्रबोधनम्

ततो देवालये गत्वा घण्टाद्युद्घोषपूर्वकम्।
प्रबोध्य स्तुतिभिः कृष्णं नीराज्य प्रार्थयेदिदम् ॥१३०॥

तृतीयस्कन्धे (९।२५)—

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध,-प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं, माध्व्या गिरापनयतात् पुरुषः पुराणः ॥१३१॥
देव प्रपन्नार्त्तिहर प्रसादं कुरु केशव। अवलोकनदानेन भूयो मां पारयाच्युत ॥१३२॥ इति।
देवालयं प्रविश्याथ स्तोत्राणीष्टानि कीर्त्तयन्।
कृष्णस्य तुलसीवर्ज्जं निर्माल्यमपसारयेत् ॥१३३॥

सामान्यम्—भगवति मनःसंयोजनमात्रं, विशेषः—श्रीमूर्त्त्यङ्गलावण्यादिभावना, ताभ्यां तयोः स्मरण-ध्यानयोः कियान् अल्प एव भेदः कल्प्यते, एतच्च विवेच्य लिखितमेव ॥१२९॥
स्तुतिभिः श्रुतिस्तुत्या अन्याभिश्च प्रबोधनोपयुक्ताभिः नीराज्य प्रथमं दीपमात्रेण नीराजनं कृत्वा ॥१३०॥
विजृम्भन् विजृम्भयन् प्रकाशयन् ॥१३१॥

अतएव हयशीर्षपञ्चरात्रस्थ नारायण व्यूहस्तव में उक्त है—जो लोक इस जगत् में लोकधर्म वर्जनपूर्वक विष्णुभक्ति में आसक्त होकर परमात्मा श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं, उन सब को बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥१२८॥

श्रीकृष्ण स्मरण की महिमा यद्रूप है, तद्रूप महिमा श्रीकृष्ण ध्यान की भी है, केवलमात्र सामान्य विशेष के द्वारा उभय में प्रभेद कल्पना होती है ॥१२९॥

अथ श्रीभगवत्प्रबोधनम्

श्रीभगवत् प्रबोधन। शौच, आचमन, स्मरण, ध्यान के अनन्तर देवालय में जाकर घण्टादि वादन पूर्वक प्रबोधनयोग्य स्तुति द्वारा श्रीकृष्ण को प्रबोधन करके नीराजनपूर्वक इस प्रकार प्रार्थना करें ॥१३०॥

भा० ३।९।२५ में श्रीब्रह्मा की उक्ति है—पुराणपुरुष भगवान् अतिशय दयालु हैं, आप प्रथित प्रेमयुक्त हास्य के द्वारा, निज नयनकमल उन्मीलित करके, जगत् के प्रति करुणा प्रकाश के निमित्त उत्थित होकर मधुर वाक्य से मदीय विषाद अपनोदन करें ॥१३१॥

हे देव! प्रपन्नजन भयहारिन्! हे केशव! मेरे प्रति अनुकम्पा करें। हे अच्युत! पुनर्बार दर्शन प्रदान कर मुझे पवित्र करें ॥१३२॥

अनन्तर देवगृह में प्रविष्ट होकर मनोज्ञ स्तुति अथवा श्रीकृष्ण सहस्रनामादि कीर्त्तन के सहित तुलसी व्यतीत अन्यान्य निर्माल्यसमूह का अपसारण करे ॥१३३॥

अथ निर्माल्योत्तारणम्

अत्रिस्मृतौ—

प्रातःकाले सदा कुर्य्यान्निर्माल्योत्तारणं बुधः।
तृषिताः पशवो बद्धाः कन्यका च रजस्वला।
देवता च सनिर्माल्या हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥१३४॥

नारसिंहे श्रीयमोक्तौ—

देवमाल्यापनयनं देवागारे समूहनम्। स्नापनं सर्वदेवानां गो-प्रदानसमं स्मृतम् ॥१३५॥

नारदपञ्चरात्रे—

यः प्रातरुत्थाय विधाय नित्यं, निर्माल्यमीशस्य निराकरोति।
न तस्य दुःखं न दरिद्रता च, नाकालमृत्युर्न च रोगमात्रम् ॥१३६॥

अरुणोदयवेलायां निर्माल्यं शल्यतां व्रजेत्। प्रातस्तु स्यान्महाशल्यं घटिकामात्रयोगतः ॥१३७॥
अतिशल्यं विजानीयात्ततो वज्रप्रहारवत्। अरुणोदयवेलायां शल्यं तत् क्षमते हरिः ॥१३८॥
घटिकायामतिक्रान्तौ क्षुद्रं पातकमावहेत्। मुहूर्त्ते समतिक्रान्ते पूर्णं पातकमुच्यते ॥१३९॥
अतिपातकमेव स्यात् घटिकानां चतुष्टये। मुहूर्त्तत्रितये पूर्णे महापातकमुच्यते ॥१४०॥
ततः परं ब्रह्मवधो महापातकपञ्चकम्। प्रहरे पूर्णतां याते प्रायश्चित्तं ततो न हि ॥१४१॥

निर्माल्यस्य विलम्बे तु प्रायश्चित्तमथोच्यते।
अतिक्रान्ते मुहूर्त्तार्द्धे सहस्रं जपमाचरेत् ॥१४२॥

इष्टानि स्वस्य कृष्णस्य वा प्रियाणि सहस्रनामादीनि ; देवस्य माल्यं निर्माल्यं, तस्य अपनयनमुत्तारणम्; समूहनं मार्जन्या तृणाद्यपसारणम् ॥१३३-१३५॥

अथ निर्माल्योत्तारणम्—

निर्माल्योत्तारण। अत्रि स्मृति में उक्त है—तृष्णार्त्त पशु रज्जुबद्ध रहने से अनूढ़ावस्था में कन्या रजःस्वला होने पर एवं देवता निर्माल्य संयुक्त अवस्था में अवस्थित होने से, पूर्व सञ्चित पुण्यसमूह विनष्ट होते हैं ॥१३४॥

नरसिंह पुराण में श्रीयम की उक्ति है—देवनिर्माल्य का अपसारण करने से, सम्मार्जनी के द्वारा देवालय मार्जन करने से एवं देवसमूह को स्नान कराने से गोदान तुल्य फल होता है ॥१३५॥

नारदपञ्चरात्र में वर्णित है—प्रातःकाल में जाग्रत होकर नित्यक्रिया समापन के अनन्तर श्रीकृष्ण निर्माल्य का अपसारण करे। ऐसा करने से रोग, दुःख, दारिद्र, अकालमृत्यु भय नहीं रहता है, अरुणोदय में निर्माल्यापसारण न करने से निर्माल्य शल्य सदृश होता है। प्रभात में निर्माल्य अपसारित न होने से महाशल्य सदृश होता है, एवं निर्माल्यानपसारणावस्था में एक घटिका व्यतीत होने से अतिशल्य होता है। तत्पश्चात् वह वज्रप्रहार सदृश होता है।

अरुणोदय काल में निर्माल्यानपसारण जनित दोष को श्रीहरि क्षमा कर देते हैं, घटिका काल अतीत होने से निर्माल्य क्षुद्र पातक का सञ्चार करता है। मुहूर्त्त गत होने से पूर्ण पातक होता है। चारदण्ड अतीत होने से अति पातक, मुहूर्त्तत्रय अतीत होने पर महापातक होता है, तत् पश्चात् ब्रह्महत्या एवं पञ्च महापातक का समान होता है। एवं प्रहर काल अतीत होने से उसका प्रायश्चित्त नहीं है। निर्माल्योत्तारण

पूर्णे मुहूर्त्ते संजाते सहस्रं सार्द्धमुच्यते। सहस्रद्वितीयं कुर्य्यात् घटिकानां चतुष्टये ॥१४३॥
मुहूर्त्तत्रितयेऽतीते अयुतं जपमाचरेत्। प्रहरे पूर्णतां याते पुरश्चरणमुच्यते।
प्रहरे समतिक्रान्ते प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥१४४॥

अथ श्रीमुखप्रक्षालनम्

श्रीहस्ताङ्घ्रिमुखाम्भोजक्षालनाय च तद्गृहे।
गण्डूषाणि जलैर्दत्त्वा दन्तकाष्ठं समर्पयेत् ॥१४५॥
जिह्वोल्लेखनिकां दत्त्वा पादुके शुद्धमृत्तिकाम्।
सलिलञ्च पुनर्दद्याद्वासोऽपि मुखमार्जनम् ॥१४६॥
ततः श्रीतुलसीं पुण्यामर्पयेत् भगवत्प्रियाम्।
तन्माहात्म्यञ्च तन्मुख्यप्रसङ्गे लेख्यमग्रतः ॥१४७॥

अथ दन्तकाष्ठार्पणमाहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तरे—

दन्तकाष्ठप्रदानेन दन्तसौभाग्यमृच्छति।
जिह्वोल्लेखनिकां दत्त्वा विरोगस्त्वभिजायते ॥१४८॥
पादुकायाः प्रदानेन गतिमिष्टामवाप्नुयात्।
मृद्भागदानाद्देवस्य भूमिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥१४९॥

भगवत्प्रियामिति मुखप्रक्षालनावसरेऽप्यस्मिन् तत्समर्पणे तथा तुलसीव्यतिरिक्तनिर्माल्योत्तारणे च कारणं ज्ञेयम् ॥१४७॥

में विलम्ब होने से प्रायश्चित्त निम्नोक्तरूप है। एकदण्डस्वरूप मुहूर्त्त गत होने से सहस्र संख्यक मन्त्र जप करे। मुहूर्त्त पूर्ण होने से सार्ध सहस्र जप का विधान है। चार दण्ड अतीत होने से दो सहस्र जप करे। तीन मुहूर्त्त गत होने से अयुत संख्यक जप करे। प्रहरकाल अतीत होने से पुरश्चरण करने का विधान है, किन्तु प्रहर काल अतीत होने पर प्रायश्चित्त नहीं है ॥१३६-१४४॥

अथ श्रीमुखप्रक्षालनम्—

श्रीकृष्ण मुख प्रक्षालन। श्रीकर, श्रीचरण, श्रीमुखकमल प्रक्षालन के निमित्त प्रक्षालन पात्र में जल के द्वारा गण्डूष प्रदान करके दन्तकाष्ठ प्रदान करे। जिह्वा मार्जनिका, पादुका द्वय, पवित्र मृत्तिका प्रदान करके पुनर्बार जल एवं मुखमार्जन वस्त्र अर्पण करे। माहात्म्यवर्णन उसके मुख्यप्रसङ्ग में होगा ॥१४५-१४७॥

अथ दन्तकाष्ठार्पणमाहात्म्यम्—

दन्तकाष्ठार्पण माहात्म्य। विष्णुधर्मोत्तर में उक्त है—श्रीकृष्ण को दन्तकाष्ठार्पण करने से दन्तसौभाग्य की वृद्धि होती है। जिह्वा मार्जनिका अर्पण से मानव नीरोग होता है, पादुका प्रदान से अभीष्ट गति की प्राप्ति होती है, एवं मृत्तिका अर्पण से उत्तमा भूमि का लाभ होता है ॥१४८-१४९॥

अथ मङ्गलनीराजनम्

पठित्वाथ प्रियान् श्लोकान् महावादित्रनिस्वनैः ।
प्रभोर्नीराजनं कुर्य्यान्मङ्गलाख्यं जगद्धितम् ॥१५०॥

नीराजनन्त्विदं सर्वैः कर्त्तव्यं शुचिविग्रहैः । परमश्रद्धयोत्थाय द्रष्टव्यञ्च सदा नरैः ॥१५१॥
स्त्रीणां पुंसाञ्च सर्वेषामेतत् सर्वेष्टपूरकम् । समस्तदैन्यदारिद्रचदुरिताद्युपशान्तिकृत् ॥१५२॥

अथ प्रातःस्नानार्थोद्यमः

ततोऽरुणोदयस्यान्ते स्नानार्थं निःसरेद्बहिः ।
कीर्त्तयन् कृष्णनामानि तीर्थं गच्छेदनन्तरम् ॥१५३॥

तथा च शुक्रस्मृतौ—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
स्वस्तिकाद्यासनं बद्ध्वा ध्यात्वा कृष्णपदाम्बुजम् ॥१५४॥

ततो निर्गत्य निलयान्नामानीमानि कीर्त्तयेत् । श्रीवासुदेवानिरुद्धप्रद्युम्नाधोक्षजाच्युत ।
श्रीकृष्णानन्त गोविन्द सङ्कर्षण नमोऽस्तु ते ॥१५५॥
गत्वा तीर्थादिकं तत्र निक्षिप्य स्नानसाधनम् ।
विधिनाचर्य्य मैत्र्यादिकृत्यं शौचं विधाय च ।
आचम्य खानि संमार्ज्य स्नानं कुर्य्यात् यथोचितम् ॥१५६॥

श्लोकान्—'वर्हापीड़ं क्वचित्' इति, 'विनाशय' इत्यादीन्; मङ्गलमित्याख्या यस्य तत् ॥१५०॥
विधिनेति सर्वत्रान्वेति । मैत्र्यं पुरीषोत्सर्गस्तदादिकं, खानि इन्द्रियच्छिद्राणि, यथोचितं वर्णाश्रमाद्यनुरूपम् अत्र च प्रायो गृहस्थस्यैव लेख्य-श्रीभगवत्पूजाविधियोग्यत्वात् तस्यैवायमाचारो ज्ञेयः । अतएव श्रीविष्णुपुराणाद्युक्तानि प्रायो गृहिधर्मवचनान्येव लिखितानीति दिक् ॥१५६॥

अथ मङ्गलनीराजनम्—

मङ्गल आरात्रिक । अनन्तर श्रीकृष्ण के प्रिय श्लोक पाठ करके महावाद्य ध्वनि के सहित श्रीकृष्ण का जगन्मङ्गलकर मङ्गल नीराजन करे ॥१५०॥

पवित्र होकर मङ्गल नीराजन करे । मनुष्यगण परम श्रद्धा के सहित सर्वदा नीराजन दर्शन करे ॥१५१॥
यह नर-नारी सब का निखिलाभीष्टद है, एवं दुःख, दारिद्रच, पातकादि का विनाशक है ॥१५२॥

अथ प्रातःस्नानार्थोद्यमः

प्रातःस्नानार्थोद्यम । अरुणोदय काल अतीत होने से स्नानार्थ गमन करे । श्रीकृष्ण नाम करते करते पवित्र जलाशय को जावे ॥१५३॥

शुक्र स्मृति में उक्त है—ब्राह्मय मुहूर्त्त में जाग्रत होकर पवित्र एवं स्थिर मन से स्वस्तिकादि आसन में उपविष्ट होकर श्रीकृष्ण चरणकमल की चिन्ता करे ॥१५४॥

अनन्तर गृह से निर्गत होकर इस प्रकार नाम कीर्त्तन करे । हे प्रद्युम्न ! हे अधोक्षज ! हे अच्युत ! हे श्रीकृष्ण ! हे अनन्त ! हे गोविन्द ! हे सङ्कर्षण ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥१५५॥

श्रीभगवन्नाम कीर्त्तन करते करते जलाशय को जाकर, वहाँ स्नानोपयोगि द्रव्यसमूह को रखकर

अथ मैत्र्यादिकृत्यविधिः

श्रीविष्णुपुराणे और्वसगरसंवादे गृहिधर्मकथने—

ततः कल्ये समुत्थाय कुर्य्यान्मैत्रं नरेश्वर। नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं गृहात् ॥१५७॥

दूरादावसथान्मूत्रं पुरीषञ्च समुत्सृजेत्। पादावसेचनोच्छिष्टे प्रक्षिपेन्न गृहाङ्गने ॥१५८॥

आत्मच्छायां तरोश्छायां गोसूर्य्याग्न्यनिलांस्तथा।
गुरुं द्विजातींश्च बुधो न मेहेत कदाचन ॥१५९॥

न कृष्टे शस्यमध्ये वा गोव्रजे जनसंसदि। न वर्त्मनि न नद्यादितीर्थेषु पुरुषर्षभ ॥१६०॥

नाप्सु नैवाम्भसस्तीरे न श्मशाने समाचरेत्। उत्सर्गं वै पुरीषस्य मूत्रस्य च विसर्जन ॥१६१॥

उदङ्मुखो दिवोत्सर्गं विपरीतमुखो निशि।
कुर्वीतानापदि प्राज्ञो मूत्रोत्सर्गं च पार्थिव ॥१६२॥

तृणैराच्छाद्य वसुधां वस्त्रप्रावृतमस्तकः। तिष्ठेन्नातिचिरं तत्र नैव किञ्चिदुदीरयेत् ॥१६३॥

तथा कौर्मे व्यासगीतायाम्—

निधाय दक्षिणे कर्णे ब्रह्मसूत्रमुदङ्मुखः। अन्तर्द्धाप्य महीं काष्ठैः पत्रैर्लोष्ट्रैस्तृणेन वा ॥१६४॥

कल्ये ऊषसि, ग्रामस्य नैर्ऋत्यां दिशि ॥१५७॥
तदसम्भवे स्वगृहाद्दूरे मूत्राद्युत्सर्गं कुर्य्यात् ॥१५८॥
गवादीन् गुरुं द्विजातींश्च प्रति तदभिमुखो न मेहेदित्यर्थः ॥१५९॥
तथेति—गृहिधर्मकथन एवेत्यर्थः। श्रीविष्णुपुराणतः किञ्चिद्विशेषमपेक्ष्य श्रीकूर्मपुराणकाशीखण्डवचनानि लिखति—निधायेत्यादि। एवमग्रेऽपि सर्वमूह्यम् ॥१६४॥

यथाविधि पुरीष त्यागादि कर्म, शौच, आचमन, इन्द्रिय छिद्रसमूह का यथावत् प्रक्षालनपूर्वक वर्णाश्रम के अनुरूप स्नान करें ॥१५६॥

अथ मैत्र्यादिकृत्यविधिः

पुरीष त्यागविधि। विष्णुपुराण के और्व-सगर संवाद में वर्णित है,—हे राजन्! प्रत्यूष में जगकर गृह से शरनिक्षेप दूरत्व को लङ्घनपूर्वक दूर में जाकर पुरीष विसर्जन करे। यदि ग्राम के नैऋत कोण में शरनिक्षेप दूर स्थान न प्राप्त हो तो जिस दिक् में ही हो, गृह से दूर में जाकर मूत्र पुरीष त्याग करे। पदधौत जल एवं उच्छिष्ट द्रव्य का निक्षेप गृहाङ्गन में न करे ॥१५७-१५८॥

विज्ञ व्यक्ति—निज च्छाया, वृक्ष छाया, गो, सूर्य्य, अग्नि, वायु, गुरु एवं विप्र के अभिमुख में कभी भी मूत्र-पुरीष त्याग न करे ॥१५९॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! कर्षित भूमि में, शस्य मध्य में, गोष्ठ में, जन समाज में, पथ में, नदी प्रभृति तीर्थ में, जल में, जल के समीप में एवं श्मशान में मलमूत्र त्याग न करे ॥१६०-१६१॥

हे नृपते! विपत् काल उपस्थित न होने से विचक्षण व्यक्ति दिन में उत्तर मुख एवं निशाकाल में दक्षिण मुख होकर तृण द्वारा भूतल को आच्छादित करके एवं वस्त्र द्वारा मस्तकावृत होकर मलमूत्र त्याग करे। किन्तु वहाँ पर अधिक समय अवस्थान न करे, अथवा मलमूत्र त्याग करने के समय वाक्यालाप न करे ॥१६२-१६३॥

कूर्मपुराण की व्यास गीता में उक्त है,—दक्षिण कर्ण में यज्ञोपवीत स्थापन पूर्वक उत्तर मुख होकर

प्रावृत्य तु शिरः कुर्य्याद्विन्मूत्रस्य विसर्जनम् । न चैवाभिमुखः स्त्रीणां गुरुब्राह्मणयोर्गवाम् ।

न देवदेवालययोर्नापामपि कदाचन ॥१६५॥

नदीं ज्योतींषि वीक्षित्वा न वाय्वग्निमुखोऽपि वा ।

प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रतिसोमं तथैव च ॥१६६॥

काशीखण्डे श्रीस्कन्दागस्त्यसंवादे—

ततश्चावश्यकं कर्त्तुं नैर्ऋतीं दिशमाश्रयेत् । ग्रामाद्धनुःशतं गच्छेन्नगराच्च चतुर्गुणम् ॥१६७॥

कर्णोपवीत्युदग्वक्त्रो दिवसे सन्ध्ययोरपि ।

विन्मूत्रे विसृजेन्मौनी निशायां दक्षिणामुखः ॥१६८॥

नालोकयेद्दिशो भागान् ज्योतिश्चक्रं नभोऽमलम् ।

वामेन पाणिना शिश्नं धृत्वोत्तिष्ठेत् प्रयत्नवान् ॥१६९॥

तत्रैवाग्रे—

न मूत्रं गोव्रजे कुर्य्यान्न वल्मीके न भस्मनि ।

न गर्त्तेषु ससत्त्वेषु न तिष्ठन्न व्रजन्नपि ॥१७०॥

यथासुखमुखो रात्रौ दिवा छायान्धकारयोः ।

भीतिषु प्राणबाधायां कुर्य्यान्मलविसर्जनम् ॥१७१॥

वीक्षित्वेत्यार्षं पश्यन्नित्यर्थः । प्रत्यादित्यमिति तत्तदभिमुखः सन्न कुर्य्यादिति पूर्ववदर्थः ॥१६६॥

काष्ठ, पत्र, तृण, लोष्ट्र द्वारा भूतल आच्छादन पूर्वक, एवं वस्त्र द्वारा मस्तकाच्छादन पूर्वक मूत्र पुरीष विसर्जन करे। स्त्री जाति, गुरुजन, ब्राह्मण, गो, देवता, देवगृह, जल प्रभृति के सम्मुख में कभी भी मलमूत्र त्याग न करे ॥१६४-१६५॥

नदी एवं नक्षत्रसमूह के प्रति दृष्टिपात करके अथवा वायु के सम्मुखस्थ होकर एवं सूर्य्य, अग्नि, चन्द्र की ओर मुख करके मलत्याग न करे ॥१६६॥

काशीखण्ड के कार्त्तिकेय अगस्त्य संवाद में उक्त है—आवश्यकीय धर्म निष्पादन हेतु नैऋत दिक् में गमन करे। ग्राम से चारसो हाथ एवं नगर से उसके चतुर्गुण दूर में गमन करे एवं मैत्रादि कृत्य सम्पन्न करे ॥१६७॥

कर्ण में यज्ञोपवीत स्थापन करके दिन में एवं उभय सन्ध्या में उत्तर मुख होकर, रात्रिकाल में दक्षिण मुख होकर, मौन धारण कर मलमूत्र त्याग करे ॥१६८॥

उक्त समय इतस्ततः दृष्टिपात न करे, नक्षत्रसमूह एवं निर्मल गगन के ओर दृष्टि न करे। सयत्न से वाम हस्त के द्वारा शिश्न धारण कर उठे ॥१६९॥

वहाँ पर वर्णित है,—गोचारण भूमि में, बल्मीकोपरि, भस्मोपरि, प्राणियुक्त गर्त्त में मलमूत्र त्याग न करे। प्राणहानि का भय उपस्थित होने से दिन रात में जिस प्रकार सुविधा हो उस दिक् में एवं छाया अन्धकार प्रभृति में मलादि त्याग करे ॥१७०-१७१॥

अथ शौचविधिः

विष्णुपुराणे तत्रैव—

वल्मीकमूषिकोत्खातां मृदं नान्तर्जलात्तथा।
शौचावशिष्टां गेहाच्च न दद्याल्लेपसम्भवाम् ॥१७२॥
अन्तःप्राण्यवपन्नाश्च हलोत्खाताश्च पार्थिव।
परित्यजेन्मृदश्चैताः सकलाः शौचसाधने ॥१७३॥
एका लिङ्गे गुदे तिस्रो दश वामकरे नृप।
हस्तद्वये च सप्तान्या मृदः शौचोपपादिकाः ॥१७४॥

यमस्मृतौ—

तिस्रस्तु पादयोर्देयाः शुद्धिकामेन नित्यशः ॥१७५॥

किञ्च—

तिस्रस्तु मृत्तिका देयाः कृत्वा तु नखशोधनम् ॥१७६॥

काशीखण्डे च तत्रैव—

गुह्ये दद्यान्मृदं चैकां पायौ पञ्चाम्बुसान्तराः।
दश वामकरे चापि सप्त पाणिद्वये मृदः ॥१७७॥
एकैकां पादयोर्दद्यात् तिस्रः पाण्योर्मृदः स्मृताः।
इत्थं शौचं गृही कुर्य्याद्‌गन्धलेपक्षयावधि ॥१७८॥

लेपसम्भवां भित्तिगताम् ॥१७२॥
अन्तर्मध्ये प्राणिभिः कीटैः अवपन्नामुपहताम्। पाठान्तरे—अणुभिः सूक्ष्मैः प्राणिभिरवपन्नाम् ॥१७३॥
एवं मतभेदः सपादुकनिष्पादुकादिभेदेन कल्प्यः, पादयोरिति प्रत्येकं तिस्र इति ज्ञेयम्; देया हस्तयोरिति शेषः ॥१७५-१७६॥
अम्बुसान्तराः—मध्ये मध्ये जलसहिताः ॥१७७॥

अथ शौचविधिः

शौचविधि। विष्णुपुराण के उक्त स्थान में उक्त है—हे राजन्! बल्मीक एवं मूषिकोद्धृत मृत्तिका, सलिल मध्यगत मृत्तिका, शौच की अवशिष्ट मृत्तिका, एवं गृहभित्तिस्थित मृत्तिका का व्यवहार शौच कार्य्य में न करे, कीट के द्वारा अधिकृत, लाङ्गलोत्थापित मृत्तिका का परित्याग शौचकार्य्य में करे। हे राजन्! शौचसाधन मृत्तिका, शिश्न में एकबार, गुह्यस्थान में बारत्रय, वाम हस्त में दशबार, एवं हस्तद्वय में सप्तबार मृत्तिका लेपन करे ॥१७२-१७४॥

यम स्मृति में वर्णित है,—शुद्धिकामी व्यक्ति प्रत्यह पदद्वय में तीन बार मृत्तिका लेपन करे ॥१७५॥

और भी वर्णित है—नख शोधन करके तीन तीन बार हस्त में मृत्तिका प्रदान करे ॥१७६॥

काशीखण्ड के उक्त स्थान में वर्णित है,—शिश्न में एकबार, मलद्वार में पाँचबार, वामहस्त में दशबार, हस्तद्वय में सप्तबार पदद्वय में एकबार, पुनर्बार हस्तद्वय में तीनबार जलयुक्त मृत्तिका लेपन विहित है। ब्रह्मचर्य्यादि जब तक गन्ध विदूरित नहीं होता है, तब तक गृहस्थ व्यक्ति मृत्तिका शौच करे।

क्रमाद्द्विगुणमेतत्तु ब्रह्मचर्य्यादिषु त्रिषु ।
दिवाविहितशौचान्न रात्रावर्द्धं समाचरेत् ॥१७९॥
रुजार्द्धञ्च तदर्द्धञ्च पथि चौरादिपीड़िते ।
तदर्द्धं योषिताञ्चापि स्वास्थ्ये न्यूनं न कारयेत् ।
आर्द्रधात्रीफलोन्माना मृदः शौचे प्रकीर्त्तिताः ॥१८०॥

शङ्खस्मृतौ—

मृत्तिका तु समुद्दिष्टा त्रिपर्वी पूर्य्यते यया ॥१८१॥

दक्षस्मृतौ—

अर्द्धप्रसृतिमात्रा तु प्रथमा मृत्तिका स्मृता ।
द्वितीया च तृतीया च तदर्द्धं परिकीर्त्तिता ॥१८२॥

अथ केवलमूत्रोत्सर्गे

दक्षः—

एका लिङ्गे तु सव्ये त्रिरुभयोर्मृद्द्वयं स्मृतम् ॥१८३॥

ब्राह्मे—

पादयोर्द्वे गृहीत्वा च सुप्रक्षालितपाणिना ।
आचम्य तु ततः शुद्धः स्मृत्वा विष्णुं सनातनम् ॥१८४॥

त्रिपर्वी मध्यवर्त्त्यङ्गुलित्रयस्यादिपर्वत्रयम् ; एषा च गुदव्यतिरिक्ते ज्ञेया ॥१८१॥
अतएव लिखति—अर्द्धेति । प्रथमा गुदे देयानामाद्या ॥१८२॥
सव्ये हस्ते, उभयोर्हस्तयोः ; आचामेतेत्याचमनं प्रस्तुत्य तस्य पूर्वाङ्गमाह—मृदमिति । अन्यां मृदमादद्यात्

आश्रम त्रय में उक्त शौच क्रमश द्विगुण है, अर्थात् गृहस्थ की अपेक्षा ब्रह्मचारी का द्विगुण, वानप्रस्थ का तीनगुण, एवं भिक्षु चतुर्गुण शौचाचरण करे । दिन की शौचविधि कही गई है, रात्रि में उसका अर्ध आचरण करे । पीड़ित अवस्था में अर्धाचरण की व्यवस्था है, तस्करादि द्वारा आक्रान्त पथ में उसका अर्ध एवं नारीजाति के निमित्त अर्ध व्यवस्था है, शरीर सुस्थ रहने से शौचविधि की न्यूनता न करे । एकबार में आमलकी फल के समान मृत्तिका शौचकर्म में ग्रहणीय है ॥१७७-१८०॥

शङ्खस्मृति में उक्त है,—जिससे त्रिपर्वी अर्थात् मध्यस्थित अङ्गुलित्रय की प्रथम ग्रन्थी पूर्ण होती है तावत् परिमिता मृत्तिका विहित है ॥१८१॥

दक्ष स्मृति में लिखित है—प्रथम बार की मृत्तिका का परिमाण अर्ध प्रसृति अर्थात् अर्धाञ्जलि का अर्ध है । द्वितीय एवं तृतीय बार का परिमाण उसका अर्ध विहित है ॥१८२॥

अथ केवलमूत्रोत्सर्गे—

अनन्तर केवल मूत्र त्याग विधि का उल्लेख दक्ष की उक्ति में है—शिश्न में एकबार, सव्य में तीनबार, उभय हस्त में बारद्वय मृत्तिका प्रदान की व्यवस्था है ॥१८३॥

ब्रह्मपुराण की उक्ति है—पदद्वय में दो बार मृत्तिका प्रदानपूर्वक उत्तम रूप से धौत हस्त के द्वारा आचमन करके सनातन हरि का स्मरण करके पवित्र होवे ॥१८४॥

अथाचमनविधिः

विष्णुपुराणे तत्रैव—

अच्छेनागन्धफेनेन जलेनाबुद्बुदेन च । आचामेत मृदं भूयस्तथा दद्यात् समाहितः ॥१८५॥

निष्पादिताङ्घ्रिशौचस्तु पादावभ्युक्ष्य वै पुनः ।
त्रिः पिबेत् सलिलं तेन तथा द्विः परिमार्जयेत् ॥१८६॥

शीर्षण्यानि ततः खानि मूर्द्धानञ्च मृदालभेत् ।
बाहू नाभिञ्च तोयेन हृदयञ्चापि संस्पृशेत् ॥१८७॥

अत्र च विशेषो दक्षेणोक्तः—

प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम् ।
संवृत्ताङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ॥१८८॥

संहत्य तिसृभिः पूर्वमास्यमेवमुपस्पृशेत् । अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं पश्चादनन्तरम् ॥१८९॥
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यान्तु चक्षुःश्रोत्रे पुनः पुनः । कनिष्ठाङ्गुष्ठयोर्नाभिं हृदयन्तु तलेन वै ।
सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद्बाहू चाग्रेण संस्पृशेत् ॥१९०॥

तथा काशीखण्डे तत्रैव—

प्रागास्य उदगास्यो वा सूपविष्टः शुचौ भुवि ।
उपस्पृशेद्विहीनायां तुषाङ्गारास्थिभस्मभिः ॥१९१॥

तथा च निष्पादितमङ्घ्रिशौचं येन सः; यद्वा, भूयोऽन्यां मृदं दद्यात् पादयोरिति शेषः, ततश्चाचामेदित्यर्थः । तेन पादाभ्युक्षणत्रिःपानशेषसलिलेन द्विः परिमार्जयेन्मुखमिति शेषः ॥१८३-१८६॥

आलभेत् स्पृशेत, असञ्जपन्निति पाठे मौनी भूत्वेत्यर्थः ॥१८७॥

अथाचमनविधिः

आचमन विधि । विष्णुपुराण में उक्त है—स्वच्छ, गन्ध रहित, फेनहीन, बुद्बुद शून्य जल के द्वारा आचमन करे । पुनर्बार सावधान होकर चरणों में मृत्तिका प्रदान करे । पाद शौच सम्पादन के पश्चात् पुनर्बार पदद्वय का प्रक्षालन करके तीनबार आचमन करे । एवं उक्त जल के द्वारा बारद्वय मुख धौत करे ॥१८५-१८६॥

तत् पश्चात् नेत्र, नासिका, मस्तक में मृत्तिका स्पर्श करवाकर बाहु, नाभि, हृदय में जल स्पर्श करावे ॥१८७॥

इस विषय में दक्ष की विशेषोक्ति है—हस्तद्वय, पदद्वय प्रक्षालनपूर्वक देखकर तीनबार आचमन करे । पश्चात् ईषत् कुञ्चित अङ्गुष्ठमूल के द्वारा बारद्वय मुख मार्जन करे । प्रथम अङ्गुलित्रय को एकत्र करके मुखमण्डल को स्पर्श करे । बाद में तर्जनी, अङ्गुष्ठ के द्वारा नासिका स्पर्श करे, अङ्गुष्ठ अनामिका के द्वारा बारम्बार नयनद्वय एवं कर्णयुगल स्पर्श करे । अतःपर कनिष्ठ अङ्गुष्ठ के योग से नाभि, करतल के द्वारा हृदय, अङ्गुलिसमूह के द्वारा मस्तक एवं समस्त अङ्गुलि के अग्रभाग के द्वारा बाहुद्वय को स्पर्श करे ॥१८८-१९०॥

काशीखण्ड में वर्णित है—पूर्वमुख उत्तरमुख होकर तुष, अङ्गार, अस्थि, भस्म रहित पवित्र स्थल में

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिर्हृद्गाभिरत्वरः । ब्राह्मणो ब्रह्मतीर्थेन दृष्टिपूताभिराचमेत् ॥१६२॥
कण्ठगाभिर्नृपः शुध्येत्तालुगाभिस्तथोरुजः । स्त्रीशूद्रावास्यसंस्पर्शमात्रेणापि विशुध्यतः ॥१६३॥

याज्ञवल्क्यस्मृतौ—

पादक्षालनशेषेण नाचामेत् वारिणा द्विजः ॥
यद्याचमेत् स्रावयित्वा भूमौ बौधायनोऽब्रवीत् ॥१६४॥

भरद्वाजस्मृतौ—

पाणिना दक्षिणेनैव संहताङ्गुलिनाचमेत् । मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठेन नखस्पृष्टा अपस्त्यजेत् ॥१६५॥

कौर्मे च व्यासगीतायाम्—

भुक्त्वा पीत्वा च सुप्त्वा च स्नात्वा रथ्योपसर्पणे ।
ओष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च ॥१६६॥
रेतोमूत्रपुरीषाणामुत्सर्गेऽनृतभाषणे । ष्ठीवित्वाध्ययनारम्भे काशश्वासागमे तथा ॥१६७॥
चत्वरं वा श्मशानं वा समभ्यस्य द्विजोत्तमः ।
सन्ध्योरुभयोस्तद्वदाचान्तोऽप्याचमेत् पुनः ॥१६८॥

किञ्च—

शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा मुक्तकच्छशिखोऽपि वा ।
अकृत्वा पादयोः शौचमाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ॥१६९॥

भूमौ स्रावयित्वा किञ्चिद्वारि प्रक्षिप्य ॥१६४॥
समभ्यस्य परिभ्रमणेन सम्यक् स्पृष्ट्वा इत्यर्थः ॥१६८॥
पादयोः शौचमकृत्वेति भोजनपानशयनादौ पादयोरशुद्ध्याभावेऽप्याचमनसाङ्गतार्थं शौचमुक्तम् ॥१६९॥

उत्तम रूप से समासीन होकर चञ्चलता वर्जनपूर्वक शीतल, फेनरहित, दुर्गन्धशून्य, सुस्वादु जल द्वारा आचमन करे। ब्राह्मण ब्रह्मतीर्थ के योग से दृष्टिपूत जल द्वारा आचमन करेंगे। क्षत्रिय कण्ठगामी जल द्वारा, वैश्य तालुगत जल द्वारा, एवं नारीजाति, शूद्र, जल से मुख स्पर्श करके ही पवित्र होंगे ॥१६१-१६३॥

याज्ञवल्क्य स्मृतिमें लिखित है—विप्रवृन्द चरणधौतावशिष्ट जल के द्वारा आचमन न करें। बौधायन कहा है—यदि पादधोतावशेष जल से आचमन करना हो तो, कुछ जल भूमि में निक्षेप करके आचमन करे ॥१६४॥

भरद्वाज स्मृति में वर्णित है—अङ्गुष्ठा कनिष्ठा व्यतीत अङ्गुलीत्रय एकत्र करके दक्षिण हस्त के द्वारा आचमन करे। नख स्पृष्ट सलिल का परित्याग आचमन कार्य्य में करे ॥१६५॥

कूर्मपुराणस्थ व्यास गीता में उक्त है—ब्राह्मण, आचमन के अनन्तर भोजन, पान, निद्रा से उठकर, स्नान करके, पर्य्यटन, लोम हीन ओष्ठद्वय स्पर्श, वसन परिधान, मलमूत्र त्याग, शुक्र विसर्जन, मिथ्या वाक्योच्चारण, निष्ठिवन, अध्ययनारम्भ में, कास श्वास समागम में, चत्वर अथवा श्मशान में भ्रमण के पश्चात् एवं उभय सन्ध्या में पुनर्बार आचमन करें ॥१६६-१६८॥

वर्णित है—शिरोदेश, कण्ठ आच्छादन करके किम्वा कच्छ, शिखा मुक्त करके, अथवा पदद्वय में मृत्तिका शौच न करके आचमन करने पर भी अशुचि होती है। प्राज्ञ व्यक्ति, चरण में चर्मपादुका धारण

सोपानत्को जलस्थो वा नोष्णीषी चाचमेद्‌बुधः ।
न चैव वर्षधाराभिर्हस्तोच्छिष्टे तथा बुधः ॥२००॥
नैकहस्तार्पितजलैर्विना सूत्रेण वा पुनः । न पादुकासनस्थो वा बहिर्जानुरथापि वा ॥२०१॥

अथ वैष्णवाचमनम्

त्रिःपाने केशवं नारायणं माधवमप्यथ ।
प्रक्षालने द्वयोः पाण्योर्गोविन्दं विष्णुमप्युभौ ॥२०२॥
मधुसूदनमेकञ्च मार्जनेऽन्यं त्रिविक्रमम् ॥२०३॥
उन्मार्जनेऽप्यधरयोर्वामनश्रीधरावुभौ ॥२०४॥
प्रक्षालने पुनः पाण्योर्हृषीकेशञ्च पादयोः ।
पद्मनाभं प्रोक्षणे तु मूर्ध्नो दामोदरं ततः ॥२०५॥
वासुदेवं मुखे सङ्कर्षणं प्रद्युम्नमित्युभौ ।
नासयोर्नेत्रयुगलेऽनिरुद्धं पुरुषोत्तमम् ।
अधोक्षजं नृसिंहञ्च कर्णयोर्नाभितोऽच्युतम् ॥२०६॥

हस्ते उच्छिष्टे सति सन्धिरार्षः ॥२००॥

तत्र लिखिताचमनविधौ श्रीभगवन्नामजपेन कश्चिद्विशेषं तान्त्रिकसम्मतं लिखति—त्रिःपान इत्यादि षड्भिः । त्रिःपानादौ केशवादिकं कृष्णान्तं चतुर्विंशतिसंख्यकं श्रीभगवन्नाम नमोऽन्तं चतुर्थ्यन्तञ्च केशवाय नम इत्यादिप्रयोगेन क्रमाज्जपन् यथाविधि आचमनं कुर्य्यादिति सर्वैरन्वयः । त्रिःपाने वारत्रयजलाचमने केशवादित्रयम् ॥२०२॥

मधुसूदनमेकमन्यश्च त्रिविक्रममित्युभावित्यर्थः ॥२०३॥

अपि-शब्दादधरयोर्मार्जन इति ज्ञेयम् । उभाविति पुंस्त्वं संज्ञासंज्ञिनोरभेदविवक्षया ॥२०४॥

पाण्योर्द्वयोः प्रक्षालने, हृषीकेशमेकमेव, पादयोश्च प्रक्षालने पद्मनाभमेकम्, ततस्तदनन्तरं मूर्ध्नः प्रोक्षणे दामोदरमेकम् ॥२०५॥

नासयोस्तु द्वयोः सङ्कर्षणं प्रद्युम्नञ्चेति द्वौ, नाभितः नाभौ ॥२०६॥

जल के मध्य में अवस्थान, मस्तक में उष्णीष धारण करके आचमन न करे । प्राज्ञ व्यक्ति,—वृष्टि के धारासमूह में, उच्छिष्ट हस्त से, तथा एक हस्त से दत्त जल के द्वारा अथवा यज्ञोपवीत शून्य होकर किम्वा पादुका के ऊपर उपवेशन करके अथवा जानुद्वय को वहिर्भाग में रखकर आचमन न करें ॥१९९-२०१॥

अथ वैष्णवाचमनम्—

वैष्णव आचमन । यथाविधि तीनबार आचमन के समय केशव, नारायण, माधव को दो बार हस्त प्रक्षालन के समय, गोविन्द-विष्णु को, मार्जन के समय, मधुसूदन त्रिविक्रम को, अधर ओष्ठ मार्जन के समय में वामन-श्रीधर को, पुनर्बार हस्त प्रक्षालन के समय हृषीकेश को, पदद्वयधौत करने के समय, दामोदर को, मुख प्रक्षालन के समय वासुदेव को, नासायुगल धौत करने के समय, सङ्कर्षण-प्रद्युम्न को, नयनद्वय में अनिरुद्ध-पुरुषोत्तम को, कर्णद्वय में अधोक्षज-श्रीनृसिंह को, नासिकादेश में अच्युत को, हृदय में जनार्दन को,

जनार्द्दनञ्च हृदये उपेन्द्रं मस्तके ततः। दक्षिणे तु हरिं बाहौ वामे कृष्णं यथाविधि।
नमोऽन्तञ्च चतुर्थ्यन्तमाचामेत् क्रमतो जपन् ॥२०७॥
अशक्तः केवलं दक्षं स्पृशेत् कर्णं तथा च वाक्।
कुर्वीतालभनं वापि दक्षिणश्रवणस्य वै ॥२०८॥

अथ दन्तधावनविधिः

तत्र कात्यायनः—

उत्थाय नेत्रे प्रक्षाल्य शुचिर्भूत्वा समाहितः। परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम् ॥२०९॥

यथाविधीति—पूर्वलिखिताचमनविध्यनुसारेण, त्रिः पानप्रकारः मार्जनादावङ्गुलिनियमश्च तथा ओष्ठ-मार्जनमूर्द्धवोष्ठक्रमेण नासादिस्पर्शश्च, दक्षिणक्रमेणेत्यादिप्रकारश्च सदाचारतो ज्ञेय इत्यर्थः। तथा चागमे श्रीरामार्चनचन्द्रिकायाम्—'केशवाद्यैस्त्रिभिः पीत्वा द्वाभ्यां प्रक्षालयेत् करौ। द्वाभ्यामोष्ठौ च संमार्ज्य द्वाभ्यामुन्मार्जनं तथा॥ एकेन हस्तौ प्रक्षाल्य पादावपि तथैकतः। संप्रोक्ष्यैकेन मूर्द्धानं ततः सङ्कर्षणादिभिः॥ आस्यनासाक्षिकर्णांश्च नाभ्युरः स्कन्धकान् स्पृशेत्॥ एवमाचमनं कृत्वा साक्षान्नारायणो भवेत्॥ 'केशव-नारायणमाधवगोविन्दविष्णुमधुसूदनत्रिविक्रमवामनश्रीधरहृषीकेशपद्मनाभदामोदरवासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्न-अनिरुद्धपुरुषोत्तमअधोक्षजनृसिंहाच्युतजनार्दनोपेन्द्रहरिकृष्ण'-भगवन्नामभिरेभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नमोऽन्तकैरित्यादि ॥२०७॥

इन्द्रियच्छिद्रादिमार्जने च अशक्तयाद्यपेक्षया स्मृत्युक्तं पक्षान्तरं लिखति—अशक्त इति। रोगादिना असमर्थश्चेत्तर्हि केवलं दक्षं निजदक्षिणं कर्णं स्पृशेत्; ननु तत्र किं प्रमाणम्? तत्र लिखति—तथा च वागिति, यतस्तथैव वचनमस्तीत्यर्थः। तामेव मार्कण्डेयपुराणे श्रीमदालसोक्तां लिखति—कुर्वीतेति। आलभनं स्पर्शनम्, वै प्रसिद्धौ, तच्च स्मृतिपुराणादिवत् सुप्रसिद्धमेवेत्यर्थः। केचिच्च त्रिर्जलाचमनाशक्तावपि पक्षमेतं मन्यन्ते। तत्र च जलाद्यसम्भवेपि, एतच्च केवलमित्यनेनापि सूचितम्। तच्च तत्र एवोक्तम्—'यथाविभवतो ह्येतत् पूर्वाभावे ततः परम्' इति। अस्यार्थः—विभवः सामर्थ्यादिः, पूर्वोक्तत्रिराचमनासम्भवे ततोऽनन्तरमुक्तं दक्षिणकर्णालभनादिकं कार्य्यं, नान्यदित्यर्थः ॥२०८॥

श्रीभगवत्पूजानिरताः शयनादुत्थयैव दन्तधावनमाचरेयुरिति पूर्वं लिखितम्. अधुना शौचवर्गविधिप्रसङ्गे तद्विधिर्लिख्यते—उत्थायेत्यादिना प्रक्षाल्य मार्जनादिना नेत्रे उन्मील्य, एवञ्च प्रातःकृत्यमेवेदं व्यक्तम्। तथा च व्यासः—'शुद्ध्यर्थं प्रातरुत्थाय भक्षयेद्दन्तधावनम्' इति। अशक्तौ च स्नानकालेऽपि दन्तधावनं न दोषावहम्।

मस्तक देश में उपेन्द्र को, दक्षिण बाहु में श्रीहरि को एवं वामबाहु में श्रीकृष्ण को क्रमशः चतुर्थी विभक्ति योग एवं नमः शब्द योग करके उच्चारण कर आचमन करे। यथा—"केशवाय नमः, नारायणाय नमः, माधवाय नमः" चतुर्विंशति श्रीभगवन्नामोच्चारण पूर्वक बारत्रय किञ्चित् जलाचमन से वैष्णवाचमन होता है, इसमें केशव से आरम्भ कर अन्त में श्रीकृष्ण नामोच्चारण होता है ॥२०२-२०७॥

शरीर रुग्ण होने से केवलमात्र निज दक्षिण कर्ण स्पर्श करे। इसमें शास्त्र विधि है,—असमर्थ व्यक्ति केवल निज दक्षिण कर्ण स्पर्श करे। स्मृति पुराणादि में ह विधि प्रसिद्ध है, मार्कण्डेय पुराण में श्रीमदालसा का वचन भी उद्धृत हुआ है ॥२०८॥

अथ दन्तधावनविधिः

दन्तधावन विधि। इस विषय में श्रीकात्यायन की उक्ति है,—निद्रा से जागरित होकर जल से दोनों नेत्रों को धोकर पवित्र एवं स्थिर चित्त से मन्त्र जप के अनन्तर दन्तधावन करे। वस्तुतः प्रातःकाल में उठकर ही दन्तधावन विहित है। असामर्थ्य वशतः प्रातःस्नान के समय भी दन्तधावन दोषावह नहीं है ॥२०९॥

मन्त्रश्चायम्—

आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजा पशुवसूनि च। ब्रह्म प्रज्ञाञ्च मेधाञ्च त्वं नो धेहि वनस्पते ॥२१०॥

अस्य नित्यता

काशीखण्डे—

अथो मुखविशुद्धयर्थं गृह्णीयाद्दन्तधावनम्।
आचान्तोऽप्यशुचिर्यस्मादकृत्वा दन्तधावनम् ॥२११॥

वाराहे च—

दन्तकाष्ठमखादित्वा यस्तु मामुपसर्पति। सर्वकालकृतं कर्म तेन चैकेन नश्यति ॥२१२॥

अथ दन्तकाष्ठनिषिद्धदिनानि

मनुः—

चतुर्द्दश्यष्टमीदर्शपौर्णमास्यर्कसंक्रमः। एषु स्त्रीतैलमांसानि दन्तकाष्ठानि वर्जयेत् ॥२१३॥

सम्वर्त्तकः—

आद्ये तिथौ नवम्याञ्च क्षये चन्द्रमसस्तथा। आदित्यवारे शौरे च वर्जयेद्दन्तधावनम् ॥२१४॥

कात्यायनः—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्याञ्च विशेषतः। दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम् ॥२१५॥

विरक्तानां सतां केषाञ्चित् तादृशाचारदर्शनात्। अतएव कौर्मे श्रीव्यासगीतायाम्—'प्रक्षाल्य दन्तकाष्ठं वै भक्षयित्वा विधानतः। आचम्य प्रयतो नित्यं स्नानं प्रातः समाचरेत् ॥' इति। प्रातःस्नानकाल एवोक्तम्; मार्कण्डेयपुराणे च—'केशप्रसाधनादर्शदर्शनं दन्तधावनम्। पूर्वाह्ण एव कार्य्याणि' इति पूर्वाह्णमात्रकृत्यमित्युक्तम्। यच्चोक्तम्—'यो मोहात् स्नानवेलायां भक्षयेद्दन्तधावनम्। निराशास्तस्य गच्छन्ति देवताः पितरस्तथा ॥' इति। तच्च मध्याह्नस्नानविषयं ज्ञेयम् ॥२०९॥

विशेषत इत्यनेन क्वचित् चतुर्दश्यादौ, क्वचिच्च व्यतीपातजन्मदिनादौ कृतदन्तकाष्ठनिषेधापेक्षया प्रतिपदादिषु तन्निषेधाधिक्यं बोध्यते, अतएव दहतीत्यादिना तत्र दोषोऽपि महान् दर्शित इति दिक् ॥२१५॥

दन्तकाष्ठ ग्रहण मन्त्र। हे वनस्पते! तुम मुझको आयु, बल, यशः, तेजः, सन्तान, पशु, धन, ब्रह्म अर्थात् वेदविषयक ज्ञान, बुद्धि एवं स्मृति शक्ति प्रदान करो ॥२१०॥

अस्य नित्यता—

दन्तधावन की नित्यता। काशीखण्ड में उक्त है,—मुख शोधन के निमित्त दन्तकाष्ठ ग्रहण करे, कारण दन्तशुद्धि न करके आचमन करने पर भी मानव अपवित्र रहता है ॥२११॥

वराहपुराण में लिखित है,—दन्तकाष्ठ के द्वारा दन्त मार्जन न करके जो व्यक्ति मेरी आराधना करता है, वह दन्तधावन अकरण रूप एक कर्म ही सर्व कालकृतकर्म को विनष्ट करता है ॥२१२॥

अथ दन्तकाण्ठनिषिद्धदिनानि—

दन्तकाष्ठ ग्रहण निषिद्ध दिन। मनु ने कहा है,—चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा एवं संक्रान्ति में स्त्री सम्भोग, तैल मर्दन, मांस भक्षण एवं दन्तकाष्ठ चर्वण निषिद्ध है ॥२१३॥

संवर्त्तक ने भी कहा है,—प्रतिपद्, नवमी, अमावस्या, रविवार एवं शनिवार में दन्तकाष्ठ के द्वारा दन्त शोधन न करें ॥२१४॥

कात्यायन ने कहा है—प्रतिपद्, अमावस्या, षष्ठी, नवमी, एकादशी तिथि में एवं रविवार में दन्त समूह में काष्ठ संयोग करने से सप्तपुरुष पर्य्यन्त समस्त कुलस्थ पुरुषगण दग्ध होते हैं ॥२१५॥

वृद्धवशिष्ठः—

उपवासे तथा श्राद्धे न खादेद्दन्तधावनम्। दन्तानां काष्ठसंयोगो हन्ति सप्तकुलानि वै ॥२१६॥

अन्यत्र च—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्येकादशीरवौ। दन्तानां काष्ठसंयोगो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥२१७॥

अथ तत्र प्रतिनिधिः

दिनेष्वेतेषु काष्ठैर्हि दन्तानां धावनस्य तु।
निषिद्धत्वात्तृणैः कुर्य्यात्तथा काष्ठेतरैश्च तत् ॥२१८॥

तथा च व्यासः—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां दन्तधावनम्। पर्णैरन्यत्र काष्ठैश्च जिह्वोल्लेखः सदैव हि ॥२१९॥

पैठीनसिः—

अलाभे वा निषेधे वा काष्ठानां दन्तधावनम्। पर्णादिना विशुद्धेन जिह्वोल्लेखः सदैव हि ॥२२०॥

अथ तत्रैवापवादः

काष्ठैः प्रतिपदादौ यन्निषिद्धं दन्तधावनम्। तृणपर्णैस्तु तत् कुर्य्यादमामेकादशीं विना ॥२२१॥

नवम्यामेकादश्यां रविवारे चेत्यर्थः ॥२१७॥

एतेषु प्रतिपदादिषु निषिद्धदिनेषु काष्ठैः कृत्वा दन्तानां धावनस्य निषिद्धत्वात् निषेधनात् तत्तद्दन्तधावनं तृणैः पर्णैः काष्ठादितरैरन्यैश्च त्वगादिभिः कुर्य्यात्। यद्वा, काष्ठेतरैरिति हेतौ विशेषणम्; ततश्च काष्ठैरेव निषेधनात् तृणादीनाञ्च काष्ठेतरत्वात् तैर्दन्तधावनमदुष्टमित्यर्थः ॥२१८॥

अन्यत्र प्रतिपदादिव्यतिरिक्तदिनेषु, अत्र च रविवारादावपि पर्णैरेव तथा तृणैश्चापीति पूर्वापरवचनानुसारेण बोद्धव्यम् ॥२१९॥

अमाम्—अमावास्याम्, एकादशीमित्युपवासदिनं लक्षयति, कदाचिद्द्वादशीषु जन्माष्टम्यादिषु चोपवासात्

वृद्धवशिष्ठ का कथन है—उपवास में एवं श्राद्ध के दिन दन्तकाष्ठ का चर्वण न करे, उक्त दिनों में दन्तकाष्ठ व्यवहार करने से सात कुल नष्ट होते हैं ॥२१६॥

अन्यत्र भी उक्त है—प्रतिपत्, अमावस्या, षष्ठी, नवमी, एकादशी एवं रविबार में दन्तकाष्ठ के द्वारा दन्तधावन करने से पूर्व पुण्यसमूह विनष्ट होते हैं ॥२१७॥

अथ तत्र प्रतिनिधिः

निषिद्ध दिवस में दन्तकाष्ठ का प्रतिनिधि। उपरोक्त दिनों में दन्तकाष्ठ निषिद्ध होने से तृण, वृक्ष का वल्कल एवं पत्र के द्वारा दन्तधावन करे ॥२१८॥

उक्त विषय में श्रीव्यासदेव का कथन है,—प्रतिपत्, अमावस्या, षष्ठी, नवमी तिथि में एवं रविबार में पत्र के द्वारा दन्तधावन निष्पन्न करे, किन्तु अन्य दिनों में दन्तकाष्ठ के द्वारा ही दन्त मार्जन करे, एवं प्रतिदिन जिह्वोलेख करे, अर्थात् जीभ को साफ करे ॥२१९॥

पैठीनसि ने कहा—दन्तकाष्ठ के अभाव से अथवा निषेध से पर्णादि के द्वारा दन्त मार्जन करे, एवं उक्त समस्त दिनों में ही जिह्वा को साफ करे। अर्थात् विहित एवं अविहित समस्त दिनों में ही जिह्वा मार्जन करना कर्त्तव्य है ॥२२०॥

अथ तत्रैवापवादः

उक्त विषय में विशेषविधि। प्रतिपत् प्रभृति तिथि में दन्तकाष्ठ के द्वारा दन्तधावन निषिद्ध है।

अतएव व्यासस्य वचनान्तरम्—

अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तथा तिथौ। अपां द्वादशगण्डूषैर्विदध्याद्दन्तधावनम् ॥२२२॥

काशीखण्डे च तत्रैव—

अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धे वाथ वासरे।
गण्डूषा द्वादश ग्राह्या मुखस्य परिशुद्धये ॥२२३॥ इति।

तृणपर्णादिना केचित् उपवासदिनेष्वपि। दन्तधावनमिच्छन्ति मुखशोधनतत्पराः ॥२२४॥

तथा च काशीखण्डे तत्रैव—

मुखे पर्य्युषिते यस्माद्भवेदशुचिभाग्नरः। ततः कुर्य्यात् प्रयत्नेन शुद्धयर्थं दन्तधावनम् ॥२२५॥

उपवासेऽपि नो दुष्येद्दन्तधावनमञ्जनम्। गन्धालङ्कारसद्वस्त्रपुष्पमालानुलेपनम् ॥२२६॥

अथ दन्तकाष्ठानि

स्मृतौ—

सर्वे कण्टकिनः पुण्याः आयुर्द्दाः क्षीरिणः स्मृताः।
कटुतिक्तकषायाश्च बलारोग्यसुखप्रदाः ॥२२७॥

अमावास्यां दन्तकाष्ठग्रहणं न कार्य्यम्। तथा च मत्स्यविष्णुपुराणयोः—'छिनत्ति वीरुधौ यस्तु वीरुत्संस्थे निशाकरे। पत्रं वा पातयत्येकं ब्रह्महत्यां स विन्दति॥' इति ॥२२१॥

निषिद्धायामिति पूर्वं प्रतिपदादिषु निषिद्धदिनेषु पर्णैर्दन्तधावनस्यानुज्ञातत्वात् पुनश्च अपां द्वादश-गण्डूषैरित्यनुज्ञातत्वादेकादश्याद्युपवासदिनेषु अपां गण्डूषैरिति व्यवस्थापयितव्यम्, एवञ्च अमामेकादशीं विनेति वाक्यं सुसङ्गतमिति दिक् ॥२२२॥

उपवासेऽपि नो दुष्येदिति वचनञ्चस्वमतेऽप्यन्यस्त्रीविषयकं ज्ञेयं, तत्राञ्जनादिनिषेधनात्। अतएव केचिदिच्छन्तीति लिखितम्। व्रतदिने पर्णादिनापि दन्तानां धावने दाक्षिणात्यश्रीवैष्णवानां व्यवहारोऽपि प्रमाणमिति दिक् ॥२२४-२२५॥

उक्त निषिद्ध दिनों में तृण पत्र प्रभृति के द्वारा दन्तधावन क्रिया सम्पन्न करे। किन्तु अमावस्या एवं एकादशी तिथि में तृण, पत्र के द्वारा भी दन्तधावन न करे ॥२२१॥

अतएव उक्त विषय में श्रीव्यास देव का अपर वक्तव्य—दन्तकाष्ठ प्राप्त न होने से अथवा दन्तकाष्ठ निषिद्ध तिथि में मुखशुद्धि हेतु द्वादश गण्डूष (कुल्ला) जल से दन्तधावन क्रिया सम्पन्न करे ॥२२२॥

जिन व्यक्तियों को दन्तधावन करना विशेष आवश्यक होता है, उन सबके लिए तृण पत्रादि के द्वारा मुख शोधन करना विधेय है। व्रतदिन में पत्र प्रभृति के द्वारा दन्तधावन करना, दाक्षिणात्य श्रीवैष्णवों का व्यवहार भी है ॥२२३-२२४॥

काशीखण्ड में उक्त है—दन्तधावन न करने से मुख दुर्गन्धित होता है, उक्त दुर्गन्धपूर्ण मुख से पवित्रता नष्ट होती है, अतएव मुखशुद्धि हेतु यत्नपूर्वक दन्तधावन करे ॥२२५॥

उपवास दिन में भी दन्तधावन, अञ्जन, चन्दन, विभूषण, उत्तम वसनधारण, पुष्पमाल्य एवं गन्ध द्रव्य अनुलेपन से दोष नहीं होता है ॥२२६॥

अथ दन्तकाष्ठानि—

दन्तकाष्ठ समूह। स्मृति में उक्त है—कण्ठकयुक्त वृक्ष का दन्तकाष्ठ ही प्रशस्त है, क्षीरयुक्त वृक्ष का

किञ्च—

पलाशानां दन्तकाष्ठं पादुके चैव वर्जयेत् । वर्जयेच्च प्रयत्नेन वटं चाश्वत्थमेव च ॥२२८

कौर्मे श्रीव्यासगीतायाम्—

मध्याङ्गुलिसमस्थौल्यं द्वादशाङ्गुलसम्मितम् ।
सत्वचं दन्तकाष्ठं यत्तदग्रे न तु धारयेत् ॥२२६॥
क्षीरिवृक्षसमुद्भूतं मालतीसम्भवं शुभम् ।
अपामार्गञ्च विल्वं वा करवीरं विशेषतः ॥२३०॥
वर्जयित्वा निन्दितानि गृहीत्वैकं यथोदितम् ।
परिहृत्य दिनं पापं भक्षयेद्वै विधानवित् ॥२३१॥
न पाटयेत् दन्तकाष्ठं नाङ्गुल्यग्रेण धारयेत् ।
प्रक्षाल्य भुक्त्वा तज्जह्यात् शुचौ देशे समाहितः ॥२३२॥

काशीखण्डे च तत्रैव—

कनिष्ठाग्रपरीणाहं सत्वचं निर्व्रणं ऋजुम् । द्वादशाङ्गुलमानञ्च सार्द्रं स्याद्दन्तधावनम् ।
जिह्वोल्लेखनिकां वापि कुर्य्याच्चापाकृतिं शुभाम् ॥२३३॥

सत्वचमिति—अदन्तत्वच-शब्दोऽप्यस्ति आवन्तो वा, त्वचा सहितमित्यर्थः ॥२२६।
निन्दितानि अर्ककर्बूरादीनि ; पापं वर्ज्यं दिनं प्रतिपदादि ॥२३१॥
परीणाहः स्थौल्यं सार्द्रमार्द्रतायुक्तम् ॥२३३॥

दन्तकाष्ठ आयुः वर्द्धक है । कटु, तिक्त, कषाय रसयुक्त वृक्ष के दन्तकाष्ठ बल, आरोग्य एवं सुख प्रदान करता है ॥२२७॥

पलाश वृक्ष के काष्ठ से दन्तकाष्ठ एवं पादुका निर्माण न करे । उस प्रकार उक्त कार्य के लिए वट एवं अश्वत्थ वृक्ष को भी वर्जन करे ॥२२८॥

कूर्मपुराण की श्रीव्यासगीता में वर्णित है—दन्तकाष्ठ,—मध्यमा अङ्गुल के समान स्थूल, द्वादश अङ्गुलि परिमित, एवं त्वक् युक्त दन्तकाष्ठ ही प्रशस्त है । दन्तकाष्ठ के मूल भाग को धारण कर अग्रभाग के द्वारा दन्तधावन विधेय है ॥२२६॥

क्षीरवृक्ष, मालती, अपामार्ग, विल्व का काष्ठ दन्तधावन के लिए प्रशस्त है ॥२३०॥

विशेष कर करवीर प्रभृति निषिद्ध काष्ठ को छोड़कर दन्तकाष्ठ संग्रह करे, एवं निषिद्ध दिन वर्जनपूर्वक दन्तकाष्ठ का व्यवहार करे ॥२३१॥

द्विधाकृति—अर्थात् विभक्त दन्तकाष्ठ को वर्जन करे, अङ्गुलि के अग्रभाग के द्वारा दन्तकाष्ठ को धारण न करे । स्थिर चित्त से दन्तकाष्ठ चर्वण पूर्वक पवित्र स्थान में निक्षेप करे । दन्तकाष्ठ व्यवहार के पहले जल से प्रक्षालन कर लेना आवश्यक है ॥२३२॥

काशीखण्ड में वर्णित है,—कनिष्ठाङ्गुलि के अग्रभाग के समान स्थूल, त्वक्युक्त, व्रणरहित, सरल द्वादशाङ्गुल परिमाण, सरस काष्ठ ही दन्तकाष्ठ के उपयोगी है । इस प्रकार लक्षणयुक्त काष्ठ द्वारा ही धनुषाकृति शुभ जिह्वा मार्जनिका करे ॥२३३॥

रामार्चनचन्द्रिकायाञ्च—

दन्तोल्लेखो वितस्त्या भवति परिमितादव्रमित्यादिमन्त्रात्
प्रातः क्षीर्य्यादिकाष्ठाद्वटखदिरपलाशैर्विनार्काम्रबिल्वैः ।
भुक्त्वा गण्डूषषट्कं द्विरपि कुशमृते देशिनीमङ्गुलीभि-
र्नन्दाभूताष्टपर्वण्यपि न खलु नवम्यर्कसंक्रान्तिपाते ॥२३४॥

अथ केशप्रसाधनादिः

ततश्चाचम्य विधिवत् कृत्वा केशप्रसाधनम् ।
स्मृत्वा प्रणवगायत्र्यौ निबध्नीयाच्छिखां द्विजः ॥२३५॥

तथा चोक्तम्—

न दक्षिणामुखो नोर्द्ध्वं कुर्य्यात् केशप्रसाधनम् ।
स्मृत्वोङ्कारञ्च गायत्रीं निबध्नीयाच्छिखान्ततः ॥२३६॥

अथ स्नानम्

विष्णुपुराणे तत्रैव—

नदीनदतड़ागेषु देवखातजलेषु च । नित्यक्रियार्थं स्नायीत गिरिप्रस्रवणेषु च ॥२३७॥

वटादिकाष्ठैर्विना क्षीर्य्यादिकाष्ठात् प्रातर्दन्तानामुल्लेखो धावनं भवति। कीदृशात्? वितस्त्या द्वादशाङ्गुलैः परिमितात्; कुशं देशिनीञ्च विना अङ्गुलीभिर्गण्डूषषट्कं द्विर्भुक्त्वा, द्वादशजलगण्डूषाणि गृहीत्वेत्यर्थः। नन्दादिषु च दन्तोल्लेखो न भवति, तत्र नन्दा—प्रतिपत् षष्ठी एकादशी च; भूता—चतुर्दशी, अष्ट-अष्टमी; पर्व—अमावस्या पौर्णमास्यादि, पातो—व्यतीपातो, द्वन्द्वैक्यम्; एवं निषेधवैविध्यं विविध-वेदशाखासेविनां कर्मपराणां नानादेवताभक्तानां मतभेदेन मन्त्रश्च श्रौतोऽयम्—अन्नाद्यायाद्याप्यूह्य सोमो राजायमागमन् स मे मुखं संमार्ज्यते, यशसा च भगेन वा इति ॥२३४॥

द्विज इति स्नाने शूद्रस्य मुक्तशिखत्वात् ॥२३५॥

विधिवदिति लिखितम्, तं विधिमेव लिखति—न दक्षिणेति ॥२३६॥

कूपेषु कलसादिभिरुद्धृततोयेन भुवि तत्तटभूमौ स्नायात्, गमनाद्यशक्ततया; तत्तटभुवि स्नानासम्भवे

रामार्चन चन्द्रिका में उक्त है—प्रथम द्वादश गण्डूष जल मुख में अर्पण करे, अनन्तर "सोमो राजाय मागमन् मार्जते यशसाच भगेन वा" मन्त्र पाठ करके वट, खदिर, पलाश, अर्क, आम्र, बिल्व व्यतीत अपर क्षीरि वृक्षजात द्वादशाङ्गुल परिमित काष्ठ द्वारा प्रातःकाल में दन्तधावन करे। किन्तु प्रतिपत्, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा इत्यादि पर्वदिन में एवं नवमी, संक्रान्ति एवं व्यतीपात योग में दन्त धावन निषिद्ध है ॥२३४॥

अथ केशप्रसाधनादिः

केश प्रसाधनादि। अनन्तर द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य—दन्तधावन के पश्चात् आचमनपूर्वक यथाविधि केश प्रसाधनपूर्वक ओंकार, एवं गायत्री स्मरणपूर्वक शिखा बन्धन करे ॥२३५॥

अतएव कथित है—दक्षिण मुख अथवा उर्द्धमुख होकर केश प्रसाधन न करे, पश्चात् ओंकार एवं गायत्री स्मरणपूर्वक शिखा बन्धन करे ॥२३६॥

अथ स्नानम्—

विष्णुपुराण में उक्त है,—नदी, दीर्घिका, देवखात एवं गिरिप्रस्रवण जलों में स्नान करना कर्त्तव्य है।

कूपेषूद्धृततोयेन स्नानं कुर्वीत वा भुवि । स्नायीतोद्धृततोयेन अथवा भुव्यसम्भवे ॥२३८

अथ स्नाननित्यता

तत्र कात्यायनः—

यथाहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायादनातुरः । अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः ।
स्रवत्येव दिवारात्रौ प्रातःस्नानं विशोधनम् ॥२३९॥

दक्षः—

प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः । यतेस्त्रिसवनं स्नानं सकृत्तु ब्रह्मचारिणः ॥२४०
सर्वे चापि सकृत् कुर्य्युरशक्तौ चोदकं विना ॥२४१॥

किञ्च—

अशिरस्कं भवेत् स्नानमशक्तौ कर्मिणां सदा ।
आर्द्रेण वाससा वापि पाणिना वापि मार्जनम् ॥२४२॥

शङ्खश्च—

अस्नातस्तु पुमान्नार्हो जपादिहवनादिषु ॥२४३॥

कूपादुद्धृतेन शीतोदकेन स्नायात्, तत्राप्यशक्तौ उष्णोदकेन स्नायात् इति ज्ञेयम् ; तथा चोक्तम्—'आ स्वभावतो मेध्याः किं पुनर्वह्निसंयुक्ताः । तस्मात् सन्तः प्रशंसन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥' इति ॥२३

अशक्तौ सत्याम्, अपि निश्चितं सकृदपीति वा कुर्य्युरेव । तत्राप्यशक्तौ उदकं विनेति मन्त्रस्नानादि कुर्य्युरित्यर्थः । यद्वा, अशक्तौ सत्यां उदकं विना जलाभावे च सति सकृत् कुर्य्युः । एवं स्नानस्य नित्य सिद्धैव ॥२४१॥

अशिरस्कमित्यादिनापि नित्यतैवाभिप्रेता ॥२४२॥

कलस प्रभृति के द्वारा कूप से जल उत्तोलनपूर्वक कूप के तटदेश में स्नान करना कर्त्तव्य है । तट में सम्भ न होने से उत्तोलित शीतल जल से अथवा उष्ण जल से स्नान करे । जल स्वाभाविक प्रवित्र है, अ संयोग से ततोऽधिक पवित्र होता है । अतएव उष्णोदक से स्नान प्रशस्त है ॥२३७-२३८॥

अथ स्नाननित्यता—

कात्यायन कहते हैं,—सुस्थ व्यक्ति दिवाभाग के समान प्रातःकाल में भी स्नान करे । शरीर अत्यन्त मलिन एवं नवच्छिद्रयुक्त है । दिन-रात ही उससे मल निर्गत होता रहता है । प्रातःस्नान के द्वारा उ शरीर की विशुद्धि होती है ॥२३९॥

दक्ष कहते हैं—वानप्रस्थ गृहस्थ के निमित्त प्रातःस्नान एवं मध्याह्नकाल में स्नान विहित है । यति के लिए त्रि-सन्ध्या स्नान एवं ब्रह्मचारी के लिए एकबार मात्र स्नान विहित है ॥२४०॥

असमर्थ होने पर सबके लिए ही एकबार मात्र स्नान विहित है । यदि उसमें भी असमर्थ हो तो केवल मन्त्रस्नान करे ॥२४१॥

और भी वर्णित है,—असमर्थ होने पर कर्मी के लिए समस्त समय में ही शिरः स्नान व्यतीत स्ना प्रशस्त है । आर्द्र वस्त्र अथवा आर्द्र हस्त के द्वारा शरीर मार्जन से भी स्नान निष्पन्न होता है ॥२४

शङ्ख ने भी कहा है, स्नान न करने से मानव जप होमादि कार्य्य में अधिकारी नहीं होता है ॥२४

कौर्मे व्यासगीतायाम्—

प्रातःस्नानं बिना पुंसां पावित्वं कर्मसु स्मृतम् ।
होमे जपे विशेषेण तस्मात् स्नानं समाचरेत् ॥२४४॥

काशीखण्डे—

प्रस्वेदलालाद्याक्लिन्नो निद्राधीनो यतो नरः ।
प्रातःस्नानात्ततोऽर्हः स्यान्मन्त्रस्तोत्रजपादिषु ॥२४५॥

पाद्मे च देवहूतिविकुण्डलसंवादे—

स्नानं बिना तु यो भुङ्क्ते मलाशी स सदा नरः ।
अस्नायिनोऽशुचेस्तस्य विमुखाः पितृदेवताः ॥२४६॥
स्नानहीनो नरः पापी स्नानहीनोऽशुचिः सदा ।
अस्नायी नरकं भुक्त्वा पुक्कशादिषु जायते ॥२४७॥

अथ स्नानमाहात्म्यम्

महाभारते उद्योगपर्वणि श्रीविदुरोक्तौ—

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते, बलं रूपं स्वरवर्णप्रसिद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च, श्रीः सौकुमार्य्यं प्रवराश्च नार्य्यः ॥२४८॥

पाद्मे च तत्रैव—

याम्यं हि यातनादुःखं नित्यस्नायी न पश्यति ।
नित्यस्नानेन पूयन्ते अपि पापकृतो नराः ॥२४९॥

स्वरवर्णयोः प्रकर्षेण सिद्धिरिति । महापातकादिकं हरति ॥२४८॥

कूर्मपुराणस्थ श्रीव्यासगीता में उक्त है—प्रातःस्नान न करने से समस्त कर्म में विशेषतः जप होम कार्य्य में विशुद्धि की सम्भावना नहीं है । तज्जन्य प्रातःस्नान करना आवश्यक है ॥२४४॥

काशीखण्ड में लिखित है,—मानव निद्रित होने से स्वेद प्रभृति के द्वारा शरीर क्लिन्न होता है, सुतरां प्रातःस्नान से ही मन्त्र जप स्तुति प्रभृति कर्म में वह योग्य हो सकता है ॥२४५॥

पद्मपुराण के देवहूति विकुण्डल संवाद में लिखित है— जो मनुष्य स्नान व्यतीत भोजन करता है, वह सदा मल भक्षण करता है । अस्नायी व्यक्ति अशुचि होता है, उससे पितृ देवतागण विमुख होते हैं ॥२४६॥

स्नान हीन नर पापी होता है, स्नान हीन नर सर्वदा अशुचि होता है, स्नान विमुख व्यक्ति नरक भोग के पश्चात् पुक्कश प्रभृति अन्त्यज कुल में जन्म लेता है ॥२४७॥

अथ स्नानमाहात्म्यम्—

महाभारत के उद्योगपर्व में विदुर ने कहा—जो व्यक्ति नित्य स्नान करता है, बल, रूप, सुमधुर कण्ठस्वर, वर्ण की उत्तमता, स्पर्श शक्ति की पटुता, सुगन्ध, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता, एवं उत्तमा स्त्री, ये दशगुण उस स्नानकारी का भजन करते हैं ॥२४८॥

पद्मपुराण में वर्णित है,—(देवहूति विकुण्डल संवाद में) नित्य स्नानकारी व्यक्ति को कभी भी यम यातना भोग नहीं करना पड़ता है, अधिक क्या, पातकी व्यक्तिगण भी नित्य स्नान के द्वारा पवित्र होते हैं ।

प्रातःस्नानं हरेद्वैश्य सबाह्याभ्यन्तरं मलम् ।
प्रातःस्नानेन निष्पापो नरो न निरयं व्रजेत् ॥२५०॥

ये पुनः स्रोतसि स्नानमाचरन्तीह पर्वणि । ते नैव दुर्गतिं यान्ति न जायन्ते कुयोनिषु ॥२५१॥

दुःस्वप्नं दुष्टचिन्ता च बन्ध्या भवति सर्वदा ।
प्रातःस्नानविशुद्धानां पुरुषाणां विशां वर ॥२५२॥

अत्रिस्मृतौ —

स्नाने मनःप्रसादः स्याद्देवा अभिमुखाः सदा ।
सौभाग्यं श्रीः सुखं पुष्टिः पुण्यं विद्या यशो धृतिः ॥२५३॥
महापापान्यलक्ष्मीश्च दुरितं दुर्विचिन्तितम् ।
शोकदुःखादि हरते प्रातःस्नानं विशेषतः ॥२५४॥

कौर्मे तत्रैव—

प्रातःस्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्टकरं हि तत् ।
प्रातःस्नानेन पापानि पूयन्ते नात्र संशयः ॥२५५॥

काशीखण्डे च—

प्रातःस्नानात् यतः शुध्येत् कायोऽयं मलिनः सदा ।
छिद्रितो नवभिश्छिद्रैः स्रवत्येव दिवानिशम् ॥२५६॥

उत्साहमेधासौभाग्यरूपसम्पत्प्रवर्त्तकम् । मनःप्रसन्नताहेतुः प्रातःस्नानं प्रशस्यते ॥२५७॥

दृष्टादृष्टकरम् ऐहिकामुष्मिकशुभकारि, पूयन्ते नश्यन्ति ॥२५५॥

हे वैश्य ! प्रातःस्नान के द्वारा बाह्य आभ्यन्तर का मल विनष्ट होता है। प्रातःस्नान के द्वारा मानव पवित्र होता है, उसको निरय में जाना नहीं पड़ता है। जो लोक पर्वदिन में स्रोतजल में स्नान करते हैं वे सब कदापि दुर्गति भोग नहीं करते हैं, एवं कभी भी कुयोनि में जन्मग्रहण नहीं करते हैं। हे वैश्यश्रेष्ठ ! जो लोक, प्रातःस्नान के द्वारा विशुद्ध होते हैं, उन सबके निकट दुःस्वप्न, दुश्चिन्ता प्रभृति सर्वदा निष्फल होते हैं ॥२४९-२५२॥

अत्रिस्मृति में भी उक्त है— स्नान करने से मनः सदा प्रसन्न रहता है। देवगण, सर्वदा अभिमुखी होते हैं, एवं सौभाग्य, श्री, सुख, पुष्टि, पुण्य, विद्या, यशः एवं धैर्य्य लाभ होता है। विशेषतः प्रातःस्नान महापाप समूह, अलक्ष्मी, दुरित, दुश्चिन्ता एवं शोकदुःखादि को विदूरित करता है ॥२५३-२५४॥

कूर्मपुराण की व्यास गीता में उक्त है—मनीषिगण प्रातःस्नान की प्रशंसा करते हैं, वह स्नान दृष्ट—ऐहिक, अदृष्ट—आमुष्मिक, शुभफल प्रदानकारी है। प्रातःस्नान से समस्त पातक नष्ट होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥२५५॥

काशीखण्ड में वर्णित है,—मानव शरीर नव छिद्रयुक्त एवं सर्वदा मलवाही है। प्रातःस्नान करने से उक्त मल विदूरित होता है, अर्थात् शरीर पवित्र होता है। प्रातःस्नान से उत्साह, मेधा, सौभाग्य, रूप, सम्पत्ति लाभ होता है, एवं प्रातःस्नान चित्त प्रसन्नता का कारण होने से ही वह अति प्रशंसनीय है।

प्रातः प्रातस्तु यत् स्नानं संजाते चारुणोदये । प्राजापत्यसमं प्राहुस्तन्महाघविघातकृत् ॥२५८॥

प्रातःस्नानं हरेत् पापमलक्ष्मीं ग्लानिमेव च । अशुचित्वञ्च दुःस्वप्नं तुष्टिं पुष्टिं प्रयच्छति ॥२५९॥

नोपसर्पन्ति वै दुष्टाः प्रातःस्नायिजनं क्वचित् ।
दृष्टादृष्टफलं तस्मात् प्रातःस्नानं समाचरेत् ॥२६०॥

स्नानमात्रं तथा प्रातःस्नानं चात्र नियोजितम् ।
यद्यप्यन्योऽन्यमिलिते पृथग्ज्ञेये तथाप्यमू ॥२६१॥

अथ स्नानविधिः

अथ तीर्थगतस्तत्र धौतवस्त्रं कुशांस्तथा ।
मृत्तिकाञ्च तटे न्यस्य स्नायात् स्वस्वविधानतः ॥२६२॥

अधौतेन तु वस्त्रेण नित्यनैमित्तिकीं क्रियाम् ।
कुर्वन् न फलमाप्नोति कृता चेन्निष्फला भवेत् ॥२६३॥

धौताङ्घ्रिपाणिराचान्तः कृत्वा संकल्पमादरात् ।
गङ्गादिस्मरणं कृत्वा तीर्थायार्घ्यं समर्पयेत् ॥२६४॥

सागरस्वननिर्घोष दण्डहस्तासुरान्तक । जगत्स्रष्टर्जगन्मर्द्दिन् नमामि त्वां सुरेश्वर ॥२६५॥

इमं मन्त्रं समुच्चार्य्य तीर्थस्नानं समाचरेत् ।
अन्यथा तत्फलस्यार्द्धं तीर्थेशो हरति स्वयम् ॥२६६॥

इदानीं स्नानविधिं लिखन् आदौ वैदिकवैष्णवप्रवरश्रीकृष्णदेवाचार्य्यादिसम्मतं वैदिकतान्त्रिकविधि-विमिश्रितं स्नानविधिं लिखति—अथेत्यादिना । स्वस्वविधानतः निजनिजवर्णाश्रमशाखाद्याचारानुसारेण ॥२६२

बुधगण कहते हैं,—अरुणोदय के समय जो व्यक्ति स्नान करता है, वह प्राजापत्य व्रत के समान फल भागी होता है, उसके समस्त पाप विनष्ट होते हैं। प्रातःस्नान, पातक, अलक्ष्मी, ग्लानि, अशुचित्व, एवं दुःस्वप्न विनाशक है, तुष्टि पुष्टि विधायक भी है। प्रातःस्नान इस जगत् में परजगत् में मङ्गलदायक है, तज्जन्य प्रातःस्नान अवश्य करे ॥२५६-२६०॥

इस प्रकरण में स्नान एवं प्रातःस्नान का विधान लिखित हुआ है, उभय स्नान यद्यपि एकरूप ही है, तथापि साधारण स्नान की अपेक्षा प्रातःस्नान की महिमा अधिक है। अतएव सामान्य विशेष रूप में उभय का भेद जानना होगा ॥२६१॥

अथ स्नानविधिः

अनन्तर तीर्थ अर्थात् जलाशय में जाकर धौत वसन, कुश, मृत्तिका जलाशय के तटपर रखकर निज निज वर्ण आश्रम एवं शाखादि के विधानानुसार स्नान करे ॥२६२॥

अधौतवसन परिधान करके नित्यनैमित्तिक क्रिया का अनुष्ठान करने से फललाभ नहीं होता है ॥२६३॥

हस्त-पद प्रक्षालन पूर्वक आचमन करके सादर सङ्कल्प करके गङ्गादि तीर्थ का स्मरण पूर्वक अर्घ्य प्रदान करे ॥२६४॥

"सागरस्वननिर्घोष दण्डहस्तासुरान्तक । जगत्स्रष्टर्जगन्मर्दिन् नमामि त्वां सुरेश्वर ॥" हे सागरध्वनि तुल्य घोर शब्दशालिन् ! हे दण्डहस्त ! हे असुरान्तक ! हे जगत्सृष्टिकारिन् ! हे जगद्विनाशकारिन् ! हे देवेश ! आप को नमस्कार। उक्त मन्त्रोच्चारण पूर्वक तीर्थ स्नान करे। इसके अन्यथा होने से

नत्वाथ तीर्थं स्नानार्थमनुज्ञां प्रार्थयेदिमाम् । देवदेव जगन्नाथ शङ्खचक्रगदाधर ।
देहि विष्णो ममानुज्ञां तव तीर्थनिषेवणे ॥२६७॥ इति ।
विधिवन्मृदमादाय तीर्थतोये प्रविश्य च ।
प्रवाहाभिमुखो नद्यां स्यादन्यत्रार्कसम्मुखः ॥२६८॥
दिग्बन्धं विधिनाचर्य्य तीर्थानि परिकल्प्य च ।
आवाहयेद्भगवतीं गङ्गामादित्यमण्डलात् ॥२६९॥
दर्भपाणिः कृतप्राणायामः कृष्णपदाम्बुजम् ।
ध्यात्वा तन्नाम संकीर्त्य निमज्जेत् पुण्यवारिणि ॥२७०॥
आचम्य मूलमन्त्रञ्च सप्राणायामकं जपन् ।
कृष्णं ध्यायन् जले भूयो निमज्य स्नानमाचरेत् ॥२७१॥
कृत्वाघमर्षणान्तञ्च नामभिः केशवादिभिः ।
तत्र द्वादशधा तोये निमज्य स्नानमाचरेत् ॥२७२॥

तत्र विशेषः

श्रीनारदपञ्चरात्रे—

प्रसिद्धेषु च तीर्थेषु यद्यन्यस्याभिधां स्मरेत् ।
स्नातकं तन्तु तत्तीर्थमभिशप्य क्षणाद्व्रजेत् ॥२७३॥ इति ।

इति वैदिकतान्त्रिकमिश्रितो विधिः ।

अन्यत्र नदीप्रवाहव्यतिरिक्ते ॥२६८॥

अन्यस्य तीर्थस्याभिधां नाम, क्षणात् सद्य एवेत्यर्थः । अतोऽप्रसिद्धतीर्थेषु विष्णुतीर्थमिति प्रसिद्धेषु च

तीर्थाधिपति स्वयं तीर्थ स्नान का अर्द्धफल ग्रहण करते हैं। तत् पश्चात् नमस्कार करके तीर्थ में स्नान करने के निमित्त निम्नोक्त विधानानुसार अनुमति प्रार्थना करे। "देवदेव जगन्नाथ ! शङ्खचक्रगदाधर! देहि विष्णो ममानुज्ञां तव तीर्थनिषेवणे ॥" हे देवदेव ! हे जगन्नाथ ! हे शङ्खचक्रगदाधर ! हे विष्णो! आपकी तीर्थसेवा करने के लिए मुझे अनुमति प्रदान करें ॥२६५-२६७॥

तत् पश्चात् यथाविधि शरीर में मृत्तिका लेपनपूर्वक तीर्थ जल में प्रविष्ट होकर नदी के स्रोताभिमुखी होकर अवस्थान करे, नदी भिन्न जलाशय में सूर्य्याभिमुखी होना आवश्यक है ॥२६८॥

यथाविधि दिग्बन्धन करके तीर्थसमूह की कल्पना पूर्वक सूर्य्यमण्डल से भगवती गङ्गा का आवाहन करे। हस्त में कुश ग्रहण पूर्वक प्राणायाम करके श्रीकृष्ण के चरणकमल का ध्यान एवं उनका नाम कीर्त्तन करके पवित्र जल में अवगाहन करे। पश्चात् आचमन एवं प्राणायाम के सहित मूलमन्त्रोच्चारण करते करते श्रीकृष्ण का ध्यान करके पुनर्बार सलिल में स्वयं को निमग्न करके स्नान करे। तदनन्तर— केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, नाम कीर्त्तन के सहित अघमर्षण पर्य्यन्त समस्त कार्य्य सम्पादन करतः उक्त सलिल में निमग्न होकर द्वादशबार स्नान करे ॥२६९-२७२॥

अथ विशेषः

स्नान सम्बन्धीय विशेष विधि। श्रीनारदपञ्चरात्र में उक्त है—प्रसिद्ध तीर्थसमूह में अन्य तीर्थ

अथ तत्रैव विशेषः

पाद्मे, वैशाखमाहात्म्ये श्रीनारदाम्बरीषसंवादे—

एवमुच्चार्य्य तत्तीर्थे पादौ प्रक्षाल्य वाग्यतः। स्मरन्नारायणं देवं स्नानं कुर्य्याद्विधानतः ॥२७४॥

तीर्थं प्रकल्पयेद्धीमान् मूलमन्त्रमिमं पठन्। ॐ नमो नारायणायेति मूलमन्त्र उदाहृतः ॥२७५॥

दर्भपाणिस्तु विधिवदाचान्तः प्रणतो भुवि। चतुर्हस्तसमायुक्तं चतुरस्रं समन्ततः ॥२७६॥

प्रकल्प्यावाहयेद्गङ्गां मन्त्रेणानेन मानवः। विष्णुपादप्रसूताऽसि वैष्णवी विष्णुदेवता।

त्राहि नस्त्वेनसस्तस्मादाजन्ममरणान्तिकात् ॥२७७॥ इत्यादि।

सप्तवाराभिजप्तन्तु करसंपुटयोजितम्। मूर्ध्नि कृत्वा जलं भूयश्चतुर्वा पञ्च सप्त वा।

स्नानं कुर्य्यान्मृदा तद्वदामन्त्र्य तु विधानतः ॥२७८॥

अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।

मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ॥२७९॥

उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।

नमस्ते सर्वभूतानां प्रभवारिणि सुव्रते ॥२८०॥ इति।

तत्तन्नामैव स्मरेदित्यर्थः। अतएव निमज्जनात् प्राक् मृद्ग्रहणं तथाघमर्षणादिकञ्च वैदिकं तान्त्रिकञ्च कृष्णध्यानादिकं मूलमन्त्रजपनं केशवादिनामभिर्द्वादशवारनिमज्जनादिकञ्चेत्येवं मिश्रितं विवेचनीयम् ॥२७३॥

एवं विमिश्रितस्नानविधिं लिखित्वा इदानीं तत्रैव तीर्थकल्पनादौ पुराणोक्तं किञ्चिद्विशेषं लिखति— एवमित्यादिना। देवदेव जगन्नाथ इत्यादिकमेतदुच्चार्य्य उक्तेन मूलमन्त्रेणैव सप्तवारान् यदभिजप्तमभिमन्त्रितं जलं तत्; तृतीयान्तपाठे भावे क्त-प्रत्ययः। मृद्ग्रहणानन्तरं पुनःस्नानादिकन्तु समानमेवेति विशेषेण तत्र लिखितम् ॥२७४-२८०॥

का आवाहन करने से वह तीर्थ स्नानकारी को शाप देकर अन्तर्धान हो जाता है। उक्त स्नान विधिसमूह में वैदिक एवं तान्त्रिक विधान मिश्रित है, अर्थात् मृत्तिकाग्रहण, अघमर्षणादि कर्म वैदिक विधि है, एवं श्रीकृष्ण नामोच्चारण ध्यानादि तान्त्रिक विधि है ॥२७३॥

अथ तत्रैव विशेषः

विमिश्रित स्नानविधि लिखने के बाद पुराणोक्त विशेष विधि का उल्लेख करते हैं। श्रीभगवन्नाम उच्चारणपूर्वक उक्त तीर्थ में वाक् संयम करके पादद्वय प्रक्षालन पूर्वक श्रीनारायण का स्मरण करते करते यथाविधि अवगाहन स्नान करे। बुद्धिमान् व्यक्ति,—उदाहृत "ओं नमो नारायणाय" मूलमन्त्र पाठ करते करते तीर्थ की कल्पना करें। हस्त में कुश ग्रहणपूर्वक विधिवत् आचमन करके पृथिवी को प्रणाम करे। पश्चात्— चतुर्दिक में चार हाथ के बराबर चतुष्कोण निर्माण करके मन्त्र के द्वारा गङ्गा का आवाहन करे। मन्त्र—"विष्णुपादप्रसूतासि वैष्णवी विष्णुदेवता। त्राहि नस्त्वेनसस्तस्मात् आजन्ममरणान्तिकात् ॥" हे गङ्गे! तुम विष्णुचरणों से उत्पन्न हो, विष्णुशक्ति तुम हो, तुम्हारे देवता श्रीविष्णु हैं। जन्म से मृत्यु पर्य्यन्त अनुष्ठित पापराशि से मुझे मुक्त करो। अनन्तर अञ्जलि में जल लेकर पूर्वोक्त "देवदेव इत्यादि मन्त्र जप पूर्वक चार पाँच अथवा सातबार उक्त अञ्जलिस्थ जल स्वीय मस्तक में देकर पुनर्बार स्नान करे। विधानानुसार आवाहन करके मृत्तिका ग्रहण करके भी उक्त रूप अनुष्ठान करे। "हे वसुन्धरे! हे अश्वक्रान्ते! हे रथक्रान्ते! हे विष्णुक्रान्ते! हे मृत्तिके! मैंने जो कुछ पाप किया है,

गुरोः सन्निहितस्याथ पित्रोश्च चरणोदकैः ।
विप्राणाञ्च पदाम्भोभिः कुर्य्यान्मूर्द्धन्यभिषेचनम् ॥२८१॥

तथा च पाद्मे—

गुरोः पादोदकं पुत्र तीर्थकोटिफलप्रदम् ॥२८२॥

किञ्च—

विप्रपादोदकक्लिन्नं यस्य तिष्ठति वै शिरः । तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि जायते ॥२८३॥

तथा गौतमीयतन्त्रे—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे ।
ससागराणि तीर्थानि पादे विप्रस्य दक्षिणे ॥२८४॥ इति ।
शङ्खे वसन्ति सर्वाणि तीर्थानि च विशेषतः ।
शङ्खेन मूलमन्त्रेणाभिषेकं पुनराचरेत् ॥२८५॥
तथैव तुलसीमिश्रशालग्रामशिलाम्भसा ।
अभिषेकं विदध्याच्च पीत्वा तत् किञ्चिदग्रतः ॥२८६॥

तदुक्तं गौतमीयतन्त्रे—

शालग्रामशिलातोयं तुलसीगन्धमिश्रितम् । कृत्वा शङ्खे भ्रामयंस्त्रिः प्रक्षिपेन्निजमूर्द्धनि ॥२८७॥
शालग्रामशिलातोयमपीत्वा यस्तु मस्तके । प्रक्षेपणं प्रकुर्वीत ब्रह्महा स निगद्यते ॥२८८॥

सन्निहितस्येति—यदि तदानीं तत्र सन्निधौ गुर्वादयो वर्त्तेरन् तर्हीत्यर्थः ॥२८१॥
सर्वाणि तीर्थानि शङ्खे वसन्तीति हेतोः, पुनरभिषेकं शङ्खेन विशेषतः कुर्य्यात्, तच्च निजमूलमन्त्रेणैव ॥२८५॥
तत् श्रीशालग्रामशिलाम्भः किञ्चिदादौ पीत्वा प्राश्य ॥२८६॥

उससे मुझको मुक्त करो । हे सुव्रते ! शतबाहु वराहरूपधारी श्रीकृष्ण रसातल से तुम्हारा उद्धार किए हैं । समस्त भूतों के पुनर्जन्म का निर्द्धारण तुम ही करती हो । तुमको प्रणाम करता हूँ ।"२७४-२८०॥

अनन्तर गुरुजन समीप में अवस्थित होने से गुरु, जनक, जननी के पादोदक के द्वारा स्वीय मस्तक को अभिसिञ्चित करे ॥२८१॥

पद्मपुराण में उक्त है—हे पुत्र ! श्रीगुरुदेव का पादोदक कोटितीर्थ फलप्रद है ॥२८२॥

और भी वर्णित है—विप्र के चरणोदक के द्वारा जिस व्यक्ति का मस्तक अभिसिञ्चित होता है, उसका प्रतिदिन ही भागीरथी तीर्थ स्नान का फललाभ होता है ॥२८३॥

गौतमीयतन्त्र में वर्णित है—पृथिवी में जितने तीर्थ हैं, समस्त तीर्थ ही समुद्र में अधिष्ठित हैं, एवं समुद्र के सहित निखिल तीर्थ ब्राह्मण के दक्षिण चरण में अवस्थित हैं ॥२८४॥

विशेष कर शङ्ख में समस्त तीर्थ अवस्थित हैं, तज्जन्य मूलमन्त्रोच्चारण पूर्वक पुनर्बार शङ्खजल से स्नान करे ॥२८५॥

इस प्रकार शालग्राम शिला के तुलसी संयुक्त जल का कियदंश पान करने के पश्चात् मस्तक में प्रक्षेपण करे ॥२८६॥

गौतमीयतन्त्र में उक्त विषय का वर्णन है—शङ्ख में तुलसीगन्ध संयुक्त शालग्राम शिलाजल स्थापन पूर्वक तीनबार घुमाकर निज मस्तक में प्रक्षेप करे ॥२८७॥

शालग्राम शिला का जल पान न करके जो व्यक्ति निज मस्तक में प्रक्षेप करता है, वह ब्रह्मघाती

विष्णुपादोदकात् पूर्वं विप्रपादोदकं पिबेत् ।
विरुद्धमाचरन्मोहाद्ब्रह्महा स निगद्यते ॥२८६॥

श्रीचरणामृतधारणमन्त्रः

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा शिरसा धारयाम्यहम् ॥२६०॥ इति ।
लेख्योऽग्रे कृष्णपादाब्जतीर्थधारणपानयोः ।
महिमात्र तु तत्तीर्थेनाभिषेकस्य लिख्यते ॥२६१॥

अथ श्रीचरणोदकाभिषेकमाहात्म्यम्

पद्मपुराणे—

स स्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
शालग्रामशिलातोयैर्योऽभिषेकं समाचरेत् ॥२६२॥
गङ्गा गोदावरी रेवा नद्यो मुक्तिप्रदास्तु याः ।
निवसन्ति सतीर्थास्ताः शालग्रामशिलाजले ॥२६३॥
कोटितीर्थसहस्रैस्तु सेवितैः किं प्रयोजनम् ।
तीर्थं यदि भवेत् पुण्यं शालग्रामशिलोद्भवम् ॥२६४॥

कृष्णपादाब्जयोः तीर्थं स्नानोदकं, तस्य धारणं मूर्ध्नि ग्रहणं पानञ्च तयोः; तेन कृष्णपादाब्जस्नानोदकरूपेण तीर्थेन योऽभिषेकस्तस्य महिमा माहात्म्यम् अत्र अस्मिन् प्रसङ्गे लिख्यते ॥२६१॥

गङ्गागोदावरीत्यादिषु येषु श्लोकेष्वभिषेकशब्दो नास्ति, तेऽप्यत्र पादोदकाभिषेकमाहात्म्ये केचिल्लिखिताः, स्नाने तीर्थापेक्षया तेषु च श्लोकेषु पादोदकस्य तीर्थत्वाद्युक्तेरिति दिक् ॥२६३॥

कहलाता है। श्रीविष्णु पादोदक के प्रथम विप्रपादोदक पान करना विधेय है। मोहवशतः इसके अन्यथा करने से वह ब्रह्मघाती शब्द से अभिहित होता है ॥२८८-२८६॥

श्रीचरणामृतधारणमन्त्रः

श्रीचरणामृतधारण मन्त्र। जो अकालमृत्यु हरणकारी है, जिससे समस्त रोग विनष्ट होते हैं, मैं उक्त श्रीविष्णुपादोदक पान करके मस्तक में धारण करता हूँ ॥२६०॥

श्रीकृष्ण पद तीर्थ धारण एवं पान की महिमा का वर्णन उत्तर ग्रन्थ में होगा। सम्प्रति उक्त तीर्थ के द्वारा स्नान महिमा को लिखते हैं ॥२६१॥

अथ श्रीचरणोदकाभिषेकमाहात्म्यम्—

चरणोदकाभिषेकमाहात्म्य। पद्मपुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति शालग्रामशिला के जल द्वारा निज मस्तक को अभिषिक्त करता है, उसको सब तीर्थों में स्नानकारी एवं समस्त यज्ञों में दीक्षित जानना होगा ॥२६२॥

श्रीशालग्रामशिला तोय में, गङ्गा, गोदावरी, रेवा एवं मुक्तिप्रद नदीसमूह का निवास होता है ॥२६३॥
यदि शालग्रामशिला जल उपलब्ध होता है, तो सहस्रकोटि तीर्थस्नान की आवश्यकता नहीं होती है ॥२६४॥

तत्रैव श्रीगौतमाम्बरीषसंवादे—

येषां धौतानि गात्राणि हरेः पादोदकेन वै ।
अम्बरीष कुले तेषां दासोऽस्मि वशगः सदा ॥२९५॥
राजन्ते तानि तावच्च तीर्थानि भुवनत्रये ।
यावन्न प्राप्यते तोयं शालग्रामाभिषेकजम् ॥२९६॥

स्कान्दे कार्त्तिकमाहात्म्ये—

गृहेऽपि वसतस्तस्य गङ्गास्नानं दिने दिने । शालग्रामशिलातोयैर्योऽभिषिञ्चति मानवः ॥२९७॥

तत्रैवान्यत्र च—

यानि कानि च तीर्थानि ब्रह्माद्या देवतास्तथा ।
विष्णुपादोदकस्यैते कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥२९८॥

शालग्रामोद्भवो देवो देवो द्वारवतीभवः । उभयोः स्नानतोयेन ब्रह्महत्या निवर्त्तते ॥२९९॥

किञ्च—

स वै चावभृतस्नातः स च गङ्गाजलाप्लुतः ।
विष्णुपादोदकं कृत्वा शङ्खे यः स्नाति मानवः ॥३००॥

श्रीनृसिंहपुराणे—

गङ्गाप्रयागगयनैमिषपुष्कराणि, पुण्यानि यानि कुरुजाङ्गलयामुनानि ।
कालेन तीर्थसलिलानि पुनन्ति पापं, पादोदकं भगवतः प्रपुनाति सद्यः ॥३०१॥

स्मृतौ च—

त्रिरात्रिफलदा नद्यो याः काश्चिदसमुद्रगाः । समुद्रगाश्च पक्षस्य मासस्य सरितां पतिः ॥३०२॥

गौतमीय के अम्बरीष संवाद में वर्णित है—जिनका शरीर श्रीकृष्णचरणोदक के द्वारा अभिषिञ्चित है, मैं उनके वंश का सतत वशीभूत दास रूप में अवस्थित होता हूँ ॥२९५॥

यावत् पर्य्यन्त श्रीशालग्रामशिला का अभिषेक जल उपलब्ध नहीं होता है, तावत् पर्य्यन्त ही त्रिभुवन में समस्त तीर्थ निज निज महिमा को प्रकट करते हैं ॥२९६॥

स्कन्दपुराण के कार्त्तिकमाहात्म्य में उक्त है—जो मानव प्रत्यह शालग्रामशिला तोय के द्वारा अभिषिक्त होता है, वह गृह में अवस्थित होकर भी प्रतिदिन गङ्गास्नान का फललाभ करता है ॥२९७॥

उक्त ग्रन्थ के अन्यत्र वर्णित है—जो सब तीर्थ एवं ब्रह्मादि देववृन्द हैं, वे सब श्रीविष्णु चरणोदक के षोड़शांश के एकांश के तुल्य भी नहीं हैं। शालग्राम शिलोत्पन्न देव, एवं द्वारकोत्पन्न देव, एतदुभय के स्नानजल के द्वारा ब्रह्महत्या जनित पाप विनष्ट होता है ॥२९८-२९९॥

और भी कथित है—शङ्खस्थित श्रीविष्णु चरणोदक के द्वारा स्नात होने से यज्ञीय अवभृत स्नान, एवं गङ्गोदक द्वारा अभिषेक भी निष्पन्न होता है ॥३००॥

श्रीनृसिंहपुराण में उक्त है,—गङ्गा, प्रयाग, गया, नैमिष, पुष्कर, कुरुक्षेत्र प्रभृति तीर्थसमूह अत्यधिक समय में पाप नष्ट करते हैं, किन्तु श्रीभगवान् के चरणामृत क्षणमात्र में ही पवित्र करते हैं ॥३०१॥

स्मृति में लिखित है—समुद्र के सहित जिन नदीओं का संयोग नहीं है, उक्त नदीसमूह के जल में एकदिन स्नान करने से वे सब दिवसत्रय का स्नानफल प्रदान करते हैं। एवं जो सब नदी सागर में मिलित हैं,

षण्मासफलदा गोदा वत्सरस्य तु जाह्नवी । पादोदकं भगवतो द्वादशाब्दफलप्रदम् ॥३०३॥

तन्नित्यता

गरुड़पुराणे—

जलञ्च येषां तुलसीविमिश्रितं, पादोदकं चक्रशिलासमुद्भवम् ।
नित्यं त्रिसन्ध्यं प्लवते न गात्रं, खगेन्द्र ते धर्मबहिष्कृता नराः ॥३०४॥ इति ।
ततो जलाञ्जलीन् क्षिप्त्वा मूर्द्धिन त्रीन् कुम्भमुद्रया ।
मूलेनाथाविशेषेण कुर्य्याद्देवादितर्पणम् ॥२०५॥

अथ सामान्यतो देवादितर्पणम्

तच्च वैदिकेषु प्रसिद्धमेव—

ब्रह्मादयो ये देवास्तान् देवान् तर्पयामि, भूर्देवांस्तर्पयामि, भुवर्देवांस्तर्पयामि, स्वर्देवां-स्तर्पयामि, भूर्भुवःस्वर्देवांस्तर्पयामि ॥३०६॥ इत्यादि ।

चक्रशिला श्रीशालग्रामशिला श्रीद्वारकाचक्राङ्कशिला च तत् स्थानादुद्भूतं पादोदकञ्च, न प्लावते न स्नापयतीत्यर्थः ॥३०४॥

मूलमन्त्रेण कुम्भमुद्रया त्रीन् जलाञ्जलीन् निजमूर्ध्नि प्रक्षिप्य, अथानन्तरम् अविशेषेण सामान्यतो देवादितर्पणं कुर्य्यात् । आदिशब्देन ऋषीणां पितॄणाञ्च तत्तन्नामभिः; विशेषतो देवादितर्पणमग्रे लेख्यमेव । इत्यादीत्यादिशब्देन कृष्णद्वैपायनादयो ये ऋषयस्तानृषीन् तर्पयामि, भूर्ऋषींस्तर्पयामि, भुवर्ऋषींस्तर्पयामि, स्वर्ऋषीन् तर्पयामि भूर्भुवःस्वर्ऋषीं स्तर्पयामि । सोमः पितृमान् यमोऽङ्गिरोऽग्निष्वात्ताः कव्यवाहनादयो ये पितरस्तान् पितॄं स्तर्पयामीत्येवं पूर्ववत् ॥३०५-३०६॥

उन सब में स्नान करने से एक पक्ष का स्नान फललाभ होता है, सागर में एकदिन स्नान करने से मास व्यापी समुद्र स्नान का फल लाभ होता है। गोदावरी में एकदिन स्नान से छै मास का 'षण्मास कृत' स्नान फल लाभ होता है। गङ्गा में एकदिन स्नान करने से एक वत्सर का स्नान फल लाभ होता है। श्रीभगवान् के चरणामृत के द्वारा मस्तक अभिषिञ्चित होने से द्वादश वत्सर का स्नान फललाभ होता है ॥३०२-३०३॥

तन्नित्यता

श्रीकृष्णचरणोदक द्वारा स्नान की नित्यता। गरुड़पुराण में वर्णित है—हे पक्षिराज! जिसका मस्तक शालग्रामशिलोत्पन्न जल के द्वारा नित्य त्रिसन्ध्या अभिषिक्त नहीं होता है, वह धर्म से बहिर्भूत होता है ॥३०४॥

तदनन्तर मूलमन्त्र उच्चारण पूर्वक कुम्भ मुद्रा के द्वारा तीनबार निज मस्तक में जलाञ्जलि प्रदान पूर्वक सामान्य रूप से देवतर्पण करे। कुम्भमुद्रा—दक्षिण अङ्गुष्ठ के सहित वामाङ्गुष्ठ संलग्न करके हस्त द्वय का मुष्टि बन्धन इस प्रकार करे, जिससे मुष्टि के अभ्यन्तर खाली रहे ॥३०५॥

अथ सामान्यतो देवादितर्पणम्—

सामान्यतः देवादि तर्पण। उक्त देवादि तर्पण का प्रचलन वेद के अनुसार आचरण परायण में सुप्रसिद्ध है। यथा—ब्रह्मादि देवताओं का तर्पण करता हूँ, 'भुव' लोक के देवतासमूह का तर्पण करता हूँ। स्वर्गलोक के देनतावर्ग का तर्पण करता हूँ। भूर्भुवः स्वर्गलोक के देवतागण का तर्पण करता हूँ। इत्यादि रीति से तर्पण करे ॥३०६॥

आचम्याङ्गानि संमार्ज्य स्नानवस्त्रान्यवाससा ।
परिधायांशुके शुक्ले निविश्याचमनं चरेत् ॥३०७॥
विधिवत् तिलकं कृत्वा पुनश्चाचम्य वैष्णवः ।
विधाय वैदिकीं सन्ध्यामथोपासीत तान्त्रिकीम् ॥३०८॥

अथ वैदिकी सन्ध्या

कौर्मे तत्रैव—

प्राक्कूलेषु ततः स्थित्वा दर्भेषु सुसमाहितः ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा ध्यायेत् सन्ध्यामिति श्रुतिः ॥३०९॥

मनुस्मृति—

ब्राह्मणाः शाक्तिकाः सर्वे न शैवा न च वैष्णवाः ।
यत उपासते देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ॥३१०॥
या च सन्ध्या जगत्सूतिर्मायातीता हि निष्कला ।
ऐश्वरी केवला शक्तिस्तत्त्वत्रयसमुद्भवा ॥३११॥
ध्यात्वार्कमण्डलगतां सावित्रीं तां जपेद्बुधः ।
प्राङ्मुखः सततं विप्रः सन्ध्योपासनमाचरेत् ॥३१२॥

स्नानस्य यद्वस्त्रं यत् परिधाय स्नानं कृतं, तस्मादन्येन वाससा; एतेन स्नानशाट्यञ्चलेन पाणिना वा गात्रं न संमार्जयेदित्यर्थः। तथा च विष्णुपुराणे सदाचारकथने—'स्नातो नाङ्गानि मार्जेत स्नानशाट्या न पाणिना' इति ॥३०७॥

विधिवत्तत्तद्विधियुक्तं यथा स्यादिति सर्वत्रैवानुवर्त्तयितव्यम् ॥३०८॥

प्राक्कूलेषु प्रागग्रेष्वित्यर्थः ॥३०९॥

अनन्तर प्रथमतः आचमन करे, पश्चात् जिस वस्त्र पहनकर स्नान किया है, उससे भिन्न वस्त्र के द्वारा शरीर मार्जन करे, बाद में शुक्ल परिधेय वसन एवं उत्तरीय धारण कर उपवेशन करके आचमन करे। इससे प्रतीत होता है कि— स्नानीय वस्त्र के द्वारा अथवा हस्त के द्वारा शरीर मार्जन निषिद्ध है ।।३०७।।

वैष्णवीय विधानानुसार तिलक करके पुनर्बार आचमनपूर्वक यथाविधि वैदिकी सन्ध्या एवं तान्त्रिकी सन्ध्यानुष्ठान करे ।।३०८।।

अथ वैदिकी सन्ध्या

वैदिकी सन्ध्या। कूर्मपुराण की व्यासगीता में लिखित है,—तिलक आचमन के पश्चात् पूर्वाग्र कुश के ऊपर अचञ्चल चित्त से उपवेशन कर तीनबार प्राणायाम करके सन्ध्या करे। यह श्रुतिवाक्य है ।।३०९।।

मनुस्मृति में उक्त है—ब्राह्मण मात्र ही जब वेदमाता गायत्री का उपासक हैं, तब वे सब शैव एवं वैष्णव नहीं हैं। वे सब ही शाक्तिक होते हैं। जो सन्ध्या है, वह ही जगत् प्रसविनी, मायातीता, विशुद्धा, तत्त्वत्रय से उद्भूता अखण्डा ऐश्वरी शक्ति है। पण्डित व्यक्ति सूर्य्यमण्डलवर्त्तिनी गायत्री का ध्यान करके गायत्री जप करे। ब्राह्मण सर्वदा पूर्वमुख होकर सन्ध्यानुष्ठान करे ।।३१०-३१२।।

किञ्च—

सहस्रपरमां नित्यं शतमध्यां दशावराम्।
सावित्रीं वै जपेद्विद्वान् प्राङ्मुखः प्रयतः स्थितः ॥३१३॥

किञ्च—
सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत् कुरुते किञ्चिन्न तस्य फलमाप्नुयात् ॥३१४॥
योऽन्यत्र कुरुते यत्नं धर्मकार्य्ये द्विजोत्तमः।
विहाय सन्ध्याप्रणतिं स याति नरकायुतम् ॥३१५॥
अनन्यचेतसः शान्ता ब्राह्मणा वेदपारगाः।
उपास्य विधिवत् सन्ध्यां प्राप्ताः पूर्वे परां गतिम् ॥३१६॥

अथ तान्त्रिकी सन्ध्या

ततः संपूज्य सलिले निजां श्रीमन्त्रदेवताम्।
तर्पयेद्विधिना तस्य तथैवावरणानि च ॥३१७॥

तथा च बौधायनस्मृतौ—

हविषाग्नौ जले पुष्पैर्ध्यानेन हृदये हरिम्।
अर्चन्ति सूरयो नित्यं जपेन रविमण्डले ॥३१८॥

पाद्मे च तत्रैव—

सूर्य्ये चाभ्यर्हणं श्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ॥३१९॥

सहस्रं सहस्रवारजपः परमः, जपे श्रेष्ठपक्षो यस्या इति तथाभूतामित्यर्थः, एवमन्यदप्यूह्यम् ॥३१३॥
एवं सन्ध्योपासनस्य विधिं लिखित्वा नित्यताञ्च लिखति—सन्ध्याहीन इति द्वाभ्याम् ॥३१४॥
माहात्म्यं लिखति—अनन्येति ॥३१६॥
अर्चन्ति अर्चयन्ति ॥३१८॥

और भी कहा है—विद्वान् व्यक्ति पूर्वमुख होकर स्थिर चित्त से सहस्र, शत, दशबार जप करे। सहस्र बार जप उत्तम है, शतबार जप मध्यम है, एवं दशबार जप कनिष्ठ है ॥३१३॥

और भी कथित है—सन्ध्या आचरण विहीन व्यक्ति नित्य अपवित्र है, सुतरां उसके द्वारा अनुष्ठित कर्मों का फल उसे नहीं मिलता है, जो ब्राह्मण, सन्ध्या प्रणति का अनुष्ठान न करके धर्मकार्य्य का अनुष्ठान करता है, उसका अयुत संख्यक नरक गमन होता है ॥३१४-३१५॥

पूर्व काल में अनन्यचेताः शान्त, वेदपारग ब्राह्मणगण सन्ध्या उपासना के द्वारा ही श्रेष्ठ गति को प्राप्त किए हैं ॥३१६॥

अथ तान्त्रिकी सन्ध्या—

तान्त्रिकी सन्ध्या। अनन्तर सलिल में निज श्रीमन्त्र देवता की पूजा करके उनके आवरण देवताओं का तर्पण यथाविधि करे ॥३१७॥

बौधायन स्मृति में लिखित है—मनीषिगण अनल में—घृत के द्वारा, जल में—पुष्प के द्वारा, ध्यान के द्वारा—हृदय में, सूर्य्य मण्डल में—जप के द्वारा श्रीहरि की अर्चना करते हैं ॥३१८॥

पद्मपुराण में (व्यास अम्बरीष संवाद में) उक्त है,—सूर्य्य मण्डल में सम्यक् रूप में अर्चन एवं जल में

अथ तद्विधिः

मूलमन्त्रमथोच्चार्य्य ध्यायन् कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजे ।
श्रीकृष्णं तर्पयामीति त्रिः सम्यक् तर्पयेत् कृती ॥३२०॥

ध्यानोद्दिष्टस्वरूपाय सूर्य्यमण्डलवर्त्तिने । कृष्णाय कामगायत्र्या दद्यादर्घ्यमनन्तरम् ॥३२१॥

अथ कामगायत्री

श्रीसनत्कुमारकल्पे—

आदौ मन्मथमुद्धृत्य कामदेवपदं वदेत् । आयान्ते विद्महे पुष्पवाणायेति पदं वदेत् ।
धीमहीति तथोक्त्वाथ तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात् ॥३२२॥ इति ।
अथार्कमण्डले कृष्णं ध्यात्वैतां दशधा जपेत् ।
क्षमस्वेति तमुद्वास्य दद्यादर्घ्यं विवस्वते ॥३२३॥
विधिस्तान्त्रिकसन्ध्याया जलेऽर्च्चायाश्च कश्चन ।
योऽन्यो मन्येत सोऽप्यत्र तद्विशेषाय लिख्यते ॥३२४॥

मन्मथं कामवीजम् आदौ वदेत्, ततः कामदेवेति, ततः आयेति, तदन्ते विद्महे इति, ततः पुष्पवाणायेति, ततश्च धीमहीति, ततश्च तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयादिति वदेदित्यर्थः । 'क्लीं कामदेवाय विद्महे पुष्पवाणाय धीमहि तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्' इति भवति ॥३२२॥

एतां कामगायत्रीं दशधा दशवारान् जपन् सन्, तं कृष्णम् ॥३२३॥

तयोस्तान्त्रिकसन्ध्याजलार्चयोर्विधिविशेषज्ञापनायेत्यर्थः ॥३२४॥

जलादि के द्वारा अर्चन श्रेष्ठ है ॥३१९॥

अथ तद्विधिः

तान्त्रिकी सन्ध्या विधि । मूलमन्त्रोच्चारण पूर्वक श्रीकृष्णचरणारविन्द का ध्यान करके "श्रीकृष्णं तर्पयामीति" कहकर तीनबार पुण्यात्मा व्यक्ति तर्पण करे । पुनर्बार ध्यान के द्वारा जिनका स्वरूप कथित हुआ है, सूर्य्यमण्डल मध्यवर्त्ती उन श्रीकृष्ण को कामगायत्री उच्चारणपूर्वक अर्घ्य प्रदान करे ॥३२०-३२१॥

अथ कामगायत्री

कामगायत्री । श्रीसनत्कुमार कल्प में उक्त है,—सर्व प्रथम (मन्मथ) अर्थात् 'क्लीं' वीज उच्चारण करके 'कामदेव' पद का विन्यास करे । पश्चात् 'आय' 'विद्महे' 'पुष्पवाणाय' क्रमशः उच्चारण करे। अनन्तर 'धीमहि' 'तन्नोऽनङ्ग प्रचोदयात्' उच्चारण करे । "क्लीं कामदेवाय विद्महे पुष्पवाणाय धीमहि तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्" कामगायत्री होती है । कामदेव को जानता हूँ । अनङ्ग हमारे अन्तःकरण में उक्त परम अद्वय ज्ञानतत्त्व स्वरूप श्रीकृष्ण का प्रकाश करें ॥३२२॥

अनन्तर सूर्य्यमण्डल में श्रीकृष्ण का ध्यान करके उक्त कामगायत्री का जप दशबार करे । उसके बाद 'क्षमस्व' अर्थात् क्षमा करें । इस प्रकार कहकर जप समापनपूर्वक श्रीकृष्ण-सूर्य्य को अर्घ्य अर्पण करे ॥३२३॥

तान्त्रिकी सन्ध्या एवं जल में अर्पण—उभय की विशेष विधि अवगत करवाने के लिए विशेष रूप से लिखते हैं ॥३२४॥

अथ मतान्तरतान्त्रिकसन्ध्याविधिः

आदौ दक्षिणहस्तेन गृह्णीयाद्वारि वैष्णवः। ततो हृदयमन्त्रेण वामपाणितलेऽर्पयेत् ॥३२५॥
तदङ्गुलीविनिर्यातामभःकणैर्दक्षपाणिना। मस्तके नेत्रमन्त्रेण कुर्य्यात् संप्रोक्षणं ततः ॥३२६॥
शिष्टं तन्नास्त्रमन्त्रेणादायाम्भो दक्षपाणिना। अधःक्षिपेत पुनश्चैवमिति वारचतुष्टयम् ॥३२७॥
पुनर्हृदयमन्त्रेणादायाम्भो दक्षपाणिना। नासापुटेन वामेनाघ्रायान्येन विसर्जयेत् ॥३२८॥
अथाम्भोऽञ्जलिमादाय सूर्य्यमण्डलवर्त्तिने। अर्घ्यं गोपालगायत्र्या कृष्णाय त्रिर्निवेदयेत् ॥३२९॥

सा चोक्ता

ब्रूयाद्गोपीजनं ङेन्तं विद्महे इत्यतःपरम्। पुनर्गोपीजनं तद्वद्धीमहीति ततः परम्।
तन्नः कृष्ण इति प्रान्ते प्रपूर्वं चोदयादिति ॥३३०॥

अर्पयेत् न्यसेत् तद्वार्य्येव ॥३२५॥

तस्य वामपाणेरङ्गुलिभ्यो विनिर्यातैः विनिःसृतैः अम्भःकणैः जलविन्दुभिर्दक्षेण दक्षिणेन पाणिना, शिष्टम् अवशिष्टं यद्वामपाणितलस्थं तत्। इति वारचतुष्टयं कुर्य्यादित्यर्थः ॥३२६-३२७॥

पुनः अम्भो जलं दक्षपाणिना आदाय गृहीत्वा, वामेन नासापुटेनाघ्रायेति आघ्राणेनान्तर्गतदोषं प्रक्षाल्य, अन्येन दक्षिणेन नासापुटेन निःसार्य्य विसृजेदित्यर्थः ॥३२८॥

ङे इति चतुर्थ्येकवचनम् अन्ते यस्य तं गोपीजनं, तद्वच्चतुर्थ्यन्तमित्यर्थः। प्रान्ते सर्वशेषे प्रशब्दपूर्वकं चोदयादिति ब्रूयात्; ततश्चैवं स्यात्—गोपीजनाय विद्महे गोपीजनाय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयादिति ॥३३०

अथ मतान्तरतान्त्रिकसन्ध्याविधिः

मतान्तर में तान्त्रिक सन्ध्याविधि। वैष्णव—प्रथम दक्षिणहस्त में जल ग्रहण करके हृदयमन्त्र (नमः) उच्चारण पूर्वक उक्त जल वाम करतल में अर्पण करे ॥३२५॥

अनन्तर नेत्र मन्त्र (वौषट) उच्चारण पूर्वक उक्त वाम हस्त की अङ्गुलि के मध्य में विनिर्गत जल कणा समूह का धारण दक्षिण हस्त के द्वारा करके मस्तक में प्रक्षेप करे। अवशिष्ट उक्त जल का क्षेपण, अस्त्र मन्त्र (फट्) उच्चारण पूर्वक दक्षिण हस्त के द्वारा निम्न भूमि में करे। उक्त रीति का आचरण चारबार करना पड़ता है ॥३२६-३२७॥

पुनर्बार हृदय मन्त्र उच्चारण पूर्वक दक्षिण हस्त में जल ग्रहण करके वाम नासारन्ध्र द्वारा आकर्षण पूर्वक दक्षिण नासारन्ध्र के द्वारा परित्याग करे ॥३२८॥

अनन्तर जलाञ्जलि ग्रहणपूर्वक गोपालगायत्री उच्चारण पूर्वक सूर्य्यमण्डलवर्त्ती श्रीकृष्ण को बारत्रय अर्घ्य प्रदान करे ॥३२९॥

सा चोक्ता

वर्णिता गोपालगायत्री। 'गोपीजन' शब्द को चतुर्थ्यन्त करके उच्चारण करे। अनन्तर 'विद्महे' पद का उच्चारण करे, तत् पश्चात् पुनर्बार 'गोपीजन' चतुर्थ्यन्त पद का अनुसन्धान करे। अनन्तर 'धीमहि' पद, पश्चात् 'तन्नः कृष्णः' अवशेष में प्रचोदयात् पद का प्रयोग करे। सुतरां सम्पूर्ण गोपाल गायत्री का स्वरूप—"गोपीजनाय विद्महे, गोपीजनाय धीमहि, तन्नः कृष्णः प्रचोदयात्।" अर्थ—हम सब गोपीजन को अवगत होते हैं, गोपीजन का ध्यान करते हैं, कृष्ण हम सबके अन्तःकरण में परमतत्त्व को प्रेरित करें ॥३३०॥

मूर्ध्नि न्यसेत्तदङ्गानि ललाटे नेत्रयोर्द्वयोः ।
भुजयोः पादयोश्चैव सर्वाङ्गेषु तथा क्रमात् ॥३३१॥

तानि चोक्तानि—

पञ्चभिश्च त्रिभिश्चैव पञ्चभिश्च त्रिभिः पुनः ।
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च कुर्य्यादङ्गानि वर्णकैः ॥३३२॥ इति ।
रासक्रीड़ारतं कृष्णं ध्यात्वा चादित्यमण्डले ।
तत्सम्मुखोत्क्षिप्तभुजो गायत्रीं तां जपेत् क्षणम् ॥३३३॥

अथ तत्र जले श्रीभगवत्पूजाविधिः

अङ्गन्यासं स्वमन्त्रेण कृत्वाथाब्जं जलान्तरे ।
सञ्चिन्त्य पीठमन्त्रेण तर्पयेच्च सकृत् सकृत् ॥३३४॥
तस्मिंश्च कृष्णमावाह्य सकलीकृत्य मानसान् ।
पञ्चोपचारान् दत्त्वाप्सु धेनुमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥३३५॥
तज्जलं चामृतं ध्यात्वा स्वमन्त्रेणाभिमन्त्र्य च ।
अष्टोत्तरशतं कृष्णोत्तमाङ्गे तर्पयेत् कृती ॥३३६॥

तस्या गोपालगायत्र्याः, अङ्गानि षट् मूर्द्धादिषट्स्थानेषु क्रमान्न्यसेदित्यर्थः ॥३३१॥
अङ्गान्येव विभज्य दर्शयति—पञ्चभिरिति ; वर्णकैर्वर्णैः, स्वार्थे कः ॥३३२॥
तस्य आदित्यमण्डलस्य सम्मुखे अभिमुखे उत्क्षिप्तौ भुजौ येन तथाभूतः सन् ॥३३३॥
एतस्मिन् अब्जे, मानसान् मनःकल्पितान् गन्धादीन् पञ्चोपचारान् ॥३३५॥

उसके बाद क्रमानुसार गोपालगायत्री के अङ्गसमूह का न्यास षड़ङ्ग में करे। अर्थात् मस्तक, ललाट, चक्षुःद्वय, बाहुद्वय, चरणद्वय, एवं सर्वाङ्ग ये छै अङ्ग हैं ॥३३१॥

गोपालगायत्री का षड़ङ्ग इस प्रकार हैं—पाँच, तीन, पाँच तीन चार चार वर्णों के द्वारा अङ्गन्यास करें। पाँच (गोपीजनाय) २ तीन 'विद्महे' ३। पाँच (गोपीजनाय) २। तीन 'धीमहि' ५। चार (तन्नः कृष्णः) ६, चार (प्रचोदयात्)। न्यास का क्रम,—शिरोदेश में 'गोपीजनाय' ललाट में 'विद्महे' नेत्रद्वय में 'गोपीजनाय' बाहुद्वय में 'धीमहि' पदद्वय में 'तन्नः कृष्णः' एवं सर्वाङ्ग में 'प्रचोदयात्' इस प्रकार न्यास करे ॥३३२॥

अनन्तर सूर्य्यमण्डल के मध्य में रासक्रीड़ारत श्रीकृष्ण की चिन्ता करके सम्मुख में बाहुद्वय उत्तोलन पूर्वक क्षणकाल उक्त गायत्री का जप करे ॥३३३॥

अथ तत्र जले श्रीभगवत्पूजाविधिः

उक्त ग्रन्थ में वर्णित—जल में श्रीभगवत् पूजाविधि। मूल मन्त्र से अङ्गन्यास करके जल के मध्य में पद्म की चिन्ता करे। पीठ मन्त्रोच्चारण पूर्वक एक एक बार तर्पण करे। उसके बाद उस पद्म के मध्य में श्रीकृष्ण का आवाहन करके छह अङ्गों में षड़ङ्ग न्यास करे, पश्चात् मनः कल्पित गन्धादि उपचार पञ्चक के द्वारा जल में तर्पण करके धेनुमुद्रा का प्रदर्शन करे। धेनु मुद्रा—हस्तद्वय के कनिष्ठा अनामिका, तर्जनि मध्यमा, अङ्गुलि चतुष्टय को परस्पर सम्मुखीन करके संलग्न करने का नाम धेनुमुद्रा है ॥३३४-३३५॥

कृति व्यक्ति उक्त जल को अमृत मानकर तदुपरि निज इष्टमन्त्र का जप करके श्रीकृष्ण के शिरोदेश में

ततश्च मूलमन्त्रेण वारान् वै पञ्चविंशतिम् । अभिजप्तेनोदकेनाचमनं विधिना चरेत् ॥३३७॥

अथ विशेषतो देवादितर्पणम्

पाद्मे तत्रैव—

ब्रह्माणं तर्पयेत् पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिम् ।
देवा यक्षास्तथा नागा गन्धर्बाप्सरसोऽसुराः ॥३३८॥
क्रूराः सर्पाः सुपर्णाश्च तरवो जिह्मगाः खगाः ।
विद्याधरा जलाधारास्तथैवाकाशगामिनः ॥३३९॥
निराहाराश्च ये जीवाः पापकर्मरताश्च ये ।
तेषामाप्यायनायैतत् दीयते सलिलं मया ॥३४०॥
कृतोपवीती देवे तु निवीती च भवेन्नरः ।
मानुषांस्तर्पयेद्भक्त्या ऋषिपुत्रान् ऋषींस्तथा ॥३४१॥
ॐ सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः । कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ।
सर्वे ते तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुना सदा ॥३४२॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् । प्रचेतसं वशिष्ठञ्च भृगुं नारदमेव च ।
देवब्रह्मऋषीन् सर्वांस्तर्पयेदक्षतोदकैः ॥३४३॥
अपसव्यं ततः कुर्य्यात् सव्यं जानु च भूतले ।
अग्निष्वात्तास्तथा सौम्या वर्हिष्मन्तस्तथोष्मपाः ॥३४४॥

अमृतरूपं चिन्तयित्वा, कृतीत्यनेन आवरणतर्पणादिकमुद्वासनञ्च पूर्वानुसारेण कुर्य्यादेवेति बोध्यते ॥३३६॥

अष्टोत्तरशतबार तर्पण करे। पश्चात् जल के उपरिभाग में मूलमन्त्र का जप पञ्चविंशति बार करके उक्त जल के द्वारा पूर्वोक्त विधान से आचमन करे। अर्थात् आवरण-तर्पण उद्वासन प्रभृति का अनुष्ठान भी करे ॥३३६-३३७॥

अथ विशेषतो देवादितर्पणम्—

विशेष प्रकार देवतर्पणादि। पद्मपुराणस्थ श्रीव्यास अम्बरीष संवाद में वर्णित है—प्रथम विष्णु, रुद्र, प्रजापति का तर्पण करके पश्चात्—यक्ष, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, क्रूरसर्ग, सुपर्ण, तरु, कुटिल जीवगण, विहगगण, विद्याधर, जलाधार समूह, आकाशचारी जीवगण, निराहारिगण, पापकर्मरत व्यक्तिगण हैं, मैं उन सबके तृप्तिविधान के निमित्त जल प्रदान कर रहा हूँ। देवतर्पण में यज्ञसूत्रादि के द्वारा वामस्कन्ध में उत्तरीय धारण, एवं अन्य तर्पणादि में कण्ठलम्बित उत्तरीय धारण विहित है, भक्तिमान् होकर मनुष्य, ऋषिपुत्र, ऋषिसमूह का तर्पण करे। अतःपर सनक, सनन्द, तृतीय सनातन, कपिल, आसुरि, वोढ़, पञ्चशिख—मद्दत्त जल के द्वारा तुष्टि लाभ करें। कहकर तर्पण करे। तत्पश्चात् यवोदक के द्वारा मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु, नारद, एवं देवर्षि, ब्रह्मर्षिगणों का तर्पण करना आवश्यक है। अतःपर दक्षिण स्कन्ध में यज्ञोपवीत धारणपूर्वक वाम जानु भूतल में स्थापन पूर्वक तिल के सहित जल, चन्दन द्वारा पितृभक्ति के अनुसार अग्निष्वात्त, सौम्य, वर्हिष्मान्, उष्मप,

कव्यानलौ वर्हिषदस्तथा चैवाज्यपाः पुनः। तर्पयेत् पितृभक्त्या च सतिलोदकचन्दनैः ॥३४५॥
यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च। वैवस्वताय कालाय सर्वभूताक्षयाय च ॥३४६॥
औड़ुम्वराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने। वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नमः ॥३४७॥

दर्भपाणिः सुप्रयतः पितॄन् स्वान् तर्पयेत्ततः ॥३४८॥
पित्रादीन् नामगोत्रेण तथा मातामहानपि।
सन्तर्प्य विधिना सर्वानिमं मन्त्रमुदीरयेत् ॥३४९॥
येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिलां यान्तु ये चास्मत्तोयकाङ्क्षिणः ॥३५०॥ इति।

सन्ध्योपासनतः पूर्वं केचिद्देवादितर्पणम्। मन्यन्ते सकृदेवेदं पुराणोक्तानुसारतः ॥३५१॥

तथा च पाद्मे, स्नाने मृद्ग्रहणानन्तरम्—

एवं स्नात्वा ततः पश्चादाचम्य सुविधानतः।
उत्थाय वाससी शुक्ले शुद्धे तु परिधाय वै।
ततस्तु तर्पणं कुर्य्यात् त्रैलोक्याप्यायनाय वै ॥३५२॥

इदं तत्तन्नामभिर्विशेषतो देवादितर्पणं, तच्च सकृदेव मन्यन्ते, न तु सामान्यविशेषाभ्यां वारद्वयमित्यर्थः। कुतः? पुराणानि पाद्मकौर्मादीनि, तदुक्तानुसारात् ॥३५१॥

ततस्तु तर्पणं कुर्य्यादिति सामान्यतस्तर्पणं न स्यात्, तन्निरन्तरमेव ब्रह्माणमित्यादिविशेषोक्तेः। तथा कौर्मेऽपि —'स्नात्वा सन्तर्पयेद्देवान् ऋषीन् पितृगणांस्तथा। आचम्य मन्त्रवन्नित्यं पुनराचम्य वाग्यतः॥ संमार्ज्य मन्त्रैरात्मानं कुशैः सोदकविन्दुभिः। आपोहिष्ठा व्याहृतिभिः सावित्र्या वारुणैः शुभैः॥ ॐकारव्याहृतियुतां गायत्रीं वेदमातरम्। जप्त्वा जलाञ्जलिं दद्यात् भास्करं प्रति तन्मनाः॥' इति। भास्करोपस्थानञ्च सन्ध्योपासनानन्तरम्; अथोपतिष्ठेदादित्यमुदयन्तं समाहितः', इत्यादिना तत्रैवोक्तमस्ति; एवं मतभेदः शाखादिभेदेनोक्तः ॥३५२॥

कव्यानल, वर्हिषद्—आज्यपनामा पितृवर्ग का तर्पण करना कर्त्तव्य है। तत्पश्चात् यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल, सर्वभूत क्षय, औड़ुम्वर, दध्न, नील, परमेष्ठि, वृकोदर, चित्र, चित्रगुप्त, इन सब का तर्पण करे। पश्चात् यत्नपूर्वक दर्भपाणि होकर निज पितृवर्ग का तर्पण करे। पितृ प्रभृति के मातामहादि के नाम गोत्र का उल्लेख करके यथाविधि तर्पण पूर्वक मूलोक्त "येऽबान्धवा बान्धवा वा...... चास्मत्तोयकाङ्क्षिणः" इस मन्त्र का पाठ करे। मन्त्रार्थ— जो सब अबान्धव, बान्धव, जो सब जन्मान्तर में बान्धव थे, एवं जो सब मेरे से जल प्राप्त करने के अभिलाषी हैं, वे सब प्रीति लाभ करें ॥३३८-३५०॥

कूर्मपुराण के अनुसार कतिपय धीमान् व्यक्ति सन्ध्योपासना के पूर्व में एकबार मात्र देवादि तर्पण का विधान प्रदान करते हैं ॥३५१॥

उक्त उक्ति के समर्थन में पद्मपुराण कहते हैं,—स्नान प्रकरण में मृत्तिका ग्रहण के पश्चात् इस प्रकार स्नान के अनन्तर यथाविधि आचमन करके जल से उठकर विशुद्ध शुभ्र वस्त्र एवं उत्तरीय धारणपूर्वक त्रिभुवन तृप्त्यर्थ तर्पण करे ॥३५२॥

अतएव श्रीरामार्चनचन्द्रिकायाम्—

निष्पीड़यित्वा वस्त्रन्तु पश्चात् सन्ध्यां समाचरेत् ।
अन्यथा कुरुते यस्तु स्नानं तस्याफलं भवेत् ॥३५३॥

किञ्च—

वस्त्रं त्रिगुणितं यस्तु निष्पीड़यति मूढ़धीः ।
वृथा स्नानं भवेत्तस्य निष्पीड़यति चाम्बुनि ॥३५४॥

अथ स्नानादौ सद्भावापेक्षा

काशीखण्डे—

अपि सर्वनदीतोयैर्मृत्कूटैश्चाथ गोरसैः ।
आपातमाचरेच्छौचं भावदुष्टो न शुद्धिभाक् ॥३५५॥
नक्तं दिनं निमज्ज्याप्सु कैवर्त्ताः किमु पावनाः ।
शतशोऽपि तथा स्नाता न शुद्धा भावदूषिताः ॥३५६॥

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये श्रीनारदाम्बरीषसंवादे—

पुण्येन गाङ्गेन जलेन काले, देशेऽपि यः स्नानपरः कथञ्चित् ।
आजन्मनो भावहतोऽपि दाता, न शुध्यतीत्येव मतं ममैतत् ॥३५७॥
प्रज्वाल्य वह्निं घृततैलसिक्तं, प्रदक्षिणावर्त्तशिखं स्वकाले ।
प्रविश्य दग्धः किल भावदुष्टो, न स्वर्गमाप्नोति फलं न चान्यत् ॥३५८॥

निष्पीड़यित्वेत्यार्षं निष्पीड्य ॥३५३॥
प्रसङ्गाद्वस्त्रनिष्पीड़ने विधिविशेषं श्रीरामार्चनचन्द्रिकोक्तमेव लिखति—वस्त्रमिति ॥३५४॥
आपातम् मरणपर्य्यन्तमाचरन्नपि, भावदुष्टो नास्तिक इत्यर्थः ॥३५५॥

श्रीरामार्चन चन्द्रिका में वर्णित है—प्रथम वस्त्र निपीड़न करके पश्चात् सन्ध्या वन्दन करे, इसकी अन्यथा करने से स्नान निष्फल होता है ॥३५३॥

वर्णित है—जो मन्दमति व्यक्ति वस्त्र को त्रिगुण करके एकत्र निष्पीड़न करता है, किम्वा जल के मध्य में वस्त्र को निचोड़ता है, उसका स्नान निष्फल होता है ॥३५४॥

अथ स्नानादौ सद्भावापेक्षा—

स्नानादि में सद्भावादि की अपेक्षा है। काशीखण्ड में वर्णित है—जो व्यक्ति नास्तिक अर्थात् ईश्वरीय अनुशासनरूप शास्त्रोपदेश को हृदय से नहीं मानता है, वह आमरण काल पर्य्यन्त भी समस्त नदी जल, मृत्तिकाराशि एवं गोमय के द्वारा शुद्धि विधान करने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता है। केवट, कैवर्त्तगण, मत्स्य पकड़ने के लिए निरन्तर जल में मज्जित होकर रहते हैं, उससे क्या वे सब पवित्र हो जाते हैं? तद्रूप भावदूषित अर्थात् नास्तिकगण शत-शतबार स्नान करने पर भी पवित्र नहीं हो सकते हैं ॥३५५-३५६॥

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में नारद-अम्बरीष संवाद में वर्णित है—जो व्यक्ति जन्मतः नास्तिक है, पवित्र समय में, पुण्य क्षेत्र में, पवित्र जाह्नवी जल में अवगाहन स्नान करके भी पवित्र नहीं होता है। एवं दानशील होने पर भी पवित्र नहीं होता है, यह मत मेरा है। नास्तिक व्यक्ति आसन्न मृत्यु के समय घृत तैल सिक्त अग्नि प्रज्ज्वलित करके उक्त शिखा की प्रदक्षिणा करके उसमें प्रविष्ट होकर दग्ध होने पर भी

अतएव भविष्योत्तरे—

यस्य हस्तौ च पादौ च वाङ्मनश्च सुसंयतम् ।
विद्यातपश्च कीर्त्तिश्च स तीर्थफलमाप्नुयात् ॥३५९॥
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः ।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः ॥३६०॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे शौचीयो नाम तृतीयो विलासः ।

यस्येति—हस्तादिसंयमेन तीर्थे पापानुत्पत्तेः विद्यादिना च श्रद्धाविशेषाद्युत्पत्तेर्यथोक्तफललाभः स्यादित्यर्थः ॥३५९॥

इति तृतीयो विलासः

स्वर्ग प्राप्त नहीं कर सकता है, एवं अपर किसी प्रकार उत्तम फललाभ भी नहीं कर सकता है ॥३५७-३५८॥

भविष्यपुराण के उत्तरखण्ड में वर्णित है—जिसके करद्वय, चरणद्वय, वाक्य, मन सुन्दर रूप से वशीभूत हैं, एवं जिनकी विद्या, तपः एवं कीर्त्ति है, वे ही तीर्थ फल प्राप्त करते हैं। श्रद्धाशून्य, पापी, नास्तिक, सन्दिग्ध चित्त, कुतर्कनिष्ठ, पञ्चविध जन तीर्थफल प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं ॥३५९-३६०॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे
शौचीयो नाम तृतीयो विलासः ।

चतुर्थ-विलासः

स्नात्वा श्रीकृष्णचैतन्यनामतीर्थोत्तमे सकृत् ।
नित्याशुचिः शुचीन्द्रः सन् स्वधर्मं वक्तुमर्हति ॥१॥
अथ स्वगृहमागच्छेदादौ नत्वेष्टदेवताम् ।
गुरून् ज्येष्ठांश्च पुष्पैधःकुशाम्भोधारकेतरान् ॥२॥

तथा च श्रीनृसिंहपुराणे—
जले देवं नमस्कृत्य ततो गच्छेद्गृहं पुमान् ।
पौरुषेण तु सूक्तेन ततो विष्णुं समर्चयेत् ॥३॥

अथ श्रीभगवन्मन्दिरसंस्कारः

मन्दिरं मार्जयेद्विष्णोर्विधायाचमनादिकम् । कृष्णं पश्यन् कीर्त्तयंश्च दास्येनात्मानमर्पयेत् ॥४॥
शुद्धं गोमयमादाय ततो मृत्स्नां जलं तथा । भक्त्या तत्परितो लिम्पेदभ्युक्षेच्च तदङ्गनम् ॥५॥

एतादृशस्नानादपि श्रीभगवन्नामसेवनमेव परमशोधनमित्यभिप्रेत्य तेन चानधिकारिणोऽप्यात्मनो भगवद्धर्म-लिखने योग्यतां सम्भावयन् लिखति—स्नात्वेति । श्रीकृष्णचैतन्येति नामैव तीर्थोत्तमं, तस्मिन् सकृदपि स्नात्वा कदाचित् सेवित्वेत्यर्थः । नित्याशुचिः जात्यादिना परमापवित्रोऽपि जनः शुचिगणश्रेष्ठः सन् वक्तुमर्हति प्रवचनयोग्यो भवतीत्यर्थः ॥१॥

एधः काष्ठम् ; पुष्पादीनां धारकेभ्य इतरान् अन्यान् ; तथा च बृहन्नारदीये सदाचारप्रसङ्गे—'तथा स्नानं प्रकुर्वन्तं समित्पुष्पहरं तथा । उदपात्रधरञ्चैव भुञ्जन्तं नाभिवादयेत् ॥' इति ॥२॥

तत् विष्णुमन्दिरं, तस्याङ्गनम् अभ्युक्षेच्च ॥५॥

उत्तम तीर्थरूप श्रीकृष्णचैतन्य नाम में एकबार मात्र अवगाहन करके नित्य अशुचि जन भी नित्य शुचिगणों में श्रेष्ठ होकर सद्धर्म वर्णन में सक्षम होता है ॥१॥

स्नानादि कृत्य समापन के अनन्तर प्रथमतः निज इष्ट देवता को एवं जो सब व्यक्ति भगवदर्चन के निमित्त पुष्प, यज्ञिय काष्ठ, कुश, तथा जल आनयन कर रहे हैं—उन सबको छोड़कर, अन्य समस्त गुरुजन को एवं ज्येष्ठ व्यक्तिगण को प्रणाम करके गृहागमन करे। बृहन्नारदीय के सदाचार प्रसङ्ग में वर्णित है—"तथा स्नानं प्रकुर्वन्तं समित् पुष्पहरं तथा। उदपात्रधरञ्चैव भुञ्जन्तं नाभिवादयेत् ॥" स्नानरत, समित् पुष्पाहरणरत, जलपात्रयुक्त एवं भोजनरत व्यक्ति को अभिवादन न करे ॥२॥

श्रीनृसिंहपुराण में कथित है—जल में देवता को प्रणाम कर गृहागमन करे। अनन्तर पुरुषसूक्त मन्त्र के द्वारा श्रीविष्णु पूजन करे ॥३॥

अथ श्रीभगवन्मन्दिरसंस्कारः

श्रीभगवन्मन्दिर संस्कार। आचमनादि कृत्य समापन पूर्वक श्रीविष्णुमन्दिर मार्जन करे। पश्चात् श्रीकृष्ण दर्शन, उनका नामकीर्त्तन करते करते दास्य भाव से आत्मसमर्पण करे ॥४॥

शुद्ध गोमय, उत्तम मृत्तिका, विशुद्ध जल से श्रीमन्दिर के चारों ओर लेपन करे एवं अङ्गन का प्रक्षालन अभ्युक्षण लेपनादि करे ॥५॥

तथा च नवमस्कन्धे (४।१८) श्रीमदम्बरीषोपाख्याने—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो,-र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु, श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥६॥

एकादशस्कन्धे च (११।३६) श्रीभगवदुद्धवसंवादे भगवद्धर्मकथने—

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः । गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥७॥

अथ तत्र सम्मार्जनमाहात्म्यम्

श्रीनृसिंहपुराणे—

नरसिंहगृहे नित्यं यः सम्मार्जनमाचरेत् । समस्तपापनिर्मुक्तो विष्णुलोके स मोदते ॥८॥

श्रीविष्णुधर्मोत्तरे—

सम्मार्जनन्तु यः कुर्य्यात् पुरुषः केशवालये । रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तः स भवेन्नात्र संशयः ॥९॥
पांशूनां यावतां राजन् कुर्य्यात् सम्मार्जनं नरः ।
तावन्त्यब्दानि स सुखी नाकमासाद्य मोदते ॥१०॥

श्रीवाराहे—

यावत्कानि प्रहाराणि भूमिसम्मार्जने ददुः । तावद्वर्षसहस्राणि शाकद्वीपे महीयते ॥११॥
जायते मम भक्तश्च सर्वधर्मसमन्वितः । शुचिर्भागवतः शुद्धो ह्यपराधविवर्जितः ॥१२॥

आदिशब्देन उपलेपनादीनि, श्रुतिं श्रोत्रम्, अच्युतस्य सत्कथानाम् उदये श्रवणे प्रादुर्भावे वा चकार ॥६॥
संमार्जनं रजसोऽपाकरणम्, उपलेपः गोमयोदकादिभिरालेपनम्, सेकः तैरेव प्रोक्षणं, मण्डलवर्त्तनं सर्वतोभद्रादिरचनं, मह्यं मम गृहशुश्रूषणम् आलयसंस्कारः ॥७॥
यावत्कानि प्रहाराणि नपुंसकत्वमार्षं, यावतः सम्मार्जन्या प्रहारान्, भूमेः संमार्जने, हे भूमीति पृथक् पदं वा ॥११॥

श्रीभागवतीय नवमस्कन्ध के श्रीमदम्बरीषोपाख्यान में उक्त है—राजर्षि अम्बरीष श्रीकृष्णचरणारविन्द में मन को, वैकुण्ठ गुणानुवर्णन में वाक्यसमूह को, श्रीहरिमन्दिर मार्जनादि में करयुगल को, श्रीअच्युत के सत्कथा श्रवण में श्रवणेन्द्रिय को नियुक्त किए थे ॥६॥

भा० ११।११।३९ में, श्रीभगवदुद्धव संवाद के भगवद्धर्म कथन में उक्त है—सम्मार्जन, जलसेक एवं सर्वतोभद्र मण्डल रचनादि के द्वारा दास के समान निष्कपट भाव से मेरी गृह शुश्रूषा करे ॥७॥

अथ तत्र सम्मार्जनमाहात्म्यम्—

सम्मार्जन माहात्म्य। श्रीनृसिंहपुराण में उक्त है—जो व्यक्ति प्रत्यह श्रीनृसिंहदेव मन्दिर मार्जन करता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर श्रीविष्णुलोक में आनन्द प्राप्त करता है ॥८॥

श्रीविष्णुधर्मोत्तर में उक्त है—जो व्यक्ति श्रीकेशवालय का सम्मार्जन करता है, वह रजोगुण तमोगुण से निर्मुक्त होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। हे राजन्! मनुष्य जितने परिमाण में मन्दिर की धूली का अपसारण करेगा उतने ही वर्ष पर्य्यन्त सुखी होकर वह स्वर्गीय आनन्द भोग करता है ॥९-१०॥

श्रीवराहपुराण में लिखित है—हे पृथिवि! श्रीमन्दिर सम्मार्जन के समय सम्मार्जनी के द्वारा जितने प्रहार भूमिमें किए जाते हैं, उतने ही सहस्र वत्सर वह व्यक्ति शाकद्वीप में आनन्दानुभव करता है, पश्चात् मेरा भक्त रूप में जन्मग्रहण करके सर्वधर्मसम्पन्न शुचि, भागवत, शुद्ध, अपराध वर्जित होगा, अनन्तर

ततो भुक्त्वा सर्वभोगान् तीर्त्वा संसारसागरम् ।
शाकद्वीपात् परिभ्रष्टः स्वर्गलोकं स गच्छति ॥१३॥
नन्दनं वनमाश्रित्य मोदते चाप्सरैः सह । नन्दनाच्च परिभ्रष्टो मम कर्मव्यवस्थितः ।
सर्वसङ्गान् परित्यज्य मम लोकन्तु गच्छति ॥१४॥

अथोपलेपनमाहात्म्यम्

तत्रैव—
गोमयं गृह्य वै भूमिं मम वेश्मोपलेपयेत् । यावतस्तु पदांस्तत्र समन्तादुपलेपयेत् ।
तावद्वर्षसहस्राणि मद्भक्तो जायते तथा ॥१५॥
समीपे यदि वा दूरे यश्चालयति गोमयम् । यावत्तस्य पदाग्राणि तावत् स्वर्गे महीयते ॥१६॥
शाल्मलौ तत्परिभ्रष्टो राजा भवति धार्मिकः । मद्भक्तश्चैव जायेत सर्वशास्त्रविशारदः ॥१७॥
यश्चालेपयते भूमिं गोमयेन दृढव्रतः । तस्य दृष्ट्वानुलेपन्तु मम तुष्टिः प्रजायते ॥१८॥
गोश्च यस्याः पुरीषेण क्रियते भूमिलेपनम् । एकेनैव तु लेपेन गोयोन्या विप्रमुच्यते ॥१९॥

मम कर्मव्यवस्थितः मद्भक्तिनिष्ठः सन्नित्यर्थः ॥१४॥
गृह्य गृहीत्वा, यावतः पदानिति पुंस्त्वमार्षम् ॥१५॥
तस्मात् स्वर्गात् परिभ्रष्टः सन् ॥१७॥
सा गौर्विशेषेण प्रकर्षेण च मुच्यते गोलोकं यातीत्यर्थः ॥१९॥

वह समस्त भोग उपभोग पूर्वक, संसार सागर से पार होकर शाकद्वीप से परिभ्रष्ट होने के बाद स्वर्गलोक गमन करता है। वहाँ के नन्दनकानन में वास करके अप्सरागण के सहित आनन्दानुभव करेगा। अनन्तर नन्दनकानन से परिभ्रष्ट होकर भक्ति में निष्ठा प्राप्त करेगा, उससे विषयासक्ति का त्याग होगा, अन्त में मेरे धाम में प्रस्थान करेगा ॥११-१४॥

अथोपलेपनमाहात्म्यम्—

उपलेपन माहात्म्य। वराहपुराण में उक्त है— हे पृथिवि ! गोमय के द्वारा मेरा मन्दिर का उपलेपन करे। मन्दिर के चतुर्दिक में जितने पद परिमाण में लेपन कार्य्य होगा उतने ही हजार वर्ष पर्य्यन्त मेरा भक्त होकर उस आलय लेपनकारी व्यक्ति निवास करेगा ॥१५॥

समीप में हो अथवा दूर में, जो व्यक्ति गोमय के द्वारा मेरा आलय का लेपन करता है, उस कार्य्य में लेपनकारी व्यक्ति का पदक्षेप जितने परिमाण में होगा, उतने वर्ष परिमाण में वह स्वर्गपुर में आनन्द प्राप्त करेगा ॥१६॥

अनन्तर स्वर्ग से परिभ्रष्ट होकर धर्मशील शाल्मली द्वीपाधिपत्य प्राप्त होगा, एवं मेरा भक्त होकर सर्वशास्त्रविशारद होगा ॥१७॥

जो व्यक्ति एकान्तनिष्ठ होकर गोमय के द्वारा भूमि लेपन करता है, उसका उस लेपन कार्य्य को देखकर मेरा आनन्द होता है ॥१८॥

जिस धेनु के गोमय के द्वारा भूमि लेपन होता है, एकबार लेपन मात्र से ही वह धेनु गो-योनि से मुक्त हो जाती है ॥१९॥

स्थानोपलेपने भूमे सलिलं यो ददाति मे । तस्य पुण्यं महाभागे शृणु तत्त्वेन निष्कलम् ॥२०॥
यावन्ति जलविन्दूनि लिप्यमानस्य सुन्दरि । तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥२१॥
यावन्तो विन्दवः केचित् पानीयस्य वसुन्धरे । तावद्वर्षसहस्राणि क्रौञ्चद्वीपे महीयते ॥२२॥
क्रौञ्चद्वीपात् परिभ्रष्टः सर्वधर्मपरायणः । सर्वसङ्गान् परित्यज्य मम लोकञ्च गच्छति ॥२३॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

कृत्वोपलेपनं विष्णोर्नरस्त्वायतने सदा । गोमयेन शुभाँल्लोकानयत्नादेव गच्छति ॥२४॥
हस्तप्रमाणं भूभागमुपलिप्य नराधिपः । देवरामाशतं नाके लभते सततं नरः ॥२५॥

नारसिंहे—

गोमयेन मृदा तोयै र्यः कुर्य्यादुपलेपनम् । चान्द्रायणफलं प्राप्य विष्णुलोके महीयते ॥२६॥

तत्रैव श्रीधर्मराजस्य दूतानुशासने—

सम्मार्जनं यः कुरुते गोमयेनोपलेपनम् । करोति भवने विष्णोस्त्याज्यं तेषां कुलत्रयम् ॥२७॥

निष्कलं शुद्धम् ॥२०॥

यावन्ति जलविन्दूनीति नपुंसकत्वमार्षम्, स्थानस्य लिप्यमानस्य सतः, यत्र यावन्तो जलविन्दवो भवन्तीत्यर्थः ॥२१-२२॥

पश्चाच्च स्वर्गात् परिभ्रष्टः सन् क्रौञ्चद्वीपे गतो महीयते तत्रत्यैः पूज्यत इत्यर्थः ॥२३॥

उपलेपकस्य पापक्षयादिकं किं वाच्यं, तस्य सम्वन्धिनामपि तथैव स्यादिति लिखति—सम्मार्जनमिति। कुलत्रयं पितृकुलं मातृकुलं भार्य्याकुलं चेति ॥२७॥

हे महाभागे ! हे धरणि ! श्रवण करो, मन्दिर लेपन कार्य्य में जो व्यक्ति जल प्रदान करता है, उसके विशुद्ध पुण्य की बात को यथार्थ रूप से कहता हूँ, सुनो ॥२०॥

हे सुन्दरि ! लेपनकारी को जितने जल बिन्दु प्रदान किये जाते हैं, उतने वर्ष सहस्र ही वह स्वर्गलोक में पूजित होता है ॥२१॥

हे वसुन्धरे ! लेपन कार्य्य के निमित्त जल प्रदान करने से उक्त जलबिन्दु परिमाण के अनुसार जल प्रदानकारी व्यक्ति उतने सहस्र वर्ष पर्य्यन्त क्रौञ्चद्वीप में पूजित होता है ॥२२॥

क्रौञ्चद्वीप से परिभ्रष्ट होकर सर्वप्रकार से विषयासक्ति वर्जन पूर्वक धर्मपरायण होकर मेरे लोक को जाता है ॥२३॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है,—मनुष्य गोमय के द्वारा श्रीविष्णुमन्दिर लेपन करके अनायास शुभलोक गमन करता है । पुरुष एकहस्त परिमित स्थान लेपन करके भी राजा होकर स्वर्गलोक प्राप्त करता है। एवं वहाँ पर शत शत रमणी विलास सुख प्राप्त करता है ॥२४-२५॥

नरसिंहपुराण में उक्त है—गोमय, मृत्तिका एवं जल के द्वारा जो व्यक्ति मन्दिर लेपन करता है, वह चान्द्रायण व्रत का फल प्राप्त कर श्रीविष्णु धाम में आनन्दित रहता है ॥२६॥

श्रीनृसिंहपुराण के श्रीयमराज के दूतानुशासन में उक्त है—जो व्यक्ति श्रीमन्दिर में सम्मार्जन एवं गोमय के द्वारा उपलेपन करता है, उसके मातृकुल, पितृकुल एवं भार्य्या कुलस्थ व्यक्तियों का आनयन न करना ॥२७॥

अथाभ्युक्षणमाहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तरे—

अभ्युक्षणन्तु यः कुर्य्यात् पानीयेन सुरालये ।
स शान्ततापो भवति नात्र कार्य्या विचारणा ॥२८॥

अभ्युक्षणन्तु यः कुर्य्याद्देवदेवाजिरे नरः । सर्वपापविनिर्मुक्तो वारुणं लोकमश्नुते ॥२९॥ इति ।
सर्वतोभद्रपद्मादीनभिज्ञः स्वस्तिकानि च । विरचय्य विचित्राणि मण्डयेद्धरिमन्दिरम् ॥३०॥

तथा च नारसिंहे—

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां रङ्गपद्मादिशोभनम् ।
कुर्य्यात् स्थानं महाविष्णोः सोज्ज्वलाङ्गं मुदान्वितः ॥३१॥

अथ मण्डलमाहात्म्यम्

स्कन्दपुराणे कार्त्तिकप्रसङ्गे—

अगम्यगमने पापमभक्ष्यस्य च भक्षणे । सर्वं तन्नाशमाप्नोति मण्डयित्वा हरेर्गृहम् ॥३२॥
अणुमात्रन्तु य कुर्य्यान्मण्डलं केशवाग्रतः । मृदा धातुविकारैश्च दिवि कल्पशतं वसेत् ॥३३॥

शालग्रामशिलाग्रे तु यः कुर्य्यात् स्वस्तिकं शुभम् ।
कार्त्तिके तु विशेषेण पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥३४॥

देवदेवस्य अजिरे अङ्गने ॥२९॥

रङ्गं विविधवर्णचित्रं पद्मादि च, यद्वा, रङ्गैर्विचित्रवर्णचूर्णैर्यत् पद्मादि तेन शोभितम्; आदिशब्देन स्वस्तिकादि, उज्ज्वलानि शोभनानि अङ्गानि भित्तिप्राकारादीनि तत्सहितञ्च कुर्य्यात् । अङ्गान्यपि विभूषयेदित्यर्थः; क्रियाविशेषणं वा, तथापि स एवार्थः ॥३१॥

मण्डलं सर्वतोभद्रादि, केशवाग्रतो मण्डलं करोतीति शेषः । कुरुत इति पूर्वेणैवानुषङ्गः ॥३३-३४॥

अथाभ्युक्षणमाहात्म्यम्—

अभ्युक्षण (जल सेचन) माहात्म्य । जो व्यक्ति देवमन्दिर में जल के द्वारा अभ्युक्षण करता है, वह संताप हीन होता है, इसमें संशय नहीं है ॥२८॥

जो व्यक्ति श्रीभगवन्मन्दिर के प्राङ्गण में अभ्युक्षण करता है, वह मानव, समस्त पापों से मुक्त होकर वरुणलोक में निवास करता है ॥२९॥

अभिज्ञ व्यक्ति सर्वतोभद्र एवं पद्मादि मण्डल तथा स्वस्तिकादि का निर्माण करके श्रीमन्दिर को शोभित करे ॥३०॥

श्रीनृसिंहपुराण में उक्त है—आनन्दित होकर महाविष्णु के मन्दिर को विचित्रवर्ण चूर्ण के द्वारा निर्मित पद्मादि के द्वारा सज्जित करे, एवं संमार्जन, उपलेपन द्वारा मन्दिर के प्राकारादि को सुसज्जित करे ॥३१॥

अथ मण्डलमाहात्म्यम्—

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक प्रसङ्ग में लिखित है—अगम्यागमन एवं अभक्ष्य भक्षण के द्वारा जो पाप सञ्चित होता है, श्रीहरिमन्दिर को सुसज्जित करने से उक्त पाप विनष्ट होता है ॥३२॥

मृत्तिका एवं धातुचूर्ण के द्वारा अणुमात्र भी श्रीकेशव के सम्मुख में जो मण्डल रचना करता है, उसका निवास सुरलोक में शतकल्प पर्य्यन्त होता है ॥३३॥

जो व्यक्ति, शालग्राम शिला के सम्मुख में स्वस्तिक निर्माण करता है, विशेष कर वह यदि कार्त्तिक

मण्डलं कुरुते नित्यं या नारी केशवाग्रतः । सप्तजन्मानि वैधव्यं न प्राप्नोति कदाचन ।।३५।।
गृहीत्वा गोमयं या तु मण्डलं केशवाग्रतः । भर्त्तुर्वियोगं नाप्नोति सन्ततेश्च धनस्य च ।।३६।।
प्राङ्गणं वर्णकोपेतं स्वस्तिकैश्च समन्वितम् । देवस्य कुरुते यस्तु क्रीड़ते भुवनत्रये ।।३७।।
नारदीये—
मृदा धातुविकारैर्वा वर्णकैर्गोमयेन वा । उपलेपनकृद्यस्तु नरो वैमानिको भवेत् ।।३८।।
हरिभक्तिसुधोदये च—
उपलिप्यालयं विष्णोश्चित्रयित्वाथ वर्णकैः । विष्णुलोकेऽथ तत्रस्थैः सस्पृहं वीक्ष्यते सुखी ।।३९।।

अथ स्वस्तिकलक्षणम्

आगमे—

विदिग्गतचतुष्काणि भित्त्वा षोड़शधा सुधीः ।
मार्जयेत् स्वस्तिकाकारं श्वेतपीतारुणासितैः ।।४०।।

तत्र च पञ्चरात्रवचनम्—
रजांसि पञ्चवर्णानि मण्डलार्थं हि कारयेत् । शालितण्डुलचूर्णेन शुक्लं वा यवसम्भवम् ।।४१।।
रक्तकुङ्कुमसिन्दूरगैरिकादिसमुद्भवम् । हरितालोद्भवं पीतं रजनीसम्भवं क्वचित् ।
कृष्णं दग्धैर्हरिद्यवैर्हरित्पीतैर्विमिश्रितम् ।।४२।।

उपलेपनं मण्डलादिकं करोतीति तथा सः ।।३८।।
श्वेतादिवर्णैश्चूर्णैः हरिद्यवैः हरिद्वर्णयवैर्दग्धैः कृष्णवर्णं स्यात्, तच्च पीतैर्विमिश्रितं हरिद्वर्णं स्यादित्यर्थः; एवं वर्णपञ्चकमुक्तम् ।।४०-४२।।

मास में उक्त कार्य्य करता है, तो वह स्वीय सप्त कुल को पवित्र करता है ।।३४।।

जो नारी श्रीकेशव के सम्मुख प्रतिदिन मण्डल रचना करती है, वह सप्तजन्म विधवा नहीं होगी ।।३५।।

श्रीकेशव के सम्मुख में जो नारी गोमय के द्वारा मण्डल रचना करती है, उसको धन-सन्तति एवं पति वियोग रूप क्लेश प्राप्त नहीं करना पड़ता है ।।३६।।

जो व्यक्ति, देव प्राङ्गण को विचित्र वर्ण से रञ्जित एवं स्वस्तिकादि के द्वारा सुशोभित करता है, वह त्रिभुवन में सुखपूर्वक विहार करेगा ।।३७।।

नारदीय में वर्णित है—जो मानव, मृत्तिका, धातु विकार रूप विचित्र रङ्गीन चूर्णों के द्वारा एवं गोमय के द्वारा श्रीहरिमन्दिर का उपलेपन करता है, वह विमानविहारी देवस्वरूप को प्राप्त करता है ।।३८।।

हरिभक्तिसुधोदय में लिखित है—जो व्यक्ति श्रीविष्णु मन्दिर का उपलेपन एवं विविध वर्ण के द्वारा सुसज्जित करता है, वह सुखी होता है, एवं श्रीविष्णुलोकस्थ जनगण उसको सस्पृह भाव से अवलोकन करते रहते हैं ।।३९।।

अथ स्वस्तिकलक्षणम्—

स्वस्तिक लक्षण । आगम में वर्णित है—बुद्धिमान् व्यक्ति चतुष्कोण के चतुष्कोण को षोड़श भाग में विभक्त करके शुभ्र, पीत, लोहित एवं कृष्णवर्ण चूर्ण के द्वारा लेपन करे ।।४०।।

उक्त विषय में पञ्चरात्र का वचन यह है—मण्डल निर्माण हेतु पञ्चवर्ण का चूर्ण निर्माण करे, शालि तण्डुल चूर्ण किंवा जव चूर्ण के द्वारा शुभ्र, लालवर्ण कुङ्कुम, सिन्दूर, अथवा गैरिकादि के द्वारा लोहित,

अथ तत्र ध्वजपताकाद्यारोपणम्

ततो ध्वजपताकादि विन्यस्य हरिमन्दिरे। विचित्रं भूषयेत्तच्च भगवद्भक्तिमान्नरः ॥४३॥

अथ ध्वजारोपण माहात्म्यम्

स्कन्दपुराणे द्वारकामाहात्म्ये श्रीमार्कण्डेयप्रद्युम्न-संवादे—

ध्वजमारोपयेद्यस्तु प्रासादोपरि भक्तितः। तस्य ब्रह्मपदे वासः क्रीड़ते ब्रह्मणा सह ॥४४॥

बृहन्नारदीये—

यः कुर्य्याद्विष्णुभवने ध्वजारोपणमुत्तमम्। स पूज्यते विरिञ्च्याद्यैः किमन्यैर्बहुभाषितैः ॥४५॥

तत्रैवाग्रे च—

पटो ध्वजस्य विप्रेन्द्र यावच्चलति वायुना। तावन्ति पापजालानि नश्यन्त्येव न संशयः ॥४६॥

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः। ध्वजं विष्णुगृहे कृत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४७॥

आरोपितं ध्वजं दृष्ट्वा येऽभिनन्दन्ति धार्मिकाः।
तेऽपि सद्यो विमुच्यन्ते ह्युपपातककोटिभिः ॥४८॥ इति।

एवं बृहन्नारदीये ख्यातं यच्चान्यदद्भुतम्। ध्वजारोपण-माहात्म्यं तद्द्रष्टव्यमिहाखिलम् ॥४९॥

तत् हरिमन्दिरञ्च विचित्रं यथा स्यात्तथा भूषयेत् ॥४३॥

हरिताल अथवा हरिद्राचूर्ण के द्वारा पीत, दग्ध हरिद्वर्ण के यव के द्वारा कृष्ण एवं दग्ध हरिद्वर्ण यवचूर्ण में पीतवर्ण संयुक्त करने से हरिद्वर्ण होता है ॥४१-४२॥

अथ तत्र ध्वजपताकाद्यारोपणम्—

श्रीहरिमन्दिर में ध्वज-पताकादि आरोपण माहात्म्य। भगवद्भक्त मनुष्य श्रीविष्णु मन्दिर को ध्वज पताकादि आरोपण करके विचित्र रूप से अलङ्कृत करें ॥४३॥

अथ ध्वजारोपण माहात्म्यम्—

ध्वजारोपण माहात्म्य। स्कन्धपुराण के द्वारका माहात्म्य में वर्णित है—जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक श्रीविष्णु मन्दिर के उपरि भाग में उत्तम ध्वज दण्डारोपण करता है, उसका निवास ब्रह्मलोक में होता है, एवं ब्रह्मा के सहित वह क्रीड़ा करता है ॥४४॥

बृहन्नारदीय पुराण में लिखित है—जो व्यक्ति श्रीविष्णु मन्दिर में उत्तम ध्वजदण्डारोपण करता है, उसके लिए अधिक क्या कहना है, ब्रह्मा प्रभृति देववृन्द उसकी पूजा करते हैं ॥४५॥

बृहन्नारदीय पुराण में वर्णित है—हे विप्रवर! ध्वजदण्ड का वस्त्र, वायु के द्वारा जितना विचलित होता है, ध्वजारोपणकारी के शरीर से उतने ही पापसमूह विनष्ट होते रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं है ॥४६॥

मानव महापातकयुक्त हो, अथवा सर्वपातकयुक्त ही हो, श्रीविष्णुमन्दिर में ध्वजारोपण करने से वह मानव समस्त पापों से मुक्त होता है ॥४७॥

जो सब पुण्यात्मा व्यक्ति श्रीविष्णु गृह में आरोपित ध्वजदण्ड को देखकर आनन्दित होते हैं, वे सब भी क्षणात् कोटि कोटि उपपातक से मुक्त होते हैं ॥४८॥

इस प्रकार बृहन्नारदीयपुराण में ध्वजारोपण प्रसङ्ग में अद्भुत माहात्म्य का वर्णन है। इस प्रकरण में उक्त विषयसमूह का भी अनुसन्धान करना आवश्यक है ॥४९॥

अथ पताकारोपण-माहात्म्यम्

द्वारकामाहात्म्ये तत्रैव—

कृष्णालयं यः कुरुते पताकाभिश्च शोभितम् । सदैव तस्य लोके तु वासस्तस्य न चान्यतः ॥५०॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

पताकाञ्च शुभां दत्त्वा तथा केशववेश्मनि । वायुलोकमवाप्नोति बहूनब्दगणान् द्विजः ॥५१॥
दोधूयते यथा सा तु वायुना केशवालये । तथा तस्यापि सकलं देहात् पापं विधूयते ॥५२॥

अथ वन्दनमाला-कदलीस्तम्भारोपण-माहात्म्यम्

द्वारकामाहात्म्ये तत्रैव—

भूप वन्दनमालान्तु कुरुते कृष्णवेश्मनि । देवकन्यावृतैर्लक्षैः सेव्यते सुरनायकैः ॥५३॥
यः कुर्यात् कृष्णभवनं कदलीस्तम्भशोभितम् ।
नन्दते चाप्सरोयुक्तः स्वागतं तस्य देवराट् ॥५४॥

अथ पीठपात्रवस्त्रादिसंस्कारः

तत्र ताम्रादिपात्रं यत् प्रभोर्वस्त्रादिकञ्च यत् । पीठादिकञ्च तत् सर्वं यथोक्तञ्च विशोधयेत् ॥५५॥

ध्वजपताकादिविन्यसेदित्यादि-शब्देन गृहीतस्य वन्दनमालादेरपि विन्यास-माहात्म्यं लिखति—भूपेति द्वाभ्याम् ॥५३॥

तस्य स्वागतं यथा स्यात्तथा नन्दते तमभिनन्दति हृष्टो भवतीति वा, यद्वा, तस्य शुभागमनमभिनन्दति। वन्दत इति वा पाठः ॥५४॥

अथ पताकारोपण-माहात्म्यम्—

बृहन्नारदीय पुराण के द्वारका माहात्म्य में वर्णित है—जो व्यक्ति पताकासमूह के द्वारा श्रीहरिमन्दिर को सुशोभित करता है, श्रीहरि धाम में उसका सतत निवास होता है, अन्यत्र वास नहीं होता है ॥५०॥

विष्णुधर्मोत्तर में उक्त है—श्रीहरिमन्दिर में शुभ्र पताका प्रदान करने से वायुलोक में पताका प्रदानकारी व्यक्ति का निवास बहुत वर्षों तक होता है ॥५१॥

श्रीहरिमन्दिरस्थ पताका वायु के द्वारा जिस प्रकार दोदूल्यमान होती है, उस प्रकार से पताका प्रदानकारी के देह से पातकराशि विदूरित होती है ॥५२॥

अथ वन्दनमाला-कदलीस्तम्भारोपण-माहात्म्यम्—

वन्दनमाला एवं कदलीस्तम्भारोपण माहात्म्य । बृहन्नारदीय के द्वारका माहात्म्य में लिखित है—हे राजन् ! जो मनुष्य श्रीहरिमन्दिर में वन्दन बार आरोपण करते हैं, देवकन्या परिवृत सुरश्रेष्ठगण उन सबकी उपासना करते रहते हैं ॥५३॥

जो व्यक्ति श्रीकृष्ण मन्दिर को कदली स्तम्भ के द्वारा सुशोभित करता है, वह मनुष्य अप्सरागण के सहित आनन्दोपभोग करता है, देवराज इन्द्र भी उनका स्वागत करते हैं ॥५४॥

अथ पीठपात्रवस्त्रादिसंस्कारः

पीठ-पात्र-वस्त्रादि संस्कार । नरसिंहपुराण में उक्त है—श्रीप्रभु की सेवा के निमित्त ताम्रादि पात्र, वस्त्र, पीठादि का यथाविधि परिष्कार करे ॥५५॥

तत्र पीठस्य संस्कारः

नारसिंहे—

पादपीठञ्च कृष्णस्य विल्वपत्रेण घर्षयेत् । उष्णाम्बुना च प्रक्षाल्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५६॥

अथ तैजसादिपात्राणां संस्कारः

मार्कण्डेयपुराणे—

उडुम्वराणामम्लेन क्षारेण त्रपुसीसयोः ।
भस्माम्बुभिश्च कांस्यानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च ॥५७॥

वायुपुराणे च—

मणि-वज्र-प्रवालानां मुक्ताशङ्खोपलस्य च । सिद्धार्थकानां कल्केन तिलकल्केन वा पुनः ॥५८॥

ब्राह्मे—

सुवर्णरूप्यशङ्खाश्मशुक्तिरत्नमयानि च । कांस्यायस्ताम्ररैत्यानि त्रपुसीसमयानि च ॥५९॥
निर्लेपानि तु शुध्यन्ति केवलेनोदकेन तु ।
शूद्रोच्छिष्टानि शोध्यानि त्रिधा क्षाराम्लवारिभिः ॥६०॥ इति ।

उक्तविधिं लिखति—उड़ुम्वराणामित्यादिना शुचितामियादित्यन्तेन ; उड़ुम्वराणां ताम्राणां तन्मय-पात्राणामित्यर्थः । त्रपुरङ्गं, भस्मयुक्तैरम्बुभिः, द्रवस्य गोरसादेः प्लावः प्लावनम् ; तथा चोक्तं वशिष्ठेन—'द्रवाणां प्लावनेनैव' इति । तद्विशेषोऽग्रे व्यक्तो भावी ॥५७॥

मुक्तायाः शङ्खस्य उपलस्य च पाषाणस्य द्वन्द्वैक्यम् ; सिद्धार्थकानां सर्षपाणाम्, शुद्धिरिति शेषः प्रकरणबलात् ॥५८॥

रत्नमयानि—स्फटिकादि-घटितानि पात्राणीति शेषः । रैत्यानि पित्तलरचितानि ; निर्लेपाणि अन्नादि-लेपरहितानि, शूद्रोच्छिष्टानि शूद्रोच्छिष्टस्पृष्टानीत्यर्थः । यद्यपि श्रीभगवत्पात्रेषु शूद्राच्छिष्टस्पर्शोऽपि न सम्भवेत्, तथापि कथञ्चिद्भ्रमप्रमादतः स्यादिति तच्छुद्धिरुक्ता । एवमग्रेऽपि सर्वत्रोह्यम् । त्रिधा वारत्रयमित्यर्थः, क्षारो भस्म ॥५९-६०॥

तत्र पीठस्य संस्कारः

पीठ का संस्कार । नारसिंहपुराण में लिखित है—विल्वपत्र के द्वारा श्रीकृष्ण के पादपीठ का मार्जन करे । उष्ण जल के द्वारा प्रक्षालन करने से समस्त पापों से मानव विमुक्त होता है ॥५६॥

अथ तैजसादिपात्राणां संस्कारः

तैजसादि पात्र का शोधन । मार्कण्डेय पुराण में वर्णित है—ताम्रनिर्मित पात्र का अम्ल के द्वारा, रङ्ग निर्मित एवं सीसक निर्मित पात्र का भस्म के द्वारा, कांस्यपात्र का भस्मयुक्त सलिल के द्वारा शोधन करे । अपर द्रव पदार्थ की शुद्धि अग्निताप से संयुक्त करने से (गलाने से) होती है ॥५७॥

वायुपुराण में उक्त है—श्वेतसर्षप के द्वारा (सफेद सरसों के द्वारा) अथवा तिल कल्क के द्वारा मार्जन करने से मणि, हीरक, प्रवाल, मुक्ता, शङ्ख एवं प्रस्तर पात्र की शुद्धि होती है ॥५८॥

ब्रह्मपुराण में वर्णित है—स्वर्ण, रजत, शङ्ख, पाषाण, शुक्ति, स्फटिकादि रत्न, कांस्य, लौह, ताम्र, पित्तल (पीतल) रङ्ग एवं सीसक के पात्र केवल जल से ही शुद्ध होते हैं । उक्त पात्रसमूह का स्पर्श शूद्र के उच्छिष्ट से होने पर भस्म, अम्ल, एवं जल के द्वारा तीनवार मार्जन करने से उक्त पात्रसमूह की शुद्धि

अतिदुष्टन्तु पात्रादि विशोध्यातिथ्य-कर्मणे । युञ्ज्यात्तत्परिवर्त्ताय प्रभुकर्मान्तराय वा ।।६१।।
एतस्य परिवर्त्तेनप्रभवेऽन्यत् समर्पयेत् । इत्ययं सर्वतो लोके सदाचारो विराजते ।।६२।।

मनुः—

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणःसीसकस्य च । शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ।।६३।।

शङ्खः—

अम्लोदकेन ताम्रस्य सीसस्य त्रपुणस्तथा ।
क्षारेण शुद्धि कांस्यस्य लौहस्य च विनिर्द्दिशेत् ।।६४।।

किञ्च—

सूतिकोच्छिष्टभाण्डस्य सुराद्युपहतस्य च । त्रिःसप्तमार्जनाच्छुद्धिर्न तु कांस्यस्य तापनम् ।।६५।।

अन्यत्र च—

ताम्रमम्लेन शुध्येत न चेदामिषलेपनम् । आमिषेण तु यल्लिप्तं पुनर्दाहेन शुध्यति ।।६६।।

यथार्हम्—मलापगमानुसारेणेत्यर्थः । अम्लोदकं जम्बीरादिरसः, तत्राम्लोदकेन ताम्रस्य, क्षारेणेतरेषां, वारिणा तु तत्तत्समुदितेनोभयेषामेवेति ज्ञेयं, यथार्हमित्युक्तेः ।।६३।।

तदेवाभिव्यञ्जयति—अम्लोदकेनेति ।।६४।।

एतच्च सर्वं स्वल्पोपहतिविषयकम्, अत्यन्तोपहतौ शुद्धि लिखति—सूतिकेति त्रिभिः । सूतिका नवप्रसूता अजातशौचा; यद्वा, प्रसवकारयित्री, तदुच्छिष्टस्य तदुच्छिष्टस्पृष्टस्य, तया वा यत्र भुक्तं तस्य भाण्डस्य तैजसपात्रस्य, तत्प्रकरणात् । आदि-शब्दात् शोणितादि, त्रिःसप्त एकविंशतिवारान् मार्ज्जनादित्यर्थः। केचिदाहुः—'सप्तभिर्यवगोधूमकलायमाषादिचूर्णैः प्रत्येकं त्रिर्मार्जनाच्छुद्धिः' इति । कांस्यपात्रस्य तु न तथा शुद्धिः, किन्तु तस्य तापनं दहनमेव । भाजन इति पाठः सुगमः ।।६५।।

होती है । पात्रसमूह अत्यन्त दूषित होने से शोधन करके अतिथि की सेवा में अथवा भगवत् सम्बन्धी किसी कार्य्य में व्यवहार करे । लोकरीति यह है कि - पात्र दूषित होने से उसके परिवर्त्त में श्रीप्रभु को अपर पात्र प्रदान करे ।।५९-६२।।

मनु का कथन है—ताम्र, लौह, कांस्य, पित्तल, रङ्ग, एवं सीसक के पात्रसमूह की शुद्धि,—भस्म, जम्बीरादि रस एवं जल के द्वारा करे ।।६३।।

शङ्ख कहते हैं—ताम्र, सीसक, एवं रङ्ग के पात्र अम्लरस के द्वारा एवं कांस्य लौह पात्र भस्म के द्वारा शुद्ध करे ।।६४।।

और भी वर्णित है—साधारणतः अपवित्र पात्रों का शोधन विधान कहा गया है । किन्तु अत्यन्त दूषित पात्रों की शुद्धि जिस प्रकार से होती है उसे कहते हैं—जिसकी अशौच निवृत्ति नहीं हुई है, एसी सद्य प्रसूता स्त्री का उच्छिष्ट पात्र दाई की उच्छिष्ट से स्पर्शप्राप्त पात्र एवं मद्य दुषित, रक्त दूषित पात्र का शोधन एकविंशतिबार मार्जन से होता है, किन्तु कांस्यपात्र की शुद्धि उक्त प्रकार से नहीं होती है । अग्निदग्ध करके उसको शुद्ध करना आवश्यक है ।।६५।।

अन्यत्र भी उक्त है—ताम्रपात्र आमिष से स्पृष्ट न होने से अम्ल के द्वारा शुद्ध होता है । आमिष लिप्त होने से पुनर्बार अग्निदग्ध करके शोधन करे ।।६६।।

ब्राह्मे—

सूतिकाशवविन्मूत्ररजःस्वलहतानि च । प्रक्षेप्तव्यानि तान्यग्नौ यच्च यावत् सहेदपि ॥६७॥

अतएव देवलः—

लोहानां दहनाच्छुद्धिर्भस्मना गोमयेन वा । दहनात् खननाद्वापि शैलानामम्भसापि वा ॥६८॥

काष्ठानां तक्षणाच्छुद्धिर्मृद्‌गोमयजलैरपि । मृन्मयानान्तु पात्राणां दहनाच्छुद्धिरिष्यते ॥६९॥

मनुः—

मद्यैर्मूत्रपुरीषैर्वा श्लेष्मपूयास्थिष्ठीवनैः । संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥७०॥

वृद्धशातातपः—

संहतानान्तु पात्राणां यदेकमुपहन्यते । तस्यैवं शोधनं प्रोक्तं सामान्यद्रव्यशुद्धिकृत् ॥७१॥

दाहे विशेषं लिखति—सूतिकेति । रजःस्वलेत्याकाराभाव आर्षः । सूतिकादिभिर्हतानि उपहतानि, तत्र सूतिकारजःस्वलोपहतत्वं तत्तदुच्छिष्टस्पर्शात्, तत्र तद्भोजनाद्वा । सावेति दन्त्यादिपाठे आसवो मद्यम, यावदिति यावन्तमग्निं कालं वा यद्द्रव्यं सहेत, तावत्यग्नौ तावन्तं वा कालं तद्द्रव्यं प्रक्षेप्तव्यमित्यर्थः ॥६७॥

न्यूनाधिकतया लिखितं तत्तत् सर्वं देवलोक्त्या संवादयति—लोहानामिति ; सुवर्णादीनां धातूनां तन्मयपात्राणामित्यर्थः, अत्यन्तोपहतौ दहनात्, अन्यथा च भस्मादिनेत्यर्थः ; एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । खननं भूमिं खात्वा दोषानुसारेण सप्ताहादिकालं तस्यां निक्षेपणं तस्मात् ; शैलानां शिलादिनिर्मितानां, दहनात् पुनः पाकात्, तथा च याज्ञवल्क्यः—'पुनः पाकान्महीमयम्' इति ॥६८॥

तत्र चाल्पोपहतौ अत्यन्तोपहतौ च मृन्मयं त्याज्यमेवेति लिखति—मद्यैरिति । ष्ठीवनैः लालाप्रक्षेपैः, पाठान्तरं स्पष्टम् ॥७०॥

संहतानामन्योऽन्यं मिलित्वा सङ्घशः स्थितानां ; तस्यैव तत् लिखितं शोधनं प्रोक्तं, न तु तेन स्पृष्टानामन्येषामित्यर्थः । पाठान्तरे सामान्यं समानैकद्रव्यविषयकं शोधनं द्रव्याणां सर्वेषामेवान्येषां शुद्धिकृदित्यर्थः । अतएवोक्तं शातातपेनैव—'अशुचिं संस्पृशेद्यस्तु एक एव स दुष्यति । तं स्पृष्ट्वान्यो न दुष्येत्तु सर्वद्रव्येष्वयं विधिः ॥' इति ॥७१॥

ब्रह्मपुराण में वर्णित है, नवप्रसुता रमणी, शव, मल, मूत्र एवं रजःस्वला नारीस्पृष्ट पात्र को अग्निदग्ध के द्वारा शुद्ध करे ॥६७॥

अतएव देवल ने कहा है—दाहन के द्वारा अथवा भस्म गोमय द्वारा लौह सुवर्ण रजतादि निर्मित धातु पात्रादि की शुद्धि होती है, अर्थात् सामान्यतः दूषित होने से भस्म एवं गोमय द्वारा एवं विशेष रूप से दूषित होने से वह्नि के द्वारा पात्र को शुद्ध करे। दहन खनन एवं जल के द्वारा पाषाण पात्र का दोष नष्ट होता है, अर्थात् सामान्यतः दूषित होने से सात दिन मिट्टि में गड़ कर रखे, अथवा अग्नितात से दग्ध करे। इस प्रकार दोष का विचार गुरुलघु रूप से करके मृत्तिका, गोमय, जल, तक्षण के द्वारा काष्ठ पात्र का शोधन करे। मृन्मय पात्र का शोधन पुनर्दहन के द्वारा करे ॥६८-६९॥

मनु ने कहा है—मद्य, मूत्र, मल, कफ, पूय, अथवा निष्ठीवन के द्वारा मृत्तिका पात्र दूषित होनेसे पुनर्दहन के द्वारा भी शुद्ध नहीं होता है ॥७०॥

वृद्धशातातप ने कहा है—बहु संख्यक पात्र एकत्र अवस्थित होने से तन्मध्य में एक पात्र दूषित होने पर उक्त दूषित पात्र का शोधन से ही समस्त पात्रों का शोधन होता है ॥७१॥

अथ वस्त्रादीनां संस्कारः

तत्र शङ्खः—

तान्तवं मलिनं पूर्वमद्भिः क्षारैश्च शोधयेत् ।
अंशुभिः शोषयित्वा वा वायुना वा समाहरेत् ॥७२॥

ऊर्णापट्टांशुकक्षौमदुकूलाविकचर्मणाम् । अल्पाशौचे भवेच्छुद्धिः शोषणप्रोक्षणादिभिः ॥७३॥
तान्येवामेध्यलिप्तानि नेनिज्याद्गौरसर्षपैः । धान्यकल्कैः पर्णकल्कै रसैश्च फलवल्कलैः ॥७४॥
तुलिकाद्युपधानानि पुष्परत्नाम्बराणि च । शोधयित्वातपे किञ्चित् करैरुन्माज्जयेन्मुहुः ॥७५॥
पश्चाच्च वारिणा प्रोक्ष्य शुचीत्येवमुदाहरेत् । तान्यप्यतिमलाक्तानि यथावत् परिशोधयेत् ॥७६॥

शातातपः—

कुसुम्भकुङ्कुमारक्तास्तथा लाक्षारसेन च । प्रक्षालनेन शुध्यन्ति चण्डालस्पर्शने तथा ॥७७॥

यमः—

कृष्णाजिनानां वातैश्च बालानां मृद्भिरम्भसा ।
गोमूत्रेणास्थिदन्तानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥७८॥

तान्तवम्—कार्पासिकसूत्रनिर्मितं वस्त्रादि, अंशुभिः सूर्य्यरश्मिभिः वायुना वा शोषयित्वा शुष्कं कृत्वा, ऊर्णांशुकाविकयोः पशुरोमभेदेन द्रव्यभेदेन वा भेदः, अल्पेऽशौचे अशुद्धौ सत्यां शोषणं सूर्य्यांशुवातादिना, नेनिज्यात् शोधयेत्, फलवल्कलैः तज्जैरित्यर्थः। पुष्परत्नाम्बराणि चित्रपुष्पमयाम्बराणि स्वर्णरत्नखचिताम्बराणि चेत्यर्थः ॥७२-७५॥

कुसुम्भेन कुङ्कुमेन वा आरक्ता रञ्जिता लाक्षारसेन वा रक्ताः पटाः, चण्डालेनान्येनाप्यस्पृश्या उपलक्ष्याः, तत्स्पर्शे सति प्रक्षालनेम शुध्यन्ति ॥७७॥

बालानां चामराणाम्, अस्थि—शङ्खादिः, दन्तः—हस्त्यादेः ॥७८॥

अथ वस्त्रादीनां संस्कारः

वस्त्रादि शोधन। इस सम्बन्ध में शङ्ख कहते हैं—तान्तव अर्थात् कार्पाससूत्र निर्मित वस्त्र, मलिन अथवा मलदुष्ट होने से प्रथमतः क्षार जल द्वारा वस्त्रादि की शुद्धि करे, अनन्तर आतपताप अथवा वायु के द्वारा शुद्ध करके ग्रहण करे। रोमज वस्त्र, पट्ट वस्त्र, क्षौमवस्त्र, मेषलोमज वस्त्र एवं चर्म-सामान्यतः अशुद्ध होने से जल प्रक्षेपण एवं रौद्र ताप से शुष्क करके ग्रहण करे। अपवित्र वस्तु के सहित उक्त समस्त द्रव्य स्पृष्ट होने से श्वेतसर्षप, धान्यकल्क, पत्र कल्क, फल एवं वल्कलोत्थ रस के द्वारा शुद्ध करे। तूलिका (रूई) तूलासे निर्मित शय्यादि उपधान (तकिया) कुसुम रस रञ्जित एवं स्वर्णरत्नादि खचित वस्त्र क्षणकाल आतप से शुष्क करके पुनःपुनः उसे हात से घिसे फिर उस पर जल के छींटे देकर 'पवित्र' शब्द उच्चारण करे। उक्त वस्त्र समह अतिशय अशुद्ध अत्यधिक मलविशिष्ट होनेसे पूर्वोक्त विधान से शुद्ध करे। केवल अभ्युक्षण के द्वारा शुद्ध न करे ॥७२-७६॥

शातातप कहते हैं—कुसुम्भ, कुङ्कुम एवं लाक्षारस के द्वारा रञ्जित वस्त्र चण्डालादि द्वारा स्पृष्ट होने से भी प्रक्षालन के द्वारा उसकी शुद्धि होती है ॥७७॥

यमराज ने कहा—कृष्णसार मृगचर्म वायु द्वारा, चामर, मृत्तिका एवं जल के द्वारा, शङ्खादि अस्थि एवं हस्ति दन्तादि गोमय के द्वारा, क्षौमवसन की शुद्धि श्वेतसर्षप के द्वारा करे ॥७८॥

शङ्खः—

सिद्धार्थकानां कल्केन दन्तशृङ्गमयस्य च ।
गोबालैः फलपात्राणामस्थ्नां स्याच्छृङ्गवत्तथा ॥७९॥

किञ्च—

निर्यासानां गुड़ानाञ्च लवणानां तथैव च । कुसुम्भकुसुमानाञ्च ऊर्णाकार्पासयोस्तथा ।
प्रोक्षणात् कथिता शुद्धिरित्याह भगवान् यमः ॥८०॥

मनुः—

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन स्वल्पानामद्भिरेव विधीयते ॥८१॥
चेलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च । शाकमूलफलानाञ्च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥८२॥
प्रोक्षणात्तृणकाष्ठानि पलालञ्च विशुध्यति । मार्ज्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥८३॥

किञ्च—

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तद्गतः । तावन्मृद्वारि चा देयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥८४॥

बृहस्पतिः—

वस्त्रवैदलचर्मादेः शुद्धिः प्रक्षालनं स्मृतम् । अतिदुष्टस्य तन्मात्रं त्यजेच्छित्त्वा तु शुद्धये ॥८५॥

फलपात्राणां नारिकेलादिपात्राणाम्, अस्थ्नां शङ्खादीनाम्, शृङ्गवदिति सर्षपाणां कल्केनेत्यर्थः ॥७९॥
निर्यासानां हिङ्ग्वादीनाम् ॥८०॥
वैदलानां विदारितवेणुवेत्रदलनिर्मितानाम् ; मार्जनैः रजःशोधनैः, उपाञ्जनैः लेपनैश्च ॥८२-८३॥
तन्मात्रमिति—यावदत्यन्तदुष्टं तावन्मात्रमेव, न त्वन्यदित्यर्थः ॥८५॥

शङ्ख ने कहा—गजादि दन्त निर्मित द्रव्य एवं शृङ्ग निर्मित द्रव्य, श्वेत सर्षप के कल्क के द्वारा एवं नारिकेल आदि फल के पात्र की शुद्धि गोपुच्छ के द्वारा करे। शृङ्ग शुद्धि के समान श्वेतसर्षप के द्वारा अस्थि की शुद्धि करे ॥७९॥

यमराज ने पुनर्बार कहा है—हिङ्गु प्रभृति का निर्य्यास, गुड़, लवण, कुसुम्भ पुष्प, पशुलोम एवं कार्पास, जलप्रोक्षण से शुद्ध होते हैं ॥८०॥

मनु महाराज ने कहा—यदि धान्य एवं वस्त्र का परिमाण अनेक होते हैं तो, जल प्रोक्षण के द्वारा शुद्ध करे, किन्तु परिमाण में स्वल्प होने से जल से प्रक्षालित करे। चर्म विदारित वंश एवं वेत्रज द्रव्य का भी शोधन वस्त्र शोधन के समान ही जानना होगा। शाक, मूल, फल, की शुद्धि धान्य शुद्धिवत् है। प्रोक्षण के द्वारा तृण काष्ठ एवं शस्यशून्य तृण की शुद्धि होती है। मार्जन एवं उपलेपन के द्वारा गृह शोधन करे, मृत्तिका निर्मित पात्रका शोधन पुनर्बार दाहण के द्वारा करे ॥८१-८३॥

और भी वर्णित है—अपवित्र द्रव्य द्वारा लिप्तवस्त्र से जबतक गन्ध अपसारित नहीं होती है, तबतक जल एवं मृत्तिका के द्वारा शोधन करे, यावतीय द्रव्य शुद्धि के विषय में ही यह विधि है ॥८४॥

बृहस्पति ने कहा—वस्त्र, विदलित वंशज द्रव्य, चर्म प्रभृति द्रव्य का शोधन प्रक्षालन से होता है। किन्तु अतिशय रूपसे दूषित होने से जितने परिमाण में दूषित हुआ है, उतने अंश छेदन करके शुद्धि विधान करे ॥८५॥

विष्णुः—

मृत्पर्णतृणकाष्ठानां श्वास्थिचाण्डालवायसैः ।
स्पर्शने विहितं शौचं सोमसूर्य्यांशुमारुतैः ॥८६॥

बौधायनः—

आसनं शयनं यानं नावः पन्थास्तृणानि च । मारुतार्केण शुध्यन्ति पक्वेष्टरचितानि च ॥८७॥

अथ धान्यादीनां संस्कारः

तत्र बौधायनः—

व्रीहयः प्रोक्षणादद्भिः शाकमूलफलानि च । तन्मात्रस्यापहाराद्वा निस्तुषीकरणेन च ॥८८॥

शङ्खः—

श्रपणं घृततैलानां प्लावनं गोरसस्य च । भाण्डानि प्लावयेदद्भिः शाकमूलफलानि च ॥८९॥

ब्राह्मे—

द्रवद्रव्याणि भूरीणि परिप्लाव्यानि चाम्भसा ॥९०॥

शस्यानि व्रीहयश्चैव शाकमूलफलानि च । त्यक्त्वा तु दूषितं भागं प्लाव्यान्यथ जलेन तु ॥९१॥

बृहस्पतिः—

तापनं घृततैलानां प्लावनं गोरसस्य च ।
तन्मात्रमुद्धृतं शुध्येत् कठिनन्तु पयोदधि ॥९२॥

मारुतयुक्तेनार्केण तदंशुना, पाठान्तरं स्पष्टम् ॥८७॥

श्रपणं प्लावनम्, प्लावनमेव विवृणोति—अद्भिस्तत्तद्भाण्डानि पचयेत्, अप्सु निमज्जयेदित्यर्थः। घृतादीनामपि श्रपणासम्भवे सजातीयद्रव्यप्लावनेन शुद्धिर्ज्ञेया ॥८९॥

दूषितं भागं त्यक्त्वेति अत्यन्तोपहतौ ॥९१॥

विष्णु कहे हैं—कुक्कुर, अस्थि, चण्डाल, काक के द्वारा मृत्तिका, पत्र, तृण, काष्ठ स्पृष्ट होने से चन्द्र रश्मि, सूर्यकिरण, एवं वायु के द्वारा शोधन करना पड़ता है ॥८६॥

बौधायन ने कहा—सूर्यकिरण एवं वायु के द्वारा आसन, शय्या वाहन, नाव, पथ, तृण एवं पक्वइष्टक निर्मित गृहादि शुद्ध होते हैं ॥८७॥

अथ धान्यादीनां संस्कारः

धान्यादि की शुद्धि। बौधायन की उक्ति इस प्रकार है—धान्य, शाक, मूल एवं फलसमूह जलप्रोक्षण के द्वारा अथवा जितने परिमाण में दूषित है, उतने अंश वर्जन के द्वारा किंवा तुषशून्यकरण के द्वारा शुद्ध होते हैं ॥८८॥

शङ्ख कहे हैं—घृत, तैल, गोरस, दुग्ध, दधि, नवनीत प्लावन के द्वारा शुद्ध होते हैं, अर्थात् घृतादि के पात्र जलमग्न कर देने से शुद्धि होती है। भाण्ड समूह का शोधन जलप्लावन से होता है, एवं जल से प्रक्षालन करने से ही शाक मूल एवं फल शुद्ध होते हैं ॥८९॥

ब्रह्मपुराण में उक्त है—द्रवद्रव्य का परिमाण अनेक होने से जलप्लावित करे, अर्थात् पात्र के साथ जल में डुबो दें। धान्य एवं अन्यान्य शस्य—शाक, मूल, फल का शोधन, दूषितांश का त्याग करके अवशिष्ट अंश का जलप्लावन करने से होता है ॥९०-९१॥

बृहस्पति कहते हैं—अग्निताप के द्वारा घृत तैल एवं प्लावन के द्वारा गोरस को शोधन करे। दूषित

अविलीनं तथा सर्पिर्विलीनं श्रपणेन तु ॥६३॥
आधारदोषे तु नयेत् पात्रात् पात्रान्तरं द्रवम् ।
घृतञ्च पायसं क्षीरं तथैक्षवरसो गुड़ः ।
शूद्रभाण्डस्थितं तक्रं तथा मधु न दुष्यति ॥६४॥

किञ्च मनुः—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन ।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥६५॥ इति ।

अन्येऽपि शुद्धिविधयो द्रव्याणां स्मृतिशास्त्रतः ।
अपेक्ष्या वैष्णवैर्ज्ञेयास्तत्तद्विस्तारणैरलम् ॥६६॥

तन्मात्रम्—यावदुपहतं तावन्मात्रमित्यर्थः; एतच्चानाकरविषयम् ॥९२-९३॥

आकरभाण्डे च विशेषं लिखति—आधारेति, आधारः आकरभाण्डं तद्दोषेण, पायसं पयोनिर्वृत्तं दधि शूद्रभाण्डस्थितमपि पात्रान्तरं नीतं सत् न दूष्यतीत्यर्थः । तथा च यमः—'आममांसं घृतं क्षौद्रं स्नेहाश्च फलसम्भवाः । म्लेच्छभाण्डस्थिता दुष्या निष्क्रान्ताः शुचयः स्मृताः ॥' इति । अन्यत्र च—'आकराः शुचयः सर्वे' इति ॥९४॥

शुचितामियात् द्रव्यं चाण्डालान्नव्यतिरिक्तं ज्ञेयम्, सदाचारात् । अन्नविषये चोक्तमापस्तम्बेन—'कृत्वा मूत्रं पुरीषञ्च द्रव्यहस्तः कथञ्चन । भूमावन्नं प्रतिक्षिप्य कृत्वा स्नानं यथाविधि । तत्संयोगात्तु पक्वान्नमुपस्पृश्य ततः शुचिः ॥' इति । बृहस्पतिना च—'शौचन्तु कुर्य्यात् प्रथमं पादौ प्रक्षालयेत्ततः । उपस्पृश्य तदभ्युक्ष्य गृहीतं शुचितामियात् ॥' इति । यद्यपि भगवद्द्रव्येषु तत्तदुपघातो न घटते, तथापि भगवदर्थ-तत्तद्द्रव्यार्पणापेक्षया, किंवा भ्रम-प्रमादादिना तत्तदुपघातसम्भावनया तत्तच्छुद्धिर्लिखितेति दिक् । वैष्णवैरपेक्षाश्चेत्, तर्हि स्मृतिशास्त्रेभ्यो ज्ञेयाः—'तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे । नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ॥ गोकुले कन्दुशालायां तैलयन्त्रेक्षुयन्त्रयोः । अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीषु बालातुरेषु च ॥' इत्याद्युक्तेः । तत्तस्मात्तेषां विस्तारणैर्विस्तरेण लिखनैरलं, तत्र प्रयोजनं नास्ति, ग्रन्थविस्तारभयादित्यर्थः ॥९५-९६॥

अंश को निकाल देनेसे कठिन दुग्ध एवं दधि शुद्ध होता है । घृत द्रवीभूत न होने से उक्त रीति से शुद्ध होता है । घृत द्रव होने से जलप्लावन कर उसको शुद्ध करे । आधार भाण्ड दूषित होने से द्रवद्रव्य को उक्त भाण्ड से निकाल कर अपर पात्र में स्थापन करे । शूद्र के पात्र में स्थित घृत, पायस, दुग्ध, इक्षुरस, गुड़, तक्र एवं मधु अशुद्ध नहीं होता है ॥९२-९४॥

मनु ने कहा है—हस्त में द्रव्य रहते हुए यदि उच्छिष्ट स्पर्श होता है, तब हस्तस्थित द्रव्य को न रखकर आचमन करने से शुद्धि होती है । वैष्णव वृन्द अन्यान्य स्मृति ग्रन्थ से शुद्धि विधान अवगत होकर आचरण करें । यहाँ ग्रन्थ विस्तार के भयसे समस्त शुद्धितत्त्व का उल्लेख नहीं हुआ ।

"तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे । नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ॥
गोकुले कन्दुशालायां तैल यन्त्रेक्षुयन्त्रयोः । अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीषु बालातुरेषु च ॥" ९५-९६॥

अथ पूजार्थ-तुलसीपुष्पाद्याहरणम्

प्रणम्याथ महाविष्णुं प्रार्थ्यानुज्ञान्तु वैष्णवः ।
समाहरेत् श्रीतुलसीं पुष्पादि च यथोदितम् ॥९७॥

यच्च हारीतवचनम्—

स्नानं कृत्वा तु ये केचित् पुष्पं गृह्णन्ति वै द्विजाः ।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति भस्मीभवति काष्ठवत् ॥९८॥ इति ।

तच्च मध्याह्नस्नानविषयम्; यत उक्तं पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये—

अस्नात्वा तुलसीं चित्वा देवार्थे पितृकर्मणि ।
तत् सर्वं निष्फलं याति पञ्चगव्येन शुध्यति ॥९९॥

किन्त्वत्र वाक्यान्तरं मृग्यम्

अथ गृहस्नानविधिः

स्वगृहे वाचरन् स्नानं प्रक्षाल्याङ्घ्री करौ तथा ।
आचम्यायम्य च प्राणान् कृतन्यासो हरिं स्मरेत् ॥१००॥
ततो गङ्गादिकं स्मृत्वा तुलसीमिश्रितैर्जलैः ।
पूर्णे पात्रे समस्तानि तीर्थान्यावाहयेत् कृती ॥१०१॥

आवाहनमन्त्रश्चायम्—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥१०२॥ इति ।

पुष्पम्, आदि-शब्देन पल्लवाङ्कुरादि, यथोदितं तत्र निषिद्धवर्जनाद्यनुसारेणेत्यर्थः ॥९७॥
प्राणान् आयम्य प्राणायामं कृत्वा ॥१००॥

अथ पूजार्थ-तुलसीपुष्पाद्याहरणम्—

पूजार्थ तुलसी पुष्पादि आहरण। श्रीविष्णुभक्त व्यक्ति महाविष्णु को प्रणाम पूर्वक अनुज्ञा ग्रहण के पश्चात् तुलसी चयन एवं यथायोग्य पुष्पादि संग्रह करें ॥९७॥

उक्त विषय में हारीत का कथन है—स्नात अवस्था में द्विजगण पुष्पाहरण करने से देवगण उक्त पुष्प ग्रहण नहीं करते हैं। वह काष्ठवत् भस्मीभूत होता है ॥९८॥

पूर्वोक्त स्नान शब्द से मध्याह्न स्नान को जानना होगा। कारण पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में उक्त है-स्नान न करके तुलसी चयन करने से समस्त कार्य निष्फल होता है। पञ्चगव्य स्पर्श से उक्त तुलसी की शुद्धि होती है। किन्तु इस विषय में विधानान्तर का अनुसन्धान करना कर्तव्य है ॥९९॥

अथ गृहस्नानविधिः

गृहस्नान विधि—अथवा निज गृह में हस्तपद प्रक्षालन, स्नान, आचमन, प्राणायाम एवं न्यास करके श्रीहरि का स्मरण करे ॥१००॥

अनन्तर सुकृती व्यक्ति गङ्गादि स्मरण पूर्वक तुलसी संयुक्त जलपूर्ण पात्र में समस्त तीर्थ का आवाहन करे ॥१०१॥

आवाहन मन्त्र—हे गङ्गे ! हे यमुने ! हे गोदावरि ! हे सरस्वति ! हे नर्मदे ! हे सिन्धु ! हे कावेरि !

अथवा जाह्नवीमेव सर्वतीर्थमयीं बुधः । आवाहयेद्द्वादशभिर्नामभिर्जलभाजने ॥१०३॥

द्वादश नामानि

नलिनी नन्दिनी सीता मालिनी च महापगा । विष्णुपादार्घ्यसम्भूता गङ्गा त्रिपथगामिनी ।
भागीरथी भोगवती जाह्नवी त्रिदशेश्वरी ॥१०४॥

पद्मपुराणे च वैशाखमाहात्म्ये—
नन्दिनीत्येव ते नाम देवेषु नलिनीति च । दक्षा पृथ्वी च विहगा विश्वनाथा शिवामृता ॥१०५॥
विद्याधरी महादेवी तथा लोकप्रसादनी ।
क्षमावती जाह्नवी च शान्ता शान्ति-प्रदायिनी ॥१०६॥ इति ।
अथाचम्य गुरुं स्मृताऽनुज्ञां प्रार्थ्य च पूर्ववत् ।
कृष्णपादाब्जतो गङ्गां पतन्तीं मूर्ध्नि चिन्तयेत् ॥१०७॥

तथा चोक्तं श्रीनारदपञ्चरात्रे—
स्वस्थितं पुण्डरीकाक्षं मन्त्रमूर्त्तिं प्रभुं स्मरेत् । अनन्तादित्यसङ्काशं वासुदेवं चतुर्भुजम् ॥१०८॥
शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधरं पीताम्बरावृतम् । श्यामलं शान्तवदनं प्रसन्नं वरदेक्षणम् ॥१०९॥
दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गं चारुहासमुखाम्बुजम् । अनेकरत्नसंच्छन्नज्वलन्मकरकुण्डलम् ॥११०॥
वनमाला-परिवृतं नारदादिभिरर्च्चितम् । केयूरवलयोपेतं सुवर्णमुकुटोज्ज्वलम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं देवं सर्वाभरणभूषितम् ॥१११॥

पूर्ववदिति—'देवदेव जगन्नाथ' इत्यनुज्ञां प्रार्थ्येत्यर्थः ॥१०७॥

इस जल में अवस्थान करें ॥१०२॥

अथवा विज्ञ व्यक्ति—सर्व तीर्थमयो जाह्नवी का आवाहन उनके द्वादश नामों के द्वारा करें ॥१०३॥

द्वादश नामानि

द्वादश नाम। नलिनी, नन्दिनी, सीता, मालिनी, महापगा, विष्णुपादार्घ्यसम्भूता, गङ्गा, त्रिपथगामिनी, भागीरथी, भोगवती, जाह्नवी, त्रिदशेश्वरी, ॥१०४॥

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में उक्त है—देवलोक में आपका नाम नन्दिनी, नलिनी, दक्षा, पृथ्वी, विहगा, विश्वनाथा, शिवा, अमृता, विद्याधरी, महादेवी, लोक प्रसादनी, क्षमावती, जाह्नवी, शान्ता एवं शान्ति प्रदायिनी है ॥१०५-१०६॥

अनन्तर आचमन पूर्वक श्रीगुरु स्मरण एवं अनुज्ञा प्रार्थन करके भावना करे कि गङ्गा श्रीकृष्ण चरण से निःसृता होकर अपने मस्तक में गिर रही है ॥१०७॥

श्रीनारद पञ्चरात्र में उक्त है—हृदय में अधिष्ठित मन्त्रमूर्त्ति पद्मलोचन असंख्य भास्कर सदृश प्रभु श्रीवासुदेव का स्मरण करे। उनके चार हाथ हैं। उक्त हस्त चतुष्टय में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, शोभित हैं, आप पीताम्बर धारी श्यामल वर्ण, प्रशान्त वदन एवं प्रसन्न हैं। उनके नेत्र युगल का दर्शन करने से प्रतीत होता है, कि—बर प्रदान के निमित्त आप समुद्यत हैं। उनके श्रीअङ्ग समूह दिव्य चन्दन से चर्चित हैं, वदनकमल से सुन्दर हास्य विराजित है, श्रवण युगल में बहुविध रत्न खचित मकर कुण्डल शोभित है, गलदेश वनमाला के द्वारा शोभित है, श्रीनारद प्रमुख ऋषिवृन्द उनकी अर्चना कर रहे हैं, आप केयूर

तत्पादपङ्कजाद्धारां निपतन्तीं स्वमूर्द्धनि । चिन्तयेद्ब्रह्मरन्ध्रेण प्रविशन्तीं स्वकां तनुम्
तया संक्षालयेत् सर्वमन्तर्द्देहगतं मलम् ॥११२॥
तत्क्षणाद्विरजा मन्त्री जायते स्फटिकोपमः ।
इदं स्नानवरं मान्त्रात् सहस्रमधिकं स्मृतम् ॥११३॥ इति ।
सकृन्नारायणेत्यादि वचनन्तत्र कीर्त्तयेत् । स्नानकाले तु तन्नाम संस्मरेच्च महाप्रभुम् ॥११४॥

तथा च कूर्मपुराणे—

आपो नारायणोद्भूतास्ता एवास्यायनं यतः ।
तस्मान्नारायणं देवं स्नानकाले स्मरेद्बुधः ॥११५॥ इति ।
स्नायादुष्णोदकेनापि शक्तोऽप्यामलकैस्तथा ।
तिलैस्तैलैश्च संवर्ज्य प्रतिषिद्धदिनानि तु ॥११६॥

अथोष्णोदकस्नानम्

षट्त्रिंशन्मते—

आपः स्वभावतो मेध्या विशेषादग्नियोगतः ।
तेन सन्तः प्रशंसन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥११७॥

सकृन्नारायणेत्याद्युक्त्वा, आदि-शब्देन 'ध्यायेन्नारायणं देवम्' इत्यादिलक्षणाद्वचनाद्धेतोस्तस्य नारायणस्य नाम कीर्त्तयेत् ॥११४॥

न केवलं शीतोदकेन, उष्णोदकेनापि; तथापि न केवलमशक्तः, शक्तो रोगादिहीनोऽपीत्यर्थः । रोगिणस्तु सदैवोष्णोदकेन स्नानमुक्तं यमेन—'आदित्यकिरणैस्तप्तं पुनः पूतश्च वह्निना । अस्नातमातुरस्नाने प्रशस्तन्तु श्रृतोदकम् ॥' इति । प्रतिषिद्धदिनान्यग्रे लेख्यानि ॥११६॥

वलय से भूषित है, स्वर्णमुकुट से अतिशय उज्ज्वल हैं, सर्वाङ्ग सुन्दर एवं क्रीड़ानिरत तथा समस्त अलङ्कारों से आप सुशोभित हैं । उनके श्रीचरण कमल से विनिःसृत धारा निज मस्तक में निपतित हो रही है, एवं ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा अभ्यन्तर में प्रविष्ट हो रही है, तद् द्वारा देहान्तर्गत मलराशि विधौत हो रही है । दीक्षित व्यक्ति, इस प्रकार भावना करने से अचिरात् स्फटिकवत् निर्मल होता है, कथित है कि—यह सर्व प्रधान स्नान, स्नानमन्त्रकी अपेक्षा सहस्रगुण उत्तम है ।

स्नान के समय 'नारायण' इत्यादि अर्थात् 'ध्यायेत् नारायणं देवं' इत्यादि का कीर्त्तन एकबार करे एवं उक्त श्रीनारायण नाम उच्चारण करे, सर्वप्रधान श्रीप्रभु का स्मरण भी करे ॥१०८-११४॥

कूर्मपुराण में उक्त है—श्रीनारायण से जल उत्पन्न हुआ है, एवं जल ही श्रीनारायण का वासस्थान है, एतज्जन्य विज्ञ व्यक्ति स्नानकाल में श्रीनारायण स्मरण करे ॥११५॥

शरीर नीरोग रहने से निषिद्ध दिन व्यतीत अन्यान्य दिन में आमलकी अथवा तिल किंवा तैल मर्दन करके उष्ण जल से स्नान करे ॥११६॥

अथोष्णोदकस्नानम्—

उष्णोदक स्नान । षट् त्रिंशव मत में वर्णित है—जल, स्वाभाविक पवित्र है, अग्निसंयुक्त होने से विशेष रूपसे शुद्ध होता है । तज्जन्य साधुगण उष्णजल के द्वारा स्नान का माहात्म्य वर्णन करते हैं ॥११७॥

यमश्च—

आपः स्वयं सदा पूता वह्नितप्ता विशेषतः।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु उष्णाम्भः पावनं स्मृतम् ॥११८॥

यच्चोक्तं शङ्खेन—

स्नातस्य वह्नितप्तेन तथैवातपवारिणा।
शरीरशुद्धिर्विज्ञेया न तु स्नानफलं भवेत् ॥११९॥ इति।

तत्तु काम्यनैमित्तिकविषयम्।

अतएवोक्तं गर्गेण—

कुर्य्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च।
नित्यं याद‍ृच्छिकञ्चैव यथारुचि समाचरेत् ॥१२०॥

अथ तत्र निषिद्धदिनानि

तत्र यमः—

पुत्रजन्मनि संक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्य्ययोः। अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा ॥१२१॥

वृद्धमनुः—

पौर्णमास्यां तथा दर्शे यः स्नायादुष्णवारिणा।
स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोतीह न संशयः ॥१२२॥

अथामलकस्नानम्

तत्र मार्कण्डेयः—

तुष्यत्यामलकैर्विष्णुरेकादश्यां विशेषतः। श्रीकामः सर्वदा स्नानं कुर्वीतामलकैर्नरः ॥१२३॥

नित्यस्नानञ्च याद‍ृच्छिकम् अनियतम्; अतो निजरुच्यनुसारेण शीताभिरुष्णाभिर्वाऽद्भिस्तत् कुर्यादित्यर्थः; याद‍ृच्छिकं सुखार्थस्नानमिति वा ॥१२०॥

यमने भी कहा है – जल स्वयं निरन्तर शुचि है, अग्नितप्त होनेसे अधिकतर शुद्ध होता है, सुतरां सब समय ही उष्णजल, विशुद्ध शब्द से अभिहित होता है ॥११८॥

जो व्यक्ति, अग्नितप्त, अथवा सूर्यकिरणतप्त जल से स्नान करता है, जानना होगा की—उससे उनका शरीर शुद्ध होता है, किन्तु स्नान का फल लाभ नहीं होता है ॥११९॥

शङ्ख की यह उक्ति - काम्य एवं नैमित्तिक कर्मविषयक है, तज्जन्य गर्गाचार्य्य ने कहा है, नैमित्तिक एवं काम्य स्नान शीतलजल से करे। नित्य स्नान में विशेष विधि नहीं है, रुचि के अनुसार शीतल, उष्ण समस्त जल में स्नान हो सकता है ॥१२०॥

अथ तत्र निषिद्धदिनानि

उष्ण जल से स्नान के सम्बन्ध में निषिद्ध दिन। यमराज ने कहा – पुत्र जन्मदिन में, संक्रान्ति में, चन्द्र सूर्य्योपराग में अस्पृश्य स्पर्श होने से उष्णजल से स्नान करना कर्तव्य नहीं है ॥१२१॥

वृद्धमनु का कथन है—पूर्णिमा अमावस्या तिथि में जो व्यक्ति उष्णजल से स्नान करता है, वह इस जगत् में गो हत्या पाप से लिप्त होता है। इस में कोई सन्देह नहीं है ॥१२२॥

अथामलकस्नानम्—

आमलकी स्नान। मार्कण्डेय ने कहा है—आमलकी द्वारा श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं, विशेषतः एकादशी

सप्तम्यां न स्पृशेत्तैलं नीलीवस्त्रं न धारयेत् ।
न चाप्यामलकैः स्नायान्न कुर्य्यात् कलहं नरः ॥१२४॥

भृगुः—

अमां षष्ठीं सप्तमीञ्च नवमीञ्च त्रयोदशीम् । संक्रान्तौ रविवारे च स्नानमालकैस्त्यजेत् ॥१२५॥

याज्ञवल्क्यः—

धात्रीफलैरमावस्यासप्तमीनवमीषु च । यः स्नायात्तस्य हीयन्ते तेजश्चायुर्धनं सुताः ॥१२६॥

अथ तिलस्नानम्

तत्र बृहस्पतिः—

सर्वकालं तिलैः स्नानं पुनर्व्यासोऽब्रवीन्मुनिः ॥१२७॥

षट्त्रिंशन्मते—

तथा सप्तम्यमावस्या-संक्रान्ति-ग्रहणेषु च । धनपुत्रकलत्रार्थी तिलस्पृष्टं न संस्पृशेत् ॥१२८॥

अथ तैलस्नानम्

तत्रैव—

षष्ठ्यां तैलमनायुष्यं चतुर्ष्वपि च पर्वसु ॥१२९॥

योगी-याज्ञवल्क्यः—

दशम्यां तैलमस्पृष्ट्वा यः स्नायादविचक्षणः ।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुः प्रज्ञा यशोधनम् ॥१३०॥

दशम्यामस्पृष्टेति—तस्यां तैलस्नानस्यावश्यकतोक्ता ॥१३०॥

में सन्तुष्ट होते हैं। मनुष्य में लक्ष्मी लाभेच्छु व्यक्ति सर्वदा आमलकी स्नान करे ॥१२३॥

मानव, सप्तमी तिथि में तैल स्पर्श न करे। नीलवर्ण वसन धारण भी न करे, आमलकी स्नान एवं कलह न करे ॥१२४॥

भृगु ने कहा—अमावस्या, षष्ठी, सतमी, नवमी, त्रयोदशी, संक्रान्ति एवं रविवार में आमलकी स्नान निषिद्ध है ॥१२५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा है—अमावस्या, सप्तमी, नवमी में जो व्यक्ति आमलकी के द्वारा स्नान करता है, उसका तेजः, आयु, धन, पुत्र विनष्ट होते हैं ॥१२६॥

अथ तिलस्नानम्—

तिलस्नान। बृहस्पति का कथन है—व्यासऋषि समस्त कालों में तिल स्नान का विधान प्रदान किए हैं। षट्त्रिंशत् मत में वर्णित है, धन, पुत्र, कलत्रकामी व्यक्ति, सतमी, अमावस्या, संक्रान्ति, एवं ग्रहण काल में जो व्यक्ति तिल स्पर्श करता है, उसको स्पर्श न करे ॥१२७-२८॥

अथ तैलस्नानम्—

तैल स्नान। षट् त्रिंशत् मत में उक्त है—षष्ठीतिथि, एवं चारों पर्व में तैल म्रक्षण करने से आयुः की हानि होती है ॥१२९॥

योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है—जो अदूरदर्शी व्यक्ति, दशमी तिथि में तैल स्पर्श न करके स्नान करता है,

मोहात् प्रतिपदं षष्ठीं कुहूं रिक्तातिथिन्तथा ।
तैलेनाभ्यञ्जयेद्यस्तु चतुर्भिः परिहीयते ॥१३१॥

पञ्चदश्यां चतुर्द्दश्यां सप्तम्यां रविसंक्रमे ।
द्वादश्यां सप्तमीं षष्ठीं तैलस्पर्शं विवर्ज्जयेत् ॥१३२॥

अन्यच्च—
सप्तम्यां न स्पृशेत्तैलं नवम्यां प्रतिपद्यपि । अष्टम्याञ्च चतुर्द्दश्याममावस्यां विशेषतः ॥१३३॥

किञ्च—
स्नाने वा यदि वास्नाने पक्कतैलं न दुष्यति ॥१३४॥

किञ्चात्रिस्मृतौ—
तैलाभ्यक्तो घृताभ्यक्तो विण्मूत्रे कुरुते द्विजः ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥१३५॥

अथाङ्गमलमुत्तार्य्य स्नात्वा विधिवदाचरेत् ।
नासालग्नेन चुलुकोदकेनैवाघमर्षणम् ॥१३६॥

ततो गुर्वादिपादोदैः प्राग्वत् कृत्वाभिषेचनम् ।
कार्य्योऽभिषेकः शङ्खेन तुलसीमिश्रितैर्जलैः ॥१३७॥

चतुर्भिः पूर्वोक्तैरायुरादिभिः ॥१३१॥
विशेषत इत्यनेन सप्तम्यादौ तैलत्यागावश्यकताभिप्रेता ॥१३३॥
पक्कतैलञ्च कदाचिदपि न दोषावहमिति पूर्वोक्तेऽपवादं लिखति—स्नाने वेति ॥१३४॥
कृततैलाभ्यङ्गस्तु विण्मूत्रोत्सर्गं न कुर्य्यादिति प्रसङ्गाल्लिखति—तैलेति । अहोरात्रम् उषित उपोषितो भूत्वा पञ्चगव्यपानेन शुद्धो भवेत् । पाठान्तरे तु अन्त्यजस्पर्शं तदानीं यत्नेन वर्जयेदिति भावः ॥१३५॥

उसके आयुः, प्रज्ञा, यश, धन, ये चार नाश होते हैं। अज्ञानता से जो व्यक्ति प्रतिपत्, षष्ठी, अमावस्या रिक्ता, चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी तिथि में तैलाभ्यङ्ग करता है, उसके पूर्वोक्त चतुष्टय विनष्ट होते हैं। पञ्चदशी, चतुर्दशी, सप्तमी, सूर्य संक्रमण, द्वादशी एवं षष्ठी तिथि में तैल म्रक्षण निषिद्ध है, अर्थात् तैल मलना निषिद्ध है ॥१३०-१३२॥

और भी वर्णित है—सप्तमी, नवमी, प्रतिपद, अष्टमी, चतुर्दशी तिथि में विशेषकर अमावस्या तिथि में तैलस्पर्श निषिद्ध है ॥१३३॥

और भी वर्णित है—स्नान में अथवा अस्नान में पक्क तैल व्यवहार दोषावह नहीं है ॥१३४॥

अत्रिस्मृति में उक्त है—द्विज, तैल अथवा घृत म्रक्षण करके मलमूत्र विसर्जन करता है, तो उनकी शुद्धि अहोरात्र उपवास कर पञ्चगव्य भक्षण से होती है, तत् पश्चात् गात्र सम्मार्जन के बाद यथाविधि स्नान एवं नासिकास्पृष्ट जलगण्डुष के द्वारा अघमर्षण करे। अनन्तर श्रीगुरु प्रभृति के चरणोदक से पूर्ववत् स्नान करके तुलसी संयुक्त शङ्ख जलके द्वारा स्नान करना कर्तव्य है ॥१३५-१३७॥

अत तुलसीजलाभिषेक-माहात्म्यम्

गारुड़े—

मार्ज्जयत्यभिषेके तु तुलस्या वैष्णवो नरः ।
सर्वतीर्थमयं देहं तत्क्षणात् द्विज जायते ॥१३८॥
तुलसीदलजस्नाने एकादश्यां विशेषतः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो यद्यपि ब्रह्महा भवेत् ॥१३९॥
तन्मूलमृत्तिकाभ्यङ्गं कृत्वा स्नाति दिने दिने ।
दशाश्वमेधावभृतं लभते स्नानजं फलम् ॥१४०॥
तुलसीदलसंमिश्रं तोयं गङ्गासमं विदुः ।
यो वहेच्छिरसा नित्यं धृता भवति जाह्नवी ॥१४१॥
पादोदकं ताम्रपात्रे कृत्वा सतुलसीदलम् ।
शङ्खे कृत्वाभिषिञ्चेत मूलेनैव स्वमूर्द्धनि ॥१४२॥

तन्माहात्म्ये चोक्तं पाद्मे कार्तिक माहात्म्ये—

द्वारकाचक्रसंयुक्त-शालग्रामशिलाजलम् । शङ्खे कृत्वा तु निक्षिप्तं स्नानार्थं ताम्रभाजने ।
तुलसीदलसंयुक्तं ब्रह्महत्याविनाशनम् ॥१४३॥ इति ।
स्नानशाटीतरेणैव वाससाम्भांसि गात्रतः ।
संमार्ज्ज्य वाससी दध्यात् परिधानोत्तरीयके ॥१४४॥

स्नानशाटचा इतरेण अन्येन ॥१४४॥

अथ तुलसीजलाभिषेक-माहात्म्यम्—

तुलसी जल माहात्म्य । गरुड़ पुराण में वर्णित है—हे द्विज ! वैष्णवजन स्नान के समय तुलसीपत्र के द्वारा शरीर मार्जन करने से तत्क्षणात् उनका देह निखिल तीर्थमय होता है । तुलसीदल मिश्रित जलके द्वारा स्नान करने से विशेषतः एकादशी तिथि में तुलसीदल मिश्रित जलके द्वारा स्नान करने से समस्त पाप विनष्ट होते हैं। प्रत्यह तुलसीदल युक्त मृत्तिका लेपन शरीर में करके स्नान करने से दश संख्यक अश्वमेध के अवभृत स्नान का फलप्राप्त होता है । बुधगण तुलसीदल संयुक्त जल को जाह्नवी सलिल के समान मानते हैं । जो व्यक्ति प्रत्यह स्वीय मस्तक में तुलसी मिश्रित जल धारण करते हैं, मस्तक में गङ्गा धारण का फल उनको प्राप्त होता है । ताम्रपात्रस्थ तुलसीदल मिश्रित श्रीविष्णु पादोदक शङ्ख में लेकर मूल मन्त्रोच्चारण के सहित उससे निज मस्तक का अभिषेक करे ॥१३८-४२॥

पद्मपुराणोक्त कार्तिक माहात्म्य में उसका माहात्म्य वर्णित है—द्वारका चक्राङ्कित शालग्राम शिलोद्भव तुलसी मिश्रित जल शङ्ख में लेकर ताम्रपात्र में निक्षेप करने से वह ब्रह्महत्या जनित पाप नाशक होता है ॥१४३॥

स्नान के समय जिस वस्त्र का धारण हुआ है, स्नानके पश्चात् गात्र मार्जन के निमित्त उस वस्त्र का व्यवहार न करे, अपर वस्त्र से गात्र मार्जन करे, पश्चात् परिधेय एवं उत्तरीय वसन धारण करे ॥१४४॥

अथ वस्त्रधारणविधिः

तत्रात्रिः—

अधौतं कारुधौतं वा परेद्युधौतमेव वा ।
काषायं मलिनं वस्त्रं कौपीनञ्च परित्यजेत् ॥१४५॥
न चार्द्रमेव वसनं परिदध्यात् कदाचन ॥१४६॥

नग्नो मलिनवस्त्रः स्यात् नग्नश्चार्द्धपटः स्मृतः ।
नग्नो द्विगुणवस्त्रः स्यान्नग्नो रक्तपटस्तथा ॥१४७॥

नग्नश्च स्यूतवस्त्रः स्यान्नग्नः स्निग्धपटस्तथा ।
द्विकच्छोऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एव च ॥१४८॥

श्रौतं स्मार्त्तं तथा कर्म न नग्नश्चिन्तयेदपि ।
मोहात् कुर्वन्नधो गच्छेत्तद्धवेदासुरं स्मृतम् ॥१४९॥

जपहोमोपवासेषु धौतवस्त्रधरो भवेत् ।
अलङ्कृतः शुचिर्मौनी श्राद्धादौ च जितेन्द्रियः ॥१५०॥

गोभिलः—

एकवस्त्रो न भुञ्जीत न कुर्य्याद्देवतार्चनम् ॥१५१॥

त्रैलोक्यसम्मोहन-पञ्चरात्रे —

शुक्लवासा भवेन्नित्यं रक्तञ्चैव विवर्जयेत् ॥१५२॥

नग्नो दिगम्बरः जैनभेदो वा ॥१४७॥

अथ वस्त्रधारणविधिः

वस्त्र धारण विधि । अत्रि कहते हैं—अधौत अथवा रजक धौत, अन्यदिन का धुलाहुआ वस्त्र, काषाय वस्त्र मलिन वस्त्र, एवं कौपीन परित्याग करे । कभी भी आर्द्र वस्त्र धारण न करे ॥१४५-१४६॥

मलिन वस्त्र धारणकारी को नग्न कहते हैं । साधारण परिमाण में जो वस्त्र अर्द्धपरिमाण का है उसको पहरने वाले को उलङ्ग कहते हैं । जो व्यक्ति साधारण परिमाण से द्विगुण वस्त्र धारण करता है, उसे नंगा कहते हैं, रक्त वसन धारण कारी को उलङ्ग कहते हैं, द्विकच्छ वस्त्र, उत्तरीय हीन, सिलाइ क्रिया हुआ वस्त्र, तैलाक्त वस्त्र, और जिसका परिधेय वसन नहीं है, उसे नग्न कहते हैं । नग्न व्यक्ति का अधिकार वेद विहित एवं स्मृति विहित कर्म में नहीं है । प्रमाद वशतः यदि मानव उक्त कर्म की भावना मन से करता है, तो उसकी अधोगति होती है, एवं उसके द्वारा अनुष्ठित क्रिया समूह असुरार्थ कल्पित होते हैं । जप, होम, उपवास, एवं श्राद्धादि कर्म के निमित्त अलङ्कृत, शुचि, मौनी एवं जितेन्द्रिय होना विधेय है, धौत वसन धारण अवश्य करे ॥१४७-१५०॥

गोभिल ने कहा—एक वस्त्र धारण पूर्वक भोजन एवं देवार्चन निषिद्ध है ॥१५१॥

त्रैलोक्य सम्मोहन पञ्चरात्र में उक्त है—निरन्तर शुभ्र वस्त्र धारण करे एवं रक्तवस्त्र का वर्जन करे ॥१५२॥

अङ्गिराः—

शौचं सहस्ररोमाणां वाय्वग्न्यर्केन्दुरश्मिभिः। रेतःस्पृष्टं शवस्पृष्टमाविकं नैव दुष्यति ॥१५३॥

अन्यत्र च—

छिन्नं वा सन्धितं दग्धमाविकं न प्रदुष्यति। आविकेन तु वस्त्रेण मानवः श्राद्धमाचरेत्।
गयाश्राद्धसमं प्रोक्तं पितृभ्यो दत्तमक्षयम् ॥१५४॥
न कुर्य्यात् सन्धितं वस्त्रं देवकर्मणि भूमिप।
न दग्धं न च वै छिन्नं पारक्यं न तु धारयेत् ॥१५५॥
काकविष्ठासमं ह्युक्तमविधौतञ्च यद्भवेत्।
रजकादाहृतं यच्च न तद्वस्त्रं भवेच्छुचि ॥१५६॥
कीटस्पृष्टन्तु यद्वस्त्रं पुरीषं येन कारितम्।
मूत्रं वा मैथुनं वापि तद्वस्त्रं परिवर्जयेत् ॥१५७॥
आविकन्तु सदावस्त्रं पवित्रं राजसत्तम।
पितृदेवमनुष्याणां क्रियायाञ्च प्रशस्यते ॥१५८॥
धौताधौतं तथा दग्धं सन्धितं रजकाहृतम्।
शुक्र-मूत्र-रक्तलिप्तं तथापि परमं शुचि ॥१५९॥
अग्निराविकवस्त्रञ्च ब्राह्मणाश्च तथा कुशाः।
चतुर्णां न कृतो दोषो ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥१६०॥

सहस्राणि असंख्येयानि रोमाणि येषु तेषामूर्णादिर्निर्मितानां कम्बलादीनामित्यर्थः। आविकं मेषरोमनिर्मितं कम्बलादि ॥१५३॥

अङ्गिरा की उक्ति है—वायु, बह्नि, सूर्यकिरण चन्द्ररश्मि के द्वारा रोम निर्मित वस्त्र की शुद्धि होती है। मेषलोमादि निर्मित कम्बलादि रेतःस्पृष्ट, शवस्पृष्ट होने पर भी अशुद्ध नहीं होते हैं ॥१५३॥

अन्यत्र भी वर्णित है—मेषलोम निर्मित वस्त्र, छिन्न, दग्ध, स्यूत 'सिलाई किया हुआ' होने पर भी अशुद्ध नहीं होता है। मेषलोम निर्मित वस्त्र धारण कर श्राद्ध करना कर्तव्य है, उससे गया श्राद्ध के समान फल होता है, एवं अक्षय होता है। हे नृपते ! सन्धित वस्त्र (सिलाई वस्त्र) धारण कर दैव कर्म निषिद्ध है एतद्व्यतीत दग्ध, छिन्न, अथवा अपर का परिधेय वसन भी धारण न करे। जो वस्त्र जलके द्वारा धौत नहीं है, ऐसे वस्त्र काक विष्ठा के समान है, और रजक के घर से लाया हुआ विना धुले वस्त्र भी अपवित्र है, कीट स्पृष्ट वस्त्र, जिसको धारण कर मलमूत्र विसर्जन हुआ है, एवं नारी सहवास हुआ है, वह वसन सर्वथा त्याज्य है। हे नृपश्रेष्ठ ! मेषरोम निर्मित वसन सर्वदा ही शुद्ध है, आविक वस्त्र पितृकर्म दैवकर्म, मनुष्यकर्म, एवं समस्त कर्म में ही प्रशस्त है, धौत, अधौत दग्ध, सन्धित, रजकगृह से आनीत, शुक्र, मूत्र, एवं रक्तलिप्त वस्त्र, आविक होने से सर्वथा शुचि है। परमेष्ठी पितामह ने, अग्नि मेषरोमज वसन द्विजाति एवं कुश को अशुद्ध नहीं किया है ॥१५४-१६०॥

किञ्चान्यत्र—

धारयेद्वाससी शुद्धे परिधानोत्तरीयके ।
अच्छिन्नसुदशे शुक्ले आचामेत् पीठसंस्थितः ॥१६१॥

अथ पीठम्

बह्वृचपरिशिष्टे—

यतीनामासनं शुक्लं कूर्माकारन्तु कारयेत् ।
अन्येषान्तु चतुष्पादं चतुरस्रन्तु कारयेत् ॥१६२॥
गोशकृन्मृन्मयं भिन्नं तथा पलाशपैप्पलम् ।
लोहबद्धं सदैवार्कं वर्जयेदासनं बुधः ॥१६३॥

अथासनविधिः

तत्रैव—

दानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम् ।
प्रौढ़पादो न कुर्वीत स्वाध्यायञ्चैव तर्पणम् ॥१६४॥
आसनारूढ़पादस्तु जानुनोर्वाथ जङ्घयोः ।
कृतावसक्थिको यस्तु प्रौढ़पादः स उच्यते ॥१६५॥ इति ।
ततो भूमिगताङ्घ्रिः सन् निविश्याचम्य दर्भभृत् ।
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रादिकं कुर्य्यात् श्रीगोपीचन्दनादिना ॥१६६॥

अच्छिन्ना सुशोभना च दशा ययोस्ते ।१६१॥
वस्त्रपरिधानानन्तरं पीठे संस्थितः सन्नाचामेदित्युक्तम्, तत्पीठमेव लिखति—यतीनामित्यादिना ॥१६२॥

अनन्तर वर्णित है—जो अच्छिन्न है, अर्थात् फटा नहीं है, अतिसुन्दर है, इस प्रकार विशुद्ध शुभ्रवर्ण परिधेय वस्त्र एवं उत्तरीय (दुपट्टा) धारण करे। वस्त्र परिधान के अनन्तर पीठ में समासीन हो कर आचमन करे ॥१६१॥

अथ पीठम्—

अथ पीठम्। वसन परिधान के पश्चात् पीठ में उपवेशन करके आचमन करे, कहा गया है, अतः पीठ का वर्णन करते हैं, वह् वृच परिशिष्ट में वर्णित है—यतिगण के आसन शुभ्रवर्ण एवं कूर्माकृति का होगा, अन्यान्य आश्रमिगण के निमित्त चतुष्पाद युक्त चतुष्कोण आसन विहित है, गोमय निर्मित, मृन्मय, विदीर्ण (फटा हुआ) पलाश काष्ठ रचित, अश्वत्थ काष्ठ निर्मित लौह बद्ध एवं आकन्द काष्ठ निर्मित आसन का परित्याग विवेकिगण सर्वदा करें ॥१६२-१६३।

अथासनविधिः—

आसन विधि। उक्त ग्रन्थ में लिखित है—दान, आचमन, होम, आहार, देवपूजा, वेदपाठ, तर्पण ये सब कार्य्य पौढ़पाद होकर न करे। जो व्यक्ति आसन में निजचरण स्थापन पूर्वक जानु एवं जङ्घा को उच्च करके उपवेशन करता है, उसको प्रौढ़ पाद कहते हैं ॥१६४-१६५॥

अनन्तर भूतल में पद स्थापन पूर्वक उपवेशन करके कुशधारण करे, पश्चात् आचमन एवं गोपीचन्दनादि

तत्रादावनुलेपेन भगवच्चरणाब्जयोः ।
निर्माल्येन प्रसादेन सर्वाण्यङ्गानि मार्जयेत् ॥१६७॥

तदुक्तं ब्राह्म्ये श्रीभगवता—

शालग्रामशिलालग्नं चन्दनं धारयेत् सदा ।
सर्वाङ्गेषु महाशुद्धिसिद्धये कमलासन ॥१६८॥ इति ।
ततो द्वादशभिः कुर्य्यान्नामभिः केशवादिभिः ।
द्वादशाङ्गेषुविधिवदूर्द्ध्वपुण्ड्राणि वैष्णवः ॥१६९॥

दर्भभृत् कुशपाणिः सन्, यद्यप्यूर्द्ध्वपुण्ड्रनिर्माणानन्तरमेवाचमनं युक्तम् तथाप्यत्र पूजार्थतिलकविशेषादि-निमित्तमादावाचमनं सत्सम्प्रदायानुसारेण लिखितम् । तिलकानन्तरमाचमनञ्च पूर्वं बहिःस्नाने लिखितमेवास्ति ॥१६६॥

प्रसादरूपेण निर्माल्येन ॥१६७॥

केशवादिभिर्मूर्तिपञ्जरन्यासोक्तैर्द्वादशभिर्नामभिः क्रमेण ललाटादिद्वादशाङ्गेषु ऊर्द्ध्वपुण्ड्राणि द्वादश कुर्य्यात् वैष्णव इति—विशेषतो वैष्णवस्य विधेयत्वं सूचयति । विधिर्यथा स्यादित्यत्रायं विधिः—मूर्त्तिपञ्जर-न्यासानुसारेण प्रणवपूर्वकं सबिन्द्वकारादि-द्वादशवर्णैर्द्वादशादित्यैश्च सहितान् केशवादीन् द्वादश न्यसेत् । तत्र केचित् केशवादिन्यासोक्तं कीर्त्त्यादिद्वादश-शक्तिभिरपि सह न्यस्यन्ति । द्वादशादित्याश्चोक्ताः 'धातार्य्यमा च मित्रश्च वरुणोऽंशुभगस्तथा । विवस्वानिन्द्रः पूषा च पर्जन्य -त्वष्टृ विष्णवः ।।' इति । ततश्चायं प्रयोगः—'ॐ अं धातृसहिताय केशवाय कीर्त्त्यै नमः' ललाटे इत्यादि । किञ्च, ललाटोर्द्ध्वपुण्ड्र मानादिकमग्रे व्यक्तं भावि । अन्याङ्गोर्द्ध्वपुण्ड्राणाञ्च केचिद्दीपशिखाकारतया, केचिच्च बाह्वोर्वक्षःस्थले पुण्ड्रमष्टाङ्गुलमुदाहृतम्' इत्यादि पद्मपुराणोत्तरखण्डोक्तानुसारेण बाह्वोर्वक्षःस्थले पुण्ड्रं चाष्टाङ्गुल प्रमाणमन्यत्र चतुरङ्गुल-प्रमाणमित्येवं, तत्रापि केचिन्मध्ये छिद्रतयेच्छन्तीति विविधो विधिः । तत्र च

के द्वारा ऊर्द्ध्वपुण्ड्र रचना करे । ऊर्द्ध्वपुण्ड्र तिलक निर्माण के पश्चात् ही आचमन विधेय है, तथापि पूजनार्थ तिलक विशेषादि के निमित्त प्रथम आचमन विहित हुआ है । सत् सम्प्रदाय के अनुसार उक्ताचरण लिखित हुआ । प्रथम भगवच्चरणारविन्द विलिप्त निर्माल्य प्रसादी चन्दन सर्वाङ्ग में लेपन करे ॥१६६-१६७॥

ब्रह्मपुराण में श्रीभगवान् ने कहा—हे ब्रह्मन् ! महाशुद्धि प्राप्ति के निमित्त शालग्रामशिलालग्न चन्दन का धारण सर्वाङ्ग में करे ॥१६८॥

अतःपर वैष्णवजन, केशवादि द्वादशनामोच्चारण पूर्वक यथाविधि द्वादश अङ्ग में ऊर्द्ध्वपुण्ड्र रचना करे । मूर्त्तिपञ्जर न्यास के अनुसार द्वादश नाम के द्वारा क्रमशः ललाटादि द्वादश अङ्ग में ऊर्द्ध्वपुण्ड्र तिलक रचना करे । अर्थात् प्रणव पूर्वक बिन्दु संयुक्त अकारादि द्वादश वर्ण का न्यास द्वादशाङ्ग में करे। कतिपय व्यक्ति के मत में उसके सहित कीर्त्त्यादि द्वादशादित्य इस प्रकार है—

"धातार्य्यमा च मित्रश्च वरुणोऽंशुर्भगस्तथा । विवस्वानिन्द्रः पूषा च पर्जन्य-त्वष्टृ विष्णवः"

प्रयोग इस प्रकार है—'ओं अं धातृसहिताय केशवाय कीर्त्त्यै नमः" ललाटे इत्यादि । ऊर्द्ध्वपुण्ड्र का विधान आगे कहेंगे । अन्याङ्ग में ऊर्द्ध्वपुण्ड्र का किसी के मत में परिमाण दीपशिखाकार है । अपर के मत में—बाहुवक्षःस्थल में पुण्ड्र अष्टाङ्गुल परिमित है, अन्यत्र चार अङ्गुल परिमित है, किसी के मत में मध्य में छिद्र की कल्पना है । ऊर्द्ध्वपुण्ड्र के विषय में निज सम्प्रदाय के व्यवहारान्तरूप ही अनुसरण करे। इस अभिप्राय से ही अग्रिम ग्रन्थ में लिखित है—सम्प्रदायानुसारतः ॥१६९॥

अथ द्वादशतिलकविधिः

पद्मपुराणे उत्तरखण्डे—

ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे ।
वक्षःस्थले माधवन्तु गोविन्दं कण्ठकूपके ॥१७०॥
विष्णुञ्च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम् ।
त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके ॥१७१॥
श्रीधरं वामबाहौ तु हृषिकेशन्तु कन्धरे ।
पृष्ठे तु पद्मनाभञ्च कट्यां दामोदरं न्यसेत् ॥१७२॥
तत्प्रक्षालनतोयन्तु वासुदेवेति मूर्द्धनि ॥१७३॥

किञ्च—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं ललाटे तु सर्वेषांप्रथमं स्मृतम् ।
ललाटादिक्रमेणैव धारणन्तु विधीयते ॥१७४॥ इति ।
एवं न्यासं समाचर्य्य सम्प्रदायानुसारतः ।
न्यसेत् किरीटमन्त्रञ्च मूर्द्धनिसर्वार्थसिद्धये ॥१७५॥

निजसम्प्रदाय-व्यवहार एवानुसर्त्तव्यः, इत्याद्यभिप्रायेणैवाग्रे लेख्यं सम्प्रदायानुसारतः ॥१६९॥ इति ।

तत्तन्नामानि अङ्गानि च विभज्य दर्शयति ललाटेति त्रिभिः । ध्यायेत् न्यसेत् ॥१७०॥

त्रिविक्रमं दक्षिणे कन्धरे, हृषिकेशं वामे कन्धरे ॥१७१-१७२॥

एवं केशवाद्यानां दामोदरान्तानां द्वादशानां न्यासमुक्त्वा मस्तके श्रीवासुदेवस्य न्यासमाह—तदिति वासुदेवेति 'वासुदेवाय नमः' इति एतच्च समस्त स्वरैः सह न्यसेदिति ज्ञेयम् । केचिच्च द्वादशाक्षर-मन्त्रं मूर्द्धनि विनस्यन्ति । अत्रापि सत्सम्प्रदायाचार एव गतिरिति दिक् ॥१७३॥

सम्प्रदायानुसारत इति सर्वत्राग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयम् ॥१७५॥

अथ द्वादशतिलकविधिः—

द्वादश तिलक विधि । पद्मपुराण के उत्तर खण्ड मे उक्त है—ललाट में केशव, उदर में नारायण, वक्षःस्थल में माधव, कण्ठकूप में गोविन्द, दक्षिण कुक्षि में विष्णु, दक्षिण बाहु में मधुसूदन, दक्षिण कन्धर में त्रिविक्रम, वाम पार्श्व में वामन, वाम बाहु में श्रीधर, वाम कन्धर में हृषिकेश, पृष्ठ में पद्मनाभ एव कटि में दामोदर का ध्यान करके न्यास करे। प्रक्षालन जल का न्यास निज मस्तक में अकारादि द्वादश स्वर के सहित "वासुदेवाय नमः" मन्त्रोच्चारण पूर्वक करे ॥१७०-१७३॥

और भी वर्णित है—प्रथम ललाट में ऊर्द्ध्वपुण्ड्र तिलक की रचना का विधान सबके लिए ही है। ललाटादि क्रमसे ही तिलक धारण विधि निर्दिष्ट है ॥१७४॥

इस प्रकार सम्प्रदाय के अनुसार ऊर्द्ध्वपुण्ड्र रचना करके सर्वार्थ सिद्धि के निमित्त शिरोमात्र में किरीट मन्त्र का न्यास करे ॥१७५॥

अथ किरीटमन्त्रः

ॐ श्रीकिरीट-केयूर-हार-मकर-कुण्डल-चक्र-शङ्ख-गदा-पद्महस्त पीताम्बरधर श्रीवत्साङ्कित वक्षःस्थल श्रीभूमिसहित-स्वात्मज्योतिर्दीप्तिकराय सहस्रादित्यतेजसे नमो नमः ।।१७६।। इति ।

अथोर्द्ध्वपुण्ड्र नित्यता

पाद्मे श्रीभगवदुक्तौ—

मत्प्रियार्थं शुभार्थम्वा रक्षार्थे चतुरानन । मत्पूजाहोमकाले च सायं प्रातः समाहितः ।
मद्भक्तो धारयेन्नित्यमूर्द्ध्वपुण्ड्रं भयापहम् ।।१७७।।

तत्रैव श्रीनारदोक्तौ—

यज्ञो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ।
व्यर्थं भवति तत्सर्वमूर्द्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम् ।।१७८।।

तत्रैवोत्तरखण्डे —

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु किञ्चित् कर्म करोति यः ।
इष्टापूर्त्तादिकं सर्वं निष्फलं स्यान्न संशयः ।।१७९।।
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु सन्ध्याकर्मादिकञ्चरेत् ।
तत् सर्वं राक्षसं नित्यं नरकञ्चाधिगच्छति ।।१८०।।

अन्यच्च —

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं यः कुरुते नराधमः ।
भङ्क्त्वा विष्णुगृहं पुण्ड्रं स याति नरकंध्रुवम् ।।१८१।।

नित्यं धारयेदिति नित्यता सिद्धा ।।१७७।।
अधुना अकरणे प्रत्यवायपुञ्जं दर्शयतियज्ञ इत्यादिना ; चरेत् आचरेत् ।।१७८-१८०।।

अथ किरीट मन्त्रः—

किरीट मन्त्र। ओं श्रीकिरीट केयूर हार मकर कुण्डल चक्र शङ्ख गदा पद्महस्त पीताम्बर धर श्रीवत्साङ्कित वक्षःस्थल श्रीभूमि सहित स्वात्मज्योतिर्दीप्तिकराय सहस्रादित्य तेजसे नमो नमः इति । ।।१७६।।

अथोर्द्ध्वपुण्ड्र नित्यता—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्र की नित्यता। पद्मपुराण की भगवदुक्ति में वर्णित है—हे ब्रह्मन् ! मद्भक्तजन स्थिरचित्त होकर सन्ध्याकाल एवं प्रातःकाल में मदीय पूजा एवं होमकाल में मत् प्रियार्थ किंवा निज मङ्गलार्थ, रक्षार्थ भय नाशन ऊर्द्ध्वपुण्ड्र का धारण प्रत्यह करे।।१७७।।

पद्मपुराण की नारदोक्ति में उक्त है—ऊर्द्ध्वपुण्ड्र धारण न करके यज्ञ, दान, तपः होम, वेदाध्ययन, पितृतर्पण प्रभृति अनुष्ठित होने पर भी विफल होते हैं।।१७८।।

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में उक्त है—जो व्यक्ति ऊर्द्ध्वपुण्ड्र रहित व्यक्ति इष्टापूर्त्तादि जो भी कर्म करता है, अनुष्ठित समस्त कर्म निष्फल होते हैं। इसमें सन्देह नहीं है। ऊर्द्ध्वपुण्ड्रव्यतीत सन्ध्या वन्दनादि कर्म समूह राक्षस के निमित्त होते हैं, एवं अनुष्ठानकारी व्यक्ति नरकगामी होता है ।।१७९-१८०।।

और भी वर्णित है—जो व्यक्ति ऊर्द्ध्वपुण्ड्र में त्रिपुण्ड्र को रचना करता है, वह नराधम है। पुण्ड्र

अतएव पाद्मे श्रीनारदोक्तौ—

यच्छरीरं मनुष्याणामूर्द्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम् ।
द्रष्टव्यं नैव तत्तावत् श्मशानसदृशं भवेत् ॥१८२॥

तत्रैवोत्तरखण्डे—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं धरेद्विप्रो मृदा शुभ्रेण वैदिकः ।
न तिर्य्यग्धारयेद्विद्वानापद्यपि कदाचन ॥१८३॥

स्कान्दे—

तिर्य्यक्पुण्ड्रं न कुर्वीत संप्राप्ते मरणेऽपि च ।
नैवान्यन्नाम च ब्रूयात् पुमान्नारायणादृते ॥१८४॥
धारयेद्विष्णुनिर्माल्यं धूपशेषं बिलेपनम् ।
वैष्णवं कारयेत् पुण्ड्रं गोपीचन्दनसम्भवम् ॥१८५॥

तत्रैव कार्तिकप्रसङ्गे—

यस्योर्द्ध्वपुण्ड्रं दृश्येत ललाटे नो नरस्य हि ।
तद्दर्शनं न कर्त्तव्यं दृष्ट्वा सूर्य्यं निरीक्षयेत् ॥१८६॥

अन्यत्रापि—

वैष्णवानां ब्राह्मणानाम् ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं विधीयते ।
अन्येषान्तु त्रिपुण्ड्रं स्यादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥१८७॥

विष्णुगृहं हरिमन्दिरम् ॥१८१॥
धरेत् धारयेत् ॥१८३॥
वैष्णवं हरिमन्दिर-लक्षणमूर्द्ध्वपुण्ड्रम्, ललाट इति, ऊर्द्ध्वपुण्ड्रस्य तत्रैव विहितत्वात् ॥१८५-१८६॥
ब्राह्मणानाञ्च, अन्येषामवैष्णवशूद्रानाम् ॥१८७॥

स्वरूप हरिमन्दिर भग्न करने से उसको नरक में जाना पड़ता है, इस में सन्देह नहीं है ॥१८१॥

पद्मपुराण में नारद की उक्ति में कथित है—ऊर्द्ध्वपुण्ड्र शून्य मानव शरीर दर्शनयोग्य नहीं है, वह श्मशान तुल्य है ॥१८२॥

उक्त पुराण में वर्णित है—वैदिक विप्रगण शुभ्रमृत्तिका के द्वारा ऊर्द्ध्वपुण्ड्र की रचना करे। विज्ञव्यक्ति कभी भी आपत्काल में भी कुटिल पुण्ड्र का निर्माण न करे ॥१८३॥

स्कन्द पुराण में वर्णित है—मृत्यु उपस्थित होने पर भी तिर्यक् पुण्ड्र न करे। नारायण नाम व्यतीत अन्य नाम उच्चारण न करे ॥१८४॥

विष्णु निर्माल्य, धूपशेष, एवं प्रसादी चन्दन धारण करे। गोपीचन्दन के द्वारा वैष्णव चिह्नरूप ऊर्द्ध्व पुण्ड्र रचना करे ॥१८५॥

उक्त पुराणस्थ कार्तिक प्रसङ्ग में वर्णित है—जिस मनुष्य के ललाट में ऊर्द्ध्वपुण्ड्र नहीं है, उसका दर्शन करना उचित नही है, दैवात् दर्शन होने पर सूर्यदर्शन कर आत्मशुद्धि करे ॥१८६॥

और भी वर्णित है—वैष्णव एवं ब्राह्मणगण ऊर्द्ध्वपुण्ड्र धारण करे, एवं ब्राह्मणेतर अवैष्णवगण के

त्रिपुण्ड्रं यस्य विप्रस्य ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं न दृश्यते ।
तं स्पृष्ट्वाप्यथवा दृष्ट्वा सचेलं स्नानमाचरेत् ॥१८८॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रे न कुर्वीत वैष्णवानां त्रिपुण्ड्रकम् ।
कृतत्रिपुण्ड्र-मर्त्यस्य क्रिया न प्रीतये हरेः ॥१८९॥

अतएवोत्तरखण्डे—

अश्वत्थपत्रसङ्काशो वेणुपत्राकृतिस्तथा ।
पद्मकुट्मलसङ्काशो मोहनं त्रितयं स्मृतम् ॥१९०॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्र-माहात्म्यम्

स्कान्दे कार्तिकप्रसङ्गे—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रो मृदा शुभ्रो ललाटे यस्य दृश्यते ।
चण्डालोऽपि विशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥१९१॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रे स्थिता लक्ष्मीरुर्द्ध्वपुण्ड्रे स्थितं यशः ।
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रे स्थिता मुक्तिरुर्द्ध्वपुण्ड्रे स्थितो हरिः ॥१९२॥

पद्मपुराणे—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं मृदा सौम्यं ललाटे यस्य दृश्यते ।
स चाण्डालोऽपि शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः ॥१९३॥

एवमत्रोर्द्ध्वपुण्ड्रधारणस्य विहितत्वादग्रे च वक्षोबाहुमूलादौ खड्गचक्रादिमुद्राधारणस्य विहितत्वाद् वैष्णवस्मार्तसम्मतमश्वत्थपत्राकारादिकं वक्षःस्थलादौ न विधेयमिति लिखति अश्वत्थेति। मोहनमसुरानुसारि शुक्रादिमायाविहितमित्यर्थः ॥१९०॥

ऊर्द्ध्वपुण्ड्र इति पुंस्त्वमार्षम् ॥१९१॥

निमित्त त्रिपुण्ड्र की व्यवस्था है, वेदज्ञगण का यह कथन है। जिस ब्राह्मण के ललाट में त्रिपुण्ड्र विद्यमान है, ऊर्द्ध्वपुण्ड्र नहीं है, उनका स्पर्श अथवा दर्शन करके सहल स्नान करे। वैष्णवगण ऊर्द्ध्वपुण्ड्र के स्थान में त्रिपुण्ड्र न करें, जो व्यक्ति त्रिपुण्ड्र धारण करके कार्य करता है, उसका वह कार्य श्रीहरि सन्तोष के निमित्त नहीं होता है ॥१८७-१८९॥

उत्तरखण्ड में वर्णित है—स्मार्त्त सम्मत अश्वत्थ पत्र, वट पत्र, वंश पत्रादि पद्मकलिकाकृति तिलक धारण न करे, वे सब अवैध स्मृति सम्मत एवं मोहन है, अर्थात् असुरमतानुयायी हैं, एवं शुक्राचार्य की माया के द्वारा रचित है, सुतरां उक्त त्रिविध तिलक निष्फल है ॥१९०॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्र माहात्म्यम्—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्र माहात्म्य। स्कन्दपुराण के कार्तिक प्रसङ्ग में वर्णित है—जिस मनुष्य के ललाट में मृन्मय श्वेतवर्ण ऊर्द्ध्वपुण्ड्र दृष्ट होता है, वह चण्डाल होने पर भी उसकी आत्मा पवित्र है, वह सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥१९१॥

ऊर्द्ध्वपुण्ड्र में लक्ष्मी अधिष्ठित हैं—यशः अवस्थित है, ऊर्द्ध्वपुण्ड्र में मोक्ष विराजित है। एवं ऊर्द्ध्वपुण्ड्र में श्रीहरि अधिष्ठित होते हैं ॥१९२॥

पद्मपुराण में वर्णित है—जिस व्यक्ति के ललाट में मृत्तिका निर्मित सुन्दर ऊर्द्ध्वपुण्ड्र दृष्ट होता है, वह

अत्रैवोत्तरखण्डे शिवोमा-संवादे—

ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्रस्य मध्ये तु विशाले सुमनोहरे।
लक्ष्म्या सार्द्धं समासीनो देवदेवो जनार्दनः ॥१९४॥
तस्माद्यस्य शरीरे तु ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्रं धृतं भवेत्।
तस्य देहं भगवतो विमलं मन्दिरं स्मृतम् ॥१९५॥
ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्रधरो विप्रः सूर्य्यलोकेषु पूजितः।
विमानवरमारुह्य याति विष्णोः परं पदम् ॥१९६॥
ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्रधरं विप्रं दृष्ट्वा पापैः प्रमुच्यते।
नाम स्मृत्वा तथा भक्त्या सर्वदानफलं लभेत् ॥१९७॥
ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्रधरं विप्रं यः श्राद्धे भोजयिष्यति।
आकल्पकोटि पितरस्तस्य तृप्ता न संशयः ॥१९८॥
ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्रधरो यस्तु कुर्य्यात् श्राद्धं शुभानने।
कल्पकोटिसहस्राणि वैकुण्ठे वासमाप्नुयात् ॥१९९॥
यज्ञ-दान-तपश्चर्य्या-जप-होमादिकञ्च यत्।
ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्रधरः कुर्य्यात् तस्य पुण्यमनन्तकम् ॥२००॥

श्रीब्रह्माण्डपुराणे—

अशुचिर्वाप्यनाचारो मनसा पापमाचरन्।
शुचिरेव भवेन्नित्यमूर्द्ध्व्‌पुण्ड्राङ्कितो नरः ॥२०१॥

समासीनोऽस्ति ॥१९४॥

चण्डाल होने पर भी उनकी आत्मा पवित्र है, वह निःसन्देह पूज्य है ॥१९३॥

उक्त ग्रन्थ के उत्तरखण्ड के शिवोमा संवाद में लिखित है—ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्र के अतिशय मनोहर सुविस्तृत मध्यदेश में श्रीनारायण के सहित श्रीलक्ष्मी विराजित है। तज्जन्य जिनके शरीर में ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्र विराजित है, कथित है कि—उनका शरीर श्रीनारायण के विशुद्ध मन्दिर स्वरूप है। जो विप्र ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्र धारण करता है, वह सूर्यलोक में अर्चित होता है, एवं विमान में आरोहण कर श्रीविष्णु के परम धाम प्राप्त करता है। ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्र धारिविप्र को देखने पर मानव निखिल पापों से मुक्त होता है, एवं भक्तिभाव से उनका नाम स्मरण करने से यावतीय दान का फललाभ होता है। श्राद्धानुष्ठान के समय में जो व्यक्ति ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्र धारी विप्र को भोजन कराता है, उनके पितृगण कोटि कल्प पर्यन्त परितृप्त रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। हे वरानने! जो ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्र धारण पूर्वक श्राद्ध करते हैं, वे मनुष्य कल्पकोटि सहस्रकाल पर्यन्त वैकुण्ठ में वास करते हैं। ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्र धारण कर जो यज्ञ, दान, तपश्चर्य्या, जप, होमादि का अनुष्ठान होता है, वह अनन्तपुण्यप्रद होता है ॥१९४-२००॥

श्रीब्रह्माण्ड पुराण में उक्त है—अपवित्र हो अथवा आचारभ्रष्ट हो, किंवा मनसा पापाचरण करता हो, तो वह व्यक्ति ऊर्द्ध्व्‌पुण्ड्र धारण करने पर सदा पवित्र होता है ॥२०१॥

तत्रैव श्रीभगवद्वचनम्—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रधरो मर्त्यो म्रियते यत्र कुत्रचित् ।
श्वपाकोऽपि विमानस्थो मम लोके महीयते ॥२०२॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रधरो मर्त्यो गृहे यस्यान्नमश्नुते ।
तदा विंशत्कुलं तस्य नरकादुद्धराम्यहम् ॥२०३॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्र निर्माणविधिः

श्रीब्रह्माण्डपुराणे—

वीक्ष्यादर्शे जले वापि यो विदध्यात् प्रयत्नतः ।
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं महाभाग स याति परमां गतिम् ॥२०४॥
दशाङ्गुलप्रमाणन्तु उत्तमोत्तममुच्यते ।
नवाङ्गुलं मध्यमं स्यादष्टाङ्गुलमतःपरम् ॥२०५॥
एतैरङ्गुलिभेदैस्तु कारयेन्न नखैः स्पृशेत् ॥२०६॥

पद्मपुराणे उत्तरखण्डे तत्रैव—

एकान्तिनो महाभागाः सर्वभूतहिते रताः ।
सान्तरालं प्रकुर्वन्ति पुण्ड्रं हरिपदाकृति ॥२०७॥

विंशत् कुलं विंशतिकुलानि ॥२०३॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रस्य ललाटे मुख्यत्वात् तत्रत्योर्द्ध्वपुण्ड्र निर्माणप्रकारं लिखति – वीक्ष्येत्यादिना ॥२०४॥
अतःपरं कनिष्ठमित्यर्थः ॥२०५॥
सान्तरालं मध्ये छिद्रान्वितं, तदेवाह—हरिपदाकृतीति ॥२०७॥

उक्त पुराण में श्रीभगवद् वचन है—ऊर्द्ध्वपुण्ड्रधारी मनुष्य जिस किसी स्थान में शरीर त्याग क्यों न करे, चण्डाल होने पर भी वह विमान में आरोहण करके वैकुण्ठलोक को प्राप्त करता है, एवं आनन्दानुभव करता है ॥२०२॥

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रधारी मनु जिसके घर में जिसका अन्न भोजन करता है, मैं उसके बीस पुरुष का उद्धार नरक से करता हूँ ॥२०३॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्र निर्माणविधिः—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्र निर्माण विधि। श्रीब्रह्माण्ड पुराण में उक्त है—हे महाभाग ! जो व्यक्ति दर्पण अथवा जल में निज प्रतिविम्ब को देखकर यत्नपूर्वक ऊर्द्ध्वपुण्ड्र निर्माण करता है, वह परमगति को प्राप्त करता है। दशाङ्गुल प्रमाण ऊर्द्ध्वपुण्ड्र अत्युत्तम है, नवाङ्गुल प्रमाण मध्यम है, एवं अष्टाङ्गुल प्रमाण कनिष्ट है। इस प्रकार अङ्गुली भेद समूह के द्वारा ऊर्द्ध्वपुण्ड्र निर्माण करना होता है, किन्तु नखके द्वारा स्पर्श करना निषिद्ध है ॥२०४-२०६॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में वर्णित है—एकान्तमनाः सर्वजीवहितकारी, महाभाग्यशील जनगण, श्रीहरि

श्यामं शान्तिकरं प्रोक्तं रक्तं वश्यकरं तथा।
श्रीकरं पीतमित्याहुः श्वेतं मोक्षप्रदं शुभम् ॥२०८॥
वर्त्तुलं तिर्य्यगच्छिद्रं ह्रस्वं दीर्घतरं तनु।
वक्रं विरूपं बद्धाग्रं भिन्नमूलं पदच्युतम् ॥२०९॥
अशुभ्रं रुक्षमासक्तं तथा नाङ्गुलिकल्पितम्।
विगन्धमपसव्यञ्च पुण्ड्रमाहुरनर्थकम् ॥२१०॥
आरभ्य नासिकामूलं ललाटान्तं लिखेन्मृदम्।
नासिकायास्त्रयो भागा नासामूलं प्रचक्ष्यते ॥२११॥
समारभ्य भ्रुवोर्मूलमन्तरालं प्रकल्पयेत् ॥२१२॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्रस्य मध्यछिद्र-नित्यता

तत्रैव—

निरन्तरालं यः कुर्य्यादूर्द्ध्वपुण्ड्रं द्विजाधमः।
स हि तत्र स्थितं विष्णुं लक्ष्मीञ्चैव व्यपोहति ॥२१३॥
अच्छिद्रमूर्द्ध्वपुण्ड्रन्तु ये कुर्वन्ति द्विजाधमाः।
तेषां ललाटे सततं शुनः पादो न संशयः ॥२१४॥
तस्माच्छिद्रान्वितं पुण्ड्रं दण्डाकारं सुशोभनम्।
विप्राणां सततं धार्य्यं स्त्रीणाञ्च शुभदर्शने ॥२१५॥

ततमिति पाठे विस्तृतम्, पदच्युतं स्थानभ्रष्टम्, अशुभ्रं मलिनम्, आसक्तमन्योऽन्यसंलग्नम्; पाठान्तरं सुगमम्। विगन्धं दुर्गन्धि, अपसव्यं वामहस्त-कल्पितम् ॥२०८-२१०॥

त्रयो भागास्तृतीयो विभाग इत्यर्थः, तथा सदाचारदर्शनात् ॥२११॥

चरणाकृतिविशिष्ट मध्ये छिद्रयुक्त ऊर्द्ध्वपुण्ड्र निर्माण करें। विज्ञगण श्यामवर्ण पुण्ड्र को शान्तिप्रद, रक्तवर्णपुण्ड्र को वश्यकारक, पीतवर्ण पुण्ड्र को सम्पत्तिदायक, एवं श्वेतवर्ण पुण्ड्र को मङ्गलजनक मुक्तिदायक कहते हैं। पुण्ड्र, वर्त्तुलाकृति, तिर्य्यग्भावापन्न, मध्ये छिद्रहीन, खर्व, अत्यन्त दीर्घ, कृश, वक्र, विरूप, अग्रभाग में संलग्न, मूल भाग विच्छिन्न, अर्थात् पुण्ड्र का निम्नभाग पृथक् स्थान भ्रष्ट, मलिन, रुक्ष, परस्पर लग्न, अङ्गुलि भिन्न अपर द्रव्य की सहायता से निर्मित, दुर्गन्धयुक्त, वामहस्त द्वारा रचित, ऊर्द्ध्वपुण्ड्र को विफल कहते हैं। नासामूल से आरम्भ करके ललाट के शेष पर्यन्त मृत्तिका लेपन करे। नासिका का तीसरा भाग को ही नासामूल कहते हैं। भ्रू द्वय के मूल देश से आरम्भ कर छिद्र की रचना करनी चाहिए ॥२०७-२१२॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्रस्य मध्यछिद्र-नित्यता—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्र के मध्य छिद्र की नित्यता। पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में वर्णित है—जो द्विजाधम व्यक्ति मध्य में छिद्र न रखकर ऊर्द्ध्वपुण्ड्र का निर्माण करता है, वह निश्चय ही तत्रस्थ लक्ष्मी नारायण को विदूरित करता है ॥२१३॥

जो सब द्विजाधम, छिद्रशून्य ऊर्द्ध्वपुण्ड्र निर्माण करते हैं, उन सबके ललाटदेश में सदा कुत्ते के पैर स्थित रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं। सुतरां हे शुभदर्शन! विप्रगण एवं स्त्री समूह के लिए सर्वदा दण्डाकृति

हरिमन्दिरलक्षणम्

नासादि केशपर्य्यन्तमूर्द्ध्वपुण्ड्रं सुशोभनम् ।
मध्ये छिद्रसमायुक्तं तद्विद्याद्धरिमन्दिरम् ॥२१६॥
वामपार्श्वे स्थितो ब्रह्मा दक्षिणे तु सदाशिवः ।
मध्ये विष्णुं विजानीयात्तस्मान्मध्यं न लेपयेत् ॥२१७॥

वायुपुराणे सेवापराधे—

अधृत्वा चोर्द्ध्वपुण्ड्रञ्च हरेः पूजां करोति यः ।
तिर्य्यक्पुण्ड्रधरो यस्तु यजेद्देवं जनार्द्दनम् ॥२१८॥
अच्छिद्रेणोर्द्ध्वपुण्ड्रेण भस्मना तिर्य्यगङ्किना ।
अधृत्वा शङ्खचक्रे च चेत्यादिना दोष उक्तः ॥२१९॥

श्रुतिश्च, यजुर्वेदस्य हिरण्यकेशीय-शाखायाम्—

हरेः पदाक्रान्तिमात्मनि धारयति यः, स परस्य प्रियो भवति, स पुण्यवान्;
मध्येछिद्रमूर्द्ध्वपुण्ड्रं यो धारयति स मुक्तिभाग्भवति ॥२२०॥ इति ।

तिलकरचनाङ्गुलि-नियमः

स्मृतिः—

अनामिका कामदोक्ता मध्यमायुष्करी भवेत् ।
अङ्गुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तस्तर्ज्जनी मोक्षसाधनी ॥२२१॥

व्यपोहति निरस्यतीति महादोषोक्त्या नित्यता बोधिता, एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥२१३॥

छिद्रयुक्त सुशोभन पुण्ड्र धारण करना उचित है ॥२१४-२१५॥

हरिमन्दिरलक्षणम्—

श्रीहरिमन्दिर का लक्षण। जो नासिका के मूलदेश से आरम्भ कर केश पर्यन्त विस्तृत अतीव सुन्दर एवं मध्ये छिद्र संयुक्त है, उस ऊर्द्ध्वपुण्ड्र को ही श्रीहरिमन्दिर कहते हैं। ऊर्द्ध्वपुण्ड्र के वाम भाग में ब्रह्मा, दक्षिण भाग में सदाशिव एवं मध्यस्थल में श्रीहरि अधिष्ठित हैं। तज्जन्य ऊर्द्ध्वपुण्ड्र के मध्य भाग का लेपन न करे ॥२१६-२१७॥

वायुपुराण के सेवापराध प्रसङ्ग में वर्णित है—जो व्यक्ति ऊर्द्ध्वपुण्ड्र धारण न करके श्रीहरि की पूजा करता है, अथवा जो तिर्यक्पुण्ड्रधारी होकर किंवा छिद्रशून्य, भस्मरचित, कुटिल अङ्कित ऊर्द्ध्वपुण्ड्र धारण करके किंवा शङ्ख चक्र धारण न करके जनार्दनदेव की पूजा करता है, उसके द्वारा अनुष्ठित उक्त कार्य समूह दोषयुक्त होते हैं ॥२१८-२१९॥

यजुर्वेदीय हिरण्यकेशीय शाखा में श्रुति है—जो व्यक्ति श्रीहरि के पदचिह्न निजाङ्ग में धारण करता है, वह भगवान् का प्रिय एवं पुण्यवान् है, और जो मध्यस्थल में छिद्र समन्वित ऊर्द्ध्वपुण्ड्र धारण करता है, वह मुक्त होता है ॥२२०॥

तिलकरचनाङ्गुलि-नियमः—

तिलक निर्माण के विषय में अङ्गुलि का नियम। स्मृति कहती है—अनामिका अङ्गुलि, अभीष्टप्रद है।

अथोर्द्ध्वपुण्ड्रमृत्तिकाः

पद्मपुराणे तत्रैव—

पर्वताग्रे नदीतीरे विल्वमूले जलाशये।
सिन्धुतीरे च वल्मीके हरिक्षेत्रे विशेषतः ॥२२२॥
विष्णोः स्नानोदकं यत्र प्रवाहयति नित्यशः।
पुण्ड्राणां धारणार्थाय गृह्णीयात्तत्र मृत्तिकाम् ॥२२३॥
श्रीरङ्गे वेङ्कटाद्रौ च श्रीकूर्मे द्वारके शुभे।
प्रयागे नारसिंहादौ वाराहे तुलसीवने ॥२२४॥
गृहीत्वा मृत्तिकां भक्त्या विष्णुपादजलैः सह।
धृत्वा पुण्ड्राणि चाङ्गेषु विष्णुसायुज्यमाप्नुयात् ॥२२५॥

तत्रैव—

यत्तु दिव्यं हरिक्षेत्रं तस्यैव मृदमाहरेत् ॥२२६॥

अत्र श्रीगोपीचन्दन-माहात्म्यम्

उत्तरत्र पाद्मे श्रीनारदेन—

ब्रह्मघ्नो वाथ गोघ्नो वा हैतुकः सर्वपापकृत्।
गोपीचन्दनसम्पर्कात् पूतो भवति तत्क्षणात् ॥२२७॥
गोपीचन्दनखण्डन्तु यो ददाति हि वैष्णवे।
कुलमेकोत्तरं तेन सम्भवेत्तारितं शतम् ॥२२८॥

द्वारके द्वारकायां, वाराहे शूकरक्षेत्रे ॥२२४॥

मध्यमा आयुः वृद्धि करती है, अङ्गुष्ठ पुष्टि साधन करती है, एवं तर्जनी मोक्ष प्रदान करती है ॥२२१॥

अथोर्द्ध्वपुण्ड्रमृत्तिकाः—

ऊर्द्ध्वपुण्ड् रचना की मृत्तिका। पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में शिवपार्वती संवाद में उक्त है—पर्वत के शिखर देश, नदीतीर, विल्वमूल, जलाशय, सिन्धुतीर, वल्मीक, विशेषतः श्रीहरि क्षेत्र, एवं जहाँपर प्रति दिन श्रीविष्ण का स्नान जल पतित होता है, उक्त स्थान समूह के मध्य में किसी भी स्थान की मृत्तिका से ऊर्द्ध्वपुण्ड् निर्माण करे। श्रीरङ्ग, वेङ्कट गिरि, श्रीकूर्म, कल्याण रूपिणी द्वारका, प्रयाग, नृसिंह तीर्थादि वराहक्षेत्र, तुलसी कानन से भक्ति पूर्वक मृत्तिका लेकर श्रीनारायण के चरणोदक के सहित ऊर्द्ध्वपुण्ड् धारण करने से हरि सायुज्य रूप मुक्ति मिलती है। उक्त ग्रन्थ में और भी वर्णित है—अत्युत्तम श्रीहरिक्षेत्र से ही मृत्तिका संग्रह करे ॥२२२-२२६॥

अत्र श्रीगोपीचन्दन माहात्म्यम्—

श्रीगोपीचन्दन माहात्म्य। पद्मपुराण के श्रीनारदोक्ति में वर्णित है—ब्रह्मघाती, गोघाती, कुतर्की, समस्त पापाचरणकारी, कोई भी हो, गोपीचन्दन स्पर्श करने से तत्क्षणात् शुद्धि होती है। जो व्यक्ति वैष्णवजन को एकखण्ड गोपीचन्दन प्रदान करता है, वह एकाधिकशत कुल (१०१) को पवित्र करता है ॥२२७-२२८॥

स्कन्दपुराणे श्रीध्रुवेण—

शङ्खचक्राङ्किततनुः शिरसा मञ्जरीधरः।
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः ॥२२९॥
गोपीमृत्तुलसी शङ्खः शालग्रामः सचक्रकः।
गृहेऽपि यस्य पञ्चैते तस्य पापभयं कुतः ॥२३०॥

काशीखण्डे च श्रीयमेन—

श्रीखण्डे क्व स आमोदः स्वरोवर्णः क्व तादृशः।
तत् पावित्र्यं क्व वै तीर्थे श्रीगोपीचन्दने यथा ॥२३१॥

अथ गोपीचन्दनोर्द्ध्वपुण्ड्र माहात्म्यम्

उक्तञ्च गरुड़पुराणे नारदेन—

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवां, करे समादाय ललाटपट्टके।
करोति नित्यं त्वथ चोर्द्ध्वपुण्ड्रं, क्रियाफलं कोटिगुणं सदा भवेत् ॥२३२॥
क्रियाविहीनं यदि मन्त्रहीनं, श्रद्धाविहीनं यदि कालवर्जितम्।
कृत्वा ललाटे यदि गोपीचन्दनं, प्राप्नोति तत् कर्मफलं सदाक्षयम् ॥२३३॥
गोपीचन्दनसम्भवं सुरुचिरं पुण्ड्रं ललाटे द्विजो
नित्यं धारयते यदि द्विजपते रात्रौ दिवा सर्वदा।

शालग्रामः शालग्रामशिला सचक्रकः द्वारकाचक्राङ्कसहितः ॥२३०॥

गोपीचन्दनमिति ह्रस्वत्वमार्षम्; यदीत्यस्य पूर्वार्द्धेनैव सम्बन्धः। यद्यपि क्रियादिहीनं कर्म स्यात्तथापि गोपीचन्दनं ललाटे कृत्वा तेनोर्द्ध्वपुण्ड्रं निर्माय तत्फलमक्षयं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२३३॥

स्कन्द पुराण में श्रीध्रुव ने कहा है—शङ्ख चक्राङ्कित तनु, एवं मस्तक में तुलसी मञ्जरी शोभित जिसका शरीर गोपीचन्दन से लिप्त है, उसका दर्शन करने से पातक का भय कैसे हो सकता है? गोपीचन्दन तुलसी, शङ्ख, द्वारकाचक्राङ्क सहित शालग्रामशिला ये पांच वस्तु जिसके घर में विद्यमान हैं, उसका पातक भय कैसे हो सकता है?२२९-३३०॥

काशीखण्ड में श्रीयम ने कहा है—गोपीचन्दन में जिसप्रकार सुगन्ध विद्यमान है, उस प्रकार मधुगन्ध चन्दन में कहाँ है? तत्तुल्य स्वर एवं वर्ण ही कहाँ है? तादृश पवित्रता तीर्थ में भी कहाँ है?२३१॥

अथ गोपीचन्दनोर्द्ध्वपुण्ड्र-माहात्म्यम्—

गोपीचन्दन निर्मित ऊर्द्ध्वपुण्ड्र माहात्म्य। जो व्यक्ति निज हस्त में द्वारका समुत्पन्न मृत्तिका को लेकर नित्य ललाट में ऊर्द्ध्वपुण्ड्र की रचना करता है, उसके द्वारा अनुष्ठित यावतीय कर्मका फल सर्वदा कोटिगुण होता है ॥२३२॥

यदि अनुष्ठितकर्म, क्रिया रहित, मन्त्रशून्य, श्रद्धारहित अथवा कालवहिर्भूत होता है, तथापि ललाट में गोपीचन्दन धारण करने से कर्मकर्ता सतत अक्षय फलप्राप्त करता है ॥२३३॥

हे गरुड़! यदि द्विजगण प्रत्यह अहोरात्र सतत ललाट में गोपीचन्दन कृत सुन्दर ऊर्द्ध्वपुण्ड्र धारण

यत् पुण्यं कुरुजाङ्गले रविग्रहे माघ्यां प्रयागे तथा
तत् प्राप्नोति खगेन्द्र विष्णुसदने सन्तिष्ठते देववत् ॥२३४॥
यस्मिन् गृहे तिष्ठति गोपीचन्दनं, भक्त्याललाटे मनुजो बिभर्ति ।
तस्मिन् गृहे तिष्ठति सर्वदा हरिः, श्रद्धान्वितः कंसहा विहङ्गम ॥२३५॥
यो धारयेत् कृष्णपुरीसमुद्भवां, सदा पवित्रां कलिकिल्विषापहाम् ।
नित्यं ललाटे हरिमन्त्रसंयुतां, यमं न पश्येद्यदि पापसंवृतः ॥२३६॥
यस्यान्तकाले खग गोपीचन्दनं, बाह्वोर्ललाटे हृदि मस्तके च ।
प्रयाति लोकं कमलालयं प्रभो, -र्गो-बालघाती यदि ब्रह्महा भवेत् ॥२३७॥
ग्रहा न पीड़न्ति न रक्षसां गणाः, यक्षाः पिशाचोरग-भूतदानवाः ।
ललाटपट्टे खग गोपीचन्दनं, सन्तिष्ठते यस्य हरेः प्रसादतः ॥२३८॥

पद्मपुराणे श्रीगोतमेन—

अम्बरीष महाघस्य क्षयार्थे कुरु वीक्षणम् ।
ललाटे यैः कृतं नित्यं गोपीचन्दन-पुण्ड्रकम् ॥२३९॥

काशीखण्डे च श्रीयमेन--

दूताः शृणुत यद्भालं गोपीचन्दनलाञ्छितम् ।
ज्वलदिन्धनवत् सोऽपि त्याज्यो दूरे प्रयत्नतः ॥२४०॥ इति ।

द्विजपते हे श्रीगरुड़ ! २३४॥
कृष्णपुरी श्रीद्वारका, तत्समुद्भवां मृदमितिशेषः ॥२३६॥
न पीड़न्ति न पीड़यन्ति ॥२३८॥

करते हैं, तब कुरुक्षेत्र में सूर्य्यग्रहण में माघीपूर्णिमा में प्रयाग में जो पुण्य होता है, वे सब उक्त पुण्य को प्राप्त करते हैं, एवं विष्णुलोक में देववत् निवास करते हैं ॥२३४॥

हे पतगराज ! जिस गृह में गोपीचन्दन रहता है, जिस गृह में मनुष्य भक्तिपूर्वक ललाट में गोपीचन्दन धारण करता है, उस गृह में कंसहा हरि श्रद्धान्वित होकर सर्वदा अधिष्ठित होते हैं ॥२३५॥

जो व्यक्ति ललाट में कलिकलुषहरा सदा पवित्र रूपिणी, हरि मन्त्र संयुक्ता द्वारका मृत्तिका धारण नित्य करता है, वह पाप से परिवेष्टित होने पर भी यमराज को अवलोकन नहीं करता है ॥२३६॥

हे विहग ! मृत्युसमय में जिनके बाहुद्वय, ललाट, वक्षःस्थल एवं शिरोदेश में गोपीचन्दन रहता है, वह गोघाती, ब्रह्मघाती, शिशुघाती होने पर भी कमलालय श्रीविष्णुधाम में प्रस्थान करता है ॥२३७॥

हे विहगवर ! जिनके ललाटदेश में गोपीचन्दन विद्यमान है, श्रीहरि के प्रसाद निबन्धन ग्रह, रक्षः, पिशाच सर्प, भूत एवं दानवगण, उनको क्लेश प्रदान नहीं करते हैं ॥२३८॥

पद्मपुराण में श्रीगौतम ने कहा है—हे अम्बरीष ! जो सब व्यक्ति प्रत्यह ललाट में गोपीचन्दनकृत पुण्ड्र धारण करते हैं, महाघक्षय करने के निमित्त उन सब का दर्शन करे ॥२३९॥

काशीखण्ड में श्रीयम ने कहा है—हे दूतगण ! मेरा वचन सुनो, जिनके ललाटफलक गोपीचन्दन से

अथ तस्योपरि श्रीमत्तुलसीमूलमृत्स्नया ।
तत्रैव वैष्णवैः कार्य्यमूर्द्ध्वपुण्ड्रं मनोहरम् ॥२४१॥

अथ श्रीतुलसीमूलमृत्तिकापुण्ड्र-माहात्म्यम्

तन्मृदं गृह्य यैः पुण्ड्रं ललाटे धारितं नरैः ।
प्रमाणकं कृतं तैस्तु मोक्षाय गमनं प्रति ॥२४२॥

तत्रैव च कार्तिक-माहात्म्ये ब्रह्मनारद-संवादे--

तुलसीमृत्तिकापुण्ड्रं ललाटे यस्य दृश्यते ।
देहं न स्पृशति पापं क्रियमाणस्तु नारद ॥२४३॥

गरुड़ पुराणे—

तुलसीमृत्तिकापुण्ड्रं यः करोति दिने दिने ।
तस्यावलोकनात् पापं याति वर्षकृतं नृणाम् ॥२४४॥ इति ।

तस्योपरिष्ठाद्भगवन्निर्माल्यमनुलेपनम् । तथैव धार्य्यमेवं हि त्रिविधं तिलकं स्मृतम् ॥२४५॥

ततो नारायणीं मुद्रां धारयेत् प्रीतये हरेः ।
मत्स्यकूर्मादिचिह्नानि चक्रादीन्यायुधानि च ॥२४६॥

इन्धनमङ्गारः ॥२४०॥
तन्मृदम्—श्रीतुलसीमूलमृत्तिकां, तत्प्रसङ्गात् ; गृह्य गृहीत्वा ॥२४२॥
अप्यर्थे तु-शब्दः, क्रियमाणमपि पापं कर्त्तृदेहमपि न स्पृशति, कुतो मनआदीत्यर्थः ॥२४३॥

अङ्कित है, उनको यत्नपूर्वक ज्वलन्त अङ्गारवत् दूर से वर्जन करना ॥२४०॥

तत्पश्चात् वैष्णवगण, तुलसी मूलस्थ मृत्तिका के द्वारा तदुपरि उक्त स्थान में ही सुन्दर ऊर्द्ध्वपुण्ड्र की रचना करे ॥२४१॥

अथ श्रीतुलसीमूलमृत्तिकापुण्ड्र माहात्म्यम्—

श्रीतुलसीमूल मृत्तिका पुण्ड्र माहात्म्यम् । जो सब व्यक्ति श्रीतुलसीमूलस्थ मृत्तिका के द्वारा ललाट में पुण्ड्र धारण करते हैं, वे सब मोक्षलाभ करने का प्रमाण प्रदर्शन करते हैं ॥२४२॥

काशीखण्ड के कार्तिक माहात्म्य में वर्णित है—हे नारद ! जिनके ललाट-फलक में तुलसी मृत्तिका रचित पुण्ड्र दृष्ट होता है, वह (कदाचित् अनिच्छाकृत) पाप करने से भी उक्त पाप उनके शरीर को स्पर्श करने में सक्षम नहीं होता है ॥२४३॥

गरुड़ पुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति प्रत्यह तुलसीमूलस्थ मृत्तिकाद्वारा पुण्ड्र निर्माण करता है, उसका दर्शन करने से मनुष्यगण का एकवर्ष कृत पाप विनष्ट होता है ॥२४४॥

उसके ऊपर श्रीभगवान् के निर्माल्य चन्दन उक्त प्रकार से ही धारण करे। तिलक का वर्णन त्रिविध रूपसे हुआ। अनन्तर श्रीहरि के सन्तोषार्थ नारायणी मुद्रा, मीन कूर्मादि चिह्न एवं चक्रादि अस्त्र धारण करना कर्त्तव्य है ॥२४५-२४६॥

अथ मुद्राधारण-नित्यता

स्मृतौ—

अङ्कितः शङ्खचक्राभ्यामुभयोर्बाहुमूलयोः। समर्च्चयेद्धरिं नित्यं नान्यथा पूजनं भवेत् ॥२४७॥

आदित्यपुराणे—

शङ्खचक्रोर्द्ध्वपुण्ड्रादिरहितं ब्राह्मणाधमम्। गर्द्दभन्तु समारोप्य राजा राष्ट्रात् प्रवासयेत् ॥२४८॥

गारुड़े श्रीभगवदुक्तौ—

सर्वकर्माधिकारश्च शुचीनामेव चोदितः। शुचित्वञ्च विजानीयान्मदीयायुधधारणात् ॥२४९॥

पाद्मे चोत्तरखण्डे--

शङ्खचक्रादिभिश्चिह्नैर्विप्रः प्रियतमैर्हरेः। रहितः सर्वधर्मेभ्यः प्रच्युतो नरकं व्रजेत् ॥२५०॥

श्रुतौ च यजुःकठशाखायाम्--

धृतोर्द्ध्वपुण्ड्रः कृतचक्रधारी, विष्णुं परं ध्यायति यो महात्मा।
स्वरेण मन्त्रेण सदा हृदि स्थितं, परात्परं यन्महतो महान्तम् ॥२५१॥

अथर्वणि च—

एभिर्वयमुरुक्रमस्य चिह्नै रङ्किता लोके सुभगा भवेम।
तद्विष्णोः परमं पदं ये गच्छन्ति लाञ्छिताः ॥२५२॥ इत्यादि।

अतएव ब्रह्मपुराणे—

कृष्णायुधाङ्कितं दृष्ट्वा सम्मानं न करोति यः।
द्वादशाब्दार्ज्जितं पुण्यं चाफलयोपगच्छति ॥२५३॥

कृतं गोपीचन्दनादिना निर्मितमङ्कितं चक्रं धर्तुं शीलमस्येति तथा सः; किं वक्तव्यं मुद्राधारणस्य नित्यत्वं, तद्धारकसम्माननस्यापि नित्यता ब्राह्मवचनेन गम्यते, इति लिखति—कृष्णेति ॥२५१-२५३॥

अथ मुद्राधारण-नित्यता—

मुद्रा धारण की नित्यता। स्मृति में उक्त है—बाहुद्वय के मूलदेश में शङ्ख, चक्र चिह्न धारण करके नित्य श्रीहरि की अर्चना करे, ऐसा न करने से अर्चना नहीं होगी ॥२४७॥

आदित्य पुराण में लिखित है—जो ब्राह्मणाधम, शङ्ख, चक्र एवं ऊर्द्ध्वपुण्ड्र रहित है, राजा उसको गर्दभोपरि आरोहण करवाकर राज्यसे निर्वासित करे ॥२४८॥

गरुड़ पुराण में श्रीभगवदुक्ति है—समस्त धर्मकर्म में शुचि व्यक्तिगण ही अधिकारी हैं। मेरा आयुध चिह्न धारण करनेसे ही पवित्रता आती है ॥२४९॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में वर्णित है--विप्र, श्रीहरि के प्रियतम शङ्ख, चक्रादि चिह्न रहित होनेसे समस्त धर्मसे भ्रष्ट होकर नरक गमन करता है ॥२५०॥

यजुर्वेदीय कठ शाखा में भी वर्णित है—जो महानुभव व्यक्ति, ऊर्द्ध्वपुण्ड्र एव गोपीचन्दनादि द्वारा रचित चक्रधारी होकर महत् के महत् हृदिस्थित परात्पर विष्णु का ध्यान स्वर एवं मन्त्रयोग से करते हैं, वही धन्य हैं। अथर्व वेद में भी वर्णित है—हम सब उरुक्रम के अस्त्र चिह्नों से अङ्कित होकर लोक में सौभाग्यवान् होंगे। उक्त चिह्नसमूह के द्वारा चिह्नित जनगण ही श्रीहरि के परमधाम गमन करते हैं।

अथ मुद्राधारण-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीसनत्कुमार मार्कण्डेय-संवादे—

यो विष्णुभक्तो विप्रेन्द्र शङ्खचक्रादिचिह्नितः ।
स याति विष्णुलोकं वै दाहप्रलय-वर्जितम् ॥२५४॥

तत्र वान्यत्र च—

नारायणायुधैर्नित्यं चिह्नितं यस्य विग्रहम् ।
पापकोटिप्रयुक्तस्य तस्य किं कुरुते यमः ॥२५५॥
शङ्खोद्धारे तु यत् प्रोक्तं वसतां वर्षकोटिभिः ।
तत् फलं लिखिते शङ्खे प्रत्यहं दक्षिणे भुजे ॥२५६॥
यत् फलं पुष्करे नित्यं पुण्डरीकाक्ष-दर्शने ।
शङ्खोपरि कृते पद्मे तत् फलं समवाप्नुयात् ॥२५७॥
वामे भुजे गदा यस्य लिखिता दृश्यते कलौ ।
गदाधरो गयापुण्यं प्रत्यहं तस्य यच्छति ॥२५८॥
यच्चानन्दपुरे प्रोक्तं चक्रस्वामी-समीपतः ।
गदाधोलिखिते चक्रे तत् फलं कृष्णदर्शने ॥२५९॥

श्रीभगवदुक्तौ च—

यः पुनः कलिकाले तु मत्पुरीसम्भवां मृदम् ।
मत्स्यकूर्मादिकं चिह्नं गृहीत्वा कुरुते नरः ॥२६०॥

मृदं गृहीत्वा चिह्नं कुरुते ॥२६०॥

इत्यादि । अतएव ब्रह्मपुराण में वर्णित है—कृष्णायुधाङ्कित मनुष्य का दर्शन करके जो व्यक्ति उनको सम्मान प्रदान नहीं करता है, उसका द्वादशवर्ष सञ्चित पुण्य विनष्ट होता है ॥२५१-२५३॥

अथ मुद्राधारण-माहात्म्यम्—

मुद्राधारण का माहात्म्य । स्कन्द पुराण के सनत्कुमार मार्कण्डेय संवाद में वर्णित है—हे विप्रवर ! जो विष्णुभक्त, शङ्ख, चक्रादि चिह्नित है, वह दाह प्रलय वर्जित विष्णुधाम गमन करता है ॥२५४॥

स्कन्द पुराण के अन्यत्र वर्णित है—जिनका देह सतत् नारायण के अस्त्र समूह से चिह्नित है—आप, कोटि-कोटि पातकों से पातकी होने से भी यमराज उनका क्या कर सकते हैं ? कोटिवर्ष शङ्खोद्धार तीर्थ में निवास करने से जो फल होता है, दक्षिणबाहु में नित्य शङ्ख, चक्र अङ्कित होनेपर भी उक्त फललाभ होता है । नित्य पुष्कर तीर्थ में पद्मपलाश लोचन श्रीहरि का दर्शन करने से जो फल होता है—शङ्ख के ऊपर पद्म अङ्कित होनेपर भी उक्त फल होता है । कलि काल में जिनके वामबाहु में गदा अङ्कित दृष्ट होता है, गदाधर उनको नित्य गयाधामोत्पन्न पुण्य प्रदान करते हैं । आनन्दपुर में चक्रस्वामी के निकट कृष्ण दर्शन से जो फललाभ होता है, गदा के निम्न देश में चक्रअङ्कित होने से भी उक्त फल लाभ होता है ॥२५५-२५९॥

श्रीभगवान् की उक्ति है—कलियुग में जो मनुष्य मेरी द्वारकापुरी की मृत्तिका ग्रहण करके मत्स्य

देहे तस्य प्रविष्टोऽहं जानन्तु त्रिदशोत्तमाः ।
तस्य मे नान्तरं किञ्चित् कर्त्तव्यं श्रेय इच्छता ॥२६१॥
ममावतार-चिह्नानि दृश्यन्ते यस्य विग्रहे ।
मर्त्यैर्मर्त्यो न विज्ञेयः स नूनं मामकी तनूः ॥२६२॥
पापं सुकृतरूपन्तु जायते तस्य देहिनः ।
ममायुधानि यस्याङ्गे लिखितानि कलौ युगे ॥२६३॥
उभाभ्यामपि चिह्नाभ्यां योऽङ्कितो मत्स्यमुद्रया ।
कूर्मयापि स्वकं तेजो निक्षिप्तं तस्य विग्रहे ॥२६४॥
शङ्खञ्च पद्मञ्च गदां रथाङ्गं, मत्स्यञ्च कूर्मं रचितं स्वदेहे ।
करोति नित्यं सुकृतस्य वृद्धिं, पापक्षयं जन्मशतार्जितस्य ॥२६५॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

कृष्णशस्त्राङ्क-कवचं दुर्भेद्यं देवदानवैः ।
अदृश्यं सर्वभूतानां शत्रूणां रक्षसामपि ॥२६६॥
लक्ष्मीः सरस्वती दुर्गा सावित्री हरिवल्लभा ।
नित्यं तस्य वसेद्देहे यस्य शङ्खाङ्किता तनुः ॥२६७॥

मे मया सह अन्तरं भेदः न कर्त्तव्यम् ॥२६१॥
मामकी तनूः मदवतार इत्यर्थः ॥२६२॥
निक्षिप्तं मया, यः स्वदेहे रचितं करोति, स सुकृतवृद्ध्यादि करोतीत्यर्थः । समासस्थस्यापि पाप-शब्दस्य जन्मशतार्जितस्येति विशेषणमार्षम् ॥२६४-२६५॥

कूर्मादि चिह्न रचना करता है, हे देवश्रेष्ठगण आप सब जाने, मैं उन मनुष्य के शरीर में रहता हूँ। मङ्गलेच्छु व्यक्ति कदाच मुझमें एवं उनमें अन्तर नहीं देखता है। जिनके शरीर में मदीय अवतार चिह्न समूह दृष्ट होते हैं—मानवगण उन्हें साधारण मनुष्य ज्ञान न करें, आप निश्चय ही मेरा अवतार स्वरूप हैं। कलियुग में जिस व्यक्ति के शरीर में मेरे आयुध समूह अङ्कित हैं, उन देही के पातकपुञ्ज पुण्य स्वरूप होते हैं। जो व्यक्ति मत्स्यमुद्रा एवं कूर्ममुद्रा से अङ्कित होते हैं, उनके देह में मदीय तेज निक्षिप्त होता है। जिनके शरीर में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, मीन एवं कूर्म रचित है, नित्य उनकी पुण्य वृद्धि होती है, एवं शत जन्मार्जित पाप विनष्ट होता है ॥२६०-२६५॥

स्कन्द पुराण के ब्रह्म नारद संम्वाद में लिखित है—देवगण, दानवगण कोई भी श्रीकृष्ण आयुधरूप वर्मभेदन करने में सक्षम नहीं होते हैं, एवं भूतगण, अरिगण, राक्षस समूह भी देखने में समर्थ नहीं होते हैं ॥२६६॥

जिनके देह में शङ्ख चिह्न अङ्कित है—उनके शरीर में सतत् लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, सावित्री, हरिवल्लभा, राधिका निवास करती हैं ॥२६७॥

गङ्गा गया कुरुक्षेत्रं प्रयागं पुष्करादि च ।
नित्यं तस्य सदा तिष्ठेत् यस्य पद्माङ्कितं वपुः ॥२६८॥
यस्य कौमोदकीचिह्नं भुजे बामे कलिप्रिय ।
प्रत्यहं तत्र द्रष्टव्यो गङ्गासागरसङ्गमः ॥२६९॥
सव्ये करे गदाधस्ताद्रथाङ्गं तिष्ठते यदि ।
कृष्णेन सहितं तत्र त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥२७०॥
त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवा विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
निवसन्ति सदा तस्य यस्य देहे सुदर्शनम् ॥२७१॥

किञ्च—

कृष्णायुधाङ्किता मुद्रा यस्य नारायणी करे ।
ऊर्द्ध्वलोकाधिकारी च स ज्ञेयस्त्रिदशाम्पतिः ॥२७२॥
कृष्णमुद्राप्रयुक्तस्तु दैवं पित्र्यं करोति यः ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं चाक्षयं भवेत् ॥२७३॥
पीड़यन्ति न तत्रैव ग्रहा ऋक्षाणि राशयः ।
अष्टाक्षराङ्किता मुद्रा यस्य धातुमयी करे ॥२७४॥

वाराहे श्रीसनत्कुमारोक्तौ—

कृष्णायुधाङ्कितं देहं गोपीचन्दनमृत्स्नया ।
प्रयागादिषु तीर्थेषु स गत्वा किं करिष्यति ॥२७५॥

जिस व्यक्ति का शरीर सदा पद्म चिह्न से अङ्कित है—उसके शरीर में गङ्गा, गया, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्करादि तीर्थ समूह सर्वदा निवास करते हैं ॥२६८॥

हे नारद ! जिस व्यक्ति के वामबाहु में कौमोदकी गदा का चिह्न विराजित है, वहाँ प्रत्यह गङ्गासागर सङ्गम दृष्ट होता है ॥२६९॥

वाम हस्त में गदा उसके तलदेश में चक्र अङ्कित होने से चराचर लोकत्रय श्रीकृष्ण के सहित वहाँ पर अवस्थित होते हैं। २७०॥

जिनके देह में सुदर्शन चक्र चिह्न विद्यमान हैं—अग्नित्रय (गार्हपत्य, दक्षिण, आहवनीय) तीन देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर) एवं विष्णु चरणत्रय (त्रिविक्रम के चरणत्रय) सर्वदा उस देह में निवास करते हैं ॥२७१॥

और भी वर्णित है—श्रीकृष्ण के अस्त्राङ्कित नारायणी मुद्रा जिस व्यक्ति के हस्त में विराजित है, उसका अधिकार ऊर्ध्वलोक में होता है, एवं उनको इन्द्र स्वरूप जाने। जो कृष्णमुद्रा धारण पूर्वक दैव, पैत्र्य, नित्य, नैमित्तिक अथवा काम्यकर्माचरण करता है, उक्त कर्मफल प्रत्यह अक्षय होता है। अष्टाक्षर नारायण मन्त्र द्वारा अङ्कित धातुमयी मुद्रा जिनके हस्त में विद्यमान है, ग्रह नक्षत्र, मेषादि राशि समूह, उनका किसी प्रकार अपकार करने में समर्थ नहीं होते हैं ॥२७२-२७४॥

वराह पुराण में श्रीसनत् कुमार की उक्ति में प्रकाश है—जिनका देह-गोपीचन्दन मृत्तिका के द्वारा

यदा यस्य प्रपश्येत देहं शङ्खादिचिह्नितम् ।
तदा तस्य जगत्स्वामी तुष्टो हरति पातकम् ॥२७६॥
भवते यस्य देहे तु अहोरात्रं दिने दिने ।
शङ्खचक्रगदापद्मं लिखितं सोऽच्युतः स्वयम् ॥२७७॥
नारायणायुधैर्युक्तं कृत्वात्मानं कलौ युगे ।
कुरुते पुण्यकर्माणि मेरुतुल्यानि तानि वै ॥२७८॥
शङ्खादिनाङ्कितो भक्त्या श्राद्धं यः कुरुते द्विज ।
विधिहीनन्तु सम्पूर्णं पितॄणान्तु गयासमम् ॥२७९॥
यथाग्निर्दहते काष्ठं वायुना प्रेरितो भृशम् ।
तथा दह्यन्ति पापानि दृष्ट्वा कृष्णायुधानि वै ॥२८०॥

ब्राह्मये श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

विष्णुनामाङ्कितां मुद्रामष्टाक्षरसमन्विताम् ।
शङ्खादिकायुधादिकैर्युक्तां स्वर्णरूप्यमयीमपि ॥२८१॥
धत्ते भागवतो यस्तु कलिकाले विशेषतः ।
प्रह्लादस्य समो ज्ञेयो नान्यथा कलिवल्लभ ॥२८२॥

त्रिदशां त्रिदशनामित्यर्थः, प्रपश्येतेत्यार्षमात्मनेपदं, भवते इति च ॥२७२-२७७॥
आत्मानं देहम् ॥२७८॥
दह्यन्ति दहन्ति, पापानि स्वस्यान्येषां वा दह्यन्ते स्वयमेव नश्यन्तीत्यर्थः ॥२८०॥

श्रीकृष्णायुध चिह्न अङ्कित है, प्रयागादी तीर्थगमन करना उनके लिए अप्रयोजनीय ही है। कारण जिस समय मनुष्य के शरीर में शङ्खादि चिह्न दृष्ट होता है, उस समय ही जगत्पति श्रीहरि प्रीत होकर उनका पाप हरण करते हैं। जिस व्यक्ति के देह में प्रतिदिन दिवारात्र शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म अङ्कित है, वह व्यक्ति मूर्त्तिमान् अच्युत स्वरूप हैं ॥२७५-२७७॥

कलियुग में श्रीनारायण के आयुध समूह से शरीर को अङ्कित करके जो व्यक्ति पुण्यक्रिया का अनुष्ठान करता है, उक्त अनुष्ठान का फल सुमेरु तुल्य होता है। हे विप्र ! शङ्खादि चिह्न से चिह्नित होकर भक्ति पूर्वक श्राद्ध करने से यद्यपि वह श्राद्ध विधिहीन भी हो, तथापि सम्पूर्ण होकर पितृगण के सम्बन्ध में गयाश्राद्ध के समान होता है ॥२७८-२७९॥

जिस प्रकार अग्नि, वायु द्वारा चालित होकर काष्ठ को दग्ध करता है, तद्रूप कृष्णायुधों का दर्शन करने से समस्त पाप भस्मीभूत होते हैं ॥२८०॥

ब्रह्मपुराण के श्रीब्रह्मनारद संवाद में उक्त है—हे कलहप्रिय नारद ! जो भगवद्भक्त विशेषतः कलिकाल में श्रीहरिनामाङ्किता अष्टाक्षर विशिष्टा शङ्खादि अस्त्रयुक्ता काञ्चन अथवा रजत मयीमुद्रा धारण करते हैं, उनको प्रह्लाद के सदृश जानना चाहिए, इसमें अन्यथा नहीं है ॥२८१-२८२॥

किञ्च—

शङ्खाङ्कितततनुर्विप्रो भुङ्क्ते यस्य च वेश्मनि ।
तदन्नं स्वयमश्नाति पितृभिः सह केशवः ॥२८३॥
कृष्णायुधाङ्कितो यस्तु श्मशाने म्रियते यदि ।
प्रयागे या गतिः प्रोक्ता सा गतिस्तस्य नारद ॥२८४॥
कृष्णायुधैः कलौ नित्यं मण्डितं यस्य विग्रहम् ।
तत्राश्रयं प्रकुर्वन्ति विबधा वासवादयः ॥२८५॥
यः करोति हरेः पूजां कृष्णशस्त्राङ्कितो नरः ।
अपराध-सहस्राणि नित्यं हरति केशवः ॥२८६॥
कृत्वा काष्ठमयं विम्वं कृष्णशस्त्रैस्तु चिह्नितम् ।
यो ह्यङ्कयति चात्मानं तत्समो नास्ति वैष्णवः ॥२८७॥
पाषण्ड–पतित–व्रात्यैर्नास्तिकालापपातकैः ।
न लिप्यते कलिकृतैः कृष्णशस्त्राङ्कितो नरः ॥२८८॥

किञ्च—

अष्टाक्षराङ्किता मुद्रा यस्य धातुमयी भवेत् ।
शङ्खपद्मादिभिर्युक्ता पूज्यतेऽसौ सुरासुरैः ॥२८९॥

यदीति--न श्मशाने म्रियत एव, यदि कदाचिन्म्रियत इत्यर्थः ॥२८४॥
विग्रहमिति नपुंसकत्वमार्षम् ॥२८५॥
काष्ठमयमिति – काष्ठेत्युपलक्षणं, ताम्रादिधातुमयमित्यपि ज्ञेयं, स्वर्णरूप्यमयीमपीत्यादिना मुद्राया अपि तादृशत्वोक्तेः । अनेन वचनेन चैया मुद्रा प्रतिविम्वनीयेति केषाञ्चिन्मतं निरस्तम् ॥२८७-२८९॥

शङ्ख चिह्नाङ्कित ब्राह्मण जिसके गृह में भोजन करते हैं – पितृपुरुषगण के सहित केशव उनके उक्त अन्न स्वयं भोजन करते हैं। हे नारद ! श्रीकृष्णायुध से अङ्कित व्यक्ति की मृत्यु श्मशान में होने से भी प्रयाग मरण से जो गति होती है, उस गति को वह व्यक्ति प्राप्त करता है ॥२८३-२८४॥

कलियुग में जिसका देह सतत श्रीकृष्ण के आयुध समूह के द्वारा अङ्कित रहता है, इन्द्रादि देवगण उस देह को आश्रय कर निवास कहते हैं ॥२८५॥

जो मनुष्य श्रीकृष्ण के आयुधों से अङ्कित होकर श्रीहरि का पूजन करता है, श्रीकेशव नित्य उनके सहस्र अपराध को विदूरित करते हैं ॥२८६॥

श्रीकृष्ण के आयुध सकल से अङ्कित काष्ठफलक के द्वारा अर्थात् छापा के द्वारा जो व्यक्ति निज देह को अङ्कित करता है, तत् सदृश वैष्णव द्वितोय नहीं है ॥२८७॥

जो व्यक्ति श्रीकृष्णायुध चिह्नसमूह से अङ्कित है, वह कलिकृत पाषण्डता, पातित्य, व्रात्य (संस्कार हीनता) एवं नास्तिक के सहित वार्त्तालाप जनित अपराधसमूह से लिप्त नहीं होता है ॥२८८॥

और भी कथित है— जिनके अङ्ग में शङ्ख पद्मादियुक्ता अष्टाक्षर अङ्किता धातुमयी मुद्रा विराजित है,

धृता नारायणी मुद्रा प्रह्लादेन पुरा कृते।
विभीषणेन बलिना ध्रुवेण च शुकेन च ॥२६०॥
मान्धातृणाम्बरीषेण मार्कण्ड-प्रमुखैर्द्विजैः। शङ्खादिचिह्नितैः शस्त्रैर्देहे कृत्वा कलिप्रिय।
आराध्य केशवात् प्राप्तं समीहितफलं महत् ॥२६१॥

किञ्च—

गोपीचन्दन-मृत्स्नाया लिखितं यस्य विग्रहे।
शङ्खपद्मादिचक्रं वा तस्य देहे वसेद्धरिः ॥२६२॥

तत्रैव श्रीसनत्कुमारोक्तौ—

यस्य नारायणी मुद्रा देहं शङ्खादिचिह्नितम्। धात्रीफलकृता माला तुलसीकाष्ठसम्भवा ॥२६३॥
द्वादशाक्षरमन्त्रैस्तु नियुक्तानि कलेवरे।
आयुधानि च विप्रस्य मत्समः स च वैष्णवः ॥२६४॥

किञ्च—

यस्य नारायणी मुद्रा देहे शङ्खादि चिह्निता। सर्वाङ्गं चिह्नितं यस्य शस्त्रैर्नारायणोद्भवैः।
प्रवेशो नास्ति पापस्य कवचं तस्य वैष्णवम् ॥२६५॥

अन्यत्र च—

एभिर्भागवतैश्चिह्नैः कलिकाले द्विजातयः।
भवन्ति मर्त्यलोके ते शापानुग्रहकारकाः ॥२६६॥

कृते सत्ययुगे नारायणाङ्किता मुद्रा प्रह्लादेन धृता पुरेति क्वचित् पाठः ॥२६०॥ मान्धातृणेति मार्कण्डेति चार्ष छन्दोऽनुरोधेन, शस्त्रैः सह देहे कृत्वा मुद्रामिति शेषः; आराध्य तेनैव केशवं सन्तोष्य ॥२६१॥

सुर असुर समस्त व्यक्ति उनकी पूजा करते हैं। सत्ययुग में प्रह्लाद, तत्पश्चात् विभीषण बलि, ध्रुव एवं शुकदेव प्रभृति व्यक्तिगण नारायणी मुद्रा धारण किए थे। हे नारद! मान्धाता, अम्बरीष, मार्कण्डेय प्रमुख द्विजवृन्द शङ्खादि अस्त्र समूह के द्वारा देह को चिह्नित करके श्रीकेशवाराधना के द्वारा अभिलषित महत् फल प्राप्त किए थे ॥२८९-२६१॥

और भी उक्त है—जिनके देह में गोपीचन्दन मृत्तिका के द्वारा शङ्ख पद्मादि अथवा चक्रचिह्न अङ्कित हैं, श्रीहरि उनके शरीर में निवास करते हैं ॥२६२॥

उक्त स्थल में श्रीसनत् कुमार की उक्ति है—जिन विप्र का देह नारायणीमुद्रा एवं शङ्खादि से चिह्नित है, आमलकी फल एवं तुलसी काष्ठ निर्मित माला से भूषित है, द्वादशाक्षर मन्त्र के सहित आयुधसमूह के चिह्नयुक्त है, उन सब वैष्णव मेरे सदृश हैं ॥२६३-२६४॥

और भी कथित है—जिसके शरीर में शङ्खादि चिह्निता नरायणी मुद्रा अङ्कित है, एवं जिसके सर्वाङ्ग में नारायणास्त्र समूह अङ्कित हैं, उसके शरीर में पाप प्रवेश करने में सक्षम नहीं होता है। उक्त आयुधचिह्न समूह उसके लिए वैष्णव कवच स्वरूप होते हैं ॥२६५॥

अन्यत्र भी वर्णित है—कलिकाल में जो सब द्विज, श्रीभगवान् के आयुधचिह्नों से अङ्कित होते हैं,

अथ मुद्राधारणविधिः—

गौतमीये—

चक्रञ्च दक्षिणे बाहौ शङ्खं वामेऽपि दक्षिणे ।
गदां वामे गदाधस्तात् पुनश्चक्रञ्च धारयेत् ॥२९७॥
शङ्खोपरि तथा पद्मं पुनः पद्मञ्च दक्षिणे ।
खड्गं वक्षसि चापञ्च सशरं शीर्ष्णि धारयेत् ॥२९८॥
इति पञ्चायुधान्यादौ धारयेद्वैष्णवो जनः ।
मत्स्यञ्च दक्षिणे हस्ते कूर्मं वामकरे तथा ॥२९९॥

तथा चोक्तम्—

दक्षिणे तु भुजे विप्रो बिभृयाद्वै सुदर्शनम् ।
मत्स्यं पद्मं चापरेऽथ शङ्खं पद्मं गदान्तथा ॥३००॥ इति ।

साम्प्रदायिकशिष्टानामाचाराच्च यथारुचि । शङ्खचक्रादिचिह्नानि सर्वेष्वङ्गेषु धारयेत् ॥३०१॥

दक्षिणेऽपि शङ्खं धारयेत्, यद्यपि 'दक्षिणे तु भुजे विप्रो बिभृयाद्वै सुदर्शनम् इत्यादि वचनेन वामे शङ्खस्य धारणमुक्तं, तथापि 'शङ्खोद्धारे तु यत् प्रोक्तम्' इत्यादि-लिखित-वचनानुसारेण दक्षिणेऽपि पुनः शङ्ख धारणाधिकं लिखितम् । खड्गस्य वक्षसि, सशरचापस्य च मूर्द्धनि धारणम् । ललाटे च गदा धार्य्या मूर्द्धनि चापशरन्तथा । नन्दकश्चैव हृन्मध्ये शङ्खचक्रे भुजद्वये ॥' इति सप्तमुद्राधारणं वाराहवचनानुसारेण लिखितम् ; किन्तु निजरुच्यनुसारेण सर्वाणि सर्वत्रैव धारयेदित्यग्रे स्वयं लेख्यमेवेति दिक् ॥२९७-२९८।

शङ्खचक्रे गदा खड्गश्चापश्चेत्येतानि पञ्चायुधानि ॥२९९॥

मत्स्यं पद्मञ्च दक्षिणे अथानन्तरमपरे वामे पाणौ शङ्खादिकं बिभृयात् ॥३००॥

लक्षणानि वेणुप्रभृतीनि, यच्च पञ्चायुधेतरभगवच्चिह्नानां धारणं निषिद्धं तथा च पाद्मोत्तरखण्डे— 'अन्यं न दाहयेद्गात्रं ब्राह्मणो हरिलाञ्छनात् । शङ्खचक्रगदापद्मशार्ङ्गादन्यैर्हरेरपि ॥' इति ; तत् तप्तमुद्रादिविषयम् ॥३०१॥

वे सब मर्त्यलोक में अनुग्रह निग्रह करने में सक्षम होते हैं ॥२९६॥

अथ मुद्राधारणविधिः—

मुद्राधारण विधि । गौतमीय में उक्त है—दक्षिण बाहु में चक्र वामबाहु में शङ्ख चिह्न धारण करे, एवं दक्षिणबाहु में गदाचिह्न धारण करे । वामबाहु में गदाचिह्न के नीचे पुनर्वार चक्रचिह्न धारण करे ॥२९७॥

दक्षिण बाहु में पद्मचिह्न धारण करे, एवं शङ्ख के उपरि भाग में पद्मचिह्न धारण करे । खड्गचिह्न वक्षःस्थल में सशर चाप चिह्न का धारण स्वीय मस्तक में करे ॥२९८॥

वैष्णववृन्द प्रथम उक्त पञ्चप्रकार आयुध धारण करें, तत्पश्चात् दक्षिण हस्त में मत्स्य चिह्न, वाम हस्त में कूर्मचिह्न धारण करें ॥२९९॥

उस विषय में कथित है—विप्र, दक्षिण बाहु में सुदर्शन, मत्स्य, पद्म एवं वाम बाहु में शङ्ख, पद्म, गदा चिह्न धारण करें ॥३००॥

साम्प्रदायिक शिष्टाचारानुरूप ही स्वीय अभीष्ट चिह्नक्रम से शङ्ख चक्रादि चिह्नसमूह का धारण

भक्त्या निजेष्टदेवस्य धारयेल्लक्षणान्यपि ॥३०२॥
चक्रशङ्खौ च धार्य्येते संमिश्रावेव कैश्चन ॥३०३॥
श्रीगोपीचन्दनेनैवं चक्रादीनि बुधोऽन्वहम् ।
धारयेच्छयनादौ तु तप्तानि किल तानि हि ॥३०४॥

अथ चक्रादीनां लक्षणानि

द्वादशारन्तु षट्कोणं वलयत्रयसंयुतम् ।
चक्रं स्याद्दक्षिणावर्त्तं शङ्खश्च श्रीहरेः स्मृतः ॥३०५॥
गदापद्मादिकं लोकसिद्धमेव मतं बुधैः ।
मुद्रा वा भगवन्नाम्नाङ्किता वाष्टाक्षरादिभिः ॥३०६॥

यद्यपि नित्यपार्षदस्य भागवतप्रवरस्य श्रीशङ्खस्य मुद्राधारणे कथञ्चिदपि दोषो न घटेत, तथापि तन्नादस्रस्तपत्नीगर्भस्य कस्यचिद्ब्राह्मणस्य शापसत्यतार्थमसुरयोनौ पाञ्चजन्यसंज्ञयाऽवतीर्णस्य शङ्खस्य तस्यासुरत्वमुद्भाव्य कैश्चिद्वैष्णवैस्तच्चिह्नं केवलं पृथङ् न धार्य्यत इति तन्मतं लिखति—चक्रशङ्खौ चेति ॥३०३॥

तानि चक्रादीनि तु तप्तानि वह्नौ विधिवत् सन्तप्य शयन-द्वादश्यां आदिशब्दादुत्थानादिद्वादशीषु च धारयेत् । अतोऽत्र नित्यकर्मलिखने तद्विध्यादिकं न लिखितमिति भावः । किलेति तत्र श्रुतिस्मृति-वाक्य प्रामाण्यं बोधयति ॥३०४॥

लोकसिद्धमेव—यथा लोके दृश्यते तदाकारमेवेत्यर्थः । भगवन्नाम्ना कृष्णरामेत्यादिना अष्टाक्षर मन्त्रादिभिर्वाङ्किता ; आदि-शब्देन पञ्चाक्षरादि ॥३०६॥

ऊर्द्ध्वाङ्ग में करे, एवं निज इष्टदेव के चिह्न समूह का धारण भी भक्ति पूर्वक करे ॥३०१-३०२॥

कतिपय व्यक्ति, शङ्ख, चक्र दोनों को परस्पर संलग्न करके धारण करते हैं। तात्पर्य्य यह है, कि—शङ्ख भगवत् पार्षद एवं भगवद्भक्त प्रधान हैं। शङ्खमुद्रा धारण करने से दोष नहीं होता है, तथापि शङ्ख के शब्द श्रवण से ब्राह्मणी का गर्भस्राव हुआ था, उस से ब्राह्मणी के पति ने शङ्ख को शाप प्रदान किया, जिससे शङ्ख का जन्म असुर कुल में हुआ। उक्त शाप को सत्य करने के निमित्त पाञ्चजन्य शङ्ख रूप में शङ्ख प्रकट हुआ। कतिपय वैष्णव शङ्ख का असुरत्व उद्भावन करके शङ्खचिह्न का धारण पृथक रूपसे करते हैं ॥३०३॥

पण्डितगण प्रत्यह गोपीचन्दन द्वारा चक्रादि चिह्न समूह की रचना निजाङ्ग में करे, एवं शयन द्वादशी एवं उत्थान द्वादशी में तप्तमुद्रा धारण करें ॥३०४॥

अथ चक्रादिनां लक्षणानि—

चक्रादि लक्षण। द्वादश आर युक्त अर्थात् चक्राकृति एवं बारह आरायुक्त चक्र होता है। उस में छै कोण, और तीन बलय होते हैं। शङ्ख एवं चक्र दक्षिणावर्त्त होते हैं। गदा एवं पद्मादि का निर्माण जिस प्रकार लोक में प्रसिद्ध है, पण्डितगण उसप्रकार आकृति विशिष्ट को ही मानते हैं। अथवा मुद्रा, भगवन्नाम समूह द्वारा अष्टाक्षर अथवा पञ्चाक्षर मन्त्र द्वारा निर्मित होती है ॥३०५-३०६॥

अथ मालादिधारणम्

ततः कृष्णार्पिता माला धारयेत्तुलसीदलैः ।
पद्माक्षैस्तुलसीकाष्ठैः फलैर्धात्र्याश्च निर्मिताः ॥३०७॥

धारयेत्तुलसीकाष्ठभूषणानि च वैष्णवः । मस्तके कर्णयोर्बाह्वोः करयोश्च यथारुचि ॥३०८॥

अथ मालाधारणविधिः

स्कान्दे—

सन्निवेद्यैव हरये तुलसीकाष्ठसम्भवाम् । मालां पश्चात् स्वयं धत्ते स वै भागवतोत्तमः ॥३०९॥

हरये नार्पयेद्यस्तु तुलसीकाष्ठसम्भवाम् । मालां धत्ते स्वयं मूढ़ः स याति नरकं ध्रुवम् ॥३१०॥

क्षालितां पञ्चगव्येन मूलमन्त्रेण मन्त्रिताम् । गायत्र्या चाष्टकृत्वो वै मन्त्रितां धूपयेच्च ताम्
विधिवत् परया भक्त्या सद्योजातेन पूजयेत् ॥३११॥

तुलसीकाष्ठसम्भूते माले कृष्णजनप्रिये । बिभर्मि त्वामहं कण्ठे कुरु मां कृष्णवल्लभम् ॥३१२॥

यथा त्वं वल्लभा विष्णोर्नित्यं विष्णुजनप्रिया ।
तथा मां कुरु देवेशि नित्यं विष्णुजनप्रियम् ॥३१३॥

दाने ला-धातुरुद्दिष्टो लासि मां हरिवल्लभे । भक्तेभ्यश्च समस्तेभ्यस्तेन माला निगद्यसे ॥३१४॥

एवं संप्रार्थ्य विधिवन्मालां कृष्णगलेऽर्पिताम् ।
धारयेद्वैष्णवो यो वै स गच्छेद्वैष्णवं पदम् ॥३१५॥

तुलसीदलादिभिर्निर्मिता मालाः कृष्णार्पिताः सतीर्धारयेत् ॥३०७॥

अथ मालादिधारणम्—

मालादि धारण। अनन्तर तुलसीपत्र, पद्मवीज, तुलसीकाष्ठ, आमलकीफल द्वारा निर्मित माला श्रीकृष्ण को अर्पणकर पश्चात् धारण करे। वैष्णव वृन्द, मस्तक में, कर्णद्वय में, बाहुद्वय में एवं हस्तद्वय में स्वीय रुचि के अनुसार तुलसी काष्ठ का अलङ्कार धारण करे ॥३०७-३०८॥

अथ मालाधारणविधिः—

माला धारण विधि। स्कन्द पुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति तुलसी काष्ठ निर्मित माला श्रीहरि को अर्पण करके पश्चात् धारण करता है, वह निश्चय ही उत्तम भागवत है ॥३०९॥

जो मूढ़ तुलसी काष्ठ निर्मित माला श्रीहरि को निवेदन न करके स्वयं धारण करता है, उसका नरक गमन सुनिश्चित है ॥३१०॥

माला निर्माण पूर्वक पञ्चगव्य से धौत करे, पश्चात् उसके ऊपर मूल मन्त्र जप करके अष्टबार गायत्री जप करे, अनन्तर धूप प्रदान कर सद्योजात मन्त्र द्वारा भक्ति के सहित पूजन करे ॥३११॥

हे माले! हे कृष्ण भक्तादरणीये! हे तुलसी काष्ठ सम्भवे! मैं तुमको कण्ठ मे धारण कर रहा हूँ मुझ को श्रीहरि का प्रियपात्र करो। हे कृष्णवल्लभे! जिसप्रकार तुम कृष्ण की प्यारी हो और कृष्णभक्त जिसप्रकार तुम्हारे प्रति प्रीति प्रदर्शन करते हैं मुझ को उसप्रकार कृष्णभक्तों का प्रियपात्र करो ॥३१२-३१३॥

नानार्थ में 'ला' धातु का प्रयोग होता है, हे हरिप्रिये! तुमने मेरे लिये समस्त भक्तजन को दिया है, तज्जन्य तुम्हें माला नाम से कहते हैं ॥३१४॥

यथाविधि उस प्रकार प्रार्थना करके जो वैष्णव प्रथम श्रीकृष्ण के गलदेश में माला अर्पण करता है,

मालाधारण-नित्यता

तत्रैव कार्त्तिक-प्रसङ्गे—

धात्रीफलकृतां मालां कण्ठस्थां यो वहेन्न हि।
वैष्णवो न स विज्ञयो विष्णुपूजारतो यदि ॥३१६॥

गारुड़े—

धारयन्ति न ये मालां हैतुकाः पापबुद्धयः।
नरकान्न निवर्त्तन्ते दग्धाः कोपाग्निना हरेः ॥३१७॥

अतएव स्कान्दे—

न जह्यात् तुलसीमालां धात्रीमालां विशेषतः।
महापातकसंहन्त्रीं धर्मकामार्थदायिनीम् ॥३१८॥

अथ मालाधारण-माहात्म्यम्

अगस्त्यसंहितायाम्—

निर्माल्यतुलसीमालायुक्तो यश्चार्च्चयेद्धरिम्।
यद्यत् करोति तत् सर्वमनन्तफलदं भवेत् ॥३१९॥

यदि यद्यपि ॥३१६॥

हैतुका हेतुवादनिष्ठाः ॥३१७॥

न जह्यात्, नित्यत्वात् धात्रीमालाञ्च, नित्येत्वेऽपि फलं दर्शयति। विशेषतः सम्यकृतयेत्यर्थः। यद्वा, विशेषतो धात्रीमालां न जह्यादिति तन्नित्यत्वं नितरामभिप्रेतम् ॥३१८॥

निर्माल्यं भगवच्छेषः, तद्रूपा या तुलसीमाला तया युक्तः सन् ॥३१९॥

पश्चात् उक्त प्रसादी माला धारण करता है, वह विष्णुलोक गमन करता है ॥३१५॥

मालाधारण-नित्यता—

माला धारण की नित्यता। स्कन्दपुराण के कार्तिक प्रसङ्ग में वर्णित है—जो व्यक्ति आमलकी फल ग्रथिता माला कण्ठ में धारण नहीं करता है, वह विष्णु पूजारत होनेपर भी वैष्णव नाम से अभिहित नहीं होता है ॥३१६॥

गरुड़ पुराण में वर्णित है—जो सब हेतुवाद परायण पापमति मानव माला धारण नहीं करते हैं, वे सब श्रीहरि के कोपानल से भस्मीभूत होते हैं, एवं नरक से पुनरागमन नहीं करते हैं। अतएव स्कन्दपुराण में वर्णित है, तुलसी माला, विशेषतः आमलकी फल निर्मिता माला का परित्याग न करे। वह महापातक नाशक एवं धर्म अर्थ, काम प्रदायक है ॥३१७-३१८॥

अथ मालाधारण-माहात्म्यम्—

माला धारण माहात्म्य। अगस्त्य संहिता में वर्णित है—जो माला श्रीहरि को निवेदित हुई है, ऐसी तुलसीमाला धारण कर जो व्यक्ति श्रीभगवान् की अर्चना करता है, एवं अन्यान्य क्रियानुष्ठान करता है, वे सब अनन्त फलदायक होते हैं ॥३१९॥

नारदीये—

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षमाला, ये वा ललाटफलके लसदूर्द्ध्वपुण्ड्राः।
ये बाहुमूलपरिचिह्नितशङ्खचक्रा, स्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥३२०॥

किञ्च—

भुजयुगमपि चिह्नै रङ्कितं यस्य विष्णोः, परमपुरुषनाम्नां कीर्त्तनं यस्य वाचि।
ऋजुतरमपि पुण्ड्रं मस्तके यस्य कण्ठे, सरसिजमणिमाला यस्य तस्यास्मि दासः ॥३२१॥

विष्णुधर्मोत्तरे श्रीभगवदुक्तौ

तुलसीकाष्ठमालाञ्च कण्ठस्थां वहते तु यः।
अप्यशौचोऽप्यनाचारो मामेवैति न संशयः ॥३२२॥

स्कान्दे—

धात्रीफलकृता माला तुलसीकाष्ठसम्भवा।
दृश्यते यस्य देहे तु स वै भागवतोत्तमः ॥३२३॥
तुलसीदलजां मालां कण्ठस्थां वहते तु यः।
विष्णूत्तीर्णां विशेषेण स नमस्यो दिवौकसाम् ॥३२४॥
तुलसीदलजा माला धात्रीफलकृताऽपि च।
ददाति पापिनां मुक्तिं किं पुनर्विष्णुसेविनाम् ॥३२५॥

लसत् श्रीहरि-मन्दिरतया शोभमानमूर्द्ध्वपुण्ड्रं येषां ते ॥३२०॥
विष्णोश्चिह्नैः यस्य वाचि नाम्नां कीर्त्तनमित्यत्र दृष्टान्तत्वेन ज्ञेयम्; एवमन्यत्राप्यूह्यम् ॥३२१॥
तुलसीकाष्ठसम्भवा च ॥३२३॥

नारदीय में उक्त है— जो सब व्यक्ति के कण्ठदेश में तुलसीमाला एवं पद्मवीज की माला संलग्न है, एवं जिनके ललाटदेश में ऊर्द्ध्वपुण्ड्र शोभित है, जिनके बाहुमूल में शङ्ख चक्रचिह्न देदीप्यमान है, उन वैष्णववृन्द सत्वर जगत् को पवित्र करते हैं ॥३२०॥

और भी वर्णित है— जिन व्यक्ति के बाहुयुगल श्रीहरि के अस्त्रादि चिह्न से चिह्नित है, वाक्य परम पुरुष श्रीहरि के नाम समूह का कीर्त्तन में रत है, शिरोदेश में अतिशय सरल ऊर्द्ध्वपुण्ड्र है, एवं कण्ठदेश में पद्मवीज की माला विद्यमान है, मैं उनका दास हूँ ॥३२१॥

विष्णु धर्मोत्तर में श्रीभगवदुक्ति— जो व्यक्ति तुलसी काष्ठ माला का धारण कण्ठदेश में करता है, वह अपवित्र हो अथवा अनाचारी हो वह मोक्ष को प्राप्त करेगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥३२२॥

स्कन्द पुराण में उक्त है— जिनके देह में धात्रीफल निर्मिता माला एवं तुलसी काष्ठ सम्भूता माला दृष्ट होती हैं, आप निश्चय ही भगवद्भक्तगणों में श्रेष्ठ हैं। जो व्यक्ति तुलसीपत्र निर्मित माला विशेषतः श्रीविष्णु के कण्ठदेश से उत्तीर्णा है, उसका धारण निज कण्ठदेश में करता है, वह देवगण का वन्दनीय होता है। जो सब जन श्रीविष्णु की परिचर्या करते हैं, उन सब की बात क्या कहूँ? तुलसीपत्र निर्मिता माला एवं आमलकी फल ग्रथिता माला पापीगण को मुक्ति प्रदान करती हैं ॥३२३-३२५

तत्रैव कार्तिक प्रसङ्गे—

यः पुनस्तुलसीमालां कृत्वा कण्ठे जनार्द्दनम् ।
पूजयेत् पुण्यमाप्नोति प्रतिपुष्पं गवायुतम् ॥३२६॥
यावल्लुठति कण्ठस्था धात्रीमाला नरस्य ही ।
तावत्तस्य शरीरे तु प्रीत्या लुठति केशवः ॥३२७॥
स्पृशेच्च यानि लोमानि धात्रीमाला कलौ नृणाम् ।
तावद्वर्षसहस्राणि वसते केशवालये ॥३२८॥
यावद्दिनानि वहते धात्रीमालां कलौ नरः ।
तावद्युगसहस्राणि वैकुण्ठे वसतिर्भवेत् ॥३२९॥
मालायुग्मञ्च यो नित्यं धात्री-तुलसीसम्भवम् ।
वहते कण्ठदेशे च कल्पकोटिं दिवं वसेत् ॥३३०॥

गारुडे च मार्कण्डेयोक्तौ—

तुलसीदलजां मालां कृष्णोत्तीर्णां वहेत्तु यः ।
पत्रे पत्रेऽश्वमेधानां दशानां लभते फलम् ॥३३१॥
तुलसीकाष्ठसम्भूतां यो मालां वहते नरः ।
फलं यच्छति दैतारिः प्रत्यहं द्वारकोद्भवम् ॥३३२॥

गवायुतम्—अयुतसंख्य-गोदानफलमित्यर्थः ॥३२६॥
तुलसीसम्भवमिति ह्रस्वत्वमार्षम् ॥३३०॥
द्वारकोद्भवं द्वारकानिवासजं फलं तस्मै प्रयच्छति ॥३३२॥

उक्त पुराण के कार्तिक प्रसङ्ग में लिखित है—जो व्यक्ति स्वीय कण्ठदेश में तुलसीमाला धारण पूर्वक श्रीजनार्दन की पूजा करता है, वह प्रत्येक पुष्पार्पण में अयुत संख्यक गोदान जनित पुण्य फल प्राप्त करता है ॥३२६॥

आमलकी माला कण्ठदेश में लग्न होकर जितने दिन मनुष्य देह में विलुण्ठित होती है, श्रीहरि प्रीति पूर्वक उतने दिन उस व्यक्ति के शरीर में लुण्ठित होते रहते हैं। कलियुग में आमलकी फल ग्रथिता माला मानवों के जितने संख्यक लोमराजी को स्पर्श करती है, वे सब मानव उतने सहस्रवर्ष पर्यन्त श्रीहरिधाम में निवास करते हैं ॥३२७-३२८॥

कलियुग में मानव यावत्काल पर्यन्त आमलकीफल की माला धारण करते हैं, तावत् सहस्रयुग पर्यन्त उनका निवास वैकुण्ठधाम में होता है। जो व्यक्ति, नित्य कण्ठदेश में धात्री एवं तुलसी सम्भूता मालाद्वय का वहन करता है, उसका निवास देवलोक में कोटि कल्प पर्यन्त होता है ॥३२९-३३०॥

गरुड़ पुराण में श्रीमार्कण्डेय की उक्ति है—जो व्यक्ति, श्रीकृष्ण के कण्ठदेश से उत्तीर्णा तुलसीपत्र निर्मित माला निज गलदेश में धारण करता है, उक्त माला में जितने संख्यक पत्र रहते हैं, उसके प्रति पत्र में दश दश अश्वमेध का फलप्राप्त वह करता है। जो मनुष्य, तुलसी काष्ठ सम्भूता माला धारण प्रत्यह करता है, दैत्यारि श्रीकृष्ण, उनको द्वारका निवास का फल प्रदान करते हैं। जो मनुष्य तुलसी काष्ठ

निवेद्य विष्णवे मालां तुलसीकाष्ठसम्भवाम् । वहते यो नरो भक्त्या तस्य वै नास्ति पातकम् ।
सदा प्रीतमनास्तस्य कृष्णो देवकिनन्दनः ॥३३३॥
तुलसीकाष्ठसम्भूतां यो मालां वहते नरः ।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति नाशौचं तस्य विग्रहे ॥३३४॥
तुलसीकाष्ठसम्भूतं शिरसो यस्य भूषणम् ।
बाह्वोः करे च मर्त्यस्य देहे तस्य सदा हरिः ॥३३५॥
तुलसीकाष्ठमालाभिर्भूषितः पुण्यमाचरेत् ।
पितॄणां देवतानाञ्च कृतं कोटिगुणं कलौ ॥३३६॥
तुलसीकाष्ठमालान्तु प्रेतराजस्य दूतकाः ।
दृष्ट्वा नश्यन्ति दूरेण वातोद्धूतं यथा दलम् ॥३३७॥
तुलसीकाष्ठमालाभिर्भूषितो भ्रमते यदि ।
दुःस्वप्नं दुर्निमित्तञ्च न भयं शस्त्रजं क्वचित् ॥३३८॥

अथ गृहे सन्ध्योपासनविधिः

सन्ध्योपास्त्यादिकं कर्म ततः कुर्य्यात् यथाविधि ।
कृष्णपादोदकेनैव तत्र देवादि-तर्पणम् ॥३३९॥
शिरसा विष्णुनिर्माल्यं पादोदेनापि तर्पणम् ।
पितॄणां देवतानाञ्च वैष्णवैस्तु समं मतम् ॥३४०॥

पुण्यं पुण्यकर्म, पितॄणां देवतानाञ्च तत्सम्बन्धि कर्म कृतं कोटिगुणं भवेत् विशेषतः कलौ ॥३३६॥ नश्यन्ति अदृश्या भवन्ति, पलायन्त इत्यर्थः ॥३३७॥

पूर्वं वहिस्तीर्थस्नाने सन्ध्योपासनादिकं लिखितम्, इदानीं गृहविषयकं तल्लिखति—सन्ध्येति। तत्र तस्मिन् कर्मणि ॥३३९॥ विष्णुनिर्माल्यं तद्वहनमित्यर्थः ; तद्द्वयं समं तुल्यं मतम् ॥३४०॥

निर्मिता माला, श्रीविष्णु को अर्पण करके भक्तिपूर्वक धारण करता है, उसका पाप नहीं रहता है, देवकीनन्दन कृष्ण, उनके प्रति सदा सन्तुष्ट रहते हैं। जो मानव तुलसीकाष्ठ रचित माला धारण करता है, उसका प्रायश्चित्त करने का प्रयोजन नहीं है, एवं शरीर में अशौच भी नहीं रहता है। तुलसीकाष्ठ निर्मित भूषण जिस मनुष्य के मस्तक, देह, बाहुद्वय एवं हस्त में रहता है, श्रीहरि, सतत उसके देह में विराज करते हैं ॥३३१-३३५॥

यमदूतगण तुलसीकाष्ठमयीमाला को देखकर पवन ताड़ित पत्रवत् पलायन करते हैं। तुलसी काष्ठमयीमाला से भूषित होकर भ्रमण करने पर दुःस्वप्न, दुर्घटना एवं शस्त्र जनित भय नहीं होता है ॥३३६-३३८॥

अथ गृहे सन्ध्योपासनाविधिः—

गृह में सन्ध्योपासना की विधि। उक्त रूपसे यथाविधि तुलसीमाला धारण करके सन्ध्योपासना क्रिया एवं उक्त क्रिया में श्रीहरि के श्रीचरणामृत द्वारा देवादि का तर्पण करे। मस्तक में विष्णु निर्माल्य धारण एवं विष्णुचरणोदक द्वारा पितृदेव तर्पण, इन दोनोंका तुल्य विधान वैष्णवों ने किया है ॥३३९-३४०॥

सन्ध्योपास्तौ च वशिष्ठ-वचनम्—

गृहे त्वेकगुणा सन्ध्या गोष्ठे दशगुणा स्मृता ।
शतसाहस्त्रिका नद्यामनन्ता विष्णुसन्निधौ ॥३४१॥

अथ श्रीगुरुपूजा

पूजयिष्यंस्ततः कृष्णमादौ सन्निहितं गुरुम् ।
प्रणम्य पूजयेद्भक्त्या दत्त्वा किञ्चिदुपायनम् ॥३४२॥

स्मृति महार्णवे—

रिक्तपाणि र्न पश्येत राजानं भिषजं गुरुम् ।
नोपायनकरः पुत्रं शिष्यं भृत्यं निरीक्षयेत् ॥३४३॥

किञ्च, श्रीभगवदुक्तौ—

प्रथमन्तु गुरुं पूज्य ततश्चैव ममार्चनम् ।
कुर्व्वन्सिद्धिमवाप्नोति ह्यन्यथा निष्फलं भवेत् ॥३४४॥

श्रीनारदेन च—

गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यमग्रतः ।
स दुर्गतिमवाप्नोति पूजनं तस्य निष्फलम् ॥३४५॥

पश्येत पश्येत् ; निरीक्षयेत् स्वार्थे इन् निरीक्षयेत् ॥३४३॥

एवं किञ्चिदुपायनं दत्त्वेत्यत्र प्रमाणवचनं संगृह्याधुना सन्निहितं सन्तं गुरुमादौ पूजयेदिति श्रीभगवद्वचनादिना प्रमाणयति —प्रथममिति द्वाभ्याम् । पूज्य पूजयित्वा ॥३४४॥

सन्ध्योपासन के विषय में वशिष्ठ की उक्ति यह है—गृह में सन्ध्योपासन करने से एकगुण, गोष्ठमध्ये दशगुण, नदी में शतसहस्रगुण एवं श्रीहरि समीप में असंख्यगुण फल होते हैं ॥३४१॥

अथ श्रीगुरुपूजा—

श्रीगुरु पूजा । अनन्तर श्रीकृष्ण पूजा के निमित्त उपस्थित होकर सर्वप्रथम समीपवर्त्ती श्रीगुरुदेव की पूजा, किञ्चित् उपायन समर्पण पूर्वक नमस्कार एवं भक्ति के सहित करे ॥३४२॥

स्मृति महार्णव में वर्णित है—राजा, गुरु, चिकित्सक का दर्शन रिक्तहस्त से न करे, तथा उपायन लेकर पुत्र, शिष्य, भृत्य का साक्षात्कार न करे ॥३४३॥

श्रीभगवान् की उक्ति है—सर्वप्रथम श्रीगुरुदेव की पूजा करके तत्पश्चात् मेरी पूजा करने से सिद्धि मिलती है, अन्यथा पूजा निष्फल होती है ॥३४४॥

श्रीनारद ने कहा है— समीप में श्रीगुरुदेव विद्यमान होने पर जो व्यक्ति अन्य व्यक्ति की पूजा करता है, उसको दुर्गति होती है, तदीय पूजा भी फलवती नहीं होती है ॥३४५॥

अथ श्रीगुरु-माहात्म्यम्

श्रुतिषु (श्वेताश्व ६।२३)—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥३४६

एकादशस्कन्धे (१७।२७) श्रीभगवदुक्तौ—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥३४७॥

दशमस्कन्धे (८०।३४) च—

नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरु-शुश्रूषया यथा ॥३४८॥

सप्तमस्कन्धे (१५।२६) श्रीनारदुक्तौ—

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥३४९॥

अर्थाः पुरुषार्थाः ॥३४६॥

नासूयेत मा दोषदृष्टिं कुर्य्यात् ॥३४७॥

इज्या यज्ञो गार्हस्थ्यधर्मः, प्रजातिः प्रकृष्टजन्म उपनयनं, तेन ब्रह्मचारिधर्म उपलक्ष्यते, ताभ्याम्। तथा तपसा वाणप्रस्थ-धर्मेण, उपशमेन यतिधर्मेण वा, अहं परमेश्वरस्तथा न तुष्येयं, यथा सर्वभूतात्मापि गुरुशुश्रूषया ॥३४८॥

गुर्वभक्त्या परमानर्थोक्त्या गुरुभक्तिमेव द्रढ़यति-यस्येति। साक्षाद्भूते मर्त्यासद्धीः मर्त्यं इति असद्बुद्धिः, श्रुतं शास्त्राभ्यासः, कुञ्जरशौचवत् व्यर्थमेवेत्यर्थः ॥३४९॥

अथ श्रीगुरु माहात्म्यम्—

श्रीगुरु माहात्म्य श्रुति में वर्णित है— देवता के प्रति जिसकी पराभक्ति है, और देवता में जिस प्रकार भक्ति है, श्रीगुरुदेव में भी उस प्रकार भक्ति है, उस माहात्मा के सम्बन्ध में मदुपदिष्ट समस्त विषय अर्थात् श्रुत्युक्त मर्मार्थ समूह यथावत् प्रकाशित होते हैं ॥३४६॥

एकादश स्कन्ध में उक्त है—(भा०११।१७।२७) मुझको ही आचार्य जाने, आचार्य का अपमान, अवज्ञा अनादर प्रभृति कभी न करे। मनुष्य जानकर असूया दोषारोप न करे, कारण श्रीगुरुदेव सर्व देवमय होते हैं ॥३४७॥

दशम स्कन्ध में वर्णित है—मैं सर्वभूतात्मा हूँ। श्रीगुरुसेवा के द्वारा मैं जिसप्रकार सन्तुष्ट होता हूँ, गार्हस्थ्य धर्म, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं यतिधर्माचरण से उसप्रकार सन्तुष्ट नहीं होता हूँ ॥३४८॥

सप्तम स्कन्ध में श्रीनारद की उक्ति है—हे राजन्! ज्ञानदीप प्रदाता गुरुदेव साक्षात् भगवत् स्वरूप हैं। उन श्रीगुरुदेव में जिसको मनुष्य ज्ञानरूप असद्बुद्धि विद्यमान है, उस व्यक्ति का समस्त शास्त्र श्रवण हस्तिस्नान के समान व्यर्थ होता है ॥३४९॥

अन्यत्रापि —

साधकस्य गुरौ भक्तिं मन्दीकुर्वन्ति देवताः ।
यन्नोऽतीत्य व्रजेद्विष्णुं शिष्यो भक्त्या गुरौ ध्रुवम् ॥३५०॥

मनुस्मृतौ —

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥३५१॥

किञ्च —

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः । गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मात् संपूजयेत् सदा ॥३५२॥

वामनकल्पे ब्रह्मणो वाक्यम् —

यो मन्त्रः स गुरुः साक्षात् यो गुरुः स हरिः स्मृतः । गुरुर्यस्य भवेत्तुष्टस्तस्य तुष्टो हरिः स्वयम् ।
गुरोः समासने नैव न चैवोच्चासने वसेत् ॥३५३॥

विष्णुरहस्ये —

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यथाविधि तथा गुरुम् । अभेदेनार्चयेद् यस्तु स मुक्तिफलमाप्नुयात् ॥३५४॥

विष्णुधर्मे श्रीभागवते च हरिश्चन्द्रस्य —

गुरुशुश्रूषणं नाम सर्वधर्मोत्तमोत्तमम् ।
तस्माद्धर्मात् परो धर्मः पवित्रं नैव विद्यते ॥३५५॥
कामक्रोधादिकं यद्यदात्मनोऽनिष्टकारणम् ।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥३५६॥

सम्पूजयेद् गुरुमेव ॥३५२॥

अन्यत्र भी वर्णित हैं— शिष्य गुरुचरणों में निश्चला भक्ति करके हम सबको लङ्घन कर श्रीविष्णु को प्राप्त करेगा तज्जन्य देवगण, गुरुदेव के प्रति शिष्य की भक्ति को मन्दीभूत कर देते हैं ॥३५०॥

मनुस्मृति में उक्त है— अज्ञको बालक कहते हैं, मन्त्रप्रदानकारी पितृशब्द से अभिहित होते हैं। पण्डितगण कहते हैं, ज्ञानहीन व्यक्ति, निश्चयही बालक होते हैं, एवं मन्त्रदाता निश्चयही पिता हैं। और भी कहा है— गुरुदेव ही ब्रह्मा, गुरुदेव ही शिव, गुरुदेव हो परम ब्रह्म हैं। सुतरां श्रीगुरुदेव की पूजा सर्वदा सम्यक् रूप से करे ॥३५१-३५२॥

वामन कल्प में ब्रह्मोक्ति इस प्रकार है—जो मन्त्र है, वह ही साक्षात् गुरु हैं, वह ही श्रीहरि हैं। जिसके प्रति श्रीगुरुदेव सन्तुष्ट होते हैं, स्वयं श्रीहरि भी उसके प्रति सन्तुष्ट होते हैं। श्रीगुरु के समान आसन में, अथवा तदपेक्षा उच्चासन में अवस्थान न करे ॥३५३॥

विष्णुरहस्य में वर्णित है— अतएव जिस प्रकार विधान है, उसके अनुसार जो व्यक्ति सर्वथा यत्न पूर्वक श्रीगुरुदेवको हरि से अभिन्न जानकर पूजा करते हैं, वे मुक्ति फललाभ करते हैं ॥३५४॥

विष्णु धर्म एवं भागवतोक्त हरिश्चन्द्र का वाक्य इस प्रकार है— श्रीगुरुसेवा ही सर्वापेक्षा उत्तम धर्म है, उक्त धर्म से उत्तम अथवा पवित्र धर्म नहीं है। श्रीगुरु में भक्ति करने से मानव, आत्मा के अनिष्ट कारक कामक्रोधादि जो रिपु हैं, तत्समुदाय को शीघ्र ही पराजित कर सकते हैं ॥३५५-३५६॥

पाद्मे —

पितुराधिक्यभावेन येऽर्च्चयन्ति गुरुं सदा ।
भवन्त्यतिथयो लोके ब्रह्मणस्ते विशाम्बर ॥३५७॥

तत्रैव देवहूतिस्तुतो —

भक्तिर्यथा हरौ मेऽस्ति तद्वन्निष्ठा गुरौ यदि ।
ममास्ति तेन सत्येन स्वं दर्शयतु मे हरिः ॥३५८॥

आदित्यपुराणे —

अविद्यो वा सविद्यो वा गुरुरेव जनार्दनः ।
मार्गस्थो वाप्यमार्गस्थो गुरुरेव सदा गतिः ॥३५९॥

अन्यत्र च —

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत् ॥३६०॥

ब्रह्मवैवर्त्ते —

अपि घ्नन्तः शपन्तो वा विरुद्धा अपि ये क्रुधाः ।
गुरवः पूजनीयास्ते गृहं नत्वा नयेत तान् ॥३६१॥
तत् श्लाघ्यं जन्म धन्यं तत् दिनं पुण्याथ नाड़िका ।
यस्यां गुरुं प्रणमते समुपास्य तु भक्तितः ॥३६२॥

गुरव इति बहुत्वचनं गौरवेण ; यद्वा, प्रसङ्गादन्येषामपि गुरूणां संग्रहार्थम् ; ते चोक्ताः कौर्मे 'उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः । मातुलः श्वशुरः सूतो मातामह-पितामहौ ॥ वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च सर्वे ते गुरवः स्मृताः । गुरूणामपि सर्वेषां पूज्याः पञ्च विशेषतः । तेषामाद्यास्त्रयः श्रेष्ठास्तेषां माता सुपूजिता । किञ्च – 'यो भावयति या सूते येन विद्योपदिश्यते । ज्येष्ठो भ्राता च भर्त्ता च पञ्चैते गुरवः स्मृताः ॥ आत्मनः सर्वयत्नेन प्राणत्यागेन वा पुनः । पूजनीया विशेषेण पञ्चैते भूतिमिच्छता ॥' इति ॥३६१॥

पद्मपुराण में वर्णित है—हे वैश्यश्रेष्ठ ! जो व्यक्ति श्रीगुरुदेव को पिता की अपेक्षा श्रेष्ठ मानकर सतत उनका पूजन करता है, वह ब्रह्मलोक प्राप्त करता है ॥३५७॥

पद्मपुराण को देवहूति स्तुति में लिखित है—जिसप्रकार मेरी भक्ति श्रीहरि के प्रति है, उसप्रकार निष्ठा यदि श्रीगुरुदेव की प्रति मेरी हो, तो उस सत्य के द्वारा श्रीहरि मुझको दर्शन प्रदान करेंगे ॥३५८॥

आदित्यपुराण में कथित है—विद्याहीन हों, अथवा विद्वान् ही हों, श्रीगुरुदेव ही जनार्दन स्वरूप हैं, एवं स्वमार्ग में रहें अथवा कुपथगामी ही हों, निरन्तर श्रीगुरु ही एकमात्र गति हैं ॥३५९॥

अन्यत्र भी उक्त है—श्रीहरि रुष्ट होने से त्राणकर्ता गुरु होते हैं, किन्तु गुरु रुष्ट होने से कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है। सुतरां सर्वथा यत्न पूर्वक श्रीगुरुदेव को प्रसन्न करे ॥३६०॥

ब्रह्मवैवर्त्त में उक्त है—प्रहार करें, अथवा शापप्रदान करें, अथवा विरुद्ध हों, किंवा रुष्ट हों, जो गुरुजन हैं, सर्वथा उनकी पूजा करें, एवं प्रणाम पूर्वक घर में लावे। यहाँपर "गुरव" बहुवचन गौरवार्थ में है, अथवा प्रसङ्ग से अन्य गुरुओं को भो जानना होगा। ते चोक्ताः कौर्मे 'उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः । मातुलः स्वशुर सूतो मातामहो-पितामहौ ॥ वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च सर्वे ते गुरवः स्मृताः ।

किञ्च—

उपदेष्टारमाम्नायागतं परिहरन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥३६३॥
बोधः कलुषितस्तेन दौरात्म्यं प्रकटीकृतम्।
गुरुर्येन परित्यक्तस्तेन त्यक्तः पुरा हरिः ॥३६४॥

अन्यत्र च—
प्रतिपद्य गुरुं यस्तु मोहाद्विप्रतिपद्यते। स कल्पकोटिं नरके पच्यते पुरुषाधमः ॥३६५॥

अत्रापवादः

पञ्चरात्रे—
अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं व्रजेत्। पुनश्च विधिना सम्यग्ग्राहयेद्वैष्णवाद्गुरोः ॥३६६॥

गुरुत्यागेन परमानर्थं दर्शयन् गुरुमाहात्म्यमेव द्रढ़यति-उपदेष्टारमिति त्रिभिः। आम्नायागतं कुलक्रमायातं वेदविहितं वा ॥३६३॥

बोधः ज्ञानं विद्या वा ॥३६४॥

गुरुं प्रतिपद्य, गुरुत्वेन स्वीकृत्य ॥३६५॥

'मार्गस्थो वाप्यमार्गस्थः' इत्यनेन उपदेष्टारमित्यादिना च कथञ्चिदपि गुरुर्न त्याज्य इति लिखितम्, अधुना तत्र मोहादवैष्णवो गुरुः कृतश्चेत्तर्हि स परित्याज्य इति प्रसङ्गात् पूर्वत्रापवादं लिखति-अवैष्णवेति। ग्राहयेदिति स्वार्थे इन् मन्त्रं गृह्णीयादित्यर्थः; यद्वा, साधुजनस्तादृशं जनं कृपया मन्त्रं ग्राहयेदित्यर्थः। वैष्णवात् प्रायो ब्राह्मणादेवेति ज्ञेयं, पूर्वं गुरुलक्षणे तथा लिखनात् ॥३६६॥

गुरूणामपि सर्वेषां पूज्याः पञ्च विशेषतः। तेषामाद्यास्त्रयः श्रेष्ठास्तेषां माता सुपूजिता।' यो भावयति या सूते येन विद्योपदिश्यते। ज्येष्ठोभ्राता च भर्त्ता च पञ्चैते गुरवः स्मृताः। 'आत्मनः सर्वयत्नेन प्राणत्यागेन वा पुनः। पूजनीया विशेषण पञ्चैते भूतिमिच्छता।।' प्रथम मन्त्रदाता गुरु का प्रसङ्ग कहकर प्रसङ्गतः अन्यान्य गुरु का विवरण कहते हैं। कूर्मपुराण में वर्णित है—शास्त्राध्यापक, पिता, ज्येष्ठ सहोदर, नृपति, मातुल, श्वशुर, सूत अर्थात् पुराण वक्ता, मातामह, पितामह, वर्णज्येष्ठ एवं पितृव्य, ये गुरुपद वाच्य होते हैं। उस जन्म ही प्रशंसनीय है, उस दिन ही धन्य है, उस घटिका ही पवित्र है, जिस में भक्ति के सहित पूजन करके श्रीगुरुदेव को प्रणाम किया जाय ॥३६१-३६२॥

और भी कथित है—जो व्यक्ति कुलपरम्परागत अर्थात् शास्त्रविहित परम्परागत शास्त्रज्ञ उपदेष्टा को अर्थात् आचरणशील शास्त्रज्ञ सत् सम्प्रदायी श्रीगुरुदेव को परित्याग करता है, वह कृतघ्न है, उसकी मृत्यु होने से मांसभोजी पशुपक्षिगण भी उसका मांस भोजन नहीं करते हैं। जो व्यक्ति श्रीगुरुदेव का परित्याग करता है, उससे श्रीहरि पहले से ही परित्यक्त होते हैं, उस आचरण के द्वारा उसका ज्ञान कलुषित हुआ, एवं दौरात्म्य भी प्रकट हुआ। अन्यत्र भी वर्णित है—जो एकवार गुरु कहकर स्वीकार करने के बाद उस गुरु को छोड़ देता है, उसको नराधम जानना चाहिए, वह कोटिकल्प तक नरक में पचता रहता है ॥३६३-३६५॥

अत्रापवादः—

उक्त विषय में विशेष विधि। पञ्चरात्र में वर्णित है—अवैष्णव के निकट से मन्त्रग्रहण करने से नरक गमन होता है। पुनर्वार यथाविधि, सम्यक् रूपसे वैष्णव गुरु के निकट से मन्त्र ग्रहण करे। इसके पहले

अथ श्रीगुरुभक्ति-फलम्

अगस्त्यसंहितायाम्—

ये गुर्व्वाज्ञां न कुर्वन्ति पापिष्ठाः पुरुषाधमाः । न तेषां नरकक्लेशनिस्तारो मुनिसत्तम ॥३६७॥

यैः शिष्यैः शश्वदाराध्या गुरवो ह्यवमानिताः ।
पुत्रमित्रकलत्रादिसम्पद्भ्यः प्रच्युता हि ते ॥३६८॥

अधिक्षिप्य गुरुं मोहात् परुषं प्रवदन्ति ये । शूकरत्वं भवत्येव तेषां जन्मशतेष्वपि ॥३६९॥

ये गुरुद्रोहिणो मूढ़ाः सततं पापकारिणः । तेषाञ्च यावत् सुकृतं दुष्कृतं स्यान्न संशयः ॥३७०॥

अतः प्रागगुरुमभ्यर्च्च्य कृष्णभावेन बुद्धिमान् ।
त्र्यवरानसमान् कुर्य्यात् प्रणामान् दण्डपातवत् ॥३७१॥

अतएव कौर्मे श्रीव्यास-वचनम्—

व्यत्यस्त पाणिना कार्य्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः ॥३७२॥ इति ।

श्रीगुरुभक्तेर्दार्ढ्यायैव तदभक्तानां दुर्गतिदोषान् लिखति--ये गुर्वाज्ञामित्यादिना । अतएव सततं पापकारिणो भवन्ति ॥३६७-३७०॥

त्रयोऽवरा अन्त्या येषु तान् त्रिभ्योऽन्यूनानित्यर्थः ; असमान् अयुग्मान् । उपसंग्रहणं श्रीपदद्वयधारणं, तत्प्रकारमेवाह--सव्येनेति, निजसव्यपाणिना गुरोः सव्यपाद इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि ॥३७१-३७२॥

'मार्गस्थो वाप्यमार्गस्थः' कहकर किसीप्रकार से भी गुरु त्याज्य नहीं है, कहा है। सम्प्रति कहते हैं—मोह से यदि अवैष्णव गुरुकरण करता है, तो, वह गुरु परित्याज्य है। यह विशेषविधि है। शास्त्रज्ञ वैष्णवजन से ही मन्त्र ग्रहण करे। वैष्णव शब्द से आचरण परायण शास्त्रज्ञ ब्राह्मण को जानना होगा, कारण प्रथम गुरु लक्षण में उस प्रकार विहित हुआ है ॥३६६॥

अथ श्रीगुरुभक्ति-फलम्—

श्रीगुरुभक्ति का फल। अगस्त्य संहिता में वर्णित है—हे मुनिश्रेष्ठ ! जो सब पापिष्ठ नराधम, गुरु की आज्ञा लङ्घन करते हैं, वे सब नरक यन्त्रणा से उद्धार प्राप्त नहीं होते हैं ॥३६७॥

सर्वदा आराध्य गुरुवर्ग की अवमानना जो सब शिष्य करते हैं, वे सब निश्चय ही पुत्र, मित्र, कलत्रादि सम्पद् समूह से भ्रष्ट होते हैं ॥३६८॥

जो सब व्यक्ति, अज्ञानता वशतः श्रीगुरुदेव को तिरस्कार करके उनको सामान्य मनुष्यबुद्धि से देखते हैं, वे सब शतजन्म पर्यन्त शूकर देह प्राप्त करते हैं ॥३६९॥

सर्वदा पापाचरणकारी जो सब मूढ़ मनुष्य गुरुद्रोही होते हैं, वे सब पुण्य से रिक्त हो जाते हैं, एवं पुण्य समूह पाप में परिगणित होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥३७०॥

अतएव सर्वप्रथम बुद्धिमान् जन श्रीकृष्ण बुद्धि से श्रीगुरुदेव का पूजन करे, एवं दण्डवत् पतित होकर तीन से अधिक अयुग्म प्रणाम करे ॥३७१॥

श्रीकूर्मपुराण में व्यासदेव का कथन है—व्यत्यस्त हस्त से अर्थात् हस्तद्वय को उलट पुलट कर श्रीगुरुदेव के श्रीचरण स्पर्श कर प्रणाम करे। वाम हस्त से वामपद एवं दक्षिण हस्त से दक्षिण पद को स्पर्श कर प्रणाम करे ॥३७२॥

अथ श्रीगुरुपादानां प्राप्यानुज्ञाञ्च साधकः ।
प्राक् संस्कृतं हरेर्गेहं प्रवेक्ष्यन् पादुके त्यजेत् ॥३७३॥

तथा चापस्तम्ब—

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे देवब्राह्मणसन्निधौ ।
जपे भोजनकाले च पादुके परिवर्जयेत् ॥३७४॥ इति ।

ततः श्रीभगवत्पूजामन्दिरस्याङ्गनं गतः ।
प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च द्विराचमनमाचरेत् ॥३७५॥

तथा च मार्कण्डेये—

देवार्चनादिकार्य्याणि तथा गुर्वभिवादनम् ।
कुर्वीत सम्यगाचम्य तद्वदेव भुजिक्रियाम् ॥३७६॥ इति ।

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे श्रीवैष्णवालङ्कारो नाम चतुर्थो विलासः ।

श्रीगुरुपादानामिति गौरवेण बहुत्वम् । साधकः श्रीभगवदाराधकः, प्रवेक्ष्यन् प्रवेशं करिष्यन् प्रवेशात् पूर्वमेवेत्यर्थः, परिवर्जयेत् अग्न्यागारादिभ्यो दूरतस्त्यजेदित्यर्थः ॥३७३॥

सम्यगाचम्येति द्विराचमनं बोधयति, तथैव सम्यक्त्वात् ॥३७६॥

इति श्रीभगवद्भक्तिविलासे चतुर्थो विलासः ।

अनन्तर साधक श्रीगुरुदेव के निकट से अनुज्ञा प्राप्त कर सुमार्जित श्रीहरिमन्दिर में प्रविष्ट होने के पहले पादुका वर्जन करे ॥३७३॥

उक्त विषय में आपस्तम्ब की उक्ति है—आह्वनीय अग्नि, जिस घर में सुरक्षित है, उस गृह में, गोगृह में देव ब्राह्मण के समीप में जपकाल में एवं भोजन के समय पादुका परित्याग करे ॥३७४॥

तत्पश्चात् श्रीभगवत्पूजामन्दिर के अङ्गन में उपस्थित होकर हस्तपद धौत करके दोबार आचमन करे ॥३७५॥

मार्कण्डेय पुराण में उक्त है—सम्यक् आचमन करके अर्थात् बारद्वय आचमन करके देवपूजादि क्रिया, गुरुप्रणाम एवं भोजन कर्म करे ॥३७६॥

इति श्रीगोपालभट्ट बिलिखित श्रीमद्भगवद्भक्ति विलास में श्रीवैष्णवालङ्कार नामक चतुर्थ विलास समाप्त ।



पञ्चमविलासः

श्रीचैतन्यप्रभुं वन्दे बालोऽपि यदनुग्रहात् । तरेन्नानामतग्राहव्याप्तं पूजाक्रमार्णवम् ॥१॥
श्रीमद्गोपालदेवस्याष्टादशाक्षरयन्त्रतः । लिख्यतेऽर्चाविधिर्गूढः क्रमदीपिकयेक्षितः ॥२॥
आगमोक्तेन मार्गेण भगवान् ब्राह्मणैरपि । सदैव पूज्योऽतो लेख्यः प्राय आगमिको विधिः ॥३॥
तथा च विष्णुयामले —
कृते श्रुत्युक्तमार्गः स्यात् त्रेतायां स्मृतिभावितः । द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ॥४॥
अशुद्धाः शूद्राकल्पा हि ब्राह्मणाः कलिसम्भवाः । तेषामागममार्गेण शुद्धिर्न श्रौतवर्त्मना ॥५॥

अथ द्वारपूजा

श्रीकृष्णद्वारदेवेभ्यो दत्त्वा पाद्यादिकं ततः । गन्धपुष्पैरर्चयेत्तान् यथास्थानं यथाक्रमम् ॥६॥

श्रीचैतन्याय नमः । बालोऽज्ञः, पक्षे शिशुः, नानाविधमतान्येव ग्राहस्तैर्व्याप्तं, पूजायाः क्रमो विधिः, विध्यनुक्रमो वा स एवार्णवस्तम् ॥१॥

अष्टादशाक्षरमन्त्रेण योऽर्चाविधिः पूजाप्रकारः, स लिख्यते । यद्यपि दशाक्षरादिनापि पूजाविधौ भेदो नास्ति, तथापि न्यासादिभेदापेक्षया तथा लिखितम् । गूढोऽपि क्रमदीपिकया श्रीकेशवाचार्य्यविरचितया ईक्षितः दर्शितः सन् अतः क्रमदीपिकोक्तानुसारेण लेख्य इति भावः ॥२॥

तेषामागममार्गेण शुद्धिर्न श्रौतवर्त्मनेत्यनेन तैरपि आगमिकविधिनैव पूजा कार्य्येति भावः । तथा चैकादशस्कन्धे (५।६१) 'नानातन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु' इति । तत्र श्रीधरस्वामिपादाः–नानातन्त्रविधानेनेति कलौ तन्त्रमार्गस्य प्राधान्यं दर्शयति ।' इति ॥३-४॥

तान् श्रीकृष्णद्वारदेवान्, प्रणवादिचतुर्थ्यन्तं देवनाम नमोऽन्तकमित्यग्रे लेख्यत्वादत्रैवं प्रयोगः–श्रीकृष्णद्वारदेवताभ्यो नमः । अनेन मन्त्रेण पाद्यार्घ्यादिकं दत्वा गन्धादिभिः पुनर्विशेषेण पूजयेदित्यर्थः । एवमग्रेऽपि 'सपरिवारेभ्यः श्रीकृष्णपार्षदेभ्यो नमः' इत्यादि प्रयोगो द्रष्टव्यः ॥६॥

जिनकी करुणा से अज्ञ व्यक्ति भी विभिन्नमतरूप ग्राहादिहिंस्रजीवनिकरपरिव्याप्त पूजाविधिरूप समुद्र से उत्तीर्ण हो सकता है, मैं उन श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभुकी वन्दना करता हूँ ॥१॥

श्रीकेशवाचार्य्य विरचित क्रमदीपिका नामक ग्रन्थ के अनुसार श्रीमद् गोपालदेव के अष्टादशाक्षर मन्त्र की पूजाविधि वर्णित होती है. यद्यपि गौतमीयतन्त्रोक्त दशाक्षरमन्त्र की पूजाविधि के सहित इसका भेद नहीं है, तथापि न्यासादि की अपेक्षा से भेद है ॥२॥

श्रीभगवान् की अर्चना ब्राह्मणगण भी सदा तन्त्रोक्तपद्धति से करें, सुतरां इस में तन्त्रोक्त विधान के अनुसार ही अर्चनविधिका वर्णन होगा । कलि में आगममार्ग के द्वारा ही शुद्धि होती है, भा० ११।५।३१ में उक्त है, "नानातन्त्र विधानेन कलावपि तथाशृणु" यहाँपर श्रीधर स्वामिपाद का कथन है—"नानातन्त्र विधानेति कलौ तन्त्रमार्गस्थ प्राधान्यं दर्शयति ।" कलियुग में तन्त्र मार्ग का प्राधान्य है ॥३॥

विष्णुयामल में उक्त है— सत्ययुग में वेदविहित विधि, त्रेता में स्मार्त्त, द्वापर में पुराणोक्त, एवं कलि में आगम सम्मत विधि निर्दिष्ट है ॥४॥

कलि सम्भूत ब्राह्मणगण शूद्र के समान अपवित्र हैं, आगमोक्त विधान के अनुसार उनसब की शुद्धि होती है, वेद विहित रीति से उनसब की शुद्धि नहीं होती है ॥५॥

अथ द्वारपूजा—

द्वार पूजा । श्रीगुरुपूजा के पश्चात् श्रीकृष्ण के द्वार देवताओं की अर्चना पाद्यादि प्रदानपूर्वक यथास्थान

द्वाराग्रे सपरीवारान् भूपीठे कृष्णपार्षदान् । तदग्रे गरुड़ं द्वारस्योर्द्ध्वे द्वारश्रियं यजेत् ॥७॥
प्राग्द्वारोभयपार्श्वे तु यजेच्चण्ड-प्रचण्डकौ । द्वारे च दक्षिणे धातृविधातारौ च पश्चिमे ॥८॥
जयश्च विजयश्चैव बलं प्रबलमुत्तरे । द्वन्द्वशस्त्वेवमभ्यर्च्य देहल्यां वास्तुपुरुषम् ॥९॥
द्वारान्तःपार्श्वयोर्गङ्गां यमुनाञ्च ततोऽर्चयेत् ।
तत्पार्श्वयोः शङ्खनिधिं तथा पद्मनिधिं यजेत् ॥१०॥
गणेशं मन्दिरस्याग्निकोणे दुर्गाञ्च नैर्ऋते ।
वाणीं वायव्य ऐशाने क्षेत्रपालं तथार्चयेत् ॥११॥
द्वाःशाखामाश्रयन् वामां सङ्कोच्याङ्गानि देहलीम् ।
अस्पृष्ट्वा प्रविशेद्वेश्म न्यस्यन् प्राग्दक्षिणं पदम् ॥१२॥

एवं सामान्येन सर्वेषामेव पूजाविधिर्लिखितः; इदानीं यथास्थानं यथाक्रममिति यल्लिखितं, तदेव विविच्य लिखति-द्वाराग्र इति द्वाराभ्याम् । तत्राप्यादौ द्वारस्याग्रे यत् भूरूपं पीठं, तत्र समस्त-परिवारान्वितान् श्रीकृष्णपार्षदान् यजेत् पूजयेत् । अनन्तरं तस्य द्वारस्याग्रे गरुड़; यद्यपि द्वारश्रियोऽर्चनं प्रबलार्चनानन्तरमेव क्रमदीपिकायामुक्तं, तथापि इष्ट्वेति क्त्वा-प्रत्ययेन चण्डादिपूजातः पूर्वकाल एवेति बोधितं, तथैव सदाचारात् । किञ्च, द्वन्द्व इत्यग्रे लिखनात् 'चण्डप्रचण्डाभ्यां नमः' इत्येवं युग्मत्वेन प्रयोगो ज्ञेयः ॥७-९॥

द्वारस्यान्तः अभ्यन्तरे तत्पार्श्वद्वये तयोर्गङ्गायमुनयोः पार्श्वद्वये ॥१०॥

आग्नेये कोणे गणेशमर्चयेत; तथाचोक्तं क्रमदीपिकायाम्—'परिवाराः वृताः सर्वे पुनःश्रीविष्णुपार्षदाः । द्वाराग्रावलिपीठेऽर्च्याः पक्षीन्द्रश्च तदग्रतः ॥ चण्डप्रचण्डौ प्राग्धातृविधातारौ च दक्षिणे । जयश्च विजयः पश्चाद्बलः प्रबल उत्तरे ॥ ऊर्द्ध्वे द्वारश्रियं चेष्ट्वा द्वार्य्येतान् युग्मशोऽर्चयेत् । पूज्योवास्तु पुमांस्तत्र तत्र द्वाःपीठमध्यतः ॥ द्वारान्तः पार्श्वयोरर्च्या गङ्गा च यमुना नदी । कोणेषु विष्णुं (विघ्नं) दुर्गाञ्च वाणीं क्षेत्रे समर्चयेत् ॥' इति ॥११॥

वामां स्ववामभागवर्त्तिनीं द्वारशाखाम् आश्रयन् ईषत् स्पृषद् निजाङ्गानि संकोच्य देहलीम् अस्पृष्ट्वा न लङ्घयित्वेत्यर्थः । दक्षिणं पदं प्राक् आदौ न्यस्यन् । दक्षिणपादन्यासक्रमेणेत्यर्थः । वेश्म श्रीभगवन्मन्दिरं हरेर्गेहं प्रवेक्ष्यन्निति पूर्वलिखनात् । प्रविशेत् तन्मध्यं शनैः पूजको गच्छेत् ॥१२॥

एवं यथाक्रम से गन्धपुष्पादि के द्वारा करे । प्रयोग मन्त्र- श्रीकृष्णद्वारदेवताभ्यो नमः । सपरिवारेभ्यः श्रीकृष्णपार्षदेभ्यो नमः ॥६॥

प्रथमतः द्वारके सम्मुख भूपीठ में सपरिवार श्रीकृष्णपार्षदवर्ग की, उसके अग्र में गरुड़ की, तत्पश्चात् द्वार के ऊर्द्ध्वभाग में श्रीद्वारलक्ष्मी की पूजा करे ॥७॥

वहिर्द्वार के उभयपार्श्व में चण्ड प्रचण्ड की, द्वारके दक्षिण भाग में धाता एवं विधाता की, पश्चिमदिक् में जयविजय की, उत्तर भाग में बल प्रबल की पूजा करे । उस प्रकार प्रतिद्वार में दो दो देवता की पूजा करके देहली में वास्तु पुरुष की पूजा के पश्चात् द्वाराभ्यन्तर भाग के उभय पार्श्व में गङ्गा यमुना की पूजा करे । तदुभय पार्श्व में शङ्खनिधि पद्मनिधि की भी पूजा करे । तत्पश्चात् मन्दिर के अग्निकोण में श्रीगणेशकी, नैर्ऋत कोण में दुर्गा की, वायुकोण में सरस्वती की, ईशानकोण में क्षेत्रपाल की पूजा करे । अनन्तर निज वाम भागस्थित द्वारशाखा (चौखट के सहित संलग्न भूमि) को किञ्चित् स्पर्श करके अङ्ग सङ्कोचपूर्वक देहली स्पर्श न करके प्रथम दक्षिण पाद क्षेपण पूर्वक श्रीभगवन्मन्दिर में प्रवेश करे ॥८-१२॥

तथा च सारदातिलके—

किञ्चित् स्पृशन् वामशाखां देहलीं लङ्घयन् गुरुः ।
अङ्गं सङ्कोचयन्नन्तः प्रविशेद्दक्षिणाङ्घ्रिणा ॥१३॥

अथ गृहप्रवेश-माहात्म्यम्

तन्माहात्म्यञ्च हरिभक्तिसुधोदये—

प्रविशन्नालयं विष्णोरर्चनार्थं सुभक्तिमान् ।
न भूयः प्रविशन्मातुः कुक्षिकारागृहं सुधीः ॥१४॥

अथ गृहान्तःपूजा

नैर्ऋते वास्तुपुरुषं ब्रह्माणमपि पूजयेत् । आसनस्थो यजेत्तांस्तानन्यत्र भगवद्गृहात् ॥१५॥

तत्तत्पूजामन्त्रश्चोक्तः—

प्रणवादि-चतुर्थ्यन्तं देवनाम नमोऽन्तकम् ।
पूजामन्त्रमिदं प्रोक्तं सर्वत्रार्चनकर्मणि ॥१६॥ इति ।

गुरुरिति दीक्षाविधानोक्तः ॥१३॥

भगवद्गृहात् देवालयादन्यत्र परस्मिन् स्थाने तांस्तान् श्रीकृष्णपार्षदादीन् सर्वान्, आसनस्थः आसने उपविष्टः सन्नेव पूजयेत् ; यत एव तथाग्रे लेख्यं विघ्ननिवारणम् । पूजारम्भे द्वारदेवता-पूज्याः प्रागेव भगवद्गृहे तु तिष्ठन्नेव तांस्थान् पूजयेदित्यर्थः । भगवदग्रेऽन्यपूजार्थासनायोग्यत्वात् । यद्वा, तत्तदग्रे गमनेन पुनः पुनरासनासम्भवात्, मुहुरासनेन कालक्षेपाच्च । अतएव पार्ष्णिप्रहारादिना विघ्ननिवारणमत्रालिखित्वा निश्चलासनावसरेऽग्रे लिखिष्यते ॥१४-१५॥

अत्र प्रायो देवालयान्तःपूजाविधिलिखनात् केचिच्च द्वारपूजानन्तरं गृहान्तः प्रवेशात् प्रागेव विघ्ननिवारण-मिच्छन्ति । अत्र सत्सम्प्रदायाचार एव गतिरिति दिक् । देवस्य पूज्यस्य नाम, पूजामन्त्रमिति नपुंसकत्वमार्षम् ॥१६॥

शरदा तिलक में वर्णित है—गुरुदेव, वामशाखा (वाम भाग के द्वार का बाजु) ईषत स्पर्श करके देहली लङ्घन एवं अङ्ग सिकोड़ कर दक्षिण चरण प्रक्षेपण पूर्वक मन्दिर के भीतर में प्रवेश करे ॥१३॥

अथ गृहप्रवेश माहात्म्यम्—

गृहप्रवेश माहात्म्य। हरिभक्तिसुधोदय में उक्त है—देवार्चन के निमित्त भक्तिमान् होकर विष्णु मन्दिर में प्रवेश करने से सुधी व्यक्ति को पुनर्व्वार जननीजठररूप कारागार में प्रविष्ट नहीं होना पड़ता ॥१४॥

अथ गृहान्तःपूजा—

गृहाभ्यन्तर में पूजा। गृह के नैर्ऋत कोण में वास्तु पुरुष एवं ब्रह्मा की अर्चना करे। जिस गृह में श्रीभगवान् अवस्थित हैं, वहाँ से अन्यत्र आसन में उपविष्ट होकर श्रीकृष्ण के विशेष विशेष पार्षदवर्ग की पूजा करे ॥१५॥

उनकी पूजा के मन्त्र, नाम के आदि में ॐ कार फिर आराध्य देवता का चतुर्थी विभक्त्यन्त नाम, अन्तः में नमः शब्द का प्रयोग करे, अर्थात् "ॐ अमुक देवतायै नमः" यावतीय पूजा में इस प्रकार पूजामन्त्र विहित है ॥१६॥

अथ कृष्णाग्रतस्तिष्ठन् कृत्वा दिग्बन्धनं क्षिपेत् ।
पुष्पाक्षतान् समस्तासु दिक्षु तत्रोक्तमन्त्रतः ॥१७॥

अथ पूजार्थासनम्

ततश्चासनमन्त्रेणाभिमन्त्र्याभ्यर्च्य चासनम् ।
तस्मिन्नुपविशेत् पद्मासनेन स्वस्तिकेन वा ॥१८॥
तत्र कृष्णार्च्चकः प्रायो दिवसे प्राङ्मुखो भवेत् ।
उदङ्मुखो रजन्यान्तु स्थिरमूर्त्तिश्च सम्मुखः ॥१९॥

अत्र दिग्बन्धने पुष्पक्षेपणे च उक्तः शास्त्रे यो मन्त्रः—'ॐ शार्ङ्गाय सशराय हुं फट् नमः' इति तेनेत्यर्थः ॥१७॥

अभ्यर्च्च्य 'ॐ आधारशक्तये नमः' इति संपूज्य । तस्मिन्आसने, तत्र पद्मासनं—'सव्यं पादमुपादाय दक्षिणोपरि विन्यसेत् । तथैव दक्षिणं सव्यस्योपविष्टान्निधापयेत् ॥ विष्टभ्य कट्यु रो ग्रीवानासाग्रन्यस्तलोचनः । पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम् ॥' इति । क्वचिच्च—'वामोरुपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामन्ततः' इत्यादि । स्वस्तिकं चोक्तं—'जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे । ऋजुकायो विशेद्योगी स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते ॥' इति ॥१८॥

अनन्तर श्रीकृष्ण के सम्मुख में समासीन होकर दिग् बन्धन पूर्वक तन्त्रविहित मन्त्र पाठ करे, अर्थात् शार्ङ्गाय सशराय हुं फट् नमः का पाठ कर चारों और पुष्प एवं अक्षत निक्षेप पूर्वक दिग्बन्धन करे ॥१७॥

अथ पूजार्थासनम्—

पूजनकर्म के निमित्त आसन । अनन्तर 'ॐ आधारशक्तये नमः' आसन मन्त्र के द्वारा आसन को अभिमन्त्रित करके पूजन करे, पश्चात् उक्त आसन के ऊपर पद्मासन अथवा स्वस्तिकासन से उपवेशन करे। पद्मासन। वामपदतल दक्षिण ऊरु के ऊपर यत्न पूर्वक उत्तान भाव से स्थापन करके गुरूपदेश के अनुसार कर तलद्वय का भी उक्त ऊरुद्वय के मध्य में उतान भावसे स्थापन करे, और दन्त मूल में जिह्वा रखकर नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखनी चाहिए, इस समय वक्षःस्थल को ऊँचा करके उस में चिवुक स्थापन करे, एवं धीरे धीरे वायु खींच कर उससे यथाशक्ति उदर पूर्ण करे, फिर कुम्भक करके धीरे धीरे उक्त वायु का परित्याग करे। इसको पद्मासन कहते हैं।

"उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः । ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तादृशौ ॥
नासाग्रे विन्यसेद् दृष्टिं दन्तमूलञ्च जिह्वया । उत्तम्य चिवुकं वक्षउत्थाप्य पवनं शनैः ॥
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः । यथाशक्त्या ततः पश्चाद् रेचयेदविरोधतः ।
इदंपद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥

स्वस्तिकासन। दोनों जानु और दोनों ऊरुदेश के मध्यदेश में दोनों पैर के तलूए स्थापन पूर्वक सरल शरीर होकर सुख से बैठे। इसी का नाम स्वस्तिकासन है।

जानुनोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे । समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥१८॥

श्रीकृष्णार्चनकारी व्यक्ति स्थिरमूर्त्ति एवं सम्मुखीन होकर दिवस में पूर्वमुख होकर एवं रात्रिकाल में उत्तर मुख होकर उपवेशन करे, यह ही प्रशस्त है ॥१९॥

तथा चैकादशस्कन्धे (२७।१९)—

आसीनः प्रागुदग्वार्च्चे॑त् स्थिरायान्त्वथ सम्मुखः ॥२०॥

अथासनमन्त्रः

आसतमन्त्रस्य मेरुपृष्ठऋषिः सुतलं छन्दः ।
कूर्मो देवता आसनाभिमन्त्रणे विनियोगः ॥२१॥
पृथ्वि त्वया धृता लोका देवो त्वं विष्णुना धृता ।
त्वञ्च धारय मां नित्यं पवित्रमासनं कुरु ॥२२॥

अथासनानि

नारदपञ्चरात्रे—

वंशाश्मदारुधरणी-तृणपल्लवनिर्मितम् । वर्जयेदासनं विद्वान् दारिद्र्यव्याधिदुःखदम् ।
कृष्णाजिनं कम्बलं वा नान्यदासनमिष्यते ॥२३॥

अन्यत्र च—

कृष्णाजिनं व्याघ्रचर्म कौषेयं वेत्रनिर्मितम् । वस्त्राजिनं कम्बलं वा कल्पयेदासनं मृदु ॥२४॥

अथ विशेषत आसनदोष-गुणौ

नारदपञ्चरात्रे—

वंशादाहुर्दरिद्रत्वं पाषाणे व्याधिसम्भवम् । धरण्यां दुःखसम्भूतिं दौर्भाग्यं दारवासने ॥२५॥

तत्र आसने, प्राय इति दिवा प्राङ्मुखत्वस्य, नक्तं चोदङ्मुखत्वस्य प्रशस्तत्वात् ॥१९-२०॥

तृणासनञ्च दर्भातिरिक्त-तृणनिर्मितं ज्ञेयम् । एकादशस्कन्धे 'प्राग्दर्भैः कल्पितासनः' इति श्रीभगवदुक्तेः ॥२३॥ कृष्णाजिनं व्याघ्रचर्मेत्यादिना आसनादौ मतभेद आश्रमादिभेदेन। तत्र बहूनां सतां यन्मतं, तदेव स्वसम्प्रदायानुसारेण ग्राह्यमिति दिक् ॥२४॥

अतएव एकादश स्कन्ध में वर्णित है—आसन में उपवेशन करके पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख होकर पूजन करे, किन्तु प्रतिमा का पूजन सम्मुख में बैठ कर करे ॥२०॥

अथासनमन्त्रः—

आसन मन्त्र। आसन मन्त्र के ऋषि मेरुपृष्ठ, सुतल उसका छन्द, कूर्म-देवता, आसनाभिमन्त्रण में प्रयोग होता है। हे पृथ्वि ! तुमने सब लोकों को धारण किया है, हे देवी ! तुमको विष्णु ने धारण किया है, तुम भी नित्य मुझको धारण करो, और इस आसन को पवित्र करो ॥२१-२२॥

अथासनानि—

विविध आसन। नारद पञ्चरात्र में लिखित है—बाँस, पत्थर, काष्ठ, मिट्टी, कुश के अतिरिक्त अन्य तृण, और पत्रों का बना आसन दारिद्र्य, रोग, दुःख प्रदान करता है। सुतरां बुधगण इन सब आसन को परित्याग करें। कृष्णसार मृगचर्म, अथवा कम्बल भिन्न आसन ग्रहण न करें ॥२३॥

अन्यत्र वर्णित है—कृष्णसार मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, पट्टवस्त्र वेत्र अथवा कम्बल, इन सब द्रव्यों से कोमल आसन निर्माण करें ॥२४॥

अथ विशेषत आसनदोष-गुणौ—

विशेषतःआसन के दोष गुण। नारद पञ्चरात्र में वर्णित है—सधीवृन्द कहते हैं—बाँस के रचित आसन

तृणासने यशोहानिं पल्लवे चित्तविभ्रमम् ।
दर्भासने व्याधिनाशं कम्बलं दुःखमोचनम् ॥२६॥

किञ्च, श्रीभगवद्गीतासु (६।११)—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥२७॥ इति ।
यथोक्तमुपविश्याथ सम्प्रदायानुसारतः ।
शङ्खादिपूजासम्भारान् न्यसेत्तत्तत्पदेषु तान् ॥२८॥

अथ पात्रासादनम्

स्वस्य वामाग्रतः शङ्खं साधारं स्थापयेद्बुधः ।
तत्रैवार्घ्यादिपात्राणि न्यस्येच्च द्वारि भागशः ॥२९॥
तुलसीगन्धपुष्पादिभाजनानि च दक्षिणे । वामे च स्थापयेत् पार्श्वे कलसं पूर्णमम्भसा ॥३०॥
दक्षिणे घृतदीपञ्च तैलदीपञ्च वामतः । सम्भारानपरांश्चसेत् स्वदृष्टिविषये पदे ।
करप्रक्षालनार्थञ्च पात्रमेकं स्वपृष्ठतः ॥३१॥

चैलाजिनकुशोत्तरमिति प्रथमं प्रागग्रकुशास्तदुपरि कृष्णाजिनं, तदुपरिचीर मित्यर्थः ॥२७॥

सम्प्रदायानुसारत इति विविधमतभेदाभिप्रायेण, तत्तत्पदेषु तेषान्तेषामुचितस्थानेषु तान् प्रसिद्धान् अग्रे लेख्यान् वा ॥२८॥

तदेव विविच्य लिखति—स्वस्येति सार्द्धत्रयेण । आधारः शङ्खस्याश्रयस्तत्सहितं, तत्र स्व-वामाग्रे एव,

---

से दरिद्रता, प्रस्तर से रोगत्पत्ति, मृत्तिका के आसन से दुःखोत्पत्ति, काष्ठासन में दौर्भाग्य, तृणमय आसन से यशोहानि, पत्रासन में चित्त विभ्रम, कुशासन से व्याधिनाश, एवं कम्बलासन से दुःखमोचन होता है ॥२५-२६॥

भगवद्गीता में वर्णित है—अति उच्च, एवं अति निम्न न हो इस प्रकार आसन करे, एवं पूर्वदिक् में अग्रभाग विशिष्ट कुश, तदुपरि कृष्णसार चर्म एवं उसके ऊपर पट्टवस्त्र बिछाकर अपना निश्चल आसन का स्थापन पवित्र स्थान में करे ॥२७॥

अनन्तर सम्प्रदायानुसार उक्त आसन में उपविष्ट होकर शङ्खादि पूजोपकरण समूह का स्थापन यथायोग्य स्थान में करे ॥२८॥

अत्र पात्रासादनम्—

उक्त विषय में पात्र ग्रहण । सुधी व्यक्ति निज वामपार्श्व में आधारयुक्त शङ्ख स्थापन करे । उस स्थान में अर्घ्यादिपात्र अर्थात् अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय और मधुपर्क का पात्र स्थान स्थानपर विभागानुसार स्थापन करे । दक्षिणदिक् में तुलसी गन्धपुष्पादि के पात्र रखने चाहिए । वामदिक में जलपूर्ण कलस स्थापन करे । दक्षिण में घृत दीपक, वामदिक में तैल का दीपक रखना चाहिये । जहाँपर अपना दृष्टिपात होता है, उस स्थान में अन्यान्य पूजोपकरण का स्थापन करे । हस्त प्रक्षालन हेतु स्वीय पृष्ठभाग में एक पात्र स्थापन करे ॥२९-३१॥

अथ पत्राणि तन्माहात्म्यञ्च

देवीपुराणे—

नानाविचित्ररूपाणि पुण्डरीकाकृतीनि च।
शङ्खनीलोत्पलाभानि पात्राणि परिकल्पयेत् ॥३२॥
रत्नादिरचितान्येव काञ्चीमूलयुतानि च।
यथाशोभं यथालाभं तथा पात्राणि कारयेत् ॥३३॥

किञ्च—

हेमपात्रेण सर्वाणि चेप्सितानि लभेन्मुने। अर्घ्यं दत्त्वा तथा रौप्येणायुराज्यं शुभं भवेत्।
ताम्रपात्रेण सौभाग्यं धर्मं मृन्मयसम्भवम् ॥३४॥

वाराहे—

सौवर्णं राजतं कांस्यं येन दीयते भाजनम्।
तान् सर्वान् संपरित्यज्य ताम्रन्तु मम रोचते ॥३५॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्।
विशुद्धानां शुचिश्चैव ताम्रं संसारमोक्षणम् ॥३६॥
दीक्षितानां विशुद्धानां मम कर्मपरायणः।
सदा ताम्रेण कर्त्तव्यमेवं भूमि मम प्रियम् ॥३७॥ इति।

आदिशब्देन पाद्याचमनीय-मधुर्पकाः, भागशः पृथक् पृथगित्यर्थः; दक्षिणे तुलस्यादिपत्राणि, कलसं प्रोक्षणीयजलकुम्भम्। अपरान् वस्त्रालङ्कारादीन्, स्वस्यात्मनो दृष्टेर्विषये गोचरे यत् पदं स्थानं तस्मिन् ॥ ॥२६-३६॥

दीक्षितानां मध्ये यो मत्कर्मपरायणस्तेन सदा ताम्रेण कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥३७॥

अथ पात्राणि तन्माहात्म्यञ्च—

विविध पात्र और उनका माहात्म्य। देवीपुराण में उक्त है—विविध प्रकार मनोरम गठनयुक्त पात्र समूह स्थापन करना चाहिए, पद्माकृति, शङ्खाकार, नीलकमल के तुल्य हों ॥३२॥

उक्त पात्र समूह रत्न के द्वारा निर्मित हो सकते हैं, एवं उनमें मेखला के मूलभाग विन्यस्त होना आवश्यक है, जिससे शोभा सम्पादित हो एवं सहजलभ्य हो ॥३३॥

और भी लिखित है—सुवर्णपात्र में अर्घ्य प्रदान करने से सर्वभीष्ट लाभ होते हैं। रजत पात्र में आयु वृद्धि, राज्यप्राप्ति एवं मङ्गलप्राप्ति होती हैं, ताम्रपात्र में सैभाग्य की वृद्धि होती है, मृत्तिका के पात्र में धर्म होता है ॥३४॥

वराह पुराण में लिखित है—सोना, चांदी, कांसा, इनमें से जिसका पात्र प्रस्तुत करे, मैं सभी को त्याग देता हूँ। ताम्रपात्र से ही मुझको सन्तोष होता है। समस्त पवित्र पदार्थों में ताम्र पवित्रतम, मङ्गल स्वरूप एवं समस्त शुद्धों से भी शुद्ध, तथा संसारपाश का हरने वाला है ॥३५-३६॥

हे पृथ्वि! दीक्षित पवित्र जनगण के मध्य में जो व्यक्ति मेरी पूजा में तत्पर है, उसका ताम्रपात्र निर्माण करना ही कर्त्तव्य है। ऐसा पात्र ही मुझको प्रसन्न करता है ॥३७॥

केचिन्न ताम्रपात्रेषु गव्यादेर्योगदोषतः ।
ताम्रातिरिक्तमिच्छन्ति मधुपर्कस्य भाजनम् ॥३८॥

तथैव शङ्खमेवार्घ्यपात्रमिच्छन्ति केचन । शङ्खे कृत्वा तु पानीयं सपुष्पं सलिलाक्षतम् ।
अर्घ्यं ददाति देवस्येत्येवं स्कान्देऽभिधानतः ॥३९॥

अथ मङ्गलघट-स्थापनम्

मङ्गलार्थञ्च कलसं सजलं करकान्वितम् ।
फलादिसहितं दिव्यं न्यसेद्भगवतोऽग्रतः ॥४०॥

तथा च स्कान्दे—

कुम्भं सकरकं दिव्यं फलकर्पूरसंयुतम् ।
न्यसेदर्च्चनकाले तु कृष्णस्यातीव वल्लभम् ॥४१॥ इति ।

किञ्च—

सनीरञ्च सकर्पूरं कुम्भं कृष्णाय यो न्यसेत् ।
कल्पं तस्य न पापेक्षां कुर्वन्ति प्रपितामहाः ॥४२॥

गव्यस्य घृतव्यतिरिक्तस्य दुग्धादिगोरसस्य आदिशब्दान्मधुनश्च योगे संयोगे दोषाद्धेतोः । तथा च स्मृतिः ताम्रपात्रे स्थितं गव्यं मद्यतुल्यं घृतं विना' इति । मधुनश्च सुरापरिवर्त्तेन ताम्रपात्रे देयत्वात् । केचिदिति स्वमतं व्यावर्त्तयति—'दधि सर्पिर्मधु समं पात्रे औड़ुम्बरे मम' इति साक्षाद्भगवद्वराहोक्तेः ॥३८॥

केचनेच्छतीत्यत्र हेतुं लिखति—शङ्खे कृत्वेति । स्कान्दे ऽभिधानतः स्कन्दपुराणोक्तेः ॥३९॥

पूर्वं प्रोक्षणीयघटस्थापनं लिखितम्, इदानीं मङ्गलघटन्यासं लिखति—मङ्गलार्थमिति । आदिशब्देन कर्पूराक्षतादि, दिव्यं परमसुन्दरम् ॥४०॥

कल्पं ब्रह्मदिनं व्याप्य पापे ईक्षां दृष्टिं न कुर्वन्ति क्रियमाणमपि पापं न गृह्णन्तीत्यर्थः ॥४२॥

कतिपय व्यक्ति का मत है—गव्यादि के द्वारा स्पृष्ट होने से ताम्रपात्र दूषित होता है, तज्जन्य वे लोक ताम्रपात्र व्यतीत अपर धातु पात्र का ही मधुपर्क हेतु प्रयोग करते हैं ॥३८॥

कुछ व्यक्ति शङ्ख को ही अर्घ्यपात्र मानते हैं, कारण स्कन्द पुराण में वर्णित है- पवित्रजल, कुसुम, अक्षत एवं तिल शङ्ख में लेकर श्रीकृष्ण को अर्घ्य प्रदान करे ॥३९॥

अथ मङ्गलघट-स्थापनम्—

मङ्गलघट स्थापन । मङ्गल प्राप्ति के निमित्त, श्रीभगवान के सम्मुखभाग में जलपूर्ण, प्रस्तरखण्ड संयुक्त फलादियुक्त दिव्य कुम्भ स्थापन करे ॥४०॥

स्कन्दपुराण में उक्त है—पूजन के समय प्रस्तरखण्ड संयुक्त फल कर्पूर समन्वित दिव्य कलस का स्थापन करे । वह श्रीकृष्ण का अतिशय प्रिय है ॥४१॥

और भी वर्णित है—जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के उद्देश्य से सजल, सकर्पूर, कुम्भ स्थापन करता है, कल्पब्रह्मा की परमायुः तक प्रपितामहगण उसका पाप ग्रहण नहीं करते हैं ॥४२॥

अथार्घ्यादिपात्राणि

प्रक्षिपेदर्घ्यपात्रे तु गन्धपुष्पाक्षतान् यवान् । कुशाग्र-तिलदूर्वाश्च सिद्धार्थानपि साधकः।
केचिच्चात्र जलादीनिद्रव्याण्यष्टौ वदन्ति, हि ॥४३॥

यत्र उक्तं भविष्ये—

आपः क्षीरं कुशाग्राणि दध्यक्षत-तिलस्तथा ।
यवाः सिद्धार्थकाश्चैवमर्घ्योऽष्टाङ्गः प्रकीर्त्तितः ॥४४॥
पाद्यपात्रे च कमलं दूर्वां श्यामाकमेव च ।
निक्षिपेद्विष्णुपत्रीश्चेत्येवं द्रव्यचतुष्टयम् ॥४५॥

तथैवाचमनीयार्थं पात्रे द्रव्यत्रयं बुधः । जातीफलं लवङ्गञ्च कक्कोलमपि निक्षिपेत् ॥४६॥
मधुपर्कीयपात्रे च गव्यं दधि पयो घृतम् । मधुखण्डमपीत्येवं निक्षिपेद्द्रव्यपञ्चकम् ॥४७॥
केचित्त्रीण्येव पात्रेऽस्मिन् द्रव्याणीच्छन्ति साधवः ॥४८॥

यत उक्तं श्रीविष्णुधर्मे—

घृतं दधि तथा क्षौद्रं मधुपर्को विधीयते ॥४९॥

आदिवाराहे च—

दधिसर्पिर्मधुसमं पात्रे औड़ुम्वरे मम । मधुनस्तु अलाभे तु गुड़ेन सह मिश्रयेत् ॥५०॥
घृतस्यालाभे सुश्रोणि लाजैश्च सह मिश्रयेत् ।
तथा दध्नोऽप्यलाभे तु क्षीरेण सह मिश्रयेत् ॥५१॥ इति ।

अत्र अर्घ्यपात्रे ॥४३॥

अस्मिन्मधुपर्कपात्रे औड़ुम्वरे ताम्रे, अत्र च घृतं विनेति स्मृत्युक्त्याघृतसहितेन ताम्रेऽपि गव्यस्य संयोगो द्रव्यान्तरसंयोगेन च मधुनोऽपि न दुष्यत्येवेति तैरभुक्तानामपि सम्मतं सूचितम् ॥४८-५१॥

अथार्घ्यादिपात्राणि—

अर्घ्यादि पात्र समूह। अर्घ्यपात्र में गन्ध, पुष्प, अक्षत, यव, कुशाग्र, तिल, दूर्वा एवं श्वेतसर्षप (सफेद सरसों) निक्षेप करे। कोई कोई व्यक्ति अर्घ्यपात्र में जलादि आठ द्रव्यों की व्यवस्था देते हैं ॥४३॥

कारण भविष्य पुराण में लिखित है– जल, दुग्ध, कुशाग्रभाग, दधि, आतप तण्डुल, तिल, यव, श्वेत सर्षप यह आठ अर्घ्य के अङ्ग हैं। पाद्यपात्र में कमल दूर्वा, श्यामा धान्य और विष्णुपत्री (तुलसी) यह चार द्रव्य निक्षेप करे। बुद्धिमान् पुरुष आचमनीय पात्र में जातीफल, लवङ्ग, कक्कोल ये तीन द्रव्य, एवं मधुपर्क पात्र में गव्य, दधि, दुग्ध, घृत, मधु, शर्करा ये पञ्च द्रव्य निक्षेप करे ॥४४-४७॥

कतिपय सज्जन उक्त पात्र में केवल तीन द्रव्यों की व्यवस्था देते हैं, कारण श्रीविष्णुधर्म में उक्त है—घृत दधि, मधु इन तीन द्रव्यों से मधुपर्क होता है ॥४८-४९॥

आदि वराह पुराण में उक्त है—मेरा मधुपर्क पात्र–ताम्रपात्र में, दधि, घृत एवं मधु निक्षेप करे। मधु का अभाव होने पर गुड़ के सहित मिश्रण करना होता है। हे सुश्रोणि ! घृत का अभाव होने से लाज (खीलों) के सहित और दधि का अभाव होने से दुग्ध के सहित मिश्रण करना चाहिये ॥५०-५१॥

तेषामभावे पुष्पादि तत्तद्भावनया क्षिपेत् ।
नारदस्त्वाह विमलेनोदकेनैव पूर्य्यते ॥५२॥
मूलेन पात्रेणैकैनमष्टकृत्वोऽभिमन्त्रयेत् ।
कुर्य्याच्च तेषां पात्राणां रक्षणं चक्रमुद्रया ॥५३॥
पूजामारभमाणो हि यथोक्तासनमास्थितः ।
पठेन्मङ्गलशान्तिं तां याञ्चने सम्मता सताम् ॥५४॥

अथ मङ्गलशान्तिः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनुभि,-र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥५५॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥५६॥ इति ।
पठन्, 'ॐ शान्तिः श्रीकृष्णपादपद्माराधनेषु शान्तिर्भवतु ।' इति ।

अथ विघ्ननिवारणम्

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः ।
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥५७॥

ननु गुडाद्यभावे तथान्यस्यापि कस्यचिदभावे सति किं कार्य्यम् ? इत्यपेक्षायामाह तेषामिति । उक्तानामर्घ्यादिद्रव्याणामभावे सति तत्तद्भावनयेति तेषान्तेषां द्रव्याणां मध्ये यद्यन्न लभ्यते, तस्य तस्य भावनया तत्तदिदमिति चिन्तयित्वा तत्तत्परिवर्त्तेन तत्तत्पात्रेषु पुष्पादिकं निक्षिपेदित्यर्थः । आदिशब्देन तुलसीपत्रादि ; ननु पुष्पाद्यभावेऽपि किं कार्य्यं, तत्र लिखति नारदस्त्विति । पूर्य्यते तत्तत्परिपूर्णता भवतीत्यर्थः ॥५२॥

मूलेन मूलमन्त्रेण ॥५३॥

यदि उक्त द्रव्य का अभाव हो तो उन उन की चिन्ता करता हुआ उक्त पात्रों में पुष्पादि प्रक्षेप करे। श्रीनारदमुनि ने कहा है—केवल निर्मल जल के द्वारा ही, उक्त समस्त की पूर्णता होती है ॥५२॥

प्रत्येक पात्र के उपरिभाग में आठबार मूलमन्त्र का जप करना चाहिये, और चक्रमुद्रा से इनसब पात्रों की रक्षा करे। अर्चना में प्रवृत्त होकर ही यथोक्त आसन पर उपवेशन कर साधु व्यक्तिगण, अर्चनकार्य में मङ्गलशान्ति का विधान प्रदान किए हैं, उसका पाठ करना कर्त्तव्य है ॥५३-५४॥

अथ मङ्गलशान्तिः—

मङ्गलशान्ति। मन्त्र, ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु।" मन्त्रार्थ—हे देवगण ! हम श्रवणपुट अर्थात् कानों से सम्यक् सुन सकें। हे याज्ञिक वृन्द ! हम नयनों से दर्शन करें, एवं सुस्थ अङ्ग एवं शरीर प्राप्त होने से प्रसन्न रह कर जिस प्रकार देवकुलों का हिताचरण देवविहित आयुः का उपभोग कर सकें। वृद्धश्रवाः इन्द्र हमारा कल्याण करें। और सुरगुरु वृहस्पति, हमारा श्रेयो विधान करें, यह मन्त्र पढ़ कर "ॐ शान्तिः श्रीकृष्णपादपद्माराधनेषु शान्तिर्भवतु" यह पाठ करे ॥५५-५६॥

अथ विघ्ननिवारणम्—

विघ्न निवारण। सुधीगण, मूलोक्तमन्त्र "अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुविसंस्थिताः। ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥" जो भूत समूह पृथिवी में अवस्थित है, वे दूर प्रस्थान करें।

इत्युदीर्य्यास्त्रमन्त्रेण वामपादस्य पार्ष्णिना ।
घातैस्त्रिभिर्बुधो विघ्नान् भौमान् सर्वान्निवारयेत् ।।५८।।
आन्तरीक्षांश्च तेनैवोर्द्ध्वोर्द्ध्वतालत्रयेण हि ।
निरस्योत्सारयेद्दिव्यान् मान्त्रिको दिव्यदृष्टितः ।।५९।।

अथ श्रीगुर्वादि-नतिः

ततः कृताञ्जलिर्वामे श्रीगुरुं परमं गुरुम् ।
परमेष्ठिगुरुञ्चेति नमेद् गुरुपरम्पराम् ।।६०।।

गणेशं दक्षिणे भागे दुर्गामग्रेऽथ पृष्ठतः । क्षेत्रपालं नमेद्भक्त्या मध्ये चात्मेष्टदैवतम् ।।६१।।
ततश्चास्त्रेण संशोध्य करौ कुर्वीत तेन हि । तालत्रयं दिशां बन्धमग्निप्राकारमेव च ।।६२।।

अथ भूतशुद्धिः

शरीराकारभूतानां भूतानां यद्विशोधनम् । अव्यय-ब्रह्मसम्पर्काद्भूतशुद्धिरियं मता ।।६३।।

अस्त्रमन्त्रः—अस्त्राय फड़िति । यद्वा, अस्मिन् मन्त्रे योऽस्त्रमन्त्रस्तेनैव, पार्ष्णिना ये घाताः प्रहारास्तैः ५८। तेन अस्त्रमन्त्रेण ; दिव्यदृष्टित इति-मूलमन्त्रसञ्चिन्तितदिव्यदृष्ट्या दिव्यान् विघ्नानुत्सारयेदित्यर्थः ।५९। वामे गुरुपरम्परां नमेत् ; अत्र प्रयोगः-- ॐ गुरुभ्यो नमः, गां गणेशाय नमः' इत्यादिः ।।६०-६१।। एवार्थो हि शब्दः ; तेन अस्त्रमन्त्रेणैव ऊर्द्ध्वोर्द्ध्व तालत्रयादि कुर्य्यात्. तत्राग्निप्राकारमात्मनः परितः कुर्य्यात् ।।६२।।

अथ भूतशुद्धिं लिखिष्यन्नादौ तदर्थं लिखति--शरीरेति शरीरस्य आकारभूतानाम् आकृतित्वं प्राप्तानां शरीरतया परिणतानामित्यर्थः, पञ्चमहाभूतानामुपलक्षणमेतत्, सर्वेषामेव दैहिकतत्त्वानामव्ययब्रह्मणो जीवतत्त्वस्य सम्पर्कात्तदात्मकतया ; यद्वा, श्रीभगवतोऽंशत्वेन सम्बन्धाद्धेतोर्विशोधनं कार्य्यकारणादिभिन्नतया विज्ञानं यदियमेव भूतशुद्धिर्मताऽभिज्ञैः ।।६३।।

जो सब भूत विघ्न करने वाले हैं, शिव की आज्ञासे वे सब विनष्ट होवें। पाठकर 'अस्त्रायफट्' कहकर तीनबार वामचरण का पार्ष्णिघात पूर्वक भूमिगत समस्त विघ्नापसारण करें। तन्त्रज्ञ व्यक्ति अस्त्रमन्त्र से "अस्त्राय फट्" मन्त्र द्वारा अन्तरीक्ष की विघ्नराशि को विदूरित करके मूलमन्त्र से दिव्यदृष्टि की चिन्ता कर उस दिव्यदृष्टि के द्वारा दिव्य विघ्नसमूह का निवारण करे ।।५७-५९।।

अथ गुर्वादि-नतिः—

श्रीगुर्वादि प्रणति। तत्पश्चात् कृताञ्जलि होकर वामभाग में श्रीगुरु, परम गुरु, परमेष्ठिगुरु प्रभृति गुरु परम्परा को नमस्कार करे। अनन्तर दक्षिणभाग में गणेश को, सम्मुख में दुर्गा को, पृष्ठदेश में क्षेत्रपाल को, एवं मध्यस्थल में अन्यान्य अभीष्ट देवको भक्तिपूर्वक प्रणाम करे। 'ॐ गुरुभ्यो नमः गां गणेशाय नमः" इस प्रकार प्रणाम मन्त्र है। पश्चात् अस्त्रमन्त्र 'अस्त्राय फट्' पाठ पूर्वक करद्वय शोधन कर उक्त मन्त्र से ऊर्द्ध्व में तीनबार करतालि, दिग्बन्धन, वह्नि प्राकार अर्थात् निजदेह के चारों ओर वेष्टन करे ।।६०-६२।।

अथ भूतशुद्धिः—

भूतशुद्धि। देह के उपादान स्वरूप भूतसमूह अक्षर ब्रह्म के अंश हैं, सुतरां वे ब्रह्म ही कारण हैं, ये सब कार्य्य हैं, अतएव ब्रह्म से भिन्न हैं, इस प्रकार जो दृढ़ निश्चय है, उसी को भूतशुद्धि कहते हैं ।।६३।।

भूतशुद्धिं विना कर्त्तुर्जपहोमादिकाः क्रियाः ।
भवन्ति निष्फलाः सर्वा यथाविध्यप्यनुष्ठिताः ॥६४॥

तत्प्रकारश्च

करकच्छपिकां कृत्वात्मानं बुद्धचा हृदब्जतः । शिरःसहस्रपत्राब्जे परमात्मनि योजयेत् ।
पृथिव्यादीनि तत्त्वानि तस्मिन् लीनानि भावयेत् ॥६५॥
वामहस्तं तथोत्तानमधोदक्षिणबन्धितम् । करकच्छपिका मुद्रा भूतशुद्धौ प्रकीर्त्तिता ॥६६॥
देहं संशोष्य दग्ध्वेदमाप्लाव्यामृतवर्षतः ।
उत्पाद्य दृढ़यित्वासुप्रतिष्ठां विधिनाचरेत् ॥६७॥

अधुना भूतशुद्धेर्नित्यतां लिखति—भूतशुद्धिमिति । कर्त्तुर्जपादिकारिणः, यथाविधि विध्यनतिक्रमेण अनुष्ठिता निष्पादिता अपिनिष्फला भवन्ति, आत्मशोधनं विना मूलाशुद्धेः ॥६४॥

आत्मानं जीवात्मानं प्रदीपकलिकाकारं सोऽहम्' इति मन्त्रेण हृत्पद्मात् शिरःस्थितसहस्रदलकमलमध्यवर्त्ति परमात्मनि बुद्धचा भावनया विचारेण वा योजयेत् । तदंशत्वात्तदभिन्नत्वेन तदीयत्वेन वा स्वात्मानं विजानीयादित्यर्थः । एवञ्च सति सोऽहमिति—सः श्रीभगवदंशः शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽहम् ; यद्वा, तदंशत्वेन तदधीनो नित्यसेवकोऽस्मीत्यर्थः । ततश्च तस्मिन् परमात्मन्येव पृथिव्यादीनि कार्य्यकारणतत्त्वानि सर्वाण्येव तदेकमूलत्वेन लीनानि तदात्मकानि तन्मायामयानि वा विभावयेदित्यर्थः अत्र च प्रलयरीत्या सांख्योक्त-सृष्टि प्रातिलोम्येन कार्य्यस्यकारणे लयद्वारा तेषां सर्वेषामेव परमकारणेऽवधिभूते भगवति लयो द्रष्टव्य इति दिक् ॥६५

करकच्छपिकां कृत्वेति लिखितं तामेव दर्शयति—वामहस्तमिति ॥६६॥

अधुना भूतशुद्धिप्रकारमेव लिखति—देहमिति द्वाभ्याम् । विधिनेत्यस्य सर्वत्रैव सम्बन्धः । इदं पाञ्च-भौतिकं पापमयं देहं संशोष्य सम्यक् शोषं नीत्वा ततो दग्ध्वा तदेव ततश्चामृतवृष्टचा आप्लाव्य पश्चादुत्पाद्य तच्चामृतवृष्टचैवेत्युभयोरप्येककारणत्वादमृतवर्षत इति कारणोल्लेखः । अनन्तरं दृढ़ीकृत्य एतच्च सर्वं भावनयैव, ततः प्राणप्रतिष्ठां कुर्य्यादित्यर्थः । तत्र चायं विधिः—आदौ पापपुरुषं चिन्तयेत् ; तथा चोक्तम्—'मूलाज्ञानं ततः पापं जन्मादिदुःखदञ्च यत् । प्राणापानौ निरुध्याथ तस्य रूपं विचिन्तयेत् ॥ महापातकपञ्चाङ्गं पातकोपाङ्गसंश्रयम् । उपपातकरोमाणं कृष्णं क्रूरातिभीषणम् ॥' इति । अन्यत्र च—'ब्रह्महत्याशिरस्कञ्च स्वर्णस्तेयभुजद्वयम् । सुरापानहृदायुक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम् ॥ तत्संयोगिपदद्वन्द्वमङ्गप्रत्यङ्गपातकम् । उपपातकरोमाणं रक्तश्मश्रुविलोचनम् ॥ खड्गचर्मधरं पापमङ्गुष्ठपरिमाणकम् । अधोमुखं कृष्णवर्णं दक्षकुक्षौ विचिन्तयेत् ॥' इति । तन्नाशार्थमादौ यमिति वायुवीजं धूम्रवर्णं परमशोषणं वामनासापुटे विचिन्त्य तस्य षोड़शवारजपेन वायुमापूर्य्य नाभिमण्डले वीजं मनसा नीत्वा यं-वीजस्य चतुःषष्टिवारजपेन कुम्भकं कृत्वा, यं-वीजोत्थवायुना सपापपुरुषं सर्वशरीरं संशोष्य, यं-वीजस्य द्वात्रिंशद्वारजपेन दक्षिणनासापुटेन तं वायुं रेचयेत् । ततो रमिति वह्निवीजं रक्तवर्णं वायुसम्बन्धं दक्षिणनासापुटे विचिन्त्य तस्य षोड़शवार जपेन वायुमापूर्य्य मूलाधारे वीजं नीत्वा चतुःषष्टिवारजपेन कुम्भकं कृत्वा वीजोत्थवह्निना सपापपुरुषं समस्तदेहं दग्ध्वा द्वात्रिंशद्वारजपेन भस्मना सहितं वायुं वामनासापुटेन रेचयेत् । ततश्च ठमिति चन्द्रवीजं श्वेतवर्णं वामनासापुटे विचिन्त्य तस्य षोड़शवारजपेन वायुमापूर्य्य वीजं ब्रह्मरन्ध्रस्थं चन्द्रं नीत्वा तच्चन्द्रमण्डलमध्ये वमिति वरुण-वीजं ध्यात्वा तस्य चतुःषष्टिवारजपेन कुम्भकं कृत्वा ठं वीजात्मकचन्द्राद्वर्णमयीममृतवृष्टिमुत्पाद्य तयाप्लाव्य ततः शरीरमुत्पन्नं विभाव्य पुनरकारादिवर्णरूपया तया मातृकान्यासानुसारेण मुख-करचरणादिकमुत्पाद्य लमिति पृथ्वीवीजस्य पीतवर्णस्य द्वात्रिंशद्वारजपेन समस्तं शरीरं दृढ़ीकुर्वन् दक्षिणनासापुटेन वायुं रेचयेदिति

अत्र च तत्त तत्र द्वात्रिंशद्वारजपेन पूरणं रेचनञ्च षोड़शवारजपेनेति; रेचः षोड़शमात्राभिः पुरो द्वात्रिंशता ... इति वचनात्। एतच्च कस्यचिदेव मतं, न तु बहूनामित्यग्रे व्यक्तं भावि ; प्राणप्रतिष्ठाविधिश्चायम्—प्राण प्रतिष्ठा मन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रा ऋषयः ऋग्यजुःसामानि छन्दांसि अतिच्छन्दो वा छन्दः क्रियामयवपुः प्राणाख्या देवता प्राणप्रतिष्ठार्थे विनियोगः। ॐ कं खं गं घं ङं अं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मने आं हृदयाय नमः। ॐ चं छं जं झं ञं इं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मने इं शिरसे स्वाहा। ॐ टं ठं डं ढं णं उं श्रोत्रत्वक्चक्षु-जिह्वाघ्राणात्मने उं शिखायै वषट्। ॐ तं थं दं धं नं एं वाक्पाणिपादपायूपस्थात्मने ऐं कवचाय हुं। ॐ पं फं बं भं मं ॐ वचनादानविसर्गानन्दात्मने ॐ नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अं मनो-बुद्ध्यहंकारचित्तात्मने अः अस्त्राय फट्। ॐ आं नाभेरधः। ॐ ह्रीं हृदयनाभि। ॐ ह्रौं मस्तकादाहृदयम्। ततः ॐ यं त्वगात्मने नमः हृदि। ॐ रं असृगात्मने नमः दक्षिणांसे। ॐ लं मांसात्मने नमः ककुदि। ॐ वं मेदआत्मने नमः वामांसे। ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः हृदयद्दक्षिणपाणि-पर्य्यन्तम्। ॐ षं मज्जात्मने नमः हृदयाद्वामपाणि-पर्य्यन्तम्। ॐ सं शुक्रात्मने नमः हृदयाद्दक्षिणपाद-पर्य्यन्तम्। ॐ हं प्राणात्मने नमः हृदयाद्वामपाद-पर्य्यन्तम्। ॐ लं जीवात्मने नमः हृदयान्नाभिपर्य्यन्तम्। ॐ क्षं परमात्मने नमः हृदयान्मस्तक-पर्य्यन्तम्। तत्र ध्यानम् – 'वक्त्राम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुण-सरोजाधिरूढ़ा कराग्रैः, पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवमथ गुणमप्यङ्कुशं पुष्पवाणान् विभ्राणासृक्कपालं त्रिनयनललिता पीनवक्षोरुहाढ्या, देवी बालार्कवर्णा भवतु शुभकरी प्राणशक्तिः परा नः॥' इति। अथ हृदि हस्तं निधायोच्चारयेत्—ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं हों हं सः मम प्राणा इति। पुनस्तान्येव वीजान्युच्चार्य्य मम जीव इह स्थित इति। पुनस्तान्ये-वोच्चार्य्य मम सर्वेन्द्रियाणीति। पुनस्तान्युच्चार्य्य मम वाङ्मनस्त्वक्चक्षुःश्रोत्रघ्राणप्राणा इहायान्तु स्वस्तये चिरं सुखेन तिष्ठन्तु स्वाहा इति मन्त्रः। ततो जन्मादिक-द्व्यष्टसंस्कारसिद्धये षोड़शप्रणवावृत्तीः कृत्वा शक्तिं परां स्मरेदिति ॥६७॥

जपादि करने वाले को जपादि क्रिया अनुष्ठान विधिवत् होने पर भी भूतशुद्धि के बिना वह सब विफल हो जाती हैं ॥६४॥

भूतशुद्धि का प्रकार। प्रथम करकच्छपिका मुद्रा की रचना कर प्रदीपकलिकाकार जीवात्मा को बुद्धि द्वारा हृत्पद्म से लेकर मस्तकस्थ सहस्रदल कमल के मध्यवर्त्ती परमात्मा में संयोग करे। तत्पश्चात् भावना करे कि, पृथिवी प्रभृति तत्त्व समूह परमात्मा में लीन हुए हैं। अभिप्राय यह है कि—जीवात्मा को प्रदीप कलिकाकृति रूप में पूजक चिन्ता करे, जिसका स्थान हृदयपद्म है, परमात्मा का स्थान मस्तक स्थित सहस्रदल कमल है, 'सोऽहं' मन्त्र उच्चारण पूर्वक अर्थात् मैं उन श्रीभगवान् का अंश हूँ। शुद्ध ज्ञानमय एवं मुक्तस्वभाव हूँ, श्रीभगवान् के अंश निबन्धन मैं उनका अधीन नित्यसेवक हूँ, इसप्रकार निश्चय करे। अनन्तर पृथिव्यादि कार्यकारणरूप तत्त्व समूह का मूल उक्त परमात्मा ही हैं, अत उनमें उक्त तत्त्व लीन है, इसप्रकार चिन्ता करे। अथवा चिन्ता करे कि—समस्त पदार्थ उक्त परमात्मा की बहिरङ्ग शक्ति के द्वारा निर्मित हैं ॥६५॥

भूतशुद्धि कार्य में जिस करकच्छपिका मुद्रा की आवश्यकता होती है, उसका वर्णन करते हैं—वामहस्त को उत्तानभाव में रखकर उसके नीचे दक्षिण सम्बद्ध करने से ही करकच्छपिका मुद्रा होती है ॥६६॥

विधिपूर्वक देह शुष्क करके दग्ध करे। पुनर्वार अमृत वर्षण के द्वारा देह को शीघ्र उत्पादन पूर्वक दृढ़भूतकर उस में प्राण प्रतिष्ठा करे।

भावार्थ—प्रथमतः पापपुरुष की चिन्ता करे। पापपुरुष, जन्मादि क्लेशदाता है, पञ्चविध महापातक उसके पञ्चअङ्ग हैं, पातक समूह उपाङ्ग, उपपातक, रोम है, उक्त पापपुरुष, कृष्णवर्ण क्रूर एवं अति भीषण है। अन्यत्र वर्णित है—ब्रह्महत्या उसका मस्तक, सुवर्णचौर-भुजद्वय, सुरापानरूप हृदययुक्त

गुरुपत्नी गमन—कटिस्थान, पातक समूह उसके पदद्वय, एवं अन्यान्य अङ्ग प्रत्यङ्ग उपपातक समूह उसका रोम है। उसके श्मश्रु, नेत्र रक्तवर्ण है, वह खड्ग चर्मधारी है, उसका वृद्धाङ्गुष्ठ परिमित देह है, वह अधोमुख एवं कृष्णवर्ण का है। उसको विनष्ट करने के लिए प्रथम वामनासापुट में "यं" धूम्रवर्ण परम शोषक वायुवीज की चिन्ता करे। उसका जप षोड़शबार करके वायुपूर्ण कर मन के द्वारा उस वीज को नाभिमण्डल में ले जावे, एवं चतुःषष्टिबार जप कर कुम्भक करे। पश्चात् 'यं' बीजोत्थित वायुद्वारा उक्त पापपुरुष के सहित समस्त शरीर को शुद्ध करना पड़ता है। अतःपर "र" रक्तवर्ण वह्निवीज का चिन्तन वायु के सहित दक्षिण नासापुट में करे। षोड़शबार उक्त बीज का जप करे, वीज को मूलाधार में ले जाकर चतुःषष्टिबार जप पूर्वक कुम्भक करे। तदुत्थित वह्नि के द्वारा पापपुरुष के सहित समस्त देह को दग्ध करके द्वात्रिंशद्बार जप पूर्वक भस्म के सहित वायु का रेचन वाम नासापुट से करे। अनन्तर 'ठं' श्वेत वर्ण चन्द्रवीज की चिन्ता वामनासापुट के मध्य में कर षोड़शबार जप द्वारा वायुपूर्ण करके बीज को ब्रह्म रन्ध्रस्थ चन्द्र में ले जाकर उक्त चन्द्रमण्डल में वं' वरुणवीज का ध्यान करना होता है।

अनन्तर उक्त वीज का जप चतुःषष्टिबार कर कुम्भक द्वारा 'ठं' वीजमय चन्द्र से वर्णमयी वृष्टि का उत्पादन करे। उक्त वृष्टि के द्वारा दग्ध शरीर को प्लावित करके चिन्ता करे कि—शरीर उत्पन्न हुआ है। बाद में कथित मातृ का न्यास के अनुसार अकारादि वर्णमयी, हस्तपदादि का उत्पादन अमृत धारा से कर 'लं' पीतवर्ण पृथिवीवीज का जप द्वात्रिंशद्बार करके शरीर को दृढ़ करे, पश्चात् दक्षिण नासा रन्ध्र के द्वारा वायु का निःसारण करे।

प्राण प्रतिष्ठा की विधि। "प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रा ऋषयः ऋग्यजुःसामानि छन्दांसि अतिच्छन्दो वा छन्दः, क्रियामयवपुः प्राणाख्या देवता प्राणप्रतिष्ठार्थे विनियोगः।" अर्थात् प्राण प्रतिष्ठा मन्त्र के ऋषि-ब्रह्मा, विष्णु एव शिव हैं। ऋक् यजुः, साम अथवा क्रियामय अतिच्छन्दः, इसका छन्दः। प्राण इसका देवता। इस मन्त्र का प्रयोग, प्राण प्रतिष्ठा कार्य में होता है। ॐ कं खं गं घं ङं अं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मने आं हृदयाय नमः। ॐ चं छं जं झं ञं इं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मने इं शिरसे स्वाहा। ॐ टं ठं डं ढं णं उं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणात्मने उं शिखायै वषट्। ॐ तं थं दं धं नं एं वाक्पाणिपादपायूपस्थात्मने ऐं कवचाय हुं। ॐ पं फं बं भं मं ॐ वचनादानगमनविसर्गानन्दात्मने ॐ नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अं मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मने अः अस्त्राय फट्। उक्त मन्त्र पाठ करे। अनन्तर नाभि के अधोभाग में 'ॐ आं' न्यास करे, एवं हृदय से नाभिस्थान पर्य्यन्त 'ॐ ह्रीं' मस्तक से हृदय पर्य्यन्त 'ॐ ह्रौं' न्यास करे। पश्चात् हृदय में 'ॐ यं' त्वगात्मने नमः, दक्षिण स्कन्ध में 'ॐ रं असृगात्मने नमः, ककुद भाग में ॐ लं मांसात्मने नमः, वाम स्कन्ध में 'ॐ वं मेदात्मने नमः, हृदय से दक्षिण हस्त पर्य्यन्त अंश में 'ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः, हृदय से वाम हस्त पर्य्यन्त अंश में 'ॐ षं मज्जात्मने नमः, हृदय से दक्षिण पाद पर्य्यन्त अंश में 'ॐ सं शुक्रात्मने नमः, हृदय से वामपद पर्य्यन्त अंश में 'ॐ हं प्राणात्मने नमः, हृदय से नाभि पर्य्यन्त अंश में 'ॐ लं जीवात्मने नमः, एवं हृदय से मस्तक पर्य्यन्त अंश में 'ॐ क्षं परमात्मने नमः।' इस प्रकार न्यास करना पड़ता है। तत्पश्चात् ध्यान।

'वक्त्राम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुण-सरोजाधिरूढ़ा कराग्रैः, पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवमथगुणमप्यङ्कुशं पुष्पवाणान्॥ विभ्राणासृक्कपालं त्रिनयनललिता पीनवक्षोरुहाढ्या, देवी बालार्कवर्णा भवतु शुभकरी प्राणशक्तिः परा नः॥ वर्णमयी परमा प्राणशक्ति देवी, मुखरूप समुद्र में भासमान तरणी में दीप्तिमत् लोहित पद्म में अधिष्ठित हैं, हस्त में पाश, इक्षुदण्डोत्पन्न धनुः, गुण, अङ्कुश, पुष्पवाण एवं असृक्कपाल विन्यस्त है। आप त्रिनयना, पीनोन्नतवक्षा हैं, आप की देह कान्ति उदीयमान सूर्य की भांति है, आप हमारा मङ्गल विधान करें।

उक्त प्रकार ध्यान कर पश्चात् हृदय में हस्तस्थापन पूर्वक उच्चारण करे, ॐ आं ह्रीं क्रौं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं हों हं सः ममप्राणा इहप्राणाः। अर्थात् मेराप्राण यहांपर है। पुनर्वार उक्तवीजमन्त्रोच्चारण

आत्मानमेवं संशोध्य नीत्वा कृष्णार्च्चनार्हताम् ।
वात्सल्याद्धृद्गतं कृष्णं यष्टुंहृत पुनरानयेत् ।।६८।।

तथा च त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे—

नाभिस्थवायुना देहं सपापं शोधयेद्बुधः । वह्निना हृदयस्थेन दहेत्तच्च कलेवरम् ।।६९।।
सहस्रारे महापद्मे ललाटस्थे स्थितं विधुम् । सम्पूर्णमण्डलं शुद्धं चिन्तयेदमृतात्मकम् ।।७०।।
तस्माद्गलितधाराभिः प्लावयेद्भस्मसाद्बुधः । आभिर्वर्णमयीभिश्च पञ्चभूतात्मकं वपुः ।
पूर्ववद्भावयेद्देवीम् ।।७१।। इत्यादि ।

किञ्चाग्रे—

ततस्तस्मात् समाकृष्य प्रणवेण तु मन्त्रवित् । तत्तेजो हृदये न्यस्य चिन्तयेद्विष्णुमव्ययम् ।।७२।।

एवं लिखितप्रकारेणात्मानं सम्यक् शोधयित्वा तेन च श्रीकृष्णास्यार्च्चनार्हतां पूजायोग्यतां नीत्वा सम्पाद्य पुनरतं हृदयकमलमानयेत् । किमर्थम् ? कृष्णं यष्टुं पूजयितुम् ; ननु भगवान् परमात्मरूपोऽसौ मूर्द्धनि सहस्रदलकमले वर्त्तते, तत्र लिखति वात्सल्यात् भक्तवात्सल्येन हृत् हृदब्जं गतं प्राप्तमिति, अतएव भगवतो ध्यानादिकं हृदय एव सर्वतो निर्दिश्यत इति दिक् ।।६८।।

एतदेव प्रमाणयन् भूतशुद्धिप्रकारश्च किञ्चित् प्रपञ्चय दर्शयति—तथा चेति । सपापं पापपुरुषसहितं पूर्व दाहेन भस्मसाद्भूतमाभिर्धाराभिः ।।६९-७१।।

ततः शरीरोत्पत्त्यनन्तरं तस्मात् सहस्रदलकमलात् परमात्मनो वा सकाशात् तत् शुद्धात्मस्वरूपं तेजः ।।७२।।

पूर्वक कहना होगा 'मम सर्वेन्द्रियाणि' अर्थात् मेरी सकलेन्द्रीय यहाँ हैं, पुनर्बार उक्त वीज समूह का उच्चारण कर कहना होगा 'मम वाङ्मनस्त्वक् चक्षुः श्रोत्रघ्राण प्राणाः इहायान्तु स्वस्तये चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा ।' अर्थात् मेरा वाक्यादि प्राण पर्यन्त सब कुछ यहाँपर अवस्थान करें । मङ्गल साधन के निमित्त दीर्घकाल निवास करें । पश्चात् जन्म प्रभृति दश संस्कार सिद्ध हेतु षोड़शबार प्रणव की आवृत्ति करके परमाशक्ति का स्मरण करे ।।६७।।

उसप्रकार शोधन के द्वारा जीवात्मा श्रीकृष्णार्चन के उपयोगी होता है, पश्चात् भक्तवात्सल्य निबन्धन हृत्पद्म में समागत श्रीकृष्ण की अर्चना के निमित्त उक्त आत्मा को पुनर्बार हृदय में लाना पड़ता है। तात्पर्य्य यह है कि—भगवान् श्रीकृष्ण परमात्म स्वरूप हैं, आप मस्तकस्थ सहस्रदल पद्म में अवस्थित हैं, हृदय में अवस्थान करने की सम्भावना आप की कैसे होगी ? इसके अन्तर में कहते हैं—आप भक्त वत्सल हैं, तज्जन्य हृत्पद्म में आगमन करते हैं, सुतरां भगवद्ध्यानादि हृदय में करना ही विधेय है ।।६८।।

तथा च त्रैलोक्य सम्मोहन तन्त्र में उक्त है - सुधीगण नाभिस्थलगत वायुद्वारा पापपुरुष के सहित देह का शोषण करें एवं देह को हृदयस्थ वह्नि के द्वारा दग्ध करें ।।६९।।

तत्पश्चात् चिन्ता करें, ललाटस्थ सहस्रदल कमल में अवस्थित विशुद्ध पूर्णचन्द्र अमृतमय है ।।७०।।

उक्त चन्द्र से क्षरित धारा के द्वारा भस्मीभूत देह को प्लावित करें, पश्चात् चिन्ता करे, यह पञ्च भौतिक देह, उक्त वर्णमयी धारा के योग से पूर्ववत् हुआ है । इत्यादि ।।७१।।

इस के पश्चात् वर्णित है—मन्त्रज्ञ व्यक्ति, आत्मतत्त्व स्वरूप तेज का आकर्षण प्रणव के द्वारा सहस्रदल कमल से करके हृदय में स्थापन पूर्वक अव्यय विष्णु की चिन्ता करें ।।७२।।

किंवा चिन्तनमात्रेण भूतशुद्धिं विधाय ताम् ।
प्राणायामांस्ततः कुर्य्यात् सम्प्रदायानुसारतः ।।७३।।

अथ प्राणायामः

रेचः षोड़षमात्राभिः पूरो द्वात्रिंशता भवेत् ।
चतुःषष्ट्या भवेत् कुम्भ एवं स्यात् प्राणसंयमः ।।७४।।
विरेच्य पवनं पूर्वं संकोच्य गुदमण्डलम् ।
पूरयित्वा विधानेन स्वशक्त्या कुम्भके स्थितः ।।७५।।
तत्र प्रणवमभ्यस्यन् बीजं वा मन्त्रमूर्द्धगम् ।
ऋष्यादिस्मरणं कृत्वा कुर्य्याद्ध्यानमतन्द्रितः ।।७६।।

तत्राशक्तौ प्रकारान्तरं लिखति — किंवेति । चिन्तनमात्रेणेति—पूरककुम्भकादिकं विना केवलं भावनयैव देहशोषणादिकं कृत्वेत्यर्थः । सम्प्रदायानुसारत इति भूतशुद्धौ मतभेदान्नानाप्रकारत्वेन, तथा प्राणायामेषु च केषाञ्चिन्मतेऽस्मिन्नवसरेऽकरणात्, केषाञ्चिन्मते करणेऽपि प्रणवस्य जपात्, केषाञ्चिन्मते वीजस्य, तत्रापि केषाञ्चिन्मते बारत्रयं, केषामपि मते वहुवारानित्येवं मतभेदान्नानाप्रकारत्वेनानैकान्तत्वात् निजसम्प्रदाय-व्यवहार एवानुसर्त्तव्य इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि ।।७३।।

मात्राभिश्च षोड़शभी रेचः, द्वात्रिंशता च पूरो भवेत्, एवं यत्रादौ रेचनमन्ते पूरणं तत्रैवैषा व्यवस्था ज्ञेया। यत्र चाष्टाङ्गयोगान्तर्गतप्राणायामादौ तयोर्विपर्य्ययस्तत्र मात्रावैपरीत्यमपि ज्ञेयम् ; अतएव भूतशुद्धौ तथा लिखितम् ; मात्रा चोक्ता— कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम् । पर्य्येति मात्रा सा ज्ञेया स्वीयैकाश्वासमात्रिका ।।' इति ।।७४-७५।।

मन्त्रमूर्द्धगमष्टादशाक्षर-मन्त्रशिरःस्थितं मान्मथं वीजं वा अभ्यस्यन् मनसा आवर्त्तयन् ; प्रणवाभ्यासे च ऋष्यादिक-मुक्तम्—'अस्य प्रणव-मन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिर्देवी गायत्रीछन्दः परमात्मा देवता, अकारो वीजम्, उकारः शक्तिर्मकारः कीलकं—प्राणायामे विनियोगः ।' इति वीजाभ्यासे च तन्मन्त्रस्य ऋष्यादिकं ध्यानञ्च तद्देवताया एवेत्ययं विकल्पश्च मुक्तिभुक्त्यादिफलभेदेन वर्णाश्रमादिभेदेन वेति दिक् ।।७६।।

अथवा पुर्वोक्त अनुष्ठान करने में असमर्थ होने पर केवल भावना द्वारा भूतशुद्धि करे, एवं पश्चात् सम्प्रदायानुसार प्राणायाम करें ।।७३।।

अथ प्रणायामः—

प्राणायाम । रेचक सोलह मात्रा से, पूरक वत्रिश मात्रा से, और कुम्भक चौंवठ मात्रा से सम्पादित होता है । मात्रा—अपने हाथों से अपने जानुमण्डल के वेष्टन करने में जो समय बीतता है, उस समय को मात्रा कहते हैं । रेचक—देह से वायु का निकालना, पूरक—देह में वायु का पूर्ण करना, कुम्भक—देह में वायु का अवरोध करना है । प्रणव के ऋषि प्रजापति है, गायत्री छन्द, परमात्मा इसके देवता, अ कार वोज, उ कार शक्ति, म कार आधार दण्ड है, प्राणायाम में उसका विनियोग होता है ।।७४।।

प्रथमतः वायु विरेचन पूर्वक गुह्यदेश को सिकोड़ कर आपनी शक्ति के अनुसार यथाविधि वायुपूर्ण कर कुम्भक करना चाहिये ।।७५।।

कामवीज अथवा वीजमन्त्र का जप करना हो तो, ऋष्यादि स्मरण पूर्वक, आलस्यहीन होकर ध्यान

तद्ध्यानञ्चोक्तम्—

विष्णुं भास्वत्किरीटाङ्गद-वलयकलाकल्पहारोदराङ्घ्रि-
श्रोणीभूषं सवक्षोमणि-मकरमहाकुण्डलामृष्टगण्डम् ।
हस्तोद्यच्छङ्ख-चक्राम्बुज-गदममलं पीतकौशेयवासं
विद्योतद्भासमुद्यद्दिनकरसदृशं पद्मसंस्थं नमामि ॥७७॥

क्वचिच्च—

रुद्रस्तु रेचके ब्रह्मा पूरके ध्येयदेवता ।
श्रीविष्णुः कुम्भके ज्ञेयो ध्यानस्थानं गुरोर्मुखात् ॥७८॥

तथा हि—

नाभिस्थाने पूरकेण चिन्तयेत् कमलासनम् ।
ब्रह्माणं रक्तगोराङ्गं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥७९॥
नीलोत्पल-दलश्यामं हृदिमध्ये प्रतिष्ठितम् ।
चतुर्भुजं महात्मानं कुम्भकेन तु चिन्तयेत् ॥८०॥
रेचकेनेश्वरं ध्यानं ललाटे सर्वपापहम् ।
शुद्धस्फटिक-सङ्काशं कुर्य्याद्वै निर्मलं बुधः ॥८१॥ इति ।

ध्यानस्थानं गुरोर्मुखादेव ज्ञेयमित्युक्तं, तदेवान्यत्रत्यवचनैर्व्विज्ञापयन् तत्तद्ध्यानमेव विशिष्य लिखति—

करना चाहिये । प्रणव मन्त्र के ऋषि प्रजापति, गायत्री छन्दः, परमात्मा देवता, अ कार वीज, उ कार शक्ति, म कार आधार दण्ड है, एवं प्राणायाम में उसका प्रयोग होता है, स्मरण पूर्वक अनलस होकर ध्यान करना होता है ॥७६॥

जिनके अङ्ग में उज्ज्वल मुकुट, अङ्गद, वलय श्रेष्ठ हार विराजित हैं, जिनका उदर प्रदेश, चरण, श्रोणीभाग अलङ्कारों से सुशोभित है, जिनका गण्डस्थल वक्षोमणि संलग्न उत्तम मकर कुण्डलों से चुम्बित है, जिनके हाथों में शङ्ख, चक्र, पद्म, अमल गदा उद्यत हैं, जो अत्यन्त निर्मल पीतवर्ण पट्टवस्त्र पहर रहे हैं, जिन के देह से दिव्य प्रभा उद्गत हो रही है, जो देखने में उद्योन्मुख भास्कर सदृश हैं, एवं जो कमल में विराजित हैं, मैं उन श्रीविष्णु को नमस्कार करता हूँ ॥७७॥

कहीं पर वर्णित है—रेचक कार्य में रुद्र की, पूरक कार्य में ब्रह्मा की और कुम्भक में विष्णु देवता की चिन्ता करनी चाहिये । श्रीगुरुदेव के समीप से ध्यान को जान लें ॥७८॥

उक्त विषय में वर्णित है—विज्ञव्यक्ति पूरक के सहित पद्मासनस्थ, रक्त मिश्रित श्वेतवर्ण चतुरानन पितामह ब्रह्मा की भावना नाभि प्रदेश में करे ॥७९॥

कुम्भक के सहित नीलोत्पलदलश्याम चतुर्भुज, महात्मा विष्णु की भावना हृदयाभ्यन्तर में करे ॥८०॥
रेचक के सहित सर्वपापहर शुद्ध स्फटिकवर्ण निर्मल रुद्र की चिन्ता ललाट भाग में करे ॥८१॥

एकान्तिभिश्च भगवान् सर्वदेवमयः प्रभुः ।
कृष्णः प्रियजनोपेतश्चिन्तनीयो हि सर्वतः ॥८२॥

अथ प्राणायाम-माहात्म्यम्

पाद्मे देवहूति-विकुण्डल संवादे—

यमलोकं न पश्यन्ति प्राणायामरता नराः ।
अपि दुष्कृतकर्म्माणस्तैरेव हतकिल्विषाः ॥८३॥
दिवसे दिवसे वैश्य प्राणायामास्तु षोड़श ।
अपि भ्रूणहनं मासात् पुनन्त्यहरहः कृताः ॥८४॥
तपांसि यानि तप्यन्ते व्रतानि नियमाश्च ये ।
गोसहस्रप्रदानन्तु प्राणायामस्तु तत्समः ॥८५॥

नाभिस्थान इति त्रिभिः । ऐश्वरं श्रीरुद्रसम्बन्धि ॥७९-८१॥

ननु श्रीमदनगोपालदेवैकभक्तिनिष्ठे कथमेवं विविधध्यानं रोचेत ? तत्र लिखति—एकान्तिभिश्चेति । एकान्तिभिः श्रीकृष्णचरणारविन्दैकभक्तिनिष्ठैस्तु कृष्ण एव सर्वत्रैव ध्येयः, स च प्रियजनैर्गोपगोप्यादिभिरुपेत एव, न त्वेकाकी भक्तिरसविशेषविघातापत्तेः । ननु तत्र तत्र तत्तद्देवताया ध्यानाभावेनासम्पूर्णता स्यात्तत्र लिखति – भगवान् सर्वैश्वर्य्ययुक्तः सर्वदेवमयः प्रभुश्च सर्वदेवेश्वरः सर्वशक्तिमान् वेति । एवमेकान्तिनामग्रेऽपि सर्वत्रैव बुद्धयावगन्तव्यः । अतः पूर्वलिखित-द्वारपूजादावप्येकान्तिनां श्रीगरुड़ादि-परिवर्त्तेन तत्र तत्र श्रीदामादिगोपानां, द्वार-श्रीगङ्गादिपरिवर्त्तेन च श्रीगोपीनां पूजोह्या, अन्यथा तदेकनिष्ठानां तदन्यरुच्यसम्भवाद्भक्तिविशेषहान्या पूजालक्षणकर्मण एव यथोक्तफलासिद्धेः । एवं श्रीभागवतादुचक्तानाञ्च गोकुले श्रीगोपाल देवस्य तदन्याखिलरागविस्मारकाणां तत्तत्परिच्छद-परिवारादीनामतिक्रमेणान्य-परिजनादि-पूजनादिकं केवलं 'कामिनां जयदं प्रधानोऽभयदं विपिने' इत्यादुचक्त तत्तत्फलावाप्तये तान्त्रिकाः समादिशन्तीति ज्ञेयम् ; अलमतिविस्तरेण ॥८२॥

तैः प्राणायामैरेव ॥८३॥

जो जन श्रीकृष्ण पादपद्म में एकान्त भक्तिनिष्ठ हैं, समस्त कार्य्यों में गोपगोपी प्रभृति अभिमत जन परिवेष्टित सर्वदेवमय भगवान् प्रभु श्रीकृष्ण की एकाग्रचित्त से चिन्ताकरना उसका एकान्त कर्त्तव्य है ॥८२

अथ प्राणायाम-माहात्म्यम्—

प्राणायाम माहात्म्य । पद्मपुराण के देवहूति संवाद में वर्णित है—प्राणायाम परायण व्यक्ति दुष्कर्म रत होनेपर भी उसका यमलोक दर्शन नहीं होता है, कारण प्राणायाम के द्वारा ही समस्त पातक विनष्ट होते हैं ॥८३॥

हे वैश्य ! एकमास यावत् प्रत्यह षोड़शबार प्राणायाम करने से अहरह भ्रूणहत्याकारी भी पवित्र होता है ॥८४॥

जो कुछ तपस्या, व्रत, नियम पालन किया जाय, एवं सहस्र गो दान किया जाय, प्राणायाम उन सब के समान हैं ॥८५॥

अम्बुबिन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे नरः पिबेत् ।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामस्तु तत्समः ॥८६॥
पातकन्तु महद्‌यच्च तथा क्षुद्रोपपातकम् ।
प्राणायामैः क्षणात् सर्वं भस्मसात् स्याद्विशाम्बर ॥८७॥ इति ।
न्यासान् विना जपं प्राहुरासुरं विफलं बुधाः ।
अतो यथासम्प्रदायं न्यासान् कुर्याद्‌यथाविधि ॥८८॥

तत्रादौ मातृकान्यासः

ऋषिच्छन्दोदेवतादि स्मृत्वादौ मातृकामनोः ।
शिरोवक्त्र हृदादौ च न्यस्य तद्धयानमाचरेत् ॥८९॥

तच्चोक्तम् —

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्त-मुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलीम्,
भास्वन्मौलि-निबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम् ।
मुद्रामक्षगुणं-सुधाढ्यकलसं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै,
-र्विभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये ॥९०॥

साग्रं सम्वत्सरं पिबेत् ॥८६॥

आसुरं असुरदैवत्यम्, अतएव विफलं प्राहुः ॥८७॥

ऋष्यादिकञ्चोक्तम्— ब्रह्मऋषिर्गायत्रीच्छन्दो मातृका सरस्वती देवता हलो वीजानि स्वराः शक्तयः मातृकान्यासे विनियोगः' इति शिरोवक्त्रादो क्रमेण ऋष्यादिकमेव न्यस्य; तथा चोक्तम्—'उच्चार्य्यैवं ऋषिच्छन्दोदेवतावीजशक्तयः । शिरोवदनहृद्‌गुह्यपादेषु क्रमतो न्यसेत् ॥' इति । अत्र न्यस्य इति वक्तव्ये न्यसेदित्यार्षम् । पञ्चाशल्लिपिभिरिति वर्णानामेकपञ्चाशत्त्वेऽपि लकारद्वयस्यैक्याभिप्रायेण । भास्वति प्रभायुक्ते मौलौ नितरां बद्धं चन्द्रसकलं चन्द्रार्द्धं यया ताम् ॥८१-९०॥

मनुष्य शत वत्सर यावत् प्रतिमास कुशाग्र के द्वारा जलबिन्दु पान करके जो फल प्राप्त करता है, प्राणायाम से वही फल मिलता है ॥८६॥

महापातक, क्षुद्रपातक, उपपातक जो भी पाप हैं, हे वैष्णव श्रेष्ठ ! प्राणायाम के द्वारा वे सब पाप तत्काल विनष्ट होते हैं ॥८७॥

विवेकिगण कहते हैं—न्यास विहीन जप को आसुर जप कहते हैं, सुतरां सम्प्रदाय अनुसार यथाविधि न्यास करे ॥८८॥

तत्रादौ मातृकान्यासः—

प्रथम मातृका न्यास। प्रथम मातृका मन्त्र के ऋषि, छन्दः, देवतादि का स्मरण करके मस्तक, वदन, एवं हृदयादि में न्यास पूर्वक उसका ध्यान करे। मातृका वर्ण के ऋषि ब्रह्मा, गायत्री छन्दः, सरस्वती देवता, हल्‌वर्ण वीज एवं मातृका न्यास में उसका विनियोग है ॥८९॥

उक्त विषय में कथित हैं—पञ्चाशत् वर्ण विभाग पूर्वक देवी सरस्वती के मुखमण्डल, बाहुद्वय, चरण युगल, कटिदेश एवं वक्षःस्थल विरचित हैं। उनके मस्तक भाग में चन्द्रकला शोभित है, आप आपीन तुङ्गस्तनी हैं, आपके करकमलों में मुद्रा, अक्षसूत्र, अमृत पूर्णकुम्भ, एवं विद्या शोभित हैं, आप श्वेतवर्णा एवं त्रिनयनी हैं, मैं उनकी शरण ले रहा हूँ ॥९०॥

अकारादीन् क्षकारान्तान् वर्णानादौ तु केवलान् ।
ललाटादिषु चाङ्गेषु न्यसेद्विद्वान् यथाक्रमम् ॥९१॥

तच्च विविच्योक्तम्—
ललाटमुखविम्बाक्षिश्रुतिघ्राणेषु गण्डयोः । ओष्ठदन्तोत्तमाङ्गास्ये दोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च ॥९२॥
पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ जठरे हृदयेऽंसके । ककुद्यंसे च हृत्पूर्वं पाणिपादयुगे ततः ।
जठराननयोर्न्यसेन्मातृकार्णान् यथाक्रमम् ॥९३॥ इति ।
सानुस्वारान् विसर्गाढ्यान् सानुस्वारविसर्गकान् ।
न्यसेद्भूयोऽपि तान् विद्वानेवं वारचतुष्टयम् ॥९४॥

तं न्यासविधिं लिखति—अकारादीनिति । केवलान् अनुस्वारादिहीनान् प्रथमं न्यसेत् । कं कुत्र न्यसेदित्यपेक्षायां लिखति-ललाटेत्यादि-सार्धद्वयेन । मातृकाया लिपिसंस्थाया अर्णान् वर्णान् यथाक्रमं ललाटादिषु न्यसेदिति द्वाभ्यामन्वयः । तत्र चैकपञ्चाशद्वर्णेषु मध्ये अकारादीन् अन्तःस्थ-वकारान्तान् पञ्चचत्वारिंशद्वर्णान् ललाटादिषु वामांसान्तेषु पञ्चचत्वारिंशदवयवेषु न्यसेत् । तथाहि, ललाटमेकं मुखविम्बं मुखमण्डलञ्चैकम्, अक्ष्यादिदन्तान्तानां प्रत्येकं द्वयमित्येवं द्वादश । तत्र दन्तानां पङ्क्तिद्वित्वेन द्वित्वं ज्ञेयम् । किञ्च, उत्तमाङ्गं मस्तकमेकम्, आस्यं, मुखछिद्रमेकम्, इत्येवं षोड़शसु षोड़श-स्वरान्; ततः दोष्णोर्भुजयोः सन्धयः प्रत्येकं मूलकूर्पमणिवन्धाङ्गुलिमूलभेदेन चत्वारः, एवं द्वयोरष्ट; पदोश्च सन्धयः—उरुमूल-जानुगुल्फाङ्गुलिमूलभेदेन प्रत्येकं चत्वार, एवं द्वयोरष्ट ; तथा दोष्णोरग्रद्वयं पदोश्चाग्रद्वयमित्येवं दोःपत्सम्बन्धि-विंशत्यङ्गेषु व्यञ्जनानां मध्ये ककारादि-नकारान्तविंशतिवर्णान्, ततश्च पार्श्वादिषु दिक्षु नवस्वङ्गेषु पकारादीन् वकारान्तान् नव वर्णान् न्यसेत् । तत्र पार्श्वयोरिति तयोर्द्वित्वमेव अंसस्य दक्षिणवामतया द्वित्वात् पुनरुक्तिरिति । हृत्पूर्वमिति अवशिष्टान् शकारादि-क्षकारान्तान् न-षड़् वर्णान् हृदयमारभ्य कक्षादिपाणियुगलपाद-युगलजठरान् पर्य्यन्तं व्याप्य तत्तत्स्थानषट्के न्यसेदित्यर्थः । तत्र प्रयोगः—'अं नमः' इत्यादिः ॥९१-९३॥
भूयोऽपीत्यस्य सर्वत्रैवान्वयः । वारचतुष्टयमिति लिखनात् तान् मातृकार्णान् तथैव भूयोऽपि सानुस्वारान्

विज्ञजन, अनुस्वार संयुक्त न करके केवल अकारादि क्षकारान्त वर्णसमूह का न्यास क्रमशः ललाटादि अङ्गसमूह में करें ॥९१॥

क्रम का विभाग वर्णन करते हैं—ललाट, मुखमण्डल, नेत्र, कर्ण, नासारन्ध्र, गण्डस्थल, ओष्ठ, दन्त, मस्तक, मुखविवर, हस्त सन्धि, पदसन्धि, हस्ताग्र, पदाग्र, पार्श्वद्वय, पृष्ठभाग, नाभि, जठर, हृदय, दक्षिण स्कन्ध, ककुत्, वाम स्कन्ध, हृदय से आरम्भ कर हस्ततल द्वय, पदतल द्वय, जठर एवं आनन, इन सब अंगों में अकारादि क्षकारान्त मातृका वर्ण का क्रमानुसार न्यास करना चाहिये। अर्थात् ललाट १, मुखमण्डल १, नेत्र २, कर्ण २, नासारन्ध्र २, गण्ड २, ओष्ठ २, पङ्क्तिद्वय युक्त दन्त २, एवं मस्तक १, ये षोड़श अङ्ग हैं। षोड़श अङ्गों में षोड़श स्वर का न्यास होता है। बाहु सन्धि ४, बाहुमूल १, कुहनी १, कब्जि १, अङ्गुलिमूल १, पदसन्धि ४, अर्थात् ऊरुमूल १, जानु १, गुल्फ १, अङ्गुलि १। सुतरां बाहुद्वय पदद्वय की सन्धि मिलाकर षोड़श हैं। हस्ताग्र २, पदाग्र २=४ हैं। समुदाय में विंशति अङ्ग हैं। उक्त विंशति अङ्गों में ककारादि नकारान्त वर्ण न्यास करना होता है। ककुत् प्रभृति ९ अङ्गों में पकारादि अन्त्यस्थ वकार पर्यन्त ९ वर्णों का न्यास करना पड़ता है। करतल द्वय, पदतल द्वय, उदर, आनन, ६ अङ्गों में शकारादि क्षकारान्त ६ वर्णों का न्यास करना होता है। अङ्गों के मध्य में ललाट से आरम्भ कर एवं वर्णों के मध्य में अकार से आरम्भ कर न्यासानुष्ठान होता है। इस प्रकार चारबार न्यास करना

अथ मातृकान्यासः

कण्ठहृन्नाभिगुह्येषु पायुभ्रूमध्ययोस्तथा। स्थिते षोड़शपत्राब्जे क्रमेण द्वादशच्छदे ॥९५॥
दशपत्रे च षट्पत्रे चतुष्पत्रे द्विपत्रके। न्यसेदेकैकपत्रान्ते सविन्द्वेकैकमक्षरम् ॥९६॥

अथ केशवादि-न्यासः

स्मृत्वा ऋष्यादिकं वर्णान् मूर्तिभिः केशवादिभिः।
कीर्त्यादिभिः शक्तिभिश्च न्यसेत्तान् पूर्ववत् क्रमात् ॥९७॥
न्यसेच्चतुर्थी-नत्यन्ता मूर्तीः शक्तीश्च यादिभिः।
सप्तधातून् प्राण-जीवौ क्रोधमप्यात्मनेऽन्तकान् ॥९८॥

अनुस्वारेण सहितान् न्यसेत्; तत्र प्रयोगः—'अं नमः' इत्यादिः। भूयोऽपि तथैव विसर्गाढ्यान् विसर्जनीययुक्तान् न्यसेत्; तत्र प्रयोगः—'अः नमः' इत्यादि। भूयोऽपि तथैव सानुस्वारविसर्गकान् अनुस्वारविसर्गाभ्यां युगपदेव सहितान् न्यसेत्; तत्र प्रयोगः—'अंः नमः' इत्यादिः; एवं लिखितप्रकारेण केवलसंयुक्तभेदेन वार-चतुष्टयं मातृकावर्णान् न्यसेदित्यर्थः ॥९४॥

कण्ठादिषट्सु स्थानेषु क्रमेण स्थिते षोड़शपत्रादिकमलषट्के तत्पञ्चाशत्पत्रेषु एकैकस्मिन् पत्रे बिन्दु-सहितमेकैकमक्षरमिति पञ्चाशद्वर्णान् तत्तत्पत्रान्ते मनसा न्यसेदित्यर्थः ॥९५॥

ऋष्यादिकञ्चोक्तम्—'अस्य केशवादिन्यासस्य प्रजापतिऋषिर्देवी गायत्री च्छन्दो लक्ष्मीनारायणो देवता हलो वीजानि स्वराः शक्तयः आत्मनोऽच्युतत्वे विनियोगः' इति। तान् एकपञ्चाशन्मातृकावर्णान् केशवादिभि-रेकपञ्चाशन्मूर्तिभिः तावतीभिरेव कीर्त्यादिभिश्च शक्तिभिः सह पूर्ववत् ललाटादिषु अनुस्वार-सहितान् तथैव न्यसेदित्यर्थः ॥९७॥

पड़ता है। अर्थात् प्रथमतः अनुस्वार व्यतीत अ नमः आ नमः। द्वितीयतः अनुस्वार योग कर अं नमः आं नमः। तृतीयतः विसर्ग देकर अः नमः, आः नमः, एवं चतुर्थतः विसर्ग अनुस्वार युक्त करके अंः नमः आंः नमः, इत्यादि ॥९२-९४॥

अथ मातृकान्यासः

कण्ठ, हृदय, नाभि, लिङ्ग, पायु, भ्रूमध्य षट्स्थानों में क्रमशः षोड़श दल, द्वादश दल, दशदल, षट्दल, चतुर्दल, द्विदल पद्म हैं। उक्त पद्मसमूह के प्रत्येक दल के अग्रभाग में अनुस्वार युक्त एक एक वर्ण न्यास करे, अर्थ छह पद्मों के दल समुदाय में पञ्चाशत वर्ण हैं। प्रत्येक हल् एवं स्वर के पञ्चाशत् वर्णों के प्रत्येक का अनुस्वार सहित न्यास करे ॥९५-९६॥

अथ केशवादि-न्यासः

ऋषि प्रभृति का स्मरण करके केशवादि मूर्त्ति एवं कीर्त्यादि शक्तिसमूह के सहित पूर्वोक्त वर्णसमूह का न्यास पूर्ववत् क्रमानुसार करे। मूर्त्ति एवं शक्तिसमूह को चतुर्थ्यन्त करके एवं अन्त में नमः शब्द युक्त करके न्यास करे। केशवादि न्यास के ऋषि—प्रजापति, छन्दः—गायत्री, देवता—लक्ष्मी-नारायण, बीज—हल्वर्ण, व्यञ्जनवर्ण है। शक्ति स्वरवर्ण है। स्वयं को भगवत् कार्य्य में विनियोग करना पड़ता है। केशवादि एकपञ्चाशत् मूर्त्ति, कीर्त्यादि एकपञ्चाशत् शक्ति के सहित एक पञ्चाशत् मातृका वर्णसमूह का न्यास अनुस्वार युक्त करके पूर्वोक्त अङ्गसमूह में करे। प्रयोग विधि—'अं केशवाय कीर्त्यै नमः।' 'आं नारायणाय कान्त्यै नमः।' इत्यादि ॥९७॥

यकारादि वर्ण के सहित जो सब मूर्त्ति एवं शक्ति का न्यास करना आवश्यक होगा, उन सब मूर्त्ति एवं

तत्र ध्यानम्

उद्यत्प्रद्योतन-शतरुचिं तप्तहेमावदातं, पार्श्वद्वन्द्वे जलधिसुतया विश्वधात्र्या च जुष्टम् ।
नानारत्नोल्लसित-विविधाकल्पमापीतवस्त्रं, विष्णुं वन्दे दरकमलकौमोदकी-चक्रपाणिम् ॥९९॥

अथ श्रीमूर्त्तयः

प्रथमं केशवो नारायणः पश्चाच्च माधवः ।
गोविन्दश्च तथा विष्णुर्मधुसूदन एव च ॥१००॥
त्रिविक्रमो वामनोऽथ श्रीधरश्च ततः परम् ।
हृषीकेशः पद्मनाभस्ततो दामोदरस्तथा ॥१०१॥
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नोऽथानिरुद्धकः ।
चक्री गदी तथा शार्ङ्गी खड्गी शङ्खी हली तथा ॥१०२॥
मुषली च तथा शूली पाशी चैवाङ्कुशी तथा ।
मुकुन्दो नन्दजश्चैव तथा नन्दी नरस्तथा ॥१०३॥
नरकजिद्धरिः कृष्णः सत्यः सात्वत एव च ।
ततः शौरिस्तथा शूरस्ततः पश्चाज्जनार्द्दनः ॥१०४॥

अत्र मूर्त्तयः शक्तयश्च कथं न्यास्या इत्यपेक्षायां तत्र प्रकारं लिखन् तत्रैव कश्चिच्चान्यं विशेषं लिखति—न्यसेदिति । मूर्त्तीः शक्तीश्च चतुर्थ्यन्ता नम इत्यन्ताश्च न्यसेत् ; तत्र प्रयोगः—'अं केशवाय कीर्त्यै नमः', आं नारायणायकान्त्यै नमः' इत्यादिः । यादिभिरिति तत्र यकारादिदशवर्णैः सह या मूर्त्तीः पुरुषोत्तमाद्या दशशक्तीश्च वसुधाद्यास्ता न्यसेत् ॥ तत्र त्वङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणीति सप्तधातून् तथा प्राणं जीवञ्च क्रोधमपीत्येवं दश न्यसेदित्यर्थः । कथम्भूतान् त्वगादीन् प्राणादींश्च ? आत्मने इति अन्ते येषां तान्, बहुव्रीहौ कः । एतच्च सर्वेषामेव विशेषणमपि-शब्दात् । अत्र प्रयोगः—'यं त्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधायै नमः' इत्यादिः ॥९८॥

प्रद्योतनः सूर्य्यः, विश्वधात्र्या श्रीधरण्या ॥९९॥

शक्ति को यकारादि अर्थात् यकार से क्षकार पर्यन्त दश वर्ण एवं 'आत्मने' पद युक्त करके, सप्त धातु अर्थात् त्वक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शोणित, शुक्र, प्राण, जीव एवं क्रोध के सहित न्यास करना होगा। अर्थात् 'यं त्वगात्मने पुरुषोत्तमाय वसुधायै नमः'। 'रं मांसात्मने बलिने परायै नमः'। इत्यादि रूप प्रयोग होगा ॥९८॥

तत्र ध्यानम्

जो नवोदित शतसूर्य्य के समान दीप्तिविशिष्ट एवं उत्तप्त काञ्चन सदृश वर्णशाली हैं, जिनके एक पार्श्व में कमला, एवं अपर पार्श्व में पृथ्वी परिचर्य्या में रत हैं। जो विविध रत्न खचित दीप्तिशाली अलङ्कार समूह द्वारा विभूषित हैं, जिनका परिधेय वसन पिताम्बर है, एवं हस्तों में शंख-पद्म-गदा-चक्र (विद्यमान) विराजित हैं, उन श्रीविष्णु की वन्दना करता हूँ ॥९९॥

अथ श्रीमूर्त्तयः

श्रीमूर्त्तिसमूह—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषिकेश, पद्मनाभ, दामोदर, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, चक्री, गदी, शार्ङ्गी, खड्गी, शङ्खी,

भूधरो विश्वमूर्त्तिश्च वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः।
बलो बलानुजो बालो वृषघ्नो वृष एव च ॥१०५॥
हंसो वराहो विमलो नृसिंहश्चेति मूर्त्तयः ॥१०६॥

अथ शक्तयः

कीर्त्तिः कान्तिस्तुष्टिपुष्टी धृतिः शान्तिः क्रिया दया।
मेधा हर्षा तथा श्रद्धा लज्जा लक्ष्मीः सरस्वती ॥१०७॥
प्रीती रतिर्जया दुर्गा प्रभा सत्या च चण्डिका।
वाणी विलासिनी चैव विजया विरजा तथा ॥१०८॥
विश्वा च विनदा चैव सुनन्दा च स्मृतिस्तथा।
ऋद्धिः समृद्धिः शुद्धिश्च बुद्धिर्मूर्त्तिर्नतिः क्षमा ॥१०९॥
रमोमा क्लेदिनी क्लिन्ना वसुदा वसुधा परा।
परायणा च सूक्ष्मा च सन्ध्या प्रज्ञा प्रभा निशा ॥११०॥
अमोघा विद्युतेत्येकपञ्चाशत् शक्तयो मताः।
ददात्ययं केशवादिन्यासोऽत्राखिलसम्पदम् ॥१११॥
अमुत्राच्युतसारूप्यं नयति न्यासमात्रतः ॥११२॥

तदुक्तम्—

ध्यात्वैवं परमपुमांसमक्षरैर्यो, विन्यसेद्दिनमनु केशवादियुक्तैः।
मेधायुःस्मृति-धृति-कीर्त्ति-कान्ति-लक्ष्मी,-सौभाग्यैश्चिरमुपबृंहितो भवेत् सः ॥११३॥

अत्र अस्मिन् लोके, अमुत्र परलोके श्रीकृष्णसारूप्यं प्रापयति ॥१११-११२॥
एवमुद्यत्प्रद्योतन-शतरुचिमित्यादिप्रकारेण, परमपुमांसं श्रीभगवन्तं, दिनमनु अनुदिनम् ॥११३॥

हली, मूषली, शूली, पाशी, अङ्कुशी, मुकुन्द, नन्दनन्दन, नन्दी, नर, नरकजित्, हरि, कृष्ण, सत्य, सात्वत, शौरि, शूर, जनार्दन, भूधर, विश्वमूर्त्ति, वैकुण्ठ, पुरुषोत्तम, बली, बलानुज, बाल, वृषघ्न, वृष, हंस, वराह, विमल एवं नृसिंह यह एकपञ्चाशत् श्रीमूर्त्ति हैं ॥१००-१०६॥

अथ शक्तयः

शक्तिसमूह—कीर्त्ति, कान्ति, तुष्टि, पुष्टि, धृति, शान्ति, क्रिया, दया, मेधा, हर्षा, श्रद्धा लज्जा, लक्ष्मी, सरस्वती, प्रीति, रति, जया, दुर्गा, प्रभा, सत्या, चण्डिका, काली, विलासिनी, विजया, विरजा, विश्वा, विनदा, सुनन्दा, स्मृति, ऋद्धि, समृद्धि, शुद्धि, बुद्धि, मुक्ति, नति, क्षमा, रमा उमा, क्लेदिनी, क्लिन्ना, वसुधा, परा, परायणा, सूक्ष्मा, सन्ध्या, प्रज्ञा, प्रभा, निशा, अमोघा एवं विद्युता यह एकपञ्चाशत्, शक्ति हैं। केवल एकबार मात्र इस केशवादि न्यास का अनुष्ठान होने से इस जगत् में सर्व सम्पत्ति प्राप्त होती है, और परलोक में कृष्णसारूप्य लाभ होता है ॥१०७-११२॥

इस विषय में कथित है—जो व्यक्ति प्रत्यह नित्य इस प्रकार पूर्व कथित परमपुरुष का ध्यान करता हुआ केशवादि समन्वित अक्षर के सहित न्यास करता है, वह आजीवन, मेधा, आयुः, स्मृति, धैर्य्य कीर्त्ति,

पञ्चम-विलासः

अन्यत्र च— केशवादिरयं न्यासो न्यासमात्रेण देहिनः ।
अच्युतत्वं ददात्येव सत्यं सत्यं न संशयः ॥११४॥ इति ।
यश्च कुर्य्यादिमं न्यासं लक्ष्मीवीजपुरःसरम् ।
भक्तिं मुक्तिञ्च भुक्तिञ्च कृष्णञ्च लभतेऽचिरात् ॥११५॥

तथा चोक्तम्— अमुमेव रमापुरःसरं प्रभजेद्यो मनुजो विधिं बुधः ।
समुपेत्य रमां प्रथीयसीं पुनरन्ते हरितां व्रजत्यसौ ॥११६॥

अथ तत्त्वन्यासः

मकारादिककारान्तवर्णैर्युक्तं सविन्दुकैः ।
नमः परायेति पूर्वमात्मने नम इत्यनु ॥११७॥
नाम जीवादितत्त्वानां न्यसेत्तत्तत्पदे क्रमात् ।
न्यासेनानेन लोको हि भवेत् पूजाधिकारवान् ॥११८॥

इमं केशवादिन्यासं लक्ष्मीवीजं श्रीशब्दस्तत्पूर्वकं यः कुर्य्यात्, सोऽचिरात् भक्त्यादिकं लभते ॥११५॥

हरितां श्रीकृष्णत्वमिति तत्सारूप्यप्राप्तेः ॥११६॥

जीवादितत्त्वानां नाम जीवेत्यादिकं तत्तत्पदे तस्मिन् तस्मिन् लेख्यस्थाने क्रमात् लिखन् क्रमेण न्यसेत् । आदि-शब्देन अग्रे लेख्यानि प्राणमहदहंकारादीनि तत्त्वानि ; कथमित्यपेक्षायां तदेव विशिनष्टि—सविन्दुकैः अनुस्वारसहितैस्तैर्मकारादिभिः ककारान्तैर्वर्णैर्युक्तम् । मकारादीनां ककारान्तता चात्र प्रातिलोम्येन ज्ञेया। किञ्च, नमः परायेति वाक्यं पूर्वं यस्मिन् तत् तथा 'आत्मने नमः' इति अनु पश्चात् यस्मिन् तत्; यद्वा, नमः परायेति नाम्नः पूर्वं न्यसेत्, 'आत्मने नमः' इति च अनु पश्चात् न्यसेत् ; हि यतः अनेन तत्त्वन्यासाख्येन न्यासेन पूजायामधिकारी जनो भवति । तथा च क्रमदीपिकायाम्— 'इति कृतेऽधिकृतो भवति ध्रुवं सकलवैष्णवमन्त्रजपादिषु' इति; तत्र प्रयोगः—'मं नमः पराय जीवात्मने नमः, भं नमः, पराय प्राणात्मने नमः' इत्यादिः । केचिच्च—'जीवतत्त्वात्मने नमः, प्राणतत्त्वात्मने नमः' इत्यादिना तत्त्वशब्दमपि प्रयुञ्जते ॥११७-११८॥

कान्ति, लक्ष्मी, सौभाग्य लाभ करता है ॥११३॥

अन्यत्र भी वर्णित है—इस न्यास का अनुष्ठान होते ही श्रीहरि अनुष्ठानकारी को सारूप्य प्रदान करते हैं, यह सत्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥११४॥

जो जन लक्ष्मी वीज का उच्चारण करके यह केशवादि न्यास करता है, वह तत्काल भुक्ति मुक्ति भक्ति भोग एवं कृष्ण को प्राप्त करता है ॥११५॥

इस विषय में उक्त है—जो विज्ञ व्यक्ति लक्ष्मी वीज उच्चारण कर इस विधि का अनुष्ठान करते हैं, वे इस लोक में प्रसिद्ध श्रीलाभ करके परिणाम में हरि सारूप्य लाभ करते हैं ॥११६॥

अथ तत्त्वन्यासः

प्रथमतः 'नमः पराय' तत्पश्चात् 'आत्मने नमः' कहकर अनुस्वार संयुक्त मकारादि ककारान्त वर्णसमूह के सहित, वाद में वक्ष्यमाण विशेष स्थानसमूह में जीवादि तत्त्वन्यास करे। इस न्यास का आचरण करने से ही पूजा में अधिकारी हो सकता है। प्रयोग—मं नमः पराय जीवात्मने नमः, भं नमः पराय प्राणात्मने नमः' इत्यादि। कतिपय सुधीजन—'जीव तत्त्वात्मने नमः' प्राणतत्त्वात्मने नमः' प्रभृति प्रयोग करते हैं ॥११७-११८॥

तत्रादौ सकले न्यसेज्जीवप्राणौ कलेवरे।
हृदये मत्यहंकार-मनांसीति त्रयन्ततः ॥११९॥
शब्दं स्पर्शं ततो रूपं रसं गन्धश्च मस्तके।
मुखे हृदि च गुह्ये च पादयोश्च यथाक्रमम् ॥१२०॥
श्रोत्रं त्वचं दृशं जिह्वां घ्राणं स्वस्व-पदे ततः।
वाक्पाणि-पायूपस्थानि स्वस्व-पदे तथा ॥१२१॥
आकाशवायुतेजांसि जलं पृथ्वीञ्च मूर्द्धनि।
वदने हृदये लिङ्गे पादयोश्च यथाक्रमम् ॥१२२॥
हृदि हृत्पुण्डरीकञ्च द्विषट्द्वयष्टदशादिकम्।
कलाव्याप्तेति पूर्वञ्च सूर्य्यचन्द्राग्निमण्डलम्।
वर्णैः सह सरेफैश्च क्रमान्न्यसेत् सविन्दुकैः ॥१२३॥

तानि तत्त्वान्येव लिखन् तत्त्वन्यासस्थानं विविच्य लिखति—तत्रादाविति। तस्मिन् तत्त्वन्यासे सकले कलेवरे सर्वशरीरे जीवं प्राणञ्चेति तत्त्वद्वयं न्यसेत्, ततो हृदये मत्यादितत्त्वत्रयं न्यसेत्; तत्र प्रयोगः—'वं पराय मत्यात्मने नमः' इत्यादिः। एवमग्रे प्रयोगः सर्वत्रोह्यः ॥११९॥

न्यसेदित्यनुवर्त्तत एव, ततः शब्दादिपञ्चकं मस्तकादिपञ्चके यथाक्रमं लिखितक्रमेण न्यसेत् ॥१२०॥

ततः श्रोत्रादिपञ्चकं यथाक्रममेव स्वस्वपदे निजनिजस्थाने श्रोत्रादिपञ्चक एव तत्रैव रागादिपञ्चकञ्च न्यसेत्। तत्र च यस्य द्वित्वं तस्य तयोर्द्वयोरेव न्यासः, एवञ्च श्रोत्रयोर्दृशोः पाण्योः पादयोश्च तत्त्वस्यैकस्यैव न्यासो ज्ञेयः, पश्चादग्रे च पादयोरिति लिखनात् ॥१२१॥

आकाशादिपञ्चकञ्च मूर्द्धादिपञ्चके न्यसेत्, एवं मकारादि-ककारान्तानां पञ्चविंशतिवर्णानां न्यासः समाप्तः ॥१२२॥

अधुनावशिष्टानां व्यञ्जनवर्णानां दशानां न्यासं लिखति—हृदीति सार्धचतुर्भिः। हृत्पुण्डरीकमित्येकं तथा सूर्य्यमण्डलं चन्द्रमण्डलमग्निमण्डलं चेति त्रयम्; एतच्चतुष्टयं विन्दुसहितैः शकारादिचतुर्वर्णैः सह क्रमेण हृद्येव न्यसेत्। कथम्भूतं सूर्य्यादिमण्डलम्? कलाव्याप्तेति-शब्दः पूर्वमाद्यं यस्मिन् तत्; पुनः कथम्भूतम्? द्विषट्द्वादशद्वयष्टषोड़श-क्रमेण द्विषट् इत्यादि आदौ यस्य तत्; तथा च क्रमदीपिकायाम्—विम्वानि

प्रथम सर्व शरीर में जीवतत्त्व एवं प्राणतत्त्व का न्यास करके हृदय प्रदेश में मति, अहङ्कार, मन इन तीन तत्त्वों का न्यास करे ॥११९॥

अनन्तर शिरोभाग, वदन, हृदय, गुह्य, पदद्वय में यथाक्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तत्त्व का न्यास करे। पश्चात् कर्ण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, घ्राणतत्त्व का न्यास अपने अपने स्थान में करना चाहिये, एवं वाक्, पाणि, पाद, पायु, एवं उपस्थ में भी उनके निज निज स्थान में न्यास करे ॥१२०-१२१॥

अनन्तर मस्तक, मुख, हृदय, लिङ्ग एवं पदद्वय में क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वीतत्त्व का न्यास करे ॥१२२॥

तत् पश्चात् हृदय प्रदेश में हृत्पुण्डरीक, द्वादशकला व्याप्त आदित्यमण्डल, षोड़शकला व्याप्त सोममण्डल, एवं दशकला व्याप्त अग्निमण्डल, का न्यास बिन्दु समन्वित 'रकार' एवं अन्यान्य वर्ण के सहित करे।

वासुदेवं षकारेण परमेष्ठियुतञ्च के।
यकारेण मुखे सङ्कर्षणं न्यसेत पुमन्वितम् ॥१२४॥

हृदि न्यसेल्लकारेण प्रद्युम्नं विश्वसंयुतम्। अनिरुद्धं निवृत्त्याढ्यं वकारेण च गुह्यके।
नारायणञ्च सर्वाढ्यं लकारेणैव पादयोः ॥१२५॥

नृसिंहं कोपसंयुक्तं तद्वीजेनाखिलात्मनि। तत्त्वन्यासोऽयमचिरात् कृष्णसान्निध्यकारकः ॥१२६॥

द्विषड्द्व्यष्टयुगशकलाव्याप्तानि सूर्य्येन्दु राड्वह्लीनाञ्च, यतस्तु भूतवसुमुन्यक्षयक्षरैर्मन्त्रवदिति। अस्यार्थः—सूर्य्यचन्द्रवह्लीनां मण्डलानि क्रमेण द्वादशषोड़शदशकलाव्याप्तानि च तत्तत्कलाव्याप्तेत्येतान्यपि; यतः यकारात् यो भूताक्षरं पञ्चमवर्णः शकारः, वस्वक्षरमष्टमो वर्णः हकारः, मुन्यक्षरं सप्तमवर्णः सकारः, अक्ष्यक्षरं द्वितीयवर्णो रेफः, एतैः सहेति; तत्र प्रयोगः—'शं नमः पराय हृत्पुण्डरीकात्मने नमः; हं नमः पराय द्वादशकलाव्याप्तसूर्य्यमण्डलात्मने नमः; सं नमः पराय षोड़शकलाव्याप्तचन्द्रमण्डलात्मने नमः; रं नमः पराय दशकलाव्याप्तवह्निमण्डलात्मने नमः' इति ॥१२३॥

अधुनावशिष्टषड्वर्णैः सह पञ्चोपनिषदादिन्यासं लिखति—वासुदेवमिति त्रिभिः। मूर्द्धन्यषकारेण सह परमेष्ठियुतं परमेष्ठीति सहितं वासुदेवं के मस्तके न्यसेत्; अत्र प्रयोगः—'षं नमः पराय वासुदेवाय परमेष्ठ्यात्मने नमः, इति। पुमन्वितं पुंसा सहितम्; तत्र प्रयोगः—'यं नमः पराय सङ्कर्षणाय पुमात्मने नमः' इति ॥१२४॥

लकारेण सह प्रद्युम्नं न्यसेदित्यत्र केचिद्रेफेण सह न्यासं मन्यन्ते, तदयुक्तमेव; यतः पूर्वं वह्निमण्डले सह रेफस्य न्यासो वृत्तः, अत्रापि पुनस्तस्यैव न्यासात्तस्य द्वित्वं प्रसज्येत, तच्च न सम्भवेदेव, वर्णसमाम्नाये-त्वस्यैकत्वात्। अतोऽत्र लकारस्यैव न्यासो युक्तः। अग्रे नारायणेन सह तस्य पुनर्न्यासश्चैकपञ्चाशन्मातृका-वर्णेषु तस्य द्वित्वाद्युक्त एवेति। अतएव क्रमदीपिकायाम्—षोपरवलार्णकैः सलवकैरिति। अस्यार्थः—षेति षकार उपरेति रेफस्य उपसमीपे तिष्ठतीति यकारो लकारश्च तथा वकारो लकारश्च द्वितीयः; एवं पञ्चभिर्वर्णैः सलवकैः सानुस्वारैरिति। षोयवालवर्णैरिति पाठस्तु चिन्त्यः, आर्य्याभेदः स्कन्धकच्छन्दसि चतुष्कलभङ्गदोषापत्तेः; तथा तत्त्वन्यासेऽस्मिन् प्रथमतः प्रस्तुतानां पञ्चत्रिंशद्व्यञ्जनवर्णानां मध्ये यो-इत्यस्य वा-इत्यस्य च कुत्राप्यश्रवणात्। अन्ते न्यस्यस्य क्षकारस्य च रेफौकारसंयोगः नृसिंह-वीजत्वेन तस्य ताद्दशत्वादेव; अतः पूर्वं पञ्चवर्ग्याणां वर्णानां न्यासः, ततः परमन्तःस्थादीनां मध्ये, सकारादिचतुर्णामग्रे न्यासः, ततः परमन्तःस्थादीनां मध्ये शकारादिचतुर्णामग्रे नृसिंहवीजमयस्य क्षकारस्यास्त्येव। अत्र च पञ्चोपनिषत्सु अवशिष्टानां षकारादीनां पञ्चानामेव युक्त इति दिक्। अत्र प्रयोगः—'लं नमः पराय प्रद्युम्नाय विश्वात्मने नमः' इति ॥१२५॥

प्रयोग यथा—शं नमः पराय पुण्डरीकात्मने नमः, हं नमः पराय द्वादशकलाव्याप्त सूर्य्यमण्डलात्मने नमः। सं नमः पराय षोड़शकलाव्याप्त चन्द्रमण्डलात्मने नमः। रं नमः पराय दशकल व्याप्तवह्निमण्डलात्मने नमः ॥१२३॥

परमेष्ठि समन्वित वासुदेव का न्यास यकार के सहित शिरोभाग में करे। यकार के सहित वदन में पुं शब्द के सहित सङ्कर्षण का न्यास करे। १२४॥

हृदय में लकार के सहित विश्वशब्द समन्वित प्रद्युम्न का गुह्य में वकार के सहित, निवृत्त शब्द के सहित अनिरुद्ध का एवं पदद्वय में लकार के सहित सर्वाङ्ग युक्त श्रीनारायण का न्यास करे ॥१२५॥

सर्वाङ्ग में वीज के सहित कोपशब्द युक्त श्रीनृसिंह का न्यास करे। ऊपरोक्त तत्त्व सत्वर श्रीकृष्ण को

तथा चोक्तम् —

अतत्त्वव्याप्यरूपस्य तत्प्राप्तेर्हेतुना पुनः। तत्त्वन्यासमिति प्राहुर्न्यासतत्त्वविदो बुधाः ॥१२७॥
यः कुर्य्यात्तत्त्वविन्यासं स पूतो भवति ध्रुवम्। तदात्मनानुप्रविश्य भगवानिह तिष्ठति।
यतः स एव तत्त्वानि सर्वं तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥१२८॥

अथ पुनः प्राणायामविशेषः

प्राणायामांस्ततः कुर्य्यान्मूलमन्त्रं जपन् क्रमात्।
वारौ द्वौ चतुरः षट् च रेचपूरककुम्भके ॥१२९॥
अथवा रेचकादींस्तान् कुर्य्याद्वारांस्तु षोड़श।
द्वात्रिंशच्च चतुःषष्टिं कामवीजं जपन् क्रमात् ॥१३०॥

न्यसेदित्यनुवर्त्तत एव, तस्य नृसिंहस्य वीजेन सह अखिलात्मनि सर्वगात्रेषु ; अत्र प्रयोगः—'क्ष्रौँ नमः पराय नृसिंहाय कोपात्मने नमः' इति। एवं तत्त्वन्यासफलं लिखति—तत्त्वेति। कृष्ण-सान्निध्यकारकः—कृष्णं सन्निधौ कारयति प्रापयतीत्यर्थः ॥१२६॥

अतत्त्वञ्च तत्, अतएव व्याप्यरूपञ्च तस्य पुनः तत्प्राप्तेस्तत्त्वावाप्तेर्हेतोः ॥१२७॥

तदात्मना न्यासकर्त्तृरूपेण वा इह शरीरे लोके वा ॥१२८॥

ततस्तत्त्वन्यासानन्तरम् ; क्रमादपि रेचके द्वौ वारौ, पूरके चतुरो वारान्, कुम्भके षट् वारान् अष्टादशाक्षरमन्त्रं जपन्नित्यर्थः। रेचकपूरककुम्भक इति द्वन्द्वैक्यम् ॥१२९॥

तत्राशक्तौ प्रकारान्तरं लिखति—अथवेति। कामवीजं क्रमात् रेचकपूरककुम्भकेषु पूर्ववत् क्रमेण षोड़शद्वात्रिंशच्चतुःषष्टिवारान् जपन् तान् रेचकपूरककुम्भकांस्त्रीन् कुर्य्यात् ॥१३०॥

अभिमुखी करता है। उक्त न्याससमूह का प्रयोग इस प्रकार है—'षं नमः पराय वासुदेवाय परमेष्ठ्यात्मने नमः' 'यं नमः पराय सङ्कर्षणाय पुमात्मने नमः' 'लं नमः पराय प्रद्युम्नाय विश्वात्मने नमः' 'वं नमः अनिरुद्धाय निवृत्तात्मने परः' 'लं नमः पराय नारायणाय सर्वात्मने नमः' क्ष्रौँ नम पराय नृसिंहाय कोपात्मने नमः ॥१२६॥

उक्त विषय में वर्णित है—जो तत्त्वज्ञ व्यक्ति न्यास क्रिया का तत्त्व अवगत हैं, वे सब इस न्यास को तत्त्वन्यास कहते हैं। कारण—जो वस्तु नहीं है, केवल अनुमेय है, उसको वस्तुत्व प्रदान वह करता है। अर्थात् जिसका स्वरूप अनुमान से जाना जाता है, उसको वस्तुतः प्राप्त कराता है ॥१२७॥

तत्त्वन्यासकारी व्यक्ति निःसन्देह पवित्र होता है। भगवान् उस व्यक्ति के शरीर में न्यास रूप में प्रविष्ट होकर विराजित होते हैं। कारण, भगवान् ही सम्पूर्ण सर्वतत्त्व हैं, एवं समस्त पदार्थ उनमें विद्यमान हैं ॥१२८॥

अथ पुनः प्राणायामविशेषः

प्राणायामविशेष का वर्णन—अनन्तर अष्टादशाक्षर मन्त्र का जप दो, चार और छै बार करके क्रमशः रेचक, पूरक एवं कुम्भक रूप प्राणायाम करे ॥१२९॥

अथवा असमर्थ होने पर यथाक्रम से षोड़श, द्वात्रिंशत्, चतुःषष्टिसंख्यक कामवीज का जप करके रेचकादि करे ॥१३०॥

पञ्चम-विलासः

तथा च क्रमदीपिकायाम्—

रेचयेन्मारुतं दक्षया दक्षिणः, पूरयेद्वामया च मध्यनाड्या पुनः।
धारयेदीरितं रेचकादित्रयं, स्यात् कलादन्तविद्याख्यमात्रात्मकम् ॥१३१॥

तत्र कालः संख्यादिकञ्च

तत्रैव—

पुरतो जपस्य परतो,-ऽपि विहितमथ तत्त्रयं बुधैः।
षोड़श य इहाचरेद्दिनशः, परिपूयते स खलु मासतोऽंहसः ॥१३२॥

अथ पीठन्यासः

ततो निजतनूमेव पूजापीठं प्रकल्पयन्।
पीठस्याधारशक्त्यादीन् न्यसेत् स्वाङ्गेषु तारवत् ॥१३३॥
आधारशक्तिं प्रकृतिं कूर्मानन्तौ च तत्र तु।
पृथिवीं क्षीरसिन्धुञ्च श्वेतद्वीपञ्च भास्वरम् ॥१३४॥

तदेव क्रमदीपिकोक्त्या संवादयन् तत्रैव किञ्चिद्विशेषञ्च दर्शयति—रेचयेदिति। दक्षया दक्षिणनाड्या, दक्षिणः विद्वान् जनः, मध्यनाड्या सुषुम्नया धारयेत्; एवं रेचकपूरककुम्भकाख्यं त्रयं स्यात्। रेचकादिषु त्रिषु क्रमेणावधिकालमाह—कलाः षोड़श, दन्ता द्वात्रिंशत्, विद्याश्चतुःषष्टिस्तत्तत्संख्यकमात्रात्मकमित्यर्थः। मात्रा च—वामाङ्गुष्ठेन वामकनिष्ठाद्यङ्गुलीनां प्रत्येकं पर्वत्रयसम्पर्ककालः, वामहस्तेन वामजानुमण्डलस्य प्रादक्षिण्येन स्पर्शकालो वा। तत्राप्यङ्गुलिनियमोऽप्युक्तः—'कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम्। प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमे विना॥' इति। तत्र तेपु प्राणायामेषु पूर्वं रेचकादिषु संख्योक्ता, अत्र च प्राणायामेष्विति भेदः ॥१३१॥

जपस्य पुरत आदौ परतः अन्ते च इति प्राणायामेषु कालः, तत्त्रयं प्राणायामत्रयमिति संख्या, यो जनो दिनशः प्रत्यहं षोड़श प्राणायामानाचरेत्, स मासतः मासेनैकेन अंहसः पापात् परिपूयते शुद्धो भवतीति सामान्यतः फलम्। परश्च सर्वं पूर्वं लिखितमेव ॥१३२॥

तारः प्रणवः, तद्वत् तत्सहितं यथा स्यात् ॥१३३॥

तदेव विविच्य लिखति—आधारेत्यादिना क्रमादित्यन्तेन। तत्र तस्मिंस्तु पीठन्यासे आधारशक्त्यादि-कल्पवृक्षपर्यन्तान् नव हृदि न्यसेत्; भास्वरं प्रकाशस्वभावं श्रीमन्तं रत्नमण्डपम्; तथा च क्रमदीपिकायाम्—

केशवाचार्यकृत क्रमदीपिका में वर्णित है,—सुधीजन दक्षिण नाड़ी से वायु रेचन करे, वाम नाड़ी के द्वारा पूरण करे, एवं मध्य नाड़ी के द्वारा (सुषुम्ना द्वारा) वायु का अवरोध रूप कुम्भक करे। यह तीन क्रिया ही रेचक, पूरक, कुम्भक नाम से अभिहित है। इसका परिमाण कालक्रम से षोड़श, द्वात्रिंशत् एवं चतुःषष्टि मात्रा है ॥१३१॥

उक्त विषय में काल एवं संख्यादि का वर्णन इसप्रकार है,—क्रमदीपिका ग्रन्थ में वर्णित है,—विचक्षण मनीषिगण जप के पहले एवं जप के अन्त में इस प्राणायाम का विधान करते हैं। प्रत्येक समय में तीन-तीन वार की विधि है। जो व्यक्ति इस लोक में प्रत्यह षोड़श प्राणायाम करता है, एक मास के मध्य में वह व्यक्ति पापों से मुक्त हो जाता है ॥१३२॥

पीठन्यास

तत्पश्चात् निज देह को ही पूजापीठ रूप में भावना करके पीठ के आधारशक्त्यादि का न्यास प्रणव के सहित निजाङ्ग में करना चाहिए ॥१३३॥

श्रीरत्नमण्डपञ्चैव कल्पवृक्षन्तथा हृदि ।
न्यसेत् प्रदक्षिणत्वेन धर्म्मज्ञाने ततोऽंसयोः ॥१३५॥
ऊर्व्वोर्वैराग्यमैश्वर्य्यं तथैवाधर्म्ममानने ।
त्रिकेऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्य्यञ्च पार्श्वयोः ॥१३६॥
हृदब्जेऽनन्तपद्मञ्च सूर्य्येन्दुशिखिनान्तथा ।
मण्डलानि क्रमाद्वर्णैः प्रणवांशैः सबिन्दुकैः १३७॥
सत्त्वं रजस्तमश्चात्मान्तरात्मानौ च तत्र हि ।
परमात्मानमप्यात्माद्याद्यवर्णैः सबिन्दुकैः ॥१३८॥
ज्ञानात्मानञ्च भुवनेश्वरी-बीजेन संयुतम् ।
तस्याष्टदिक्षु मध्येऽपि नवशक्तीश्च दिक्क्रमात् ॥१३९॥

—'न्यसेदाधारशक्तिप्रकृतिकमठशेषक्ष्माक्षीरसिन्धून् श्वेतद्वीपञ्च रत्नोज्ज्वलसहितमहामण्डपं कल्पवृक्षम् ॥' इति । अत्र प्रयोगः—'ॐ आधारशक्तये नमः' इत्यादिः । 'प्रणवादिचतुर्थ्यन्तं देवनाम नमोऽन्तकम्' इति प्राग्लिखनात्, ततस्तदनन्तरं धर्मं ज्ञानञ्चेति द्वयं प्रदक्षिणत्वेन प्रादक्षिण्यक्रमेण स्कन्धद्वये न्यसेत् ॥१३४-१३५॥

न्यसेदित्यग्रेऽप्यनुवर्त्तत एव । तथैव प्रदक्षिणत्वेन वैराग्यमैश्वर्य्यञ्चेति द्वयमुरुद्वये न्यसेत् । अधर्मं मुखे त्रिके कट्यामज्ञानम्, अवैराग्यमनैश्वर्यञ्चेति द्वयं तथैव पार्श्व द्वये न्यसेत् । तथा च क्रमदीपिकायाम्—'अंसद्वयोरुद्वयवदनकटीपार्श्व युग्मेषु भूयः' इति । 'तथा धर्माद्यधर्मादि च पादगात्रचतुष्टयम्' इति। अस्यार्थः–पादगात्रयोश्चतुष्टयमिति पादचतुष्टयं गात्रचतुष्टयञ्चेति, अंसद्वयादिषु क्रमेण धर्मादिरूपं पादचतुष्टयम्, आदि-शब्देन ज्ञानवैराग्यैश्वर्य्याणि, तथा अधर्मादिरूपञ्च गात्रे चतुष्टयं न्यसेत् । आदि शब्देनाज्ञाना-वैराग्यानैश्वर्य्यं, तत्र च प्रदक्षिणक्रमेणेति बोद्धव्यम् । 'अंसोरुयुग्मयोर्विद्वान् प्रादक्षिण्येन देशिकः । धर्मं ज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्य्यञ्च न्यसेत् क्रमात् ॥' इति, शारदातिलकोक्तेरिति ॥१३६॥

बिन्दुसहितैः प्रणवांशैः अकारोकारमकारैः सह क्रमेण सूर्य्येन्दुवह्नीनां मण्डलानि च हृदब्जे एव न्यसेत्; प्रयोगः—'ॐ अं सूर्य्यमण्डलाय नमः' इत्यादिः । सत्त्वादिपञ्चकञ्च बिन्दुसहितैः आत्माद्यैः स्वस्वप्रथमैः वर्णैः सह तत्र हृदब्ज एव न्यसेत्; प्रयोगः—'ॐ सं सत्त्वाय नमः' इत्यादिः ॥१३७-१३८॥

हृदय में आधार शक्ति, प्रकृति, कूर्म, अनन्त, पृथिवी, क्षीर समुद्र, प्रकाशस्वभाव श्वेतद्वीप, श्रीमान् रत्नमण्डप, एवं कल्पतरु का न्यास करे । बाद में प्रदक्षिणभाव से स्कन्धद्वय में धर्म एवं ज्ञान का न्यास करे ॥१३४-१३५॥

इसी प्रकार ऊरुद्वय में ज्ञान एवं वैराग्य का, वदन में अधर्म का, कटिदेश में अज्ञान का, पार्श्वद्वय में अवैराग्य एवं अनैश्वर्य का एवं हृत्पिण्ड में अनन्त एवं पद्म का न्यास करे, तत्पश्चात् सूर्य्य मण्डल, चन्द्र-मण्डल एवं वह्नि मण्डल को सानुस्वार प्रणव के अंशत्रय के सहित क्रमानुसार से हृदय में न्यास करे । अर्थात् ॐ अं सूर्य्यमण्डलाय नमः, ॐ उं सोममण्डलाय नमः, ॐ मं नमः वह्निमण्डलाय नमः, इस प्रकार न्यास करे। सत्त्व, रजः, तमः, अन्तरात्मा एवं परमात्मा, इनमें प्रत्येक का आद्यवर्ण अनुस्वार युक्त करके उक्त हृदय में ही न्यास करे । अर्थात् ॐ सं, सत्त्वाय नमः, ॐ रं रजसे नमः, इत्यादि प्रकार से न्यास करना चाहिए। ॥१३६-१३८॥

तन्त्रोक्ताः—

विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगेति शक्तयः।
प्रह्वी सत्या तथेशानानुग्रहा नवमी स्मृता ॥१४०॥इति
न्यसेत्तदुपरिष्टाच्च पीठमन्त्रं यथोदितम्।
ऋष्यादिकं स्मरेदस्याष्टादशार्णमनोस्ततः ॥१४१॥
ज्ञेयाश्चैकान्तिभिः क्षीरसमुद्रादिचतुष्टयम्।
क्रमाच्छ्रीमथुरावृन्दावनन्तत्कुञ्जनीपकाः ॥१४२॥

भुवनेश्वरीवीजं ह्रीं तत्सहितं ज्ञानात्मानञ्च हृदब्ज एव न्यसेत्, चकाररयोत्तसमुच्चयार्थत्वात्; तस्य हृदब्जस्य अष्टसु दिक्षु अष्टदलेषु केशरमध्ये दिक्क्रमात् पूर्व्वादिक्रमेण विमलाद्याः शक्तीरष्ट न्यसेत्, तन्मध्ये कर्णिकारायामनुग्रहां नवमीं शक्तिं न्यसेदित्यर्थः, यथोदितं क्रमदीपिकादिशास्त्रोक्तानुसारेणेत्यग्रे लिखनात् ॥ १३९-१४१॥

ननु आधारशक्त्यादिपञ्चकं श्रीमथुराया अप्याश्रयभूतमिति तत्तन्न्यास एकान्तिनां मतेनापि न विरुद्धः स्यात्; किन्तु आर्य्यावर्त्तान्तर्वर्त्तिनां श्रीगोपालदेवस्य निरन्तरप्रेमविहाररसमयी श्रीमथुरावृन्दावनादि-व्रज-भूमि विहाय कथं तैः क्षीरसिन्ध्वादिन्यासः कार्य्यः? तत्र लिखति– ज्ञेयाश्चेति। क्रमादिति—क्षीरसिन्धुः श्रीमथुरेति, श्वेतद्वीपः श्रीवृन्दावनमिति, रत्नमण्डपस्तस्य श्रीवृन्दावनस्य श्रीकुञ्जलतामण्डप इति, कल्पवृक्षश्च श्रीवृन्दावनवर्त्तिश्रीनीपवृक्ष इति ज्ञेय इत्यर्थः। गोसमृद्धं श्रिया जुष्टमाभीरप्रायमानुपमित्यादि श्रीहरिवंशा-द्युक्त्या श्रीमथुराया गोप्रधानदेशतया क्षीरमयत्वात् क्षीरसमुद्रत्वं, श्रीवृन्दावनस्य च तत्रत्य-व्रजभूमिप्रधान-स्थानस्य विशेषतः क्षीरस्रावकृतधावल्यादिना श्वेतद्वीपत्वादित्यग्रे ब्रह्मसंहितावचनतोऽभिव्यक्तं भावि। रत्नमण्डपकल्पद्रुमौ च 'भूमिश्चिन्तामणिगणमयी' इति ब्रह्मसंहितास्तोत्रोक्तेः (५।५६); ततः प्रभृति नन्दस्य व्रजः सर्व्वसमृद्धिमान् 'हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीड़मभून्नृप' इत्यादि श्रीदशमस्कन्धाद्युक्तेश्च (५।१८) श्रीवृन्दा-वनान्तर्घटत एव। तेन यद्यपि तयोरेकान्तिमतेनापि न विरोधः स्यात्, तथापि सदा वनवन्यजनप्रियाय भगवते श्रीगोपालदेवाय श्रीवृन्दावननिकुञ्जकदम्वादि-वनिकाविहार एव नितरां रोचते। अतः श्रीभागवतादिषु तादृश एव श्रूयते; अत एकान्तिभ्योऽपि स एव प्ररोचत इत्येवं रत्नमण्डप-कल्पद्रुमौ श्रीवृन्दावननिकुञ्जनीपौ ज्ञेया-विति लिखितम्। किञ्च—तत्रत्य-लतादिपुष्पाणां विचित्रवर्णगुणत्वेन रत्नसादृश्यात् पुष्पमयं कुञ्जं रत्न-मण्डप एव, तथा तत्रत्यकदम्बादिपादपाश्च सर्व्वाभीष्टपूरणात् कल्पद्रुमा एव। तथा च दशमस्कन्धे (२२।३३)

अनन्तर भुवनेश्वरी वीज (ह्रीं) सहित ज्ञानात्म का एवं नवशक्ति का न्यास, उक्त हृदयकमल के अष्ट पत्र में एवं मध्य स्थान में पूर्व दिक् के अनुसार करना चाहिये। नवशक्ति विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना, एवं अनुग्रहा। इनके ऊपर यथा कथित पीठमन्त्रन्यास करे, पश्चात् इस अष्टादशाण मंत्र के ऋष्यादि का स्मरण करे ॥१३९-१४१॥

जो जन एकान्त भाव से श्रीकृष्णार्चन करते हैं, वे सब जानते हैं कि क्षीरसमुद्रादि चार, क्रमानुसार श्रीमथुरा, वृन्दावन, श्रीवृन्दावनस्थित कुञ्ज एवं कदम्ब स्वरूप हैं। पूछा जा सकता है कि आधार शक्ति प्रकृति, कूर्म, अनन्त एवं पृथ्वी, यह पाँचों शक्ति, मथुरा का भी आश्रय हैं, सुतरां श्रीकृष्ण के एकान्त भक्तगण पीठ में इन पाँचों शक्ति का न्यास कर सकते हैं, किन्तु आर्य्यावर्त्तान्तर्वर्तिनी गोपाल प्रेम बिहार रसमयी मथुरादि व्रजभूमि को छोड़कर वह पूजापीठ में क्षीरसागरादि चतुष्टय का न्यास क्यों करेंगे! तदुत्तर में कहा जाता है कि—क्षीरसमुद्र दुग्धपूर्ण संख्यातीत धेनु का आधारस्थल होने से मथुरा,—क्षीरसागर स्वरूप

तथा च ब्रह्मसंहितायामादिपुरुषरहस्यस्तोत्रे (५।५६)—

स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभीभ्यश्च सुमहा,-
न्निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं,
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये ॥१४३॥

'अहो एषां वरं जन्म सर्व्वप्राण्युपजीविनाम्। सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः॥' इत्यादि। यद्यपि चम्पकादयोऽपि बहवो वृक्षा वृन्दावने विराजन्ते, तथा च तत्रैव श्रीगोपीनां श्रीभगवदन्वेषणे (श्रीभा १०।३०।६) —'क्वचित् कुरुवकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः' इत्यादि, तथापि—'कदम्बपादपप्रायम्' इति श्रीहरिवंशोक्तेः, विशेषतो भगवत्प्रियत्वेन; अतएव—'कदम्बपादपच्छाये स्थितं वृन्दावने क्वचित्' इति गौतमीयतन्त्रोक्तेश्चात्र नीपो लिखितः। अथ धर्म्मादीनां श्रीभगवदासनपादैकाश्रयत्वात् अधर्म्मादीनामपि भगवतो भक्तवर्गस्य वा कस्यचिद्भक्तवात्सल्येन कदाचित् धर्म्मातिक्रमणादिलक्षणानां तदेकाश्रयत्वात्, अधर्म्मादीनामपि भगवतो भक्तवर्गस्य न्यासो नैकान्तिकां मतेऽपि विरुद्धः स्यात्। हृदब्जे न्यास्योऽनन्तः श्रीबलदेवः; सूर्य्यादिमण्डल-रूपञ्च सर्व्वतः प्रसृमरमशीतानुष्णं, मनोनयनाह्लादकपरस्परमिलितसूर्य्यचन्द्रादितेज इव सहजं श्रीभगवत्तेज एव, सत्त्वादीनाञ्च निजभक्तार्थं स्वीकृतानां, तथा आत्मादीनाञ्च तदंशत्वादिना स्वत एव सेवकादिरूपाणां तदेकाश्रयतापि नैव विरुध्यते। तान्त्रिकैस्तु केवलं विचित्रतत्तत्फलाभिसन्धि-सकामतान्त्रिकभक्तेषु श्रीभगवदैश्वर्य्यविशेषप्रदर्शनेन श्रद्धातिशयोत्पादनाय क्षीरसिन्ध्वादिन्यासो विहितः, न तु साक्षात श्रीमथुरा-दीनामनिर्देशादिकं कृतम्; इत्यलमतिविस्तरेण ॥१४२॥

क्षीरसिन्धुः श्रीमथुरा, श्वेतद्वीपश्च श्रीवृन्दावनमिति श्रीब्रह्मसंहितावचनेन साधयति—'स यत्र' इति। तं श्वेतद्वीपं भजे आश्रये, यं श्वेतद्वीपं गोलोकं वैकुण्ठलोकोपरि स्थितं गवां लोकमिति विदन्तः, ते अनिर्व्वचनीयाः कतिपये अल्प एव भवन्ति, न तु बहवः; अतः क्षितिविरलचाराः परमदुर्लभा इत्यर्थः; यद्वा, परमगोप्य-प्रकाशशङ्कया प्रेमविशेषोदयापादितसर्व्वसङ्गपरित्यागेन वा लोकेषु निभृतं चरन्तीत्यर्थः। ननु शाकद्वीपे

है। वृन्दावन, मथुरा प्रदेश का सर्वश्रेष्ठ स्थल है, सर्वदा दुग्ध द्वारा अभिसिक्त होने से वह देखने में श्वेत वर्ण है, शुभ्र देह मनुष्यों की आवास भूमि, और यमुना द्वारा वेष्ठित होने से देखने में द्वीप के समान है। इसी कारण श्वेत द्वीप की भांति है, सुतरां असंख्य मणिरत्नखचित रत्नमण्डप के सहित मनोहर पुष्पराजि के सहित वृन्दावनस्थित लतामण्डप का विलक्षण सादृश्य विद्यमान है, इसी से रत्नमण्डप--लतामण्डपस्वरूप है। वृन्दावनस्थित कदम्बतरु कल्पतरु के सदृश वाञ्छित फलप्रद है, सुतरां दोनों में विलक्षण सादृश्य विद्यमान है ॥१४२॥

उक्त विषय का वर्णन ब्रह्मसंहिता के आदिपुरुष गुह्य स्तोत्र में है—क्षीराब्धि श्रीमथुरा, और श्वेतद्वीप श्रीवृन्दावन है, ब्रह्मसंहितोक्त वाक्य से यह ही प्रमाणित हुआ है, मैं उन श्वेतद्वीप का आश्रय ग्रहण करता हूँ। अवनीतल में जिनकी संख्या स्वल्प है, तादृश साधुजन जगत् में दुर्लभ हैं, अथवा गुप्त विषय प्रकट न हो जाय, तज्जन्य, किम्बा, हृदय में यावतीय विषयों का विसर्जन अवहेला से ही हुआ है, इस प्रकार कतिपय साधु व्यक्ति ही उक्त श्वेतद्वीप को इहलोक में गोलोक नाम से जानते हैं।

क्षीरसमुद्र, कामधेनुवृन्द की स्तन्यधारा से आप्लुत श्वेतद्वीप है, परार्ध संज्ञ एवं निमेषार्ध संज्ञ काल भी श्वेतद्वीपवासि जनगण को वशीभूत करने में सक्षम नहीं है, अर्थात् वहां पर काल का अधिकार नहीं है, वह नित्यधाम है ॥१४३॥

अथ पीठमन्त्रः

क्रमदीपिकायाम्—

तारो हृदयं भगवान् विष्णुः सर्व्वान्वितश्च भूतात्मा ।
ङेन्ताः सवासुदेवाः सर्वात्मयुतश्च संयोगम् ॥१४४॥
योगविधौ च पद्मं पीठात्मा ङेयुतो नतिश्चान्ते ।
पीठमहामनुरुक्तः पर्य्याप्तोऽयं सपर्य्यासु ॥१४५॥

अथ ऋष्यादिस्मरणम्

ॐ अष्टादशाक्षरमन्त्रस्य श्रीनारदऋषिर्गायत्रीच्छन्दः, सकललोकमङ्गलो नन्दतनयो देवता, क्लीं वीजं, स्वाहा शक्तिः, कृष्णः प्रकृतिर्दुर्गाधिष्ठात्री देवताऽभिमतार्थे विनियोगः ॥१४६

तथा च संमोहनतन्त्रे शिवोमासंवादे—

ऋषिर्नारद इत्युक्तो गायत्रीच्छन्द उच्यते ।
गोपवेशधरः कृष्णो देवता परिकीर्तितः ॥१४७॥
वीजं मन्मथ-संज्ञन्तु प्रिया शक्तिर्हविर्भुजः । त्वमेव परमेशानि अस्याधिष्ठातृदेवता ।
चतुर्व्वर्गफलावाप्त्यै विनियोगः प्रकीर्त्तितः ॥१४८॥

क्षीरसिन्धौ वर्त्तमानं प्रपञ्चान्तर्गतं प्रसिद्धं श्वेतद्वीपं नित्यपरमानन्दरसात्मकानन्तक्षीरसागराकीर्ण-प्रपञ्चातीत-गोलोकमिति कथं ते ज्ञातुमर्हन्ति ? परस्परविरोधेनैक्यासम्भवात् । सत्यं, सोऽपि तादृश एवेति विशेषेणद्वयेन साधयति । सः अनिर्व्वचनीय इत्यप्राकृतत्वं परमानन्दरसमयत्वादिकञ्च सूचितम्; सुरभीभ्यः कामधेनुभ्यः, प्रसरतीति वर्त्तमाननिर्देशादिना नित्यत्वञ्च दर्शितम् । किञ्च, सुमहान् वत्सरावृत्त्या परार्द्धाख्यो वा निमेषा-र्द्धाख्योऽत्यन्तसूक्ष्मो वा समयः कालोऽपि न यत्र व्रजति, यत्रत्यान्न प्राप्नोतीत्यर्थः; श्रीमथुरायाश्च तादृशत्वात् श्रीमथुरैव श्रीगोलोक इति श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे गोलोकमाहात्म्ये विस्तरेणोक्तमेवास्ति । एवं गोलोकस्य

पीठमन्त्र

श्रीकेशवाचार्यकृत क्रमदीपिका में लिखित है—प्रथम ॐ तत्पश्चात् हृदय शब्द, बाद में 'नमः' शब्द, उसके बाद में चतुर्थीविभक्तयन्त भगवान् विष्णु सर्वभूतात्मा वासुदेव शब्द, तदनन्तर चतुर्थीविभक्त्यन्त सर्वात्मसंयोग पद्म पीठात्मा पद्म पीठात्मा पद, एवं अवशेष में नमः शब्द उच्चारण करे, इसी को महत् पीठमन्त्र कहते हैं । अर्थात् ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्व भूतात्म संयोग पद्म पीठा-त्मने नमः, पीठमन्त्र है । पूजा क्रिया मात्र में ही यह विधान निरूपित है ॥१४४-१४५॥

ऋष्यादिस्मरण

श्रीनारद अष्टादशार्ण मन्त्र के ऋषि, गायत्री इसका छन्दः, सर्वजनमङ्गल नन्दनन्दन देवता, क्लीं वीज, स्वाहा शक्ति, कृष्ण प्रकृति, एवं दुर्गा उसके अधिष्ठात्री देवता, और शक्ति लाभ के निमित्त इसका विनियोग होता है ॥१४६॥

सम्मोहन तन्त्र में शिव-पार्वती संवाद में वर्णित है, शिव ने कहा है—हे परमेश्वरि ! इस मन्त्र के ऋषि नारद, इसका छन्दः, गायत्री, गोपवेशी कृष्ण देवता, कामवीज, क्लीं इसका वीज, स्वाहा शक्ति, दुर्गा अधिष्ठात्री देवता और चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) लाभार्थ इसका विनियोग होता है ॥१४७-१४८॥

अथाङ्गन्यासः

चतुश्चतुर्भिर्वर्णैश्च चत्वार्य्यङ्गानि कल्पयेत् ।
द्वाभ्यामस्त्राख्यमङ्गञ्च तस्येत्यङ्गानि पञ्च वै ॥१४६॥

श्वेतद्वीपेन सहाभेदात् क्षीरसिन्धुश्वेतद्वीपन्यासोऽपि न विरुद्ध इति भावः ; यद्वा, गवां लोको निवासस्थानं गोकुलमिति प्रसिद्धा श्रीवृन्दावनादि-श्रीनन्दव्रजभूमिः । यं गोलोकं श्वेतद्वीपमिति विदन्तः, तं गोलोकं भजे इत्यन्वयः । एवं श्रीगोलोकस्य माहात्म्य-विशेषसम्पत्त्या दुरान्वयोऽपि सोढ़व्यः । ननु श्वेतद्वीपे क्षीरसमुद्रो नित्यं वर्त्तते, भगवदेकनिष्ठानां श्वेतमहापुरुषाणां निवासेन कालभयञ्च नास्तीत्याशङ्क्य गोलोकस्याप्यस्य तादृशत्वं विशेषणाभ्यामाह—यत्र यस्मिन् गोलोके स इत्यनेन सुरभीभ्यः सरतीत्यादिना च श्वेतद्वीपतोऽप्यस्य विशेष उक्तः । अन्यत् समानम् । एवं श्रीवृन्दावनादिव्रजभूमेर्मथुरान्तर्गतत्वेन श्रीमथुरा क्षीरसिन्धुस्तद्व्रज-भूमिप्रधानञ्च श्रीगोवर्द्धनादिव्यापि वृन्दावनं श्वेतद्वीप इति सिद्धम् । यद्वा, आर्य्यावर्त्तान्तर्व्वर्त्ति श्रीवृन्दावन-मेवेदं श्वेतद्वीपः, तञ्च परमोर्द्ध्वतर-गोलोकमिति विदन्त इति यथाक्रममेवान्वयः । वृन्दावनस्य श्वेतद्वीपत्वे हेतुः—स यत्रेति, अन्यत् पूर्व्ववदेव । एवं सन्ततानन्त-श्रीनन्दगोपराज व्रजकामधेनुयूथनिवासतोऽनुक्षण-क्षीर-धारा-परिक्षरणेन धवलितत्वात्-श्रीकालिन्दीवेष्टितत्वेन मण्डलाकारतया द्वीपवद्दृश्यमानत्वाच्च, तथा सर्व्वथा विशुद्धानां लोकानां श्रीनन्दादीनामाश्रयत्वाच्च तथा तद्देशाधिकारिणः श्वेतवर्णस्य निवासत्वादपि श्रीवृन्दा-वनमेव श्वेतद्वीप इति युक्तमेव ; अन्यथा शाकद्वीपे नित्यं क्षीरसमुद्रसिद्धेः श्वेतद्वीपे सुरभीभ्यः सरतीत्युक्तेर-घटनादिति दिक् । तस्य गोलोकत्वेन वेदनेऽप्येष एव हेतुरुन्नेयः, गोलोकस्यापि तस्य तथाभूतत्वात् । एवं प्रपञ्चान्तर्व्वर्त्ति श्रीमथुरामण्डलस्थश्वेतद्वीपाख्य-श्रीवृन्दावनमिदं प्रपञ्चातीत-वैकुण्ठोपरिस्थितगोलोकमिति ये विदन्ति, ते क्षितिविरलचारा इति पूर्व्ववदेवार्थः । एवं श्रीवृन्दावनं श्वेतद्वीप एव, तत्प्रधानकव्रजभूमिमयत्वात् श्रीमथुरा क्षीरसिन्धुरिति सिद्धम् ॥१४३॥

तारः प्रणवः, ततो हृदयं नम इतिपदं, ततश्च भगवानिति विष्णुरिति च । सर्व्वान्वितः सर्व्वशब्दयुक्तो भूतात्मा सर्व्वभूतात्मेति एते त्रयः सवासुदेवा वासुदेवसहिताः प्रत्येकं ङेन्ताः चतुर्थ्यन्ताः । ततश्च सर्व्वात्मना युतं संयोगं सर्व्वात्मसंयोगमिति नपुंसकत्वमार्षम् । ततश्च योगस्यावधौ अन्ते पद्मं योगपद्ममिति । तदन्ते ङेयुक्तश्चतुर्थ्यन्तः पीठात्मा, तदन्ते च नतिः नमः-शब्दः, एवं ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्व्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्व्वात्मसंयोगयोगपद्मपीठात्मने नम इति सिद्धम् । तथा च शारदातिलके—'नमो भगवते ब्रूयाद्विष्णवे च पदं वदेत् । सर्व्वभूतात्मने वासुदेवायेति वदेत्ततः ॥ सर्व्वात्मसंयोगपदाद्योगपद्मपदं पुनः । पीठात्मने हृदन्तोऽयं मन्त्रस्तारादिरीरितः ॥' इति । सनत्कुमारकल्पे च—'ॐ नमःपदमाभाष्य तथा भगवते पदम् । वासुदेवाय इत्युक्त्वा सर्व्वात्मेति पदं तथा ॥ संयोगयोगेत्युक्त्वा च तथा पीठात्मने पदम् । वह्निपत्नीसमायुक्तः पीठमन्त्र इतीरितः ॥' इति ॥१४४-१४५॥

द्वाभ्यामन्त्याभ्यां वर्णाभ्याम्, पञ्चममङ्गं कल्पयेत्, इति अनेन प्रकारेण तस्यष्टादशाक्षरमन्त्रस्य पञ्चाङ्गानि भवन्ति, वै प्रसिद्धौ ॥१४६॥

अङ्गन्यास

चार चार वर्ग में अङ्गचतुष्टय एवं अस्त्र नामक अंग की दो वर्ण में कल्पना करनी चाहिए । इस मन्त्र के पाँच अङ्ग इस प्रकार कथित हैं ॥१४६॥

यह पाँच अङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण मन्त्र का, प्रथम हस्तद्वय के भीतर एवं वहिर्भाग में,—उभय पार्श्व में, तत्पश्चात् दोनों हाथ के अङ्गुष्ठ और अङ्गुलियों में क्रमानुसार न्यास करना चाहिये । कतिपय व्यक्ति इस स्थान में प्रणव (ॐकार) द्वारा पुटित कर प्रयोग का विधान देते हैं, कुछ व्यक्ति अङ्गुलियों में पञ्चाङ्ग-

न्यस्येच्च व्यापकत्वेन तान्यङ्गानि करद्वये ।
तान्यङ्गुलीषु पञ्चाथ केचिद्वर्णान् स्वरानपि ॥१५०॥

ते चोक्ताः—
द्रावण-क्षोभणाकर्ष-वशीकृत्स्रावणास्तथा ।
शोषणो मोहनः सन्दीपनस्तापनमादनौ ॥१५१॥ इति ।

किञ्च—
नमोऽन्तं हृदयञ्चाङ्गैः शिरः स्वाहान्वित शिखाम् ।
वषड्युतञ्च कवचं हुंयुगस्त्रं च फड्युतम् ॥१५२॥

व्यापकत्वेनेति—करयोरन्तर्वहिःपार्श्वे च व्यापय्य तानि पञ्चाङ्गानि सर्व्वमेव मन्त्रमित्यर्थः । करद्वये न्यसेत्, अत्र प्रणवसम्पुटितमिति केचिदाहुः । अथानन्तरं तानि पञ्चाङ्गानि क्रमेण करद्वयस्याङ्गुष्ठाङ्गुलीषु न्यसेत्, केचिच्च तैः पञ्चाङ्गैः सह करद्वयाङ्गुलीष्वेव महावाणपञ्चकस्यानङ्गपञ्चकस्य च न्यासमिच्छन्तीति लिखति—केचिदिति । अपि-शब्दस्यात्र समुच्चयार्थत्वात् तानि पञ्चाङ्गानि पञ्चवाणान् पञ्च स्मरांश्चानङ्गान् तास्वेवाङ्गुलीषु युगपन्न्यस्यन्तीत्यर्थः । अत्र च वीजपूर्व्वकं न्यस्यन्ति, तत्रापि वाणेषु वाण-शब्दं वीजत्वे-नाद्याक्षरञ्च तथाऽनङ्गेषु च शोषणानङ्गमोहनमदनादिशब्दं प्रयुञ्जते ॥१५०॥

द्रावणादयः पञ्चवाणाः; अत्र आकर्षः आकर्षणः, वशीकृत् वशीकरणः, शोषणादयः पञ्च स्मराः । प्रयोगः—क्लीं कृष्णाय, ह्रीं द्रां द्रावणवाणाय नमः, क्लीं शोषणानङ्गाय नमः, क्लीं गोविन्दाय, ह्रीं क्षौं क्षोभणवाणाय नमः, ह्रीं मोहनमदनाय नमः; ह्रीं गोपीजनाय, ह्रीं आं आकर्षणवाणाय नमः; क्लीं सन्दीपनमदनातुराय नमः; ह्रीं वल्लभाय, ह्रीं वं वशीकर-वाणाय, ह्रीं तापनरत्यनङ्गाय नमः । ह्रीं स्वाहा, ह्रीं स्रां स्रावण-वाणाय नमः; ह्रीं मावनमकरध्वजाय नमः; एषु च मध्ये नमःशब्दं केचिन्न प्रयुञ्जते । अत्र स्व-सम्प्रदाय-व्यवहार एवानुसर्त्तव्य इति पूर्व्वं लिखितमेव, तच्चान्यात्राप्यूह्यम् । केचिदिति क्रमदीपिकायाम्—अथानु-युगस्त्रार्णस्याहंमनोर्न्यासनं ध्रुवे । रचयतु करद्वन्द्वे पञ्चाङ्गमङ्गुलिपञ्चके, तनुमनु मनुं व्याप्याथो त्रिशः प्रणवं सकृत् । मनुजनि पयोऽन्यस्या भूयः पदानि च सादरम्, इत्युक्तेर्महावाणानङ्गादिन्यासप्रतिपादनात्; एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ॥१५१॥

अन्यदपि परमतमेव लिखति—नमोऽन्तमिति त्रिभिः । अङ्गैस्तैरेव पञ्चभिः सह नमःशब्दान्त-हृदयादि-पञ्चकं न्यस्यन्ति । प्रयोगः—क्लीं कृष्णाय हृदयाय नमः, गोविन्दाय शिरसे स्वाहा, गोपीजनाय शिखायै वषट्, वल्लभाय कवचाय हुं, स्वाहा अस्त्राय फड़िति । अत्र च हृदयादीनां हृदयादिस्थानेष्वेव न्यासः, कवचस्य सर्व्वगात्रेषु, अस्त्रस्य च चतुर्दिक्षु ज्ञेयः ॥१५२॥

न्यास के सहित बाणपञ्चक एवं अनङ्ग पञ्चक के न्यास करने की विधि देते हैं ॥१५०॥

वह समस्त बाण एवं अनङ्ग का वर्णन इस प्रकार है । द्रावण, क्षोभण, आकर्षण, वशीकरण, स्रावण, ये पांच बाण हैं, एवं शोषण, मोहन, सन्दीपन, तापन, एवं मादन नाम से पांच अनङ्ग अभिहित हैं । प्रयोग इस प्रकार है—क्लीं कृष्णाय, क्लीं द्रां द्रावण बाणाय नमः, क्लीं शोषणानङ्गाय नमः, क्लीं गोविन्दाय ह्रीं क्षोभणवाणाय नमः, ह्रीं मोहन मदनाय नमः । ह्रीं गोपीजनाय, ह्रीं आं आकर्षण वाणाय, क्लीं सन्दीपन मदनातुराय नमः, ह्रीं वल्लभाय, ह्रीं वं वशीकरणबाणाय, ह्रीं तापनरत्यङ्गाय नमः । ह्रीं स्वाहा, ह्रीं स्रां स्रावण वाणाय नमः, ह्रीं मदनमकरध्वजाय नमः ॥१५१॥

और भी वर्णित है,—इस पञ्चाङ्ग के सहित नमः शब्दान्त हृदय, स्वाहा शब्दयुक्त शिरः वषट् शब्दान्वित शिखा, हुं शब्दयुत कवच, एवं फट् शब्द युक्त अस्त्रन्यास करने का विधान है ।

न्यस्यन्ति पुनरङ्गुष्ठौ तर्ज्जन्यौ मध्यमे तथा ।
अनामिके कनिष्ठे च क्रमादङ्गैश्च पञ्चभिः ॥१५३॥
पुनश्च हृदयादीनि तथाङ्गुष्ठादिकानि च ।
न्यस्यन्ति युगपत् सर्व्वाण्यङ्गैस्तैः पञ्चभिः क्रमात् ॥१५४॥
न्यस्यन्ति च षड़ङ्गानि हृदयादीनि तन्मनोः ।
हृदयादिषु चैतेषां पञ्चैकं दिक्षु च क्रमात् ॥१५५॥

षड़ङ्गानि चोक्तानि सम्मोहनतन्त्रे सनत्कुमारकल्पे—

वर्णेनैकेन हृदयं त्रिभिरेव शिरो मतम् । चतुर्भिश्च शिखा प्रोक्ता तथैव कवचं मतम् ।
नेत्रं तथा चतुर्व्वर्णैरस्त्रं द्वाभ्यां तथा मतम् ॥१५६॥ इति ।

पुनः पञ्चभिरङ्गैस्तैः सह अङ्गुष्ठद्वयादिपञ्चकं क्रमान्न्यस्यन्ति; प्रयोगः- 'क्लीं कृष्णाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' इत्यादिः । एषाञ्च तत्तदङ्गुलीष्वेव न्यासो ज्ञेयः ॥१५३॥

पुनश्च तैरेव पञ्चभिरङ्गैः सह तानि हृदयादीनि च अङ्गुष्ठादीनि सर्व्वाण्येव युगपत् एकदैव न्यस्यन्ति; प्रयोगः—'क्लीं कृष्णाय हृदयाय नमः, अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' इत्यादिः; एतेषाञ्च कराङ्गुलिष्वेव न्यासः ॥१५४॥

एवं पञ्चाङ्गन्यासं संलिख्य षड़ङ्गन्यासं परमतमेव लिखति—न्यस्यन्ति चेति । तेषां न्यासस्थानं दर्शयति- हृदयेति । एतेषां षड़ङ्गानां पञ्चङ्गानि हृदय-शिरः-शिखा-कवच-नेत्राख्यानि क्रमेण हृदयादिषु निजहृदयशिरः शिखाकवच-नेत्रष्वेव न्यस्यन्ति । अत्र च कवचस्य पूर्व्ववत् सर्व्वाङ्गे न्यासो ज्ञेयः; एवमन्त्यमङ्गमस्त्राख्यञ्च सर्व्वदिक्षु न्यस्यन्ति ॥१५५॥

तथैवेति चतुर्भिरित्यर्थः ॥१५६॥

प्रयोग—क्लीं कृष्णाय हृदयाय नमः । गोविन्दाय शिरसे स्वाहा, गोपीजन शिखायै वषट् । वल्लभाय कवचाय हुं स्वाहा, अस्त्राय फट् ॥१५२॥

अनन्तर उक्त पञ्चाङ्ग के सहित क्रमानुसार अङ्गुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका एवं कनिष्ठा अङ्गुलि- न्यास करना पड़ता है ।

प्रयोग—क्लीं कृष्णाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, गोविन्दाय तर्जनीभ्यां स्वाहा, गोपीजनाय मध्यमाभ्यां वषट्, वल्लभाय अनामिकाभ्यां हुं, स्वाहा अस्त्राय कनिष्ठाभ्यां फट् ॥१५३॥

पुनर्बार हृदयादि एवं अङ्गुष्ठादि उक्त पञ्चाङ्ग के सहित क्रमानुसार न्यास करे ।

प्रयोग—क्लीं कृष्णाय हृदयाय नमः, अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, गोविन्दाय शिरसे स्वाहा, तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा, इत्यादि ॥१५४॥

कोई-कोई व्यक्ति इस मन्त्र का षड़ङ्गन्यास भी करते हैं, उक्त षड़ङ्ग के मध्य में हृदयादि पाँच अङ्ग— अर्थात् हृदय, मस्तक, शिखा, कवच एवं नेत्र हैं । क्रमानुसार हृदयादि पाँच स्थान में न्यास करते हैं । एवं अवशिष्ट एवं अस्त्र का न्यास सर्वाङ्ग में करते हैं । अर्थात् पूर्वकथित हृदय, मस्तक, शिखा, कवच एवं नेत्र ये पाँच अङ्गों का न्यास अपने पाँच अङ्गों में करे । पूर्व की भाँति कवच का न्यास समस्त अङ्गों में होता है । अस्त्र का न्यास भी सब अङ्गों में करे ॥१५५॥

सम्मोहन तन्त्र के सनत्कुमार कल्प में उक्त षड़ङ्ग न्यास इस प्रकार है—एक वर्ण में हृदय, तीन वर्ण में शिरः, चार वर्णमें शिखा, चार वर्णमें कवच, चार वर्णमें नेत्र, एवं दो वणमें अस्त्र की कल्पना करे ॥१५६॥

ततश्चापादमाकेशान्न्यसेद्दोर्भ्यामिमं मनुम् ।
वारांस्त्रीन् व्यापकत्वेन न्यसेच्च प्रणवं सकृत् ॥१५७॥

अथाक्षरन्यासः

ततोऽष्टादशवर्णांश्च मन्त्रस्यास्य यथाक्रमम् ।
दन्ते ललाटे भ्रूमध्ये कर्णयोर्नेत्रयोर्द्वयोः ॥१५८॥
नासयोर्वदने कण्ठे हृदि नाभौ कटिद्वये । गुह्ये जानुद्वये चैकं न्यसेदेकञ्च पादयोः ॥१५९॥
सन्तो न्यस्यन्ति तारादि-नमोऽन्तांस्तान् सविन्दुकान् ।
श्रीशक्तिकामवीजैश्च सृष्ट्यादिक्रमतोऽपरे ॥१६०॥

अथ पदन्यासः

तारं शिरसि विन्यस्य पञ्च मन्त्रपदानि च ।
न्यसेन्नेत्रद्वये वक्त्रे हृद्गुह्याङ्घ्रिषु च क्रमात् ॥१६१॥

एवमङ्गन्यासं लिखित्वा अधुना मन्त्राक्षरन्यासं लिखिष्यन् तनुमनु मनुं व्याप्य्येति क्रमदीपिकोक्तानुसारेण मन्त्रस्य व्यापकन्यासमादौ लिखति—ततश्चेति। केशमारभ्य पादपर्य्यन्तं व्यापकत्वेन इममष्टादशाक्षरं मूलमन्त्रं दोर्भ्यां कृत्वा वारत्रयं न्यसेत्, प्रणवञ्च सकृद्वारमेकं तथैव न्यसेत् ॥१५७॥

द्वयोरित्यनेन कर्णादित्रये प्रत्येकं द्वौ वर्णौ, तथा कटिद्वयेऽपि द्वावेव, अग्रे जानुद्वयादावेकमिति लिखनात् ॥१५८-१५९॥

तेषामेव न्यासप्रकारं सत्सम्प्रदायानुसारेण लिखति—सन्त इति। तान् अष्टादशवर्णान् विन्दुसहितानेव न्यस्यन्ति, तथा तारः प्रणव आदौ येषां, नम इति अन्ते येषां, तांश्च तान्; प्रयोगः—'ॐ क्लीं नमः, कं नमः' इत्यादिः। अपरे केचिच्च तानेव लक्ष्मीशक्तिकामानां वीजैः सह, तथा चकारस्योक्तसमुच्चयार्थत्वात् पूर्व्ववत् तारनमोविन्दुसहितानेव च, तत्र च सृष्टिस्थिति-संहृतिक्रमेणैव न्यस्यन्ति; तत्र सृष्टिर्मस्तकादिक्रमेणैव, स्थितिश्च हृदयादिकण्ठान्ता, संहृतिश्च सृष्टिविपर्य्ययेण पादादिका; एवं न्यासानां नानाप्रकारताभिप्रायेणैव पूर्व्वं लिखितं यथासम्प्रदायं न्यासान् कुर्य्यादिति ॥१६०॥

तत्पश्चात् वेष्टनकरणभाव से अर्थात् सम्पुटित रीति से यह अष्टादशार्ण मन्त्र का न्यास, चरण से मस्तक पर्यन्त समस्त अङ्गों के चतुर्दिक में तीन बार करे। इसी भाव से एक बार ॐकार का न्यास करना चाहिये ॥१५७॥

अक्षरन्यास—

अङ्गन्यास समापन के अनन्तर उक्त मन्त्र के अष्टादशाक्षर का क्रमपूर्वक दशन, ललाट, भ्रूमध्य, कर्णद्वय, नेत्रद्वय, नासिका युगल, वदन, कण्ठ, हृदय, नाभिमण्डल, कटियुगल, गुह्य एवं जानुद्वय में 'उक्त मन्त्र के एक-एक वर्ण का' न्यास करे अर्थात् दोनों कानों में दो वर्ण, नासिका के दोनों छिद्रों में दो वर्ण, और दोनों कटि में दो वर्ण न्यास करना चाहिये ॥१५८-१५९॥

साधुगण,–इन सब वर्णों के प्रथम ॐकार और अन्त में 'नमः' शब्द जोड़कर एवं प्रत्येक वर्ण को विन्दु संयुक्त करके प्रयोग करते हैं। अर्थात् क्लीं नमः, कं नमः, इत्यादि रूप से न्यास करते हैं, कतिपय व्यक्ति इस प्रकार न्यास करके श्रीबीज एवं शक्तिबीज, कामबीज के सहित सृष्ट्यादि क्रम से न्यास करते हैं। अर्थात् सृष्टि, स्थिति एवं संहार क्रम से न्यास करते हैं। उसके मध्य में सृष्टि,—मस्तकादि क्रम, स्थिति, हृदयादि, कण्ठान्त क्रम, एवं संहृति सृष्टि विपर्य्यय अर्थात् पादादिक्रम है ॥१६०॥

देहे च व्यापकत्वेन न्यसेत्तान्यखिले पुनः ।
केचित्तानि नमोऽन्तानि न्यस्यन्त्याद्याक्षरैः सह ॥१६२॥
स्वाहान्तानि तथा त्रीणि संमिश्राण्युत्तरोत्तरैः ।
गुह्याद्गलान्मस्तकाच्च व्यापय्य चरणावधि ॥१६३॥
न्यासोऽत्र ज्ञाननिष्ठानां गुह्यादिविषयस्तु यः ।
स्वस्ववर्णतनोः कार्य्यस्तत्तद्वर्णेषु वैष्णवैः ॥१६४॥

आदौ तारं प्रणवं स्वशिरसि विन्यस्य पश्चान्मन्त्रस्य पदपञ्चकं क्रमान्नेत्रद्वयाद्यङ्गपञ्चके न्यसेत्; पुनश्च तानि पञ्चपदानि अखिले देहे व्यापकत्वेन सर्व्वगात्रं व्यापय्य न्यसेत् । तत्रैव मतान्तरं लिखति— केचिदिति। तानि पञ्च पदानि आद्याक्षरैः तत्तत्पद-प्रथमाक्षरैः सह; प्रयोग —'क्लीं क्लीं नमः, क्लीं कृष्णाय नमः, गों गोविन्दाय नमः, गों गोपीजनवल्लभाय नमः, स्वां स्वाहा नमः' इति ॥१६१-१६२॥

तथेति समुच्चये । पूर्व्ववदादौ तारं शिरसि विन्यस्य पश्चात् त्रीणि मन्त्रपदानि क्रमेण गुह्यादिस्थानत्रयमारभ्य पादपर्य्यन्तं केचिन्न्यस्यन्ति; उत्तरोत्तरसंमिश्राणीति— पूर्व्वपूर्व्वपदेन उत्तरोत्तरपदं संयोज्येत्यर्थः; प्रयोगः – 'क्लीं कृष्णाय स्वाहा, 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय स्वाहा, क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' इति ॥१६३॥

ननु पूर्व्व केशवादिन्यासे मुकुन्दादीनां पादमूलादौ, तत्त्वन्यासे चानिरुद्धस्य गुह्ये, वर्णपदन्यासेऽप्यत्र केषाञ्चिद्वर्णपदानां गुह्यादौ न्यासो वृत्तः; श्रीकृष्णचरणाब्जभक्तिनिष्टैश्च साधुभिस्तत्र तत्र तेन तेन प्रकारेण कथं न्यासः कार्य्यः? अस्थानेषु तत्तन्न्यासेन महादोषशङ्कापत्तेः । तत्र लिखति—न्यास इति; अत्र न्यास प्रकरणे एषु लिखितेषु न्यासेषु मध्ये इति वा; ज्ञाननिष्ठानामिति ज्ञानपरैर्विधीयमान इत्यर्थः; तेषामद्वैतज्ञानतो भेदाभावेन तत्र तत्र तत्तन्न्यासे दोषशङ्कापि नोत्पद्यत इति भावः । स गुह्यादिविषयो न्यासः; वैष्णवैः श्रीभगवद्भक्तिपरैस्तु स्वस्ववर्णतनोः भूतशुद्धया निजपूर्व्वशरीरं दग्ध्वा वर्णमयामृतवृष्ट्या समुत्पादितस्य मातृकार्णमयस्य शरीरस्य तत्तद्वर्णेषु मातृकान्यास-व्यवस्थया गुह्यपदादिन्यासेषु तत्तदङ्गरूपेष्वक्षरेष्वेव कार्य्य इत्यर्थः; एवञ्च भावनया तत्तद्वर्णेष्वेव न्यासान्न कापि दोषशङ्का, तथा तेषामेव वर्णानां निजाङ्गतया स्वस्मिन्नेव न्यासोऽपि सिद्ध इति सर्व्वमनवद्यमिति दिक् ॥१६४॥

अथ पदन्यासः

सर्वप्रथम अपने मस्तक में ॐकार का न्यास, करके मन्त्र के पञ्चपदों का न्यास क्रमशः नेत्रद्वय, गुह्य, चरणयुगल में करे। तत्पश्चात् वेष्टनकरण भाव से (लपेट की भाँति) समस्त शरीर में इस पञ्चपद का पुनर्वार न्यास करे। कोई-कोई व्यक्ति, नमः शब्दान्त करके आद्यवर्ण सहित उक्त सह्ह न्यास करने का विधान प्रदान करते हैं। अर्थात् क्लीं क्लीं नमः, क्लीं कृष्णाय नमः, गों गोविन्दाय नमः, गों गोपीजनवल्लभाय नमः, स्वां स्वाहा नमः इत्यादि प्रकार से प्रयोग करना पड़ता है ॥१६१-१६२॥

कोई-कोई व्यक्ति,— स्वाहा शब्दान्त करके पूर्व पूर्व के सहित पर पर पद को युक्त करके तीन पद का न्यास यथा क्रम से गुह्य, गण्डस्थल एवं शिरोभाग से चरणपर्यन्त करते हैं। अर्थात् क्लीं कृष्णायस्वाहा, क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय स्वाहा, क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा, इस प्रकार प्रयोग करते हैं ॥१६३॥

इस न्यास प्रकरण में निज गुह्यादिस्थल में न्यास का जो विषय कथित हुआ है, उसका आचरण ज्ञाननिष्ठ अर्थात् भेदज्ञानशून्य व्यक्तिगण ही करें। अर्थात् स्वीय गुह्यादि स्थानों में अनिरुद्ध प्रभृति का न्यास करने में उन सबके लिए कोई बाधा नहीं है। विष्णुभक्तवृन्द विशेष-विशेष वर्णोत्पन्न शरीर में,—

अथ ऋष्यादिन्यासः

ऋष्यादीन् सप्तभागांश्च न्यसेदस्य मनोः क्रमात् ।
मूर्द्धास्यहृत्सु कुचयोः पुनर्हृदि पुनर्हृदि ॥१६५॥

अथ मुद्रापञ्चकम्

वेण्वाख्यां वनमालाख्यां मुद्रां संदर्शयेत्ततः ।
श्रीवत्साख्यां कौस्तुभाख्यां विल्वाख्याञ्च मनोरमाम् ॥१६६॥
इत्थं न्यस्तशरीरः सन् कृत्वा दिग्बन्धनं पुनः ।
करकच्छपिकां कृत्वा धायेच्छ्रीनन्दनन्दनम् ॥१६७॥

ऋष्यादीनां मूर्द्धातित्रये त्रीन्, स्तनद्वये द्वौ, हृदये पुनर्हृदय एव द्वावित्येवं स्थानसप्तके क्रमेण एतदष्टादशाक्षरमन्त्रस्य ऋष्यादिभागसप्तकं न्यसेदित्यर्थः। अत्र च प्रणवादिचतुर्थ्यन्तमित्यादि-पूर्व्वलिखितानुसारेण सर्व्वत्र चतुर्थीनमोऽन्तता ज्ञेया; प्रयोगः—'अष्टादशाक्षर-श्रीगोपालमन्त्रस्य नारदाय ऋषये नमः, गायत्र्यै छन्दसे नमः, सकललोकमङ्गल-श्रीमन्नन्दतनयाय देवतायै नमः' इत्यादिः ॥१६५॥

वेण्वादिमुद्रालक्षणमग्रे मुद्रासमुच्चय-प्रसङ्गे लेख्यम्। मनोरमामिति—यद्यपि वह्व्यो मुद्राः सन्ति, तथापि वेण्वादिपञ्चकमिदं भगवत्प्रियतमत्वादादौ दर्शयितव्यमिति भावः ॥१६६॥

दिग्वन्धने मन्त्रश्चायम्—'ॐ नमः सुदर्शनाय अस्त्राय फट्' इति; तथा च क्रमदीपिकायाम् —'प्रणवहृदोऽवसाने सचतुर्थि-सुदर्शनं तथास्त्रपदमुक्त्वा फडन्तममुना कलयेन्मनुनास्त्रमुद्रया दश हरितः' इति। अस्यार्थः—प्रणवः ॐकारः, हृत् नमः, एतयोरन्ते चतुर्थीविभक्तिसहितं सुदर्शनमिति पदं तथा चतुर्थ्यन्तमेवास्त्रपदम्; कीदृशम्? फड़िति शब्दान्तम्; अनेन मन्त्रेण अस्त्रमुद्रया दशदिग्बन्धनं कुर्य्यादिति। करकच्छपिकामुद्रालक्षणञ्च भूतशुद्धौ पूर्व्वं लिखितमेवास्ति; स्वाङ्के करद्वयमुत्तानं विन्यस्येत्यर्थः, 'हस्तावुत्सङ्गमाधाय' इति श्रीसूतोक्तेः ॥१६७॥

(भूतशुद्धि के द्वारा देह को भस्मसात् करने के पश्चात् वर्णमयी सुधा धारा के द्वारा मातृकावर्णमय जो देह उत्पन्न हुआ है, उक्त देह में) विशेष विशेष वर्णों का न्यास करे। सुतरां पादमूल में मुकुन्द का न्यास, एवं गुह्यस्थल में अनिरुद्ध का जो न्यास वर्णित हुआ है, तत्सम्पादन हेतु वैष्णववर्ग की आपत्ति अथवा आशङ्का का कोई कारण नहीं है ॥१६४॥

अथ ऋष्यादिन्यासः

अनन्तर अष्टादशार्ण मन्त्र को ऋष्यादि सप्त अंश करके क्रमानुसार मस्तक, मुख, हृदय, स्तनयुगल, एवं हृदय में दो बार न्यास करे। अर्थात् मस्तक में ऋषि, मुख में छन्दः, हृदय में देवता, स्तनयुगल में वीज एवं शक्ति, एवं हृदय में प्रकृति एवं अधिष्ठात्री का न्यास करना होगा। अभिप्राय यह है कि पूर्व में वर्णित है,- अन्त में नमः शब्द युक्त करके एवं चतुर्थी विभक्ति समन्वित करके प्रयोग करे। उक्त विधि यहाँ पर भी ग्राह्य है। अतएव प्रयोग यह है—अष्टादशाक्षर श्रीगोपाल मन्त्रस्य नारदाय ऋषये नमः, गायत्र्यै छन्दसे नमः, सकललोकमङ्गल श्रीमन्नन्दतनयाय देवतायै नमः; इत्यादि ॥१६५॥

अथ मुद्रापञ्चकम्

अनन्तर पञ्चमुद्रा—वेणु, वनमाला, श्रीवत्स, कौस्तुभ, एवं विल्व, यह पञ्च मनोरमा मुद्रा हैं। अर्थात् अन्यान्य मुद्रा की अपेक्षा वेणु प्रभृति पञ्चमुद्रा श्रीकृष्णानन्ददायक हैं। अतएव यह मनोहर पाँच मुद्रा दिखानी चाहिये। उक्त रूप से शरीर में मन्त्रन्यास करने के बाद पुनर्वार "ॐ नमः सुदर्शनाय अस्त्राय

अथ श्रीनन्दनन्दन-भगवद्ध्यानविधिः

अथ प्रकटसौरभोद्गलितमाध्विकोत्फुल्लसत्,-प्रसूननवपल्लवप्रकर-नम्रशाखैर्द्रुमैः ।
प्रफुल्लनवमञ्जरी-ललितवल्लरीवेष्टितैः, स्मरेच्छिशिरितं शिवं सितमतिस्तु वृन्दावनम् ॥१६८॥
विकासिसुमनोरसास्वादनमञ्जुलैः सञ्चर,-च्छिलीमुखमुखोद्गतैर्मुखरितान्तरं झङ्कृतैः ।
कपोतशुकशारिका-परभृतादिभिः पत्रिभिः,-र्विराणितमितस्ततो भुजगशत्रुनृत्याकुलम् ॥१६९॥
कलिन्ददुहितुश्चलल्लहरिविप्रुषां वाहिभि,-र्विनिद्रसरसीरुहोदररजश्चयोद्धूसरैः ।
प्रदीपितमनोभव-व्रजविलासिनी-वाससां, विलोलनविहारिभिः सततसेवितं मारुतैः ॥१७०॥
प्रवालनवपल्लवं मरकतच्छदं वज्रमौक्तिक,-प्रकरकोरकं कमलरागनानाफलम् ।
स्थविष्ठमखिलर्त्तुभिः सततसेवितं कामदं, तदन्तरपि कल्पकाङ्घ्रिपमुदञ्चितं चिन्तयेत् ॥१७१॥

अथानन्तरं सितमतिः शुद्धमनाः सन् वृन्दावनं चिन्तयेत् । कीदृशम् ? द्रुमैः शिशिरितं शीतलीकृतं; कीदृशैः ? प्रकटमुद्भटं सौरभं यस्य तच्च, तत्उद्गलितमाध्वीकश्च प्रच्युतमधु, उत्फुल्लश्च विकसितं, सच्च उत्तमं यत् प्रसूनं पुष्पं नवपल्लवश्च, तयोः प्रकरः समूहः, तेन नम्राः शाखा येषां तैः । माध्विकेति—ह्रस्वत्वं महाकवि-निबद्धत्वात् सोढ़व्यम् । प्रकटसौरभाकुलित-मत्तभृङ्गोल्लसदिति पाठस्तु सुगम एव । पुनः कीदृशैः ? प्रफुल्लाभिर्नवमञ्जरीभिर्ललिता मनोहरा या वल्लर्य्यः अग्रशाखा लता वा, ताभिर्वेष्टितैः । शिवं मङ्गलरूपं, निर्व्बाधत्वात् परमकल्याणकरत्वाच्च ॥१६८॥

वृन्दावनमेव विशिनष्टि—विकासीति द्वाभ्याम् । सञ्चरतामितस्ततो भ्रमतां शिलीमुखानां भ्रमराणां मुखेभ्य उद्गतैरुत्थितैः झङ्कृतैः झङ्कार-शब्दैः मुखरितं मुखरतां नीतमन्तरं मध्यं यस्य तत् ; कीदृशैः ? विकासिनां सुमनसां पुष्पाणां रसस्य आस्वादनं भ्रमरैरवलेहनं, तेन मञ्जुलैर्मनोहरैः विराणितं शब्दायितं; भुजगशत्रोर्मयूरस्य नृत्येन आकुलं व्याप्तम् ॥१६९॥

यमुनायाश्चलन्तीनां लहरीणां विप्रुषः जलविन्दवः, तासां वाहिभिर्नेतृभिर्मारुतैः सततं सेवितम्; विलोलनं सञ्चलनं, तद्रूपविहारवद्भिः ; विलोलनपरैरनारत-निषेवितमिति पाठः सुगम एव । विशेषणत्रयेण मारुतस्य क्रमेण शैत्यसौगन्ध्यमान्द्यान्युक्तानि ॥१७०॥

फट्" इस मन्त्र से दिग्बन्धन करे । पश्चात् कर कच्छपिका मुद्रा रचना करके ध्यान करे । अर्थात् निज-क्रोड़देश में हस्तद्वय को उत्तानभाव से स्थापन करके श्रीनन्दनन्दन का ध्यान करे ॥१६६-१६७॥

अनन्तर श्रीनन्दनन्दन भगवान् की ध्यानविधि

विशुद्ध चित्त से श्रीवृन्दावन की भावना करे । श्रीवृन्दावन में मङ्गलप्रद विविध तरुराजि विराजित होने से उक्त पवित्र स्थान अतीव शीतल है । उक्त तरुशाखा समूह उद्दाम सौरभ से परिपूर्ण हैं, मधुस्रावि एवं विकसित अत्युत्कृष्ट पुष्प एवं नवकिसलय के भार से अवनत हैं, विकसित नवमञ्जरी द्वारा मनोहारिणी लतिकावली उनको वेष्टन करके अवस्थित हैं ॥१६८॥

अलिकुल, विकाशोन्मुख पुष्प का रसास्वादन करके समन्तात् भ्रमण कर रहे हैं । रसास्वादन काल में मुखोद्गत झङ्कार के द्वारा वृन्दावन के अभ्यन्तर भाग परिपूरित हो रहा है । वहाँ पर पारावत, शुक, शारिका एवं कोकिल कुल सतत कलरव कर रहे हैं, एवं मयूरवृन्द समन्तात् नृत्य कर रहे हैं ॥१६९॥

उक्त श्रीवृन्दावन में यमुना प्रवाह का वारिकणवाही, विकसित कमल के पराग द्वारा धुसरीकृत एवं उत्तेजित कामभावापन्न गोपरमणीगण के वसनकम्पनकारी मृदु मृदु समीरण सतत प्रवाहित होता रहता है ॥१७०॥

सुहेमशिखरावलेरुदित-भानुवद्भास्वरा,-मधोऽस्य कनकस्थलीममृतशीकरासारिणः।
प्रदीप्तमणिकुट्टिमां कुसुमरेणुपुञ्जोज्ज्वलां, स्मरेत् पुनरतन्द्रितो विगतषट्तरङ्गां बुधः ॥१७२॥
तद्रत्नकुट्टिमनिविष्टमहिष्ठयोग,-पीठेऽष्टपत्रमरुणं कमलं विचिन्त्य।
उद्यद्विरोचनसरोचिरमुष्य मध्ये, सञ्चिन्तयेत् सुखनिविष्टमथो मुकुन्दम् ॥१७३॥

तस्य वृन्दावनस्य अन्तर्मध्ये कल्पवृक्षमपि चिन्तयेत्। प्रवालं विद्रुममेव नवपल्लवं यस्य तं, मरकतमेव छदः पत्रं यस्य तं, वज्रस्य हीरकस्य मौक्तिकस्य च प्रकरः समूह एव कोरकः पुष्पकलिका यस्य तं, कमलरागः पद्मरागमणिरेव नानाविधं फलं यस्य तं, स्थविष्ठं स्थूलतरम्, अखिलैः षड्भिरेव ऋतुभिः सततं सेवितम्, एतेन सर्व्वदा सर्व्वपुष्पाञ्चितत्वमुक्तम्; उदञ्चितम् उच्छ्रितम् ॥१७१॥

अमृतशीकरासारिणोऽमृतविन्दुवर्षिणोऽस्य कल्पकाङ्घ्रिपस्याधः कनकस्थलीं चिन्तयेत्। 'शीकरास्राविणः' इति पाठोऽपि तथैवार्थः। कीदृशीम्? सुहेम्नः शोभनसुवर्णस्य शिखरं शृङ्गं, तस्य आवलिः पङ्क्तिस्तस्याः सकाशादुदितो यो भानुस्तद्वद्भास्वरां देदीप्यमानाम्; यद्वा, सुहेममयी शिखरावलिः शाखापङ्क्तिर्यस्य तस्येति कल्पकाङ्घ्रिपस्यैव विशेषणम्। पुनः कीदृशीम्? प्रदीप्तैर्देदीप्यमानैर्मणिभिः पद्मरागादिभिः कुट्टिमं रत्नबद्धभूमियस्यास्ताम्; अतन्द्रितः अनलसः, विगता दूरीभूताः षट्तरङ्गा ऊर्मयो यस्यास्ताम्, शोकमोहौ जरा मृत्युः क्षुत्तृट् चेति षड़ूर्म्मयः ॥१७२॥

तस्याः कनकस्थल्या यद्रत्नकुट्टिमं रत्नबद्ध-भूभागः तस्मिन्निविष्टं स्थितं यत् महिष्ठं महत्तरं योगपीठं तस्मिन्; कीदृशं कमलम्? उद्यतो विरोचनस्य रवेः सरोचिः समानप्रभम्, अतएवारुणम्; अमुष्य कमलस्य मध्ये सुखनिविष्टं सुखमासीनम्; यद्वा, कुट्टिम-निविष्टेत्यत्र निविष्ट-शब्दार्थानुसारेणात्रापि सुखस्थित-मित्यर्थः। विलम्बमानसन्तानक-प्रसव-दामेत्यग्रे वक्ष्यमाणमालाविलम्बमानतायास्तथा मत्स्याङ्कुशेति वर्णयिष्यमाण-भक्तजनैकाश्रय-श्रीचरणकमल-सन्दर्शनासम्पत्तेश्च। अतएव तृतीयस्कन्धे (२८।१९)— 'स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्' एत्यत्र मुख्यत्वाभिप्रायेणादौ स्थितमिति श्रीकपिलदेवेन निर्दिष्टम्; सम्मोहनतन्त्रे च श्रीशिवेनोक्तम्—'वेणुं गृहीत्वा हस्ताभ्यां मुखे संयोज्य संस्थितम्' इति; सम्यक् त्रिभङ्ग-ललितं स्थितमित्यर्थः; यतस्तत्र तेनैवोक्तम्—'तिष्ठन्तं देवदेवेशं त्रिभङ्ग-ललिताकृतिम्' इति; अत एवोक्तं श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे—'गोपालप्रतिमां कुर्य्याद्वेणुवादनतत्पराम्। वर्हापीड़ां घनश्यामां द्विभुजामूर्द्धवसंस्थिताम्॥ इति ॥१७३॥

उक्त श्रीवृन्दावन के मध्य में कल्पतरु की चिन्ता करे। प्रवाल उक्त तरु का नवीन किसलय है, नील-कान्तमणि पत्र है, हीरक एवं मुक्ता समूह कोरक एवं पद्मरागमणि बहु विध उस वृक्ष के फल हैं। यह वृक्ष अतीव उच्च एवं स्थूल है, अभिमत फल प्रद है, एवं सर्वदा समस्त ऋतु ही उसकी आराधना करती हैं, अर्थात् सर्वदा समस्त ऋतुजात पुष्प वहाँ प्रस्फुटित होते रहते हैं ॥१७१॥

अनन्तर दिव्य व्यक्ति अनलस होकर सुधावर्षणकारी इस कल्पतरु के तलदेश में रत्नमयी भूमि की भावना करें। अत्युत्तम काञ्चनमय शृङ्गश्रेणी के सन्निधान में समुदित होने पर सूर्य्य की आभा जिस प्रकार होती है, इस भूमि की आभा भी उसी प्रकार है। वहाँ मणिनिर्मित कुट्टिम शोभित है, पुष्पराशि के पराग निपतित होने से उक्तस्थान समुज्ज्वल हो रहा है।

वहाँ पर संसार सागर को षट् तरङ्ग – शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा— दृष्ट नहीं होती हैं ॥

उस रत्नकुट्टिम में संस्थित एक श्रेष्ठ-योगासन में अरुणवर्ण अष्टदल पद्म की चिन्ता करे। तत्पश्चात् भावना करे कि उसके मध्यभाग में उदयोन्मुख भास्कर की भाँति प्रभावशाली मुकुन्द सुखपूर्वक विराजित हैं ॥१७२-१७३॥

सूत्रामरत्नदलिताञ्जनमेघपुञ्ज,-प्रत्यग्रनील-जलजन्मसमानभासम् ।
सुस्निग्धनील-घनकुञ्चितकेशजालं, राजन्मनोज्ञ-शितिकण्ठशिखण्डचूड़म् ॥१७४॥
रोलम्बलालित-सुरद्रुमसूनकल्पि,-तोत्तंसमुत्कच-नवोत्पलकर्णपूरम् ।
लोलालक-स्फुरितभालतलप्रदीप्त,-गोरोचनातिलकमुच्चलचिल्लिमालम् ॥१७५॥
आपूर्णशारदगताङ्कशशाङ्कबिम्ब,-कान्ताननं कमलपत्रविशालनेत्रम् ।
रत्नस्फुरन्मकरकुण्डलरश्मिदीप्त,-गण्डस्थलीमुकुरमुन्नतचारुनासम् ॥१७६॥
सिन्दूरसुन्दरतराधरमिन्दुकुन्द,-मन्दारमन्दहसितद्युतिदीपिताङ्गम् ।
वन्यप्रवालकुसुमप्रचयावक्लृप्त,-ग्रैवेयकोज्ज्वल-मनोहरकम्बुकण्ठम् ॥१७७॥
मत्तभ्रमद्भ्रमरजुष्ट-विलम्बमान,-सन्तानक-प्रसवदामपरिष्कृतांसम् ।
हारावली-भगणराजितपीवरोरो,-व्योमस्थली-ललितकौस्तुभभानुमन्तम् ॥१७८॥

श्रीमुकुन्दमेव विशिनष्टि—सूत्रामेति पञ्चविंशतिभिः। सूत्रामरत्नम् इन्द्रनीलमणिः, दलिताञ्जनं घृष्टकज्जलं, प्रत्यग्रं नवं, नीलजलजन्म उत्पलम्, तैः समानाभाः कान्तिर्यस्य तम्; राजत् शोभमानं, मनोज्ञं शितिकण्ठ-शिखण्डं मयूरपिच्छं, तेन चूड़ा मौलिः यस्य तम्; यद्वा, तदेव चूड़ायां यस्य तम् । क्वचिच्च केशजालराजत् इति समस्तपाठः ॥१७४॥

रोलम्बैर्भ्रमरैर्लालितं प्रीत्या सेवितं, सुरद्रुमप्रसूनं पारिजातपुष्पं, तेन कल्पितः रचित उत्तंसः शिरोभूषणं येन तम् ; उच्चले उद्गते नृत्यन्त्यौ वा चिल्लिमाले भ्रूलते यस्य तम् ॥१७५॥

आपूर्णं शारदश्च गताङ्कश्च निष्कलङ्कं यच्चशशाङ्कविम्बं चन्द्रमण्डलं, तस्मादपि कान्तं सुन्दरमाननं यस्य तम् ॥१७६॥

प्रचलार्कक्लृप्तेति पाठे प्रचलार्को मयूरपिच्छम् ॥

मत्तैर्भ्रमद्भिर्भ्रमरैर्जुष्टं सेवितम्, विलम्बमानम् आपादलम्बि ; पाठान्तरे सुरभि सुगन्धि अवालं चाम्लानं यन सन्तानक-प्रसवदाम कल्पवृक्षपुष्पमाला, तेन परिष्कृतौ अलङ्कृतौ अंसौ यस्य तम् ; हारावल्येव भगणः नक्षत्रवर्गः, तेन राजितं शोभितं पीवरं पीनम् उरः वक्ष एव व्योमस्थली, तया लसितः शोभितः कौस्तुभ एव भानुः सूर्य्यस्तद्युक्तम् ॥१७८॥

उनकी कान्ति—इन्द्रनीलमणि, मर्दित अञ्जन, नवीन मेघपुञ्ज, नव नीलोत्पल सदृश है। एवं उनके केशपाश सुचिक्कण कृष्णवर्ण, घन एवं आकुञ्चित हैं, उनकी चूड़ा में मनोहर मयूरपुच्छ विराजित है ॥१७४

वे भ्रमरकुलसेवित कल्पवृक्ष प्रसून से विरचित आभरण धारण किए हुए हैं। विकसित नवीनपल्लव, तदीय कर्णपूर है, एवं चञ्चल अलक शोभित तदीय ललाट फलक में गोरोचनानिर्मित तिलक शोभित है। तदीय भ्रूलतायुगल मानो नृत्य करती हैं ॥१७५॥

उनका मुखमण्डल सम्पूर्ण निष्कलङ्क, शारदीय शशाङ्क के समान मनोहर है। लोचनयुगल पद्मपत्रवत विशाल हैं। दर्पण तुल्य अर्थात् निर्मल गण्डस्थल, मणिमय मकर कुण्डल से उद्दीपित है, नासिका, उन्नत एवं सुन्दर है ॥१७६॥

उनका अधर सिन्दूर से भी अधिक सुन्दर है, सर्वाङ्ग चन्द्र, कुन्द कुसुम एवं मन्दार पुष्प सदृश शुभ्र हैं, वे मृदु हास्य से समुज्ज्वल हैं। नवकिसलय एवं कुसुम द्वारा विराजित कण्ठभूषण से तदीय कम्बुकण्ठ शोभित है ॥१७७॥

श्रीवत्सलक्षण-सुलक्षितमुन्नतांस,-माजानुपीनपरिवृत्त-सुजातबाहुम् ।
आबन्धुरोदरमुदारगभीरनाभिं, भृङ्गाङ्गनानिकरवञ्जुलरोमराजिम् ॥१७९॥
नानामणि-प्रघटिताङ्गदकङ्कणोर्म्मि,-ग्रैवेयसारसन-नूपुरतुन्दबन्धम् ।
दिव्याङ्गरागपरिपिञ्जरिताङ्गयष्टि,-मापीतवस्त्रपरिवीतनितम्बविम्बम् ॥१८०॥
चारूरुजानुमनुवृत्तमनोज्ञजङ्घं, कान्तोन्नतप्रपद-निन्दितकूर्म्मकान्तिम् ।
माणिक्यदर्पणलसन्नखराजिराज,-द्रत्नाङ्गुलिच्छदनसुन्दरपादपद्मम् ॥१८१॥
मत्स्याङ्कुशारदरकेतुयवाब्जवज्र,-संलक्षितारुणकराङ्घ्रितलाभिरामम् ।
लावण्यसारसमुदाय-विनिर्म्मिताङ्ग,-सौन्दर्य्यनिर्जित-मनोभवदेहकान्तिम् ॥१८२॥

श्रीवत्सलक्षणेन सुलक्षितं प्रव्यञ्जितम् आजानु जानुपर्य्यन्तव्यापिनौ पीनौ च परिवृत्तौ च क्रमवलितौ सुजातौ सुकुमारौ निर्दोषौ बाहू यस्य तम्; आबन्धुरं निम्नोन्नतम् अतिशयेन भद्रं वा उदरं यस्य तम् ॥१७९॥

नानामणिभिः प्रकर्षेण घटिताः कल्पिता अङ्गदादयो यस्य तम्; तत्र ऊर्म्मिर्मुद्रिका, सारसनं रसना, तुन्दबन्धः उदरबन्धनार्थ-सुवर्णडोरकम्; दिव्यैरङ्गरागैरनुलेपनैः परिपिञ्जरिता नानावर्णतां नीता अङ्गयष्टि-र्यस्य तम् ॥१८०॥

माणिक्यमयदर्पणेभ्योऽपि विलसतां शोभमानानां राजिरतया राजन्त्यो रत्नाङ्गुलयः, तासां छदाः पत्राणि, तैः सुन्दरे पादपद्मे यस्य तम्; रत्नेति पाठः सुगमः ॥१८१॥

मत्स्यादिभिः रेखात्मकैश्चिह्नैः संलक्षितमरुणतरं चातिरक्तमङ्घ्रितलम्; कराङ्घ्रीति पाठे अरुणं कराङ्घ्रयोस्तलं, तेन अभिरामं मनोरमम्; आरं चक्रं, दरः शङ्खः। निर्जितेत्यत्र निर्धूतेति क्वचित् पाठः। कान्तिः शोभा ॥१८२॥

स्कन्धयुगल, मत्त भ्रमर निकर सेवित एवं आपादलम्बि कल्पकुसुम माला से सुशोभित हैं। हार श्रेणी रूप में तारकापुञ्ज द्वारा शोभमान तदीय वक्षःस्थल रूप नभोमण्डल में मनोहर कौस्तुभ रूप सूर्य्य विराजित हैं ॥१७८॥

आप श्रीवत्सचिह्न के द्वारा लक्षित हैं, आपके स्कन्ध युगल अतीव उन्नत हैं। आजानुलम्बित बाहुद्वय, गोलाकार, पुष्ट एवं सुन्दर हैं। उदर ईषत् उन्नत एवं नत है, नाभि प्रशस्त एवं गभीर है तथा रोमराजि भ्रमराङ्गना श्रेणीवत् सुन्दर हैं ॥१७९॥

तदीय अङ्गद, कङ्कण, मुद्रिका, कण्ठ भूषण, रसना, नूपुर एवं कटिबन्धन हेतु व्यवहृत स्वर्णडोर विविध मणि खचित हैं। उनका कलेबर दिव्य अङ्गराग से विविध वर्ण विशिष्ट है एवं नितम्बदेश आपीत वसन से परिवेष्टित है ॥१८०॥

तदीय ऊरुयुगल, जानुद्वय अति सुन्दर हैं। मनोहर जङ्घा विस्तृत एवं कमनीय हैं, उन्नत चरणयुगल के अग्रभाग कूर्माकृति की अपेक्षा अतीव सुन्दर हैं। नखपङ्क्ति माणिक्य निर्मित दर्पण से भी समुज्ज्वल हैं। उक्त नखराजि के द्वारा शोभमान रत्नाङ्गुलि रूप पत्र गुच्छ से उनके पदारबिन्द युगल शोभित हैं। निरतिशय अरुणवर्ण हस्तपदतल मे मत्स्य, अङ्कुश, चक्र, शङ्ख, ध्वज, यव, पद्म एवं वज्र चिह्न विद्यमान होने से आप परम मनोहर हुये हैं, लावण्य के सार सर्वस्व के द्वारा रचित देह सौन्दर्य मीनकेतन की देहकान्ति को पराजित किया है ॥१८१-१८२॥

आस्यारविन्द-परिपूरितवेणुरन्ध्र,-लोलत्कराङ्गुलि-समीरितदिव्यरागैः।
शश्वद्द्रवीकृत-विकृष्टसमस्तजन्तु,-सन्तानसन्ततिमनन्तसुखाम्बुराशिम् ॥१८३॥
गोभिर्मुखाम्बुजविलीन-विलोचनाभि,-रूधोभरस्खलित-मन्थरमन्दगाभिः।
दन्ताग्रदष्ट-परिशिष्ट-तृणाङ्कुराभि,-रालम्बिवालधिलताभिवीतम् ॥१८४॥
सप्रस्रवस्तन-विचूषणपूर्णनिश्च,-लास्यावटक्षरित-फेनिलदुग्धमुग्धैः।
वेणुप्रवर्त्तितमनोहर-मन्द्रगीत,-दत्तोच्चकर्णयुगलैरपि तर्णकैश्च ॥१८५॥
प्रत्यग्रशृङ्ग-मृदुमस्तक-सम्प्रहार,-संरम्भवल्गन-विलोलखुराग्रपातैः।
आमेदुरैर्बहुलसास्नगलैरुदग्र,-पुच्छैश्च वत्सतर-वत्सतरीनिकायैः ॥१८६॥

शश्वत् मुहुः द्रवीकृता आर्द्रिता विकृष्टा समाकृष्टा च समस्तजन्तूनां सन्तानसन्ततिर्व्वंशसमूहो येन तम् ॥ ॥१८३॥

अथानन्तरं गोभिरभितो वीतं वेष्टितम्; ऊधोभरेण स्तनगौरवेण स्खालितं मन्थरं चालसं मन्दञ्च यथा स्यात्तथा, अभितो गच्छन्तीभिरित्यर्थः; वालधिः पुच्छम् ॥१८४॥

तर्णकैर्नतनवत्सैश्चाभिवीतमित्यन्वयः; एवमग्रेऽपि। कीदृशैः? प्रस्रवो दुग्धक्षरणं तत्सहितस्य स्तनस्य विचूषणं दन्तोष्ठेनाकृष्य पानं, तेन पूर्णो दुग्धभृतो निश्चलश्च आस्यावटो मुखविवरं, तस्मात् क्षरितं यत् फेनिलं फेनमयं दुग्धं, तेन मुग्धैः सुन्दरैः; मन्द्रो गम्भीरध्वनिः; क्वचिन्मन्देति पाठः ॥१८५॥

प्रत्यग्रं नवं शृङ्गं यस्मिन्, तेन मृदुना मस्तकेन संप्रहारः अन्येन सह युद्धे अभिघातस्तस्मिन् वा अन्येन प्रहारस्तेन संरम्भः क्रोधस्तस्मिन् आवेशो वा, तेन वल्गनम् इतस्ततो विचलनं, तेन विलोलः खुराग्रपातो येषां तैः; आमेदुरैः सुस्निग्धैः पुष्टैरिति वा, बहुला स्थूला सास्ना गलकम्बलो यस्मिन् तादृशो गलो येषां तैः; वत्स एव स्तनपानावस्थामतिक्रान्तो वत्सतरः, 'त्रैवार्षिको वलीवर्द्दः' इति केचित्, तादृश्येव वत्सतरी, तयोर्निकायैः समूहैश्चाभिवीतम् ॥१८६॥

अनन्तर अनन्त सुखसिन्धु स्वरूप श्रीकृष्ण, वदनकमल द्वारा परिपूरित वंशी के छिद्रसमूह में हस्त के अङ्गुलिसमूह को सञ्चालित करके जो राग उद्गीरण किये हैं, उससे यावतीय जीवगण की सन्तान सन्तति द्रवीभूत होकर समीप में आकृष्ट हुई हैं। ऊधोभार से आक्रान्त धीरगतिविशिष्ट धेनुवृन्द के द्वारा आप परिवेष्टित हैं। लम्बायमान पुच्छयुक्त धेनुवृन्द श्रीकृष्णचन्द्र के वदन कमल में नेत्र निबद्ध करने से चर्वित तृणाङ्कुर के अवशिष्ट अंश उन सब के दशनाग्र भाग में संलग्न होकर है ॥१८३-१८४॥

नव प्रसूत वत्ससमूह भी श्रीकृष्ण को वेष्टन कर रहे हैं। उक्त वत्ससमूह सुन्दर रूप से दन्त एवं ओष्ठ के द्वारा आकर्षण पूर्वक स्तननिःसृत दुग्ध पान कर रहे हैं। उन सबके मुखविवर दुग्धपूर्ण होकर निश्चल हुये हैं, एवं वंशी से जो मनोहर गभीर गीतस्वर निःसृत होरहा है, वे सब उन्नत कर्णयुगल के द्वारा एकाग्र मन से उक्त गीत श्रवण कर रहे हैं ॥१८५॥

सुस्निग्ध, हृष्ट-पुष्ट वत्सतर वत्सतरी, अर्थात् तीन वत्सर के वत्स, जिन्होंने दुग्धपान वर्जन किया है, वे सब भी आकर श्रीकृष्ण के चारों और इकट्ठे हो रहे हैं। स्थूल गलकम्बल, उन सबके गलदेश में विराजित है, पुच्छभाग उन्नत है, मस्तक में नूतन शृङ्ग उद्गत है। आते समय मस्तक के द्वारा परस्पर को आघात कर रहे हैं। उस प्रकार युद्धरत हेतु चञ्चल होकर इतस्ततः क्षुरक्षेप करते रहते हैं ॥१८६॥

हम्बारव क्षुभित-दिग्वलयैर्महद्भि,-रप्युक्षभिः पृथु-ककुद्भर भार-खिन्नैः ।
उत्तम्भितश्रुतिपुटी-परिवीतवंश,-ध्वानामृतोद्धत-विकाशि-विशालघोणैः ॥१८७॥
गोपैः समानगुणशील-वयोविलास,-वेशैश्च मूर्च्छितकलस्वन-वेणुवीणैः ।
मन्द्रोच्चतारपट-गानपरैर्विलोल,-दोर्वल्लरीललितलास्य-विधानदक्षैः ॥१८८॥
जङ्घान्तपीवर-कटीरतटीनिबद्ध,-व्यालोल-किङ्किणिघटारटितैररटद्भिः ।
मुग्धैस्तरक्षुनखकल्पित-कण्ठभूषै,-रव्यक्तमञ्जुवचनैः पृथुकैः परीतम् ॥१८९॥
अथ सुललित-गोपसुन्दरीणां, पृथु-निविवीष-नितम्बमन्थराणाम् ।
गुरुकुचभर-भङ्गुरावलग्न,-त्रिवलिविजृम्भित-रोमराजिभाजाम् ॥१९०॥

उक्षभिः वृषैरप्यभिवीतम् ; पृथुककुद्भर एव भारस्तेन खिन्नैरलसैः ; उत्तम्भितया ऊद्ध्वीकृत्य स्तब्धतां प्रापितया श्रुतिपुट्या परिवीतं यत् श्रीकृष्णवंशध्वानामृतं, तस्मिन् उद्धता उद्भटा, तेन वा ऊर्द्ध्वीकृता विकाशिनी च प्रस्फुटपुटा विशाला घोणा नासा येषां तैः ॥१८७॥

गोपश्चाभिवीतं ; गुणाः करुणादयः, शीलं स्वभावो जगदानन्दकत्वादि, मूर्च्छितः मूर्च्छानां प्रापितः, कलस्वनः मधुरास्फुटध्वनिः ; स्वरेति पाठे मधुरास्फुटरागो यस्मिन् तादृशो वेणुर्वीणा च येषां तैः ; मूर्च्छना चोक्ता—'स्वरः संमूर्च्छितो यत्र रागतां प्रतिपद्यते । मूर्च्छनामिति तां प्राहुः कवयो ग्रामसम्भवाम् । सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः ॥' इति । मन्द्रोच्चतारैर्ध्वनिभेदैः पटु व्यक्तं यद्गानं तत्परैः ; लास्यं नृत्यम् ॥१८८॥

पृथुकैर्बालकैः परीतं वेष्टितम् ; कीदृशैः ? जङ्घान्ते पीवरकटीरतट्यां च पीनकटीस्थल्यां निबद्धा च व्यालोला च किङ्किणीनां घटा समूहः, तस्या रटितैः शब्दैः कृत्वा रटद्भिः शब्दायमानैः ; तरक्षुर्व्याघ्रः ॥१८९॥ अथेत्यानन्तर्य्ये माङ्गल्ये वा ; सुललितानां परममनोहराणां गोपसुन्दरीणां गोपीनामालिभिः पंक्तिभिः समन्तात् सर्व्वतः सततं नितरां सेवितमिति अष्टमश्लोकेनान्वयः । ता एव विशिनष्टि—पृथ्वादिना कराम्बुजाना-मित्यन्तेन पादद्वयोनश्लोकाष्टकेन । निविवीषं निविड़म् ; अवलग्नं मध्यदेशः ॥१९०॥

अति स्थूल ककुद्भाराक्रान्त बृहत् बृहत् वृषसमूह हम्बा शब्द से दिङ्मण्डल को शब्दायमान करते हुए अलस गति से उपस्थित होकर उनको घेरते हैं, एवं वेणुनिःसृत अमृतरस से वृषवृन्द के कर्णविवर पूर्ण होने उन सबके नासिका रन्ध्र विस्फारित एवं उच्चीकृत हुये हैं ॥१८७॥

गोपगण आकर उनके चतुर्दिक में एकत्र हो रहे हैं। उन सबके कारुण्यादि गुण, जगदानन्दकत्वादि स्वभाव, वयःक्रम विलास एवं वेश प्रभृति उनके समान ही हैं। वे सब रागसंयुक्त मधुर अस्फुट स्वर से वेणु वीणा वादन कर रहे हैं, एवं सुन्दर रूप से बाहुलता को विस्तृत करके सुनिपुणता के साथ नृत्य कर रहे हैं ॥१८८॥

अस्फुट मधुरभाषी शिशुगण भी उनको घेरे रहते हैं, उक्त शिशुसमूह के जङ्घाप्रान्त में एवं स्थूल कटिदेश में आबद्ध चञ्चल किङ्किणीजाल से शब्द उत्थित हो रहा है। उन सबके गलदेश में व्याघ्रनख का अलङ्कार शोभित है ॥१८९॥

मनोहारिणी गोपसुन्दरीसमूह उनके चतुर्द्दिक को वेष्टन कर अवस्थित हैं एवं एकाग्रभाव से उनकी सेवा में रत हैं। विशाल सुपुष्ट नितम्ब भार से वे सब मन्थरगति युक्त एवं स्थूल कुचभार से आनमित हैं। उनके कटिभाग की त्रिवली रेखा में रोमराजि सुशोभित हैं ॥१९०॥

तदतिमधुरचारुवेणुवाद्या,-मृतरस-पल्लविताङ्गजाङ्घ्रिपाणाम् ।
मुकुलविसररम्य-रूढ़रोमो,-द्गमसमलङ्कृत-गात्रवल्लरीणाम् ॥१६१॥
तदतिरुचिर-मन्दहासचन्द्रा,-तपपरिजृम्भित-रागवारिराशेः ।
तरलतर-तरङ्गभङ्गविप्रुट्,-प्रकरसम-श्रमविन्दुसन्ततानाम् ॥१६२॥
तदतिललित-मन्दचिल्लिचाप,-च्युतनिशितेक्षण-मारवाणवृष्ट्या ।
दलितसकलमर्म्म-विह्वलाङ्ग,-प्रविसृत-दुःसह-वेपथुव्यथानाम् ॥१६३॥
तदतिसुभगकम्र-रूपशोभाऽ,-मृतरसपानविधान-लालसाभ्याम् ।
प्रणयसलिलपूरवाहिनीना,-मलसविलोल-विलोचनाम्बुजाभ्याम् ॥१६४॥
विस्रंसत्कवरीकलाप-विगलत्फुल्लप्रसूनस्रव,-
न्माध्वीलम्पट-चञ्चरीकघटया संसेवितानां मुहुः ।

तस्य श्रीकृष्णस्य अतिमधुरं सुखदं चारु च सुन्दरं वेणुवाद्यमेवामृतरसस्तेन पल्लवितो विस्तारितोऽङ्गजाङ्घ्रिपः कामवृक्षो यासां तासाम् । अङ्गजाङ्घ्रिपस्येति पाठे परेण सम्बन्धः । मुकुलविसरः कुट्मलसमूहस्तद्वद्रम्यः रूढ़श्च जातो यो रोमद्गमः पुलकं, तेन सम्यगलङ्कृता गात्रवल्लरी देहलता यासाम् ॥१६१॥

तस्य श्रीकृष्णस्य अतिरुचिरो मन्दहास एव चन्द्रस्यातपो रश्मिस्तेन परिजृम्भितस्य विवर्द्धितस्य रागवारिराशेः प्रेमसमुद्रस्य ये तरलतरा अतिचञ्चलास्तरङ्गा ऊर्म्मिकल्लोलास्तरङ्गपरम्परा वा, तेषां विप्रुषो जलविन्दवस्तासां प्रकरः समूहस्तेन समास्तुल्या ये श्रमोत्पन्नस्वेदविन्दवस्तैः सन्ततानां व्याप्तानाम् । प्रसरेति पाठेऽपि स एवार्थः ; सन्ततीनामिति पाठे श्रमविन्दूनां सन्ततिः परम्परा यासाम् ॥१६२॥

तस्य श्रीकृष्णस्य अतिललिता परममनोहरा मोहना मन्दा च आयता प्रगल्भा वा या चिल्लिर्भ्रूः सैव चापः, तस्मात् च्युतः निशितश्च तीक्ष्ण ईक्षण-मारवाणः कटाक्षरूपः कामशरः, तस्य वृष्ट्या, दलितसकलमर्म्मसु अतएव विह्वलेषु अङ्गेषु प्रविसृता विस्तृता दुःसहा वेपथुरूपा वेदना यासाम् ॥१६३॥

अलसाभ्यां लज्जादिनार्द्धमीलिताभ्यां विलोलाभ्याञ्च विशिष्टलोचनाम्बुजाभ्यां कृत्वा प्रेमजलप्रवाहवहनशीलानाम् । कथम्भूताभ्याम् ? तस्य श्रीकृष्णस्य अतिसुभगात् परमकमनीयादपि कम्रं कमनीयं रूपं, तस्य शोभा कैशोरे नवयौवनोद्भेदे श्रीः सैव ; यद्वा, तदेव शोभायुक्तामृतरसस्तस्य पानविधाने लालसा अत्यौत्सुक्यं ययोस्ताभ्याम् ॥१६४॥

श्रीकृष्ण के मनोहर वेणुवादनरूप अमृतरससिक्त उन गोपीवृन्द का मदनतरु पल्लवित हो उठा है। एवं उनकी देहलता ईषत् विकसित कलिका सदृश रोमोद्गम से सुशोभित हुई है ॥१६१॥

नन्दनन्दन के अति सुन्दर मन्द हास्य रूप चन्द्रकिरण से गोपीवृन्द के अनुराग समुद्र स्फीत हो उठा है, उनके देह लग्न श्रम जनित धर्मबिन्दु समूह,—अनुराग समुद्र की तरङ्ग के समान अनुभूत हो रहे हैं। श्रीकृष्ण के अति मनोहर आयत भ्रूधनु से कटाक्षरूप तीक्ष्ण कामशरसमूह वर्षित होकर गोपीवृन्द के मर्मस्थल विदलित हो रहा है। अतएव अवशाङ्ग होने के कारण उनके सर्वाङ्ग में दुःसह कम्प यातना उदित होती है ॥१६२-१६३॥

श्रेष्ठ शोभनीय वस्तु समूह से भी उत्कृष्ट श्रीकृष्ण के रूपामृत पान करने के निमित्त व्रजविलासिनीवृन्द के अलसचञ्चल नेत्रनिकर लोलुप हैं। इस प्रकार नेत्रों से वे सब प्रेमवारि वहन करती रहती हैं ॥१६४॥

मारोन्माद-मदस्खलन्मृदुगिरामालोलकाञ्च्युच्छ्वस,-
न्नीवीविश्लथमान-चीनसिचयान्तार्विर्नितम्बत्विषाम् ॥१९५॥

स्खलितललित-पादाम्भोज-मन्दाभिघात,-क्वणित-मणितुलाकोट्याकुलाशामुखानाम् ।
चलदधरदलानां कुड्मलत्पक्ष्मलाक्षि,-द्वयसरसिरुहाणामुल्लसत्कुण्डलानाम् ॥१९६॥

द्राघिष्ठश्वसन-समीरणाभिताप,-प्रम्लानीभवदरुणोष्ठपल्लवानाम् ।
नानोपायन-विलसत्कराम्बुजाना,-मालीभिः सततनिषेवितं समन्तात् ॥१९७॥

तासामायतलोल-नीलनयन-व्याकोषनीलाम्बुज,-
स्रग्भिः सम्परिपूजिताखिलतनुं नानाविनोदास्पदम् ।

माध्वी माध्वीकम्, चञ्चरीको भ्रमरः ; मारोन्मादेन यो मदः मत्तता, तेन स्खलन्ती अस्पष्टाक्षरा मृदुः कोमला गीर्व्वाणी यासाम् ; उन्मादलक्षणं चोक्तम्—'श्वासप्ररोदनोत्कम्पैर्बहुधालोकनैरपि । व्यापारो जायते यस्तु स उन्मादः स्मृतो यथा ॥' इति । आलोलया सञ्चलन्त्या काञ्च्या हेतुना उच्छ्वसती श्लथीभवन्ती या नीवी परिधानवस्त्रबन्धः, तयैव विश्लथमानो विश्लथीभवन् चीनदेशोद्भवः सूक्ष्मो वा सिचयः पट्टवस्त्र-विशेषस्तस्यान्ते स्वरूपे आविः प्रकटा नितम्बत्विट् यासाम् ; 'अन्तः स्वरूपे विनाशे चान्तिकेऽपि च' इति कोषः ॥१९५॥

स्खलितस्य स्खलनयुक्तस्य ललितस्य च पादाम्भोजस्य मन्दाभिघातेन ईषद् भूभागप्रहारेण क्वणितः कृतशब्दो मणिमयो यस्तुलाकोटिर्नूपुरं, तेन आकुलं शब्द-व्याप्तम् आशानां दिशां मुखं याभ्यस्तासाम् ; कुड्मलत् मुकुलायमानं पक्ष्मलञ्च उत्कृष्टपक्ष्मयुक्तमक्षिद्वयसरसिरुहं यासाम् ॥१९६॥

द्राघिष्ठोऽतिदीर्घः श्वसनसमीरणः श्वासवायुस्तेन अभितापः सन्तापस्तेन प्रम्लानीभवन् अरुणोष्ठपल्लवो यासाम् ॥१९७॥

व्याकोषं विकसितम्, प्रणयादुन्मदे उद्गतमदे अक्षिणी एव मधुकृन्माला भ्रमरपङ्क्तिः, तां बिभ्राणं प्रकटयन्तम्, श्रीलोचनयोरितस्ततो बहुधा निपतनेन सर्व्वतो दर्शनान्मालेत्युक्तम् । कीदृशीम् ? तासां यन्मुग्धं

उन सबकी कबरी स्खलित हो गई है, उससे विकसित कुसुमनिकर विगलित होकर भूमि में पतित हो रहे हैं। भ्रमरवृन्द पुष्पनिःसृत मधुपान में पिपासु होकर पुनः पुनः उन सबको वेष्टन कर रहे हैं। और काञ्चीदाम चञ्चल होने के कारण वस्त्रग्रन्थि स्खलित हुई है। उससे उनकी नितम्बकान्ति प्रकाशित है ॥१९५॥

गोपीवृन्द स्खलित ललित पदकमल द्वारा धरातल में जो मृदुमन्द आघात करती हैं। तज्जन्य मणि-निर्मित नूपुर की ध्वनि से दिङ्मण्डल प्रतिध्वनित होरहा है। उनके अधर कम्पित, नयन मुकुलित एवं सुन्दर पद्म शोभित है। उनके कर्णपुट में देदीप्यमान कुण्डल शोभित हैं ॥१९६॥

अति दीर्घ उत्तप्त निश्वास समीरण के द्वारा गोपीगण के अरुण अधर पल्लव मलिन हो गया है। उन्होंने हस्तकमल में अनेक प्रकार उपहार धारण कर रखे हैं। एतादृश गोपीगण कर्त्तृक श्रीकृष्ण वेष्टित हैं ॥१९७॥

उनके प्रस्फुटित नीलोत्पल सदृश विस्फारित चञ्चलनयनों की दीप्ति से श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के सर्वाङ्ग सुन्दर रूप से भूषित हैं। उन श्रीकृष्ण ही निखिलानन्द का आधार हैं। उनका नेत्रभ्रमर प्रीतिमद में विभोर

तन्मुग्धाननपङ्कज-प्रविगलन्माध्वीरसास्वादिनीं,

बिभ्राणं प्रणयोन्मदाक्षि-मधुकृन्मालां मनोहारिणीम् ॥१६८॥

गोपगोपी-पशूनां वहिः स्मरेदग्रतोऽस्य गीर्वाणघटाम् ।

वित्तार्थिनीं विरिञ्चित्रिनयनशतमन्युपूर्व्विकां स्तोत्रपराम् ॥१६६॥

तद्दक्षिणतो मुनिनिकरं दृढ़धर्म्मवाञ्छमाम्नायपरम् ।

योगीन्द्रानथ पृष्ठे मुमुक्षमाणान् समाधिना सनकाद्यान् ॥२००॥

सव्ये सकान्तानथ यक्षसिद्ध,-गन्धर्व्वविद्याधरचारणांश्च ।

सकिन्नरानप्सरसश्च मुख्याः, कामार्थिनो नर्त्तनगीतवाद्यैः ॥२०१॥

शङ्खेन्दुकुन्दधवलं सकलागमज्ञं, सौदामनीतति-पिङ्गजटाकलापम् ।

तत्पादपङ्कजगतामचलाश्च भक्तिं, वाञ्छन्तमुज्झिततरान्यसमस्तसङ्गम् ॥२०२॥

मनोहरमाननपङ्कजं, तस्मात् प्रविगलितो माध्वीरसस्य मकरन्दस्य आस्वादनशीलाम्, अतएव मनोहारिणीम् ॥१६८॥

इदानीं क्रमेण वित्त-धर्म्म-मोक्ष-कामाख्यपुरुषार्थचतुष्टयस्य तथा सर्व्वतः श्रेष्ठस्य पञ्चमपुरुषार्थरूपाया भक्तेश्च वाञ्छायाः प्रदानां देवादीनां ध्यानमाह—गोपेति पञ्चभिः । अस्य कृष्णस्य, अग्रतः सम्मुखे ॥१६६॥ दक्षिणे चास्य मुनिनिकरं स्मरेत् । दृढ़ा धर्म्मे वाञ्छा यस्य तम् ॥२००॥

सकान्तान् पत्नीसहितान् यक्षादींश्च स्मरेत् । कथम्भूतान् ? नर्त्तनाद्यैः कामार्थिनः निजनिजाभीष्टप्रार्थकान्; मुख्याः श्रेष्ठा उर्व्वश्याद्या अप्सरसश्च स्मरेत् ॥२०१॥

तस्य श्रीकृष्णस्य पादपङ्कजगतां तद्विषयिणीमित्यर्थः । उज्झिततरो नितरां परित्यक्तोऽन्यस्मिन् भक्ति-व्यतिरिक्ते समस्ते सङ्ग आसक्तिर्येन तम् ॥२०२॥

होकर गोपीवृन्द के मनोज्ञ मुखपद्म से क्षरित मधुधारा का पान कर रहा है। श्रीगोविन्द मनोमोहिनी भ्रमरमाला धारण कर शोभित हैं ॥१६८॥

गोप, गोपी, गो-समूह के वहिर्भाग में इन्हीं श्रीकृष्ण के सम्मुख में ब्रह्मा, रुद्र एवं इन्द्र को अग्रणी करके धनाभिलाषी देवगण स्तव करते रहते हैं ॥१६६॥

धर्मनिष्ठ एवं वेदनिष्ठ मुनिनिकर उनके दक्षिण भाग में अवस्थित हैं एवं समाधि द्वारा मुक्तिपदाकाङ्क्षी सनकादि योगीन्द्रगण पश्चाद्भाग में अवस्थित हैं ॥२००॥

वाम भाग में निज-निज भार्य्यावृन्द के सहित यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारणगण एवं किन्नरवृन्द के सहित श्रेष्ठ अप्सरागण नृत्य गीत वाद्यादि द्वारा अभीष्ट फल की प्रार्थना करती रहती हैं ॥२०१॥

अनन्तर गगनपथ में स्थित ब्रह्मपुत्र मुनिवर श्रीनारद की चिन्ता करे। शङ्ख, चन्द्र एवं कुन्द पुष्प के समान आप शुभ्रकान्ति विशिष्ट हैं, एवं निखिल शास्त्रज्ञ हैं। उनके जटासमूह विद्युत के समान पिङ्गल वर्ण हैं, आपने अन्य समस्त विषयों के प्रति आसक्ति परित्याग पूर्वक श्रीकृष्णचरणयुगल में निश्चलाभक्ति प्रार्थना की है ॥२०२॥

नानाविधश्रुतिगणान्वित-सप्तराग,-ग्रामत्रयीगत-मनोहरमूर्च्छनाभिः ।
संप्रीणयन्तमुदिताभिरमुं महत्या, सञ्चिन्तयेन्नभसि धातृसुतं मुनीन्द्रम् ॥२०३॥

श्रीगौतमीयतन्त्रे—
अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि सर्व्वपाप-प्रणाशनम् ।
पीताम्बरधरं कृष्णं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ॥२०४॥
रक्तनेत्राधरं रक्तपाणि-पादनखं शुभम् ।
कौस्तुभोद्भासितोरस्कं नानारत्न-विभूषितम् ॥२०५॥
तद्धामविलसन्मुक्तावद्धहारोपशोभितम् ।
नानारत्न-प्रभोद्भासि-मुकुटं दिव्यतेजसम् ॥२०६॥
हारकेयूरकटककुण्डलैः परिमण्डितम् । श्रीवत्सवक्षसं चारुनूपुराद्युपशोभितम् ॥२०७॥
नानारत्नविचित्रैश्च कटिसूत्राङ्गुलीयकैः । वर्हिपत्र-कृतापीड़ं वन्यपुष्पैरलङ्कृतम् ॥२०८॥
कदम्बकुसुमोद्बद्ध-वनमालाविभूषितम् । सचन्द्रतारकानन्दि-विमलाम्बरसन्निभम् ॥२०९॥
वेणुं गृहीत्वा हस्ताभ्यां मुखे संयोज्य संस्थितम् ।
गायन्तं दिव्यगानैश्च गोष्ठमध्यगतं हरिम् ॥२१०॥
स्वर्गादिव परिभ्रष्ट-कन्यकाशतवेष्टितम् । सर्व्वलक्षणसम्पन्नं सौन्दर्य्येणाभिशोभितम् ॥२११॥

अतएव अमुं श्रीकृष्णं महत्याख्यया कच्छपिकया स्वकीयवीणया प्रीणयन्तम्; काभिः ? नानाविधः षट्त्रिंशद्भेदात्मको यः श्रुतिगणो नादसमूहस्तेनान्विता ये सप्त रागा निषादादिस्वरा मेघनाद-वसन्तादिरागा वा, तेषु या ग्रामत्रयी ग्रामाणां त्रयाणां समाहारस्तस्यां गताः प्राप्ता या मनोहरा मूर्च्छनास्ताभिः । कथम्भूताभिः ? उदिताभिः स्वयमेव प्राकट्यं प्राप्ताभिः, महत्योदिताभिरिति वा सम्बन्धः अतएव मुनीन्द्रं मुनिगण-श्रेष्ठं धातृसुतं श्रीनारदं नभसि सम्यक् चिन्तयेत् ॥२०३॥

शुभं जगन्मङ्गलरूपं, तस्य कौस्तुभस्य धाम्ना तेजसा विलसन्तीभिर्मुक्ताभिराच्छन्नेन सम्वेष्टितेन हारेण उपशोभितम् । मुक्तावद्धेति वा पाठः । कटिसूत्रेणाङ्गुलीयकैश्चालङ्कृतम् ; सचन्द्राभिस्ताराभिरानन्दं सुखकरं यद्विमलमम्बरं व्योम तत्सदृशम् । अत्र चन्द्रस्थाने कौस्तुभः, तारास्थाने कदम्बमाला, अम्बरस्थाने श्रीमद्वक्षःस्थलमूह्यम् । स्वर्गादिव परिभ्रष्टानां परमसुन्दरीणामित्यर्थः ; तादृशीनां कन्यानां श्रीगोपकुमारीणां शतेन वेष्टितम् ; शतशब्दोऽत्रासंख्यत्वे ॥२०४-२११॥

इस कारण आप निजमहती नाम्नी वीणा का नाद सप्तस्वर एवं ग्रामत्रयजनित मूर्च्छना प्रकट कर श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने में निरत रहते हैं ॥२०३॥

श्रीगौतमीय तन्त्र में लिखित है—उसके बाद सर्वपातक नाशन ध्यान का वर्णन करते हैं। श्रीकृष्ण पीतवसनधारी एवं कृष्णवर्ण के हैं, उनके नयन युगल रक्तवर्ण एवं कमल सदृश हैं, अधर, करतल, चरणतल एवं नखराजि रक्तवर्ण हैं, आप जगन्मङ्गलस्वरूप हैं। विविध रत्न एवं मुक्ताहार के द्वारा उनका वक्षःस्थल परिशोभित है। हारस्थित मुक्तासमूह के द्वारा एवं कौस्तुभमणि की उज्ज्वलता से वक्षःस्थल उद्भाषित हो उठा है। उनका मुकुट बहुविध मणिप्रभा से विमण्डित एवं दिव्य तेजोमय है। आप हार, केयूर, कटक, कुण्डलों से विभूषित है। वक्षःस्थित श्रीवत्सचिह्न एवं मनोहर नूपुरादि अलङ्कार उनका सौन्दर्य्यविधान

मोहनं सर्व्वगोपीनां सर्व्वासाञ्च गवामपि ।
लेलिह्यमानं वत्सैश्च धेनुभिश्च समन्ततः ॥२१२॥
सिद्धगन्धर्व्वयक्षैश्च अप्सरोभिर्विहङ्गमैः । सुरासुर-मनुष्यैश्च स्थावरैः पन्नगैरपि ॥२१३॥
मृगैर्विद्याधरैश्चैव वीक्ष्यमाणं सुविस्मितैः । नारदेन वशिष्ठेन विश्वामित्रेण धीमता ॥२१४॥
पराशरेण व्यासेन भृगुणाङ्गिरसा तथा ।
दक्षेण शौनकात्रिभ्यां सिद्धेन कपिलेन च ॥२१५॥
शनकाद्यैर्मुनीन्द्रैश्च ब्रह्मलोकगतैरपि ।
अन्यैरपि च संयुक्तं कृष्णं ध्यायेदहर्निशम् ॥२१६॥

संक्षेपेण श्रीसनत्कुमारकल्पेऽपि—

अव्यान्मीलत्कलायद्युतिरहिरिपु-पिच्छोल्लसत्केशजालो
गोपीनेत्रोत्सवाराधित-ललितवपुर्गोपगोवृन्द-वीतः ।
श्रीमद्वक्त्रारविन्दप्रतिसहित्-शशाङ्काकृतिः पीतवासा
देवोऽसौ वेणुनादक्षपित-जनधृतिर्देवकीनन्दनो नः ॥२१७॥ इति ।

असौ अनिर्व्वचनीयमाहात्म्यः श्रीदेवकीनन्दनो देवो नः अस्मान् अव्यात् रक्षतु । कलायस्य तत्पुष्पस्येव द्युतिः श्यामा कान्तिर्यस्य सः ॥२१७॥

करते रहते हैं। आप विविध रत्नचित्रित एवं कटिसूत्र तथा अङ्गुरीयक समूह के द्वारा विशेष रूप से भूषित हैं। शिखिपिच्छ एवं नानाविध वन्य पुष्प से आप अलङ्कृत हैं। कदम्ब कुसुम ग्रथित वनमाला उनकी शोभा सम्पादन कर रही है। सुतरां आप चन्द्र एवं नक्षत्र माला शोभित सुखकर विमल आकाश के समान शोभित हैं। उभय हस्त के द्वारा वेणुधारण पूर्वक मुख में संलग्न करके गोष्ठ मध्य में अवस्थित होकर आप अलौकिक गान करते हैं। स्वर्लोक से परिभ्रष्ट शत-शत कन्या सदृशी परमासुन्दरी गोपकुमारी गणों से आप वेष्टित हैं। सर्व लक्षण सम्पन्न एवं सौन्दर्य्य शोभित होकर निखिल गोप-गोपीवृन्दों का आनन्द वर्द्धन आप करते हैं। सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष, अप्सरा पक्षी, देव, असुर, स्थावर, पन्नग, पशु, विद्याधर प्रभृति विस्मयापन्न होकर उनको देखते रहते हैं। बुद्धिमान् नारद, वशिष्ठ, विश्वामित्र, पराशर, व्यास, भृगु, अङ्गिरा, दक्ष, शौनक, अत्रि, सिद्धेश्वर, कपिल, ब्रह्मलोकस्थ सनकादि मुनीन्द्रगण भी श्रीकृष्ण को वेष्टन कर अवस्थित हैं। अहर्निशि श्रीकृष्ण का ध्यान इस रूप से करें ॥२०४-२१६॥

सनत्कुमारकल्प में भी संक्षेप में लिखित है—श्रीदेवकीपुत्र हमारी रक्षा करें, उनकी अङ्गकान्ति विकसित कलाय कुसुम सदृश श्याम कान्ति है। मयूरपुच्छ द्वारा केशराजि सुशोभित है एवं गोपीगण नयन-कमलों के द्वारा उनके सुन्दर देह की अर्चना करती हैं। गो, गोपगण उनको घेर कर अवस्थित हैं। उनका सहास्य वदनकमल चन्द्र सदृश है। परिधान में पीत-वसन है। आप वेणुनाद के द्वारा जनगण का धैर्य्य हरण करते रहते हैं ॥२१७॥

अथान्तर्यागः

ध्यात्वैवं भगवन्तं तं संप्रार्थ्य च यथासुखम् ।
आदौ संपूजयेत् सर्व्वैरुपचारैश्च मानसैः ॥२१८॥
लेख्या ये वहिरर्च्चयामुपचारा विभागशः ।
ते सर्व्वेऽप्यन्तरर्च्चायां कल्पनीया यथारुचि ॥२१९॥

अथ प्रार्थनाविधिः

श्रीनारदपञ्चरात्रे—
स्वागतं देवदेवेश सन्निधौ भव केशव ।
गृहाण मानसीं पूजां यथार्थ-परिभाविताम् ॥२२०॥ इति।
अथोपचारैर्वाह्यैश्च स्वात्मन्येव स्थितं प्रभुम् ।
पूजयन् स्थापयेदादौ शङ्खं सत्सम्प्रदायतः ॥२२१॥

यथासुखमिति यावतात्ममनस्तृप्तिः स्यात्तावता प्रकारेण तावत्कालञ्च पूजयेदित्यर्थः। मानसैः मनः-कल्पितैः ॥२१८॥

ते च कति कीदृशाः कथं वार्च्चयितव्याः ? इत्यपेक्षायां लिखति—लेख्या इति। ये यावन्त इत्यर्थः, विभागशः पृथक् पृथक्; यथारुचीति निजरुच्यनुसारेण यावन्तो यादृशा यथा च कल्पयितुमुपयुज्यन्ते, तावन्त-स्तादृशास्तथैव ते कल्पयितव्या इत्यर्थः। तत्प्रकारश्च श्रीनारदपञ्चरात्रादौ व्यक्त एवास्तीति विस्तार्य्यात्र न लिखितः ॥२१९॥

संप्रार्थ्येति लिखितं, कथं संप्रार्थ्येति यत्प्रकारं तन्मन्त्रद्वारैव लिखति—स्वागतमिति ॥२२०॥

पूजयन् पूजयितुं, तत्र तत्र विविधभेदाभिप्रायेण लिखति—सत्सम्प्रदायत इति, सत्साम्प्रदायिकाचारानु-सारत इत्यर्थः। ननु वाह्योपचारैरर्च्चनं कथमन्तर्यागमध्ये लिख्यते ? सत्यं, पूर्व्वं मानसैरुपचारैरन्तःपूजा, अधुना च वाह्यैरुपचारैरन्तरेव स्थितस्य पूजा, अतोऽन्तर्यागे इयमपि पर्य्यवस्यति। वहिःपूजा च श्रीमूर्त्ति-विषयिकाग्रे लेख्या। एतच्च श्रीभगवद्भक्तिपराणां सम्मतम्; अतएव लिखितम्—सत्सम्प्रदायत इति। अन्ये च श्रीभगवता सहात्मनोऽभेदं ध्यात्वा निजवपुष्येव वहिःपूजां कुर्व्वन्तो निजपादादावेव पुष्पाञ्जलीन् समर्पयन्तीति दिक् ॥२२१॥

अथान्तर्यागः (मानस-पूजा)

उन श्रीहरि का ध्यान उक्त प्रकार से करके मानसिक तृप्ति के अनुसार प्रार्थना करने के पश्चात् समस्त मानसिक उपचार के द्वारा अर्च्चना करे ॥२१८॥ वाह्य पूजा के उपकरणों का वर्णन पृथक्-पृथक् रूप से अग्रिम ग्रन्थ में होगा, रुचि के अनुसार उन सब द्रव्यों का प्रयोग मानसपूजन में भी करना चाहिये ॥२१९॥

अथ प्रार्थनाविधिः

श्रीनारदपञ्चरात्र में वर्णित है—हे देव-देवेश केशव ! सुखपूर्वक मेरे समीप में आपका आगमन हो, मैं निष्कपट भाव से पूजन करने का अभिलाषी हूँ। मेरी मानसी-पूजा अङ्गीकार कीजिये ॥२२०॥

अनन्तर सत्सम्प्रदाय की आचार पद्धति के अनुसार वाह्य-पूजा के द्रव्यों के द्वारा स्वीय अन्तर में अवस्थित श्रीगोविन्द की पूजा हेतु प्रथमतः शङ्ख स्थापन करे। अभिप्राय यह है कि—वाह्य द्रव्य द्वारा निज अन्तरस्थित श्रीकृष्ण पूजन करना, श्रीकृष्ण-भक्त सम्मत है, किन्तु जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के सहित अपना अभेद मनन करते हैं एवं निज देह में ही श्रीकृष्ण-पूजन करते हैं, अर्थात् निज पादादि में पुष्पाञ्जलि प्रभृति अर्पण करते हैं, वह मत श्रीकृष्ण-भक्त का नहीं है ॥२२१॥

अथ शङ्खप्रतिष्ठा

स्वस्य वामाग्रतो भूमावुल्लिख्य त्र्यस्त्रमण्डलम् ।
ततास्त्रक्षालितं शङ्खं साधारं स्थापयेद्बुधः ॥२२२॥
शङ्खे हृदयमन्त्रेण गन्धपुष्पाक्षतान् क्षिपेत् ।
व्युत्क्रान्तैर्मातृकार्णैस्तं शिरोऽन्तैः केन पूरयेत् ॥२२३॥
सबिन्दुना मकारेण तदाधारेऽग्निमण्डलम् ।
संपूजयेदकारेण शङ्खे चादित्यमण्डलम् ॥२२४॥

अथ वाह्योपचार-करणकपूजनाय पूर्व्वं जन्त्वादिशोधनेन शोभितानामपि द्रव्याणां, तथा स्नानादिना शोधितस्यापि यजमानदेहस्य प्रतिष्ठितशङ्खजलप्रोक्षणेन विशेषतः शोधनार्थं शङ्खप्रतिष्ठां लिखति—स्वस्येति। वामभागे पुरस्तात् त्र्यस्रं त्रिकोणं मण्डलमुल्लिख्य चतुष्कोणं सिकताभिरङ्कैर्निर्म्माय तत्र तस्मिन्मण्डले अस्त्रेण अस्त्रमन्त्रेण प्रक्षालितं साधारमाधारः शङ्खस्याश्रयः त्रिपदिकादिः, तेन सहितमिति । आदौ अस्त्रमन्त्रेणाधारं प्रक्षाल्य 'ॐ आधारशक्तये नमः' इति प्रतिष्ठाप्य तदुपरि अस्त्रक्षालितमेव शङ्खं प्रतिष्ठापयेदित्यर्थः। यतो बुधस्तत्तत्प्रकारं स्वतएव जानातीत्यर्थः ; बुध इति सर्व्वत्राग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयम् ; यद्वा, सतामाचारत इत्यग्रतो लेख्यत्वात् शिष्टाचारानुसारतस्तदूह्यम् ; एवमग्रेऽपि सर्व्वत्र ज्ञेयमिति दिक् ॥२२२॥

'हृदयाय नमः' इति हृदयमन्त्रेण गन्धादीन् क्षिपेत् निक्षिपेत, व्युत्क्रान्तैः व्युत्क्रमं प्राप्तैः मातृकाक्षरैः क्षकारादि-ककारान्तैर्व्यञ्जनैः, ततः अःआदिअकारान्तैश्च स्वरैरित्यर्थः ; सानुस्वारैरिति ज्ञेयम् ; केवलैरिति केचित् ; कीदृशैः ? शिरः शिरोमन्त्रः शिरसे स्वाहेति तदन्ते येषां तैः ; एष च शङ्खपूरणे मन्त्रः, तं शङ्खं केन जलेन पूरयेत् ॥२२३॥

तस्य शङ्खस्य आधारे बिन्दुसहितेन मकारेण सहाग्निमण्डलं जलगन्धादिना संपूजयेत् । अत्र च वह्निमण्डलादेर्दशकलात्मादिविशेषणं पुर्व्ववत, स्वतो बुधत्वाद्द्रष्टव्यमेव; अतएव प्रयोगः—'मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने नमः ।' शङ्खे च बिन्दुसहितेनैवाकारेण सहादित्यमण्डलं पूजयेत् ; प्रयोगः— 'अं अर्कमण्डलाय द्वादशकलात्मने नमः' ; तथा सबिन्दुनैवोकारेण सह ; प्रयोगः— 'ॐ उं सोममण्डलाय षोड़शकलात्मने नमः' इति । तीर्थमन्त्रश्च पूर्व्वं गृहस्नाने लिखितोऽस्ति— गङ्गे च यमुने चैव' इत्यादिः ; तेन शङ्खजल एवाङ्कुशमुद्रया तीर्थान्यावाहयेत् । कृष्णश्च तत्रैव निजहृत्पद्मात् 'श्रीकृष्ण इहागच्छ' इत्यावाह्य शिखया 'शिखायै

अथ शङ्खप्रतिष्ठा

विज्ञ व्यक्ति, अपने सन्मुख के वामदिक में त्रिकोणाकृति मण्डलोपरि अर्थात् त्रिपदीयुक्त शङ्ख को अस्त्र मन्त्र के द्वारा धौत करके उक्त मण्डल में स्थापन करे । 'अस्त्राय फट्' इस मन्त्र से आधार का प्रक्षालन करके 'ॐ आधार शक्तये नमः' मन्त्रोच्चारण पूर्वक आधार का स्थापन करे । तत्पश्चात् 'अस्त्राय फट्' मन्त्र से शङ्ख धौत कर आधार में रखे ॥२२२॥

अनन्तर 'हृदयाय नमः' मन्त्रोच्चारण करके शङ्ख में चन्दन के सहित पुष्प, दूर्वा, आतप, तण्डुल रखे। प्रथमतः व्युत्क्रान्त अर्थात् 'क्ष' कार से 'क' कार एवं 'अः' से 'क्ष' कार पर्य्यन्त मातृकावर्णोच्चारण पूर्वक जल के द्वारा शङ्ख को पूर्ण करे ॥२२३॥

तत्पश्चात् अनुस्वार युक्त 'म' कार के द्वारा उक्त आधार में अग्निमण्डल की, अनुस्वार सहित 'अ' कार द्वारा शङ्ख में आदित्य मण्डल की, अनुस्वार सहित 'उ' कार द्वारा जल में चन्द्रमण्डल की पूजा करनी चाहिये । मण्डल शब्द के अन्त में दशकलात्मादि विशेषण युक्त करे, अर्थात् 'मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने

उ-कारेण जले सोममण्डलञ्च तथाऽर्च्चयेत् ।
तीर्थमन्त्रेण तीर्थान्यावाहयेच्चार्कमण्डलात् ॥२२५॥
कृष्णञ्चावाह्य हृत्पद्माद्गालिनीं शिखयेक्षयेत् ।
नेत्रमन्त्रेण वीक्ष्यान्तः कवचेनावगुण्ठयेत् ॥२२६॥
कुर्य्यान्न्यासं जले मूलमन्त्राङ्गानां ततो दिशः ।
बद्ध्वास्त्रेणामृतीकुर्य्यादथ तद्धेनुमुद्रया ॥२२७॥
तच्चक्रमुद्रया रक्ष्य सलिलं मत्स्यमुद्रया ।
आच्छाद्य संस्पृशन् शङ्खं जपेन्मूलं ततोऽष्टशः ॥२२८॥
तज्जलं प्रोक्षणीपात्रे किञ्चित् क्षिप्त्वा त्रिरुक्षयेत् ।
तच्छेषेणार्च्चन-द्रव्यजातानि स्वतनूमपि ॥२२९॥

वषट्' इति शिखामन्त्रेण गालिनीं मुद्राम् ईक्षयेत् दर्शयेत् ; अम्भः तज्जलं 'नेत्राभ्यां वौषट्' इति नेत्रमन्त्रेण वीक्ष्य, अत्र च केचिदाहुः—'पञ्चाङ्गेऽष्टादशाक्षरे मन्त्रेऽस्मिन् नेत्रमन्त्राभावात् तन्न कार्य्यम्' इति । 'कवचाय हुम्' इति कवचमन्त्रेण अम्भस्तदेव हस्ताभ्यामवगुण्ठयेत् । मूलमन्त्रस्य अङ्गानां पञ्चानां न्यासं जले तस्मिन्नेव कुर्य्यात् । केचिच्च षडङ्गानां हृदयादीनामत्र न्यासमाहुः ; ततस्तदनन्तरम् अस्त्रमन्त्रेण दिशो बद्ध्वा दिग्बन्धनं कृत्वा तज्जलं धेनुमुद्रयाऽमृतीकुर्य्यादित्यत्रैवं विशेषो बुधत्वात् सदाचारतो ज्ञेयः। दिग्बन्धनानन्तरं गन्धादिकं दत्वा धेनुमुद्रां प्रदर्श्य कूर्च्चेन जलं स्पृष्ट्वाऽमृतवीजं द्वादश वारान् सप्रणवं जप्त्वा 'सोममण्डलाय षोड़शकलात्मने नमः' इति पुनर्गन्धादिनाभ्यर्च्चयेदिति । तज्जलं चक्रमुद्रया आ सम्यक् रक्षित्वा शङ्खं संस्पृशन् कूर्च्चेन तज्जलं संस्पृश्य मूलमन्त्रमष्टशो वाराष्टकं जपेत् ॥२२४-२२८॥

तत् शङ्खस्थजलं किञ्चित् क्षिप्त्वा निक्षिप्य; तस्य प्रोक्षणीपात्रनिक्षिप्त-जलस्य शेषेण शङ्खस्थेन सर्व्वाणि

नमः' 'अं अर्कमण्डलाय द्वादश कलात्मने नमः' 'उं सोममण्डलाय षोड़श कलात्मने नमः'। अनन्तर 'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि ! सरस्वति ! नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु' । इत्यादि तीर्थ मन्त्र पाठ करके अङ्कुशमुद्रा के द्वारा सूर्य्यमण्डल से उक्त तीर्थसमूह को आनयन पूर्वक उक्त जल में आवाहन करे, एवं हृदयपद्म से श्रीगोविन्द को आवाहन करके 'शिखायै वषट्' मन्त्र द्वारा गालिनी मुद्रा प्रदर्शन करे। नेत्रमन्त्र अर्थात् 'नेत्राभ्यां वौषट्' मन्त्र के सहित जल में दृष्टिपात करके कवच मन्त्र अर्थात् 'कवचाय हुं' मन्त्र से हस्त के द्वारा उक्त जल को आच्छादन करे । जल में मूल मन्त्र के अङ्गों का न्यास करे । कोई-कोई व्यक्ति पञ्चाङ्ग न्यास एवं अपर व्यक्ति षड़ङ्ग न्यास करते हैं। अनन्तर अस्त्र मन्त्र द्वारा दिग्बन्धन करके धेनु-मुद्रा प्रदर्शन पूर्वक जल को अमृत करे । इस प्रकार सदाचार भी है—अर्थात् दिग्बन्धन करने के बाद चन्दनादि प्रदान पूर्वक धेनु-मुद्रा प्रदर्शन पूर्वक कूर्च द्वारा स्पर्श कर प्रणव के सहित अमृत वीज द्वादश बार जप कर 'सोममण्डलाय षोड़श कलात्मने नमः' उच्चारण पूर्वक पुनर्वार चन्दनादि द्वारा पूजा करे।

दिग्बन्धन करके गन्धादि अर्पण पूर्वक धेनु मुद्रा दिखाकर कूर्च 'हुं' द्वारा जल स्पर्श करने के पश्चात् अमृत वीज का जप द्वादश बार सप्रणव जप करके 'सोममण्डलाय षोड़श कलात्मने नमः' मन्त्र द्वारा पुनर्वार गन्धादि के द्वारा पूजन करे । उक्त जल की रक्षा, चक्रमुद्रा से करे, एवं मत्स्य मुद्रा द्वारा आच्छादन पूर्वक शङ्ख स्पर्श करके कूर्च द्वारा जल स्पर्श करके मूलमन्त्र का जप आठ बार करे ॥२२४-२२८॥

इस जल का कुछ अंश प्रोक्षणीपात्र में डालकर अवशिष्ट शङ्खस्थ जल ग्रहण करके पूजन सामग्री समूह में एवं निज देह में तीन बार प्रोक्षण करे ॥२२९॥

कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ सक्तौ करयोरितरेतरम् । तर्ज्जनीमध्यमानामाः संहता भुग्नसज्जिताः ।
मुद्रैषा गालिनी प्रोक्ता शङ्खस्योपरि चालिता ।।२३०।।
ततोऽपास्यावशिष्टान्तः शङ्खं वर्द्धनिकाम्बुना ।
पुनरापूर्य्य कृष्णाग्रे न्यसेदाचारतः सताम् ।।२३१।।

अथ स्वदेहे पीठपूजा

गुरून् मूर्द्धिन गणेशञ्च मूलाधारेऽभिपूज्य तम् ।
पीठन्यासानुसारेण पीठं चात्मनि पूजयेत् ।।२३२।।

पूजोपकरणानि निजशरीरञ्च वारत्रयं मूलमन्त्रेण प्रोक्षयेत् । एवं प्रोक्षणेन प्रायो द्रव्यशुद्धिरात्म-शुद्धिश्चोक्ता ।।२२९।।

कनिष्ठेति—वामकरे कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ सक्तौ संलग्नौ कृत्वा तयोरन्तर्दक्षिणकराङ्गुष्ठं निधाय तञ्च तत् कनिष्ठया संयोज्य करयोर्द्वयोरपि तर्ज्जनीमध्यमानामिकाः संहताः कृत्वा भुग्नाश्च किञ्चिदाकुञ्चिताः सज्जिताश्च परस्परं सक्ताग्राश्च कार्य्या इत्यर्थः । चालिता सती देवप्रीतिं सम्पादयेदिति शेषः । ततः अर्च्चनद्रव्यजाता-भ्युक्षणानन्तरं तदुक्षणावशिष्टं शङ्खस्थितं जलम् अपास्य प्रक्षिप्य वर्द्धनीजलेन शङ्खं तं पुनरापूर्य्य भगवदग्रतः स्थापयेत् । सतामाचारत इति यद्यपि क्रमदीपिकादौ व्यक्तमेतन्नोक्तमस्ति, तथापि शिष्टाचारानुसारेण तत्स्थापनं कार्य्यमित्यर्थः । तन्माहात्म्यं चाग्रे शङ्खोदक-पादोदक-ग्रहणानन्तरं पुनः शङ्खस्थापने लेख्यमेव । अतोऽग्रे लेख्यं क्षीरस्नपनादिकं शङ्खान्तरेणेति ज्ञेयमिति दिक् ।।२३०-२३१।।

अधुना वाह्योपचारकरणकान्तःपूजार्थमेवात्मदेहे पीठपूजां लिखति—गुरूनीति । तं विघ्नविघातकम् । प्रयोगः—'ॐ गुरुभ्यो नमः मूर्द्धिन; गं गणपतये नमः मूलाधारे । पीठन्यासानुसारेणेति पूर्व्वं पीठन्यासे आधारशक्त्यादीनां यस्य यत्र यथा पूजा लिखितास्ति, तदनुक्रमेण आत्मनि स्ववपुष्येव जलगन्धाक्षतपुष्पधूप-दीपैः पीठपूजां कुर्य्यादित्यर्थः । स्वदेहमेव भगवत्पीठत्वेनोपकल्प्य तत्रैव पूर्व्ववदाधारशक्त्यादीन् पूजयेदिति भावः । अत्र प्रयोगः—'आधारशक्तये नमः' इत्यादिः ।।२३२।।

गालिनी मुद्रा

दोनों हाथों का अंगूठा एवं कनिष्ठा अङ्गुली को परस्पर मिलित, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका को एकत्र कर किञ्चित् सङ्कोचित कर परस्पर का अग्रभाग मिलित करे अर्थात् प्रथम वाम हस्त का अङ्गुष्ठ एवं कनिष्ठा अङ्गुलि को परस्पर एकत्र करे, पश्चात् उभय अङ्गुलि के मध्यस्थल में दक्षिण हस्त का अङ्गुष्ठ, एवं उसके सहित उक्त हस्त की कनिष्ठा अङ्गुलि युक्त करे। इस प्रकार अवशिष्ट अङ्गुलिसमूह को किञ्चित् वक्र करके परस्पर एकत्र एवं हस्तद्वय की अङ्गुलि के अग्रभाग मिलित करके शङ्ख के ऊपर इस मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये। अनन्तर शङ्खस्थ अवशिष्ट जल निष्कासित करके पुनर्वार अपर जलपात्र के जल से शङ्ख पूर्ण करके श्रीहरि के सम्मुख भाग में स्थापन करे। यह सदाचार है ।।२३०-२३१।।

अथ स्वदेहे पीठपूजा

मस्तक में श्रीगुरुवर्ग की मूलाधार में श्रीगणेश की पूजा करके पीठन्यास के अनुसार अपने देह में पूजा करे। प्रयोग इस प्रकार है—ॐ गुरुभ्यो नमः मूर्द्धिन, ॐ गणपतये नमः, मूलाधारे, प्रथमतः आधार शक्ति के मध्य में जहाँ पर जिनकी पूजा का विधान जिस प्रकार उक्त है, उसके अनुसार स्वीय देह में जल, चन्दन धूपादि के द्वारा पीठ पूजा करे। प्रथम इस प्रकार है – आधार शक्तये नमः इत्यादि ।।२३२।।

अथ देवाङ्गेषु मन्त्राङ्गादिन्यासः

ततो जपन् कामवीजं त्रिस्थानस्थं परं महः ।
मूलमन्त्रात्मकं वीजेनैकीभूतं विचिन्तयेत् ॥२३३॥
तच्च पञ्चाङ्गन्यासेन साकारं स्वेष्टदैवतम् ।
विचिन्त्य पञ्चाङ्गादीनि न्यस्येत्तस्मिन् यथात्मनि ॥२३४॥
कुर्य्युर्भगवति प्रादुर्भूते कृष्णे च वैष्णवाः ।
तत्तन्न्यासानभेदाय मनोर्भगवता सह ॥२३५॥

तत्र च मन्त्रोपासनेनैव श्रीभगवदुपासनं, तथा श्रीभगगवदुपासनेनैव मन्त्रोपासनमिति बोधयितुं मन्त्र-माहात्म्यविशेषञ्च दर्शयितुं श्रीभगवता सह मन्त्रस्याभेदमापादयति– तत इति द्वाभ्याम् । त्रीणि स्थानानि निजमूलाधारहृदयभ्रूमध्यानि, तत्स्थं मूलमन्त्रात्मकं परं महः आनन्दघनं तड़ित्कोटिप्रभं तेजः कामवीजेन सहैकीभूतम् ऐक्यं प्राप्तं विचिन्तयेत् । शब्दब्रह्ममयत्वेन तत्तत्स्थाने सूक्ष्मतया वर्त्तमानस्य मन्त्रस्यास्य प्रायो नाममयत्वेन भगवदात्मकस्य वीजे च मन्त्र-सम्बन्धेन तादृशत्वं तस्यापि जानीयादित्यर्थः । तत्र च तत्तत्स्थाने पृथक् पृथक् विचिन्त्य जलगन्धाक्षतपुष्पादिभिरभ्यर्च्च्य पश्चात्तत्स्थानत्रयगतं तन्महः कामवीजेनैकीभूतं भावयेदिति शिष्टाचारात् बोध्यम् ॥२३३॥

पञ्चाङ्गानि मूलमन्त्र-सम्बन्धीनि, तेषां तस्मिन् न्यासे तत् परं महः साकारं विचिन्त्य, तच्च निजेष्टदैवतं च पूर्व्वध्यानाविर्भूतं श्रीकृष्णदेवस्वरूपं विचिन्त्य; तथा च क्रमदीपिकायाम्—'अथ मूलमन्त्रतेजो निजमूले हृदये भ्रूवोश्च मध्ये त्रितयं स्मरतः स्मरेण कामवीजेनैकीभूतं स्मरेत् । तदेकीभूतमानन्दघनं तड़िल्लताभं तत्तेजः सावयवीकृत्येति । तस्मिन् तादृशे निजेष्टदैवते मन्त्रस्य पञ्चाङ्गानि आदि-शब्दादष्टादशाक्षराणि पञ्च पदानि च न्यसेत् । तथा च क्रमदीपिकायाम्—'यदाष्टादशलिपिना स्वर्णपदाङ्गैश्च वेणुपूर्व्वैर्विधिः प्रोक्तः' इति । अस्यार्थः—यदा अष्टादशाक्षरमन्त्रेण पूजा, तदा मन्त्राक्षरपदपञ्चकाङ्गपञ्चकन्यासैर्वेण्वादिभिश्च विधिः प्रोक्त इति । तत्र च कथं कुत्र किं न्यास्यमित्यपेक्षायां लिखति– यथात्मनीति । पूर्व्वं यथा स्वदेहे तत्तन्न्यासो लिखितस्तद्वदित्यर्थः । तथा हि– प्रथमं मूलमन्त्रं व्यापकत्वेन वारत्रयं विन्यस्य पश्चाच्छ्रीकरद्वये व्यापकत्वेनादौ विन्यस्य श्रीकरद्वयाङ्गुलिषु पञ्चाङ्गानि न्यसेत् । ततोऽष्टादशाक्षराणि मस्तकादिषु पञ्च पदानि च नेत्रद्वयादिषु क्रमेण न्यसेदिति पूर्वलिखितानुसारेण ज्ञेयम् ॥२३४॥

ननु सच्चिदानन्दविग्रहोऽखिलवेदमन्त्रमयो भगवान् श्रीकृष्णः ध्यानविशेषबलात् पूर्व्वमाविर्भूतो मानसोपचारैरर्च्चितश्च, अधुना मूलमन्त्रतेजसस्तत्र तत्र तथा तथा चिन्तनं किमर्थम् ? मन्त्रस्य माहात्म्यविशेषाय

अथ देवाङ्गेषु मन्त्राङ्गादिन्यास

अनन्तर 'क्लीं' कामवीज जप करते करते मूलाधार, हृदय, भ्रूमध्य, स्थानत्रय स्थित मूलमन्त्र स्वरूप परम तेज अर्थात् आनन्दघन कोटि विद्युत प्रभा तेज की 'क्लीं' वीज के सहित ऐक्य प्राप्त भावना करे ॥२३३॥ इस प्रकार चिन्ता करके उक्त मन्त्र से पञ्चाङ्गादिन्यास पूर्वक उक्त तेज में सावयव निज इष्टदेव की चिन्ता करे । अनन्तर जिस प्रकार निज देह में उस प्रकार ही देवाङ्ग में अष्टादशाक्षर मन्त्र के पञ्चाङ्गादि न्यास करे । मन्त्र एवं श्रीकृष्ण अभिन्न हैं । सुतरां मन्त्र की पूजा करने से श्रीकृष्ण-पूजा होती है । श्रीकृष्ण-पूजा करने से मन्त्र की पूजा होती है, इस प्रकार जानना होगा ॥२३४॥ वैष्णवगण भगवान् के सहित मन्त्र का ऐक्य प्रतिपादन के निमित्त मन्त्र विशेष की भावना के द्वारा साधक चित्त में आविर्भूत श्रीकृष्णतत्त्व-समूह का न्यास करते हैं ॥२३५॥

केचिन्न्यस्यन्ति तत्त्वादीन्यव्यक्तानि यथोदितम् ।
मन्त्रार्णैः स्वर-हंसाद्यैर्भूषणेषु प्रभोः क्रमात् ॥२३६॥

श्रीभगवता सह मन्त्रस्यैक्यबोधनाय चेति चेत्तथापि पश्चाङ्गन्यासेन साकारता-चिन्तनादिकं वैष्णव-सिद्धान्त-विरुद्धं स्यादित्याशङ्क्य वैष्णवमतं लिखति—कुर्य्युरिति ; भगवतीति—श्रीकृष्णस्य साक्षाद्भगवत्त्वेन परब्रह्मरूपत्वात् सर्व्वमन्त्रादिमयत्वात मन्त्रतेजआदिकं ततो भिन्नं नास्त्येवेत्यर्थः । तथा मन्त्रस्यापि प्रायो नामविशेषमयत्वेन परमं भगवद्रूपत्वमेव; अतो भगवत्प्रादुर्भावेण मन्त्रस्यापि प्रादुर्भावो नूनं वृत्त एव; अतः पुनस्तच्चिन्तनस्य पौनरुक्त्यापत्त्या व्यर्थतैव स्यादित्यर्थः । अतो ध्यानभक्त्याविर्भूते भगवत्येव साक्षात्तत्तन्न्यासान् मन्त्रपश्चाङ्गादिन्यासान् कुर्य्यात् । ननु तर्हि तत्तन्न्यास-करणमप्यनुपदुक्तमेव, तत्र लिखति—भगवता कृष्णेन सह मनोः मन्त्रस्याभेदायेति । सर्व्वथा तन्मय एवायं मन्त्र इत्यैक्य-ज्ञानेन सर्व्वेषां मन्त्रे भक्तिविशेषार्थमिति भावः । वैष्णवा इति अयमेव श्रीभगवद्भक्तानां पक्ष इति सूचयतीति दिक् ॥२३५॥

अधुना परमहृद्यत्वेन श्रीभगवद्भूषणोत्तमन्यासं लिखति—केचिदिति । स्वराः षोड़श, हसेति द्वौ वर्णौ, ते आद्या आदौ वर्त्तमाना येषान्तैर्मन्त्रस्यार्णैरष्टादशवर्णैः सह तत्त्वादीनि प्रभोः भगवतः श्रीकृष्णस्य भूषणेषु क्रमान यथाक्रमं केचिद्भगवद्भक्ता न्यस्यन्ति । अव्यक्तादीनीति विशेषणं पूर्व्वं तत्त्वन्यासे लिखित-तत्त्वानां व्यावृत्त्यर्थम् ; आदि-शब्देन महदहङ्कारमनोबुद्ध्यादीनि; क्रमादिति स्वराद्यष्टादशाक्षरानन्तरं मन्त्रस्य वीजाद्यष्टाक्षराणां, तदनन्तरं चाव्यक्तादीनामष्टादशतत्त्वानां कुण्डलाद्यष्टादशभूषणेषु क्रमेण प्रयोग इति ज्ञेयम्। यथोदितम्—'तन्त्रोक्तमनतिक्रम्येति प्रणवपूर्व्वकं प्रत्येकञ्च विन्दुसहितं, तथा हंसेत्यस्य सकारं सविसर्गञ्च, तथा अकारादिषोड़शस्वरान् शिरसि न्यस्य, वेणुमुद्रां मुखे प्रदर्श्य, मन्त्रं तमनुस्मृत्य पश्चात्तत्तद्वर्णतत्त्वमयभूषणेषु न्यस्यन्ति । तत्र च तत्तद्वर्णतत्त्वात्मकत्वं तस्य भूषणस्यानुचिन्त्य तत्तन्मुद्रादिभिस्तत्र तत्र तत्त्वन्यासं कुर्व्वन्ति। तत्रापि आत्मसम्बन्धि-शब्दव्यतिरिक्तेषु तत्त्वेषु आत्मने इति पदं, तदन्ते च सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' इति मन्त्रोक्तानुसारेण द्रष्टव्यम् ; प्रयोगः—(१) ॐ अं क्लीं अव्यक्तात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः इति कुण्डले; सहस्रशीर्षेत्यादिकं सर्व्वत्र तुल्यमेव; (२) ॐ आं कृं महदात्मने शिखिपिच्छे पश्चात्मके; (३) ॐ इं ष्णां अहङ्कारात्मने कर्णोत्पले; (४) ॐ ईं यं मनआत्मने तिलके; (५) ॐ उं गों बुद्ध्यात्मने मुक्ताकुण्डले; (६) ॐ

कतिपय व्यक्ति स्वरवर्ण एवं 'हंसः' प्रथम प्रयोग करके मन्त्र वर्ण समूह के सहित यथोक्तरूप से अव्यक्त अर्थात् प्रकृति प्रभृति तत्त्व समूह का न्यास भूषण समूह में करते हैं । प्रयोग इस प्रकार है—
(१) कुण्डल में 'ॐ अं क्लीं अव्यक्तात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' । (२) मयूरपिच्छे 'ॐ आं कृं महदात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (३) कर्णोत्पल में 'ॐ इं ष्णां अहङ्कारात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः।' (४) तिलक में 'ॐ ईं यं मन आत्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' । (५) मुक्ताकुण्डले 'ॐ उं गों बुद्ध्यात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (६) वनमालायां 'ॐ ऊं विं अहङ्कारात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (७) हरये 'ॐ ऋं दां चित्तात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (८) केयूर में 'ॐ ॠं यं आत्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (९) वलय में 'ॐ लृं गों अन्तरात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (१०) कटक में 'ॐ लॄं पों सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः (११) रत्नाङ्गुरीयक में 'ॐ एं जं ज्ञानात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (१२) कौस्तुभ एवं श्रीवत्स में 'ॐ ऐं नं प्राणात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (१३) कटिबन्ध में ॐ ओं वं शक्त्यात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (१४) पीतवसन में 'ॐ औं लं जीवात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (१५) जङ्घाभूषण में 'ॐ अं भां वागात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (१६) नूपुर में 'ॐ अः यं योन्यात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (१७) चरणाङ्गुरीयके 'ॐ हं स्वां आनन्दात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः' (१८) चक्रभ्रमण में ॐ सः हां प्रकृत्यात्मने सहस्रशीर्षाय पुरुषाय नमः ॥२३६॥

अथ बाह्योपचारैरन्तःपूजा

तस्मिन् पीठे तमासीनं भगवन्तं विभावयन् ।
आसनाद्यैस्तु पुष्पान्तैर्यथाविध्यर्च्चयेद्बुधः ॥२३७॥
ततो मुखेऽर्च्चयेद्वेणुं वनमालाञ्च वक्षसि ।
दक्षस्तनोद्ध्र्वे श्रीवत्सं सव्ये तत्रैव कौस्तुभम् ॥२३८॥
वैष्णवश्चन्दनेनामुमालिप्योपकनिष्ठया ।
प्राग्वद्दीपशिखाकारतिलकानि द्विषड् लिखेत् ॥२३९॥

ॐ विं अहङ्कारात्मने वनमालायां तन्मात्रात्मने पञ्चात्मने इति क्वचित ; (७) ॐ ॠं दां चित्तात्मने हारे; (८) ॐ ॠं यं आत्मने केयूरे; (९) ॐ लृं गों अन्तरात्मने वलये; (१०) ॐ लॄं पीं परमात्मने कटके; (११) ॐ एं जं ज्ञानात्मने रत्नाङ्गुलीयकेषु ; (१२) ॐ ऐं नं प्राणात्मने श्रीवत्से कौस्तुभे च ; (१३) ॐ ओं वं गकृत्यात्मने उदरबन्धे; (१४) ॐ औं लं जीवात्मने पीतवाससि ; (१५) ॐ अं भां वागात्मने जङ्घाभूषणे ; (१६) ॐ अः यं योन्यात्मने नूपुरे ; (१७) ॐ हं स्वां आनन्दात्मने पदाङ्गुलीयकेषु ; (१८) ॐ सः हां प्रकृत्यात्मने चक्रभ्रमणे इति ॥२३६॥

तस्मिन् स्वदेहविषयकपूजिते पीठे निविष्टं तं कृतन्यासं प्रसादाभिमुखं लिखितलक्षणं श्रीकृष्णम्; आद्य-शब्देन स्वागतार्घ्य-पाद्याचमनीय-स्नानीय-वस्त्रयुगल-पुनराचमनीय-भूषणानुलेपनानि ; यथाविधीति— आसनाद्यैर्भूषणान्तैरभ्यर्च्य न्यासस्थानेषु तत्तदक्षरादिन्यासात्मकमन्त्रेण जलगन्धाक्षतपुष्पैरर्चयेदित्यर्थः ॥२३७॥

अत्रैव सव्ये वामस्तनोद्ध्र्वे एवेत्यर्थः ॥२३८॥

अमुं भगवन्तं चन्दनेन आलिप्य सम्यगनुलिप्य श्रीमदङ्गेषु चन्दनेन भक्तिच्छेदविधिना अनुलेपनं कृत्वेत्यर्थः । प्राग्वदिति—पूर्व्वमूद्ध्र्वपुण्ड्र प्रकरणे निजाङ्गेषु द्वादशतिलकनिर्म्माणविधिर्यथा लिखितस्तथैव श्रीभगवतो भालादिषु मूर्त्तिपञ्जरन्यासस्थानेषु मूर्त्तिपञ्जरमन्त्रैरनामिकया दीपशिखाकाराणि तिलकानि द्विषट् द्वादश लिखेत् विरचयेदित्यर्थः । वैष्णव इत्यस्यायं भावः—क्रमदीपिकोक्तानुसारेण यानि ज्ञानपरैः स्वाङ्गेष्वेव चन्दनालेपनादीनि क्रियन्ते, तानि श्रीभगवद्भक्तिपरो भगवत्येव कुर्य्यादिति; एवं वैष्णव इत्यग्रेऽप्यनुवर्त्त्य तथैव बोद्धव्यमिति दिक् ॥२३६॥

अथ बाह्योपचारैरन्तःपूजा

'इस स्वशरीर विषयक पूजित पीठ में भगवान् श्रीकृष्ण उपविष्ट हैं' इस प्रकार चिन्तन कर आसनादि अर्थात् आसन, स्वागत वाक्य, अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्रद्वय, पुनराचमनीय, भूषण, जल, गन्ध एवं पुष्पादि द्वारा विधानानुसार पूजा करे ॥२३७॥

अनन्तर मुख में वेणु, वक्षःस्थल में वनमाला, दक्षिण स्तन के ऊर्ध्व में श्रीवत्स एवं वाम स्तन के ऊर्ध्व में कौस्तुभ की पूजा करनी चाहिए ॥२३८॥

वैष्णवगण चन्दन के द्वारा पूर्ववत् लिप्त करके अनामिका अङ्गुलि के द्वारा इनके अङ्ग में उर्ध्वपुण्ड्र प्रकरणोक्त नियमानुसार द्वादश तिलक निर्म्माण करें । ज्ञाननिष्ठ व्यक्तिगण क्रमदीपिका के विधानानुसार निजदेह में तिलक निर्माण करें । किन्तु भक्तिनिष्ठजनगण श्रीभगवान् के अङ्ग में तिलक रचना करें ॥२३९॥

यथोक्तं पञ्चभिः पुष्पाञ्जलिभिश्चाभिपूज्य तम् ।
धूपं दीपञ्च नैवेद्यं मुखवासादि चार्पयेत् ॥२४०॥
गीतादिभिश्च सन्तोष्य कृष्णमस्मै ततोऽखिलम् ।
अशक्तो वहिरर्च्चायामर्पयेज्जपमाचरेत् ॥२४१॥

अथान्तर्याग-माहात्म्यम्

वैष्णवतन्त्रे—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥२४२॥

वृहन्नारदीये श्रीवामन-प्रादुर्भावे—

यन्नामोच्चारणादेव सर्व्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ।
स्तोत्रैर्वा अर्हणाभिर्वा किमु ध्यानेन कथ्यते ॥२४३॥

यथोक्तमिति—मूलमन्त्रेण पादद्वये श्वेतकृष्णतुलसीभ्यामेकः पुष्पाञ्जलिः, तेनैव हृदये श्वेतरक्तकरवीराभ्यामपरः, तेनैव मूर्द्ध्नि श्वेतरक्तपद्माभ्यां तृतीयः, तेनैव पुनर्मूर्द्ध्नि तैरेव तुलस्यादिभिः षड़्भिः चतुर्थः, तेनैव सर्व्वतनौ सर्व्वैरेव तैः पञ्चम इत्येवं पञ्चभिः, तत्र च श्वेतानि दक्षिणभागे, अन्यानि च वाम इति ज्ञेयम्। तं भगवन्तम्; धूपादिकञ्च यथोक्तमेवार्पयेत्; तत्तत्प्रकारोऽग्रे व्यक्तो भावी; आदि-शब्देन ताम्बूलादि ॥२४०॥

अनन्तरं गीतवाद्यनृत्यैश्च कृष्णं स्वदेह एव सन्तोष्य, वहिःपूजायामशक्तश्चेत्तर्हि इदानीमेतस्मै कृष्णाय अखिलं कर्म्मात्मानं चाग्रे लेख्यप्रकारेण समर्पयेत्। ततो जपमाचरेत्, शक्तस्तु प्रत्यहं वहिःपूजानन्तरमेव कर्म्मादिसमर्पणं कृत्वा जपं कुर्य्यादित्यर्थः ॥२४१॥

ध्यानयोगस्य अन्तःपूजालक्षणस्य; ध्यानयोगेऽस्येति वा पाठः। भावाभावकरः भोगमोक्षप्रद इत्यर्थः; यद्वा, भावा विविधचिन्तास्तासामभावकरः ॥२४२-२४४॥

यथोक्त विधानानुसार पञ्चविध कुसुमाञ्जलि द्वारा श्रीकृष्ण पूजन करके धूप, दीप, नैवेद्य एवं मुखशोधनकारी ताम्बूलादि समर्पण करे। अर्थात् मूल मन्त्रोच्चारण पूर्वक श्वेत एवं कृष्ण तुलसी के सहित श्रीचरणयुगल में एक अञ्जलि, मन्त्रोच्चारण पूर्वक श्वेत एवं रक्त करवीर के द्वारा हृदय में एक अंजलि, मन्त्रोच्चारण कर श्वेत एवं पद्म द्वारा मस्तक में एक अञ्जलि, मन्त्रोच्चारण पूर्वक उक्त तुलसी प्रभृति द्वारा पुनर्वार मस्तक में छह अञ्जलि (इसे एक मानकर) एवं मन्त्रोच्चारण पूर्वक उक्त समस्त द्रव्य से सर्वाङ्ग में एक अञ्जलि, इस प्रकार पञ्चविध पुष्पाञ्जलि द्वारा पूजा करके धूप, दीप, नैवेद्य एवं मुखशोधक ताम्बूलादि अर्पण करे ॥२४०॥

गीत वाद्यादि के द्वारा श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करना चाहिये। वाह्यिक पूजन करने में असमर्थ होने पर श्रीकृष्ण को समस्त अर्पण पूर्वक मन्त्र जप करे ॥२४१॥

अथान्तर्याग-माहात्म्यम्

वैष्णवतन्त्र में लिखित है—सहस्र-सहस्र अश्वमेध और शत-शत वाजपेय यज्ञ भी ध्यानयोग के षोड़श अंश के एक अंश के समान नहीं हैं ॥२४२॥

वृहन्नारदीय पुराण के श्रीवामनदेव का आविर्भाव प्रसङ्ग में वर्णित है—जिनका नामोच्चारण मात्र से समस्त उपद्रवों की शान्ति होती है। स्तोत्रपाठ, पूजा, ध्यान के द्वारा जो फल होगा उसका कहना बाहुल्य मात्र है ॥२४३॥

पञ्चम-विलासः

नारद-पञ्चरात्रे श्रीभगवन्नारद-संवादे—

अयं यो मानसो यागो जराव्याधिभयापहः। सर्व्वपापौघशमनो भावाभावकरो द्विज।
सतताभ्यासयोगेन देहबन्धाद्विमोचयेत् ॥२४४॥
यश्चैवं परया भक्त्या सकृत् कुर्य्यान्महामते।
क्रमोदितेन विधिना तस्य तुष्याम्यहं मुने ॥२४५॥ इति।
स्मरण-ध्यानयोःपूर्व्वं माहात्म्यं लिखितञ्च यत्।
ज्ञेयं तदधिकं चात्रान्तर्यागाङ्गतया तयोः ॥२४६॥
एवं यथासम्प्रदायं शक्त्या यावन्मनःसुखम्।
अन्तःपूजां विधायादावारभेत वहिस्ततः ॥२४७॥

तथा चोक्तं नारदेन—

ध्यात्वा षोड़शसंख्यातैरुपचारैश्च मानसैः।
सम्यगाराधनं कृत्वा वाह्यपूजां समाचरेत् ॥२४८॥

अथ वहिःपूजा

अनुज्ञां देहि भगवन् वहिर्यागे मम प्रभो।
श्रीकृष्णमित्यनुज्ञाप्य वहिःपूजां समाचरेत् ॥२४९॥

तत् माहात्म्यं, ततोऽधिकं चात्रान्तर्यागे ज्ञेयं बुधैः। तत्र हेतुः—तयोः स्मरणध्यानयोरन्तर्यागस्याङ्गत्वेन, अत्र श्रीमूर्त्तेश्चिन्तनमप्यस्ति, पूजादिकमप्यस्तीत्याधिक्यान्माहात्म्यमपि ततोऽधिकमेव युक्तमिति भावः ॥२४६-२४७॥ ध्यात्वा श्रीभगवन्तं सञ्चिन्त्य ॥२४८॥

तत्र वहिःपूजाचरणे तु पूजायाः स्थानानि अधिष्ठानानि अनेकशो बहुप्रकाराणि सन्ति; तत्र तेषु पूजास्थानेषु श्रीमूर्त्तयः श्रीभगवत्प्रतिकृतयो बहुविधाः सन्ति, तथा बहुविधाः शालग्रामशिलाश्च सन्ति ॥२४९-२५०॥

श्रीनारद पञ्चरात्र के श्रीभगवन्नारद संवाद में वर्णित है—'हे द्विजः मानस पूजा से जरा, व्याधि, भय विनष्ट होते हैं, समस्त पातक विदूरित होते हैं एवं निखिल चिन्ता विनष्ट होती है। सर्वदा मानस पूजा का अभ्यास करने से मानव देहबन्धन से मुक्त होता है ॥२४४॥

हे महामते मुने! जो व्यक्ति क्रम विधि के अनुसार भक्तियुक्त होकर एकबार मात्र मानस पूजा करता है, मैं उस व्यक्ति के प्रति सन्तुष्ट होता हूँ ॥२४५॥

पहले स्मरण एवं ध्यान का जो माहात्म्य वर्णित हुआ है, तदपेक्षा मानस पूजा का माहात्म्य अधिक है, कारण स्मरण एवं ध्यान इसके अन्तर्गत है। सम्प्रदाय एवं मानसिक सन्तुष्टि के अनुसार यथाशक्ति मानस पूजा करके वाह्य पूजा का अनुष्ठान करे ॥२४६-२४७॥

नारद ने कहा है—ध्यान करने के बाद षोड़श प्रकार मानसिक उपचार के द्वारा सम्यक् रूप से आराधना करके वाह्य पूजा करे ॥२४८॥

अथ वहिःपूजा

हे भगवन्! हे प्रभो! वाह्यपूजा हेतु मुझको अनुमति प्रदान कीजिये। श्रीकृष्ण के निकट इस प्रकार प्रार्थना करके वाह्यपूजानुष्ठान आरम्भ करे ॥२४९॥

तत्र त्वनेकशः सन्ति पूजास्थानानि तत्र च ।
श्रीमूर्त्तयो बहुविधाः शालग्रामशिलास्तथा ॥२५०॥

अथ पूजा-स्थानानि

संमोहनतन्त्रे—

शालग्रामे मनौ यन्त्रे स्थण्डिले प्रतिमादिषु ।
हरेः पूजा तु कर्त्तव्या केवले भूतले न तु ॥२५१॥

एकादशस्कन्धे (११।४२-४६) श्रीभगवदुद्धव-संवादे

सुर्य्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्व्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥२५२॥
सूर्य्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥२५३॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥२५४॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्व्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥२५५॥

स्थण्डिलं मन्त्रादिसंस्कृतस्थलं, तस्मिन् ॥२५१॥

मे मम भद्राणि उत्तमानि पूजायाः पदानि अधिष्ठानानि ; भद्रेति यन्त्राद्यपेक्षया ; यद्वा हे भद्र हे कल्याण-रूपोद्धवेति पृथक् पदम् ॥२५२॥

तत्रैवाधिष्ठानभेदेन पूजासाधनभेदानाह— सूर्य्ये त्विति त्रिभिः । त्रय्या विद्यया, सूक्तैरुपस्थानादिना च । अङ्ग हे उद्धव ॥२५३॥

बन्धुसत्कृत्या बन्धुसम्मानेन, मुख्यधिया प्राणदृष्ट्या, तोयादिभिर्द्रव्यैस्तर्पणादिना तोये, स्थण्डिले भुवि मन्त्रहृदयैः रहस्य-मन्त्रन्यासैः ; यद्यपि तत्तत्पूजायां गन्धादिकमपेक्षते, तथापि तत्र तत्र त्रयीविद्यादीनां प्राधान्याभिप्रायेण तान्येवोक्तानि ॥२५४-२५५॥

वाह्य पूजा का स्थान अनेक प्रकार हैं एवं मूर्त्ति भी बहुविध हैं, शालग्रामशिला भी अनेक प्रकार हैं ॥२५०॥

अथ पूजा-स्थानानि

सम्मोहनतन्त्र में वर्णित है—शालग्राम, मन्त्र, यन्त्र, मन्त्रादि योग, संस्कृत वेदी एवं प्रतिमा प्रभृति में श्रीहरि की पूजा करनी चाहिये । भूतल में पूजन न करे ॥२५१॥

एकादशस्कन्धस्थ श्रीभगवदुद्धव-संवाद में वर्णित है—सूर्य्य, अग्नि, ब्राह्मण, गो, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, आत्मा, समस्त भूत यह सब पदार्थ मेरी पूजा के आधार स्वरूप हैं ॥२५२॥

हे उद्धव ! त्रयी विद्योक्त सूक्त उपस्थानादि द्वारा प्रथम घृताहुति द्वारा अग्नि में, अतिथि सत्कार द्वारा विप्र में, तृणादि प्रदान द्वारा गो-समूह में मेरी पूजा करे ॥२५३॥

बन्धु के समान सत्कार द्वारा वैष्णववृन्द में, ध्यान द्वारा हृदयाकाश में, प्राण दृष्टि द्वारा वायु में, जलादि द्वारा जल में, रहस्य-मन्त्र द्वारा स्थण्डिलात्मक भूमि में, भोग द्वारा आत्मा में, तुल्य भाव द्वारा क्षेत्रज्ञरूप समस्त भूतों में मेरी पूजा करे ॥२५४-२५५॥

धिष्ण्येष्वित्येषु मद्रूपं शङ्ख-चक्र-गदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्च्चेत् समाहितः ॥२५६॥

अथ श्रीमूर्त्तयः

तत्रैव (श्रीभा ११।२७।१२-१४)—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा मता ॥२५७॥
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्च्चने ॥२५८॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्ज्जनम् ॥२५९॥
गोपालमन्त्रोद्दिष्टत्वात् तच्छ्रीमूर्त्तिरपेक्षिता ।
तथापि वैष्णवप्रीत्यै लेख्याः श्रीमूर्त्तयोऽखिलाः ॥२६०॥

सर्व्वाधिष्ठानेषु मध्ये ध्येयमाह—धिष्ण्येष्विति । इति अनेनोक्तप्रकारेण, एषु धिष्ण्येषु मद्रूपमेव ध्यायन्नर्च्चयेत् ॥२५६॥

लौही—लोहं सुवर्णादि, तन्मयी ; लेप्या मृच्चन्दनादिमयी ; हृदि पूजायां मनोमयी ; यद्यपि सर्व्वासामेव मनोमयीत्वं घटते, तथापि मनसि श्रीभगवत्परिस्फूर्त्तिविशेषापेक्षया पृथगुक्ता । जीवयति चेतयतीति जीवो भगवानेव तस्य मन्दिरमधिष्ठानम् । प्रतिष्ठा प्रकर्षेण तिष्ठत्यस्यामिति प्रतिमैव; यद्वा, प्रतिष्ठया कलान्यासादिना भगवन्मन्दिरं भवति । श्रीमूर्त्तेर्भेदे विशेषमाह—उद्वासेति सार्द्धेन । उद्वासो विसर्ज्जनम् ; स्थिरायामर्च्चने, अस्थिरायां श्रीशालग्रामशिलादौ विकल्पः; श्रीशालग्रामशिलायां न कुर्य्यात्, सैकत्यां कुर्य्यात्, अन्यत्र कुर्य्याद्वा, नवेति । अविलेप्यायां मृन्मयलेख्यव्यतिरिक्तायाम्, अन्यत्र विलेप्यायाञ्च लेख्यायाञ्च परिमार्ज्जनमेव ॥२५७-२५९॥

इस प्रकार उक्त अधिष्ठान में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म विशिष्ट चतुर्भुज शान्तिमय मेरे विग्रह में निश्चल चित्त से ध्यान करके पूजा करे ॥२५६॥

श्रीमूर्त्तिसमूहः

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में वर्णित है—१ शिलामयी, २ काष्ठमयी, ३ लौहमयी अर्थात् लौह सुवर्ण प्रभृति धातुमयी, ४ लेप्या अर्थात् मृच्चन्दनादिमयी, ५ लेख्या अर्थात् चित्रपटमयी, ६ बालुकामयी, ७ मनोमयी, ८ मणिमयी प्रतिमा अर्थात् मेरी मूर्त्ति आठ प्रकार की हैं ॥२५७॥

अतएव चल एवं अचल द्विविध प्रतिमा में भगवान् प्रतिष्ठित होते हैं। हे उद्धव ! उनके मध्य में अचल अर्थात् स्थिर प्रतिमा में आवाहन एवं विसर्जन नहीं है। चल अर्थात् अस्थिर प्रतिमा में स्थान भेद से आवाहन एवं विसर्जन है। शालग्राम शिला में आवाहन विसर्जन पद्धति नहीं है। चन्दनादि निर्मित प्रतिमूर्त्ति का वस्त्र से मार्जन करना चाहिये। तद्भिन्न प्रतिमाओं को जल से स्नान करावे ॥२५८-२५९॥

श्रीगोपाल-मन्त्र को उद्देश्य करके ही उक्त समस्त लिखित हैं। सुतरां उन श्रीमूर्त्ति की वर्णना करना आवश्यक है। तथापि वैष्णवगणों को सन्तुष्ट करने के निमित्त सभी मूर्त्तियों का वर्णन करूँगा ॥२६०॥

अथ श्रीमूर्त्ति-लक्षणानि

श्रीहयशीर्षपञ्चरात्रे श्रीभगवत्-श्रीहयशीर्ष-ब्रह्म-संवादे—

आदिमूर्त्तिर्वासुदेवः सङ्कर्षणमथासृजत् । चतुर्मूर्त्तिः परं प्रोक्तं एकैको भिद्यते त्रिधा ।
केशवादिप्रभेदेन मूर्त्तिद्वादशकं स्मृतम् ॥२६१॥

पङ्कजं दक्षिणे दद्यात् पाञ्चजन्यं तथोपरि । वामोपरि गदा यस्य चक्रं चाधो व्यवस्थितम् ।
आदिमूर्त्तेस्तु भेदोऽयं केशवेति प्रकीर्त्यते ॥२६२॥

अधरोत्तरभावेन कृतमेतत्तु यत्र वै ।
नारायणाख्या सा मूर्त्तिः स्थापिता भुक्तिमुक्तिदा ॥२६३॥

सव्याधः पङ्कजं यस्य पाञ्चजन्यं तथोपरि । दक्षिणोर्द्ध्वे गदा यस्य चक्रं चाधो व्यवस्थितम् ।
आदिमूर्त्तेस्तु भेदोऽयं माधवेति प्रकीर्त्यते ॥२६४॥

दक्षिणाधःस्थितं चक्रं गदा यस्योपरि स्थिता । वामोर्द्ध्वसंस्थितं पद्मं शङ्खं चाधो व्यवस्थितम् ।
सङ्कर्षणस्य भेदोऽयं गोविन्देति प्रकीर्त्यते ॥२६५॥

असृजत् पृथक् प्रकटयामास ॥२६१॥

दक्षिणे दक्षिणाधःकरे, तथोपरि दक्षिणोर्द्ध्वकरे, वामोपरि वामोर्द्ध्वकरे, अधः वामाधःकरे; दद्यादिति श्रीमूर्त्तिप्रादुर्भावणविधावुक्तेः; एवतन्यदग्रेऽप्यूह्यम् ॥२६२॥

अधरोत्तरभावेन केशवस्य यदधःकरस्थितं, नारायणस्य तदूर्द्ध्वकरस्थमित्येवमित्यर्थः ॥२६३॥

श्रीवासुदेव-सङ्कर्षणयोर्भेदं मूर्त्तिषट्कमुक्त्वा श्रीप्रद्युम्नस्य भेदं मूर्त्तित्रयं षट्श्लोक्या निर्द्दिशन् तत्रादौ त्रिविक्रममूर्त्तिमाह—दक्षिणोर्द्ध्वमिति सार्द्धेन ; दक्षिणोर्द्ध्वकरं व्याप्य, दक्षिणोर्द्ध्वे इति सप्तम्यन्तपाठो वा; एवमग्रेऽपि । शङ्खमित्यादि नपुंसकत्वमार्षम् ; एवमग्रेऽप्यन्यदूह्यम् ॥२६४-२६८॥

अथ श्रीमूर्त्ति-लक्षणानि

हयशीर्ष पञ्चरात्र के भगवान् श्रीहयग्रीव-ब्रह्मसंवाद में वर्णित है—आदि मूर्त्ति श्रीवासुदेव हैं, इनसे श्री-सङ्कर्षण मूर्त्ति प्रकाशित होती है। शास्त्र में चार मूर्त्ति प्रधान कही गई हैं। एक-एक मूर्त्ति का भेद तीन-तीन प्रकार हैं। केशवादि भेद से मूर्त्ति द्वादश प्रकार होती हैं ॥२६१॥

जिनके दक्षिण एवं निम्न हस्त में पद्म एवं तदुपरि पाञ्चजन्य शङ्ख, वाम ऊर्ध्व हस्त में गदा एवं उसके नीचे के हाथ में चक्र आदि का यह मूर्त्ति भेद केशव नाम से अभिहित है ॥२६२॥

केशव मूर्त्ति के विपरीत भाव से अवस्थित मूर्त्ति को नारायण कहते हैं। अर्थात् केशव के निम्न हस्त में जो है, वह नारायण के ऊर्ध्व हस्त में है, केशव के ऊर्ध्व हस्त में जो है, नारायण के निम्न कर में वह है, उक्त नारायण मूर्त्ति मुक्ति भुक्ति प्रदाता हैं ॥२६३॥

जिन मूर्त्ति के वाम निम्न हस्त में पद्म एवं शङ्ख है, ऊर्ध्व हस्त में गदा, एवं निम्न हस्त में चक्र है, उन आदि मूर्त्ति का यह भेद केशव नाम से विख्यात हैं ॥२६४॥

जिनके निम्नस्थ दक्षिण हस्त में चक्र, दक्षिण ऊर्ध्व हस्त में गदा, एवं वाम ऊर्ध्व हस्त में पद्म, नीचे के वाम हस्त में शङ्ख विराजित है, उनको संकर्षण का एक भेद जानना होगा, इनको गोविन्द मूर्त्ति कहते हैं ॥२६५॥

दक्षिणोपरि पद्मन्तु गदा चाधो व्यवस्थिता ।
सङ्कर्षणस्य भेदोऽयं विष्णुरित्यभिशब्द्यते ॥२६६॥
दक्षिणोपरि शङ्खश्च चक्रं चाधः प्रदृश्यते । वामोपरि तथा पद्मं गदा चाधः प्रदृश्यते ।
मधुसूदननामायं भेदः सङ्कर्षणस्य च ॥२६७॥
वामोद्ध्र्वसंस्थितश्चक्रमधः शङ्खं प्रदृश्यते ।
ब्रह्माण्डगं वामपादं दक्षिणं शेषपृष्ठगम् ॥२६८॥
बलिवञ्चन-संयुक्तं वामनञ्चाप्यधःस्थितम् ।
वामोद्ध्र्वे कौमुदी यस्य पुण्डरीकमधःस्थितम् ॥२६९॥
दक्षिणोद्ध्र्वं सहस्रारं पाञ्चजन्यमधःस्थितम् ।
सप्तताल-प्रमाणेन वामनं कारयेत् सदा ॥२७०॥
ऊद्ध्र्वं दक्षिणतश्चक्रमधः पद्मं व्यवस्थितम् ।
पद्मा पद्मकरा वामे पार्श्वे यस्य व्यवस्थिता ॥२७१॥
स्थितो वाप्युपविष्टो वा सानुरागो विलासवान् ।
प्रद्युम्नस्य हि भेदोऽयं श्रीधरेति प्रकीर्त्त्यते ॥२७२॥
दक्षिणोद्ध्र्वं महाचक्रं कौमुदी तदधःस्थिता । वामोद्ध्र्वे नलिनं यस्य अधः शङ्खं विराजते ।
हृषीकेशेति विज्ञेयः स्थापितः सर्व्वकामदः ॥२७३॥

श्रीवामनमूर्त्तिमाह—बलीति द्वाभ्याम् । अधःस्थितं भूतले अवस्थितमित्यादिकं त्रिविक्रमाद्विशेषः; कौमुदी कौमोदकी गदा ॥२६९-२७२॥

दक्षिण ऊर्ध्व हस्त में पद्म, दक्षिण निम्न हस्त में गदा, वाम ऊर्ध्व हस्त में शङ्ख, निम्न हस्त में चक्र है, उनको विष्णु कहते हैं, यह मूर्त्ति सङ्कर्षण मूर्त्ति का एक भेद विशेष है ॥२६६॥

जिनके दक्षिण ऊर्ध्व हस्त में शङ्ख, दक्षिण निम्न हस्त में चक्र, एवं वाम ऊर्ध्व हस्त में पद्म, वाम निम्न हस्त में गदा विद्यमान है, उनको मधुसूदन कहते हैं, यह मूर्त्ति सङ्कर्षण का भेद विशेष है ॥२६७॥

जिनके दक्षिण निम्न कर में पद्म, ऊर्ध्व कर में गदा, वाम ऊर्ध्व कर में चक्र, वाम निम्न कर में शङ्ख, वाम चरण ब्रह्माण्डगामी, दक्षिण चरण अनन्तदेव के पृष्ठ गामी है, उनको त्रिविक्रम मूर्त्ति कहते हैं ॥२६८॥

दैत्य बलिराज को वञ्चनाकारी वामनदेव भूतल में अवस्थित हैं। उनके वाम ऊर्ध्व हस्त में गदा, निम्न कर में पद्म, दक्षिण ऊर्ध्व हस्त में चक्र, दक्षिण निम्न कर में पाञ्चजन्य शङ्ख है। सप्तताल-अर्थात् सात विस्तृत कर तल के परिमाण युक्त श्रीवामनदेव की मूर्त्ति का निर्म्माण करना विधेय है ॥२६९-२७०॥

जिनकी दाहिनी ओर के ऊपर के हाथ में चक्र और नीचे के हाथ में पद्म विराजित है, जिनके वाम में पद्म हस्ता लक्ष्मी स्थित हैं, जो दण्डायमान हैं अथवा उपविष्ट हैं, अनुरागपूर्ण और विलासी हैं, उनको श्रीधर मूर्त्ति कहते हैं। यह प्रद्युम्न का एक भेद है ॥२७१-२७२॥

जिनकी दाहिनी ओर के ऊपर के हाथ में महा चक्र, और नीचे के हाथ में गदा, एवं बाँई ओर के ऊपर के हाथ में पद्म और नीचे के हाथ में शङ्ख विद्यमान है। उनका नाम हृषीकेश है। इनकी स्थापना करने से समस्त वासना पूर्ण होती है ॥२७३॥

दक्षिणोद्‌र्ध्वे पुण्डरीकं पाञ्चजन्यमधस्तथा । वामोद्‌र्ध्वे संस्थितं चक्रं कौमुदी तदधःस्थिता ।
पद्मनाभेति सा मूर्त्तिः स्थापिता मोक्षदायिनी ॥२७४॥

दक्षिणोद्‌र्ध्वे पाञ्चजन्यमधस्तात्तु कुशेशयम् । सव्योद्‌र्ध्वे कौमुदी चैव हेतिराजमधःस्थितम् ।
अनिरुद्धस्य भेदोऽयं दामोदर इति स्मृतः ॥२७५॥

एतेषान्तु स्त्रियौ कार्य्ये पद्मवीणाधरे शुभे ॥२७६॥

इति क्रमेण मार्गाधिमासाधिपाः केशवादयो द्वादश ।

अथ चतुर्व्विंशति-मूर्त्तयः

सिद्धार्थसंहितायाम् —

वासुदेवो गदा-शङ्ख-चक्र-पद्मधरो मतः ।
पद्मं शङ्खं तथा चक्रं गदां वहति केशवः ॥२७७॥

शङ्खं पद्मं गदाञ्चक्रं धत्ते नारायणः सदा ।
गदां चक्रं तथा शङ्खं पद्मं वहति माधवः ॥२७८॥

चक्रं पद्मं तथा शङ्खं गदाञ्च पुरुषोत्तमः ।
पद्मं कौमोदकीं शङ्खं चक्रं धत्तेऽप्यधोक्षजः ॥२७९॥

सङ्कर्षणो गदा-शङ्ख-पद्म-चक्रधरः स्मृतः ।
चक्रं गदां पद्म-शङ्खौ गोविन्दो धरते भुजैः ॥२८०॥

अनिरुद्धस्य भेदं श्रीहृषीकेशादित्रयमाह—दक्षिणोद्‌र्ध्वमिति त्रिभिः ॥२७३-२७४॥
कुशेशयं पद्मम्, हेतिराजं चक्रम् ॥२७५॥
पुरुषोत्तमो धत्ते ॥२७९॥
धरते धरति; आत्मनेपदमार्षम्; यो विभर्त्ति, स विष्णुः; एवमग्रेऽपि ॥२८०-२८८॥

जिनकी दाहिनी ओर के ऊपर के हाथ में पद्म और नीचे के हाथ में शङ्ख एवं बाँई ओर के ऊपर के हाथ में चक्र और नीचे के हाथ में गदा विद्यमान है, उनको पद्मनाभ मूर्त्ति कहते हैं। इनको स्थापन करने से मोक्ष लाभ होता है ॥२७४॥

जिनके दाहिने ऊपर के हाथ में पाञ्चजन्य शङ्ख, निम्न हस्त में पद्म एवं वाम ऊर्ध्व हस्त में गदा, निम्न हस्त में चक्र विराजित है, उनको दामोदर मूर्त्ति कहते हैं, यह अनिरुद्ध का एक भेद है।॥२७५॥

इन सब मूर्त्तियों की कमल वीणाधारिणी, कल्याणरूपिणी दो दो स्त्री मूर्त्ति करें। इस प्रकार क्रम से केशवादि द्वादशमूर्त्ति मार्गशीर्षादि द्वादश मास की अधिष्ठात्री देवता हैं ॥२७६॥

अथ चतुर्व्विंशति-मूर्त्तयः

सिद्धार्थ संहिता में उक्त है—वासुदेव—गदा, शङ्ख, चक्र एवं पद्म धारण करते हैं। केशव—पद्म, शङ्ख, चक्र एवं गदा धारण करते हैं ॥२७७॥

नारायण, निरन्तर शङ्ख, पद्म, गदा एवं चक्र धारण करते हैं। माधव—गदा, चक्र, शङ्ख एवं पद्मधारी हैं ॥२७८॥ पुरुषोत्तम—चक्र, पद्म, शङ्ख, गदा एवं अधोक्षज—पद्म, गदा, शङ्ख एवं चक्रधारी हैं ॥२७९॥

सङ्कर्षण—गदा, शङ्ख, पद्म एवं चक्र, गोविन्द—चक्र, शङ्ख, पद्म, गदाधारी हैं ॥२८०॥

गदां पद्मं तथा शङ्खं चक्रं विष्णुर्विभर्त्ति यः ।
चक्रं शङ्खं तथा पद्मं गदाञ्च मधुसूदनः ॥२८१॥
गदां सरोजं चक्रञ्च शङ्खं धत्तेऽच्युतः सदा ।
शङ्खं कौमादकीं चक्रमुपेन्द्रः पद्ममुद्वहेत् ॥२८२॥
चक्र-शङ्ख-गदा-पद्मधरः प्रद्युम्न उच्यते ।
पद्मं कौमोदकीं चक्रं शङ्खं धत्ते त्रिविक्रमः ॥२८३॥
शङ्ख चक्रं गदां पद्मं वामनो वहते सदा ।
पद्मं चक्रं गदां शङ्खं श्रीधरो वहते भुजैः ॥२८४॥
चक्रं पद्मं गदां शङ्खं नरसिंहो बिभर्त्ति यः ।
पद्मं सुदर्शनं शङ्खं गदां धत्ते जनार्द्दनः ॥२८५॥
अनिरुद्धश्चक्र-गदा-शङ्ख-पद्म-लसद्भुजः ।
हृषीकेशो गदां चक्रं पद्मं शङ्खञ्च धारयेत् ॥२८६॥
पद्मनाभो वहेत् शङ्खं पद्मं चक्रं गदान्तथा ।
पद्मं चक्रं गदां शङ्खं धत्ते दामोदरः सदा ॥२८७॥
शङ्खं चक्रं सरोजञ्च गदां वहति यो हरिः ।
शङ्ख कौमोदकीं पद्मं चक्रं विष्णुर्विभर्त्ति यः ॥२८८॥
एताश्च मूर्त्तयो ज्ञेया दक्षिणाधःकरक्रमात् ॥२८९॥

दक्षिणे योऽधःस्थितकरस्तत्क्रमादित्येवमादौ अधस्तनो दक्षिणकरः, पश्चादूद्र्ध्वदक्षिणकरः' ततो वामोद्‌र्ध्व-करः, ततो वामाधस्तनकर इति क्रमः; एवं श्रीवासुदेवस्यअधोदक्षिणकरे गदा, ऊद्‌र्ध्वदक्षिणकरे शङ्खं, ऊद्‌र्ध्ववामकरे चक्रम्, अधोवामकरे पद्ममिति ज्ञेयम्; तथा चोक्तं श्रीकृष्णदेवाचार्य्यपादैः—'केमसंदावा-

---

विष्णु—गदा, पद्म, शङ्ख, चक एवं मधुसूदन—चक्र, शङ्ख, पद्म, गदा धारण करते हैं ॥२८१॥
अच्युत—सतत गदा, पद्म, चक्र, शङ्ख धारण करते हैं, उपेन्द्र—शङ्ख, गदा, चक्र, पद्मधारी हैं ॥२८२॥
प्रद्युम्न—चक्र, शङ्ख, गदा, पद्म धारण करते हैं एवं त्रिविक्रम—पद्म, गदा, चक्र, शङ्खधारी हैं।
वामन—सर्वदा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते हैं। श्रीधर—पद्म, चक्र, गदा, शङ्ख धारण करते हैं ॥ ॥२८३-२८४॥

नरसिंह—चक्र, पद्म, गदा, शङ्ख गदाधारी हैं ॥२८५॥
नरसिंह—चक्र, पद्म, गदा, शङ्ख एवं जनार्दन—पद्म, चक्र, शङ्ख धारण करते हैं॥२८६॥
अनिरुद्ध—चक्र, गदा, शङ्ख, पद्म विशिष्ट हैं एवं हृषीकेश—गदा, चक्र, पद्म, शङ्ख धारण करते हैं ॥२८७॥
पद्मनाभ—शङ्ख, पद्म, चक्र, गदा एवं दामोदर—सतत पद्म, चक्र, गदा, शङ्ख धारण करते हैं॥२८८॥
हरि—शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा एवं विष्णु—शङ्ख, गदा, पद्म, चक्र धारण विशेष रूप से करते हैं। अर्थात् पहले दाहिनी ओर दक्षिण निम्न हस्तक्रम से उक्त मूर्त्तियों के शंखादि धारण समझना होगा। अर्थात् पहले दाहिनी ओर के नीचे के हाथ, फिर दाहिनी ओर के ऊपर के हाथ अनन्तर बाँई ओर के ऊपर के हाथ और फिर बाँई ओर के नीचे के हाथ। वासुदेव—दक्षिण निम्न हस्त में गदा, दक्षिण ऊर्ध्व हस्त में शंख, वाम ऊर्ध्व हस्त में चक्र, वाम निम्न हस्त में पद्म धारण करते हैं ॥२८९॥

मत्स्यपुराणे च—

एतदुद्देशतः प्रोक्तं प्रतिमा-लक्षणन्तथा ।
विस्तरेण न शक्नोति बृहस्पतिरपि द्विजाः ॥२६०॥ इति ।
सेवानिष्ठा हरेः श्रीमद्वैष्णवाः पाञ्चरात्रिकाः ।
प्राकत्स्यादखिलाङ्गानां श्रीमूर्त्तिं बहु मन्यते ॥२६१॥
सेव्या निजनिजैरेव मन्त्रैः स्वस्वेष्टमूर्त्तयः ।
शालग्रामात्मके रूपे नियमो नैव विद्यते ॥२६२॥
द्विभुजा जलदश्यामा त्रिभङ्गी मधुराकृतिः ।
सेव्या ध्यानानुरूपैश्च मूर्त्तिः कृष्णस्य दैवतैः ॥२६३॥
अन्याश्च विविधा श्रीमदवतारादिमूर्त्तयः ।
प्रादुर्भाव-विधावग्रे लेख्यास्तत्तद्विशेषतः ॥२६४॥

प्रविमानि-पूर्व्वधोजनाः । गोत्रिश्रीहृनृसिंहाच्युतवानापोपेहक्रमात् ॥' इति । अस्यार्थः—केशव-मधुसूदन-सङ्कर्षण-दामोदर-वासुदेव-प्रद्युम्न-विष्णु-माधवानिरुद्ध-पुरुषोत्तमाधोक्षज-जनार्द्दन-गोविन्द-त्रिविक्रम-श्रीधर-हृषीकेश-नृसिंहाच्युत-वामन-नारायण-पद्मनाभोपेन्द्रहरि-कृष्णाख्याश्चतुर्विंशति-श्रीमूर्त्तयः क्रमाज्ज्ञेया इति। एषां दक्षिणोर्द्ध्वकरमारभ्य क्रमेण शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मानि ज्ञेयानि । तथा च तत्पितृश्रीरामाचार्य्यपादैरुक्तम्-'केशवादिक कृष्णान्तमूर्त्तिषट्कचतुष्टये । सव्यापसव्यैर्गणयेत् पुनः कोणात् तथैव च । सव्यमेत्य पुनः कोणादपसव्यन्तु कोणतः ॥' इति । अयमर्थः—सव्येन शङ्खादौ गण्यमाने केशवः, अपसव्येन मधुसूदनः, कोणगत्या कोणाच्च तस्मात् सव्येन सङ्कर्षणः, अपसव्येन दामोदरः, सव्यमागत्य कोणाद्गण्यमाने वासुदेवः, अपसव्यमागत्य कोणतः प्रद्युम्नः; एवं वामोर्द्ध्वकरमारभ्य विष्णुः माधवः अनिरुद्धः पुरुषोत्तमः अधोक्षजः जनार्द्दन इति षट्; वामाधःकरमारभ्य गोविन्दस्त्रिविक्रमः श्रीधरो हृषीकेशः नृसिंहः अच्युत इति षट्; दक्षिणाधःकरमारभ्य वामनो नारायणः पद्मनाभः उपेन्द्रः हरिः कृष्ण इति षट् गणयेदिति,—इत्थं तत्तन्निर्द्धारः कार्य्यः ॥२८९॥

ननु एतावत्य एव श्रीमूर्त्तयोऽन्या वा सन्ति, तत्र लिखति—एतदिति । विस्तरेण वक्तुं न शक्नोति; हे द्विजाः शौनकादयः ॥२६०॥

ननु शङ्खादिधारि-चतुर्भुज-श्रीमूर्त्तयो लिखिताः, न तु श्रीनृसिंह-रघुनाथादि-विशेषमूर्त्तयः; तत्तद्भक्तैः कीदृशी तत्तन्मूर्त्तिरुपास्या? विशेषतश्चात्र श्रीगोपालदेवस्य पूजाविधिलिखने तस्य प्रकृतिरवश्यं विज्ञातुमपेक्ष्यते,

---

मत्स्यपुराण में वर्णित है—विभिन्न प्रतिमा का वर्णन के उद्देश्य से उक्त प्रतिमालक्षण उल्लिखित हुआ है । हे द्विजगण ! विस्तार पूर्वक वर्णन करने में देवगुरु बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं ॥२६०॥

हरि सेवा परायण पाञ्चरात्रिक वैष्णवगण अखिल अङ्ग प्रकट हेतु श्रीमूर्त्ति को विशेष सम्मान प्रदान करते हैं ॥२६१॥

निज निज मन्त्र के द्वारा शालग्राम रूप श्रीहरि में स्व-स्व अभीष्ट देवमूर्त्ति की पूजा करने में किसी प्रकार नियमादि की अपेक्षा नहीं है ॥२६२॥

ध्यानानुरूप मूर्त्ति में श्रीकृष्ण की द्विभुज मूर्त्ति की पूजा करे । द्विभुज जलदश्याम त्रिभङ्गी मधुराकृति मूर्त्ति ही सेव्य हैं ॥२६३॥

श्रीभगवान् की विविध मूर्त्तियों का वर्णन प्रादुर्भाव विधि प्रकरण में विशेष रूप से होगा ॥२६४॥

पञ्चम-विलासः

नित्यकर्म्मप्रसङ्गेऽत्र मूर्त्तिजन्म-प्रतिष्ठयोः ।
विधिर्न लिखितुं योग्यः स तु लेखिष्यतेऽग्रतः ।।२८५।।

अथ शालग्रामशिलाः

गौतमीयतन्त्रे—

गण्डक्याश्चैव देशे च शालग्रामस्थलं महत् ।
पाषाणं तद्भवं यत्तत् शालग्राममिति स्मृतम् ।।२८६।।

स्कन्दपुराणे—

स्निग्धा कृष्णा पाण्डरा वा पीता नीला तथैव च ।
वक्रा रुक्षा च रक्ता च महास्थूला त्वलाञ्छिता ।।२८७।।
कपिला दर्दुरा भग्ना बहुचक्रैकचक्रिका । बृहन्मुखी बृहच्चक्रा लग्नचक्राथवा पुनः ।
बद्धचक्राथवा काचिद्भग्नचक्रा त्वधोमुखी ।।२८८।।

अथ तासां वर्णादिभेदेन गुण-दोषौ

तत्रैव—

स्निग्धा सिद्धिकरी मन्त्रे कृष्णा कीर्त्तिं ददाति च ।
पाण्डरा पापदहनी पीता पुत्रफलप्रदा ।।२८९।।

तत्र लिखति—अन्याश्चेति । आदि-शब्देन चतुर्व्यूहपार्षदादयः ; अग्रे लेख्यश्रीमूर्त्तिप्रादुर्भावविधौ लेख्याः । यद्यपि श्रीमद्गोपालदेवस्य अष्टादशाक्षरमन्त्रतः लिख्यतेऽर्च्चाविधिरित्यनेन एतद्विलासारम्भे श्रीमद्गोपाल-देवस्यैव पूजाविधिलिखनं प्रतिज्ञातम्, तदेवात्रोपादेयञ्च; अतस्तस्यैव श्रीमूर्त्तिरपि लिखितुमुपयुज्यते; तथापि ग्रन्थारम्भे श्रीवैष्णवानां सर्व्वेषामेव सामान्यतोऽवश्यकृत्यकर्म्मलिखनं प्रतिज्ञातमस्तीत्यशेष-श्रीमूर्त्यपेक्षया तत्तद्विशेषविज्ञानार्थम्, तथा इतस्ततो वर्त्तमानविविधश्रीमूर्त्तिपरिचर्य्यार्थञ्च; प्रसङ्गादन्या अपि श्रीमूर्त्तयोऽत्र लिखिताः, यथा नृसिंहपरिचर्य्यादिग्रन्थे श्रीकृष्णदेवाचार्य्यादिभिः सर्व्वा एव ता इति । एवमन्यदप्यूह्यम् ।।२८४

ननु प्रतिष्ठाया भगवन्मन्दिरं भवतीत्युक्तेः प्रतिष्ठाविधिस्तथा श्रीमुखाद्यवयवपरिमाणादिना श्रीमूर्त्ति-प्रादुर्भावप्रकारश्चात्रापेक्ष्यते ; तत्र लिखति—नित्येति । अत्र अस्मिन्नित्यकर्म्मलिखनप्रकरणे, मूर्त्तेः प्रतिकृतेः जन्म प्रादुर्भावः प्रतिष्ठा च, तयोर्व्विधिः लिखितुमयोग्योऽतोऽग्रे कादाचित्क-कृत्यलिखने ।।२८५।।

दर्दुरा—दर्दुरो भेकस्तदाकारेत्यर्थः ; कर्व्वुरेति पाठे मिश्रवर्णा ।।२८८।।

नित्य कर्म प्रसङ्ग में श्रीमूर्त्ति का प्रादुर्भाव एवं प्रतिष्ठा विधि का वर्णन करना युक्ति युक्त नहीं है, तज्जन्य पश्चात् लिखित होगा ।।२८५।।

अथ शालग्रामशिलाः

गौतमीयतन्त्र में वर्णित है—गण्डकी नदी के एक देश में अति बृहद एक शालग्राम स्थल है । वहाँ समुत्पन्न प्रस्तर को शालग्राम शिला कहते हैं ।।२८६।।

स्कन्दपुराण में वर्णित है—स्निग्धवर्ण, कृष्णवर्ण, पाण्डर, पीत, नील, वक्र, रुक्ष, रक्तवर्ण, अतिस्थूल, चिह्न रहित, कपिल वर्ण, मेंढ़क की तरह, भेक के सदृश, भग्न, बहु चक्र, एक चक्र, बृहन्मुख विशिष्ट, बृहच्चक्रयुक्त, लग्नचक्र, बद्धचक्र, भग्नचक्र एवं अधोमुख विशिष्ट इत्यादि विभिन्न प्रकार शालग्राम उपलब्ध होते हैं ।।२८७-२८८।।

वर्णविभेद से उक्त शिलासमूह के गुण दोषों का वर्णन स्कन्दपुराण में है । स्निग्धवर्ण शिला मन्त्रसिद्धि

नीला सन्दिशते लक्ष्मीं रक्ता रोगप्रदायिका ।
रक्षा चोद्वेगदा नित्यं वक्रा दारिद्र्यदायिका ॥३००॥
स्थूला निहति चैवायुर्निष्फला तु अलाञ्छिता ।
कपिला कर्व्वुरा भग्ना बहुचक्रैकचक्रिका ॥३०१॥
वृहन्मुखी वृहच्चक्रा लग्नचक्राथवा पुनः ॥३०२॥
बद्धचक्राथवा या स्याद्भग्नचक्रा त्वधोमुखी ।
पूजयेद्यः प्रमादेन दुःखमेव लभेत सः ॥३०३॥

अग्निपुराणे च—

तथा व्यालमुखी भग्ना विषया बद्धचक्रिका ।
विकारावर्त्तनाभिश्च नारसिंही तथैव च ॥३०४॥
कपिला विभ्रमावर्त्ता रेखावर्त्ता च या शिला ।
दुःखदा सा तु विज्ञेया सुखदा न कदाचन ॥३०५॥
स्निग्धा श्यामा तथा मुक्ताऽमाया वा समचक्रिका ।
घोणिमूर्त्तिरनन्ताख्या गम्भीरा सम्पुटा तथा ॥३०६॥
सूक्ष्ममूर्त्तिरमूर्त्तिश्च सम्मुखा सिद्धिदायिका । धात्रीफलप्रमाणा या करेणोभय-सम्पुटा ।
पूजनीया प्रयत्नेन शिला चैतादृशी शुभा ॥३०७॥

बद्धचक्रा अव्यक्तचक्रा; रक्तादिका एता यः पूजयेत् ॥३०३॥

व्यालमुखी – व्यालस्येव मुखं यस्याः सा ; विषमा परस्परासम्मुखचक्रा ; विकाररूपैरावर्त्तैरुपलक्षिता नाभिश्चक्रमध्योन्नतभागो यस्याः सा; विभ्रमावर्त्ता सन्दिग्धावर्त्ता; रेखावर्त्ता रेखामण्डलमयावर्त्ता ॥३०४-३०५

मुक्ता मुक्ताफलाकृतिवर्त्तुला, अमाया अकृत्रिमा इति सर्व्वत्रान्वेति; यद्वा, सन्धानादिकर्म्मरहिता; घोणिः वराहस्तद्वन्मूर्त्तिर्यस्याः; अग्रे लेख्यलक्षणवराहमूर्त्तिर्वा। सम्पुटा समपुटा, अमूर्त्तिर्वासुदेवमूर्त्तिः, 'अकारो

प्रदान कारिणी है। कृष्णवर्ण शिला कीर्त्तिदा है, पाण्डुवर्ण शिला पातकनाशिनी है। एवं पीतवर्ण शिला पुत्र प्रदा है ॥२९९॥

नीलवर्ण शिला- लक्ष्मी वृद्धि करती है, रक्तवर्ण शिला- रोगोत्पन्न करती है, रुक्ष- सतत उद्वेगोत्पादन करती है एवं वक्र- दारिद्र्य प्रदान करती है ॥३००॥

स्थूल- आयुनाश करती है, चिह्नशून्य शिला का पूजन निष्फल होता है। कपिलवर्ण, कर्वुरवर्ण, भग्न, बहुचक्र, एकचक्र, वृहन्मुख, वृहच्चक्र, लग्नचक्र अथवा बद्धचक्र, भग्नचक्र, अधोमुख शालग्राम शिला का पूजक अवश्य ही दुःख भोग करता है ॥३०१-३०३॥

अग्निपुराण में वर्णित है—जिस शिला का मुख सर्प के मुख के समान है, भग्नशिला, परस्पर असम्मुखीन चक्रविशिष्ट शिला, बद्धचक्र विशिष्ट शिला, नाभिस्थल अर्थात् मध्यभाग उन्नत चक्रविशिष्ट शिला, नृसिंहमूर्त्ति शिला, कपिलवर्ण शिला, जिस शिला के आवर्त्त विषय में सन्देह है एवं आवर्त्त रेखामय शिला, उसकी पूजा करने से दुःख उत्पन्न होता है, कभी भी सुखलाभ नहीं होता है ॥३०४-३०५॥

स्निग्ध, श्यामवर्ण मुक्ताफल के समान वर्तुलाकार, अकृत्रिम, समचक्र, वराहाकृति, गभीर नाभि,

इष्टा तु यस्य या मूर्त्तिः स तां यत्नेन पूजयेत् ।
पूजिते फलमाप्नोति इहलोके परत्र च ॥३०८॥
दोषाश्चैते सकामार्च्चनविषयाः ।

यत उक्तं श्रीभगवता ब्राह्मे—
खण्डितं स्फुटितं भग्नं पार्श्वभिन्नं विभेदितम् ।
शालग्रामसमुद्भूतं शैलं दोषावहं न हि ॥३०९॥

श्रीरुद्रेण च स्कान्दे—
खण्डितं त्रुटितं भग्नं शालग्रामे न दोषभाक् ।
इष्टा तु यस्य या मूर्त्तिः स तां यत्नेन पूजयेत् ॥३१०॥

तथा—
चक्रं वा केवलं तत्र पद्मेन सह संयुतम् ।
केवला वनमाला वा हरिर्लक्ष्म्या सह स्थितः ॥३११॥
मुख्याः स्निग्धादयस्तत्रामुख्या रक्तादयो मताः ।
मुख्याभावे त्वमुख्या हि पूज्या इत्युच्यते परैः ॥३१२॥

वासुदेवः स्यात्' इति अभिधानात्; सम्मुखा सममुखा, करेणोभयसम्पुटा करपृष्ठवदुन्नता करतलसमा च ॥ ३०६-३०७॥
पूजिते, पूजने कृते सति ॥३०८॥
शैलं शिलायाः समूहः ॥३०९॥
खण्डितमित्यादि भावे क्त-प्रत्यान्तम् ॥३१०॥
तथापि लक्ष्म्या सह भगवान् तत्र तिष्ठतीत्यर्थः ॥३११॥
पूज्यापूज्यत्वयोः केषाञ्चिन्मतं लिखति--मुख्या इति, मुख्यानां स्निग्धादीनामभावे सति अमुख्या रक्तादय एव पूज्याः । यदि च मुख्या लभ्यन्ते, तदान्यपूजने तत्तद्दोष एवेत्यर्थः ॥३१२॥

सम्पुट, सूक्ष्ममूर्त्ति, वासुदेवमूर्त्ति, सममुख, आमलकी परिमित, करपृष्ठवत् उन्नत एवं करतल की समाकृति, शिलासमूह की पूजा प्रयत्न से करना उचित है । यह सब शिला मङ्गलदायक एवं सिद्धिप्रद हैं ॥३०६-३०७॥
श्रीमूर्त्ति जिनका अभीष्ट है, वह सयत्न से उनकी पूजा करे । पूजन करने से इहलोक परलोक दोनों का ही फल लाभ होता है ॥३०८॥
जिन सब दोषों का वर्णन हुआ है, वे सब सकाम पूजा विषयक हैं, कारण ब्रह्मपुराण में श्रीभगवान् ने कहा है—क्या खण्डित, क्या स्फुटित भग्न, भग्नपार्श्व किम्वा विभिन्न होने पर भी शालग्राम स्थली की शिला में कोई दोष नहीं है ॥३०९॥
स्कन्दपुराण में श्रीशिव ने कहा है—खण्डित, त्रुटित, भग्न शालग्राम शिला जैसी ही क्यों न हो, शालग्राम शिला में कोई दोष नहीं होता है । जो मूर्त्ति जिसकी अभीष्ट है, वह यत्न के सहित उसी मूर्त्ति की पूजा करे ॥३१०॥
और भी वर्णित है—पद्म अथवा वनमाला चिह्न संयुक्त चक्र चिह्न विशिष्ट शालग्राम में लक्ष्मीदेवी के सहित श्रीहरि निवास करते हैं ॥३११॥
अपर पण्डितगण कहते हैं—शिला के विषय में स्निग्धादि वर्ण प्रधान है और रक्तादि वर्ण अप्रधान है। प्रधान के अभाव से अप्रधान की पूजा करे ॥३१२॥

अथ तासामेव लक्षणविशेषेणसंज्ञाविशेषः

ब्राह्म्ये श्रीभगवद्ब्रह्म संवादे—

निवसामि सदा ब्रह्मन् शालग्रामाख्यवेश्मनि ।
तत्रैव रथचक्राङ्कभेदनामानि मे शृणु ॥३१३॥
द्वारदेशे समे चक्रे दृश्यते नान्तरीयके ।
वासुदेवः स विज्ञेयः शुक्लाभश्चातिशोभनः ॥३१४॥
द्वे चक्रे एकलग्ने तु पूर्व्वभागस्तु पुष्कलः ।
सङ्कर्षणाख्यो विज्ञेयो रक्ताभिश्चातिशोभनः ॥३१५॥
प्रद्युम्नः सूक्ष्मचक्रस्तु पीतदीप्तिस्तथैवच । शुषिरं छिद्रबहुलं दीर्घाकारन्तु तद्भवेत् ॥३१६॥
अनिरुद्धस्तु नीलाभो वर्त्तुलश्चातिशोभनः ।
रेखात्रयन्तु तद्द्वारि पृष्ठं पद्मेन लाञ्छितम् ॥३१७॥
सौभाग्यं केशवो दद्यात् चतुष्कोणो भवेत्तु यः ।
श्यामं नारायणं विद्यान्नाभिचक्रं तथोन्नतम् ॥३१८॥
दीर्घरेखासमोपेतं दक्षिणे शुषिरं पृथु ।
ऊद्ध्वं मुखं विजानीयात् द्वारे च हरिरूपिणम् ॥३१९॥

रथस्येव चक्रं रथचक्राकारं यत् सुदर्शनचक्रं, तस्य अङ्के चिह्नविषये यो भेदस्तस्मिन् सति यानि नामानि नामभेदा भवन्ति, तानि मे मत्तः शृण्वित्यर्थः ॥३१३॥

नान्तरीयके अवान्तरे ; यद्वा, अन्तरं मध्यमन्तरा विच्छेदो वा तद्विहीने ; अनतिमध्यदेशस्थे संलग्ने वेत्यर्थः ॥३१४॥

शुषिरं मुखच्छिद्रं यत् तद्दीर्घाकारं भवेत्, छिद्रबहुलश्च अवान्तरबहुच्छिद्रयुक्तमित्यर्थः । नाभिचक्रं चक्रस्य नाभिर्मध्यभाग इत्यर्थः । तारं प्रणवरूपम्, ऊद्ध्र्वमुखत्वात् माहात्म्याद्वा; यद्वा, तारयतीति तथा तम्,

---

अथ तासामेव लक्षणविशेषेण संज्ञाविशेषः

हे ब्रह्मन् ! मैं शालग्राम नामक मन्दिर में सर्व्वदा निवास करता हूँ । उक्त शिला के चक्र चिह्न के भेद से जो विभिन्न नाम होते हैं उसका विवरण मुझसे सुनो ॥३१३॥

जिस शिला के द्वारदेश में समान दो चक्र अनति मध्य देश में दृष्ट होते हैं, शुक्लवर्ण विशिष्ट एवं अति मनोहर हैं, उनका नाम वासुदेव है ॥३१४॥

जिनके चक्रद्वय एक भाग में संयुक्त हैं किन्तु पूर्वभाग में परिपुष्ट एवं लोहिताभ, अतिशय शोभा विशिष्ट हैं उनका नाम सङ्कर्षण है ॥३१५॥

प्रद्युम्न शिला—सूक्ष्मचक्र एवं पीतवर्ण हैं । इनके मुखच्छिद्र दीर्घ एवं अवान्तर बहुछिद्र विशिष्ट हैं ॥३१६॥

अनिरुद्ध का वर्ण नील है, आकार वर्त्तुल सदृश एवं अति सुन्दर है । उनके मुखद्वार में रेखात्रय विराजित हैं एवं पृष्ठ देश में पद्मचिह्न है ॥३१७॥

केशव शिला—चतुष्कोण विशिष्ट है एवं सौभाग्यप्रद है । जिनका वर्ण श्याम एवं नाभिचक्र अर्थात् चक्र का मध्यभाग उन्नत है, वह नारायण हैं । जो दीर्घरेखा युक्त है, जिनके दक्षिण भाग में विस्तृत मुखछिद्र है, बिवरद्वार ऊर्ध्वमुख है, वह हरि हैं । हरि—वाञ्छित फल, मुक्ति एवं अर्थ प्रदान करते हैं । जिनका

पञ्चम-विलासः

कामदं मोक्षदञ्चैव अर्थदञ्च विशेषतः । परमेष्ठी लोहिताभः पद्मचक्रसमन्वितः ॥३२०॥
बिल्वाकृतिस्तथा पृष्ठे शुषिरं चातिपुष्कलम् । कृष्णवर्णस्तथा विष्णुः स्थूले चक्रे सुशोभनः ।
ब्रह्मचर्य्येण पूज्योऽसावन्यथा विघ्नदो भवेत् ॥३२१॥

क्वचिच्च—

कपिलो नरसिंहोऽथ पृथुचक्रे च शोभने ।
ब्रह्मचर्य्याधिकारी स्यान्नान्यथा पूजनं भवेत् ॥३२२॥
नरसिंहस्त्रिविन्दुः स्यात् कपिलः पञ्चविन्दुकः ।
ब्रह्मचर्य्येण पूज्यः स्यादन्यथा सर्व्वविघ्नदः ॥३२१॥
स्थूलं चक्रद्वयं मध्ये गुड़लाक्षासवर्णकम् ।
द्वारोपरि तथा रेखा पद्माकारा सुशोभना ॥३२४॥
स्फुटितं विषमं चक्रं नारसिंहन्तु कापिलम् ।
संपूज्य मुक्तिमाप्नोति संग्रामे विजयी भवेत् ॥३२५॥

पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये च—

यस्य दीर्घं मुखं पूर्व्वकथितैर्लक्षणैर्युतम् ।
रेखाश्च केशराकारा नारसिंहो मतो हि सः ॥३२६॥

'उपर्य्यधश्च चक्रे द्वे' इत्येवं तत्रैव पूर्व्वकथितैर्दामोदरलक्षणैर्युक्तम् । वाराहं विजानीयादिति पूर्व्वक्रिययैव सम्बन्धः । एवमग्रेऽपि क्वचित् । सा वज्रकीटोद्भवा रेखामयी पङ्क्तिश्चक्राकारेण विशिष्टा यत्र भवेत्, तं दूर्व्वाभं द्वारि सङ्कीर्णं च विजानीयात्; शालग्रामसमुद्भवं लिङ्गं चिह्नं चक्रमित्यर्थः । शिखरे यस्योपरि दृश्यते, हिरण्याख्यं हिरण्यगर्भाख्यं विनिर्द्दिशेत्; पाठान्तरं सुगमम्; यत्र यस्यां; सा शालग्रामशिला ॥३१५-३२७॥

वर्ण लोहित है, जिनमें पद्म चक्र चिह्न विद्यमान हैं, उनका नाम परमेष्ठी है। परमेष्ठी का आकार बिल्वफल के तुल्य है, उनके पृष्ठ भाग में स्पष्ट रूप से मुखछिद्र देदीप्यमान है। विष्णु का वर्ण कृष्ण है। आप अति सुन्दर एवं स्थूल चक्रद्वय विशिष्ट हैं। ब्रह्मचर्य्यावलम्बन पूर्वक इनकी पूजा विधेय है। अन्यथा विघ्न उपस्थित होता है ॥३१८-३२१॥

स्थल विशेष में वर्णित है—कपिल एवं नरसिंह स्थूल चक्रद्वय होते हैं, ब्रह्मचारी व्यक्ति ही पूजा कर सकता है, अन्यथा पूजा नहीं होती है ॥३२२॥

नरसिंह में तीन बिन्दु एवं कपिल में पाँच बिन्दु हैं। ब्रह्मचर्य्यावलम्बन पूर्वक उनकी पूजा करे, अन्यथा विघ्न प्रदान करते हैं ॥३२३॥

मुखविवर में स्थूल चक्रद्वय, वर्ण गुड़ एवं लाक्षा सदृश है। मुख के ऊर्ध्व भाग में पद्मवत् अति सुन्दर रेखा विद्यमान है। चक्र विभिन्न एवं असम है। इस प्रकार कपिल एवं नृसिंह की पूजा करने से मुक्तिलाभ एवं युद्ध में विजय लाभ होता है ॥३२४-३२५॥

और भी वर्णित है—जिनका मुखबिवर दीर्घ एवं पूर्वोक्त लक्षणयुक्त और केशर के समान कतिपय रेखा विशिष्ट है उनका नाम—नरसिंह है ॥३२६॥

ब्राह्मे —

वाराहं शक्तिलिङ्गं च चक्रे च विषमे स्मृते ।
इन्द्रनीलनिभं स्थूलं त्रिरेखालाञ्छितं शुभम् ॥३२७॥

पाद्मे च तत्रैव—

वराहाकृतिराभुग्नश्चक्ररेखास्वलङ्कृतः । वाराह इति स प्रोक्तो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥३२८॥

ब्राह्म एव —

दीर्घा काञ्चनवर्णा या विन्दुत्रयविभूषिता ।
मत्स्याख्या सा शिला ज्ञेया भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ॥३२९॥

क्वचिच्च—

मत्स्यरूपन्तु देवेशं दीर्घाकारन्तु यद्भवेत् ।
विन्दुत्रयसमायुक्तं कांस्यवर्णं विशोभनम् ॥३३०॥

ब्राह्म एव —

कूर्म्मस्तथोन्नतः पृष्ठे वर्त्तुलावर्त्तपूरितः । हरितं वर्णमाधत्ते कौस्तुभेन च चिह्नितः ॥३३१॥

पाद्मे च तत्रैव—

कूर्म्माकारा च चक्राङ्का शिला कूर्म्मः प्रकीर्तितः ॥३३२॥

ब्राह्म एव —

हयग्रीवोऽङ्कुशाकारो रेखा चक्रसमीपगा । बहुचक्रसमायुक्तं पृष्ठं नीरदनीलकम् ॥३३३॥

क्वचिच्च—

हयग्रीवाङ्कुशाकारे रेखाः पञ्च भवन्ति हि ।
बहुविन्दुसमाकीर्णे दृश्यन्ते नीलरूपकाः ॥३३४॥

ब्रह्मपुराण में उक्त है- जिनमें दो शक्ति चिह्न और दो विषम चक्र विद्यमान हैं, वर्ण- इन्द्रनीलमणि सदृश है, स्थूल एवं तीन रेखा से युक्त है, अति मनोहर है, उनको वराह कहते हैं ॥३२७॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है—जिनकी रेखा वक्राकृति है, चक्रयुक्त एवं रेखासमूह के द्वारा अलङ्कृत है, उनका नाम वराह है, वराह पूजित होने से भोग एवं मोक्ष लाभ होता है ॥३२८॥

ब्रह्मपुराण में वर्णित है- जिनका आकार दीर्घ है, वर्ण सुवर्णतुल्य है एवं विन्दुत्रय युक्त हैं, उनका नाम मत्स्य है। मत्स्य- भोग एवं मोक्ष प्रदान करते हैं ॥३२९॥

किसी स्थान में वर्णित है- जो दीर्घाकार हैं, विन्दुगण समायुक्त हैं, कांस्यवर्ण एवं अति सुन्दर हैं, उनका नाम मत्स्य है ॥३३०॥

ब्रह्मपुराण में उक्त है—जिनका पृष्ठभाग उन्नत एवं वर्त्तुलाकार आवर्त्त में पूर्ण है; हरिद्वर्ण एवं जो कौस्तुभ चिह्न धारी हैं, उनका नाम कूर्म है ॥३३१॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है—कूर्मवत् आकार विशिष्ट एवं चक्राङ्कित शिला का नाम कूर्म है ॥३३२॥

ब्रह्मपुराण में भी वर्णित है—जिनकी आकृति अङ्कुशतुल्य है, जिनके निकट में रेखायुक्त बहु चक्र हैं, एवं जिनका पृष्ठ भाग मेघतुल्य नील है, उनका नाम हयग्रीव है ॥३३३॥

कहीं पर वर्णित है—हयग्रीव- अङ्कुशाकार, पञ्चरेखा विशिष्ट, बहुविन्दु शोभित एवं नील वर्ण हैं ॥३३४॥

पाद्मे च तत्रैव—

हयग्रीवा यथा लम्बा रेखाङ्का या शिला भवेत् ।
तथाऽसौ स्याद्धयग्रीवः पूजितो ज्ञानदो भवेत् ॥३३५॥

किञ्च—

अश्वाकृति मुखं यस्य साक्षमालं शिरस्तथा ।
पद्माकृतिर्भवेद्वापि हयशीर्षस्त्वसौ मतः ॥३३६॥

ब्राह्म एव—

वैकुण्ठं मणिवर्णाभं चक्रमेकं तथा ध्वजम् ।
द्वारोपरि तथा रेखा पद्माकारा सुशोभना ॥३३७॥

श्रीधरस्तु तथा देवश्चिह्नितो वनमालया । कदम्बकुसुमाकारो रेखापञ्चक-भूषितः ॥३३८॥

वर्त्तुलश्चातिह्रस्वश्च वामनः परिकीर्त्तितः ।
अतसीकुसुमप्रख्यो विन्दुना परिशोभितः ॥३३९॥

अन्यत्र च—

वामनाख्यो भवेद्देवो ह्रस्वो यः स्यान्महाद्युतिः ।
ऊर्द्ध्वचक्रस्त्वधश्चक्रः सोऽभीष्टार्थप्रदोऽर्च्चितः ॥३४०॥

ब्राह्म एव—

सुदर्शनस्तथा देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः ।
वामपार्श्वे गदाचक्र रेखे चैव तु दक्षिणे ॥३४१॥

पाद्म कार्त्तिक-माहात्म्ये —

चक्राकारेण पङ्क्तिः सा यत्र रेखामयी भवेत् ।
स सुदर्शन इत्येवं ख्यातः पूजाफलप्रदः ॥३४२॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक प्रसङ्ग में उक्त है— अश्व की ग्रीवा के समान लम्बायमान रेखाविशिष्ट शिला का नाम हयग्रीव है, इनकी पूजा करने से यह ज्ञान प्रदान करते हैं ॥३३५॥

और भी वर्णित है – जिनका मुखच्छिद्र अश्वमुख सदृश है, उपरिभाग में अक्षमाला का चिह्न है, उनका नाम हयग्रीव है । हयग्रीव का आकार पद्मतुल्य भी होता है ॥३३६॥

ब्रह्मपुराण में वर्णित है—मणिवर्ण के सदृश जिनका वर्ण है, एवं जो एक चक्र विशिष्ट ध्वज चिह्नयुक्त हैं जिनका मुखविवर का ऊर्ध्वभाग में पद्माकार सुन्दर रेखा है, उनका नाम वैकुण्ठ है ॥३३७॥

श्रीधर वनमाला चिह्न शोभित, कदम्ब पुष्प तुल्य आकृति विशिष्ट एवं रेखा पञ्चक से विभूषित हैं ॥३३८॥

वर्त्तुल, अति ह्रस्वाकृति एवं अतसी कुसुम के समान वर्ण एवं विन्दु शोभित शिला को वामन कहते हैं ॥३३९॥

अन्यत्र भी वर्णित है—जो ह्रस्वाकृति, महती कान्ति विशिष्ट हैं एवं जिनका ऊर्ध्वभाग एवं निम्न भाग में चक्र है, वह वामन है अर्चित होने से वाञ्छित फल प्रदान करते हैं ॥३४०॥

ब्रह्मपुराण में उक्त है—जिनका श्यामवर्ण है, जिनकी उत्कृष्ट कान्ति है एवं वाम भाग में गदा, चक्र एवं दक्षिण भाग में रेखाद्वय विराजित हैं, उनका नाम सुदर्शन है ॥३४१॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में उक्त है—जिनकी वह रेखा चक्राकृति है, उनका नाम सुदर्शन है, सुदर्शन पूजित होने से पूजा का फल प्रदान करते हैं ॥३४२॥

दामोदरस्तथा स्थूलो मध्ये चक्रं प्रतिष्ठितम् ।
दूर्व्वाभं द्वारि सङ्कीर्णं पीता रेखा तथैव च ॥३४३॥

पाद्मे च तत्रैव—

उपर्य्यधश्च चक्रे द्वे नातिदीर्घं मुखे बिलम् ।
मध्ये च रेखा लम्बैका स च दामोदरः स्मृत ॥३४४॥

अन्यत्र च—

स्थूलो दामोदरो ज्ञेयः सूक्ष्मरन्ध्रो भवेत्तु यः ।
चक्रे च मध्यदेशस्थे पूजितः सुखदः सदा ॥३४५॥

नानावर्णो ह्यनन्ताख्यो नागभोगेन चिह्नितः । अनेकमूर्त्तिसंभिन्नः सर्व्वकामफलप्रदः ॥३४६॥

पाद्मे च तत्रैव—

अनन्तचक्रो बहुभिश्चिह्नैरप्युपलक्षितः । अनन्तः स तु विज्ञेयः सर्व्वपूजाफलप्रदः ॥३४७॥

दृश्यते शिखरे लिङ्गं शालग्रामसमुद्भवम् ।
तस्य योगेश्वरो नाम ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥३४८॥
आरक्तं पद्मनाभाख्यं पङ्कजच्छत्रसंयुतम् ।
तुलस्या पूजयेन्नित्यं दरिद्रस्तत्रीश्वरो भवेत् ॥३४९॥
चन्द्राकृति हिरण्याख्यं रश्मिजालं विनिर्द्दिशेत् ।
सुवर्णरेखाबहुलं स्फटिकद्युतिशोभितम् ॥३५०॥

किञ्चाच—

अर्द्धचन्द्राकृतिर्देवो हृषीकेश उदाहृतः । तमभ्यर्च्य लभते स्वर्गं विषयांश्च समीहितान् ॥३५१॥

दामोदर स्थूल, मध्य में चक्रयुक्त, दूर्वावर्ण, सङ्कीर्ण एवं पीत रेखायुक्त मुखविवर विशिष्ट हैं ॥३४३॥

पद्मपुराण के कार्तिक माहात्म्य में वर्णित है—जिनके ऊर्ध्व में एवं निम्न भाग में दो चक्र, मुखविवर एवं मध्य स्थान में एक लम्बी रेखा है, आपको दामोदर कहते हैं ॥३४४॥

अन्यत्र भी उक्त है—दामोदर स्थूल हैं, उनका मुखविवर अनतिदीर्घ है एवं मध्य भाग में दो चक्र हैं, अर्चित होने से आप सवदा सुख प्रदान करते हैं ॥३४५॥

अनन्त के विविध वर्ण हैं, उनमें सर्प देह के एवं विभिन्न मूर्त्ति का चिह्न अङ्कित है। अनन्त समस्त वाञ्छित फल दान करते हैं ॥३४६॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में उक्त है— जिनमें अनेक चक्र और चिह्न भी अनेक प्रकार हैं, उनका नाम अनन्त है। आप पूजा के समस्त फल प्रदान करते हैं ॥३४७॥

जिनके ऊर्ध्व भाग में चक्र चिह्न दृष्ट होता है, उनका नाम योगेश्वर है, आप ब्रह्महत्या विनाशकारी हैं ॥३४८॥ जिनका वर्ण ईषत् लोहित है, जो पद्म एवं छत्र चिह्न संयुक्त है, उनका नाम पद्मनाभ है। दरिद्र व्यक्ति तुलसी के द्वारा नित्य उनकी पूजा करने से धन लाभ करता है ॥३४९॥

जो चन्द्राकृति, किरणजाल विकीरणकारी, अनेक सुवर्ण रेखाधारी एवं स्फटिक के समान द्युति शोभित हैं, उनको हिरण्यगर्भ कहते हैं। यहाँ पर और भी वर्णित है—अर्धचन्द्र के समान जिनकी आकृति है, उनका नाम हृषीकेश है ॥३५०॥ उनकी पूजा करने से स्वर्ग एवं समस्त वाञ्छित द्रव्य लाभ होता है ॥३५१॥

वामपार्श्वे समे चक्रे कृष्णवर्णः स विन्दुकः ।
लक्ष्मीनृसिंहो विख्यातो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥३५२॥
त्रिविक्रमस्तथा देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः ।
वामपार्श्वे तथा चक्रे रेखा चैव तु दक्षिणे ॥३५३॥
प्रदक्षिणावर्त्तकृत-वनमालाविभूषिता । या शिला कृष्णसंज्ञा सा धनधान्य-सुखप्रदा ॥३५४॥

गौतमीये—

बहुभिर्जन्मभिः पुण्यैर्यदि कृष्णशिलां लभेत् ।
गोष्पदेन तु चिह्नेन जनुस्तेन समाप्यते ॥३५५॥
चतस्रो यत्र दृश्यन्ते रेखाः पार्श्व-समीपगाः ।
द्वे चक्रे मध्यदेशे तु सा शिला तु चतुर्मुखा ॥३५६॥

किञ्च, पाद्मे तत्रैव—

वज्रकीटोद्भवा रेखाः पङ्क्तीभूताश्च यत्र वै ।
शालग्रामशिला या सा विष्णुपञ्जरसंज्ञिता ॥३५७॥
नागवत्कुण्डलीभूत-रेखापङ्क्तिः स शेषकः । पद्माकारे च पङ्क्ती द्वे मध्ये लम्बा च रेखिका ।
गरुड़ः स तु विज्ञेयश्चतुश्चक्रो जनार्द्दनः ॥३५८॥
चतुश्चक्रः सूक्ष्मद्वारो वनमालाङ्कितोदरः ।
लक्ष्मी-नारायणः श्रीमान् भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥३५९॥

एवं नामभेदेन वासुदेवाद्या लक्ष्मीनारायणान्ताः पञ्चत्रिंशद्भेदाः । तत्रापि केषाञ्चिल्लक्षणभेदेन प्रत्येकं बहुधा भेदो ज्ञेयः ॥३५८-३५९॥

जिनके वाम पार्श्व में दो समान चक्र हैं, जो कृष्ण वर्ण के हैं, विन्दु चिह्न विशिष्ट हैं, उनको लक्ष्मी नृसिंह कहते हैं। पूजित होने से भोग, मोक्ष प्रदान करते हैं ॥३५२॥

जिनका श्याम वर्ण, महाद्युतियुक्त, वाम भाग में दो चक्र एवं दक्षिण भाग में एक रेखा अङ्कित है, उनको त्रिविक्रम कहते हैं ॥३५३॥

जो दक्षिणावर्त्तकृत वनमाला विभूषित हैं, उनको कृष्ण कहते हैं। आप धन-धान्य एवं सुख प्रदान करते हैं ॥३५४॥

गौतमीय तन्त्र में वर्णित है—जो व्यक्ति अनेक जन्म के बाद गोष्पद चिह्न विशिष्ट कृष्ण-शिला प्राप्त करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥३५५॥

जिनमें परस्पर समीपस्थ रेखा चतुष्टय हैं, एवं मध्य भाग में दो चक्र दृष्ट होते हैं, उनको चतुर्मुख कहते हैं ॥३५६॥ पद्मपुराण के उक्त कार्त्तिक माहात्म्य में ही वर्णित है—जिनमें वज्र कीटोत्पन्न कतिपय रेखा श्रेणीबद्ध भाव से विराजित हैं, उनको विष्णुपञ्जर कहते हैं ॥३५७॥

जिनमें सर्प के समान कुण्डलाकार रेखा पङ्क्ति हैं, उनका नाम शेष है। जिनमें पद्माकार दो रेखाश्रेणी हैं, एवं मध्य भाग में एक लम्बी रेखा है, उनको गरुड़ कहते हैं। जिनमें चार चक्र विद्यमान हैं, उनको जनार्द्दन कहते हैं ॥३५८॥ जो चार चक्रयुक्त हैं एवं मुखद्वार सङ्कीर्ण है एवं मध्यभाग वनमाला से सुशोभित सुशोभित हैं, उनका नाम श्रीमान् लक्ष्मीनारायण हैं। यह भोग मोक्ष प्रदाता हैं ॥३५९॥

एतल्लक्षणयुक्तास्तु शालग्रामशिलाः शुभाः ।
याश्च तास्वपि सूक्ष्माः स्युस्ताः प्रशस्तकराः स्मृताः ॥३६०॥

तथा च श्रीभगवद्ब्रह्म-संवादे तत्रैव—

यथा यथा शिला सूक्ष्मा महत् पुण्यं तथा तथा ।
तस्मात्तां पूजयेन्नित्यं धर्म्मकामार्थसिद्धये ॥३६१॥
तत्राप्यामलकीतुल्या सूक्ष्मा चातीव या भवेत् ।
तस्यामेव सदा ब्रह्मन् श्रिया सह वसाम्यहम् ॥३६२॥

अथ श्रीशालग्रामशिला-माहात्म्यम्

शालग्रामशिलास्पर्शात् कोटिजन्माघनाशनम् ।
किं पुनर्यजनं तत्र हरिसान्निध्यकारकम् ॥३६३॥

पाद्मे माघमाहात्म्ये तत्रैव—

यः पूजयेद्धरिं चक्रे शालग्रामशिलोद्भवे ।
राजसूयसहस्रेण तेनेष्टं प्रतिवासरम् ॥३६४॥
यदामनन्ति वेदान्ता ब्रह्म निर्गुणमच्युतम् ।
तत्प्रसादो भवेन्नृणां शालग्रामशिलार्च्चनात् ॥३६५॥
महाकाष्ठस्थितो वह्निर्मथ्यमानः प्रकाशते ।
यथा तथा हरिर्व्यापी शालग्रामे प्रकाशते ॥३६६॥

जिन शालग्राम शिलाओं में उक्त लक्षण समूह विद्यमान हैं, वे शुभदायक हैं, उनमें भी जो अत्यन्त क्षुद्राकार हैं, वे अधिकतर शुभकर हैं ॥३६०॥

उक्त पद्मपुराण में ही भगवान् ब्रह्मसंवाद में कथित है—जितनी छोटी आकृति शिला की होगी, शालग्राम शिला उतनी ही शुभदायक होगी । सुतरां धर्म-अर्थ-काम प्राप्ति के उद्देश्य से उन शिलाओं की पूजा करें ॥३६१॥

हे ब्रह्मन् ! उक्त शिलासमूह के मध्य में जिस शिला का परिणाम आमलकी फल के तुल्य है, मैं प्रियतमा लक्ष्मी के सहित नित्य उसमें निवास करता हूँ ॥३६२॥

अथ श्रीशालग्रामशिला-माहात्म्यम्

शालग्रामशिला स्पर्श से कोटि-जन्मार्जित पाप विनष्ट होते हैं, पूजा की बात ही क्या है ? पूजन श्रीहरि सान्निध्य को प्राप्त कराता है ॥३६३॥

पद्मपुराण के माघ माहात्म्य प्रसङ्ग में वर्णित है—जो व्यक्ति शालग्राम शिला चक्र में श्रीहरि का अर्चन करता है, नित्य उसको सहस्र राजसूय-अनुष्ठान का फल प्राप्त होता है ॥३६४॥

वेदान्त शास्त्र जिनको निर्गुण ब्रह्म कहते हैं, शालग्राम शिला की पूजा करने से मनुष्यों के प्रति उनका अनुग्रह होता है ॥३६५॥

महाकाष्ठ स्थित अग्नि जिस प्रकार मन्थन से प्रकाशित होता है, उस प्रकार श्रीहरि व्याप्त प्रभाव से शालग्राम में प्रकाशित होते हैं ॥३६६॥

अपि पापसमाचाराः कर्म्मण्यनधिकारिणः ।
शालग्रामार्च्चका वैश्य नैव यान्ति यमालयम् ॥३६७॥
न तथा रमते लक्ष्म्यां न तथा निजमन्दिरे ।
शालग्रामशिलाचक्रे यथा स रमते सदा ॥३६८॥
अग्निहोत्रं हुतं तेन दत्ता पृथ्वी ससागरा ।
येनार्च्चितो हरिश्चक्रे शालग्रामशिलोद्भवे ॥३६९॥
कामैः क्रोधैः प्रलोभैश्च व्याप्तो योऽत्र नराधमः ।
सोऽपि याति हरेर्लोकं शालग्रामशिलार्च्चनात् ॥३७०॥
यः पूजयति गोविन्दं शालग्रामे सदा नरः ।
आहूतसंप्लवं यावत् न स प्रच्यवते दिवः ॥३७१॥
विना तीर्थैर्विना दानैर्विना यज्ञैर्विना मतिम् ।
मुक्तिं याति नरो वैश्य शालग्रामशिलार्च्चनात् ॥३७२॥
नरकं गर्भवासञ्च तिर्य्यक्त्वं कृमियोनिताम् ।
न याति वैश्य पापोऽपि शालग्रामेऽच्युतार्च्चकः ॥३७३॥

शुभाः प्रशस्ताः स्युः ॥३६०॥
आहूतः कालगत्या जीवकर्म्मभिर्वा आकारित इव यः संप्लवः प्रलयः ; यद्वा, यज्ञभागार्थं मन्त्रैराहूता ये देवादयस्तेषां संप्लवो नाम नाशः, तत्पर्य्यन्तम् ; यद्वा, भकारस्थाने हकारः छान्दसः, सर्व्वभूतसंप्लवपर्य्यन्तमित्यर्थः । दिवः ऊर्द्ध्वलोकात् वैकुण्ठलक्षणात् ; क्रमगत्यपेक्षया स्वर्गादेव वा ॥३७१॥
मतिं ज्ञानम् ॥३७२॥
हे वैश्य, जात्या कर्म्मणा च सर्व्वथा पापोऽपि ॥३७३॥

हे वैश्य ! पापाचारी, कर्म में अनधिकारी जनगण भी श्रीशालग्राम पूजन करने पर यमलोक गमन नहीं करते हैं ॥३६७॥

शालग्राम पूजन से श्रीनारायण यद्रूप सन्तोष प्राप्त करते हैं, तद्रूप सन्तोष प्राप्त लक्ष्मी के सहित निवास से अथवा निज मन्दिर में अवस्थान से नहीं करते हैं ॥३६८॥

जो जन शालग्राम शिलोत्पन्न चक्र में श्रीहरि का पूजन करते हैं, उनका अग्निहोत्र यज्ञ एवं ससागरा पृथिवी दान कर्म निष्पन्न होता है ॥३६९॥

इस जगत् में जो मनुष्य नराधम हैं, काम, क्रोध एवं प्रलोभन के वशीभूत हैं, शालग्राम शिला की पूजा करने से वे पुरुष भी श्रीहरिधाम गमन करते हैं ॥३७०॥

जो व्यक्ति सतत शालग्राम शिला में श्रीगोविन्द की पूजा करता है, जब तक समस्त भूतों का प्रलय नहीं होता है, तब तक वह देवलोक से भ्रष्ट नहीं होता है ॥३७१॥

हे वैश्य ! तीर्थ, दान, यज्ञ एवं ज्ञानार्जन के बिना भी केवल शालग्राम की पूजा से ही मनुष्य को मोक्ष लाभ होता है ॥३७२॥

हे वैश्य ! शालग्राम शिला में श्रीअच्युत की अर्चना करने से पापात्मा व्यक्ति को नरकभोग, गर्भवास, पशु योनि एवं कीट योनि जनित क्लेश प्राप्त नहीं होता है । अर्थात् उक्त क्लेशों से वह मुक्त हो जाता है ॥

दीक्षाविधानमन्त्रज्ञश्चक्रे यो बलिमाहरेत् ।
स याति वैष्णवं धाम सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥३७४॥
नैवेद्यैर्विविधैः पुष्पैर्धूपैर्दीपैर्विलेपनैः । गीतवादित्र-स्तोत्राद्यैः शालग्रामशिलार्च्चनम् ॥३७५॥
कुरुते मानवो यस्तु कलौ भक्तिपरायणः । कल्पकोटिसहस्राणि रमते सन्निधौ हरेः ॥३७६॥
लिङ्गैस्तु कोटिभिर्दृष्टैर्यत् फलं पूजितैस्तु तैः ।
शालग्रामशिलायान्तु एकेनापीह तत् फलम् ॥३७७॥
शालग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः । तत्र देवासुरा यक्षा भुवनानि चतुर्द्दश ॥३७८॥
शालग्रामशिलायान्तु यः श्राद्धं कुरुते नरः ।
पितरस्तस्य तिष्ठन्ति तृप्ताः कल्पशतं दिवि ॥३७९॥
शालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं योजनत्रयम् ।
यत्र दानं जपो होमः सर्व्वं कोटिगुणं भवेत् ॥३८०॥
शालग्रामसमीपे तु क्रोशमात्रं समन्ततः ।
कीकटोऽपि मृतो याति वैकुण्ठभुवनं नर ॥३८१॥
शालग्रामशिलाचक्रं यो दद्याद्दानमुत्तमम् ।
भूचक्रं तेन दत्तं स्यात् सशैल-वनकाननम् ॥३८२॥

बलिं पूजाम् उपहारं वा, धाम गृहं श्रीवैकुण्ठलोकमित्यर्थः ॥३७४॥
नर हे वैश्य, नर इति प्रथमान्तपाठो वा; कीकटोऽपीति कीकटदेशोद्भवः—अधमोऽपीत्यर्थः ॥३८१॥

३७३॥ जो व्यक्ति दीक्षाविधानानुसार से मन्त्र का परिज्ञान प्राप्त किया है, उससे शालग्राम शिल चक्र में उपहार अर्पित होने से–उसका विष्णुधाम गमन होता है। इसकी घोषणा सत्य के साथ करता हूँ ॥३७४॥

कलियुग में जो व्यक्ति भक्तिपरायण होकर विविध नैवेद्य, पुष्प, धूप, दीप, विलेपन एवं गीत, वाद्य स्तोत्रादि द्वारा शालग्राम की पूजा करते हैं, वे सहस्रकोटि कालपर्य्यन्त श्रीविष्णु के निकट निवास करके आनन्दानुभव करते हैं। कोटि शिवलिङ्ग दर्शन अथवा पूजन करने से जो फल होता है, एकमात्र शालग्राम शिला में पूजन करने से वह फल लाभ होता है ॥३७५-३७७॥

शालग्राम शिलारूपी केशव जहाँ पर विराजित हैं, देवता, असुर, दक्ष एवं चतुर्दश भुवन वहाँ पर अधिष्ठित होते हैं ॥३७८॥

शालग्राम शिला के सम्मुख में श्राद्ध करने से तदीय पितृपुरुषगण परितृप्त होकर शतकल्पयावत् देवलोक में निवास करते हैं ॥३७९॥

जहाँ पर शालग्राम शिला विराजित हैं, तीन योजन पर्य्यन्त उक्त स्थान तीर्थ स्वरूप है। वहाँ पर दान जप एवं होमादि जो कुछ भी किया जाय, वे सब कोटि गुण फलप्रद होते हैं ॥३८०॥

शालग्राम शिला के चतुर्दिक में एक कोश परिमित स्थान में मृत्यु होने से कीकटदेशोद्भव अधम मनुष्य भी वैकुण्ठ लाभ करता है ॥३८१॥

शालग्राम शिला का दान ही सर्वोत्तम दान है, जिन्होंने उक्त दान कर्म्म किया है, उनको पर्वत, वन, कानन शोभित भूमण्डल दान करने का फल लाभ होता है ॥३८२॥

स्कान्दे कार्तिकमाहात्म्ये श्रीशिवस्कन्दसंवादे

शालग्रामशिलायान्तु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
मया सह महासेन लीनं तिष्ठति सर्व्वदा ॥३८३॥
दृष्टा प्रणमिता येन स्नापिता पूजिता तथा ।
यज्ञकोटिसमं पुण्यं गवां कोटिफलं भवेत् ॥३८४॥
कामासक्तोऽपि यो नित्यं भक्तिभाव-विवर्ज्जितः ।
शालग्रामशिलां विप्रः संपूज्येवाच्युतो भवेत् ॥३८५॥
शालग्रामशिलाविम्बं हत्याकोटिविनाशनम् ।
स्मृतं सङ्कीर्त्तितं ध्यातं पूजितञ्च नमस्कृतम् ॥३८६॥
शालग्रामशिलां दृष्ट्वा यान्ति पापान्यनेकशः ।
सिंहं दृष्ट्वा यथा यान्ति वने मृगगणा भयात् ॥३८७॥
नमस्करोति मनुजं शालग्रामशिलार्च्चने ।
पापानि विलयं यान्ति तमः सूर्य्योदये यथा ॥३८८॥
कामासक्तोऽथवा क्रुद्धः शालग्रामशिलार्च्चनम् ।
भक्त्या वा यदि वाऽभक्त्या कृत्वा मुक्तिमवाप्नुयात् ॥३८९॥

महासेन हे कार्त्तिकेय ॥३८३॥
भक्तिविश्वासलक्षणा, भावः प्रेमा, ताभ्यां विवर्ज्जितोऽपि; अच्युत इव भवेत् सारूप्यप्राप्त्या ॥३८५॥
यान्ति अपयान्ति ॥३८८॥

स्कन्दपुराण के शिवकार्त्तिकमाहात्म्य के श्रीशिव-कार्त्तिकेय संवाद में वर्णित है—हे कार्त्तिकेय ! मेरे सहित चराचर त्रैलोक्य शालग्राम शिला में सर्वदा अवस्थित हैं ॥३८३॥

जिन्होंने शालग्राम शिला का दर्शन, नमस्कार, स्नपन एवं पूजन किया है, उनको कोटि यज्ञ, कोटि गोदान का फल लाभ होता है ॥३८४॥

हे विप्र ! भक्ति भाव विवर्जित सकाम व्यक्ति भी नित्य शालग्राम शिला का पूजन करके विष्णु सारूप्य लाभ करता है ॥३८५॥

शालग्राम शिला का स्मरण, कीर्त्तन, ध्यान, पूजन, प्रणाम करने से कोटि हत्या-जनित पातक दूरीभूत होता है ॥३८६॥

यद्रूप अरण्य मध्य में सिंह को देखकर मृगादि भीत होकर पलायन करते हैं, तद्रूप शालग्राम शिला दर्शन से विविध पातक विनष्ट होते हैं ॥३८७॥

जब मनुष्य शालग्राम शिलार्चन करके प्रणाम करता है, तब सूर्य्योदय से अन्धकार विनष्ट होने के समान समस्त पाप विनष्ट होते हैं ॥३८८॥

कामासक्त अथवा क्रोधाकुल व्यक्ति भक्तिपूर्वक अथवा अभक्ति पूर्वक शालग्राम शिलार्चन करने से मुक्ति लाभ करता है । जो व्यक्ति, शालग्राम शिला के सम्मुख में श्रीहरिचरित गान करते हैं उनका यम-भय, जन्म-मृत्यु-भय नहीं होता है, कलियुग में भक्तिपरायण होकर जो जन गीत, वाद्य एवं स्तोत्र के सहित

वैवस्वतं भयं नास्ति तथा मरणजन्मनोः ।
यः कथां कुरुते विष्णोः शालग्रामशिलाग्रतः ॥३८०॥
गीतैर्वाद्यैस्तथा स्तोत्रैः शालग्रामशिलार्च्चनम् । कुरुते मानवो यस्तु कलौ भक्तिपरायणः ।
कल्पकोटिसहस्राणि रमते विष्णुसद्मनि ॥३८१॥
शालग्राम-नमस्कारेऽभावेनापि नरैः कृते ।
भयं नैव करिष्यन्ति मद्भक्ता ये नरा भुवि ॥३८२॥
मद्भक्तिबलदर्पिष्ठा मत्प्रभुं न नमन्ति ये ।
वासुदेवं न ते ज्ञेया मद्भक्ताः पापिनो हि ते ॥३८३॥
शालग्रामशिलायान्तु सदा पुत्र वसाम्यहम् ।
दत्तं देवेन तुष्टेन स्वस्थानं मम भक्तितः ॥३८४॥
पद्मकोटिसहस्रैस्तु पूजिते मयि यत् फलम् ।
तत् फलं कोटिगुणितं शालग्रामशिलार्च्चने ॥३८५॥
पूजितोऽहं न तैर्मर्त्यैर्नमितोऽहं न तैर्नरैः ।
न कृतं मर्त्यलोके यैः शालग्रामशिलार्च्चनम् ॥३८६॥

मरणजन्मनोः, ताभ्यामपि भयं नास्ति ॥३८०॥

अभावेन भावराहित्येनापि, मद्भक्ता इति पाठे मया सह कृष्णभेदापराधतो भयं नैव करिष्यन्तीत्यर्थः; यद्वा, मत् मत्तः संहारकादपि; भक्ताः कृष्णभक्ताः ॥३८२॥

शालग्राम पूजन करते हैं उनका निवास विष्णुधाम में सहस्रकोटि कल्पकाल तक आनन्द से होता है। ३८०-३८१॥

श्रीशिव की उक्ति है कि—पृथिवी में मद्भक्तिपरायण जनगण, भक्ति भाव रहित होकर भी यदि शालग्राम शिला को प्रणाम करते हैं तो उन सबको भयभीत नहीं होना पड़ता है अथवा जो सब व्यक्ति हरि के सहित भेद भाव करके मेरी आराधना करते हैं, उन सबमें अपराध जनित भय की आशङ्का सत्य ही है, किन्तु शालग्राम को नमस्कार करने से उन सबका अपराध विदूरित होता है। सुतरां दण्ड भय भी नहीं रहता है। अथवा जो सब व्यक्ति भावहीन हरिभक्त हैं, वे सब जन भावरहित होकर भी शालग्राम को यदि प्रणाम करते हैं तो संहाररूपी मुझसे उन सबको भयभीत नहीं होना पड़ता है ॥३८२॥

जो लोग मेरी भक्ति से अहङ्कृत होकर श्रीप्रभु वासुदेव को प्रणाम नहीं करते हैं, जानना होगा कि वे सब मेरे भक्त नहीं हैं, सुनिश्चित महापापी हैं ॥३८३॥

हे वत्स ! मैं शालग्राम शिला में सर्वदा निवास करता हूँ। मेरी भक्ति से प्रभु सन्तुष्ट होकर उन्होंने मुझको निज-वासस्थान प्रदान किया है ॥३८४॥

सहस्रकोटि पद्म के द्वारा मेरी पूजा करने से जो फल होता है, शालग्राम शिलापूजन से उससे कोटिगुण फल लाभ होता है ॥३८५॥

मर्त्यलोक में जो लोग शालग्राम शिलार्चन नहीं करते हैं, उन सबकी पूजा अथवा नमस्कार मैं ग्रहण नहीं करता हूँ ॥३८६॥

शालग्रामशिलाग्रे तु यः करोति ममार्च्चनम् ।
तेनार्च्चितोऽहं सततं युगानामेकसप्ततिम् ।।३९७।।
किमर्च्चितैर्लिङ्गशतैर्विष्णुभक्ति-विवर्जितैः ।
शालग्रामशिलाविम्बं नार्च्चितं यदि पुत्रक ।।३९८।।
अनर्हं मम नैवेद्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
शालग्रामशिलालग्नं सर्व्वं याति पवित्रताम् ।।३९९।।
यो हि माहेश्वरो भूत्वा वैष्णव लिङ्गमुत्तमम् ।
द्वेष्टि वै याति नरकं यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश ।।४००।।
सकृदप्यर्च्चिते विम्बे शालग्रामशिलोद्भवे ।
मुक्तिं प्रयान्ति मनुजा नूनं सांख्येन वर्ज्जिताः ।।४०१।।
मल्लिङ्गैः कोटिभिर्द्दृष्टैर्यत् फल पूजितैस्तु तैः ।
शालग्रामशिलायान्तु एकेनापि हि तद्भवेत् ।।४०२।।
तस्माद्भक्त्या च मद्भक्तैः प्रीत्यर्थं मम पुत्रक ।
कर्त्तव्यं सततं भक्त्या शालग्रामशिलार्च्चनम् ।।४०३।।
शालग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः ।
तत्र देवासुरा यक्षा भुवनानि चतुर्द्दश ।।४०४।।

जो व्यक्ति, शालग्राम शिला के सम्मुख में मेरी पूजा करते हैं, उनको एक सप्ततियुग पर्य्यन्त अर्चन का फल लाभ होता है ।।३९७।।

हे वत्स ! जिन्होंने शालग्राम शिलार्चन नहीं किया है, विष्णु भक्ति विवर्जितजन को शतलिङ्ग पूजन से भी फल लाभ नहीं होता है ।।३९८।।

ग्रहणायोग्य, नैवेद्य, पत्र, पुष्प, फल एवं जल - शालग्राम शिलास्पृष्ट होने से सब पवित्र होते हैं ।।३९९।।

जो जन शिवभक्त होकर श्रीहरि के प्रति विद्वेष करता है, जब तक चतुर्दश इन्द्र का अधिकार रहता है, तब तक वह व्यक्ति नरकवासी होता है ।।४००।।

तत्त्वज्ञान रहित मनुष्यगण भी यदि एक बार मात्र शालग्राम शिलार्चन करते हैं, तो उन सबको मुक्ति मिलती है, इसमें सन्देह नहीं है ।।४०१।।

कोटि लिङ्ग दर्शन, पूजन से जो फल लाभ होता है, एक मात्र शालग्राम शिलार्चन से वह फल लाभ होता है ।।४०२।।

हे पुत्र ! अतएव मद्भक्तवृन्द मेरी प्रीति के निमित्त, भक्ति पूर्बक सतत शालग्राम शिलार्चन करें ।।४०३।।

जहाँ पर श्रीशालग्राम शिलारूपी केशव विद्यमान हैं, वहाँ पर देव, असुर, यक्ष एवं चतुर्दश भुवन अवस्थित होते हैं ।।४०४।।

शालग्रामशिलाग्रे तु सकृत् पिण्डेन तर्पिताः ।
भवन्ति पितरस्तस्य न संख्या तत्र विद्यते ॥४०५॥
प्रमाणमस्ति सर्व्वस्य सुकृतस्य हि पुत्रक । फलं प्रमाणहीनन्तु शालग्रामशिलार्च्चने ॥४०६॥
यो ददाति फलं विष्णोः शालग्रामसमुद्भवम् ।
विप्राय विष्णुभक्ताय तेनेष्टं बहुभिर्मखैः ॥४०७॥
मानुष्ये दुर्ल्लभा लोके शालग्रामोद्भवा शिला ।
प्राप्यते न विना पुण्यैः कलिकाले विशेषतः ॥४०८॥
स धन्यः पुरुषो लोके सफलं तस्य जीवितम् ।
शालग्रामशिला शुद्धा गृहे यस्य च पूजिता ॥४०९॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं शालग्रामशिलार्च्चनम् ।
यः कुर्य्यान्मानवो भक्त्या पुष्पे पुष्पेऽश्वमेधभाक् ॥४१०॥
काले वा यदि वाऽकाले शालग्रामशिलार्च्चनम् ।
भक्त्या वा यदि वाऽभक्त्या यः करोति स पुण्यभाक् ॥४११॥
द्वेषेणापि च लोभेन दम्भेन कपटेन वा ।
शालग्रामोद्भवं देवं दृष्ट्वा पापात् प्रमुच्यते ॥४१२॥

येन सकृदपि तर्पिताः, तस्य पितरो यावत्कालं तर्पिता भवन्ति, तस्य संख्या नास्तीत्यर्थः । वसन्तीति पाठे स्वर्गादाविति शेषः ॥४०५॥

प्रमाणम् इयत्ता ॥४०६॥

शालग्राम शिला के सम्मुख में एक बार मात्र पिण्ड प्रदान द्वारा पितृपुरुषों को तृप्त करने से वे सब कितने दिन तक तृप्त होते हैं उसकी संख्या नहीं हो सकती है ॥४०५॥

हे वत्स ! सर्वविध पुण्य का ही परिमाण हो सकता है, किन्तु शालग्राम पूजन का परिमाण नहीं हो सकता है ॥४०६॥

जिन्होंने विष्णुभक्ति विशिष्ट विप्र को शालग्राम शिला दान दिया है, उनको अनेक यज्ञानुष्ठान का फल मिलता है ॥४०७॥

मनुष्य लोक में शालग्राम शिला दुर्लभ है । पुण्य व्यतीत उनको प्राप्त नहीं किया जाता ॥४०८॥

जिन मनुष्य के गृह में पवित्र शालग्राम शिला पूजित होती है, संसार में वे ही धन्य हैं, उनका जीवन ही सार्थक है ॥४०९॥

इन्द्रियों को संयत करके पुष्प द्वारा शालग्रामार्च्चन करने से प्रत्येक पुष्प से अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है ॥४१०॥

काल में हो अथवा अकाल में हो, भक्तिपूर्वक हो अथवा अभक्तिपूर्वक हो, शालग्राम शिला पूजित होने से अक्षय पुण्य सञ्चारित होता है ॥४११॥

द्वेष, लोभ, दम्भ एवं कपटता पूर्वक, जिस किसी प्रकार से शालग्राम शिला का दर्शन करने से पापों से मुक्त हो सकता है ॥४१२॥

अशुचिर्वा दुराचारः सत्यशौचविवर्ज्जितः ।
शालग्रामशिलां स्पृष्ट्वा सद्य एव शुचिर्भवेत् ॥४१३॥
तिलप्रस्थशतं भक्त्या यो ददाति दिने दिने ।
तत् फलं समवाप्नोति शालग्रामशिलार्च्चने ॥४१४॥
पत्रं पुष्पं फलं मूलं तोयं दूर्व्वाक्षतं सुत ।
जायते मेरुणा तुल्यं शालग्रामशिलार्पितम् ॥४१५॥
विधिहीनोऽपि यः कुर्य्यात् क्रियामन्त्रविवर्ज्जितः ।
चक्रपूजामवाप्नोति सम्यक् शास्त्रोदितं फलम् ॥४१६॥

तत्रैव चान्यत्र—

स्कन्धे कृत्वा तु योऽध्वानं वहते शैलनायकम् ।
तेनोढ़न्तु भवेत् सर्व्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥४१७॥
ब्रह्महत्यादिकं पापं यत् किञ्चित् कुरुते नरः ।
तत् सर्व्वं निर्दहत्याशु शालग्रामशिलार्च्चनम् ॥४१८॥
न पूजनं न मन्त्राश्च न जपो न च भावना ।
न स्तुतिर्नोपचारश्च शालग्रामशिलार्च्चने ॥४१९॥
शालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं योजनत्रयम् ।
तत्र दानञ्च होमश्च सर्व्वं कोटिगुणं भवेत् ॥४२०॥

चक्रं श्रीशालग्रामशिलारूपं, तस्य पूजां यः कुर्य्यात् ॥४१६॥
अध्वानं व्याप्य पथीत्यर्थः ; शैलनायकं श्रीशालग्रामशिलामित्यर्थः ॥४१७॥

अशुचि अथवा दुराचार परायण, सत्य किम्वा शुद्धिहीन व्यक्ति भी शालग्राम शिला स्पर्श से तत्काल पवित्र होता है ॥४१३॥

प्रत्यह भक्तिपूर्वक शतप्रस्थ तिलदान करने से जो फल लाभ होता है, शालग्राम शिला पूजन से वह फल लाभ होता है । हे पुत्र ! शालग्राम शिला में अर्पित होने से पत्र, पुष्प, फल, मूल, जल, दूर्वा, अक्षत, मेरु तुल्य होता है । विधि-रहित, क्रिया विहीन, मन्त्र-हीन व्यक्ति भी शालग्राम पूजन करने से शास्त्रोक्त फलों का अधिकारी सम्यक् रूप से वह होता है ॥४१४-४१६॥

उक्त प्रसङ्ग में ही अन्यत्र वर्णित है- जो पुरुष शालग्राम शिला को स्कन्ध में स्थापन कर पर्य्यटन करते हैं, उनका चराचर समस्त त्रैलोक्य वहन होता है। मनुष्य ब्रह्महत्या यादि जो भी पाप करे, उक्त समुदय पाप शालग्राम शिलार्चन से सद्य विनष्ट होते हैं। पूजा, मन्त्र, जप, ध्यान, स्तव अथवा पूजोपचार की आवश्यकता शालग्रामार्चन में नहीं होती है ॥४१७-४१९॥

जहाँ शालग्राम शिला विराजित है, उसके चारों ओर तीन योजन पर्य्यन्त स्थान तीर्थ में परिणत होता है। वहाँ पर दान, होम, प्रभृति अनुष्ठान कोटिगुण फलदायक हैं। जो व्यक्ति शालग्राम शिला के सम्मुख में श्राद्ध करते हैं, उनके पितृपुरुषगण सन्तुष्ट होकर शतकल्प पर्य्यन्त स्वर्ग में निवास करते हैं। शालग्राम समीप में एक क्रोश के मध्य में मृत्यु होने से कीकट देशजात मनुष्य भी वैकुण्ठ गमन करता है ॥४२०-४२२॥

शालग्रामशिलायान्तु यः श्राद्धं कुरुते नरः ।
पितरस्तस्य तिष्ठन्ति तृप्ताः कल्पशतं दिवि ॥४२१॥

शालग्रामसमीपे तु क्रोशमात्रं समन्ततः । कीकटोऽपि मृतो याति वैकुण्ठभुवनं नरः ॥४२२॥

पाद्मे च—

शालग्रामशिलाचक्रं यो दद्याद्दानमुत्तमम् । भूचक्रं तेन दत्तं स्यात् सशैलवनकाननम् ॥४२३॥

गरुड़पुराणे—

तिष्ठन्ति नित्यं पितरो मनुष्या,-स्तीर्थानि गङ्गादिक-पुष्कराणि ।
यज्ञाश्च मेधा ह्यपि पुण्यशैला,-श्चक्राङ्किता यस्य वसन्ति गेहे ॥४२४॥

पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये श्रीयमधूम्रकेश-संवादे—

शालग्रामशिलायान्तु यैर्नरैः पूजितो हरिः ।
संशोध्य तेषां पापानि मुक्तये बुद्धितो भवेत् ॥४२५॥

कार्त्तिके मथुरायान्तु सारूप्यं दिशते हरिः । शालग्रामशिलायां वै पितॄनुद्दिश्य पूजितः ।
कृष्णः समुद्धरेत्तस्य पितॄन्नेतान् स्वलोकताम् ॥४२६॥

बृहन्नारदीये च यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते—

शालग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः । न बाधन्तेऽसुरास्तत्र भूत-वेतालकादयः ॥४२७॥

शालग्रामशिला यत्र तत्तीर्थं तत्तपोवनम् । यतः सन्निहितस्तत्र भगवान्मधुसूदनः ॥४२८॥इति॥

यत्र यस्मिन् गृहे चक्राङ्किताः श्रीशालग्रामशिला वसन्ति, तत्र पित्रादयो नित्यं तिष्ठन्ति, तत्र यज्ञा विविध पूजाः, मेधा हिंसालक्षणा अश्वमेधादयः; यज्ञाश्वेति पाठे अश्वमेधयज्ञा इत्यर्थः; यद्वा, यज्ञेऽश्वानां मेधा हिंसा, अर्थस्तु स एव ॥४२४॥

तत्र कार्त्तिकमासे, तत्रापि श्रीमथुरायां विशेषमाह—कार्त्तिक इति ॥४२६-४२७॥

पद्मपुराण में वर्णित है— जो उत्तम शालग्राम शिला चक्र दान करते हैं, उनको गिरि, कानन, वनसहित भूमण्डल दान का फल मिलता है ॥४२३॥

गरुड़पुराण में वर्णित है – जिनके गृह में चक्र-चिह्नित पुण्य-शिला विराजित है, तदीय गृह में पितृगण, मनुष्यगण, गङ्गादि पुष्कर पर्य्यन्त तीर्थ-समूह एवं अश्वमेधादि यज्ञ-समूह सतत उपस्थित रहते हैं ॥४२४॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में यम धूम्रकेश संवाद में वर्णित है—जो मनुष्य शालग्राम शिला में श्रीहरि की अर्चना करते हैं, श्रीहरि उन मनुष्यों के समस्त पाप विदूरित कर उनको मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त बुद्धि प्रदान करते हैं ॥४२५॥

कार्त्तिक मास में मथुरा में शालग्राम पूजन करने से श्रीहरि सारूप्य मुक्तिदान करते हैं। पितृगण के उद्देश्य से शालग्राम पूजन करने पर श्रीहरि उन पितृकुल को उद्धार कर निज धाम में ले जाते हैं ॥४२६॥

बृहन्नारदीय पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के शेष भाग में वर्णित है—जहाँ पर शालग्राम रूपी केशव विराजित हैं, वहाँ असुर, भूत, वेताल प्रभृति विघ्नोत्पादन नहीं कर सकते हैं ॥४२७॥

जहाँ शालग्राम विराजित हैं, वह स्थान ही तीर्थ है, वह स्थान ही तपोवन है, कारण—भगवान् मधुसूदन उक्त स्थान के सन्निकटवर्त्ती हैं ॥४२८॥

शालग्रामशिलास्ताश्च यदि द्वादश पूजिताः ।
शतं वा पूजितं भक्त्या तदा स्यादधिकं फलम् ॥४२९॥

अथ बाहुल्ये तासां फलविशेषः

पाद्मे माघमाहात्म्ये देवदूत-विकुण्डल संवादे—

शिला द्वादश भो वैश्य शालग्रामसमुद्भवाः ।
विधिवत् पूजिता येन तस्य पुण्यं वदामि ते ॥४३०॥
कोटिद्वादशलिङ्गैस्तु पूजितैः स्वर्णपङ्कजैः ।
यत् स्याद्द्वादशकल्पैस्तु दिनेनैकेन तद्भवेत् ॥४३१॥
यः पुनः पूजयेद्भक्त्या शालग्रामशिलाशतम् ।
उषित्वा स हरेर्लोके चक्रवर्त्ती हि जायते ॥४३२॥

स्कान्दे कार्त्तिक-माहात्म्ये श्रीशिवस्कन्द-संवादे—

द्वादशैव शिला यो वै शालग्रामसमुद्भवाः ।
अर्च्चयेद्वैष्णवो नित्यं तस्य पुण्यं वदामि ते ॥४३३॥
कोटिलिङ्गसहस्रैस्तु पूजितैर्जाह्नवीतटे । काशीवासे युगान्यष्टौ दिनेनैकेन तद्भवेत् ॥४३४॥
किं पुनर्बहवो यस्तु पूजयेद्वैष्णवो नरः ।
न हि ब्रह्मादयो देवाः संख्यां कुर्व्वन्ति पुण्यतः ॥४३५॥

स्वर्णपङ्कजैः कृत्वा पूजितैः सद्भिः पूजितेष्वित्यर्थः यत् फलं स्यात्, इहलोके चक्रवर्त्ती सन् जायते, श्रीभगवद्भक्तिप्रचारणार्थमाहात्म्येच्छाविशेषेणेति ज्ञेयम् ॥४३१-४३२॥

जाह्नवीतटे कोटिलिङ्गसहस्रैः पूजितैर्यत्फलं, युगान्यष्टौ व्याप्य काशीवासे च यत् फलं तत् ॥४३४॥

बहवः बह्वीः; सुबहुरिति क्वचित् पाठः। पुण्यतः पुण्ये विषये संख्यां न कुर्व्वन्ति, कर्त्तुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः;

पूर्वोक्त शालग्राम शिला में द्वादश संख्यक अथवा शत संख्यक की भक्तिपूर्वक पूजा करने से अधिक फल लाभ होता है ॥४२९॥

अथ बाहुल्ये तासां फलविशेषः

पद्मपुराण के माघमाहात्म्य में देवदूत-विकुण्डल-संवाद में उक्त है—हे वैश्य ! जो विधिपूर्वक द्वादश शालग्राम की अर्च्चना करता है, उसके पुण्य की बात तुमसे कहता हूँ ॥४३०॥

द्वादशकोटि शिवलिङ्ग की पूजा द्वादश कल्पकाल स्वर्ण कमलों से करने से जो फल होता है, एक दिन मात्र शालग्राम शिला की अर्च्चना से वह फल होता है ॥४३१॥

भक्तिपूर्वक एकशत शालग्राम की पूजा करने से, पूजक हरिधाम में निवास करता है, पश्चात् चक्रवर्त्ती राजा होकर पृथिवी में जन्म ग्रहण करता है ॥४३२॥

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है—जो वैष्णव द्वादश शालग्राम की पूजा करते हैं, मैं तुम्हें उनके पुण्य की बात कहता हूँ ॥४३३॥

गङ्गातट में सहस्रकोटि शिवलिङ्ग की पूजा करने से एवं अष्टयुग काशीवास करने से जो फल होता है, एक दिन मात्र शालग्राम अर्चना से उक्त फल लाभ होता है ॥४३४॥

जो वैष्णव तदपेक्षा अधिक संख्यक शालग्राम की अर्च्चना करता है, उनकी बात क्या कहूँ ? ब्रह्मादि

अथ तत्क्रयविक्रय-निषेधः

तत्रैव—

शालग्रामशिलायां यो मूल्यमुद्घाटयेन्नरः ।
विक्रेता चानुमन्ता च यः परीक्षामुदीरयेत ॥४३६॥

सर्व्वे ते नरकं यान्ति यावदाहूतसंप्लवम् । अतः संवर्ज्जयेद्विप्र चक्रस्य क्रयविक्रयम् ॥४३७॥

अथ प्रतिष्ठा निषेधः

तत्रैव—

शालग्रामशिलायान्तु प्रतिष्ठा नैव विद्यते ।
महापूजान्तु कृत्वादौ पूजयेत्तां ततो बुधः ॥४३८॥ इति ।

अतोऽधिष्ठानवर्गेषु सूर्य्यादिष्विव मूर्त्तिषु । शालग्रामशिलैव स्यादधिष्ठानोत्तमं हरेः ॥४३९॥

अथ सर्व्वाधिष्ठानश्रैष्ठ्यम्

पाद्मे तत्रैव—

हृदि सूर्य्ये जले वाऽथ प्रतिमास्थण्डिलेषु च ।
समभ्यचर्च्य हरिं यान्ति नरास्ते वैष्णवं पदम् ॥४४०॥

अथवा सर्व्वदा पूज्यो वासुदेवो मुमुक्षुभिः । शालग्रामशिलाचक्रे वज्रकीटविनिर्मिते ॥४४१॥

यद्वा, पुण्यतो हेतोः संख्यां न कुर्व्वन्ति, असंख्येयस्य संख्याकरणापराधेन पुण्यक्षयापत्तेरित्यर्थः ॥४३५॥

यश्च अनुमन्ता, मूल्ये सम्मतिकर्त्ता; यश्च तां परीक्ष्य गुणदोषादिकं विचार्य्य तन्मूल्यमनुमोदयेत्; पाठान्तरे मूल्यार्थं परीक्षा क्रियतामित्युच्चारयेदपि यः; यद्वा, विचारेण गुणदोषादिकमपि वदेदित्यर्थः ॥४३६॥

मूर्त्तिषु प्रतिकृतिष्वपि ॥४३९॥

अथवेति पूर्व्वापरितोषे; सर्व्वदा पूज्यत्वे हेतुः—अधिष्ठानं हीति ॥४४१-४४२॥

देववृन्द भी उनके पुण्य की सीमा नहीं कर सकते हैं ॥४३५॥

अथ तत्क्रयविक्रय-निषेधः

स्कन्दपुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति शालग्राम का मूल्य उद्घाटन करता है, जो व्यक्ति उनको बेचता है, जो मूल्य करने में सम्मति प्रदान करता है और व्यक्ति बेचने के लिए शिला के गुण-दोष का विवेचन करता है, ये सब प्रलयकाल तक नरक में वास करते हैं। अतएव हे विप्र ! शालग्राम चक्र का क्रय अथवा विक्रय करना उचित नहीं है ॥४३६-४३७॥

अथ प्रतिष्ठा-निषेधः

स्कन्दपुराण में उक्त है—शालग्राम शिला की प्रतिष्ठा नहीं है, बुधव्यक्ति सर्वाग्र में महापूजा करके पश्चात् उक्त शिला की ही पूजा करे ॥४३८॥

अतएव सूर्य्यादि अधिष्ठान में एवं प्रतिमूर्त्ति समूह के मध्य में श्रीशालग्राम शिला ही श्रीहरि का उत्कृष्ट अधिष्ठान हुआ ॥०३९॥

अथ सर्व्वाधिष्ठानश्रैष्ठ्यम्

पद्मपुराण के माघमाहात्म्य में उक्त है—मनुष्यगण, हृदय, जल, सूर्य्य, प्रतिमा अथवा स्थण्डिल में श्रीहरि की पूजा करके श्रीहरि-धाम प्राप्त करते हैं अथवा उक्त पूजा करने पर भी यदि प्रसन्नता नहीं होती

अधिष्ठानं हि तद्विष्णोः सर्व्वपापप्रणाशनम् ।
सर्व्वपुण्यप्रदं वैश्य सर्व्वेषामपि मुक्तिदम् ॥४४२॥

तत्रैव कार्त्तिकमाहात्म्ये यमधूम्रकेश-संवादे—

पूजा च विहिता तस्य प्रतिमायां नृपात्मज । शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकता ।
मनोमयी मणिमयी श्रीमूर्त्तिरष्टधा स्मृता ॥४४३॥
शालग्रामशिलायान्तु साक्षात्श्रीकृष्णसेवनम् ।
नित्यं सन्निहितस्तत्र वासुदेवो जगद्गुरुः ॥४४४॥

स्कान्दे कार्त्तिक-माहात्म्ये श्रीशिवस्कन्द-संवादे—

सुवर्णार्च्चा न रत्नार्च्चा न शिलार्च्चा सुरोत्तम ।
शालग्रामशिलायान्तु सर्व्वदा वसते हरिः ॥४४५॥

अतएवोक्तम् —

हत्यां हन्ति यदङ्घ्रि सङ्गतुलसी स्तेयं च तोयं पदे
नैवेद्यं बहुमद्यपानदुरितं गुर्व्वङ्गनासङ्गजम् ।
श्रीशाधीनमतिः स्थितिर्हरिजनैस्तत्सङ्गजं किल्विषं
शालग्रामशिला-नृसिंहमहिमा कोऽप्येष लोकोत्तरः ॥४४६॥

तु-शब्दः पूर्व्वतो वैशिष्ट्ये तदेवाह—साक्षादिति ॥४४४॥
सुवर्णस्य अर्च्चा प्रतिमा, तदादिषु हरिः सर्व्वदा न वसतीत्यर्थः ; यद्वा, न हरेः प्रियेति शेषः ॥४४५॥
पादतोयं श्रीचरणोदकं, श्रीशः शालग्रामशिलारूप एव भगवान्, तदधीनमतिः तत्स्मरणमित्यर्थः । हरिश्च शालग्रामशिलात्मक एव, तस्य जनैः सेवकैः सह स्थितिः ॥४४६॥

है तो मुमुक्षु व्यक्तिगण वज्र कीट निर्मित शालग्राम शिलाचक्र में श्रीवासुदेव की अर्च्चना करें। हे वैश्य ! श्रीविष्णु का यह शालग्राम रूप अधिष्ठान समस्त पापनाशक, पुण्यद एवं मुक्तिद है ॥४४०-४४२॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में लिखित है—हे नृपपुत्र ! प्रतिमा में श्रीविष्णु की पूजा करने का विधान है, प्रतिमा अष्टविध हैं। शैली (पत्थर की), दारुमयी (काष्ठ की), लौही (धातुमयी), लेपमयी, लेख्या- लिखी हुई, बालुकामयी, मनोमयी एवं मणिमयी ॥४४३॥

शालग्राम शिला में पूजन करने से साक्षात् श्रीकृष्ण की ही आराधना होती है। जगद्गुरु वासुदेव सदा शालग्राम में निवास करते हैं ॥४४४॥

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है—हे देवोत्तम ! सुवर्ण प्रतिमा, रत्न प्रतिमा एवं शिला प्रतिमा, इन सब प्रतिमा में श्रीहरि सर्वदा नहीं रहते हैं, किन्तु शालग्रामशिला में सर्वदा वास करते हैं ॥४४५

अतएव कहा गया है—कि अहो ! शालग्रामशिला रूपी श्रीनृसिंह की अपूर्व महिमा कैसी है ? उनके चरण कमलों में लगी हुई तुलसी; ब्रह्महत्या का पातक, पादोदक; चोरीजनित पातक और उनका नैवेद्य; बहुत मद्यपान का पातक एवं गुरु की स्त्री में रमण करने का पातक दूर कर देता है। इस देव का स्मरण करने से पूर्वकथित पातक करने वालों के साथ सहवास करने का पाप भी विदूरित होता है ॥४४६॥

शालग्रामशिलारूप-भगवन्महिमाम्बुधेः ।
ऊर्म्मीन् गणयितुं शक्यः श्रीचैतन्याश्रितोऽपि कः ॥४४७॥

अथ शालग्रामशिला-पूजानित्यता

पाद्मे —

शालग्रामशिलापूजा विना योऽश्नाति किञ्चन ।
स चण्डालादि-विष्ठायामाकल्पं जायते कृमिः ॥४४८॥

स्कान्दे च—

गौरवाचलशृङ्गाग्रैर्भिद्यते तस्य वै तनुः ।
न मतिर्जायते यस्य शालग्रामशिलार्च्चने ॥४४९॥ इति।
एवं श्रीभगवान् सर्व्वैः शालग्रामशिलात्मकः ।
द्विजैः स्त्रीभिश्च शूद्रैश्च पूज्यो भगवतः परैः ॥४५०॥

तथा स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद संवादे चातुर्म्मास्यव्रते शालग्रामशिलार्च्चा-प्रसङ्गे—

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां सच्छूद्राणामथापि वा ।
शालग्रामेऽधिकारोऽस्ति न चान्येषां कदाचन ॥४५१॥

ऊर्म्मीनिति समुद्रतरङ्गगणवत् माहात्म्य-परम्परा इत्यर्थः । श्रीयुक्तचैतन्यं सर्व्वज्ञत्वादिकं तेनाश्रितोऽपि। स्वमते श्रीचैतन्यदेवमाश्रित. परमशक्तिमत्त्वं प्राप्तोऽपीत्यर्थः । यथोर्मयः केनापि न गणयितुं शक्यन्ते, तद्वत् अनन्तत्वादिति भावः ॥४४७॥

गौरवं गरिमा, तद्युक्तया‌चलस्य; यद्वा, गौरवेण अचलं स्थिरं यच्छृङ्गम् अर्थात् पर्व्वत एव तस्याग्रैः। पाठान्तरं सुगमम् । भिद्यते विदार्य्यते; यद्वा, शृङ्गाग्रेभ्यो निपात्य चूर्णीक्रियत इत्यर्थः ॥४४८-४४९॥

एवं लिखित-प्रकारेण शालग्रामशिलात्मकः तत्स्वरूपः श्रीभगवानेवेति तद्भजने सर्व्वेषामधिकारोऽभिप्रेतः वाभिव्यञ्जयति—सर्व्वैर्द्विजादिभिर्जनैः सम्यक् पूज्य इति । तत्र द्विजैरिति त्रिवर्णैर्विप्र-क्षत्रियवैश्यैरित्यर्थः। ननु 'ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहं शुचेरप्यशुचेरपि । स्त्रीशूद्र-कर-संस्पर्शो वज्रपातसमो मम ॥' इति । शालग्राम-शिलाप्रसङ्गे श्रीभगवद्वचनेन स्त्री-शूद्राणां तत्पूजां निषिध्यते, तत्र लिखति—भगवतः परैरिति । यथाविधि दीक्षां गृहीत्वा भगवत्-पूजापरैः सद्भिरित्यर्थः ॥४५०॥

सर्वज्ञ होने पर भी कोई शालग्राम शिला का माहात्म्य रूपी सागर की तरङ्ग-मालाओं को नहीं गिन सकता ॥४४७॥

अथ शालग्रामशिला-पूजानित्यता

पद्मपुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति शालग्रामार्च्चन व्यतीत भोजन करता है, वह कल्पकाल पर्यन्त चण्डाल प्रभृति की विष्ठा में कृमि होकर रहता है ॥४४८॥

स्कन्दपुराण में उक्त है—जिसकी मति शालग्राम पूजन में नहीं है, उसका शरीर पर्वत शृङ्गाग्र के द्वारा बिद्ध होता है ॥४०९॥

अतएव यथाविधि दीक्षा ग्रहण पूर्वक, द्विज अथवा शूद्र हो, शालग्राम शिलात्मक श्रीभगवान् की अर्चना करे । अर्थात् भगवत्तत्पर (यथाविधि दीक्षित) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं स्त्री भी शालग्राम रूपी भगवदर्चन में अधिकारी हैं ॥४५०॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य शालग्राम की पूजा में

तत्रैवान्यत्र—

स्त्रियो वा यदि वा शूद्रा ब्राह्मणाः क्षत्रियादयः ।
पूजयित्वा शिलाचक्रं लभन्ते शाश्वतं पदम् ॥४५२॥ इति ।

अतो निषेधकं यद्यद्वचनं श्रूयते स्फुटम् । अवैष्णवपरं तत्तद्विज्ञेयं तत्त्वदर्शिभिः ॥४५३॥

यथा—

ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहं शुचेरप्यशुचेरपि । स्त्रीशूद्रकर-संस्पर्शो वज्रादपि सुदुःसहः ॥४५४॥
प्रणवोच्चारणाच्चैव शालग्रामशिलार्च्चनात् ।
ब्राह्मणीगमनाच्चैव शूद्रश्चण्डालतामियात् ॥४५५॥

तदेव श्रीनारदोक्त्या प्रमाणयति—ब्राह्मणेति । सतां वैष्णवानां शूद्राणां, शालग्रामे श्रीशालग्राम-शिलार्च्चने, अन्येषामसतां शूद्राणाम् ; अतएव शूद्रमधिकृत्योक्तं वायुपुराणे अयाचकः प्रदाता स्यात् कृषिं वृत्यर्थमाचरेत् । पुराणं शृणुयान्नित्यं शालग्रामञ्च पूजयेत् ॥' इति । एवं महापुराणानां वचनैः सह 'ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहम्' इतिवचनस्य विरोधान्मात्सर्य्यपरैः स्मार्त्तैः कैश्चि। कल्पितमिति मन्तव्यम् । यदि च युक्त्या सिद्धं समूलं स्यात्तर्हि चावैष्णवैः शूद्रैस्तादृशीभिश्च स्त्रीभिस्तत्पूजा न कर्त्तव्या, यथाविधि गृहीतविष्णुदीक्षाकैश्च तैः कर्त्तव्येति व्यवस्थापनीयम् ; यतः शूद्रेष्वन्त्यजेष्वपि मध्ये ये वैष्णवास्ते शूद्रादयो न विलोच्यन्ते; तथा च नारदीये—'श्वपचोऽपि महीपाल विष्णोर्भक्तो द्विजाधिकः' इति । इतिहास-समुच्चये—'शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा । वीक्षते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम् ॥' इति । पाद्मे च– 'न शूद्रा भगवद्-भक्तास्ते तु भागवता नराः । सर्व्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्द्दने ॥' इति । एतदादिकं चाग्रे वैष्णव-माहात्म्ये विस्तरेण व्यक्तं भावि । किञ्च, भगवद्दीक्षाप्रभावेन शूद्रादीनामपि विप्रसाम्यं सिद्धमेव; तथा च तत्र—'यथा काञ्चनतां याति' इत्यादि । एतच्च प्राग्दीक्षामाहात्म्ये लिखितमेव; अतएव तृतीयस्कन्धे (३३।६) देवहूतिवाक्यम्—'यन्नामधेय-श्रवणानुकीर्त्तनाद्,-यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित् । श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥' इति । सवनाय यजनाय कल्पते योग्यो भवतीत्यर्थः । अतएव विप्रैः सह वैष्णवानामेकत्रैव गणना; तथा च हरिभक्तिसुधोदये श्रीभगवद्ब्रह्मसंवादे—'तीर्थान्यश्वत्थतरवो गावो विप्रास्तथा स्वयम् । मद्भक्ताश्चेति विज्ञेयाः पञ्चते तनवो मम ॥' इति । चतुर्थस्कन्धे (२१।१२) श्रीपृथु-महाराजवर्णने—'सर्व्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैक दण्डधृक् । अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥' इति । अच्युतो गोत्रं प्रवर्त्तकतुल्यं येषां वैष्णवानां तेभ्योऽन्यत्र चेत्यर्थः । तथा तन्महाराजस्योक्तौ (श्रीभा ४।२१।३७)–

अधिकारी हैं । शूद्र सत् होने से उसका भी अधिकार है । एतद्व्यतीत अपर का अधिकार नहीं है अर्थात् विष्णुभक्त व्यतीत अपर का शालग्रामार्चन में अधिकार नहीं है । सत्शूद्र शब्द से यथाविधि दीक्षित विष्णु-भक्ति-परायण शूद्र को जानना होगा । टीका में इसका विशेष विचार है ॥४५१॥

स्कन्दपुराण में अन्यत्र वर्णित है—स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रियादि शालग्रामशिलार्चन से नित्य पद लाभ करते हैं ॥४५२॥

सुतरां स्त्री, शूद्रादि के पक्ष में शालग्राम की पूजा के सम्बन्ध में जो सब निषेध स्पष्ट रूप से हैं, तत्त्वदर्शिगण उक्त विषय में कहते हैं कि– यथाविधि दीक्षा ग्रहण एवं भगवद् भक्तिपरायण व्यतीत स्थल में वह निषेध प्रयोज्य है । यथाविधि गृहीत विष्णुदीक्षा परायण व्यक्ति अवश्य अर्चना करें । निषेध वचन यह है—शुचि हो अथवा अशुचि हो ब्राह्मण ही मेरी अर्चना में अधिकारी है । स्त्री अथवा शूद्र का करस्पर्श वज्र से भी सुदुःसह है । यदि शूद्र प्रणव उच्चारण करता है अथवा शालग्रामार्चन करता है, किम्वा ब्राह्मणी-गमन करता है तो वह चण्डालत्व प्राप्त करेगा ॥४५३-४५५॥

सन्धार्य्या वैष्णवैर्यत्नाच्छालग्रामशिलाऽसुवत् ।
सा चार्च्च्या द्वारकाचक्राङ्कितोपेतैव सर्व्वदा ॥४५६॥

अथ शालग्रामशिला श्रीद्वारकाचक्राङ्कशिलासंयोग-माहात्म्यम्

ब्राह्मे तत्रैव—

शालग्रामोद्भवो देवो देवो द्वारवतीभवः ।
उभयोः सङ्गमो यत्र मुक्तिस्तत्र न संशयः ॥४५७॥

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारदसंवादे—

चक्राङ्किता शिला यत्र शालग्रामशिलाग्रतः ।
तिष्ठते मुनिशार्द्दूल वर्द्धन्ते तत्र सम्पदः ॥४५८॥

'मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि,-स्तितिक्षया तपसा विद्यया च । देदीप्यमानेऽजितदेवतानां, कुले स्वयं राजकुलाद्द्विजानाम् ॥' इति । अत्र श्रीस्वामिपादानां टीका—'महत्यश्च ता ऋद्धयश्च ताभिर्यद्राजकुलस्य तेजस्तत् तस्मात सकाशाद्द्विजानां विप्राणां कुले अजितो देवतापूज्यो येषां वैष्णवानां, तेषां कुले मा जातु प्रभवेत्, कदाचिदपि प्रभवं न करोतु । कथम्भूते ? समृद्धिभिर्विनापि स्वयमेव तितिक्षादिभिर्देदीप्यमान इति। पुरञ्जनोक्तौ (श्रीभा ३।२६।२४) च-'तस्मिन् दधे दममहं तव वीरपत्नि, योऽन्यत्र भूसुरकुलात् कृतकिल्विषस्ते। पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या,-मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात् ॥' इति । तत्रापि सैव टीका—हे वीरपत्नि, यस्ते कृतापराधः, तस्मिन्नहं ब्राह्मणकुलादन्यत्र अन्यस्मिन् मुररिपुदासादितरत्र च दमं दधे, दण्डं करोमीत्यादि । ईदृशानि च वचनानि श्रीभागवतादौ बहून्येव सन्ति । इत्थं वैष्णवानां ब्राह्मणैः सह साम्यमेव सिध्यति । किञ्च, 'विप्राद्द्विषड्गुणयुतात्' (श्रीभा ७।९।१०) इत्यादिवचनैरवैष्णवब्राह्मणेभ्यो नीचजातिजातानामपि वैष्णवानां श्रैष्ठ्यं निर्द्दिश्यतेतराम् । अतएवोक्तं श्रीभगवता श्रीहयग्रीवेण श्रीहयशीर्षपञ्चरात्रे श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठान्ते—'मूर्त्तिपानान्तु दातव्या देशिकार्द्धेन दक्षिणा । तदर्द्धं वैष्णवानान्तु तदर्द्धं तद्द्विजन्मनाम् ॥' इति । अतो युक्तमेव लिखित सर्व्वैर्भगवतः परैः पूज्य इति । तथा च ब्रह्मवैवर्त्ते प्रियव्रतोपाख्याने धर्म्मव्याधस्यापि श्रीशालग्रामशिलापूजनमुक्तम्— 'ततः स विस्मितः श्रुत्वा धर्म्मव्याधस्य तद्वचः । तस्थौ स च समानीय दर्शयामास तावुभौ ॥ निर्निक्तवसनौ वृद्धावासनस्थौ निजौ गुरू । शालग्रामशिलाञ्चैव तत्समीपे सुपूजिताम् ॥' इति । अत्राचारश्च—सतां मध्यदेशेऽस्मिन् विशेषतो दक्षिणदेशे च महत्तमानां श्रीवैष्णवानां प्रमाणमिति दिक् । एवं श्रीभागवतपाठादावप्यधिकारो वैष्णवानां द्रष्टव्यः ; यतो विधिनिषेधा भगवद्भक्तानां न भवन्तीति 'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणाम्' (श्रीभा ११।५।४१) इत्यादिवचनैः, तथा कर्म्मपरित्यागादिनापि न कश्चिद्दोषो घटत इति 'तावत् कर्म्माणि कुर्वीत' (श्रीभा ११।२०।९) इति 'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवान्' (श्रीभा ४।२९।४६) इत्यादिवचनैश्च व्यक्तं बोधितमेवास्ति । एतत् सर्व्वमग्रे श्रीवैष्णव-माहात्म्ये विस्तरेण व्यक्तं भावि ॥४५४-४५५॥

असुवत् प्राणवत्, यत्नात् सन्धार्य्या अर्च्च्या पूजयितव्या ॥४५६॥

निज प्राण के समान मानकर वैष्णवगण यत्नपूर्वक शालग्राम शिला की अर्चना करें । पूजाकाल में द्वारकाचक्राङ्कित शिला के सहित एकत्र पूजा करनी चाहिये ॥४५६॥

अथ शालग्रामशिला श्रीद्वारकाचक्राङ्कशिलासंयोग-माहात्म्यम्

ब्रह्मपुराण में उक्त है—शालग्रामोद्भव देव एवं द्वारावतीभव देव का मिलन जहाँ पर होता है, उस स्थान में मुक्ति निःसन्देह विराजमान रहती है ॥४५७॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है— हे मुनिवर ! जहाँ पर शालग्राम शिला के सम्मुख में

तत्रैवान्यत्र—

प्रत्यहं द्वादश शिलाः शालग्रामस्य योऽर्च्चयेत् ।
द्वारवत्याः शिलायुक्ताः स वैकुण्ठे महीयते ॥४५९॥

अथ श्रीद्वारकाचक्राङ्कलक्षणानि

श्रीप्रह्लादसंहितायाम्—

एकः सुदर्शनो द्वाभ्यां लक्ष्मीनारायणः स्मृतः ।
त्रिभिस्त्रिविक्रमो नाम चतुर्भिश्च जनार्द्दनः ॥४६०॥

पञ्चभिर्वासुदेवस्तु षड्भिः प्रद्युम्न उच्यते । सप्तभिर्बलदेवस्तु अष्टभिः पुरुषोत्तमः ॥४६१॥
नवभिश्च नवव्यूहो दशभिर्दशमूर्त्तिकः । एकादशैश्चानिरुद्धो द्वादशैर्द्वादशात्मकः ।
अन्येषु बहुचक्रेषु अनन्तः परिकीर्त्तितः ॥४६२॥

अथ द्वादशचक्राङ्क-माहात्म्यम्

वाराहे—

ये केचिच्चैव पाषाणा विष्णुचक्रेण मुद्रिताः ।
तेषां स्पर्शनमात्रेण मुच्यते सर्व्वपातकैः ॥४६३॥

गारुड़े—

सुदर्शनाद्यास्तु शिलाः पूजिताः सर्व्वकामदाः ॥४६४॥

एकः एकचक्रो यः स सुदर्शन इत्यर्थः ; द्वाभ्यां चक्राभ्यामेवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥४६०॥
नवव्यूहः नृसिंह-वराह-हयग्रीव-नारायण-ब्रह्माण; पञ्च, श्रीवासुदेवाद्यश्चत्वारः, एवं नवव्यूहरूपः; मत्स्य-कुर्म्मादिदशावतारात्मकः । एकादशैरित्यार्षम्, एकादशभिः । पाठान्तरे एकादश चक्राणि यदि स्युस्तर्हि अनिरुद्ध इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि; द्वादशात्मकः द्वादशादित्यरूपः, केशवनारायणादि-द्वादशरूपो वा ॥४६२॥

द्वारका चक्राङ्कितशिला विराजमान रहती है, वहाँ सब प्रकार सम्पत् उत्तरोत्तर वर्द्धित होती रहती है ॥ ५८

स्कन्दपुराण के अन्यत्र वर्णित है—प्रत्यह द्वारकोद्भवशिला के सहित द्वादश शालग्राम शिला की अर्चना करने पर वह पूजनकारी वैकुण्ठलोक में सम्मानित होता है ॥४५९॥

अथ श्रीद्वारकाचक्राङ्कलक्षणानि

श्रीप्रह्लादसंहिता में वर्णित है—एक चक्राङ्कित का नाम सुदर्शन, चक्रद्वययुक्त का नाम लक्ष्मीनारायण, तीन चक्र, त्रिविक्रम, चार चक्र–जनार्दन, पाँच चक्राङ्कित, वासुदेव, षट् चक्र, प्रद्युम्न, सप्त चक्र, बलदेव, अष्ट चक्र, पुरुषोत्तम, नव चक्र, नवव्यूह, दश चक्र, दशमूर्त्ति, एकादश चक्र, अनिरुद्ध, द्वादश चक्राङ्कित का नाम द्वादशात्मक एवं तदपेक्षा अधिक चक्राङ्कित को अनन्त कहते हैं ॥४६०-४६२॥

अथ द्वारकाचक्राङ्क-माहात्म्यम्

वराहपुराण में लिखित है—विष्णुचक्रचिह्नित शिला के केवल स्पर्श मात्र से ही मनुष्य निखिल पातकों से मुक्त होता है ॥४६३॥

गरुड़पुराण में उक्त है—सुदर्शनादि शिला की पूजा करने से सकल कामना पूर्ण होती हैं ॥४६४॥

स्कान्दे च —

भक्त्या वा यदि वाऽभक्त्या चक्राङ्कं पूजयेन्नरः ।
अपि चेत् सुदुराचारो मुच्यते नात्र संशयः ।।४६५।।

द्वारकामाहात्म्ये च द्वारकागतानां श्रीब्रह्मादीनामुक्तौ—

एतद्वै चक्रतीर्थन्तु यच्छिला चक्रचिह्निता ।
मुक्तिदा पापिनां लोके म्लेच्छदेशेऽपि पूजिता ।।४६६।।

अथ तेष्वेव चक्रभेदेन फलभेदः

कपिलपञ्चरात्रे—

एकचक्रस्तु पाषाणो द्वारवत्याः सुशोभनः । सुदर्शनाभिधो योऽसौ मोक्षैकफलदायकः ।।४६७।।
लक्ष्मीनारायणो द्वाभ्यां भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।
एभिश्चाच्युतरूपोऽसौ फलमैन्द्रं प्रयच्छति ।।४६८।।
चतुर्भुजश्चतुश्चक्रश्चतुर्वर्गफलप्रदः । पञ्चभिर्वासुदेवश्च जन्ममृत्युभयापहः ।।४६९।।
षड्भिः प्रद्युम्न एवासौ लक्ष्मीं कान्तिं ददाति सः ।
सप्तभिर्बलभद्रोऽसौ गोत्रकीर्त्तिविवर्द्धनः ।।४७०।।
ददाति वाञ्छितं सर्व्वमष्टभिः पुरुषोत्तमः । नवचक्रो नृसिंहस्तु फलं यच्छत्यनुत्तमम् ।।४७१।।
राज्यप्रदो दशभिस्तु दशावतारकः स्मृतः । एकादशभिरैश्वर्यमनिरुद्धः प्रयच्छति ।।४७२।।
निर्व्वाणं द्वादशात्मासौ सौख्यदश्च सुपूजितः ।।४७३।।

अथ वर्णादिभेदेन दोषगुणाः पूज्यत्वापूज्यत्वे च

तत्रैव—

कृष्णो मृत्युप्रदो नित्यं धूम्रश्चैव भयावहः ।
अस्वास्थ्यं कर्वुरो दद्यान्नीलस्तु धनहानिदः ।।४७४।।

स्कन्दपुराण में उक्त है—मनुष्य भक्तिभाव से, अभक्तिभाव से चक्राङ्कित शिला की पूजा करने से सुदुराचार होने पर भी मुक्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है ।।४६५।।

द्वारका माहात्म्य में द्वारकागत श्रीब्रह्मादि की उक्ति है—चक्राङ्कित शिला को ही चक्रतीर्थ कहते हैं। म्लेच्छदेश में भी उनकी पूजा करने से वह शिला पापियों को मुक्ति प्रदान करती है ।।४६६।।

अथ तेष्वेव चक्रभेदेन फलभेदः

कपिल पञ्चरात्र में कथित है—द्वारावती की जिस मनोहर शिला में एक चक्रचिह्न विद्यमान है, उनको सुदर्शन कहते हैं। सुदर्शन मुक्तिदायक हैं। दो चक्र होने से लक्ष्मीनारायण होते हैं, भुक्ति-मुक्ति-प्रदायक लक्ष्मीनारायण हैं। तीन चक्र को अच्युत कहते हैं, आप इन्द्रत्वप्रद हैं। चार चक्र को चतुर्वर्ग फलप्रद चतुर्भुज कहते हैं। पाँच चक्र, जन्म-मरण भयापहारक वासुदेव हैं। छह चक्र, प्रद्युम्न हैं, लक्ष्मीप्रद, सौन्दर्य्यदायक आप हैं। सप्त चक्र, बलभद्र हैं, यशः एवं गोत्रवर्द्धक हैं। अष्ट चक्र, सर्वाभीष्टद पुरुषोत्तम हैं। नव चक्र, अत्युत्तम फलदाता श्रीनृसिंह हैं। दश चक्र, राज्यदाता दशावतार हैं। एकादश चक्र, ऐश्वर्य्यप्रद अनिरुद्ध, द्वादश चक्र, मुक्तिप्रद, सुखदाता द्वादशात्मक कहे जाते हैं ।।४६७-४७३।।

अथ वर्णादिभेदेन दोषगुणाःपूज्यत्वापूज्यत्वे च

कपिल पञ्चरात्र में वर्णित है—कृष्णवर्ण शिला, मृत्युदायक है, धूम्रवर्ण, सतत भयप्रद, नानावर्ण

छिद्रो दारिद्र्यदुःखानि दद्यात् संपूजितो ध्रुवम् ।
पाण्डरस्तु महद्दुःखं भग्नो भार्य्याबियोगदः ॥४७५॥

पुत्रपौत्रधनैश्वर्य्यसुखमत्यन्तमुत्तमम् । ददाति शुक्लवर्णश्च तस्मादेनं समर्च्चयेत् ॥४७६॥

श्रीप्रह्लादसंहितायाम् —

कृष्णा मृत्युप्रदा नित्यं कपिला च भयावहा ।
रोगार्त्तिं कर्व्वुरा दद्यात् पीता वित्तविनाशिनी ॥४७७॥

धूम्राभा वित्तनाशाय भग्ना भार्य्याविनाशिका । सच्छिद्रा च त्रिकोणा च तथा विषमचक्रिका ।
अर्द्धचन्द्राकृतिर्या च पूज्यास्ता न भवन्ति हि ॥४७८॥

गार्ग्य-गालवयोः—

सुखदा समचक्रा तु द्वादशी चोत्तमा शुभा । वर्त्तुला चतुरस्रा च नराणाञ्च सुखप्रदा ॥४७९॥
त्रिकोणा विषमा चैव छिद्रा भग्ना तथैव च । अर्द्धचन्द्राकृतिर्या तु पूजार्हा न भवेत्तु सा ।
फलं नोत्पद्यते तत्र पूजितायां कदाचन ॥४८०॥

छिद्रः सच्छिद्र इत्यर्थः ; शुक्लः शुभ्रः वर्णो यस्य सः ॥४७५-४७६॥
ताः सच्छिद्राद्याः कृष्णादयो वा ॥४७८॥
द्वादशी द्वादशात्मकसंज्ञिका द्वादशकोणा वा ॥४७९॥

इति पञ्चमो विलासः ।

चित्रित, अस्वास्थ्यदायी एवं नीलवर्ण, धन-नाशक है । छिद्रयुक्त शिला की पूजा करने से निःसन्देह दारिद्र्य दुःख होता है । पाण्डुवर्ण, महादुःखप्रद, भग्न, भार्य्याबियोगकर, श्वेतवर्ण, पुत्र-पौत्र, धन-ऐश्वर्य्य एवं महा-सुखदायक हैं । सुतरां तादृश शिला की पूजा विशेष भाव से करे ॥४७४-४७६॥

प्रह्लाद संहिता में उक्त है—कृष्णवर्ण, मृत्युप्रद; कपिलवर्ण, सदा भीतिदायक; कर्वुरवर्ण, रोग-क्लेश-दायक; पीतवर्ण, वित्तविनाशक; धूम्रवर्ण, बित्तनाशक है । भग्न, भार्य्याविनाशक है । छिद्र विशिष्ट, त्रिकोण विषमचक्र विशिष्ट एवं अर्द्धचन्द्राकृति शिला की पूजा कभी भी नहीं करनी चाहिये ॥४७७-४७८॥

गार्ग्य एवं गालवऋषि कहे हैं—जिसमें समान चक्र है, वह सुखप्रद है, द्वादशचक्र अति मङ्गलप्रद, वर्त्तुलाकृति अथवा चतुष्कोण, सुखप्रद है । त्रिकोण, विषमचक्र, छिद्रान्वित, भग्न किम्बा अर्द्धचन्द्राकृति शिला की कदापि पूजा न करे । पूजन करने से फलोत्पन्न नहीं होता है ॥४७९-४८०॥

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे आधिष्ठानिको

नाम पञ्चमो विलासः ।

षष्ठ-विलासः

श्रीचैतन्यप्रसादेन तद्रूपं गोकुलोत्सवम् । मनोज्ञं यष्टुकामस्य मूर्त्यर्च्चाविधिरुच्यते ॥१॥

स्वयं व्यक्ताः स्थापनाश्च मूर्त्तयो द्विविधा मताः ।

स्वयं व्यक्ताः स्वयं कृष्णः स्थापनास्तु प्रतिष्ठया ॥२॥

यथा च पाद्मोत्तरखण्डे—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तदर्च्चावसथं हरेः । स्थापनश्च स्वयं व्यक्तं द्विविधं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥३॥

शिलामृद्दारुलौहाद्यैः कृत्वा प्रतिकृतिं हरेः । श्रौतस्मार्त्तागमप्रोक्तविधिना स्थापनं हि यत् ॥४॥

तत् स्थापनमिति प्रोक्तं स्वयं व्यक्तं हि मे शृणु ।

यस्मिन् सन्निहितो विष्णुः स्वमेव नृणां भुवि ॥५॥

पाषाणदार्व्वोरात्मेशः स्वयं व्यक्तं हि तत् स्मृतम् । दुर्लभत्वात् स्वयं व्यक्तमूर्त्तेः श्रीवैष्णवोत्तमः।

यथाविधि प्रतिष्ठाप्य स्थापितां मूर्त्तिमर्च्चयेत् ॥६॥

श्रियो महालक्ष्म्याः चैतन्यं जीवनरूपो भगवान् श्रीकृष्णः । स्वमते तु निजभक्तौ सर्व्वषामेव चेतयितृत्वेन श्रीचैतन्य इति विख्यातः श्रीशचीनन्दनस्तस्य प्रसादेन मूर्त्तेः श्रीभगवत्प्रतिकृतेः अर्च्चायाः पूजाया विधिरुच्यते लिख्यते । ननु सर्व्वाधिष्ठानतः श्रीशालग्रामशिलाया माहात्म्यमधिकं लिखितमिति तत्पूजाविधिरेव लिखितुं युज्यते, तत्र लिखति—गोकुलोत्सवं, तस्य चैतन्यस्य रूपं, तत् अनिर्व्वचनीयं वा रूपं यष्टुकामस्य पूजयितुमिच्छतो जनस्य । कुतः ? मनोज्ञं चित्ताकर्षकम्; श्रीमूर्त्तिमन्तरेण मनः-सन्तोषो न स्यादिति तद्भक्तानां तत्पूजैवोपयुक्तेति भावः । अतएव 'तत्तद्दीप सुरभिघृतसंसिक्तकर्पूरवर्त्त्या, दीप्तं दृष्ट्याद्यतिविशदधीः पादपर्य्यन्तमुच्चैः' इत्यादि-वचनैः क्रमदीपिकादौ दृष्ट्यादिनिर्देशेन श्रीमूर्त्तिपूजैवाभिप्रेतेति दिक् ॥१॥

स्वयं व्यक्ताः श्रीरङ्गशायिप्रभृतयः; स्वयं साक्षादेव श्रीकृष्णः; प्रतिष्ठया कृत्वा कृष्णः स्यात् ॥२॥

अर्च्चायाः पूजाया आवसथं स्थानमित्यर्थः ॥३॥

जो व्यक्ति, श्रीकृष्ण की मनोहर गोकुलोत्सवरूप मूर्त्ति की अर्चना करना चाहते हैं, उनके निमित्त श्रीचैतन्यदेव के अनुग्रह से श्रीमूर्त्ति का विधान लिख रहा हूँ। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि श्रीशालग्राम में श्रीहरि नित्य अधिष्ठित हैं, अतः श्रीशालग्राम शिला की ही अर्चना करना उचित है, मूर्तिपूजा की कोई आवश्यकता नहीं है, अतएव श्रीमूर्त्तिपूजा-विधान लिखना अनावश्यक है ? इस प्रकार शङ्का के उत्तर में कहते हैं—मनोहर श्रीमूर्त्ति दर्शन से सहसाही मन आकृष्ट होता है, सुतरां भगवद्भक्त के निमित्त श्रीभगवद्-मूर्त्ति-पूजा ही विहिता है ॥१॥

श्रीमूर्त्ति दो प्रकार की हैं। एक स्वयं प्रकटित—श्रीरङ्गशायि प्रभृति एवं प्रतिष्ठा के द्वारा स्थापित, द्वितीय हैं। स्वयं प्रकटित साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं, अपर प्रतिष्ठा विधि के द्वारा स्थापित मूर्त्ति हैं ॥२॥

उक्त मूर्त्ति के विषय में पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में वर्णित है—हे देवि ! श्रीहरि पूजन का स्थान को कहता हूँ, सुनो। स्थान द्विविध हैं—स्थापित एवं स्वयं व्यक्त। शिला, मृत्तिका, काष्ठ, लौहादि द्वारा श्रीहरि की प्रतिमूर्त्ति का निर्माण यथारीति से करके श्रुति, स्मृति, तन्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रतिष्ठा करने से स्थापन होता है। स्वयं व्यक्त का विवरण कहता हूँ, सुनो ! आत्मेश्वर श्रीविष्णु, पृथिवी में जिस प्रस्तर अथवा काष्ठ में मनुष्यों के निकट अवस्थान करते हैं, वह ही स्वयं व्यक्त स्वरूप हैं, स्वयं प्रकटित मूर्त्ति सहज लभ्य न होने के कारण, श्रीवैष्णवोत्तम, यथाविधि श्रीमूर्त्ति की प्रतिष्ठा कर श्रीमूर्त्ति की अर्चना करें ॥३-६॥

अथ श्रीमूर्त्तिपूजन-माहात्म्यम्

हरिभक्तिसुधोदये—
नैकं स्ववंशन्तु नरस्तारयत्यखिलं जगत् । अर्च्चायामीप्सितं नृणां फलं यागादिदुर्लभम् ।
प्रतिमामाश्रितोऽभीष्टप्रदां कल्पलतां यथा ॥७॥

अथ श्रीमूर्त्तेः प्रसादनमात्मादिशुद्धयश्च

श्रीमूर्त्तिं क्षालनार्हान्तु शस्तगन्धजलादिना । प्रक्षालयेत्तदन्यान्तु मूलमन्त्रेण मार्ज्जयेत् ॥८॥
श्रीमूर्त्तिहृदयं स्पृष्ट्वा स्वमन्त्रं चाष्टधा जपेत् । एवं प्रसादनं मूर्त्तेरात्मनस्तत्प्रसादनात् ।
शुद्धिरेका द्वितीया तु स्यादव्यग्रतयापि च ॥९॥
स्थानशुद्धिस्तथा द्रव्यशुद्धिश्च लिखिता पुरा । इति प्रकारभेदेन भवेच्छुद्धि-चतुष्टयम् ॥१०॥

अर्च्चायां श्रीमूर्त्तौ, नृणामीप्सितं फलं योगादिदुर्लभमपि सा ददाति ॥७॥

प्रक्षालनार्हाम्—शैलीलौहीप्रतिकृतिम्, तदन्याम्—लेप्याद्याम् ॥८॥

अष्टधा वाराष्टकम्, आत्मशुद्धिः अव्यग्रत्वादिना । यद्यपि पूजारम्भादेव सा सदापेक्ष्यते, तथापि वहिः श्रीमूर्त्तिपूजायामवश्यापेक्ष्यत्वात् शुद्धिप्रसङ्गाद्वात्र लिखिता ॥९॥

ननु क्वचित् शुद्धिचतुष्टयं, क्वचिच्च शुद्धिषट्कं श्रूयते, अत्र तु मूर्त्तिशुद्धिरात्मशुद्धिश्चेति शुद्धिद्वयमात्रं तत् कुतः? इत्यतो लिखति—स्थानेति । पुरा पूर्व्वं देवालयमार्ज्जनादिप्रकरणे स्थानशुद्धिः लिखिता, वास्तुप्रतिष्ठाशेषे च शङ्खोदकादिना द्रव्यशुद्धिर्लिखिता इति । अनेन प्रकारेण भेदोऽत्रायं ज्ञेयः; प्रक्षालनादिना श्रीमूर्त्तिशुद्धिः शोधन-प्रोक्षणादिना द्रव्यशुद्धिरव्यग्रत्वेन चात्मशुद्धिरभिव्यक्तितैव । तत्र च आत्मतत्त्वाय नमः; विद्यातत्त्वाय नमः, श्रीभगवत्तत्त्वाय नमः—इत्युक्त्वा प्रोक्षणीपात्रनिहितेन किञ्चिदभिमन्त्रितशङ्खजलेन तुलसीदलगृहीतेन स्वमूर्द्धन्यभिषेकं कुर्य्यादित्येतमात्मशुद्धिं केचिन्मन्यन्ते । स्थानशुद्धिश्च संमार्ज्जनलेपनादिना वेदिकामण्डलनिर्म्माणादिना च; तथा चोक्तं श्रीरामार्च्चनचन्द्रिकायाम्—'विलिप्य वेदिकां सम्यङ्मण्डलं तत्र कारयेत् । रक्तैस्तण्डुलचूर्णैश्च नीलपीतसितासितैः ॥ लिखेदष्टदलं पद्मं चतुरस्रं समावृतम् । षट्कोणं कर्णिकामध्ये कोणाग्रे वृत्तसंवृतम् ॥ साध्यमेव ततः शोभारेखाभिरुपशोभितम् । संपूज्य मण्डलञ्चैव तत्र सिंहासनं न्यसेत् ॥ चन्द्रातप-पताकैश्च तोरणैरपि सर्व्वतः । चित्रितं तत्र तत्रापि भित्तिस्तम्भस्थलादिषु ॥'

अथ श्रीमूर्त्तिपूजन-माहात्म्यम्

श्रीहरिभक्ति सुधोदय में वर्णित है—श्रीमूर्त्ति पूजन करने से मूर्त्ति-पूजक, केवल अपना ही कुल नहीं, किन्तु वह पूजक समस्त जगत् को उद्धार करता है। श्रीमूर्त्ति की पूजा करने से यागादि दुर्लभ फल लाभ होता है। श्रीविग्रह को आश्रय करने से कल्पतरु आश्रय के समान अभीष्ट फल की सिद्धि होती है ॥७॥

अथ श्रीमूर्त्तेः प्रसादनमात्मादिशुद्धयश्च

स्नपन योग्य प्रस्तरमयी एवं लौहमयी (धातुमयी) मूर्त्तिसमूह का प्रक्षालन प्रशस्त गन्ध जलादि के द्वारा यथारीति करे। अन्यान्य अर्थात् लेप्या लेख्या प्रभृति श्रीविग्रह प्रक्षालन योग्य नहीं हैं। तत्समूह का मार्जन, मूलमन्त्र-पाठ पूर्वक करे ॥८॥

श्रीमूर्त्ति का हृदय स्पर्श करके आठ बार स्व-मन्त्र जप करे। इस प्रकार श्रीमूर्त्ति का संस्कार करने से एक प्रकार आत्मशुद्धि होती है। चित्त की स्थिरता सम्पादन के द्वारा द्वितीय प्रकार आत्मशुद्धि होती है ॥९॥

इसके पहले स्थान-शुद्धि एवं द्रव्य-शुद्धि लिखी गई है। इस प्रकार समष्टि से शुद्धि चार प्रकार की होती है ॥१०॥

उक्तञ्च श्रीनारदेन—

पुष्पेनाम्बु गृहीत्वा तु प्रोक्षयेत् सर्व्वसाधनम् ।
मलस्नानं ततः कुर्य्यात् पात्रे देवं निधाय च ॥११॥

अन्येनापि—

पुष्पाक्षतादिद्रव्यानां कुर्य्यान्मन्त्रादिशोधनम् । क्षालनेनाम्बुलेपाद्यैर्मूर्त्तिशुद्धिं समाचरेत् ।
अव्यग्रत्वेनात्मशुद्धिं क्षितिशुद्धिं ततश्चरेत् ॥१२॥ इति ।

मन्त्रशुद्धिं परां चित्तशुद्धिं चेच्छन्ति केचन । एवं षट् शुद्धयः पुण्याः सम्प्रदायानुसारतः ॥१३॥

अथ पीठपूजा

ताम्रादिपीठे श्रीखण्डाद्यालिप्तेऽष्टदलं लिखेत् । सकर्णिकं त्रिवृत्ताढ्यं पद्मं षोड़शकेशरम् ॥१४॥
सदलाग्रं चतुष्कोणं चतुर्द्वारविभूषितम् । पूजायन्त्रं समुद्धृत्य पीठार्च्चां तत्र साधयेत् ॥१५॥
पीठे भगवतो वामे श्रीगुरून् गुरुपादुकान् । नारदादीन् पूर्व्वसिद्धान् यजेदन्यांश्च वैष्णवान् ॥१६॥

इति । एतच्च केषाञ्चिन्मते श्रीरघुनाथपूजाविषयम्, क्रमदीपिकाकारादिमते च दीक्षाविधिविषयमेवेति । मन्त्रशुद्धिश्च—अस्त्रमन्त्रेण मन्त्रशुद्धिं परिकल्पयामीत्येवम् । चित्तशुद्धिश्च चिन्तान्तरपरित्यागादिनेत्येवं षट् शुद्धयः; ताश्च सर्व्वा एव परिपाल्या वैष्णवैः, किन्तु निजसम्प्रदायानुसारेणेत्यर्थः ॥१०-१३॥

ताम्रादिरचितपीठे श्रीखण्डं चन्दनं, तदादिना आलिप्ते अष्टदलं षोड़शकेशरं सकर्णिकं वृत्तत्रययुक्तं दलाग्रसहितञ्च पद्मं लिखेत् । एवं पूजायन्त्रं सम्यक् उद्धृत्य अङ्कयित्वा तत्र तस्मिन् यन्त्रे पीठस्य अर्च्चां पूजां साधयेत् निष्पादयेत्; तत्राचार्घ्यजलेनाभ्युक्ष्य कुर्य्यादिति सदाचारतो ज्ञेयम् ॥१४-१५॥

भगवतो वाम इति वायुकोणादीशानकोणपर्य्यन्तदेशे इत्यर्थः । श्रीगुरून् निजगुरु-परमगुरु-परापरगुरु-महागुरु-परमेष्ठिगुरून् यजेत् । क्वचिच्च श्रीगुरु-परमगुरु-परमेष्ठिगुरु-परात्परगुरूनिति । प्रयोगः—श्रीगुरुभ्यो नम इत्यादिः । केचिदत्राद्याक्षरविन्दुसहितं वीजत्वेनादौ प्रयुञ्जते—गुं गुरुभ्यो नम इति; तथा गुरुपादुकाश्च श्रीनारदादींश्च पूर्व्वसिद्धान् अन्यांश्चाधुनिकान् भागवतान् यजेत् । प्रयोगः—ॐ श्रीगुरुपादुकाभ्यो नम इत्यादिः ॥१६॥

श्रीमहर्षि नारद ने कहा है—पुष्प द्वारा जल ग्रहण कर, समस्त पूजन सामग्रियों के ऊपर प्रोक्षण करे। पश्चात् अन्य पात्र में देवता को स्थापन कर स्नान कराना चाहिये ॥११॥

अपर ऋषियों ने भी कहा है—पुष्प, अक्षतादि सामग्री का शोधन मन्त्र के द्वारा करे एवं जल और चन्दनादि के द्वारा धौतकर प्रतिमा की शुद्धि करे। चित्त स्थिर करके आत्मशुद्धि एवं स्थान की शुद्धि करनी चाहिये। कतिपय व्यक्ति यहाँ पर मन्त्र-शुद्धि एवं चित्त-शुद्धि का विधान देते हैं। इस प्रकार सम्प्रदायानुसार शुद्धि षट् प्रकार हैं। उक्त छै प्रकार शुद्धि ही पवित्रताकारक हैं। षड़् विध शुद्धि सम्पादन करना ही वैष्णवों का कर्त्तव्य है। किन्तु निज-सम्प्रदाय का आचार पालनीय है, अर्थात् जिस सम्प्रदाय में जिस प्रकार आचरण विहित है, उसका पालन करना कर्त्तव्य है ॥१२-१३॥

अथ पीठपूजा

ताम्रादि द्वारा निर्मित पात्र में चन्दनादि लेपनपूर्वक उसमें चतुर्द्वार विभूषित चतुष्कोण के मध्य में अष्टदल केशर, सोलह केशरयुक्त सकर्णिक वृत्तत्रय विशिष्ट दलाग्रसमन्वित पद्म का अङ्कन करे। इस प्रकार पूजा-यन्त्र को लिखकर पीठपूजा करना चाहिये ॥१४-१५॥

पीठ में भगवान् के वाम भाग में श्रीगुरु-परम्परा, गुरु, परमगुरु, परात्परगुरु, महागुरु एवं परमेष्ठिगुरु

दक्षिणे चार्च्चयेद्दुर्गां गणेशञ्च सरस्वतीम् । तत्र प्राग्लिखितन्यासस्यानुसारेण पूजयेत् ॥१७॥
मध्ये आधारशक्त्यादीन् धर्म्मादींश्च विदिक्ष्वथ ।
अधर्म्मादींश्चतुर्द्दिक्ष्वनन्तादीन् मध्यतः पुनः ॥१८॥
शक्तीर्नवाष्टपत्रेषु कर्णिकायाञ्च पूजयेत् । तथा तदुपरिष्टाच्च पीठमन्त्रं यथोदितम् ॥१९॥
तत्पीठे मूलमन्त्रेण श्रीमूर्त्तिं स्थापयेदथ । पुष्पाञ्जलिं गृहीत्वेष्टदेवरूपं विचिन्तयेत् ॥२०॥

भगवतो दक्षिणे च भागे दुर्गादीनर्च्चयेत्; तत्तत्परिच्छदादिसमेतानिति ज्ञेयम्। ततस्तदनन्तरं प्राक् पूर्व्वं पीठन्यासे लिखितस्य न्यासस्य पीठन्यासस्यानुसारेण यत्र यस्य पूजा येन क्रमेण लिखितास्ति, तथैव पुष्पादिना तां कुर्य्यादित्यर्थः ॥१७॥

तदेव विशिष्य दर्शयति—मध्ये इति द्वाभ्याम्। पीठमध्ये आधारशक्त्यादीन् पूजयेत्; आदि शब्देन प्रकृतिकूर्म्मानन्त-पृथिवी-क्षीरसमुद्र-श्वेतद्वीप-रत्नमण्डप-कल्पवृक्षा । अत्र च पूर्व्ववदेव क्षीरसमुद्रादिस्थाने तत्तत्परिवर्त्तेन श्रीमथुराद्या एकान्तिभिः पूज्या इति बोद्धव्यम्। प्रयोगः—ॐ आधारशक्तये नमः इत्यादिः। एवमग्रेऽपि। अथानन्तरं विदिक्षु कोणेषु धर्म्मादीन् पूजयेत्; आदि-शब्देन ज्ञानवैराग्यैश्वर्य्याणि चतुर्द्दिक्षु पूर्व्वादिदिक्चतुष्टये अधर्म्मादीन् पूजयेत्; आदिशब्देनाज्ञानावैराग्यानैश्वर्य्याणि, पुनश्च पीठमध्य एवानन्तादीन् पूजयेत्; आदि-शब्देन पद्मसूर्य्यमण्डल-सोममण्डल-वह्निमण्डलानि, सत्त्वरजस्तमांसि आत्मान्तरात्म-परमात्मज्ञानात्मानश्च। अष्टसु पत्रेषु पूर्व्वादिदलक्रमेण केशरमध्ये विमलाद्यष्टशक्तीः कर्णिकायां चानुग्रहां शक्तिं पूजयेदित्यर्थः। शक्तयश्च—'विमलोत्कर्षिणी ज्ञाना क्रिया योगा प्रह्वी सत्येशाना इत्यष्ट, नवमी चानुग्रहा' इति। यथोदितमिति—सूर्य्यादि-मण्डलं तत्तद्बीजाक्षरेण सह, सत्त्वादीन् तत्तदाद्याक्षरैः सह, ज्ञानात्मानञ्च भुवनेश्वरीवीजेन सह पूर्व्ववत् पूजयेदित्यर्थः। तत्र प्रयोगः— ॐ अं सूर्य्यमण्डलाय नमः, ॐ उं सोममण्डलाय नमः, ॐ वं वह्निमण्डलाय नमः, ॐ सं सत्त्वाय नम इत्यादिः ॐ ह्रीं ज्ञानात्मने नम इति च ॥१८-१९॥

तस्मिन् पूजिते पीठे ॥२०॥

एवं गुरुपादुका, नारदादि प्राचीन सिद्ध एवं अन्यान्य वैष्णववृन्द की पूजा करनी चाहिये ॥१६॥

दक्षिण भाग में दुर्गा, गणेश, सरस्वती का पूजन तत्तत्परिच्छदादि के सहित करें। उक्त पूजा पूर्वलिखित न्यासानुसार ही करें ॥१७॥

प्रयोग इस प्रकार है—'ॐ आधारशक्तये नमः' इत्यादि। मध्य भाग में आधारशक्ति प्रभृति अर्थात् आधार शक्ति प्रकृति, कूर्म, अनन्त, पृथिवी, क्षीरसमुद्र, श्वेतद्वीप, रत्नमण्डप एवं कल्पवृक्ष, कोणों में धर्मादि अर्थात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य्य, चतुर्द्दिक में अधर्मादि अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य्य मण्डल मध्य भाग में—अनन्त, पद्म, सूर्य्यमण्डल, चन्द्रमण्डल, वह्निमण्डल, सत्त्व, रजः, तमः, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा एवं ज्ञानात्मा की पूजा करनी चाहिये।

प्रयोग यथा—'ओम् आधार शक्तये नमः' इत्यादि। ओम् अं सूर्य्यमण्डलाय नमः, ओम् उं सोम-मण्डलाय नमः, ओम् वं वह्निमण्डलाय नमः, ओम् सं सत्त्वाय नमः, ओम् ह्रीं ज्ञानात्मने नमः, इत्यादि प्रकार से प्रयोग करें ॥१८-१९॥

अनन्तर मूलमन्त्रोच्चारण पूर्वक उक्त पीठ में श्रीमूर्त्ति का स्थापन करे। पुष्पाञ्जलि ग्रहणपूर्वक इष्टदेव की रूप-भावना करे। पश्चात् मूलमन्त्र पाठ पूर्वक तीन बार पुष्पाञ्जलि प्रदान पूर्वक चिन्ता करे कि—स्वीय इष्टदेव एवं प्रतिमा में कुछ भी भेद नहीं है ॥२०-२१॥

ततश्च मूलमन्त्रेण क्षिप्त्वा पुष्पाञ्जलित्रयम् । निजेष्टदेवमूर्त्तेश्च परमैक्यं विभावयेत् ॥२१॥

अथावाहनादीनि

ततो देवार्च्चने प्रौढ़पादताया निषेधनात् । भूमौ निहितपादः सन् कुर्य्यादावाहनादिकम् ॥२२॥

यच्चावाह्यमधिष्ठानं तत्रावाहनमाचरेत् । शालग्रामस्थापने च नावाहन-विसर्ज्जने ॥२३॥

तथा चोक्तम्—

उद्वासावाहने न स्तः स्थावरे वै यथा तथा । शालग्रामार्च्चने नैव ह्यावाहन-विसर्ज्जने ॥२४॥

शालग्रामे तु भगवानाविर्भूतो यथा हरिः । न तथान्यत्र सूर्य्यादौ वैकुण्ठेऽपि च सर्व्वगः ॥२५॥

अथावाहनादिविधिः

आवाहनादिमुद्राश्च संदर्श्यावाहनं बुधः । तथा संस्थापनं सन्निधापनं सन्निरोधनम् ॥२६॥

सकलीकरणं चावगुण्ठनञ्च यथाविधि । अमृतीकरणं कुर्य्यात् परमीकरणं तथा ॥२७॥

निजेष्टदेवस्य मूर्त्तेश्च पीठस्थापित-भगवत्प्रतिकृतेः परममत्यन्तम् ऐक्यम् अभिन्नत्वं सञ्चिन्तयेत् ॥२१॥

प्रौढ़पादतालक्षणमादौ लिखितमेवास्ति । आदि-शब्देन संस्थापनादि, तच्चाग्रे व्यक्तं भावि, आवाह्यम् आवाहनयोग्यमस्थिरादि, तत्र तस्मिन् अधिष्ठाने आवाहनं विसर्ज्जनञ्च नाचरेत् । यद्यपि मूर्त्यर्च्चाविधिरुच्यते इति पूर्व्वलिखनाच्छ्रीमूर्त्तिपूजैव प्रस्तुतास्ति, तथाप्यावाहनादि प्रसङ्गेऽस्मिन् शालग्रामावाहननिषेधादिकं लिखितमिति दिक् ॥२३-२५॥

आवाहनादिकरणप्रकारमेव लिखति—आवाहनादीति द्वाभ्याम्, आवाहनादिमुद्रा आदौ सम्यक् दर्शयित्वा पश्चादावाहनं, तथा संस्थापनादिकञ्च बुधो यथाविधि कुर्य्यादिति द्वयोरन्वयः । विधिश्चायम्—श्रीकृष्ण इहावह इहावह, इह सम्यक् तिष्ठ, इह सम्यक्तिष्ठ, इह सन्निधेहि इह सन्निधेहि, इह सन्निरुध्यस्व इह सन्निरुध्यस्व, इह सकलीकुरु, इह सकलीकुरु, इहावगुण्ठ व इहावगुण्ठस्व, इहामृतीकुरु इहामृतीकुरु, इह परमीकुरु इह परमीकुरु—इति क्रमात् ब्रूयादिति । आवाहनाद्यष्टमुद्राश्चाग्रे लेख्याः । के चिच्चाहुः—क्रमेण मुद्राः प्रदर्शयन् तत्र तत्र क्रमेण तत्तद्ब्रूयादिति ॥२६-२७॥

अथावाहनादीनि

अनन्तर भूमि में पद स्थापन पूर्वक आह्वानादि करें, कारण, पूजन कार्य्य में प्रौढ़ पाद होना निषिद्ध है। अर्थात् ऊर्द्ध्व भाग में चरणों का रखना निषिद्ध है। योग्य अधिष्ठान में ही आवाहन करना विहित है। शालग्राम स्थापन में आवाहन अथवा विसर्जन करना निषिद्ध है ॥२२-२३॥

अतएव लिखित है—जिस प्रकार स्थावर प्रतिमा में आवाहन एवं विसर्जन नहीं है, सर्वत्रगामी भगवान् हरि शालग्राम में जिस प्रकार आविर्भूत हैं, सूर्य्यादि अन्यान्य अधिष्ठान में एवं वैकुण्ठ में भी उस प्रकार नहीं होते हैं ॥२४-२५॥

अथावाहनादिविधिः

सुधीव्यक्ति आवाहनादि की मुद्रा का प्रदर्शन सम्यक् रूप से करके यथाविधि आवाहन, संस्थापन, सन्निधापन, सन्निरोधन, सकलीकरण, अवगुण्ठन, अमृतीकरण एवं परमीकरण सम्पादन करें। विधि इस प्रकार है—'श्रीकृष्ण इहावह, इहावह, इह सम्यक् तिष्ठ, इह सम्यक् तिष्ठ, इह सन्निधेहि, इह सन्निधेहि, इह सन्निरुध्यस्व, इस सन्निरुध्यस्व, इह सकलीकुरु, इह सकलीकुरु, इह अवगुण्ठस्व, इह अमृतीकुरु, इह अमृतीकुरु, इह परमीकुरु, इह परमीकुरु। कतिपय पण्डित इस प्रकार कहते हैं—प्रथम आवाहनादि आठ मुद्रा दिखाकर पुनर्वार क्रमानुसार आवाहनादि करे। और कोई कोई कहते हैं कि आवाहन के सहित ही उन-उन मुद्रा का प्रदर्शन करे ॥२६-२७॥

तथावाहनाद्यर्थः

आगमे—
आवाहनञ्चादरेण सम्मुखीकरणं प्रभोः । भक्त्या निवेशनं तस्य संस्थापनमुदाहृतम् ॥२८॥
तवास्मीति त्वदीयत्वदर्शनं सन्निधापनम् । क्रियासमाप्तिपर्य्यन्तं स्थापनं सन्निरोधनम् ॥२९॥
सकलीकरणं चोक्तं तत्सर्व्वाङ्गप्रकाशनम् । आनन्दघनतात्यन्तप्रकाशो ह्यवगुण्ठनम् ॥३०॥
अमृतीकरणं सर्व्वैरेवाङ्गैरवरुद्धता । परमीकरणं नामाभीष्टसम्पादनं परम् ॥३१॥

अथावाहन-माहात्म्यम्

नारसिंहे—

आगच्छ नरसिंहेति आवाह्याक्षतपुष्पकैः ।
एतावतापि राजेन्द्र सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥३२॥ इति ।
न्यसेद्यथासम्प्रदायं देवेऽङ्गादीनि पूर्व्ववत् ।
शङ्खचक्रादिकाश्चाथ मुद्रा विद्वान् प्रदर्शयेत् ॥३३॥

तथा च तत्त्वसारे—
आवाहनादिमुद्राश्च दर्शयित्वा ततः पुनः । अङ्गन्यासञ्च देवस्य कृत्वा मुद्राः प्रदर्शयेत् ॥३४॥

तस्य प्रभोः सर्व्वाङ्गस्य प्रकाशनमभिव्यञ्जनं सकलीकरणम्, केचिच्च 'अङ्गैरेवाङ्गविन्यासं सकलीकरणं विदुः' मन्यन्ते । तन्मते चावाहनादिचतुष्टयमादौ कृत्वा पश्चादङ्गन्यासं विधाय ततोऽवगुण्ठनादिकं कुर्य्यादिति ॥२८-३१॥

देवे श्रीभगवन्मूर्त्तौ मन्त्रस्याङ्गादीनि न्यसेत् । आदि-शब्देनाक्षरादि; पूर्व्ववदिति—यत्र यस्य येन क्रमेण न्यासो लिखितोऽस्ति, तथैव कुर्य्यादित्यर्थः । एतच्च पूर्व्वं स्वस्मिन् पश्चाङ्गादिन्यासप्रसङ्गे, तथा ध्यानानन्तर-मन्तर्यागे पीठपूजामनु स्वहृदि चिन्तितश्रीभगवन्मूर्त्तौ न्यासप्रसङ्गे च लिखितमस्त्येव । देवाङ्गेषु मन्त्रादि-न्यासो नाम देवेन सह मन्त्रस्यैक्यापादनायेति पूर्व्वं लिखितमेव ॥३३-४०॥

अथावाहनाद्यर्थः

आगम में लिखित है—आदरपूर्वक प्रभु को सम्मुखीकरण का नाम आवाहन है, भक्तिपूर्वक उनको स्थापन करना संस्थापन है । 'तवास्मि' यह कहकर अपने को तदीय दासत्व में दिखाने का नाम सन्निधापन है । क्रिया सम्पन्न होने तक स्थापन को सन्निरोधन कहते हैं । प्रभु का सर्वाङ्ग प्रकाश का नाम सकलीकरण है । अत्यन्त गाढ़ आनन्द प्रकाश करने का नाम अवगुण्ठन है । समस्त अङ्गों के द्वारा अवरुद्ध करने का नाम अमृतीकरण है, अभीष्ट सम्पादन का नाम परमीकरण है ॥२८-३१॥

अथावाहन-माहात्म्यम्

नृसिंहपुराण में लिखित है—'आगच्छ नरसिंह' मन्त्र पाठ कर आतप तण्डुल एवं पुष्प द्वारा आवाहन करें । हे राजेन्द्र ! केवल आवाहन के द्वारा ही समस्त पातक विदूरित होते हैं ॥३२॥

इससे पहले जिस प्रकार उपदेश निर्दिष्ट हुआ है, सुधी व्यक्ति सम्प्रदायानुसार उस प्रकार देववृन्द के अङ्गादिन्यास करें एवं शङ्ख चक्रादि मुद्रा का प्रदर्शन करें ॥३३॥

तत्त्वसार में वर्णित है—आवाहनादि मुद्रासमूह प्रदर्शन के पश्चात् देवता के अङ्ग में अङ्गन्यास पूर्वक पुनः मुद्रासमूह का प्रदर्शन करे ॥३४॥

अथ मुद्राः

आगमे—

आवाहनीं स्थापनीञ्च तथान्यां सन्निधापनीम् ।
संनिरोधकरीं चान्यां सकलीकरणीं पराम् ॥३५॥

तथावगुण्ठनीं पश्चादमृतीकरणी तथा । परमीकरणीं चान्या प्रागष्टौ दर्शयेदिमाः ॥३६॥
शङ्खं चक्रं गदां पद्मं मुषलं शार्ङ्गमेव च । खड़्गं पाशाङ्कुशौ तद्वद्वैनतेयन्तथैव च ॥३७॥
श्रीवत्सकौस्तुभौ वेणुमभीति-वरदौ तथा । वनमालां तथा मन्त्री दर्शयेत् कृष्णपूजने ॥३८॥
मुद्रा चापि प्रयोक्तव्या नित्यं विल्वफलाकृतिः । इत्येताश्च पुनः सप्तदश मुद्राः प्रदर्शयेत् ॥३९॥

गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा मुद्राः सर्व्वत्र योजयेत् ।
योऽन्यथा कुरुते मूढ़ो न सिद्धः फलभाग्भवेत् ॥४०॥

अथ मुद्रा-माहात्म्यम्

अगस्त्यसंहितायाम्—

एताभिः सप्तदशभिर्मुद्राभिस्तु विचक्षणः । यो वै मामर्च्चयेन्नित्यं मोहयेत् स सुरेश्वरम् ।
द्रापयेदपि विपेन्द्र ततः प्रार्थितमाप्नुयात् ॥४१॥

क्रमदीपिकायाञ्च विल्वमुद्रामधिकृत्य—

मनोवाणीदेहैर्यदिह वपुषा वापि विहित,-ममत्या मत्या वा तदखिलमसौ दुष्कृतचयम् ।
इमां मुद्रां जानन् क्षपयति नरस्तं सुरगणा, नमन्तस्याधीना भवति सततं सर्व्वजनता ॥४२॥

सुरेश्वरम् इन्द्रं द्रावयेत् स्वर्गाच्चालयेदपि; एवं ततस्ताभ्यो मुद्राभ्यो निजाभीष्टं प्राप्नुयात ; यद्वा, सुरेश्वरं भगवन्तं श्रीराममेव ततश्च द्रावयेदिति वैकुण्ठान्निजपार्श्वं द्रुतं प्रापयेत्, द्रुतहृदयं कुर्य्यादिति वा; ततस्तदनन्तरं तस्माद्वा सुरेश्वरादिति ॥४१॥

असौ नर इमां विल्वाख्यां मुद्रां जानन् तत्तद्दुष्कृतनिचयं पापसमूहम् अखिलं निःशेषं क्षपयति विनाशयति।

अथ मुद्राः

आगम में लिखित है—कृष्णाचन में प्रवृत्त मन्त्री व्यक्ति सर्वप्रथम- आवाहनी, स्थापनी, सन्निधापनी, सन्निरोधिनी, सकलीकरणी, अवगुण्ठनी, अमृतकरणी, परमीकरणी ये आठ प्रकार मुद्रा का प्रदर्शन करे। पश्चात् शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, मुषल, शार्ङ्ग, खड़्ग, पाश, अङ्कुश, गरुड़, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वेणु, अभय, वरद एवं वनमाला मुद्रा का प्रदर्शन करना कर्त्तव्य है। पुनर्वार उक्त सप्तदश मुद्रा का प्रदर्शन करे। प्रदर्शन-कार्य्य में हस्तद्वय को चन्दनलिप्त करना विधेय है। यदि मूढ़ व्यक्ति अन्यरूप आचरण करता है तो उसका सिद्धि लाभ एवं फल लाभ नहीं होगा ॥३५-४०॥

अथ मुद्रा-माहात्म्यम्

अगस्त्यसंहिता में वर्णित है—जो विचक्षण व्यक्ति सप्तदश मुद्रा के द्वारा नित्य मेरा अर्चन करता है, हे विप्रेन्द्र ! वह देवराज को मोहित एवं विचलित कर सकता है एवं अभीष्टफल प्राप्त कर सकता है ॥४१॥

क्रमदीपिका में विल्वमुद्रा के उद्देश्य से कथित है—इस जगत् में मनोवाक्य देह के द्वारा अथवा सर्वाङ्ग के द्वारा अज्ञान अथवा ज्ञानपूर्वक पातकाचरण होता है, मुद्रासमूह विदित होने पर मनुष्य उक्त पापों से मुक्त होता है। देवगण उक्त मुद्रा समूह को प्रणाम करते हैं। लोक समूह मुद्रावेत्ता के निकट वशीभूत होते हैं। मुद्रा लक्षण समूह का वर्णन टीका में निम्नोक्त रूप से है ॥४२॥

कम् ? यं मनोवाक्कायैः इह अस्मिन् जन्मनि पुरा पूर्व्वजन्मनि च अमत्या अज्ञानेन मत्या वा ज्ञानेन विहितम्; दिवारात्रिविहितमिति पाठे दिने रात्रौ च कृतम्। यत्तदोनपुंसकत्वं महाकवि-स्वातन्त्र्यादव्ययत्वाद्वा; यद्वा, यत् यस्मात् क्षपयति तत्तस्मान्नमन्तीत्यन्वयः। मुद्रालक्षणानि च गुह्यत्वान्न लिखितानि; तथा चोक्तम्— 'गुरुं प्रकाशयेद्विद्वान्मन्त्रं नैव प्रकाशयेत्। अक्षमालाञ्च मुद्राञ्च गुरोरपि न दर्शयेत्॥' इति। अत्र च तद्विज्ञानार्थमुद्दिश्यन्ते, तथा चागमे— (१) 'सम्यक् संपुटितैः पुष्पैः कराभ्यां कल्पितोऽञ्जलिः। आवाहनी समाख्याता मुद्रा देशिकसत्तमैः॥ (२) अधोमुखीकृतैः सर्व्वैः स्थापनीति निगद्यते॥ (३) आश्लिष्टमुष्टियुगला प्रोन्नताङ्गुष्ठयुग्मका। सन्निधाने समुद्दिष्टा मुद्रेयं तन्त्रवेदिभिः॥ (४) अङ्गुष्ठगर्भिणी सैव सन्निरोधे समीरिता॥ (५) अङ्गैरेवाङ्गविन्यासः सकलीकरणी मता॥ (६) सव्यहस्तकृता मुष्टिर्दीर्घाधोमुखतर्ज्जनी। अवगुण्ठन-मुद्रेयमभितो भ्रामिता यदि॥ (७) अन्योऽन्याभिमुखाः सर्व्वाः कनिष्ठानामिकाः पुनः। तथा तर्ज्जनीमध्याश्च धेनुमुद्रा प्रकीर्त्तिता॥ (८) अन्योऽन्यग्रथिताङ्गुष्ठा प्रसारितकराङ्गुलिः। महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधैः॥ (९) वामाङ्गुष्ठं विधृत्यैवं मुष्टिना दक्षिणेन तु। तन्मुष्टेः पृष्ठतो देशे योजयेच्चतुरङ्गुलीः। कथिता शङ्खमुद्रेयं वैष्णवार्च्चनकर्म्मणि॥ (१०) अन्योऽन्याभिमुखाङ्गुष्ठकनिष्ठयुगले यदि। विस्तृताश्चेतराङ्गुल्य-स्तदाऽसौ दर्शनी मता॥ (११) अन्योऽन्यग्रथिताङ्गुल्य उन्नतौ मध्यमौ यदि। संलग्नौ च तदा मुद्रा गदेयं परिकीर्त्तिता॥ (१२) पद्माकारावाभिमुख्येन पाणी, मध्येऽङ्गुष्ठौ शायितौ कर्णिकावत्। पद्माख्येयं सैव संलग्नमध्या, स्पृष्टाङ्गुष्ठा विल्वसंज्ञैव मुद्रा॥ (१३) अग्रे तु वाममुष्टेश्च इतरा तु यदा मता। तदेयं कृतिभि-र्मुद्रा ज्ञेया मुषलसंज्ञिता॥ (१४) वामस्थतर्ज्जनीप्रान्तं मध्यमान्ते नियोजयेत्। प्रसार्य्य तु करं वामं दक्षिणं करमेव च॥ नियोज्य दक्षिणस्कन्धे वाणप्रेरणवत्ततः। तर्ज्जन्यङ्गुष्ठकाभ्याञ्च कुर्य्यादेषा प्रकीर्त्तिता। शार्ङ्गमुद्रेति मुनिभिर्दर्शयेत् कृष्णपूजने॥ (१५) कनिष्ठानामिके द्वे तु दक्षाङ्गुष्ठनिपीड़िते। शेषे प्रसारिते कृत्वा खड़्गमुद्रा प्रकीर्त्तिता॥ (१६) पाशाकारां नियोज्यैव वामाङ्गुष्ठाङ्गतर्ज्जनीम्। दक्षिणे मुष्टिमादाय तर्ज्जनीञ्च प्रसारयेत्॥ तेनैव संस्पृशेन्मन्त्री वामाङ्गुष्ठस्य मूलकम्। पाशमुद्रेयमुद्दिष्टा केशवार्च्चनकर्म्मणि॥ (१७) तर्ज्जनीमीषदाकुञ्च्य शेषेणापि निपीड़येत्। अङ्कुशं दर्शयेत्तद्वद्गृहीत्वा दक्षमुष्टिना॥ (१८) अन्यो-न्यपृष्ठे संयोज्य कनिष्ठे च परम्परम्। तर्ज्जन्यग्रं समं कृत्वा कनिष्ठाग्रं तथैव च॥ ईषदालम्बितं कृत्वा इतरौ पक्षवत्ततः। प्रसार्य्य गारुड़ी मुद्रा कृष्णपूजाविधौ स्मृता॥ (१९) अन्योऽन्यसम्मुखे तत्र कनिष्ठा-तर्ज्जनीयुगे। मध्यमानामिके तद्वदङ्गुष्ठेन निपीड़येत्॥ दर्शयेद्धृदये मुद्रां यत्नाच्छ्रीवत्ससंज्ञिताम्॥ (२०) अन्योऽन्याभिमुखे तद्वत् कनिष्ठे संनियोजयेत्। तर्ज्जन्यनामिके तद्वत् करौ त्वन्योऽन्यपृष्ठगौ॥ उत्सिक्ता-न्योऽन्यसंलग्नौ वक्षःस्थितकराङ्गुलीः। विधाय मध्यदेशे तु वाममध्यमतर्ज्जनी॥ संयोज्य मणिवन्धे तु दक्षिणे योजयेत्ततः। वामाङ्गुष्ठे तु मुद्रेयं प्रसिद्धा कौस्तुभाह्वया॥ क्वचिच्च—अनामा पृष्ठसंलग्ना दक्षिणस्य कनिष्ठिका। कनिष्ठयान्यया बद्धा तर्ज्जन्या दक्षया तथा॥ वामानामाञ्च बध्नीयाद्दक्षाङ्गुष्ठस्य मूलके। अङ्गुष्ठमध्यमे वामे संयोज्य सरलाः पराः। चतस्रोऽन्योऽन्यसंलग्ना मुद्रा कौस्तुभसंज्ञिता॥ (२१) ओष्ठे वामकराङ्गुष्ठो लग्नस्तस्य कनिष्ठिका। दक्षिणाङ्गुष्ठ-संयुक्ता तत्कनिष्ठा प्रसारिता॥ तर्ज्जनीमध्यमानामाः किञ्चित् सङ्कुच्य चालिताः। वेणुमुद्रेयमुद्दिष्टा सुगुप्ता प्रेयसी हरेः॥ (२२) अङ्गं प्रसारितं कृत्वा स्पृष्टशाखं वरानने। प्राङ्मुखन्तु ततः कृत्वा अभयं परिकीर्त्तितम्॥ (२३) दक्षं भुजं प्रसारित्वा जानूपरि निवेशयेत्। प्रसृतं दर्शयेद्देवि वरः सर्व्वार्थसाधकः॥ (२४) उत्तानतर्ज्जनीभ्यान्तु ऊर्द्ध्वाधः प्रक्रमेण तु। मालावत् क्रमविस्तारा वनमाला प्रकीर्त्तिता॥' क्रमदीपिकायाम्—'अङ्गुष्ठं वाममुद्दण्डितमितरकराङ्गुष्ठकेनाथ बद्ध्वा, तस्याग्रं पीड़यित्वाङ्गुलिभिरपि ततो वामहस्ताङ्गुलीभिः। बद्ध्वा गाढ़ं हृदि स्थापयतु विमल-धीर्व्याहरन्मारवीजं, विल्वाख्या मुद्रिकैषा स्फुटमिह कथिता स्थापनीया विधिज्ञैः॥ अगस्त्यसंहितायाञ्च— 'आवाहनीं स्थापनीञ्च सन्निधीकरणीं तथा। सुसंनिरोधनीं मुद्रां सम्मुखीकरणीं तथा॥ सकलीकरणीञ्चैव महामुद्रान्तथैव च। शङ्खचक्रगदापद्म-धेनुकौस्तुभगारुड़ाः। श्रीवत्सं वनमालाञ्च योनिमुद्राञ्च दर्शयेत्॥'

अथासनाद्यर्पणम्

ततो निक्षिप्य देवस्योपरि पुष्पाञ्जलित्रयम् । दत्त्वासनार्थं पुष्पञ्च स्वागतं विधिनाचरेत् ॥४३॥
आसनाद्युपचारेषु मुद्राः षोड़श दर्शयेत् ।
प्रसिद्धाः पद्मस्वस्त्याद्या विद्वान् षोड़शसु क्रमात् ॥४४॥

(१) मूलाधाराद्द्वादशान्तमानीतः कुसुमाञ्जलिः । त्रिस्थानगततेजोभिर्विनीतः प्रतिमादिषु । आवाहनीया मुद्रा स्यादेषार्च्चनविधौ मुने ॥ (२) एषैवाधोमुखी मुद्रा स्थापने शस्यते पुनः ॥ (३) उन्नताङ्गुष्ठयोगेन मुष्टीकृतकरद्वयम् । सन्निधीकरणं नाम मुद्रा देवार्च्चने विधौ ॥ (४) अङ्गुष्ठगर्भिणी सैव मुद्रा स्यात् संनिरोधनी ॥ (५) उत्तानमुष्टियुगला सम्मुखीकरणी मता ॥ (६) अङ्गैरेवाङ्गविन्यासः सकलीकरणी तथा ॥ (७) अन्योऽन्याङ्गुष्ठसंलग्ना विस्तारितकरद्वयी । महामुद्रेयमाख्याता न्यूनाधिकसमापनी ॥ (८) कनिष्ठा-नामिकामध्यान्तःस्थाङ्गुष्ठान्तरेऽग्रतः । गोपिताङ्गुलिमूलेन समन्तान्मुकुलीकृता । करद्वयेन मुद्रा स्यात् शङ्खाख्येयं सुरार्च्चने ॥ (९) अन्योऽन्याभिमुखस्पर्शव्यत्ययेन तु वेष्टयेत् । अङ्गुलीभिः प्रयत्नेन मण्डलीकरणं मुने । चक्रमुद्रेयमाख्याता (१०) गदामुद्रा ततः परम् । अन्योऽन्याभिमुखश्लिष्टाङ्गुलिः प्रोन्नतमध्यमा ॥ (११) अथाङ्गुष्ठद्वयं मध्ये दत्त्वापि परितः करौ । मण्डलीकरणं सम्यगङ्गुलीनां तपोधन । पद्ममुद्रा भवेदेषा (१२) धेनुमुद्रा ततः परम् ॥ अनामिकाकनिष्ठाभ्यां तर्ज्जनीभ्याञ्च मध्यमे । अन्योऽन्याभिमुखाश्लिष्टे ततः कौस्तुभसंज्ञिता ॥ (१३) कनिष्ठेऽन्योऽन्यसंलग्नेऽभिमुखेऽपि परस्परम् । वामस्य तर्ज्जनीमध्ये मध्यानामिकयोरपि ॥ वामानामिकसंस्पृष्टा तर्ज्जनीमध्यशोभिता । पर्य्यायेण नताङ्गुष्ठद्वयी कौस्तुभलक्षणा ॥ (१४) कनिष्ठान्योऽन्यसंलग्ना विपरीतं वियोजिता । अधस्तात् स्थापिताङ्गुष्ठा मुद्रा गारुड़संज्ञिता ॥ (१५) तर्ज्जन्य-ङ्गुष्ठमध्यस्था मध्यमानामिकाद्वयी । कनिष्ठानामिकामध्या तर्ज्जन्यग्रे करद्वयी । मुने श्रीवत्समुद्रेयं (१६) वनमाला भवेत्ततः ॥ कनिष्ठानामिकामध्या मुष्टिरुन्नीत-तर्ज्जनी । परिभ्रान्ता शिरस्युच्चैस्तर्ज्जनीभ्यां दिवौकसः । मुद्रा योनिः समाख्याता सङ्कोचितकरद्वयी ॥ (१७) तर्ज्जन्यङ्गुष्ठमध्यान्तःस्थितानामिकयुग्मका । मध्यमूलस्थिताङ्गुष्ठा ज्ञेया शस्तार्च्चने मुने ॥ इति ॥४२॥

विधिनेति—श्रीकृष्णायासनं निवेदयामीति श्रीकृष्ण इदमासनमत्रास्यतां सुखमित्येवमासनं समर्प्य, श्रीकृष्ण सह परिवारेण स्वागतं करोषि' इति स्वागतमुद्राया स्वागतं कुर्यादित्येवं विधिर्द्रष्टव्यः । मूलमन्त्रेणैव सर्व्वेषामुपचाराणां समर्पणञ्च ॥४३॥

सर्व्वेष्वप्युपचारेषु तत्तन्मुद्रा दर्शयितव्या इति प्रसङ्गादेकत्रैव ता विज्ञापयति—आसनेति । विद्वान् तत्तन्मुद्राप्रकाराभिज्ञः, षोड़शसु आसन-स्वागतार्घ्याद्युपचारेषु पद्माद्याः षोड़शमुद्राः क्रमेण दर्शयेत् । ताश्च प्रसिद्धा इति तत्तल्लक्षणलिखनेनालमिति भावः । ताश्चोक्ताः—(१) 'आसने पद्ममुद्रैव कथिता मुनिभिस्तथा । (२) ईषन्नम्राङ्गुलिर्दक्षः सन्त्यज्याङ्गुष्ठकं करः । स्वागते स्वस्तिमुद्रा तु मध्या मूलगताङ्गुलिः । (३) स्वस्तिमुद्रा द्विहस्ता चेन्मुद्रा त्वर्घ्यस्य कीर्त्तिता ॥ (४) तौ च प्रसारितौ हस्तौ पाद्यमुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥

अथासनाद्यर्पणम्

अनन्तर देवता के ऊपर वारत्रय पुष्पाञ्जलि निक्षेप करतः एवं आसनार्थ पुष्प निवेदन पूर्वक यथा विधि स्वागत करना चाहिये । विधि यह है—'श्रीकृष्णायासनं निवेदयामि, श्रीकृष्ण इदमासनम् अत्रास्यतां सुखम्' यह कहकर आसन समर्पण करत पुनर्वार 'श्रीकृष्ण सहपरिवारेण स्वागतं करोषि' कहकर स्वागत मुद्रा के द्वारा स्वागत सम्पादन करे ॥४३॥

मुद्राभिज्ञ व्यक्ति आसनादि पूजोपहार समूह प्रदान कार्य्य में प्रसिद्ध पद्मादि षोड़श मुद्रा का प्रदर्शन करें षोड़श मुद्रा का लक्षण एवं नाम टीका में है ॥४४॥

श्रीकृष्णायार्पयेदर्घ्यं पाद्यमाचमनीयकम् । मधुपर्कं पुनश्चाचमनीयञ्च विधिर्यथा ।।४५।।

तथा च स्मृत्यर्थसारे—

आवाहनासनं पाद्यमर्घ्यमाचनीयकम् । स्नानमाचमनं वस्त्राचमनं चोपवीतकम् । ४६।।
आचमनं गन्धपुष्पं धूप-दीपं प्रकल्पयेत् । नैवेद्यं पुनराचामं नत्वा स्तुत्वा विसर्जयेत् ।।४७।।

अन्यत्र च —

आदौ पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा पादार्च्चनमतःपरम् । पाद्यमर्घ्यंत्वाचमनं मधुपर्कं यथोदितम् ।।४८।।
अभ्यङ्गोद्वर्त्तने कृत्वा महास्नानं समाचरेत् ।
अभिषेकाङ्गवस्त्रञ्च दत्त्वा नीराजयेद्धरिम् ।।४९।। इति ।

श्रीमूर्त्तौ तु शिरस्यर्घ्यं दद्यात् पाद्यञ्च पादयोः । मुखे चाचमनीयं त्रिर्मधुपर्कञ्च तत्र हि ।।५०।।
सर्व्वेष्वप्युपचारेषु पाद्यादिषु पृथक् पृथक् । आदौ पुष्पाञ्जलिं केचिदिच्छन्ति भगवत्पराः ।।५१।।

---

(५) देशिनी मूलगाङ्गुष्ठा दक्षिणाधःकनीयसी । आचाममुद्रा विख्याता देवताचमने विधौ ।। (६) संयुक्तानामिकाङ्गुष्ठ तिस्रोऽन्याः सम्प्रसारिताः । मधुपर्के च सा मुद्रा, (७) सन्त्यज्य च कनीयसीम् । कृत्वा मुष्टिं तथा स्नाने मध्यमाङ्गुष्ठकौ युतौ ।। (८) अन्याः प्रसारिता तिस्रो मुद्रा वस्त्रस्य चोदिताः । (९) माधुपर्की समुत्ताना मुद्रालङ्कारिकी स्मृता ।। (१०) कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ लग्नौ तिस्रो मध्याः प्रसारिताः । यज्ञोपवीतमुद्रेयं विद्वद्भिः परिकीर्त्तिता ।। (११) मुक्तनिर्म्मालिका मुष्टिर्गन्धमुद्रेति सा स्मृता । (१२) उत्थिताधोमुखी मध्या साङ्गुष्ठाश्चेतरेतराः ।। पुष्पमुद्रा तदाख्याता सर्व्वसिद्धिप्रदायिनी । (१३ अङ्गुष्ठं तर्ज्जनीलग्नं तिस्रः सङ्कुचिताः पराः ।। मुद्रा धूपप्रदाने स्याद्देवानां तुष्टिकारिणी । (१४) उत्तमा धौपकी मुद्रा दीपमुद्रेति कीर्त्तिता ।। पश्चाङ्गुल्यग्रसंलग्ना प्रोत्थितोर्द्ध्वमुखी यदि । द्विधा निबद्धा मुद्रेयं नैवेद्यस्य प्रकीर्त्तिता ।। (१६) नाभौ हृदि ललाटे च करसम्पुटयोर्गता । नमस्कारे त्वियं मुद्रा देवतानां प्रसादनी ।।' इति ।।४४।।

विधिर्यथा तथेत्यर्थः ; यद्वा, वदभावच्छान्दसः ; विधिवद्यथा स्यादिति- श्रीकृष्णायार्घ्यं निवेदयामि स्वाहा इत्यर्घ्यम् ; तथैव श्रीकृष्णाय स्वधा इत्याचमनीयम् ; तथैव मधुपर्कं चेत्येवं तत्तन्मुद्रया समर्पयेदित्यत्र विधिर्ज्ञेयः ।।४५-४९।।

श्रीमूर्त्तौ त्विति—श्रीशालग्रामशिलायां साक्षात् सर्व्वावयवाविर्भावदृष्ट्या तत्तदवयवभावनया सम्मुखे तत्तन्निवेदयेत् इति सूचितम् । त्रिः वारत्रयमाचमनीय दद्यात् । तत्र तस्मिन् मुख एव ।।५०-५१।।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण को यथा विधि अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय, मधुपर्क एवं पुनराचमनीय प्रदान करना विधेय है ।।४५।।

स्मृत्यर्थसार में लिखित है—आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, पुनराचमनीय, वस्त्र, आचमनीय, उपवीत, आचमनीय, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, पुनराचमनीय निवेदन करें । अनन्तर प्रणाम एवं स्तव-पाठ करके विसर्जन करना चाहिये ।।४६-४७।।

अन्यत्र भी वर्णित है—प्रथम पुष्पाञ्जलि प्रदान कर श्रीचरणार्च्चन करे, पश्चात् यथोक्त विधान से पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क प्रदान करे । उसके बाद तैलादि मर्दन, अङ्गमार्जन कर महास्नान करावे । अनन्तर अभिषेक वस्त्र, अङ्गवस्त्र निवेदन करतः श्रीहरि की आरात्रिक करे । प्रतिमार्चन स्थान में शिरोभाग में अर्घ्य, पाद युगल में पाद्य, मुख में बारत्रय आचमनीय एवं मधुपर्क निवेदन करें । कतिपय भक्त पाद्यादि समस्त उपचार निवेदन कार्य्य में प्रथमतः एक-एक पुष्पाञ्जलि प्रदान का विधान देते हैं ।।४८-५१।।

अथासनाद्यर्पणमाहात्म्यम्

नरसिंहपुराणे

दत्त्वासनमथार्घ्यञ्च पाद्यमाचमनीयकम् । देवदेवस्य विधिना सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥५२॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

आसनानां प्रदानेन स्थानं सर्व्वत्र विन्दति । गोदानफलमाप्नोति तथा पाद्यप्रदो नरः ॥५३॥

ततस्त्वर्हणदानेन सर्व्वपापैः प्रमुच्यते । तथैवाचमनीयस्य दाता ब्राह्मणसत्तमाः ॥५४॥

तीर्थतोयं तथा दत्त्वा देवस्याचमनं पुनः । स्वर्गलोकमवाप्नोति सर्व्वपापविवर्जितः ।

नरस्त्वाचमनीयस्य दाता भवति निर्म्मलः ॥५५॥

मधुपर्कस्य दानेन परं पदमिहाश्नुते ॥५६॥

विष्णुपुराणे च —

मधुपर्कविधिं कृत्वा मधुपर्कं प्रयच्छति । ब्रह्मन् स याति परमं स्थानमेतन्न संशयः ॥५७॥

अथ स्नानम्

विज्ञाप्य देवं स्नानार्थं पादुके पुरतोऽर्पयेत् ।

महाविद्यादिना तञ्च स्नानस्थानं ततो नयेत् ॥५८॥

अर्हणमर्घ्यं पाद्यञ्च तद्दानेन, हे ब्राह्मणसत्तमाः, तीर्थतोयमाचमनम्, आचमनीयस्य जात्यादिद्रव्यसाधितस्येति भेदः ॥५२-५५॥

मधुपर्कस्य विधिं कृत्वा तत्तद्द्रव्यं सम्पाद्य लिखितद्रव्य-प्रकारेणेत्यर्थः ॥५७॥

विज्ञाप्य 'भगवन् स्नानभूमिमलङ्कुरु' इति निवेदनं कृत्वा, ततश्च पीठादुत्थितस्य भगवतः 'पादुके निवेदयामि नमः' इति भगवदग्रे पादुकाद्वयं समर्पयेत् । एवं पूर्व्वलिखितानुसारेणाग्रेऽपि सर्व्वत्र विधिर्द्रष्टव्यः । तं देवम्, आदि-शब्देन गीतनृत्यच्छत्रचामरादि, स्नानस्थानं स्नानार्थमैशानकोणे निर्म्मितस्नानमण्डपम्, तदभावे भावनयैवेत्येवं सर्व्वत्रैव बोद्धव्यम् ॥५८॥

अथासनाद्यर्पणमाहात्म्यम्

नृसिंहपुराण में वर्णित है—विधानानुसार देवदेव को आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय निवेदन करने पर निखिल पापों से परित्राण होता है ॥५२॥

विष्णु धर्मोत्तर में वर्णित है—आसन प्रदान करने पर सर्वत्र स्थान लाभ होता है, पाद्य प्रदान से गोदान का फल लाभ होता है। हे ब्राह्मण सत्तमगण! जो अर्घ्य एवं आचमनीय प्रदान करता है, वह समस्त पापों से मुक्त होता है। तीर्थ-सलिल के द्वारा आचमनीय अर्पण करने पर सर्व पाप शून्य होकर देवलोक में अवस्थिति होती है। जो पुरुष आचमनीय प्रदान करता है, उसका देह पापशून्य होता है ॥५३-५५॥

मधुपर्क समर्पण करने पर इस लोक में ही परमपद लाभ होता है ॥५६॥

विष्णुपुराण में वर्णित है—हे ब्रह्मन्! जो व्यक्ति यथा विधि मधुपर्क निर्माण कर अर्पण करता है, वह परमस्थान लाभ करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥५७॥

अथ स्नानम्

'भगवन्! स्नानभूमिमलङ्कुरु' इस प्रकार भगवान् के निकट उच्चारण कर अनुमति ग्रहणपूर्वक 'पादुके निवेदयामि नमः' कहकर सम्मुख में पादुका युगल अर्पण करनी चाहिये। तत्पश्चात् महादेवी प्रभृति के सहित अर्थात् गीति, नृत्य छत्र एवं चामरादि सहित उनको स्नानस्थल में ले जाना चाहिये। स्नानार्थ ईशानकोन में स्नान-मण्डप निर्म्माण करना चाहिये, इसके अभाव में भावना द्वारा करें ॥५८॥

प्राग्वत्तत्रासनं पाद्यं तत्रैवाचमनीयकम् । निवेद्य दर्शयेन्मुद्राममृतीकरणीं बुधः ॥५९॥
शालग्रामशिलारूपं ततो देवं निवेशयेत् । स्नानपात्रे निजाभीष्टां चलां श्रीमूर्त्तिमेव वा ॥६०॥

अथ स्नानपात्रम्

स्कन्दपुराणे—
कृत्वा ताम्रमये पात्रे योऽर्च्चयेन्मधुसूदनम् । फलमाप्नोति पूजायाः प्रत्यहं शतवार्षिकम् ॥६१॥
योऽर्च्चयेन्माधवं भक्त्या अश्वत्थदलसंस्थितम् । प्रत्यहं लभते पुण्यं पद्मयुतसमुद्भवं ॥६२॥
रम्भादलोपरि हरिं कृत्वा योऽभ्यर्च्चयेन्नरः । वर्षायुतं भवेत् प्रीतः केशवः प्रियया सह ॥६३॥
ये पश्यन्ति सकृद्भक्त्या पद्मपत्रोपरि स्थितम् ।
भक्त्या पद्मालयाकान्तं तैराप्तं दुर्लभं फलम् ॥६४॥ इति।
ततः शङ्खेनाभिषेकं कुर्य्याद्घण्टादिनिःस्वनैः । मूलेनाष्टाक्षरेणापि धूपं दद्यादन्तरान्तरा ॥६५॥

तत्र स्नानस्थाने—'भगवन् स्नानीयं निवेदयामि स्वाहा' इत्येवं निवेद्य; यद्यपि स्नानमुद्रा पृथक् लिखितास्ति; सा चाग्रे दर्श्या रामार्च्चनचन्द्रिकायां, तथापि शिष्टाचारादमृतीकरणी धेनुमुद्रेति प्रसिद्धां मुद्रामपि दर्शयेत् । अतएव लिखितम्—बुध इति ॥५९॥

शालग्रामशिलारूपमित्येवं क्वचित् क्वचिन्निर्द्देशस्तन्माहात्म्यभरापेक्षया केषाञ्चित् मतां श्रीमूर्त्या सहैव तत्पूजया तत्प्रकारबोधनायेति दिक् । स्नानपात्रे निवेशयेदिति श्रीचरणामृतापेक्षया फलविशेषापेक्षया वा ॥६०॥

अर्च्चयेदित्यनेन यद्यपि पूजायां सर्व्वत्रैव तत्तत् पात्रमपेक्ष्यते, तथाप्युपचारेषु स्नानस्य मुख्यत्वेनात्र लिखितं, पद्मायुतसमुद्भवं दशसहस्र-कमलदानजम् । यद्वा, पद्मं संख्याविशेषः तस्याप्ययुतं, तावद्वर्षपूजा-समुद्भवं पुण्यमेकदिनेनैव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥६१-६२॥

अन्तरान्तरा स्नानकाले मध्ये मध्ये धूपमर्पयन् सुरभिधूपमर्पयन् । तथा च श्रीरामार्च्चनचन्द्रिकायां, स्नानोपचारमध्ये—'सकृष्णागुरुधूपेन धूपयन्नन्तरान्तरा' इति । अतएवास्य माहात्म्यमग्रे लेख्यं—'स्नानकाले तु कृष्णस्य अगुरुं दहते तु यः' इत्यादि ॥६५॥

विज्ञव्यक्ति उक्त स्थल में पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय निवेदन करके अमृतीकरण मुद्रा प्रदर्शन करें ॥५९॥ अनन्तर स्नान-पात्र में शालग्राम रूपी भगवान् को अथवा निज अभीष्ट श्रीचलमूर्त्ति को स्थापन करना चाहिये ॥६०॥

अथ स्नानपात्रम्

स्कन्दपुराण में वर्णित है— जो व्यक्ति, ताम्रपात्र में श्रीमधुसूदन को स्नान कराता है, शत वर्ष स्नान कराने से जो फल होता है वह फल, एक दिन स्नान कराने से ही मिलता है। जो व्यक्ति अश्वत्थ पत्र में स्थापन कर प्रत्यह भक्तिपूर्वक श्रीमाधव की पूजा करता है, वह दशसहस्र पद्म दान का फल प्राप्त करता है। जो मनुष्य, कदलीपत्र के ऊपर स्थापन कर श्रीहरि का पूजन करता है, उसके प्रति श्रीकेशव निजप्रिया श्रीलक्ष्मी के सहित दशसहस्र वत्सर पर्य्यन्त सन्तुष्ट रहते हैं। जिन पुरुषों ने केवल एक बार मात्र पद्मपत्र स्थित श्रीहरि को भक्तिपूर्वक देखा है, उनको दुर्लभ फल प्राप्त हुआ है ॥६१-६४॥

उसके बाद घण्टादि वाद्य पूर्वक शङ्खस्थित जल द्वारा अभिषेक करणीय है एवं मध्य-मध्य में अष्टाक्षर मूलमन्त्र के सहित धूप अर्पण करे ॥६५॥

तत्र तु प्रथमं भक्त्या विदधीत सुगन्धिभिः । दिव्यैस्तैलादिभिर्द्रव्यैरभ्यङ्गं श्रीहरेः शनैः ॥६६

अथाभ्यङ्गद्रव्याणि तन्माहात्म्यञ्च

स्कान्दे—

मालतीजातिमादाय सुगन्धानान्तु वा पुनः ॥६७॥

तथान्यपुष्पजातीनां गृहीत्वा भक्तितो नराः । ये स्नापयन्ति देवेशमुत्सवे वै हरेर्दिने ॥६८॥

मेदिनीदानतुल्यं हि फलमुक्तं स्वयम्भुवा । यः पुनः पुष्पतैलेन दिव्यौषधियुतेन हि ॥६९॥

अभ्यङ्गं कुरुते विष्णोर्मध्ये क्षिप्त्वा तु कुङ्कुमम् । रोमाञ्चिततनुर्भूत्वा प्रियया सह माधवः ।

प्रीत्या बिभर्त्ति स्वोत्सङ्गे मन्वन्तरशतं हरिः ॥७०॥

विष्णुधर्मोत्तरे च —

गन्धतैलानि दिव्यानि सुगन्धीनि शुचीनि च । केशवाय नरो दत्त्वा गन्धर्व्वैः सह मोदते ॥७१॥

अथ पञ्चामृत-स्नपनम्

ततः शङ्खभृतेनैव क्षीरेण स्नापयेत् क्रमात् । दध्ना घृतेन मधुना खण्डेन च पृथक् पृथक् ॥७२॥

पञ्चामृताद्यैः स्नपनं सदा नेच्छन्ति तत् प्रियाः ।

किन्तु तैः कालदेशादि-विशेषे कारयन्ति तत् ॥७३॥

एवं सामान्येन स्नानप्रकारं लिखित्वा इदानीं विशेषतो लिखति—तत्र त्वित्यादिना स्नापयेत् पुनरित्यन्तेन ॥६६-६७॥

वै इति विशेषे। नित्यं ये स्नापयन्ति विशेषतश्चैकादश्याद्युत्सवदिने इत्यर्थः ।।६८॥

पृथक् पृथक् इति तेषां चतुःषष्ट्युपचारेषूक्तस्य प्रत्येकमुपचारस्य सिद्ध्यर्थं पृथक्त्वेन तत्तत्फलोक्तेः ॥७२

उपरोक्त स्नानादि कार्य्य में प्रथमतः दिव्य सुगन्धि तैलादि के द्वारा भक्तिपूर्वक धीरे-धीरे हरि का सर्वाङ्गमर्दन करे ॥६६॥

अथाभ्यङ्गद्रव्याणि तन्माहात्म्यञ्च

स्कन्दपुराण में उक्त है—मालती जाति किंवा अन्यान्य सुगन्धि जातीय पुष्प ग्रहण कर नित्य, विशेषतः एकादशी प्रभृति उत्सव के दिन, भक्तिपूर्वक देवादिदेव श्रीहरि को स्नान जो व्यक्ति कराता है, ब्रह्मा ने कहा है—वह मेदिनी दान का फल प्राप्त करता है। जो जन, उत्कृष्ट औषधियुक्त कुङ्कुम मिश्रित पुष्प तैल के द्वारा श्रीविष्णु का अङ्ग मर्दन करता है प्रियतमा के सहित माधव रोमाञ्चित होकर आनन्द पूर्वक एक-शत मन्वन्तर पर्य्यन्त उस व्यक्ति को निज अङ्क में लिये रहते हैं ॥६७-७०॥

विष्णु धर्मोत्तर में लिखित है—मनुष्य, दिव्य सुगन्धी पवित्र तैल केशव को अर्पण करने पर गन्धर्व के सहित आनन्द उपभोग करता है ॥७१॥

अथपञ्चामृत स्नपनम्

अनन्तर शङ्ख में दुग्ध, दधि, घृत, मधु एवं शर्करा ग्रहण करके क्रमानुसार भिन्न-भिन्न रूप से श्रीहरि को स्नान कराना चाहिये। भक्तगण, सर्वदा पञ्चामृत स्नान की विधि नहीं देते हैं, किन्तु देश-काल विशेष में उसकी व्यवस्था प्रदान करते हैं ॥७२-७३॥

अथ तत्परिमाणम्

ब्रह्मपुराणे—

देवाना प्रतिमा यत्र घृताभ्यङ्गस्ततो भवेत् । पलानि तस्य देयानि श्रद्धया पञ्चविंशतिः ॥७४॥

अष्टोत्तर-पलशतं स्थाने देयञ्च सर्व्वदा । द्वे सहस्रे पलानान्तु महास्नाने च संख्यया ॥७५॥

दातव्ये येन सर्व्वासु दिक्षु निर्यांति तद्घृतम् ॥७६॥ इति ।

दुग्धादावपि संख्येयमेवं ज्ञेया मनीषिभिः । पलसंख्या च विज्ञेया याज्ञवल्क्यादिवाक्यतः ॥७७॥

तथाहि—

पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोड़श । सुवर्णानाञ्च चत्वारः पलमित्यभिधीयते ॥७८॥

इति ।

किञ्च—

स्नानार्थे सुरभीक्षीरं महिष्याद्यास्तु कुत्सिताः ॥७९॥

अथ क्षीरादिस्नपन-माहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

शरीरदुःखशमनं मनोदुःख-विनाशनम् । क्षीरेण स्नपनं विष्णोः क्षीराम्भोधिप्रदं तथा ॥८०॥

प्रमेति पाठे परिमाणमित्यर्थः ; तस्य घृतस्य पञ्चविंशतिः पलानि अवश्यं देयानि । शक्तौ च सत्यामष्टोत्तरपलशतं देयमित्यर्थः । यद्वा, तैलादिभिरिव घृतेन योऽभ्यङ्गस्तत्र पञ्चविंशतिः पलानि, स्नाने चाष्टोत्तरशतपलानि दद्यादित्यर्थः ॥७४-७५॥

इयं घृतविषयिका या संख्या, सैव ॥७७॥

पञ्च कृष्णलकानि गुञ्जाफलानि यस्मिन् सः, ते माषाः षोड़श—सुवर्णः ॥७८॥

कुत्सिता इति तासां क्षीरमपि नित्यं स्नानार्थं न ग्राह्यमित्यर्थः ॥७९॥

अथ तत्परिमाणम्

ब्रह्मपुराण में लिखित है—देवता की प्रतिमा के स्थान में श्रद्धासहित पञ्चविंशति पल घृत मर्दन करना चाहिये । समर्थ होने पर अभ्यङ्ग स्नान के समय एक सौ आठ पल प्रदान करे । महास्नान के समय द्विसहस्र पल का प्रमाण देना चाहिये । घृत प्रदान इस रीति से देना है कि वह घृत सर्वदिक् से निर्गत हो सके ।।७४-७६ पण्डितगण को दुग्धादिका परिमाण भी इसी प्रकार जानना चाहिये । याज्ञवल्क्यादि के वचनों से पल का परिमाण जानना कर्त्तव्य है ।।७७।।

उक्त विषय में प्रमाण यह है- पञ्चगुञ्जा, पाँच रत्ती में एक माषा, सोलह माषे में एक सुवर्ण एवं चार सुवर्ण में एक पल होता है । अर्थात् उक्त स्थल में ३२० रत्ति में एक पल होता है ।।७८।।

और भी वर्णित है—स्नान के निमित्त गो-दुग्ध प्रशस्त है, महिषी प्रभृति का दुग्ध निन्दनीय है । अर्थात् अभिषेक में नहीं देना चाहिये ।।७९।।

अथ क्षीरादिस्नपन-माहात्म्यम्

विष्णु धर्मोत्तर में वर्णित है—दुग्ध के द्वारा श्रीहरि को स्नान कराने से दैहिक दुःख एवं मनोदुःख विदूरित होता है और क्षीरसमुद्र में वासस्थान प्राप्त कर सकता है ।।८०।।

अग्निपुराणे—

गवां शतस्य विप्रेभ्यः सम्यग्दत्तस्य यत् फलम् ।
घृतप्रस्थेन तद्विष्णोर्लभेत् स्नानान्न संशयः ॥८१॥

इन्द्रद्युम्नेन संप्राप्ता सप्तद्वीपा वसुन्धरा । घृतोदकेन संयुक्ता प्रतिमा स्नापिता किल ॥८२॥

प्रतिमासं सिताष्टम्यां घृतेन जगतां पतिम् ।
स्नापयित्वा समभ्यर्च्चय सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥८३॥

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यत् पापं कुरुते नरः ।
तत् क्षालयति सन्ध्यायां घृतस्नपनतोषितः ॥८४॥

येषु क्षीरवहा नद्यो नदाः पायसकर्द्दमाः । ताँल्लोकान् पुरुषा यान्ति क्षीरस्नपनका हरेः ॥८५॥

विष्णुधर्म्मे श्रीपुलस्त्यप्रह्लाद-संवादे—

द्वादश्यां पञ्चदश्याञ्च गव्येन हविषा हरेः । स्नपनं दैत्यशार्दूल महापातकनाशनम् ॥८६॥

प्रस्थादिसंख्या च गोपथ-ब्राह्मणे— 'द्वात्रिंशत्पलकं प्रस्थमुक्तं स्वयमथर्व्वणा । आढ़कन्तु चतुःप्रस्थैश्चतुर्भिर्द्रोण आढ़कैः ॥' इति ॥८१॥

सन्ध्यायां यद्घृतस्नापनं, तेन तोषितो जगतां पतिः ॥८४॥

द्वादश्यामिति प्रायो वैष्णवानां द्वादश्यामुपवासापत्तेर्व्रतदिन इत्यर्थः । 'स्नानं न हरये दद्याद्द्वादश्यां वैष्णवो दिवा' इत्यादिलेख्यवचनात् । यद्वा, द्वादश्यामिति द्वादशीरात्रावित्यर्थः-दिवैव तत्र हरिस्नपननिषेधात्; एवमन्यत्राप्यूह्यम् । द्वादश्यामित्यादिकं तत्र तत्र फलविशेषार्थम्; वस्तुतस्तु सर्व्वास्वपि तिथिष्विति ज्ञेयम्, अन्यथा वचनान्तरैर्विरोधापत्तेः; एवमग्रेऽपि ॥८६॥

अग्निपुराण में उक्त है—विधिपूर्वक ब्राह्मण को एक शत धेनु प्रदान करने से जो फल होता है, एक प्रस्थ परिमाण घृत के द्वारा श्रीविष्णु को स्नान कराने से वही फल मिलता है, इसमें सन्देह नहीं है। महाराज इन्द्रद्युम्न ने घृत एवं जल के द्वारा प्रतिमा को स्नान कराकर ससागरा भूमण्डल को प्राप्त किया था। प्रतिमास की शुक्लाष्टमी में घृत के द्वारा जगत्पति को स्नान कराकर पूजा करने पर मानव समस्त पापों से मुक्त होता है। ज्ञान एवं अज्ञान से मानव जो कुछ पापाचरण करता है, श्रीहरि सायंकालीन घृत-स्नान से प्रीत होकर सकल पातक विदूरित करते हैं। जिन सब स्थानों की नदी दुग्धवाहिनी है और नद-समूह का कर्दम क्षीर के समान है, जो जन केशव को दुग्ध से स्नान कराते हैं, वह उन सब लोकों को प्राप्त होते हैं ॥८१-८५॥

विष्णुधर्म के श्रीपुलस्त्य-प्रह्लाद संवाद में उक्त है—हे दैत्यश्रेष्ठ ! द्वादशी एवं पञ्चदशी में गव्यघृत के द्वारा श्रीहरि को स्नान कराने से महाप तक विनष्ट होता है, अभिप्राय यह है कि—वैष्णवों का उपवासव्रत प्रायशः द्वादशी में होता है, तज्जन्य द्वादशी शब्द से उपवास दिन अर्थात् व्रत दिन को जानना होगा। इससे 'पहले कहा गया है कि द्वादशी में श्रीहरि को स्नान कराना निषिद्ध है' इस कथन के सहित विरोध नहीं हुआ अथवा द्वादशी की रात्रि में कहने से भी विरोध नहीं होगा। द्वादशी के दिन में श्रीहरि को स्नान कराना निषेध है। द्वादशी एवं पञ्चदशी में स्नान कराने से अधिक फल होता है, किन्तु अन्यान्य तिथियों में स्नान कराने से भी फल उस प्रकार ही होगा ॥८६॥

दध्यादीनां विकाराणां क्षीरतः सम्भवो यथा। तथैवाशेषकामानां क्षीरस्नानं ततो हरेः ॥८७॥

नारसिंहे—

पयसा यस्तु देवेशं स्नापयेद्गरुड़ध्वजम्। सर्व्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोके महीयते ॥८८॥

स्नाप्य दध्ना सकृद्विष्णुं निर्म्मलं प्रियदर्शनम्।

विष्णुलोकमवाप्नोति सेव्यमानः सुरोत्तमैः ॥८९॥

दुःस्वप्नशमनं ज्ञेयममङ्गल्यविनाशनम्। माङ्गल्यवृद्धिदं दध्ना स्नपनं नरपुङ्गव ॥९०॥

यः करोति हरेरर्च्चां मधुना स्नापितां नरः।

अग्निलोके स मोदित्वा पुनर्विष्णुपुरे वसेत् ॥९१॥

मधुना स्नपनं कृत्वा सौभाग्यमधिगच्छति। लोकमित्राण्यवाप्नोति तथैवेक्षुरसेन च ॥९२॥

श्रीद्वारकामाहात्म्ये च श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-संवादे—

क्षीरस्नानं प्रकुर्व्वन्ति ये नरा विष्णुमूर्द्धनि। तेनाश्वमेधजं पुण्यं विन्दुना विन्दुना स्मृतम् ॥९३॥

क्षीराद्दशगुणं दध्ना घृतं तस्माद्दशोत्तरम्। घृताद्दशगुणं क्षौद्रं खण्डं तस्माद्दशोत्तरम् ॥९४॥

पुष्पोदकञ्च गन्धोदं वर्द्धते च दशोत्तरम्। मन्त्रोदकञ्च दर्भोदं तथैव नृपसत्तम ॥९५॥

द्राक्षारसं चूतरसं शतवाजिमखैः समम्। तथैव तीर्थनीरञ्च फलं यच्छति भूमिप ॥९६॥

स्नाप्य स्नापयित्वा ॥८९॥ स्नापयन् सन् अर्च्चां पूजां स्नापनात्मकपूजामित्यर्थः ॥९१॥

पुष्पोदकादीनां माहात्म्यविशेषोक्तेः तैरपि स्नापयेदित्यूह्यम्; तथा चोक्तं श्रीरामार्च्चनचन्द्रिकायाम्—'नारिकेलोदकेनापि कर्पूरादिसुगन्धिना। कदलीपनसाम्रादिजलेनापि सुगन्धिना। शतं सहस्रमयुतं शक्त्या वाप्यभिषेचयेत् ॥' इति ॥९५॥

दुग्ध विकृत होकर जिस प्रकार दधि उत्पन्न होता है, उस प्रकार श्रीहरि को दुग्ध द्वारा स्नान कराने से अभीष्ट सिद्धि होती है ॥८७॥

नृसिंहपुराण में लिखित है—जो व्यक्ति गरुड़ध्वज को दुग्ध के द्वारा स्नान करता है, वह सर्व प्रकार पापशून्य होकर विष्णुलोक में आनन्दानुभव करता है। निर्मल प्रिय दर्शन श्रीविष्णु को एक बार मात्र दधि के द्वारा स्नान कराने पर विष्णुलोक लाभ होता है एवं वहाँ पर देवगण के द्वारा पूजित होते हैं। हे नरोत्तम! दधि द्वारा श्रीविष्णु को स्नान कराने से दुस्वप्न विनष्ट होता है। अमङ्गल विध्वंस होकर मङ्गल वर्द्धित होता है। जो मनुष्य मधु से स्नान कराकर श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे पहिले अग्निलोक में सुख भोग के पश्चात् श्रीविष्णुलोक में निवास करते हैं। मधु एवं इक्षु रस के द्वारा स्नान कराने पर सौभाग्य लाभ होता है एवं सम्पूर्ण मानव उनके सुहृद होते हैं ॥८८-९२॥

श्रीद्वारका माहात्म्य के मार्कण्डेय-इन्द्रद्युम्न-संवाद में लिखित है—जो मानव श्रीविष्णु के मस्तक में दुग्ध के द्वारा अभिषेक करते हैं, प्रत्येक बिन्दु में उनको अश्वमेध का फल लाभ होता है। दुग्ध-स्नान से दधि-स्नान दशगुण अधिक फल प्रदाता है, उससे दशगुण अधिक फल घृत-स्नान से, घृत-स्नान से दशगुण अधिक फल मधु-स्नान से है एवं मधु-स्नान से शर्करास्नान दशगुण श्रेष्ठ है ॥९३-९४॥

पुष्पोदक एवं गन्धजल दश-दश गुणों में प्रधान है। हे नृपवर! मन्त्रपूत जल एवं कुश-जल इसी प्रकार दश-दश गुण में श्रेष्ठ हैं। द्राक्षारस एवं आम्ररस शताश्वमेध यज्ञ के समान है। हे भूप! तीर्थोदक भी उस प्रकार फलदायक है ॥९५-९६॥

स्नापनं कृष्णदेवस्य यः करोति स्वशक्तितः ।
फलमाप्नोति तत् प्रोक्तं निष्कामो मुक्तिमाप्नुयात् ॥९७॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

तीर्थोदकानि पुण्यानि स्वयमानीय मानवः । तैलस्य स्नपनं दत्त्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥९८॥

अथ स्नपने धूपने धूपनमाहात्म्यम्

स्कान्दे—

स्नानकाले तु कृष्णस्य अगुरुं दहते तु यः । प्रविष्टो नासिकारन्ध्रं पापं जन्मायुतं दहेत् ॥९९॥
उद्वर्त्तनञ्च तैलादेरपसारणकारणम् । देवस्य कारयेद्‌द्रव्यैरुपयुक्तैरनन्तरम् ॥१००॥

अथोद्वर्त्तनं तन्माहात्म्यञ्च

नारसिंहे—

यवगोधूमजैश्चूर्णैरुद्वर्त्त्योष्णेन वारिणा । प्रक्षाल्य देवदेवेशं वारुणं लोकमाप्नुयात् ॥१०१॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

गोधूम-यवचूर्णैस्तु तमुत्साद्य जनार्द्दनम् । लोध्रचूर्णक-संकीर्णैर्बलरूपं तथाप्नुयात् ॥१०२॥
मसूरमाषचूर्णैश्च कुङ्कुमक्षोदसंयुतम् । निवेद्य देवदेवाय गन्धर्व्वैः सह मोदते ॥१०३॥

तत् अश्वमेधजादिकं प्राप्नोति सकामः ॥९७॥

धूपयन्नन्तरान्तरेति यत् स्नानकाले धूपनं लिखितं, तन्माहात्म्यं लिखति—स्नान इति । यमगुरुं दहते दहति जनः स एव प्रविष्टः सन् । य इति पाठे तस्य पापमगुरुरेव दहेत् । प्रविष्टो नासिकां गन्ध इति पाठेऽपि तथैवार्थः । प्रविष्ट इति सप्तम्यन्तपाठे तद्‌गन्धे इति शेषः । ततश्च स एव जन्मायुतकृतं पापं दहेत्; यद्वा, पापं दुःखरूपं जन्मायुतं, जन्मायुतेऽपि दुःखं नाप्नुयादित्यर्थः ॥९९॥

उपयुक्तैः उद्वर्त्तनयोग्यैर्यवचूर्णादिभिः ॥१००॥

जो व्यक्ति निज सामर्थ्य के अनुसार श्रीकृष्णदेव को स्नान कराते हैं, वे पूर्वोक्त फल लाभ करते हैं एवं निष्काम व्यक्ति मुक्ति लाभ करते हैं ॥९७॥

विष्णु धर्मोत्तर में वर्णित है—मानव स्वयं पवित्र तीर्थजल आनयन पूर्वक तैल सहित तद्‌द्वारा श्रीहरि को स्नान कराने पर समस्त पातकों से मुक्त हो सकते हैं ॥९८॥

अथ स्नपने धूपने धूपमाहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में उक्त है—जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के स्नानकाल में सुगन्ध धूप प्रदान करते हैं, अगुरुगन्ध नासारन्ध्र में प्रविष्ट होकर दशसहस्र जन्मार्जित पापों को दग्ध करता है। अङ्गस्थ तैलादि दूरीकरणार्थ समुचित सामग्री के द्वारा देवता का अङ्गमार्जन करना चाहिये ॥९९-१००॥

अथोद्वर्त्तनं तन्माहात्म्यञ्च

नृसिंहपुराण में लिखित है—यव अथवा गोधूमचूर्ण के द्वारा अङ्गमार्जन पूर्वक उष्णजल के द्वारा देवता के अङ्ग को धोने से वरुणलोक में निवास होता है ॥१०१॥

विष्णुधर्मोत्तर में उक्त है—यव अथवा गोधूमचूर्ण के सहित लोध्रचूर्ण मिश्रित कर उससे श्रीहरि के अङ्ग में उबटन करने से बल एवं रूप लाभ होता है। मसूर अथवा माषचूर्ण (उरद के चूर्ण) के सहित कुङ्कुमचूर्ण मिश्रित कर देव को स्नान कराने पर गन्धर्वगण के सहित आनन्द से निवास होता है ॥१०२-

वाराहे—

कलायकस्य चूर्णेन पिष्टचूर्णेन वा पुनः। तेनैवोद्वर्त्तनं कुर्य्याद्‌गन्धपुष्पैश्च संयुतम्।
यदीच्छेत् परमां सिद्धिं मम कर्म्मपरायणः ॥१०४॥ इति।

ततः समर्पयेत् कूर्च्चमुषीरादि-विनिर्म्मितम्। मलापकर्षणाद्यर्थं श्रीमन्मूर्त्त्यङ्गसन्धितः ॥१०५॥

अथ कूर्च्चं तन्माहात्म्यञ्च

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

उषीरकूर्च्चकं दत्त्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते। दत्त्वा गोबालजं कूर्च्चं सर्व्वांस्तापान् व्यपोहति।
दत्त्वा चामरकं कूर्च्चं श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥१०६॥

अथ शुद्धजल-स्नपनम्

ततः कोष्णेन संस्नाप्य संस्कृतेन सुगन्धिना। शीतलेनाम्बुना शङ्खभृतेन स्नापयेत् पुनः ॥१०७

तदुक्तमेकादशस्कन्धे (२७।३०)—

चन्दनोषीर-कर्पूर-कुङ्कुमागुरुवासितैः। सलिलैः स्नापयेन्मन्त्री नित्यदा विभवे सति ॥१०८॥

अथ जलपरिमाणम्

भविष्ये—

स्नाने पलशतं देयमभ्यङ्गे पञ्चविंशतिः। पलानां द्वे सहस्रे तु महास्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥१०९॥

उद्वर्त्यते येन तदुद्वर्त्तनं, गन्धादिभिः संयुतं कुर्य्यात् ॥१०४॥

श्रीमतो भगवतः श्रीमत्या वा मूर्त्तेरङ्गानां सन्धिस्थानतो मलस्यापकर्षणार्थम्; आदि-शब्देन कण्डूयनादि-सेवार्थञ्च कूर्च्चं समर्पयेत् ॥१०५॥

व्यपोहति निरस्यति ॥१०६॥

कोष्णेन ईषदुष्णेनाम्बुना सम्यक् स्नापयित्वा, अन्यथा पञ्चामृतादिलेपानपगमात्। पुनः पश्चात् शीतलेनाम्बुना स्नापयेत्। कथम्भूतेन? सर्वौषध्यादिभिः संस्कृतेन सुगन्धिना च ॥१०७॥

द्वे सहस्रे यदि देये, तदा महास्नानं प्रकीर्त्तितमित्यर्थः। महास्नाने प्रकीर्त्तिते इति वा पाठः ॥१०९॥

१०३॥ वराहपुराण में लिखित है—मेरी पूजा में निष्ठ मानव, परमसिद्धि की कामना करने पर कलायचूर्ण अथवा गन्ध पुष्प युक्त पिष्ट चूर्ण द्वारा मेरा अङ्ग मार्जन करें ॥१०४॥

अनन्तर श्रीमूर्त्ति के अङ्गसमूह के सन्धि-स्थान से मलापसारणार्थ उषीरादि (खसादि) कूर्च प्रदान करे ॥१०५॥

अथ कूर्च्चं तन्माहात्म्यञ्च

विष्णु धर्मोत्तर में लिखित है—उषीर निर्मित कूच अर्पण करने से समस्त पाप विदूरित होते हैं। गोपुच्छ द्वारा निर्मित कूर्च प्रदान श्रीहरि को करने से यावतीय ताप विनष्ट होते हैं। चमरी पुच्छ द्वारा निर्मित कूर्च अर्पण करने से अति उत्कृष्ट सम्पत्ति की प्राप्ति होती है ॥१०६॥

अथ शुद्धजल-स्नपनम्

पश्चात् सर्वोषधि प्रभृति द्वारा सुसंस्कृत सुगन्धि ईषदुष्ण जल द्वारा स्नान कराकर, शङ्खस्थ शीतल जल से स्नान कराना चाहिये ॥१०७॥

भा० एकादश स्कन्ध में वर्णित है—सम्पत्ति होने पर दीक्षित व्यक्ति- चन्दन, उषीर, कर्पूर, कुङ्कुम, अगुरु चन्दनयुक्त जल द्वारा प्रत्यह स्नान करावे ॥१०८॥

अथ जलग्रहणकालः

तत्र याज्ञवल्क्य-—

न नक्तोदकपुष्पाद्यैरर्च्चनं स्नानमर्हति ॥११०॥

विष्णुः—

न नक्तं गृहीतोदकेन देवकर्म्म कुर्य्यात् ॥१११॥

हारीतः—

रात्रावेता आपो वरुणं प्राविशन्त, तस्मान्न रात्रौ गृह्णीयात् ॥११२॥

अथ स्नपनमाहात्म्यम्

नारसिंहे—

निर्म्माल्यमपनीयाथ तोयेन स्नाप्य केशवम् । नरसिंहाकृतिं राजन् सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥११३॥

गोदानजं फलं प्राप्य यानेनाम्बरशोभिना । नरसिंहपुरं प्राप्य मोदते कालमक्षयम् ॥११४॥

किञ्च—

स्नाप्य तोयेन भक्त्या तु नरसिंहं नराधिप । सर्व्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥११५॥

नरसिंहन्तु संस्नाप्य कर्पूरागुरुवारिणा । चन्द्रलोके स मोदित्वा पश्चाद्विष्णुपुरे वसेत् ॥११६॥

किञ्च—

कुशपुष्पोदकेनापि विष्णुलोकमवाप्नुयात् । रत्नोदकेन सावित्रं कौवेरं हेमवारिणा ॥११७॥

स्नाप्य स्नापयित्वा ॥११५॥

जलविशेषस्य फलं लिखति—कुशेति, कुशपुष्पयुक्तोदकेन; यद्वा, कुशाश्च पुष्पाणि च तद्युक्तोदकेन, एवमग्रेऽपि। शक्तौ सत्यां रत्नोदकादिनापि स्नपनं बोद्धव्यम् ॥११७॥

अथ जलपरिमाणम्

भविष्यपुराण में उक्त है—स्नान कार्य में शतपल परिमित जल प्रदान करे। अभ्यङ्ग स्नान में पञ्च-विंशति जल प्रदेय है। द्विसहस्र पत्र परिमित जल द्वारा स्नान कराने से उसको महास्नान कहते हैं ॥१०९॥

अथ जलग्रहणकालः

इस विषय में याज्ञवल्क्य ने कहा है– रात्रि काल में आहृत जल द्वारा अथवा पुष्पादि द्वारा स्नान कराना एवं पूजन करना उचित नहीं है ॥११०॥

विष्णुस्मृति में उक्त है—रात्रि काल में आहृत जल द्वारा देव कार्य्य करना निषिद्ध है ॥१११॥

हारीत कहे हैं – रात्रि में समस्त जल वरुण में प्रविष्ट होते हैं, सुतरां रात्रि काल में जल ग्रहण न करे ॥११२

अथ स्नपनमाहात्म्यम्

नारसिंह में वर्णित है—हे राजन् ! निर्माल्य अपसारण पूर्वक श्रीनृसिंह मूर्त्ति केशव को स्नान जल द्वारा कराने पर समस्त पापों से मानव मुक्त होता है एवं गोदानजनित फल प्राप्त कर गगनशोभी विमान द्वारा नृसिंहधाम में जाकर अक्षय आनन्दानुभव करता है ॥११३-११४॥

और भी वर्णित है– हे नरपते ! भक्तिपूर्वक जल द्वारा श्रीनृसिंहदेव को स्नान कराने पर सकल पातक से छुटकारा मिलता है एवं विष्णुधाम में निवास होता है। जो व्यक्ति, कर्पूर एवं अगुरुमिश्रित जल से श्रीनृसिंहदेव को स्नान कराता है वह चन्द्रलोक में आनन्दानुभव करने के पश्चात् विष्णुधाम में निवास करता है ॥११५-११६॥

और भी कथित है—कुश एवं पुष्पयुक्त उदक के द्वारा स्नान कराने पर विष्णुलोक प्राप्त होता है। रत्न

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
रत्नोदक-प्रदानेन श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् । वीजोदकप्रदानेन क्रियासाफल्यमाप्नुयात् ॥११८॥
पुष्पतोय-प्रदानेन श्रीमान् भवति मानवः । फलतोयप्रदानेन सफलां विन्दते क्रियाम् ॥११९॥

हयशीर्षपञ्चरात्रे—
सुगन्धिना यस्तोयेन स्नापयेज्जलशायिनम् । ब्रह्मलोकमवाप्नोति यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश ॥१२०॥

गारुड़े—
तुलसीमिश्रतोयेन स्नापयन्ति जनार्द्दनम् । पूजयन्ति च भावेन धन्यास्ते भुवि मानवाः ॥१२१॥

अग्निपुराणे—

महास्नानेन गोविन्दं सम्यक् संस्नाप्य मानवः ।
यं यं प्रार्थयते कामं तं तं प्राप्नोत्यसंशयः ॥१२२॥

पाद्मे श्रीपुलस्त्यभगीरथ-संवादे—

स्नानमभ्यर्च्चनं यस्तु कुरुते केशवे सदा ।
तस्य पुण्यस्य या संख्या नास्ति सा ज्ञानेगोचरा ॥१२३॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

स्नानार्थं देवदेवस्य यस्तु गन्धं प्रयच्छति ।
भवन्ति वशगास्तस्य नार्य्यः सर्व्वत्र सर्व्वदा ॥१२४॥

सम्यक् यथाविधीत्यर्थः ॥१२२॥
केशवे केशवस्य स्नानरूपमभ्यर्च्चनं यः कुरुते ॥१२३॥
जलसंस्कारार्थगन्धादिसमर्पणमाहात्म्यमपि स्नपनमाहात्म्यान्तर्गतमेवेत्यत्रैव लिखति—स्नानार्थमित्यादिना

युक्त जल के द्वारा स्नान कराने से सूर्य्यलोक एवं सुवर्णयुक्त जल द्वारा स्नान कराने से कुवेरलोक की प्राप्ति होती है ॥११७॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—रत्नोदक प्रदान करने से अत्युत्तम सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। वीज मिश्रित जल प्रदान करने से साफल्य लाभ होता है। पुष्पोदक प्रदान करने पर मनुष्य श्रीमान् होता है। फलोदक प्रदान करने पर कार्य्य सफल होता है ॥११८-११९॥

हयशीर्ष पञ्चरात्र में वर्णित है—जो व्यक्ति, जलशायी श्रीहरि को सुगन्धोदक के द्वारा स्नान कराते हैं उनका चतुर्दश इन्द्रपात यावत् ब्रह्मपुर में निवास होता है ॥१२०॥

गरुड़पुराण में वर्णित है—जो तुलसी संयुक्त जल से श्रीहरि को स्नान कराते हैं और भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं, पृथिवी में वही धन्य हैं ॥१२१॥

अग्निपुराण में कथित है—मनुष्य, गोविन्द को सम्यक् प्रकार से महास्नान कराकर निःसन्देह से इच्छानुरूप फल लाभ करता है ॥१२२॥

पद्मपुराण के पुलस्त्य-भगीरथ-संवाद में वर्णित है—जो जन, श्रीहरि को नित्य स्नान कराते रहते हैं, एवं उनका पूजन करते हैं, तदीय पुण्य की सीमा ज्ञान की सीमा से बाहर है। अर्थात् ज्ञान का अगोचर है ॥१२३॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—जो व्यक्ति स्नानार्थ देवदेव श्रीहरि को गन्ध द्रव्य प्रदान करता है; स्त्री-

पुष्पदानात्तथा लोके भवतीह फलान्वितः ।
दत्त्वा मृगमदस्नानं सर्व्वान् कामानवाप्नुयात् ॥१२५॥
सर्व्वौषधिप्रदानेन वाजिमेधफलं लभेत् ।
दत्त्वा जातीफलं मुख्यं सफलां विन्दति क्रियाम् ॥१२६॥

अथ सर्व्वौषधिः

मुरा मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् । शटी चम्पकमुस्तञ्च सर्व्वौषधिगणः स्मृतः ॥१२७॥

गन्धश्चागमे—

गन्धश्चन्दन-कर्पूरकालागुरुभिरीरितः ॥१२८॥

अथ शङ्खमाहात्म्यम्

स्कान्दे-श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

शङ्खस्थितेन तोयेन य स्नापयति केशवम् । कपिलाशतदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥१२९

॥१२४॥ क्रियां सर्व्वोद्यममित्यर्थः ॥१२६॥

मुरा भोटेति प्रसिद्धा, मांसी, जटामांसी, शैलेयं शैलज इति प्रसिद्धं, रजनीद्वयं हरिद्रा दारुहरिद्रा च ॥१२७

चन्दनादिभिर्भागविशेषेण साधितो द्रव्यविशेषो गन्ध इतीरित इत्यर्थः ॥१२८॥

ततः शङ्खेनाभिषेकं कुर्य्यादित्यादिना प्रस्तुतस्य शङ्खस्य माहात्म्यं लिखति— शङ्खे त्यादिना ॥१२९॥

गण सब समय उसके वशवर्त्ती होती हैं । पुष्प प्रदान करने से इस लोक में श्रेष्ठ फल लाभ होता है, मृगमद कस्तुरी समन्वित सलिल द्वारा स्नान कराने से सकल कामना पूर्ण होती हैं ॥१२४-१२५॥

देवदेव को सर्वोषधि प्रदान करने से अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है । उत्कृष्ट जाति फल अर्पण करने पर क्रिया सफल होती है ॥१२६॥

अथ सर्व्वौषधिः

मुरा (मुरहरी) जटामांसी (बालछड़) वच, कुष्ठ (कुठ) शैलज (गजपीपल) हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मुस्ता (मोथा) शठी (गन्धापसारिणी) चम्पक—ये दश प्रकार द्रव्य को सर्वौषधि कहते हैं ॥१२७।

आगम में गन्ध का विषय वर्णित है— चन्दन, कर्पूर, कृष्णवर्ण अगुरु, इन सबका नाम गन्ध है ॥१२८॥

अथ शङ्खमाहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्मा-नारद-संवाद में वर्णित है— जो व्यक्ति शङ्ख के द्वारा श्रीकेशव को स्नान कराते हैं, वे एकशत कामधेनु अर्पण का फल प्राप्त करते हैं । जो पुरुष, तीर्थजल के द्वारा द्वादशी में माधव को स्नान कराते हैं, वे प्रत्येक जल-विन्दु के द्वारा शतकुल की रक्षा करते हैं । जो धर्मात्मा सज्जन, शङ्खस्थित कपिला दुग्ध के द्वारा जनार्दन को स्नान कराते हैं, वे दश सहस्र यज्ञ का फल लाभ करते हैं । हे नारद ! जो व्यक्ति शङ्खस्थित गो-दुग्ध के द्वारा श्रीहरि को स्नान कराते हैं, वे राजसूय-यज्ञ का फल प्राप्त करते हैं । शङ्खस्थित आतप तण्डुल के द्वारा एवं कुसुम मिश्रित जल के द्वारा विष्णु को स्नान कराने से अनेक जन्म-अर्जित पापसमूह विनष्ट होते हैं । जो व्यक्ति शङ्खस्थित आतप, तण्डुल, पुष्प, चन्दनमिश्रित जल द्वारा श्रीहरि को स्नान कराते हैं, वे सब जन मदीय लोक में चिरकाल वास करते हैं । जो मानव, शङ्खस्थित गन्धजल ग्रहणकर 'नमो नारायणाय' मन्त्र कहकर श्रीविष्णु को स्नान कराते हैं, वे मानव जन्म-ग्रहण रूप विपत्ति से मुक्त होते हैं । हे नारद ! नदी-जल, वापी का जल, कूपोदक, ह्रदादि का जल शङ्ख में स्थापन करने से समस्त जल ही गङ्गोदक के तुल्य होते हैं । हे विप्रवर ! भगवान् की आज्ञा से भुवनत्रयमें जितने तीर्थ

शङ्खे तीर्थोदकं कृत्वा यः स्नापयति माधवम् ।
द्वादश्यां बिन्दुमात्रेण कुलानां तारयेच्छतम् ॥१३०॥
कपिलाक्षीरमादाय शङ्खे कृत्वा जनार्द्दनम् ।
यः स्नापयति धर्म्मात्मा यज्ञायुतफलं लभेत् ॥१३१॥
अन्य-गोसम्भवं क्षीरं शङ्खे कृत्वा तु नारद ।
यः स्नापयति देवेशं राजसूयफलं लभेत् ॥१३२॥
शङ्खे कृत्वा च पानीयं साक्षतं कुसुमान्वितम् ।
स्नापयेद्देवदेवेशं हन्यात् पापं चिरार्जितम् ॥१३३॥
साक्षतं कुसुमोपेतं शङ्खे तोयं सचन्दनम् ।
यः कृत्वा स्नापयेद्देवं मम लोके वसेच्चिरम् ॥१३४॥
क्षिप्त्वा गन्धोदकं शङ्खे यः स्नापयति केशवम् ।
नमो नारायणायेति मुच्यते योनिसङ्कटात् ॥१३५॥
नाद्यं तड़ागजं बारि वापीकूपह्लदादिजम् ।
गाङ्गेयञ्च भवेत् सर्व्वं कृतं शङ्खे कलिप्रिय ॥१३६॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य चाज्ञया ।
शङ्खे तिष्ठन्ति विप्रेन्द्र तस्मात् शङ्खं सदार्च्चयेत् ॥१३७॥

शङ्खे कृत्वा तु पानीयं सपुष्पं सतिलाक्षतम् । अर्घ्यं ददाति देवस्यससागरधराफलम् ॥१३८॥
अर्घ्यं दत्त्वा तु शङ्खेन यः करोति प्रदक्षिणम् । प्रदक्षिणी-कृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ॥१३९॥

दर्शनेनापि शङ्खस्य किं पुनः स्पर्शने कृते ।
विलयं यान्ति पापानि हिमं सूर्य्योदये यथा ॥१४०॥

नित्ये नैमित्तिके काम्ये स्नानार्च्चनविलेपने । शङ्खमुद्वहते यस्तु श्वेतद्वीपे वसेच्चिरम् ॥१४१॥

ससागरधरादानस्य फलं तस्य भवतीति शेषः ॥१३८॥

विद्यमान हैं, वे सब तीर्थ ही शङ्ख में निवास करते हैं । तज्जन्य नित्य शङ्ख की पूजा करें ॥१२९-१३७॥

पुष्प, तिल, आतप तण्डुल मिश्रित जल शङ्ख में रखकर जो व्यक्ति श्रीहरि को अर्घ्य प्रदान करते हैं, वे ससागरा पृथिवी दान करने का फल प्राप्त करते हैं ॥१३८॥

शङ्ख के द्वारा अर्घ्य प्रदान पूर्वक श्रीहरि की प्रदक्षिणा करने से सप्तद्वीपा पृथिवी परिक्रमा का फल लाभ होता है । सूर्य्योदय होने से यद्रूप हिम विनष्ट होता है, तद्रूप शङ्ख दर्शन से पापसमूह विनष्ट होते हैं । स्पर्श करने से क्या होगा ? उसको और क्या कहूँ ? जो मानव, नित्य नैमित्तिक काम्य कर्म में किंवा स्नान पूजा एवं विलेपन कार्य्य में सतत शङ्ख का प्रयोग करते हैं, वे बहुकाल पर्य्यन्त श्वेतद्वीप में निवास करते हैं ॥१३९-१४१॥

नत्वा शङ्खं करे धृत्वा मन्त्रेणानेन वैष्णवः।
यः स्नापयति गोविन्दं तस्य पुण्यमनन्तकम् ॥१४२॥

मन्त्रः

त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे। मानितः सर्व्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तुते ॥१४३
तव नादेन जीमूता वित्रस्यन्ति सुरासुराः। शशाङ्कायुतदीप्ताभ पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ॥१४४॥
गर्भा देवारिनारीणां विलीयन्ते सहस्रधा। तव नादेन पाताले पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ॥१४५॥

वाराहे च—

दक्षिणावर्त्तशङ्खेन तिलमिश्रोदकेन च। उदके नाभिमात्रे तु यः कुर्य्यादभिषेचनम् ॥१४६॥
प्राक् स्रोतसि च नद्यां वै नरस्त्वेकाग्रमानसः।
यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥१४७॥
दक्षिणावर्त्तशङ्खेन पात्रे औडुम्बरे स्थितम्। उदकं यः प्रतीच्छेत शिरसा कृष्णमानसः।
तस्य जन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥१४८॥

आगमे—

वृहत्त्वं स्निग्धताऽच्छत्वं शङ्खस्येति गुणत्रयम् ॥१४९॥
आवर्त्तभङ्गदोषस्तु हेमयोगान्न जायते।
नालिकायां स्वभावेन यदि छिद्रं भवेन्नहि ॥१५०॥ इति।
घण्टावाद्यञ्च नितरां स्नानकाले प्रशस्यते।
यतो भगवतो विष्णोस्तत् सदा परमं प्रियम् ॥१५१॥

प्रसङ्गाद्दक्षिणावर्त्तशङ्खमाहात्म्यमपि सामान्येन लिखति—दक्षिणेति सार्द्धत्रयेण। अभिषेचनं भगवतः स्वस्यापि वा ॥१४६॥

नमस्कार पूर्वक हस्त में शङ्ख धारणकर जो वैष्णव, यह मन्त्र उच्चारण कर श्रीविष्णु को स्नान कराते हैं, उनका असीम पुण्य सञ्चय होता है। मन्त्र यह है— 'हे पाञ्चजन्य! तुम पहले समुद्र से उद्भूत हुये थे, विष्णु ने तुमको हाथ में धारण किया है, और देववृन्द भी तुम्हें सम्मान प्रदान करते हैं, तुमको नमस्कार करता हूँ। हे पाञ्चजन्य! तुम्हारी ध्वनि से मेघगण, सुरगण, असुरवृन्द भयभीत होते हैं, तुम्हारी दीप्ति दशसहस्र चन्द्रदीप्ति के सदृश है, तुमको नमस्कार करता हूँ। हे पाञ्चजन्य! तुम्हारी ध्वनि से पाताल में सहस्र-सहस्र दैत्य-नारीओं का गर्भपात होता है। तुमको नमस्कार ॥१४२-१४५॥

वराहपुराण में वर्णित है—जो मानव, नदी के स्रोत में पूर्वमुख होकर नाभिमात्र जल में अवस्थित होकर दक्षिणावर्त्त शङ्ख के मध्य में तिल स्थापन कर शङ्ख-जल से एकाग्र चित्त से स्नान करते हैं, उनका आजन्मकृत पाप विध्वंस तत्क्षणात् होता है। जो मानव, श्रीकृष्णगत चित्त होकर ताम्र-पात्र स्थित जल को शङ्ख में स्थापन कर मस्तक में अभिषेक करते हैं, उनका आजन्मकृत पाप सद्य विनष्ट होता है ॥१४६-१४८॥

आगम में वर्णित है—वृहत्त्व, स्निग्धता एवं स्वच्छत्व, शङ्ख के तीन गुण हैं। नालिका में स्वाभाविक छिद्र न होने से भी यदि वह सुवर्ण संयुक्त होता है, तो आवर्त्तभङ्गादि दोष नहीं होता है ॥१४९-१५०॥

स्नान के समय घण्टा वाद्य का नितान्त प्रयोजन है। कारण; घण्टा वाद्य केशव को अति प्रिय है ॥१५१॥

आवाहनार्घ्ये धूपे च पुष्पनैवेद्ययोजने। नित्यमेतां प्रयुञ्जीत तन्मन्त्रेणाभिमन्त्रिताम् ॥१५२॥

तन्मन्त्रः

जयध्वनि ततो मन्त्रमातः स्वाहेत्युदीर्य्य च।
अभ्यर्च्च्य वादयन् घण्टां धूपं नीचैः प्रदापयेत् ॥१५३॥
पूजाकालं विनान्यत्र हितं नास्याः प्रचालनम्।
न तया च विना कुर्य्यात् पूजनं सिद्धिलालसः ॥१५४॥

अथ घण्टामाहात्म्यम्

उक्तञ्च स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

स्नानार्च्चनक्रियाकाले घण्टानादं करोति यः।
पुरतो वासुदेवस्य तस्य पुण्यफलं शृणु ॥१५५॥

वर्षकोटि-सहस्राणि वर्षकोटिशतानि च। वसते देवलोके तु अप्सरोगणसेवितः ॥१५६॥
सर्व्ववाद्यमयी घण्टा केशवस्य सदा प्रिया। वादनाल्लभते पुण्यं यज्ञकोटिसमुद्भवम् ॥१५७॥
वादित्र-निनदैस्तूर्य्यगीतमङ्गलनिस्वनैः। यः स्नापयति गोविन्दं जीवन्मुक्तो भवेद्धि सः ॥१५८

वादित्राणामभावे तु पूजाकाले हि सर्व्वदा।
घण्टाशब्दो नरैः कार्य्यः सर्व्ववाद्यमयी यतः ॥१५९॥

तत् घण्टावाद्यम् ॥१५२॥

नारदपञ्चरात्र में उक्त है—आवाहन में, अर्घ्य में; धूपदान में, पुष्प एवं नैवेद्य अर्पण में घण्टा बजाने का यह मन्त्र पाठ कर निरन्तर घण्टा बजावे ॥१५२॥

तन्मन्त्रः

घण्टा बजाने का मन्त्र—"जयध्वनि मन्त्रमातः स्वाहा" यह मन्त्र पढ़कर निरन्तर पूजन करे एवं घण्टा वादन करतः धीरे-धीरे धूप अर्पण करे। पूजन के समय व्यतीत, यह घण्टा बजाने से किसी प्रकार शुभ फल की सम्भावना नहीं है। जिनकी कामना सिद्धिलाभ में है वे कभी भी घण्टा वाद्य व्यतीत पूजानुष्ठान न करें ॥१५३-१५४॥

अथ घण्टामाहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—जो मानव, स्नान एवं पूजन कार्य्य में श्रीहरि के सम्मुख में घण्टा वादन करते हैं, उनके पुण्य का फल श्रवण करो। वे मनुष्य सहस्रकोटि वत्सर एवं शत-कोटि वत्सर सुरपुर में अप्सर.गण कर्त्तृक सेवित होकर निवास करते हैं। घण्टा-सर्व वाद्यमयी है, वह श्रीकेशव को सर्वदा प्रिय है। घण्टा वादन करने पर कोटि-यज्ञानुष्ठान के समान पुण्य लाभ होता है। जो व्यक्ति, वादित्र शब्द, तुर्य्यध्वनि, सङ्गीत एवं मङ्गलध्वनि के सहित श्रीहरि को स्नान कराते हैं, वे निःसन्देह जीवन्मुक्त होते हैं। वाद्य-यन्त्र के अभाव से मनुष्यगण सर्वदा पूजाकाल में घण्टा वादन करें। कारण, वह सर्ववाद्यमयी है। घण्टा, सर्ववाद्यमयी एवं देवदेव श्रीहरि को प्रिय है, तज्जन्य यत्नपूर्वक घण्टा बजाना चाहिये। घण्टा के शब्द से देवदेवेश्वर श्रीहरि शतमन्वन्तर अथवा सहस्र मन्वन्तर पर्य्यन्त प्रसन्न रहते हैं ॥१५६-१६१॥

सर्व्ववाद्यमयी घण्टा देवदेवस्य वल्लभा । तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन घण्टानादं तु कारयेत् ॥१६०॥

मन्वन्तरसहस्राणि मन्वन्तरशतानि च । घण्टानादेन देवेशः प्रीतो भवति केशवः ॥१६१॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे श्रीभगवत्-प्रह्लाद-संवादे—

श्रृणु दैत्येन्द्र वक्ष्यामि घण्टामाहात्म्यमुत्तमम् ।
प्रह्लाद त्वत्समो नास्ति मद्भक्तो भुवनत्रये ॥१६२॥

मम नामाङ्किता घण्टा पुरतो मम तिष्ठति । अर्च्चिता वैष्णवगृहे तत्र मां विद्धि दैत्यज ॥१६३॥

वैनतेयाङ्कितां घण्टां सुदर्शनयुतां यदि । ममाग्रे स्थापयेद्यस्तु देहे तस्य वसाम्यहम् ॥१६४॥

यस्तु वादयते घण्टां वैनतेयेन चिह्निताम् । धूपे नीराजने स्नाने पूजाकाले विलेपने ॥१६५॥

ममाग्रे प्रत्यहं वत्स प्रत्येकं लभते फलम् । ममायुतं गोऽयुतञ्च चान्द्रायणशतोद्भवम् ॥१६६॥

विधिवाह्यकृता पूजा सफला जायते नृणाम् ।
घण्टानादेन तुष्टोऽहं प्रयच्छामि स्वकं पदम् ॥१६७॥
नागारिचिह्निता घण्टा रथाङ्गेन समन्विता ।
वादनात् कुरुते नाशं जन्ममृत्युभयस्य च ॥१६८॥
गरुड़ेनाङ्कितां घण्टां दृष्ट्वाहं प्रत्यहं सदा ।
प्रीतिं करोति दैत्येन्द्र लक्ष्मीं प्राप्य यथाऽधनः ॥१६९॥

तस्य देहे वसामि, प्रकटस्तिष्ठामित्यर्थः; अतो मदधिष्ठानवत् सोऽपि पूज्य इति भावः ॥१६४॥
गोऽयुतं, गवायुतं गवामयुतस्य दानजं फलमित्यर्थः ॥१६६॥
अधनो दरिद्रः यथा लक्ष्मीं धनसम्पत्तिं प्राप्य प्रीतिं करोति, तद्वत् ॥१६९॥

विष्णुधर्मोत्तर में श्रीभगवत् प्रह्लाद-संवाद में उक्त है—हे दैत्यश्रेष्ठ ! घण्टा का उत्तम माहात्म्य का वर्णन करता हूँ, श्रवण करो। हे प्रह्लाद ! त्रिभुवन में तुम्हारे समान मेरा भक्त अपर कोई नहीं है। हे दैत्यनन्दन ! वैष्णवालय में मेरे सम्मुख में स्थापित मेरे नामाङ्कित घण्टा की पूजा करने पर मुझको वहाँ अधिष्ठित जानना चाहिये। घण्टा में गरुड़ चिह्न अथवा सुदर्शन चिह्न होने पर, जो व्यक्ति वह घण्टा का स्थापन मेरे सम्मुख में करता है, मैं तदीय शरीर में निवास करता हूँ ॥१६२-१६४॥

हे वत्स ! जो जन, प्रत्यह धूप, नीराजन, स्नान, पूजन एवं विलेपन के समय मेरे सम्मुख में गरुड़ चिह्नित घण्टा वादन करते हैं, वे प्रत्येक कार्य में दश-सहस्र यज्ञ का, दश-सहस्र गोदान का एवं एक-शत चान्द्रायण व्रत का फल लाभ करते हैं। जो कोई पूजा ही क्यों न हो, यदि मनुष्यगण सम्यक् प्रकार से उसका सम्पादन कर सकें तो भी घण्टा वादन से समस्त सफल होती हैं। घण्टा वादन से मैं प्रसन्न होकर निजधाम में निवासाधिकार प्रदान करता हूँ ॥१६५-१६७॥

गरुड़ चिह्नित अथवा चक्रचिह्नित घण्टा वादन से जन्म-भय एवं मृत्यु-भय विदूरित होता है ॥१६८॥

हे दैत्येन्द्र ! जिस प्रकार दरिद्र पुरुष, सम्पत्ति प्राप्त होने पर पुलकित होता है, उस प्रकार मैं प्रत्यह गरुड़ चिह्नित घण्टा दर्शन से आनन्दित होता हूँ। जिस प्रकार अमृत दर्शन से देवगण सर्वदा सन्तुष्ट होते हैं, उस प्रकार घण्टा के उपरिभाग में गरुड़ चिह्न देखकर मैं सन्तुष्ट होता हूँ। कलियुग में मेरी पूजा के समय भक्तिपूर्वक स्वहस्त से घण्टा वादन करने पर कोटि चान्द्रायण का फल लाभ होता है ॥१६९-१७१॥

दृष्ट्वामृतं यथा देवाः प्रीतिं कुर्व्वन्त्यहर्निशम् ।
सुपर्णे च तथा प्रीतिं घण्टाशिखरसंस्थिते ॥१७०॥
स्वकरेण प्रकुर्व्वन्ति घण्टानादं स्वभक्तितः ।
मदीयार्च्चनकाले तु फलं कोट्यैन्दवं कलौ ॥१७१॥

अन्यत्र च—

घण्टादण्डस्य शिखरे सचक्रं स्थापयेत्तु यः ।
गरुड़ं वै प्रियं विष्णोः स्थापितं भुवनत्रयम् ॥१७२॥

सचक्रघण्टानादन्तु मृत्युकाले शृणोति यः । पापकोटियुतस्यापि नश्यन्ति यमकिङ्कराः ॥१७३
सर्व्वे दोषाः प्रलीयन्ते घण्टानादे कृते हरौ ।
देवतानां मुनीन्द्राणां पितॄणामुत्सवो भवेत् ॥१७४॥

अभावे वैनतेयस्य चक्रस्यापि न संशयः । घण्टानादेन भक्तानां प्रसादं कुरुते हरिः ॥१७५॥

गृहे यस्मिन् भवेन्नित्यं घण्टा नागारिसंयुता । न सर्पाणां भयं तत्र नाग्निविद्युत्समुद्भवं ॥१७६
यस्य घण्टा गृहे नास्ति शङ्खश्च पुरतो हरेः ।
कथं भागवतं नाम गीयते तस्य देहिनः ॥१७७॥ इति ।

अतो भगवतः प्रीत्यै घण्टा श्रीगरुड़ान्विता । संगृह्या वैष्णवैर्यत्नाच्चक्रेणोपरि मण्डिता ॥१७८

स्नाने शङ्खादिवाद्यान्तु नामसङ्कीर्त्तनं हरेः । गीतं नृत्यं पुराणादिपठनञ्च प्रशस्यते ॥१७९॥

घण्टायां शिखरमग्रं, तत्र सम्यक् स्थिते सति; प्रीतिं करोमीति शेषः । प्रीये इति वा पाठः । सुपर्णमीति पाठे एमि प्राप्नोमि । पुनः सन्धिरार्षः ॥१७०॥

ऐन्दवं चान्द्रायणं, तत्कोटिसमुद्भवं फलमित्यर्थः । दीनारकोटिजमिति पाठे दीनारं सुवर्णमुद्राविशेषः, तत्कोटिदानजम् ॥१७१॥

नश्यन्ति अदृश्या भवन्ति, पलायन्त इत्यर्थः ॥१७३॥

अन्यत्र भी वर्णित है—घण्टा-दण्ड के शिरोभाग में श्रीविष्णु प्रिय चक्र एवं गरुड़ चिह्न स्थापित होने पर, उससे त्रिभुवन स्थापित होते हैं । प्राण त्याग करने के समय, जो व्यक्ति चक्रचिह्नित घण्टा-ध्वनि श्रवण करता है, वह कोटि पापों से पातकी होने पर भी यमदूतगण उसके समीप में आगमन न करके पलायन करते हैं । श्रीहरि की पूजा में घण्टा-ध्वनि करने से समस्त दोष विनष्ट होते हैं एवं देवता, मुनीन्द्र, पितृगण सन्तुष्ट होते हैं । गरुड़ चिह्नित तथा चक्र चिह्नित घण्टा के अभाव से अपर घण्टा वादन से प्रभु, भक्त के प्रति प्रसन्न होते हैं—इसमें सन्देह नहीं है । जिसके गृह में सर्वदा गरुड़ चिह्नित घण्टा विराजमान है, वहाँ सर्प-भय नहीं होता है एवं वह्नि तथा विद्युतजनित भय भी नहीं होता है । जिसके गृह में श्रीहरि के सम्मुख में शङ्ख एवं घण्टा नहीं है, उसको भगवद्भक्त कैसे कहा जा सकता है ॥१७२-१७७॥

अतएव वैष्णववृन्द भगवान् के सन्तोषार्थ गरुड़ एवं चक्र चिह्नयुक्त घण्टा ग्रहण करें । श्रीहरि के स्नान के समय शङ्खादि वाद्य, नाम-सङ्कीर्त्तन, गीत, नृत्य एवं पुराणादि पाठ, इन सबकी विशेष प्रशंसा की जाती है ॥१७८-१७९॥

अथ स्नाने वाद्यादिमाहात्म्यम्

स्कन्दपुराणे—

स्नानकाले तु कृष्णस्य शङ्खादीनान्तु वादनम् ।
कुरुते ब्रह्मलोके तु वसते ब्रह्मवासरम् ॥१८०॥

स्नानकाले तु संप्राप्ते कृष्णस्याग्रे तु नर्त्तनम् । गीतञ्चैव पुनात्यत्र ऋचोक्तं वदनेन हि ॥१८१

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

मृदङ्गवाद्येन युतं पणवेन समन्वितम् । अर्च्चनं वासुदेवस्य सनृत्यं मोक्षदं नृणाम् ॥१८२॥

गीतं वाद्यञ्च नृत्यञ्च तथा पुस्तकवाचनम् । पूजाकाले तु कृष्णस्य सर्व्वदा केशवप्रियम् ॥१८३

नृत्यवाद्याद्यभावे तु कुर्य्यात् पुस्तकवाचनम् ।
पूजाकाले त्विदं पुत्र सर्व्वदा प्रीतिदायकम् ॥१८४॥

पुस्तकस्याप्यभावे तु विष्णुनामसहस्रकम् । स्तवराजं मुनिश्रेष्ठ गजेन्द्रस्य च मोक्षणम् ॥१८५॥

पूजाकाले तु देवस्य गीतास्तोत्रमनुस्मृतिः । पञ्चस्तवा महाभाग महाप्रीतिकरा हरेः ॥१८६॥

विहाय गीतवाद्यानि पूजाकाले सदा हरेः । पठनीयं महाभक्त्या विष्णोर्नामसहस्रकम् ॥१८७

द्वारकामाहात्म्ये—

स्नानकाले तु कृष्णस्य जयशब्दं करोति यः । करताड़नसंयुक्तं गीतं नृत्यं प्रकुर्व्वते ॥१८८॥

पुनातीति नर्त्तनादिकर्तृ न्, ऋचोक्तं वदनेन हीति ऋग्वेदेन स्वमुखेन साक्षादयमर्थः साधित इत्यर्थः। यद्वा, अत्र पावने यत् फलं, तद्वैवोक्तं, नान्यस्य वदने प्रभवतीत्यर्थः ॥१८१॥

अर्च्चनमित्यनेन पूजाकाले, त्वित्यादिना च यद्यपि पूजायां सर्व्वोपचारेषु सर्व्वदैव वाद्यादिकं विहितम्, तथाप्यत्र मुख्योपचारे स्नाने स्नानकाले त्वित्यादिवचनसङ्गत्या प्रागवल्लिखितम्; एवमग्रेऽपि ॥१८२-१८४॥

अथ स्नाने वाद्यादिमाहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में उक्त है—जो, श्रीकृष्ण के स्नान के समय शङ्खादि वादन करते हैं, उनका निवास ब्रह्मपुर में ब्रह्मा के एक दिन तक होता है ॥१८०॥

ऋग्वेद स्वयं कहते हैं—स्नान काल में हरि के सम्मुख में नृत्य और सङ्गीत विशुद्ध करते हैं ॥१८१॥

स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है—मृदङ्ग एवं पणव वाद्य के सहित नृत्य कर वसुदेव की पूजा करने पर वह पूजा मुक्तिदायिनी होती है। श्रीकृष्ण के पूजनकाल में गीत, वाद्य, नृत्य एवं पुस्तक-पाठ, यह सब कार्य्य, श्रीकृष्ण को प्रसन्न करते हैं। नृत्य एवं वाद्य के अभाव में पुस्तक वाचन विधेय है। हे वत्स! पूजन समय में वह सदा प्रीतिकर है। हे मुनिश्रेष्ठ! श्रीकृष्ण के पूजन काल में पुस्तक का अभाव होने पर, विष्णुसहस्रनाम, स्तवराज, गजेन्द्र मोक्ष, गीता स्तोत्र एवं मनुस्मृति, यह पाँच स्तव श्रीप्रभु के अत्यन्त प्रीतिप्रद हैं। हरि की पूजा के समय गीत एवं वाद्य को छोड़कर महती भक्ति के सहित सर्वदा श्रीविष्णुसहस्रनाम पाठ करना चाहिये ॥१८२-१८७॥

द्वारका माहात्म्य में लिखित है—जो, श्रीकृष्ण के स्नान-काल में जय शब्द उच्चारण करते हैं, करताल वादनपूर्वक गीत एव नृत्य करते हैं एवं उन्मादवत् चेष्टा कर यथेच्छ हास्य करते हैं तथा वाक्योच्चारण करते

उन्मत्तचेष्टां कुर्व्वाणो हसन् जल्पन् यथेच्छया । नोत्तानशायी भवति मातुरङ्के नरेश्वर ॥१८९

अथ सहस्रनाममाहात्म्यम्

तत्रैव—
स्नानकाले तु देवस्य पठेन्नामसहस्रकम् । प्रत्यक्षरं लभेत् पुण्यं कपिलागोशतोद्भवम् ॥१९०॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
कृत्वा नामसहस्रेण स्तुतिं तस्य महात्मनः । वियोगमाप्नोति नरः सर्व्वानर्थैर्न संशयः ॥१९१॥

स्कान्दे-श्रीब्रह्मनारद-संवादे—
विष्णोर्नामसहस्रन्तु पूजाकाले पठन्ति ये । वेदानाञ्चैव पुण्यानां फलमाप्नोति मानवः ॥१९२

श्लोकेनैकेन देवर्षे सहस्रनामकस्य यत् । पठितेन फलं प्रोक्तं न तत् क्रतुशतैरपि ॥१९३॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यत् कृतं पूजनं हरेः । परिपूर्णं भवेत् सर्व्वं सहस्रनामकीर्त्तनात् ॥१९४॥

किञ्च—
ज्ञानाज्ञानकृतं पापं पठित्वा विष्णुसन्निधौ । नाम्नां सहस्रं विष्णोस्तु प्रजहाति महारुजम्॥१९५

ब्रह्महत्यादि-पापानि कामचारकृतान्यपि । विलयं यान्ति वै नूनमन्यपापे तु का कथा ॥१९६

सिध्यन्ति सर्व्वकार्य्याणि मनसा चिन्तितानि च ।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय विष्णोर्नामसहस्रकम् ॥१९७॥

तत्रैव श्रीकृष्णार्ज्जुन-संवादे—
अधीतास्तेन वै वेदाः सुराः सर्व्वसमर्च्चिताः ।
नाम्नां सहस्रं योऽधीते मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ॥१९८॥

मातुरङ्के उत्तानशायी न भवति, मुक्तोभवतीत्यर्थः ॥१८९॥
मानवः प्राप्नोति, अन्ते मानवाः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । स्तवं लिखितमिति नपुंसकत्वमार्षम् ॥१९२-२०३॥

हैं, हे नृपते ! उनको जननी अङ्क में उत्तानशायी नहीं होना पड़ता है, अर्थात् वे मुक्त होते हैं ॥१८८-१८९॥

अथ सहस्रनाममाहात्म्यम्

द्वारका माहात्म्य में वर्णित है कि— श्रीकृष्ण के स्नान-समय में सहस्रनाम पाठ करने पर प्रति अक्षर में एक शत कपिला धेनु दान का फल लाभ होता है ॥१९०॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में उक्त है—मनुष्य, सहस्रनाम के द्वारा उन महात्मा श्रीहरि की स्तुति करने पर सर्व्वविध अनर्थ से उद्धार हो सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥१९१॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद संवाद में वर्णित है—जो मानव श्रीहरि के अर्चन समय में विष्णुसहस्रनाम पाठ करता है, वह समस्त वेद पाठ का पुण्यफल लाभ करता है। हे देवर्षे ! सहस्रनाम का एक श्लोक अध्ययन करने से जो फल होता है, कथित है, शत-यज्ञानुष्ठान से वह फल नहीं होता है। श्रीविष्णु की जो कोई पूजा, मन्त्रहीन अथवा क्रियाहीन होती हैं, सहस्रनाम पाठ से वह सब सफल होती हैं ॥१९२-१९४॥

और भी वर्णित है—श्रीहरि के पुरोभाग में श्रीविष्णुसहस्रनाम पाठ करने से ज्ञान अथवा अज्ञानकृत पाप एवं महारोग विनष्ट होता है। कामकृत ब्रह्महत्यादि पापपुञ्ज भी निश्चय दूरीभूत होते हैं। सुतरां अन्य पापों की कथा ही क्या है ? जो व्यक्ति, प्रातःकाल में उठकर श्रीविष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हैं, वे चित्त में जिन सब कार्य्यों की चिन्ता करते हैं, उनके वे सब कार्य्य सिद्ध होते हैं। ॥१९५-१९७॥

स्कन्दपुराण के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद में वर्णित है— जो व्यक्ति, श्रीविष्णुसहस्रनाम पाठ करते हैं, उन्होंने

कुर्व्वन् पापसहस्राणि भुञ्जानोऽपि यतस्ततः । पठेन्नामसहस्रस्तु दुर्गन्धं न स पश्यति ॥१९९॥

मुक्त्वा नामसहस्रस्तु नान्यो धर्म्मोऽस्ति कश्चन ।
कलौ प्राप्ते गुड़ाकेश सत्यमेतन्मयेरितम् ॥२००॥

यज्ञैर्दानैस्तपोभिश्च स्तवैः प्रीतिर्न मेऽर्ज्जुन ।
सन्तुष्टिस्तु न चान्येन विना नामसहस्रकम् ॥२०१॥

स्तवं नामसहस्राख्यं ये न जानन्ति वै कलौ ।
भ्रमन्ति ते नरा लोके सर्व्वधर्म्मबहिष्कृताः ॥२०२॥

स्तवं नामसहस्राख्यं लिखितं यस्य वेश्मनि ।
पूज्यते मम सान्निध्ये पूजां गृह्णामि तस्य वै ॥२०३॥

यस्मिन्नामसहस्रं मे गृहे तिष्ठति सर्व्वदा । लिखितं पाण्डवश्रेष्ठ तत्र नो विशते कलिः ॥२०४

तस्मात्त्वमपि कौन्तेय मद्भक्तो मन्मना भव ।
पठन्नामसहस्रं मे सर्व्वान् कामानवाप्स्यसि ॥२०५॥

अहमाराधितः पूर्व्वं ब्रह्मणा लोककर्त्तृणा । ततो नामसहस्रं मे प्राप्तं लोकहितं परम् ॥२०६

नारदेन ततः पूर्व्वं प्राप्तश्च परमेष्ठिनः । नारदेन ततः प्रोक्तमृषीणामूर्द्ध्वरेतसाम् ॥२०७॥

ऋषिभिस्तु महावाहो देवलोके प्रकाशितम् ।
मर्त्त्यलोके मनुष्याणां व्यासेन परिभाषितम् ॥२०८॥

तपसोग्रेण महता शङ्करेण महात्मना । मत्प्रसादादनुप्राप्तं गुह्यानामुत्तमोत्तमम् ॥२०९॥

सब वेद पढ़ लिये, सब देवताओं की पूजा करली और मुक्ति भी उनकी करतल गत हो गई। सहस्र पाप-आवरणकारी एवं यत्र-तत्र भोजनकारी व्यक्ति भी सहस्रनाम पाठ से नरक-दर्शन से मुक्त होता है। हे अर्जुन ! मैं सत्य कह रहा हूँ। कलियुग उपस्थित होने पर, सहस्रनाम का कीर्त्तन करें, अन्य धर्माचरण न करने में भी हानि नहीं है। हे अर्जुन ! सहस्रनाम व्यतीत यज्ञ, दान, तपः, स्तव प्रभृति से मेरी प्रीति अथवा सन्तुष्टि नहीं होती है। कलियुग में जो मानव सहस्रनाम नहीं जानते, उनको सब धर्मों से बहिष्कृत होकर संसार में विचरना पड़ता है। जिन पुरुषों के घर में मेरा सहस्रनाम मेरे सम्मुख में लिखकर मेरी पूजा की जाती है, मैं तदीय पूजा ग्रहण करता हूँ। हे पाण्डवश्रेष्ठ ! जिस घर में मेरा सहस्रनाम लिखित होकर सतत विराजित है, वहाँ कलह के कारण द्वेष, मद, मात्सर्य्य प्रभृति रूप काल का प्रवेश नहीं होता है। अतएव हे कुन्तीतनय ! तुम भी मद्भक्त होकर मुझ में चित्त सन्निविष्ट कर सहस्रनाम का पाठ करो। इस प्रकार करने से तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा। प्राचीनकाल में लोककर्त्ता विधाता, मदीय उपासना के द्वारा लोकमङ्गल कर सर्वोत्कृष्ट मन्नामसहस्र प्राप्त किये थे। उसके बाद विधि के समीप से श्रीनारद, सहस्र नाम प्राप्तकर ऊर्द्ध्वरेत्ताः तापसगण के निकट उसका कीर्त्तन किये थे। हे महावाहो ! ऋषिगण भी पुनर्वार उसका प्रकाश सुरलोक में किये थे। श्रीवेदव्यास मर्त्त्यलोक में मनुष्यगण के निकट उसका कीर्त्तन किये हैं ॥१९८-२०८॥

महात्मा शङ्कर सुकठिन तपस्या के द्वारा मदीय अनुग्रह से अत्यन्त गोपनीय इस सहस्रनाम-स्तव को प्राप्त किये हैं। आपने भवानी को प्रदान किया था। इस रीति मदीय सहस्रनाम त्रिलोक के मध्य में प्रख्यात

दत्तं भवान्यै रुद्रेण नाम्नां मे हि सहस्रकम् ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु मया ते परिकीर्त्तितम् ॥२१०॥

अशेषार्त्तिहरं पार्थ मम नामसहस्रकम् । सद्यः प्रीतिकरं पुण्यं सुराणाममृतं यथा ॥२११॥

अष्टादशपुराणानां सारमेतद्धनञ्जय । मयोद्धृत्य समाख्यातं तव नामसहस्रकम् ॥२१२॥

सहस्रनाममाहात्म्यं देवो जानाति शङ्करः । सहस्रनाममाहात्म्यं यः पठेत् शृणुयादपि ।
अपराधसहस्रैस्तु न स लिप्येत् कदाचन ॥२१३॥

अथ श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यम्

स्कान्दे अवन्तीखण्डे श्रीव्यासोक्तौ—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥२१४॥

सर्व्वशास्त्रमयी गीता सर्व्वदेवमयी यतः । सर्व्वधर्म्ममयी यस्मात्तस्मादेतां समभ्यसेत् ॥२१५

शालग्रामशिलाग्रे तु गीताध्यायं पठेत्तु यः । मन्वन्तरसहस्राणि वसते ब्रह्मणः पुरे ॥२१६॥

हत्वा हत्वा जगत् सर्व्वं मुषित्वा सचराचरम् । पापैर्न लिप्यते चैव गीताध्यायी कथञ्चन ।
तेनेष्टं क्रतुभिः सर्व्वैर्दत्तं तेन गवायुतम् ॥२१७॥
गीतामभ्यस्यता नित्यं तेनाप्तं पदमव्ययम् ॥२१८॥

लघुसहस्रनाम-माहात्म्यमुक्त्वा वृहत्सहस्रनाममाहात्म्यं च वक्ष्यन्नादौ तत्प्रवृत्तिक्रममाह—तपसेति द्वाभ्याम् ॥२०९-२१०॥

सुगीता कर्त्तव्या, शोभनप्रकारेण गेयेत्यर्थः ॥२१४॥

नित्यमभ्यस्यता येन स्थितमिति शेषः, यद्वा, तेन हननादिकर्त्रापि गीतामभ्यस्यता इष्टं दत्तं परमं पदञ्च प्राप्तमित्यर्थः ॥२१८॥

हो गया है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार अमृत देववृन्द के पक्ष में अभीष्ट है, उस प्रकार मदीय सहस्रनाम भी मानवमात्र के अशेष क्लेश नाशक, सद्य प्रीति साधक एवं पुण्यदायक है। हे धनञ्जय ! मैंने अष्टादश पुराणों से सार संग्रह कर सहस्रनाम का कीर्त्तन तुम्हारे निकट किया। सहस्रनाम का माहात्म्य देव शङ्कर ही जानते हैं। जो व्यक्ति सहस्रनाम का पाठ करते हैं, यहाँ तक कथा श्रवण भी करते हैं, सहस्र अपराध करने पर भी वे सब उससे लिप्त नहीं होते हैं ॥२०९-२१३॥

अथ श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के अवन्ती खण्ड में वर्णित है—श्रीव्यासदेव कहते हैं—जो गीता, स्वयं पद्मनाभ श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से विनिःसृता है, उसका पाठ सुन्दर रूप से करे, अन्यान्य विविध शास्त्र पाठ की आवश्यकता क्या है ? कारण, गीता सर्वशास्त्रमयी, सर्वदेवमयी, सर्वधर्ममयी है, सुतरां इसका अभ्यास ही करे। जो व्यक्ति, शालग्रामशिला के सम्मुख में गीताध्याय का पाठ करते हैं, वे सहस्र मन्वन्तर ब्रह्मपुर में निवास करते हैं। यदि कोई व्यक्ति पुनः-पुनः सचराचर जगत् नाश अथवा चोरी करता है, वह व्यक्ति यदि गीता-पाठ करता है तो पाप से लिप्त नहीं होता है। अधिकन्तु वह समस्त यज्ञानुष्ठान का एवं दश सहस्र धेनुदान का फल लाभ करता है। जो व्यक्ति नित्य गीता का अभ्यास करते हैं, वे अक्षय पद लाभ करते हैं ॥२१४-

गीताध्यायं पठेद्यस्तु श्लोकं श्लोकार्द्धमेव वा ।
भवपाप-विनिर्मुक्तो याति विष्णोः परं पदम् ॥२१९॥

यो नित्यं विश्वरूपाख्यमध्यायं पठति द्विजः । विभूतिं देवदेवस्य तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ॥२२०
वेदैरधीतैर्यत् पुण्यं सेतिहासैः पुरातनैः । श्लोकेनैकेन तत् पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥२२१॥
आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं जगत्तृप्तिं करोति सः । विश्वरूपं सदाध्यायं विभूतिञ्च पठेत्तु यः ॥२२२॥
अहन्यहनि यो मर्त्यो गीताध्याय पठेत्तु वै । द्वात्रिंशदपराधांस्तु क्षमते तस्य केशवः ॥२२३॥

लिखित्वा वैष्णवानाञ्च गीताशास्त्रं प्रयच्छति ।
दिने दिने च यजते हरिं चात्र न संशय ॥२२४॥

चतुर्णामेव वेदानां सारमुद्धृत्य विष्णुना । त्रैलोक्यस्योपकाराय गीताशास्त्रं प्रकाशितम् ॥२२५
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् । गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥२२६

धर्म्मं चार्थञ्च कामञ्च मोक्षञ्चापीच्छता सदा ।
श्रोतव्या पठनीया च गीता कृष्णमुखोद्गता ॥२२७॥

भवः संसार एव पापं, तेन विनिर्मुक्तः सन् ॥२१९॥
विभूतिं चाध्यायम् ॥२२०॥
पुरातनैश्च पुराणैः ॥२२१॥
द्वात्रिंशदपराधान् वाराहोक्तान् अग्रे लेख्यान् ॥२२३॥
वैष्णवानां वैष्णवेभ्यः ॥२२४॥
गीतैव गङ्गोदकं, पापादिहारित्वात् भुक्तिमुक्तिप्रदत्वाच्च, तत् पीत्वा स्थितस्य प्रसिद्धगङ्गोदकाद्विशेषमाह- भारतमेवामृतं वहिरन्तःशोधनं, वेदार्णवसारत्वात्, तस्यापि सर्व्वस्वं सारभूतमित्यर्थः; यद्वा, सर्व्वार्थप्रकाशकं यद्भारताख्यं शास्त्रं, तस्यामृतं मधुररसभागस्तस्य सर्व्वस्वम्; तत्तु नेदृशं वाह्यतीर्थमात्रत्वात्। किञ्च, विष्णोर्मुखात् विशेषेण प्रीत्यादिमयेन निःसृतं, तत्तु पादाङ्गुष्ठशौचादेवेति दिक् ॥२२६॥

२१९॥ गीताध्याय का एक अथवा अर्द्ध श्लोक अध्ययन करने पर वह पुरुष पातक रूपी संसार से उत्तीर्ण होकर श्रीहरिधाम गमन करता है ॥२१९॥

जो द्विज, भगवद्गीता के श्रीहरि का विश्व-रूप नामक एकादश अध्याय एवं विभूति-योग नामक दशम अध्याय का पाठ नित्य करते हैं, मैं उनके पुण्य की कथा कहता हूँ। समुदाय वेद, इतिहास, पुराण अध्ययन करने से जो पुण्य होता है, एक श्लोक पाठ से ही वह पुण्य लाभ होता है, इसमें सन्देह नहीं है। जो व्यक्ति प्रत्यह विश्वरूप नामक अध्याय एवं विभूतियोग नामक अध्याय का पाठ करते हैं वे आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सबको सन्तुष्ट करते हैं ॥२२०-२२२॥

जो व्यक्ति, प्रत्यह गीताध्याय पाठ करते हैं, केशव उनके द्वात्रिंशद्विध अपराध क्षमा करते हैं। जो व्यक्ति, गीताशास्त्र लिखकर वैष्णव को प्रदान करते हैं, वे प्रत्यह श्रीहरिपूजन का फल प्राप्त करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। श्रीविष्णु चतुर्वेद का सार सङ्कलन कर त्रिभुवनस्थ प्राणीवृन्द के उपकारार्थ गीता-शास्त्र का प्रकाश किये हैं। भक्तिसुधा का सार; श्रीविष्णु मुखपद्म विनिःसृत गीतारूप गङ्गोदक पान करने पर पुनर्जन्म नहीं होता है। जो व्यक्ति धर्मार्थकाममोक्षाभिलाषी हैं उनको नित्य श्रीकृष्ण मुख विनिर्गता गीता श्रवण एवं पाठ करना एकान्त कर्त्तव्य है ॥२२३-२२७॥

यो नरः पठते नित्यं गीताशास्त्रं दिने दिने ।
विमुक्तः सर्व्वपापेभ्यो याति विष्णोः परं पदम् ॥२२८॥

अथ पुराणपाठादि-माहात्म्यम्

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-संवादे—

विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये । पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च ॥२२९
व्याकुर्व्वंति स्मृतिं ये च ये धर्म्मप्रतिबोधकाः ।
वेदान्तेषु निषण्णा ये तैरियं जगती धृता ॥२३०॥
तत्तदभ्यासमाहात्म्यैः सर्व्वे ते हतकिल्विषाः ।
गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते ॥२३१॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-संवादे—

अन्तं गतोऽपि वेदानां सर्व्वशास्त्रार्थवेद्यपि । पुंसोऽश्रुतपुराणस्य न सम्यग्गतिदर्शनम् ॥१३२॥
वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थञ्च भामिनि । पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्य्यग्योनिमवाप्नुयात् ॥२३३

बृहन्नारदीये च—

पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः । तैरर्ज्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति वै ॥२३४॥
पुराणेषु द्विजश्रेष्ठाः सर्व्वधर्म्मप्रवक्तृषु । प्रवदन्त्यर्थवादत्वं ये ते नरकभाजनाः ॥२३५॥

व्याकुर्व्वन्ति, व्याख्यानं कुर्व्वन्ति; निषण्णा निष्णाताः । गतिः तत्त्वं, तस्य दर्शनं विज्ञानं सम्यक् न भवति ॥२३०-२३२॥

तद्वदेव अर्थवादरूपाणि विफलान्येव भवन्तीत्यर्थः ॥२३४॥

हे द्विजश्रेष्ठाः ॥२३५॥

जो मनुष्य, प्रत्यह गीता-शास्त्र पाठ करते हैं, वे समस्त पापों से मुक्त होकर श्रीविष्णु के परमधाम गमन करते हैं ॥२२८॥

अथ पुराणपाठादि-माहात्म्यम्

पद्मपुराण के देवदूतविकुण्डल-संवाद में वर्णित है—जो मानव शास्त्र का विचार करते हैं, जो वेदाध्ययन में नियुक्त हैं, जो पुराण संहिता पढ़ते और सुनते हैं, जो मानव स्मृतिशास्त्र की व्याख्या करते हैं, जो धर्म विषयक उपदेश देते हैं और जो वेदान्तशास्त्र में अति अनुरागी हैं, वही इस जगत् को धारण किये रहते हैं, वे सब जो उक्त शास्त्र समूह का अभ्यास करते हैं, उसी के माहात्म्य से ही पाप ध्वंस होने के कारण वे सब ब्रह्मधाम में जाते हैं । वहाँ पर बुद्धि भ्रम की सम्भावना नहीं है ॥२२९-२३१॥

पद्मपुराण के श्रीशिवोमा-संवाद में उक्त है—जो सम्पूर्ण वेदों में निष्णात हुआ है एवं समस्त शास्त्रों के मर्म को हृदयङ्गम किया है, ऐसा होने पर भी जिसके कर्णविवर में पुराण प्रविष्ट नहीं हुआ है, हे पार्वति ! उसका सम्यक् तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है । यह समझना चाहिये कि, वेदार्थ से अधिक महत्त्व पुराणार्थ का है । जो व्यक्ति पुराण को अग्राह्य करता है, उसको पशु-योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है ॥२३२-२३३॥

बृहन्नारदीयपुराण में वर्णित है—जो मनुष्य, धर्मपुराणों में अर्थवाद की कल्पना करता है, उसका आजन्म सञ्चित पुण्य निष्फल होता है । हे द्विजश्रेष्ठगण ! पुराण सर्वधर्मोपदेशक है । जो व्यक्ति उस पुराण को कल्पित एवं फलश्रुतिमात्र कहते हैं, वे सब नरकगामी होते हैं । हे द्विजोत्तमगण ! जो मनुष्य अनायास

अनायासेन यः पुण्यानीच्छतीह द्विजोत्तमाः ।
श्राव्याणि भक्त्या तेनैव पुराणानि न संशयः ॥२३६॥
पुरार्ज्जितानि पापानि नाशमायान्ति तस्य वै । पुराणश्रवणे बुद्धिस्तस्यैव भवति ध्रुवम् ॥२३७

किञ्च—

पुराणे वर्त्तमानेऽपि पापपाशेन यन्त्रितः । अनादृत्यान्यगाथासु सक्तबुद्धिः प्रवर्त्तते ॥२३८॥

अथ वस्त्रार्पणम्

स्नानमुद्रां प्रदर्श्याथ शुद्धसूक्ष्माङ्गवाससा ।
शनैः संमार्ज्ज्य गात्राणि दिव्ये वस्त्रे समर्पयेत् ॥२३९॥
मध्यदेशीय-नेपथ्याद्यनुसारेण भक्तितः । केऽप्यत्र कञ्चुकोष्णीषाद्यम्बराण्यर्पयन्ति च ॥२४०॥

तथा च मात्स्ये —

तत्तद्देशीयभूषाढ्यां तत्तन्मूर्त्तिञ्च कारयेत् ॥२४१॥

एकादशस्कन्धे (२७।३२) श्रीभगवदुक्तौ—

अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥२४२॥

भविष्ये च—

वासोभिः पूजयेद्विष्णुं यान्येवात्मप्रियाणि तु । तथान्यैश्च शुभैर्दिव्यैरर्च्चयेच्च दुकूलकैः ॥२४३॥

हे द्विजोत्तमाः ॥२३६॥

पापपाशेन यन्त्रितो वशीकृतो जनः पुराणमनादृत्य अन्यगाथासु प्राकृतगीतवदज्ञजन-श्रवणमात्रप्रियासु अपौराणिकीषु असत्कथासु आसक्तबुद्धिः सन् तास्वेव प्रवर्त्तते इत्यर्थः ॥२३८॥

शुद्धेन सुसूक्ष्मेण च अङ्गवाससा श्रीमदङ्गसंमार्ज्जनयोग्यवस्त्रेण; वस्त्रे परिधानोत्तरीयवाससी ॥२३९॥

अत्र स्नपनानन्तरवस्त्रार्पणकाले; अप्यर्थे चकारः ; कञ्चुकाद्यम्बराण्यपि आभरणान्यपि ॥२४०॥

यथोचितं यद्देशे यादृक् वेशभूषणं, तत्र तेनैवेत्यर्थः ॥२४२॥

पुण्यार्ज्जन करने का इच्छुक हैं, उनको भक्तिपूर्वक पुराणसमूह का श्रवण करना कर्त्तव्य है, इसमें संशय नहीं है। इस प्रकार आचरण करने से पूर्व जन्म सञ्चित पातकपुञ्ज विनष्ट होते हैं एवं पुराण श्रवण में उनकी मति सुनिश्चित होती है ॥२३४-२३७॥

और भी लिखा है—जिन पुरुषों की बुद्धि, पाप रूपी पाश से बँधी हुई है, वे पुराणों की विद्यमानता में भी अन्य कथा में अनुरक्त होकर उसमें प्रवृत्त होते हैं ॥२३८॥

अथ वस्त्रार्पणम्

स्नान-मुद्रा प्रदर्शन पूर्वक विशुद्ध सूक्ष्म वस्त्र (गात्रमार्जनी) द्वारा शनैः शनैः, देह संमार्जन कर अत्युत्तम परिधेय एवं उत्तरीय निवेदन करे। मध्यदेशीय वेशविन्यास की पद्धति से कतिपय उस समय में ही कञ्चुक, उष्णीष प्रभृत्ति अर्पण करते हैं ॥२३९-२४०॥

श्रीभागवतीय एकादश स्कन्ध में वर्णित है—मेरा भक्त, प्रेम पूर्वक मुझको यथोचित वसन-भूषणों से अलङ्कृत करें। अर्थात् निज-निज देशोचित वेषादि से विभूषित करें ॥२४१॥

भविष्यपुराण में लिखित है—निज प्रिय आवरणीय वस्त्र, अन्यान्य पवित्र दिव्य वसन एवं पट्ट वस्त्र द्वारा श्रीविष्णु की पूजा करनी चाहिये। नानाविध वर्णविशिष्ट, बहुदिन स्थायी, केशशून्य, नूतन दिव्य वस्त्र

बहु-विलासः

वासांसि च विचित्राणि सारवन्ति शुचीनि च ।
धूपितानि हरेर्दद्यात् विकेशानि नवानि च ।।२४४।।

भूषयेद्बहुभिर्वस्त्रैर्विचित्रैः कञ्चुकादिभिः । भोगानन्तरमेवेति बहूनां सम्मतं सताम् ।।२४५।।

अथ श्रीमदङ्गमार्ज्जन-माहात्म्यम्

द्वारकामाहात्म्ये—

कृष्णं स्नानार्द्रगात्रन्तु वस्त्रेण परिमार्ज्जति ।
तस्य लक्षार्जितस्यापि भवेत् पापस्य मार्ज्जनम् ।।२४६।।

अथ वस्त्रार्पण-माहात्म्यम्

नारसिंहे—

वस्त्राभ्यामच्युतं भक्त्या परिधाप्य विचित्रितम् ।
सोमलोके वसित्वा तु विष्णुलोके महीयते ।।२४७।।

स्कान्दे श्रीशिवोमासंवादे—

वस्त्राणि सुपवित्राणि सारवन्ति मृदूनि च । रूपवन्ति हरेर्दत्त्वा सदशानि नवानि च ।।२४८।।
यावद्वस्त्रस्य तन्तूना परिमाणं भवत्यथ । तावद्वर्षसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ।।२४९।।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

राङ्कवस्य प्रदानेन सर्व्वान् कामानवाप्नुयात् । कार्पासिकं वस्त्रयुगं यः प्रदद्याज्जनार्द्दने ।।२५०

सारवन्ति चिरस्थायीनि, परमोत्तमानि वा कौशेयादीनि; विकेशानि केशरहितानि ।।२४४।।
परमतं लिखित्वा निजमतं लिखति—भूषयेदिति । बहूनां सतामिति भोजनसमये वस्त्रद्वयस्यैव स्मृति-शास्त्रेण विहितत्वात् तच्चाग्रे व्यक्तं भावि ।।२४५।।
सदशानि दशासहितानि; राङ्कवं मृगरोमजं वस्त्रं तस्य ।।२४८-२५०।।

समूह धूपित करतः प्रभु को निवेदन करें । बहु संख्यक साधु का अभिमत यह है कि—भोगावसान में कञ्चुकादि विभिन्न वसन द्वारा भूषित करना चाहिये ।।२४३-२४५।।

अथ श्रीमदङ्गमार्ज्जन माहात्म्यम्

द्वारका माहात्म्य में उक्त है—जो व्यक्ति, श्रीहरि के स्नानसिक्त श्रीअङ्ग को वसन द्वारा मार्जन करते हैं, उनके लक्ष जन्मार्जित पापों का भी मार्जन होता है ।।२४६।।

अथ वस्त्रार्पण-माहात्म्यम्

नृसिंहपुराण में वर्णित है—परिधेय एवं उत्तरीय, वस्त्रद्वय के द्वारा जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक श्रीविष्णु को विभिन्न रूप में भूषित करते हैं, वे कुछ समय पर्य्यन्त चन्द्रपुर में निवास कर पश्चात् विष्णुलोक में आनन्द अनुभव करते हैं ।।२४७।।

स्कन्दपुराण के श्रीशिव-उमा-संवाद में लिखित है—सुपवित्र, दीर्घस्थायी, कोमल, सुदृश्य, दशायुक्त नूतन वसन श्रीहरि को निवेदन करने पर, वसन तन्तु के परिमाण के अनुसार उतने सहस्र वर्ष पर्य्यन्त श्रीहरिधाम में आनन्द पूर्वक निवास करते हैं ।।२४८-२४९।।

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—मृगलोम के द्वारा निर्मित वसन प्रदान करने से सकल अभिलाष सिद्ध होता है। जो व्यक्ति श्रीजनार्दन को कार्पास वसन युगल निवेदन करते हैं, उस वसन में जितने तन्तु

यावन्ति तस्य तन्तूनि हस्तमात्रमितानि तु । तावद्वर्षसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥२५१॥

महार्घ्यता यथा तस्य साधुदेशोद्भवो यथा ।
सूक्ष्मता च यथा विप्रास्तथा प्रोक्तं फलं महत् ॥२५२॥

किञ्च तत्रैवान्यत्र—

शुक्लवस्त्रप्रदानेन श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् । महारजन-रक्तेन सौभाग्यं महदश्नुते ॥२५३॥
तथा कुङ्कुमरक्तेन स्त्रीणां वल्लभतां व्रजेत् । नीलीरक्तं विना रक्तं शेषरङ्गैर्द्विजोत्तमाः ।
दत्त्वा भवति धर्म्मात्मा सर्व्वव्याधिविवर्ज्जितः ॥२५४॥

कौशेयानि च वस्त्राणि सुमृदूनि लघूनि च । यः प्रयच्छति देवाय सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥२५५
राङ्कवा मृगलोम्याश्च कदल्याश्च तथा शुभाः । यो दद्याद्देवदेवाय सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥२५६

नानाभक्तिविचित्राणि चीरजानि नवानि च ।
दत्त्वा वासांसि शुभ्राणि राजसूयफलं लभेत् ॥२५७॥

द्वारकामाहात्म्ये च—

नानादेशसमुद्भूतैः सुवस्त्रैश्च सुकोमलैः । धूपयित्वा सुभक्त्या च प्रधापयति माधवम् ।
मन्वन्तराणि वसते तन्तुसंख्यं हरेर्गृहे ॥२५८॥

तन्तूनीति नपुंसकत्वमार्षम्, यावद्वस्त्रमितास्तन्तवो भवन्तीत्यर्थः ॥२५१॥

महारजनं कुसुम्भपुष्पं, तेन रक्तेन रञ्जितेन वाससा दत्तेनेति शेषः। नील्या रक्तं वस्त्रं विना शेषैः नीलीव्यतिरिक्तै रङ्गैः रक्तं वस्त्रं दत्त्वा, नीलीरक्तश्च पट्टवस्त्रातिरिक्तं ज्ञेयम्। नीलीपट्टे न दुष्यतीत्यादि-वचनात् ॥२५३-२५४॥

कौशेयानि कोशकारकृमिकृत-तन्तुमयानि; नानाभक्तिर्विचित्राणि भागशो विचित्रसूच्यादिशिल्प-निर्म्मितानि, चीरजानि वल्कलोद्भवानि ॥२५५-२५७॥

विद्यमान होते हैं, उतने सहस्र वर्ष वे श्रीहरिधाम में ससम्मान से निवास करते हैं। हे विप्रवृन्द ! वस्त्रमूल्य जितना अधिक होगा, जितने पवित्र देश में वस्त्र उत्पन्न होगा, एवं जितना सूक्ष्म होगा, फल भी तावत् परिमाण में अधिक होगा ॥२५०-२५२॥

विष्णुधर्म में ही अन्यत्र वर्णित है—शुभ्र वसन प्रदान करने से अत्युत्तम सम्पत्ति लाभ होती है, कुसुम्भ-पुष्प रञ्जित वसन निवेदन करने से महत् सौभाग्य लाभ होता है। एवं कुङ्कुम रञ्जित वसन निवेदन करने से स्त्रीवल्लभ होता है, अर्थात् रमणी का प्रियपात्र बनता है। हे विप्रसत्तमगण ! नील एवं लोहित के अतिरिक्त अन्य वर्ण से रञ्जित कर वसन निवेदन करने पर धार्मिक व्यक्ति निखिल व्याधि से मुक्त होते हैं। जो मानव सुकोमल लघु, कौशेय वसन श्रीहरि को निवेदन करते हैं, उनको अश्वमेध यज्ञानुष्ठान का फल लाभ होता है। जो पुरुष, राङ्कव-रङ्कुरोम निर्मित, मृगलोम निर्मित एवं कदली, मृग जाति विशेष के रोमज पवित्र वसन श्रीहरि को अर्पण करते हैं वे अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान का फल भागी होते हैं। विचित्र, सूचि प्रभृति शिल्पनिर्मित, वल्कलजात नूतन शुभ्र वसन निवेदन करने से राजसूययज्ञ का फल लाभ होता है ॥२५३-२५७॥

द्वारका माहात्म्य में लिखित है—जो मानव, विभिन्न देशोत्पन्न सुकोमल सुवसन-समूह धूप द्वारा धूपित कर सुभक्ति पूर्वक माधव को परिधान कराते हैं, प्रदेय वस्त्र समूह में जितने संख्यक तन्तु विद्यमान हैं,

अथ वस्त्रार्पणे निषिद्धम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
नीलीरक्तं तथा जीर्णं वस्त्रमन्यधृतं तथा। देवदेवाय यो दद्यात् स तु पापैर्हि युज्यते ॥२५९॥

अत्रापवादः

तत्रैव—
आविके पट्टवस्त्रे च नीलीरागो न दुष्यति ॥२६०॥

अथ यज्ञोपवीतम्

वस्त्रस्यार्पणमुद्राञ्च प्रदर्श्य परिधाप्य तत्। उपवीतं समर्प्याथ तन्मुद्राञ्च प्रदर्शयेत् ॥२६१॥

अथोपवीतार्पणमाहात्म्यम्

त्रिवृत् शुक्लञ्च पीतञ्च पट्टसूत्रादिनिर्मितम्। यज्ञोपवीतं गोविन्दे दत्त्वा वेदान्तगो भवेत् ॥२६२

नन्दिपुराणे—
यज्ञोपवीतदानेन सुरेभ्यो ब्राह्मणाय वा। भवेद्विद्वांश्चतुर्व्वेदी शुद्धधीर्नात्र संशयः ॥२६३॥

अथ पाद्यतिलकाचमनानि

अथ पाद्यं निवेद्यादावूर्द्ध्वपुण्ड्रं मनोहरम्। निर्म्माय भाले कृष्णस्य दद्यादाचमनं ततः ॥२६४

तद्वस्त्रं परिधाप्य तस्मिन् उपवीतार्पणे या मुद्रा ताम् ॥२६१॥

त्रिवृत् नवगुणमित्यर्थः, वार्थे चकारौ, आदिशब्देन कार्पासादि, तथा च छन्दोगपरिशिष्टे—'कार्पास-क्षौमगोबाल-तृणवल्क-तृणादिकम्। सदा सम्भवतो धार्य्यमुपवीतं द्विजातिभिः ॥' इति। वेदान्तगः वेदपारङ्गतो वेदान्तार्थाभिज्ञो वा ॥२६२॥

अथ यज्ञोपवीतार्पणानन्तरम्, अत्र पाद्यनिवेदनं स्नानानन्तरमवश्यं पादप्रक्षालनस्य तिलकाचमनयोरप्य-

---

उतने मन्वन्तर काल पर्य्यन्त श्रीहरिलोक में वे निवास करते हैं ॥२५८॥

अथ वस्त्रार्पणे निषिद्धम्

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—जो मानव नीलवर्ण रञ्जित, जीर्ण एवं दूसरे का परिहित वस्त्र देवदेव हरि को अर्पण करते हैं—वे सब प्रकार पापों से लिप्त होते हैं ॥२५९॥

अत्रापवादः

इस विषय में विशेष व्यवस्था उक्त विष्णुधर्मोत्तर में ही है, मेषलोम निर्मित वस्त्र अथवा पट्टवस्त्र नील वर्ण का होने से दूषित नहीं है ॥२६०॥

अथ यज्ञोपवीतम्

वस्त्रार्पण मुद्रा प्रदर्शन पूर्वक वस्त्र परिधान कराकर पश्चात् उपवीत प्रदानकर यज्ञोपवीत प्रदान की मुद्रा प्रदर्शन विधेय है ॥२६१॥

अथोपवीतार्पणमाहात्म्यम्

नव गुणित, शुभ्र अथवा पीत, पट्टसूत्र निर्मित यज्ञोपवीत गोविन्द को अर्पण करने से वेदान्त शास्त्र का पारगामी हो सकता है। नन्दिपुराण में वर्णित है—देवगण को अथवा ब्राह्मणगण को यज्ञोपवीत प्रदान करने से मनुष्य, विद्वान्, चतुर्वेदी एवं पवित्र मति हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥२६२-२६३।

अथ पाद्यतिलकाचमनानि

अनन्तर पाद्य निवेदन पूर्वक मनोहर ऊर्द्ध्वपुण्ड्र तिलक, श्रीकृष्ण के ललाट में अङ्कित कर आचमन प्रदान करे ॥२६४॥

अथ भूषणम्

ततो देवाय दिव्यानि भूषणानि निवेद्य च । परिधाप्य यथायुक्तं तन्मुद्राञ्च प्रदर्शयेत् ॥२६५

अथ भूषणार्पण-माहात्म्यम्

स्कान्दे शिवोमा-संवादे—

मणिमौक्तिकसंयुक्तं दत्त्वाभरणमुत्तमम् । स्वशक्त्या भूषणं दत्त्वा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥२६६

किञ्च—

गुञ्जामात्रं सुवर्णस्य यो दद्याद्विष्णुमूर्द्धनि । इन्द्रस्य भवने तिष्ठेद्यावदाहूतसंप्लवम् ॥२६७॥

तस्मादाभरणं देवि दातव्यं विष्णवे सदा ।

नारायणो भवेत् प्रीतो भक्त्या परमया शुभे ॥२६८॥

नन्दिपुराणे—

अलङ्कारन्तु यो दद्याद्विप्रायाथ सुराय वा । स गच्छेद्वारुणं लोकं नानाभरणभूषितः ।

जातः पृथिव्यां कालेन भवेद्द्वीपपतिर्नृपः ॥२६९॥

पेक्ष्यत्वात्; अतस्त्रयमिदमत्रैकत्रैव लिखितम् । मनोहरमिति—श्यामसुन्दरे श्रीललाटे संघृष्ट-सकुङ्कुम-चन्दनेन मध्यच्छिद्रतया विरचनात् ॥२६४॥

यथायुक्तमिति—यस्मिन्नङ्गे यथा यत् परिधापयितुमुपयुज्यते, तत्र तथा तत् परिधाप्येत्यर्थः ॥२६५॥

स्वशक्त्या निजसामर्थ्येन भूषणमन्यदपि दत्त्वा; यद्वा, निजशक्त्यनुसारेण मण्याद्याभरण-व्यतिरिक्तमपि भूषणं दत्त्वा ॥२६६॥

आभरणदानात्मिकया परमभक्त्या प्रीतो भवेदिति मुख्यं फलम् । अन्यत्तु सर्व्वं सकामस्य नान्तरीयकं ज्ञेयम्; एवमन्यत्राप्यूह्यम् । 'अनन्तो भगवान् विष्णुस्तस्य कामविवर्जितः । यदेव दीयते किञ्चित्तदेवाक्षयमुच्यते ॥' इत्यादिवचनात् तच्चाग्रे लेख्यमेव ॥२६७-२६८॥

अथ भूषणम्

तत्पश्चात् श्रीविष्णु को दिव्य अलङ्कार समूह निवेदन करके एवं यथायोग्य स्थानों में परिधान कराकर अलङ्कार धारण की मुद्रा दिखाना चाहिये ॥२६५॥

अथ भूषणार्पण-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के शिव-उमा-संवाद में उक्त है—मणिमाणिक्य युक्त उत्कृष्ट आभरण अथवा, स्वशक्त्यनुसार अन्यरूप भूषण निवेदन करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ होता है ॥२६६।

और भी वर्णित है—जो मानव, एक गुञ्जामात्र 'रत्तीमात्र' सुवर्ण श्रीविष्णु के शिरोभाग में अर्पण करते हैं, वे महाप्रलय पर्य्यन्त इन्द्रपुर में वास करते हैं। सुतरां हे देवि ! सर्वदा श्रीविष्णु अलङ्कार अर्पण करना चाहिये। हे शुभे ! भूषण दान रूप परम भक्ति से श्रीनारायण सन्तुष्ट होते हैं ॥२६७-२६८॥

नन्दिपुराण में लिखित है—जो मानव, ब्राह्मण, अथवा देवता को अलङ्कार दान करते, वे विविध आभूषणों से भूषित होकर वरुणलोक में प्रस्थान करते हैं और समय पर पृथिवी में आगमन कर चक्रवर्ती राजा होते हैं ॥२६९॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

कर्णाभरणदानेन भवेच्छ्रुतिधरो नरः । अश्वमेधमवाप्नोति सौभाग्यञ्चापि विन्दति ॥२७०॥

कर्णपूरप्रदानेन श्रुतिं सर्व्वत्र विन्दति ॥२७१॥

मूर्द्धाभरणदानेन मूर्द्धन्यो भूतले भवेत् । चतुःसमुद्रवलयां प्रशास्ति च वसुन्धराम् ॥२७२॥

तत्रैव तृतीयकाण्डे—

विभूषणप्रदानेन मूर्द्धन्यो भूतले भवेत् । रम्याणि रत्नचित्राणि सौवर्णानि द्विजोत्तमाः ॥२७३

दत्त्वाभरणजातानि राजसूयफलं लभेत् । पादाङ्गुलीयदानेन गुह्यकाधिपतिर्भवेत् ॥२७४॥

पादाभरणदानेन स्थानं सर्व्वत्र विन्दति ॥२७५॥

श्रोणीसूत्रप्रदानेन महीं सागरमेखलाम् । प्रशास्ति निहतामित्रो नात्र कार्य्या विचारणा ॥२७६

सौभाग्यं महदाप्नोति किङ्किणीं प्रददद्धरेः ।

हस्ताङ्गुलीयदानेन परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥२७७॥

तथैवाङ्गददानेन राजा भवति भूतले । केयूरदानाद्भवति शत्रुपक्षक्षयङ्करः ॥२७८॥

ग्रैवेयकाणि दत्त्वा च सर्व्वशास्त्रार्थविद्भवेत् ।

नार्य्यश्च वशगास्तस्य भवति द्विजपुङ्गवाः ॥२७९॥

दत्त्वा प्रतिसरान् मुख्यान्न भूतैरभिभूयते ॥२८०॥

कर्णाभरण-कर्णपूरयोरवान्तरभेदः ; श्रुतिं सर्व्वत्र विन्दति— दूरतोऽपि सर्व्वं श्रृणोतीत्यर्थः ॥२७०-२७१॥
पादाभरणं नूपुरम् ॥२७५॥
श्रोणीसूत्रं काञ्ची ॥२७६॥
प्रतिसरान् हस्तसूत्राणि ॥२८०॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—कर्णभूषण अर्पण करने से मनुष्य, श्रुतधर होते हैं एवं अश्वमेध-यज्ञ का फल स्वरूप सौभाग्य प्राप्त करते हैं, कर्णपूर प्रदान करने से दूर से श्रवण करने की शक्ति अर्थात् श्रुतिधर होने की शक्ति लाभ करते हैं। शिरोभूषण अर्पण करने से भूतल में सर्वश्रेष्ठ एवं चतुःसागर परिवेष्टिता पृथिवी का प्रशासक बन सकते हैं ॥२७०-२७२॥

श्रीविष्णुधर्मग्रन्थ के तृतीय काण्ड में लिखित है—श्रीहरि को उत्तम भूषण प्रदान करने से भूतल में सर्वश्रेष्ठता प्राप्त होती है, हे विप्र सत्तमगण ! मनोहर रत्नखचित सुवर्ण निर्मित अलङ्कार समूह श्रीविष्णु को अर्पण करने से राजसूय-यज्ञ का फल लाभ होता है। पादाङ्गुराय प्रदान करने से गुह्यकाधिपति होता है। पादभूषण (नूपुर) दान करने से सर्वत्र स्थान लाभ होता है। काञ्ची दान करने से निष्कण्टक ससागर पृथिवी का शासनकर्त्ता होता है। इस विषय में सन्देह नहीं है। श्रीहरि को किङ्किणी प्रदान करने से महासौभाग्य लाभ होता है। कराङ्गुलीय दान करने से परम सौभाग्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अङ्गद अर्पण करने से भूतल में राजा होता है। केयूर अर्पण करने से शत्रुपक्ष को विनष्ट करने की सामर्थ्य लाभ होता है। हे द्विजश्रेष्ठगण ! ग्रीवालङ्कार प्रदान करने से सब शास्त्रों में ज्ञान लाभ होता है एवं नारीगण तदीय वशीभूत होती हैं। करसूत्र प्रदान करने से भूतगण उसको आक्रमण नहीं कर सकते हैं ॥२७३-२८०॥

किञ्च तत्रैव—

कृत्रिमञ्च प्रदातव्यं तथैवाभरणं द्विजाः । प्रतिरूपकृतं दत्त्वा क्षिप्रं पुष्ट्या प्रयुज्यते ॥२८१॥

पाद्मे—

शङ्खचक्रगदादीनि पादाद्यवयवेषु च । सौवर्णाभरणं कृत्वा विष्णुलोके महीयते ॥२८२॥

नारसिंहे—

सुवर्णाभरणैर्दिव्यैर्हारकेयूरकुण्डलैः । मुकुटैः कटकाद्यैश्च यो विष्णुं पूजयेन्नरः ॥२८३॥

सर्व्वपापविनिर्मुक्तः सर्व्वभूषणभूषितः । इन्द्रलोके वसेद्धीमान् यावदिन्द्रश्चतुर्द्दश ॥२८४॥

गरुड़पुराणे—

यस्यार्च्चा तिष्ठते विष्णोर्हेमभूषणभूषिता । रत्नैर्मुक्ताविशेषेण अहन्यहनि वासव ॥२८५॥

कल्पकोटिसहस्राणि तस्य वै भुवने हरेः । वासो भवति देवेन्द्र कथितं ब्रह्मणा मम ॥२८६॥

यः पश्यति नरः कृष्णं हेमभूषणभूषितम् ।
सकृद्भक्त्या कलौ शक्र पुनात्यासप्तमं कुलम् ॥२८७॥ इति ।

बहुलं भूषणं भोगात् पश्चादेवानुलेपनम् । पुष्पं चेच्छन्ति सन्तोऽनुलेपनार्च्चानुभूषणम् ॥२८८॥

संप्रार्थ्याथ प्रभुं प्राग्वत् निवेद्य शुचिपादुके । वाद्यगीतातपत्राद्यैः पूजास्थानं पुनर्नयेत् ॥२८९

कृत्रिमं सुवर्णरसोपस्कृतं, ताम्रादिनिर्म्मितं तदेव प्रतिरूपकृतम् ॥२८१॥

पादाद्यवयवेषु सौवर्णाभरणञ्च कृत्वा दत्त्वेत्यर्थः । दत्त्वेत्येव वा पाठः ॥२८२॥

कटकं वलयम् ॥२८३॥

विष्णोरर्च्चा प्रतिमा यस्य गृहे तिष्ठति ॥२८५॥

एवमधुनाखिलभूषणार्पणमेव लिखितम्; तत्र शिष्टाचारापेक्षया लिखति— बहुलमिति । भगवतो भोजनानन्तरमेव भूषणं बहुलं सन्त इच्छन्ति समर्पयितुं मन्यन्ते । अतोऽधुना स्वल्पमेवार्प्यमिति भावः । तथा अनुलेपनं पुष्पञ्च तदानीमेव बहुलमिच्छन्तीति प्रसङ्गादत्र लिखितम्; अतएव ज्ञेयं श्रीभगवतः स्नानानन्तरं भोजनात् प्रथममसङ्कोचेन सुखभोजनार्थमवश्यापेक्ष्यं मकरकुण्डलमौक्तिक-हाराङ्गदाङ्गुलीयकादि-भूषणं किञ्चिन, तथा श्रीवक्षोबाहुग्रीवादितिलकमात्रोपयोगि-किञ्चिदनुलेपनं, तथा वनमालावतंसमात्रं किञ्चित् पुष्पञ्च निजरुच्यार्प्यं, भोजनान्ते च यथाशोभं तत्तत् सर्व्वमेवेति । किञ्च, तत्र चानुलेपनादनु पश्चादेव भूषणमिच्छन्ति, भूषणरहितेषु सत्सु श्रीमदङ्गेषु सर्व्वष्वेव सम्यगनुलेपनसिद्धेः ॥२८८-२८९॥

उक्त विष्णुधर्म ग्रन्थ में ही वर्णित है—हे द्विजवृन्द ! कृत्रिम अलङ्कार भी श्रीविष्णु को प्रदान कर सकता है । प्रतिकृतिरूप अपर धातु निर्मित अलङ्कार प्रदान करने से आयु पुष्टि लाभ होता है ॥२८१॥

पद्मपुराण में वर्णित है— पादादि अवयव समूह में शङ्ख, चक्र, गदा प्रभृति भूषण अर्पण करने से विष्णुलोक में सानन्द से निवास होता है ॥२८२॥

नृसिंहपुराण में वर्णित है—जो बुद्धिमान मनुष्य सुवर्ण निर्मित उत्कृष्ट हार, केयूर, कुण्डल, मुकुट एवं वलयादि भूषण के द्वारा श्रीविष्णु की पूजा करते हैं, वे सकल पापों से मुक्त होकर समस्त आभूषणों से भूषित होकर चतुर्दश इन्द्र के अधिकार काल पर्य्यन्त इन्द्रलोक में निवास करते हैं ॥२८३-२८४॥

गरुड़पुराण में वर्णित है—हे देवराज ! जो व्यक्ति, रत्न एवं मुक्ताविशेष खचित स्वर्णालङ्कार के द्वारा प्रत्यह श्रीविष्णु की पूजा करते हैं, ब्रह्मा मुझको कहे हैं, वे कल्पकोटिकाल श्रीहरिलोक में निवास करते हैं ।

पञ्च-विलासः
प्राग्वद्दत्वासनादीनि गन्धं तन्मुद्रयार्पयेत् । शङ्खे निधाय तुलसीदलेनैवाथ चन्दनम् ॥२९०॥

अथ गन्धः

आगमे—

चन्दनागुरुकर्पूरपङ्कं गन्धमिहोच्यते ॥२९१॥

गारुड़े—

कस्तूरिकाया द्वौ भागौ चत्वारश्चन्दनस्य तु ।
कुङ्कुमस्य त्रयश्चैकः शशिनः स्याच्चतुःसमम् ॥२९२॥

कर्पूरं चन्दनं दर्पः कुङ्कुमञ्च चतुःसमम् । सर्व्वं गन्धमिति प्रोक्तं समस्तसुरवल्लभम् ॥२९३

वाराहे—

कर्पूरं कुङ्कुमश्चैव वरं तगरमेव च । रस्यञ्च चन्दनं चैव अगुरुं गुग्गुलं तथा ।
एतैर्विलेपनं दद्यात् शुभं चारु विचक्षणः ॥२९४॥

विष्णुधर्मोत्तराग्निपुराणयोः—

सुगन्धैश्च मुरामांसी-कर्पूरागुरुचन्दनैः । तथान्यैश्च शुभैर्द्रव्यैरर्च्चयेज्जगतीपतिम् ॥२९५॥

अथानन्तरं चन्दनं चार्पयेत, तच्च शङ्खे निधायैव तुलसीदलेनैव च । विलेपयन्ति देवेशं शङ्खे कृत्वा तु चन्दनम् ॥' इति । 'तुलसीदललग्नेन चन्दनेन जनार्द्दनम्', इत्यादि-वचनेन फलविशेषोक्तेः; तच्चाग्रे लेख्यमेव ॥२९०॥

गन्धमिति नपुंसकत्वमार्षम् ॥२९१॥

शशिनः कर्पूरस्यैको भागः, दर्पो मृगमदः ॥२९२-२९३॥

शुभं सुखकरं, चारु सुन्दरं; पाठान्तरं स्पष्टम् ॥२९४॥

हे देवेन्द्र ! जो मनुष्य, कलि में सुवर्णालङ्कार भूषित श्रीहरि को भक्तिपूर्वक सकृत् अवलोकन करते हैं, वे सप्तकुल को पवित्र करते हैं । साधुगण, भोग प्रदान के पश्चात् विविध आभरण एवं बहु परिमाण अनुलेपन एवं पुष्प अर्पण करने की व्यवस्था प्रदान करते हैं । तथा अनुलेपन के पश्चात् अलङ्कृत करने का अभिप्राय प्रकाश करते हैं, अतः पर पूर्व के समान श्रीप्रभु के निकट से अनुमति प्रार्थना पूर्वक पवित्र पादुका द्वय निवेदन कर वाद्य, गीत एवं छत्रादि के सहित पुनर्वार पूजास्थान में श्रीप्रभु को आनयन करे एवं पूर्व रीति से ही आसनादि प्रदान पूर्वक गन्ध, तुलसी पत्र द्वारा शङ्खस्थित चन्दन, गन्ध मुद्रा द्वारा समर्पण करे ॥२८५-२९०॥

अथ गन्धः

आगम में उक्त है—चन्दन, अगुरु एवं कर्पूर पङ्क को यहाँ पर गन्ध शब्द से कहते हैं ॥२९१॥

गरुड़पुराण में वर्णित है—कस्तूरी के दो भाग, चार भाग चन्दन, कुङ्कुम के तीन भाग, एक भाग कर्पूर, इस प्रकार भाग क्रम से इन चार द्रव्यों को एकत्र करने पर ही उसको चतुःसम कहा जाता है। वह समस्त गन्ध सब देवताओं का प्रिय कहा जाता है ॥२९२-२९३॥

वराहपुराण में उक्त है—कर्पूर, कुङ्कुम, उत्तम तगर पुष्प, स्नेहयुक्त चन्दन, अगुरु, गुग्गुल, बुद्धिमान् पुरुष इन सब वस्तुओं का मनोरम शुभ विलेपन श्रीहरि को अर्पण करें ॥२९४॥

विष्णुधर्मोत्तर एवं अग्निपुराण में उक्त है—मुरामांसी, कर्पूर, अगुरु, चन्दन एवं अन्यान्य शुभ सुगन्धि द्रव्य द्वारा जगत्पति श्रीविष्णु की अर्च्चना करे ॥२९५॥

वशिष्ठसंहितायाम्—

कर्पूरागुरुमिश्रेण चन्दनेनानुलेपयेत् । मृगदर्पं विशेषेण अभीष्टं चक्रपाणिनः ।।२९६।।

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

गन्धेभ्यश्चन्दनं पुण्यं चन्दनादगुरुर्वरः । कृष्णागुरुस्ततः श्रेष्ठः कुङ्कुमन्तु ततोऽधिकम् ।।२९७।।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

न दातव्यं द्विजश्रेष्ठा अतोऽन्यदनुलेपनम् । अनुलेपनमुख्यन्तु चन्दनं परिकीर्त्तितम् ।।२९८।।

नारदीये—

यथा विष्णोः सदाभीष्टं नैवेद्यं शालिसम्भवम् ।
शुकेनोक्तं पुराणे च तथा तुलसि-चन्दनम् ।।२९९।।

अगस्त्यसंहितायाञ्च—

संघृष्य तुलसीकाष्ठं यो दद्याद्रामसूर्द्धनि । कर्पूरागुरुकस्तूरीकुङ्कुमं न च तत्समम् ।।३००।।

अथानुलेपनमाहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारदसंवादे शङ्खमाहात्म्ये—

विलेपयन्ति देवेशं शङ्खे कृत्वा तु चन्दनम् ।
परमात्मा परां प्रीतिं करोति शतवार्षिकीम् ।।३०१।।

गारुड़े—

तुलसीदललग्नेन चन्दनेन जनार्द्दनम् । विलेपयति यो नित्यं लभते वाञ्छितं फलम् ।।३०२।।

वाञ्छितं चिन्तितम्; अकारप्रश्लेषेण चिन्तितातीतमपीति वा ।।३०२।।

वशिष्ठ संहिता में लिखित है—कर्पूर एवं अगुरु मिश्रित चन्दन के द्वारा अनुलेपन करना चाहिये। मृगमद, चक्रपाणि श्रीहरि को अतीव प्रीतिदायक है ।।२९६।।

स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में कथित है—यावतीय गन्ध से चन्दन पवित्र है, चन्दन से अगुरु श्रेष्ठ है, कृष्ण अगुरु उससे भी श्रेष्ठ है, किन्तु कुङ्कुम सर्वश्रेष्ठ है ।।२९७।।

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—हे द्विजश्रेष्ठगण! इनके अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का अनुलेपन प्रदान न करें, विशेषतः कथित है—चन्दन, अनुलेपन वस्तु के मध्य में श्रेष्ठ है ।।२९८।।

नारदपुराण में उक्त है—श्रीशुक प्रोक्तपुराण में वर्णित है—जिस प्रकार शालि तण्डुल का नैवेद्य श्रीविष्णु का सतत प्रिय है, तुलसी चन्दन भी उस प्रकार प्रिय है ।।२९९।।

अगस्त्य संहिता में उक्त है—तुलसीकाष्ठ को संघर्षण कर यदि श्रीरामचन्द्र के मस्तक में प्रदान किया जाय, तो कर्पूर कस्तूरी, एवं कुङ्कुम कस्तुरी, भी उसके समान नहीं होते ।।३००।।

अथानुलेपनमाहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवादस्थ शङ्ख माहात्म्य में लिखित है—शङ्ख में चन्दन स्थापन कर देवदेव श्रीहरि के अङ्ग में विलेपन करनेपर परमात्मा एक शत वर्ष पर्यन्त परम सन्तोष अनुभव करते हैं ।।३०१।।

गरुड़पुराण में उक्त है—जो व्यक्ति, नित्य तुलसीदल संलग्न चन्दन भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णमूर्ति में विलेपन करते हैं, वे वाञ्छित फल लाभ करते हैं ।।३०२।।

नारसिंहे—

कुङ्कुमागुरुश्रीखण्डकर्द्दमैरच्युताकृतिम् । विलिप्य भवत्या राजेन्द्र कल्पकोटिं वसेद्दिवि ॥३०३

विष्णुधर्म्मोत्तराग्निपुराणयोः—

चन्दनागुरुकर्पूर-कुङ्कुमोशीरपद्मकैः । अनुलिप्तो हरिर्भक्त्या वरान् भोगान् प्रयच्छति ॥३०४

कालेयकन्तुरुष्कञ्च रक्तचन्दनमुत्तमम् ॥३०५॥

नृणां भवन्ति दत्तानि पुण्यानि पुरुषोत्तमे ॥३०६॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

चन्दनेनानुलेप्यैनं चन्द्रलोकमवाप्नुयात् । शारीरैर्मानसैर्दुःखैस्तथैव च विमुच्यते ॥३०७॥

कुङ्कुमेनानुलिप्यैनं सूर्य्यलोके महीयते । सौभाग्यमुत्तमं लोके तथा प्राप्नोति मानवः ॥३०८

कर्पूरेणानुलिप्यैनं वारुणं लोकमाप्नुयात् । शारीरैर्मानसैर्दुःखैस्तथैव च विमुच्यते ॥३०९॥

दत्त्वा मृगमदं मुख्यं यशसा च विराजते । दत्त्वा जातफलक्षोदं क्रियासाफल्यमश्नुते ॥३१०॥

रम्येणागुरुसारेण अनुलिप्य जनार्द्दनम् । सौभाग्यमतुलं लोके बलं प्राप्नोति चोत्तमम् ॥३११

तथा वकुलनिर्यासैरग्निष्टोमफलं लभेत् । वकुलागुरुमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना ।

समालिप्य जगन्नाथं पुण्डरीकफलं लभेत् ॥३१२॥

कालेयकं कालागुरुः, तुरुष्कं शिह्लकम् ॥३०५॥

पुरुषोत्तमे दत्तानि सन्ति नृणां पुण्यरूपाणि भवन्ति ॥३०६॥

एनं श्रीकृष्णम् ॥३०७॥

पुण्डरीकं यज्ञविशेषः ॥३१२॥

नृसिंहपुराण में वर्णित है— हे राजेन्द्र ! कुङ्कुम, अगुरु एवं चन्दन द्वारा भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णमूर्त्ति विलेपन करने से कोटि कल्प काल पर्य्यन्त स्वर्ग में निवास होता है ॥३०३॥

विष्णुधर्मोत्तर एवं अग्निपुराण में लिखित है— चन्दन, अगुरु, कर्पूर, कुङ्कुम, वेणामूल एवं पद्म के द्वारा भक्तिपूर्वक श्रीहरि को अनुलेपन प्रदान करने पर प्रभु श्रीहरि अनेक प्रकार उत्तम भोग प्रदान करते हैं ॥३०४॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को कृष्णागुरु, शिह्लक एवं श्रेष्ठ रक्तचन्दन अर्पण करने से मनुष्यों का पुण्य लाभ होता है ॥३०५-३०६॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है— श्रीहरि को चन्दन के द्वारा अनुलिप्त करने पर मानव चन्द्रलोक प्राप्त करते हैं एवं दैहिक, मानसिक दुःख से परित्राण प्राप्त करते हैं, श्रीहरि को कुङ्कुम द्वारा अनुलिप्त करने से सूर्य्यलोक का सुखानुभव एवं उत्तम सौभाग्य लाभ होता है। उनको कर्पूर द्वारा अनुलिप्त करने से वरुण-लोक प्राप्त होता है एवं शारीरिक मानसिक क्लेश से मुक्त होता है। श्रेष्ठ मृगमद निवेदन करने से यशस्वी होकर विराजित होता है। जातीफल का चूर्ण अर्पण करने पर क्रिया में साफल्य लाभ होता है। मनोहर अगुरु सार से जनार्दन को अनुलिप्त करने पर इस संसार में अतुल सौभाग्यवान् एवं श्रेष्ठ बलशाली होता है ॥३०७-३११॥

श्रीहरि के अङ्ग में बकुल का निर्य्यास लेपन करने से अग्निष्टोमयज्ञ का फल लाभ होता है। जगत्पति श्रीहरि के अङ्ग में बकुल एवं अगुरु मिश्रित सुगन्धि चन्दन विलेपन करने पर पुण्डरीक यज्ञ का फल

एकीकृत्य तु सर्व्वाणि समालिप्य जनार्द्दनम् ।
अश्वमेधस्य मुख्यस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम् ।।३१३।।
योऽनुलिम्पेत देवेशं कीर्त्तितैरनुलेपनैः । पार्थिवाद्यानि यावन्ति परमाणूनि तत्र वै ।।३१४।।
तावदव्दानि लोकेषु कामचारी भवत्यसौ । केशसौगन्ध्य-जननं कृत्वा मृगमदं नरः ।।३१५।।
सर्व्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ।।३१६।।
यः प्रयच्छति गन्धानि गन्धयुक्तीकृतानि च ।
गन्धर्व्वत्वं ध्रुवं तस्य सौभाग्यञ्च तथोत्तमम् ।।३१७।।

अथ श्रीतुलसीकाष्ठ-चन्दनमाहात्म्यम्

गारुड़े श्रीनारद-धुन्धुमारनृप-संवादे—

यो ददाति हरेर्नित्यं तुलसीकाष्ठचन्दनम् । युगानि वसते स्वर्गे ह्यनन्तानि नरोत्तमः ।।३१८।।
महाविष्णौ कलौ भक्त्या दत्त्वा तुलसिचन्दनम् ।
योऽर्च्चयेन्मालतीपुष्पैर्न भूयस्तनपो भवेत् ।।३१९।।
तुलसीकाष्ठसम्भूतं चन्दनं यच्छतो हरेः । निर्द्दहेत् पातकं सर्व्वं पूर्व्वजन्मशतैः कृतम् ।।३२०।।
सर्व्वेषामपि देवानां तुलसीकाष्ठचन्दनम् । पितॄणाञ्च विशेषेण सदाऽभीष्टं हरेर्यथा ।।३२१।।

तत्रानुलेपनेषु पार्थिवाश्चन्दनादिसम्बन्धिनः, आद्य-शब्देन जलादिसम्बन्धिनश्च, नपुंसकत्वमार्षम्; लोकेषु चतुर्द्दशभुवनेषु ।।३१४-३१५।।

गन्धयुक्तीकृतानि सुगन्धिद्रव्ययोगेन शोधितानि ।।३१७।।

तुलसिचन्दनं तुलसीकाष्ठचन्दनम्; ह्रस्वत्वमार्षम्; स्तनपः संसारीत्यर्थः ।।३१८-३१९।।

यच्छतो जनस्य पातकं कर्म्मभूतं चन्दनमेव कर्त्तृ निःशेषेण दहेत ।।३२०।।

भागी होता है। उक्त समुदाय को एकत्र कर जनार्दन के श्रीअङ्ग में लेपन करने से मुख्य अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है, इसमें सन्देह नहीं है। जो सब अनुलेपन द्रव्य कथित हैं, जो व्यक्ति उन सबों के द्वारा देवेश्वर के अङ्ग लेपन करते हैं वे पृथिव्यादि लोकसमूह में जितने परमाणु हैं, उतने ही वर्ष स्वेच्छा से चतुर्दश भुवन में विचरण करते हैं। मृगमद के द्वारा श्रीमूर्त्ति के केशपाश को सुरभित करने से निखिल काम समृद्ध यज्ञ फल लाभ होता है, जो व्यक्ति गन्धपूर्ण वस्तु समूह के द्वारा शोधनकर उल्लिखित द्रव्य-समूह निवेदन करते हैं, उनका निश्चय ही गन्धर्वत्व एवं उत्कृष्ट सौभाग्य लाभ होता है ।।३१२-३१७।।

अथ श्रीतुलसीकाष्ठ-चन्दनमाहात्म्यम्

गरुड़पुराणस्थ श्रीनारद-धुन्धुमार-संवाद में कथित है—हे नरोत्तम ! प्रत्यह श्रीजनार्दन को तुलसीकाष्ठ का चन्दन अर्पण करने पर अनन्त युग स्वर्गलोक में निवास होता है। कलियुग में जो व्यक्ति, महाविष्णु को तुलसीकाष्ठ का चन्दन निवेदन कर मालती पुष्प के द्वारा पूजन करते हैं, उनको पुनर्वार संसार क्लेश प्राप्त करना नहीं पड़ता है। श्रीहरि को तुलसी काष्ठोत्पन्न चन्दन अर्पण करने से उक्त चन्दन, पूजक का पूर्व शत जन्म कृत सकल पाप समूलतः दग्ध करता है। तुलसी काष्ठ चन्दन जिस प्रकार श्रीहरि का प्रिय है, उस प्रकार, समस्त देवताओं का भी प्रिय है। विशेषतः पितृगण का वह विशेष रूप से सतत वाञ्छित है। मृत्युकाल उपस्थित होने पर जिनके शरीर में तुलसीचन्दन लिप्त रहता है, वे श्रीहरि का सारूप्य लाभ कर

मृत्युकाले तु संप्राप्ते तुलसीतरुचन्दनम् । भवते यस्य देहे तु हरिर्भूत्वा हरिं व्रजेत् ॥३२२॥
तावन्मलयजं विष्णोर्भाति कृष्णागुरुर्नृप । यावन्न दृश्यते पुण्यं तुलसीकाष्ठचन्दनम् ॥३२३॥
तावत् कस्तूरिकामोदः कर्पूरस्य सुगन्धिता । यावन्न दीयते विष्णोस्तुलसीकाष्ठचन्दनम् ॥३२४

कलौ यच्छन्ति ये विष्णौ तुलसीकाष्ठचन्दनम् ।
धुन्धुमार न वै मर्त्याः पुनरायान्ति ते भुवि ॥३२५॥
यो हि भागवतो भूत्वा कलौ तुलसि-चन्दनम् ।
नार्पयति सदा विष्णोर्न स भागवतो नरः ॥३२६॥

प्रह्लादसंहितायाम्—
न तेन सदृशो लोके वैष्णवो विद्यते भुवि । यः प्रयच्छति कृष्णाय तुलसीकाष्ठचन्दनम् ॥३२७
तुलसीदारुजातेन चन्दनेन कलौ नरः । विलिप्य भक्तितो विष्णुं रमते सन्निधौ हरेः ॥३२८॥
तुलसीकाष्ठजातेन चन्दनेन विलेपनम् । यः कुर्य्याद्विष्णुतोषाय कपिलागो-फल लभेत् ॥३२९॥
तुलसीकाष्ठसम्भूतं चन्दनं यस्तु सेवते । मृत्युकाले विशेषेण कृतपापोऽपि मुच्यते ॥३३०॥

अस्तु तावद्भगवदर्पणमाहात्म्यम्, अन्त्यदशायां तत्स्पर्शेनापि कृतार्थता स्यात्, इत्याह—मृत्युकाले त्विति। भवते भवति तिष्ठतीत्यर्थः। हरिर्भूत्वा सारूप्यप्राप्त्या हरिरिव भूत्वा इत्यर्थः ॥३२२॥

अत्र हेतुत्वेन तस्य श्रीभगवत्प्रियतामाह— तावदिति द्वाभ्याम्। भाति शोभते रोचते वा ॥३२३॥

विशेषतः कलिकाले तदर्पणमाहात्म्यमाह- कलाविति। भुवि न पुनरायान्ति, मुक्ता भवन्ति, किंवा श्रीवैकुण्ठलोक एव वसन्तीत्यर्थः। पूर्व्वं मालती-सहितस्य फलमुक्तम्, अधुना केवलस्यैवेति भेदः ॥३२५॥

अतो वैष्णवैः कलाववश्यमेव तदर्प्यमित्याह- यो हीति ॥३२६॥

लोक इति सप्तम्यन्तपाठे भुवि लोके भूर्लोक इत्यर्थः; यद्वा, भुवि पृथिव्यां चतुर्द्दशसंख्येलोकेऽपि नास्तीत्यर्थः ॥३२७॥

विष्णोस्तोषार्थं तस्य स्वस्यापि वा विलेपनं यः कुर्य्यात्, स कपिलागोशतदानफलं लभते ॥३२९॥

विशेषेण मृत्युकाले यः सेवते; विशेषेणेति—तदानीं पापान्तरासम्भवादिना सद्योमुक्तिसिद्धिः। यद्वा, मृत्युकालेऽपि सेवते, विशेषेणेत्यस्य परेणान्वयः ॥३३०॥

श्रीहरि को प्राप्त करते हैं। हे राजन्! यावत् काल पर्य्यन्त पवित्र तुलसीकाष्ठ चन्दन प्राप्त नहीं होता है, तब तक ही चन्दन एवं कृष्णागुरु श्रीविष्णु के अङ्ग में शोभित होता है। हे धुन्धुमार! कलिकाल में जो व्यक्ति श्रीहरि को तुलसीकाष्ठ चन्दन अर्पण करते हैं, उनका पुनर्वार भूमण्डल में आगमन नहीं होता है। जो मानव, कलियुग में भगवद्भक्त होकर सर्वदा श्रीविष्णु को तुलसीकाष्ठ चन्दन अर्पण नहीं करते हैं, वे सब मानव भगवद्भक्त नहीं हो सकते हैं ॥३१८-३२६॥

प्रह्लाद संहिता में उक्त है—जो व्यक्ति, तुलसीकाष्ठ चन्दन श्रीकृष्ण को प्रदान करते हैं, भूमण्डल में वैष्णव नहीं है। कलिकाल में मानव, तुलसीकाष्ठ का चन्दन के द्वारा भक्तिपूर्वक श्रीविष्णु के अङ्ग विलेपन कर विष्णु सन्निधान में आनन्दानुभव करते हैं। वे सब कपिलाधेनु दान का फल भी प्राप्त करते हैं। विशेषतः मृत्युकाल में जो व्यक्ति तुलसीकाष्ठ सम्भूत चन्दन सेवन करते हैं, पापी होने पर भी उनकी मुक्ति

यो ददाति पितृणान्तु तुलसीकाष्ठचन्दनम् ।
तेषां स कुरुते तृप्तिं श्राद्धे वै शतवार्षिकीम् ॥३३१॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे च—

तुलसीचन्दनाक्ताङ्गः कुरुते कृष्णपूजनम् । पूजनेन दिनैकेन लभते शतवार्षिकीम् ॥३३२॥
विलेपनार्थं कृष्णस्य तुलसीकाष्ठचन्दनम् । मन्दिरे वसते यस्य तस्य पुण्यफलं शृणु ॥३३३॥
तिलप्रस्थाष्टकं दत्त्वा यत् पुण्यं चोत्तरायणे ।
तत्तुल्यं जायते पुण्यं प्रसादाच्चक्रपाणिनः ॥३३४॥ इति ।
देयं मलयजाभावे शीतलत्वात् कदम्बजम् ।
यथा किञ्चित् सुगन्धित्वाच्चन्दनं देवदारुजम् ॥३३५॥

गारुड़े—

हरेर्मलयजं श्रेष्ठमभावे देवदारुजम् ॥३३६॥

अथानुलेपे निषिद्धानि

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

दारिद्र्यं पद्मकं कुर्य्यादस्वास्थ्यं रक्तचन्दनम् ।
उशीरं चित्तविभ्रंशमन्ये कुर्य्युरुपद्रवम् ॥३३७॥ इति ।

किञ्च, य इति—श्राद्धे यो ददाति ॥३३१॥

कदम्बजं चन्दनम् ॥३३५॥

अन्ये देवदार्वादयः उग्रगन्धयः विहितेभ्योऽपरे वा ॥३३७॥

होती है । जो व्यक्ति, श्राद्धकाल में पितृगण के उद्देश्य में तुलसीकाष्ठ चन्दन अर्पण करते हैं, तदीय पितृकुल शतवर्ष यावत् तृप्ति लाभ करते हैं ॥३२७-३३१॥

विष्णुधर्म्मोत्तर में वर्णित है—तुलसीकाष्ठोत्पन्न चन्दन से लिप्ताङ्ग होकर श्रीकृष्ण की पूजा करने से एक दिन की पूजा से ही शत वर्ष कृत पूजा का फल लाभ होता है । श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग विलेपनार्थ जिनके आलय में तुलसी काष्ठ चन्दन सञ्चित है, तदीय पुण्यफल सुनो । उत्तरायण संक्रान्ति में अष्टप्रस्थ परिमित तिल दान करने से जो पुण्य होता है, चक्रपाणि श्रीकृष्ण की अनुकम्पा से तादृश पुण्य लाभ होता है ॥३३२-३३४॥

मलयज चन्दन प्राप्त न होने पर शीतलतानिबन्धन कदम्बकाष्ठ जनित चन्दन का प्रयोग करे । यत्किञ्चित् सुगन्ध विद्यमान होने के कारण देवदारुचन्दन भी चन्दन नाम से अभिहित होता है ॥३३५॥

गरुड़पुराण में उक्त है—श्रीहरि की पूजा में मलयज चन्दन ही श्रेष्ठ है, उसके अभाव से देवदारु चन्दन ग्राह्य है ॥३३६॥

अथानुलेपे निषिद्धानि

विष्णुधर्म्मोत्तर में वर्णित है—पद्मकाष्ठ दारिद्र्य जनक है । रक्तचन्दन स्वास्थ्य हानिकर है, उशीर, चित्तविभ्रान्तकर है एवं अन्यान्य देवदारु प्रभृति उग्रगन्ध विशिष्ट चन्दन उपद्रवकारक हैं ॥३३७॥

पद्मकादि न दातव्यमैहिकं हीच्छता सुखम् ।
मुख्यालाभे तु तत् सर्व्वं दातव्यं भगवत्परैः ॥३३८॥

ततो भगवतः कुर्य्यादनुलेपादनन्तरम् । विद्वान् विचित्रैर्व्यजनैश्चामरैरपि वीजनम् ॥३३९॥

बीजन-माहात्म्यञ्च

विष्णुधर्मोत्तरे—

अनुलिप्य जगन्नाथं तालवृन्तेन बीजयेत् । वायुलोकमवाप्नोति पुरुषस्तेन कर्म्मणा ॥३४०॥
चामरैर्वीजयेद्यस्तु देवदेवं जनार्द्दनम् । तिलप्रस्थप्रदानस्य फलमाप्नोत्यसंशयम् ॥३४१॥
व्यजनेनाथ वस्त्रेण सुभक्त्या मातरिश्वना । देवदेवस्य राजेन्द्र कुरुते तापवारणम् ॥३४२॥
तत्कुले यमलोके तु शमते नारको दरः । वायुलोकान्महीपाल न च्युतिर्विद्यते पुनः ॥३४३॥
चलच्चामरवातेन कृष्णं सन्तोषयेन्नरः ॥३४४॥
तस्योत्तमाङ्गं देवेश स्तुवते स्वमुखेन वै । उष्णकाले त्विदं ज्ञेयं यत् सन्तः पौषमाघयोः ।
शीतलत्वान्मलयजमपि नैवार्पयन्ति हि ॥३४५॥

पूर्व्वं चन्दनागुरुकर्पूरकुङ्कुमोशीरपद्मकैरित्युशीरपद्मकार्पणं विहितम्, अधुना दारिद्र्य पद्मकं कुर्य्यादिति निषिद्धमित्येवं विरोधे लिखति—पद्मकेति। पद्मकादि न दातव्यमिति यत् एवार्थो हि-शब्दः, तदैहिकं सुखमिच्छतैव न दातव्यमित्यर्थः, भगवत्परैस्तु दातव्यमेव; किन्तु मुख्यानां चन्दनादीनामलाभे सति; यथा पुष्पाण्यधिकृत्योक्तं पाद्मे—'विहितप्रतिषिद्धैस्तु विहितालाभतोऽर्च्चयेत्' इति, तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। एवमधिकारिभेदादिना न विरोध इति भावः ॥३३८॥

विद्वानिति—उष्णकाले कुर्य्यात्, शीतलकाले च नैवेति भावः। तच्चाग्रे लेख्यमेव ॥३३९॥

वस्त्रेण यद्व्यजनं, तेन वस्त्रनिर्म्मितव्यजनेनेत्यर्थः। यद्वा, अथशब्दो विकल्पे, व्यजनेन तालवृन्तादिना वस्त्रेण वा व्यजनरूपेणैव यो मातरिश्वा वातस्तेन तापस्य उष्णताया वारणं यः कुर्य्यात्; तापस्तु प्रायो घर्म्मकालेऽनुलेपनस्य विशेषतोऽर्पणात्; ततश्च प्रस्वेदोद्भवात्तद्वारणं युक्तमेव। यमलोके यो नारकः, नरकसम्बन्धी दरो भयं शमते शाम्यति ॥३४२-३४३॥

उत्तमं वीजनेनोत्कृष्टतां प्राप्तम् अङ्गं हस्तं देहं वा स्तौति। इदम् अनुलेपनानन्तरं वीजनम्, यत् यस्मात् ॥३४५॥

इति षष्ठो विलासः।

ऐहिक सुखेच्छु व्यक्तिगण, पद्मादि काष्ठ अर्पण प्रभु को न करें। मुख्य वस्तु का अभाव होने पर भगवद् भक्तगण, वह सब निषिद्ध सामग्री अर्पण करें ॥३३८॥

विज्ञ व्यक्ति, अनुलेपन के अनन्तर विचित्र व्यजन एवं चामर द्वारा बीजन करें ॥३३९॥

बीजन-माहात्म्यञ्च

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—श्रीजगन्नाथदेव को अनुलेप अर्पण करने के पश्चात् तालवृन्त के द्वारा बीजन करने से वायुलोक में निवास होता है। चामर द्वारा देवदेव जनार्दन को बीजन करने से निःसन्देह एक प्रस्थ परिमित तिल प्रदान का फल होता है। हे राजश्रेष्ठ! जो व्यक्ति, सुभक्तियुक्त होकर वसन व्यजन के अनिल के द्वारा देवादिदेव श्रीहरि का ताप विदूरित करते हैं, तदीय वंश में यमलोक का भय

तथा चोक्तम्—

न शीते शीतलं देयम् ॥३४६॥ इति ।

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे स्नापनिको नाम षष्ठो विलासः ।

नहीं होता है । हे भूप ! चलित चामर के पवन के द्वारा श्रीहरि को प्रसन्न करने से वायु लोक से उक्त वीजनकारी का पतन नहीं होता है । भगवान् निज सुख से तदीय (वीजनकारी के) अत्युत्तम देह को हस्त की प्रशंसा करते हैं । यह वीजन-सेवा ग्रीष्मकाल में ही प्रशस्त है । कारण, साधुगण, पौष एवं माघ मास में शीतलता के कारण मलयज चन्दन भी अर्पण नहीं करते हैं । अतएव उक्त है कि शीतकाल में शीतल द्रव्य निवेदनीय नहीं है ॥३४०-३४६॥

इति श्रीगोपालभट्ट लिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे
स्नापनिक नाम षष्ठो विलासः

सप्तम-विलासः

कुमनाः सुमनस्त्वं हि याति यस्य पदाब्जयोः । सुमनोऽर्पणमात्रेण तं चैतन्यप्रभुं भजे ॥१॥

श्रीमदङ्गानि तैर्भक्त्या समालिप्यानुलेपनैः । निवेद्योत्तमपुष्पाणि तन्मुद्राञ्च प्रदर्शयेत् ॥२॥

अथ पुष्पाणि

नारसिंहे—

पुष्पैररण्यसम्भूतैस्तथा नगरसम्भवैः । अपर्य्युषित-निश्छिद्रैः प्रोक्षितैर्जन्तुवर्ज्जितैः ।

आत्मारामोद्भवैर्वापि पूतैः संपूजयेद्धरिम् ॥३॥

विचित्रपुष्पप्रदान-प्रकरणलिखनसौष्ठवाय निजेष्टदेवरूपं परमगुरुवरं शरणं याति—कुमना इति । सुमनसां पुष्पाणामर्पणमात्रेण सुमनस्त्वमिति श्लेषेण पादाब्जयोः पुष्पवत् संसक्ततया प्रियतमत्वमभिप्रेतम् ॥१॥

तैर्लिखितैर्भक्त्या प्रीत्या अभक्तिच्छेदेन वा, तस्य पुष्पनिवेदनस्य मुद्राम्, अपर्य्युषितैर्निश्छिद्रैश्च अविदीर्णदलैः, आत्मनः, आरामः उपवनं, तदुद्भवैः ॥२-३॥

जिनके चरणकमल युगल में पुष्पार्पण करने से ही कुमनाःव्यक्ति भी सुमति को प्राप्त करता है, मैं उन्हीं चैतन्यदेव का भजन करता हूँ ॥१॥

प्रीतिपूर्वक पूर्वोल्लिखित अनुलेपन सामिग्रियों के द्वारा श्रीप्रभु के श्रीअङ्गसमूह का विलेपन कर उत्तम उत्तम पुष्प निवेदन पूर्वक पुष्पार्पण की मुद्रा प्रदर्शन करे ॥२॥

अथ पुष्पाणि

नृसिंहपुराण में उक्त है—अरण्योद्भव अथवा नगरोद्भव किंवा निज उपवनोद्भव अपर्य्युषित, अच्छिद्र, सिक्त, कीटादि जीवरहित पवित्र कुसुम के द्वारा श्रीहरि की अर्च्चना करे ॥३॥

वामनपुराणे श्रीप्रह्लादबलि-संवादे—

यानि स्युर्वर्णयुक्तानि रसगन्धयुतानि च ॥४॥
तान्येव सुप्रशस्तानि कुसुमानि महासुर। जाती शताङ्गा सुमनाः कुन्दं चारुपुटं तथा। वाणञ्च चम्पकाशोकं करवीरञ्च यूथिका ॥५॥
पारिभद्रं पाटला च वकुलं गिरिशालिनी। तिलकं जासुवनजं पीतकं तगरन्तथा ॥६॥
एतानि सुप्रशस्तानि कुसुमान्यच्युतार्च्चने। सुरभीणि तथान्यानि वर्ज्जयित्वा तु केतकीम् ॥७

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

कुङ्कुमस्य च पुष्पाणि बन्धुजीवस्य चाप्यथ। चम्पकस्य च देयानि तथा भूचम्पकस्य च ॥८
पीतयूथिकजान्येव यानि वै नीपजान्यपि। मञ्जर्य्यः सहकारस्य तथा देया जनार्द्दने ॥९॥
मल्लिकाकुब्जकुसुममतिमुक्तकमेव च। सर्व्वाश्च यूथिकाजात्यो मल्लिकाजात्य एव च ॥१०॥
याश्च कुब्जकजाजात्यः कदम्बकुसुमानि च। केतकी पाटलापुष्पं काण्वपुष्पं तथैव च ॥११॥
एवमादीनि देयानि गन्धवन्ति शुभानि च। केचिद्वर्णगुणादेव केचिद्गन्धगुणादथ ॥१२॥
अनुक्तान्यपि रम्याणि तथा देयानि कानिचित्। देशे देशे तथा काले यानि पुष्पाण्यनेकशः ॥१३
गन्धवर्णोपपन्नानि तानि देयानि नित्यशः ॥१४॥

किञ्च तत्रैव श्रीवज्रमार्कण्डेय-संवादे—

मध्येऽन्यवर्णो यस्य स्यात् शुक्लस्य कुसुमस्य च। शुभशुक्लन्तु विज्ञेयं केशवप्रियम् ॥१५॥

शताङ्गा शतपत्रिका, चारुपुटं कर्णिकारं, वाणं झिन्टीभेदः। पारिभद्रं पलहर्देति प्रसिद्धम्, गिरिशालिनी श्वेतकूटजं, जासुवनजं जवाकुसुमं, पीतकं पियलीति प्रसिद्धम्। केतकीमिति वनकेतकीम् ॥५-७॥

नीपः कदम्बभेदः, अतिमुक्तकं माधवीलता, काण्वपुष्पं कणतुहुलीति प्रसिद्धं, वासन्ती वसन्तोद्भवा वार्षिकी च या मल्लिका, तस्याः पुष्पमित्यर्थः ॥८-१६॥

वामनपुराण के श्रीप्रह्लाद-बलि-सवाद में कथित है—हे असुरराज! वर्ण, रस एवं सुगन्ध विशिष्ट कुसुम ही अतिशय प्रशस्त है, तन्मध्य में जाती शतपत्रिका (पद्म), मालती, कुन्द, कर्णिकार, झिन्टी, चम्पक, अशोक, करवी, यूथिका, मन्दार, पाटला, वकुल, शुक्ल कुटज, तिल, जवा, पियली एवं तगर, यह सब पुष्प श्रीगोविन्द के पूजन कार्य्य में अति प्रशस्त हैं, वन केतकी व्यतीत अन्यान्य सुगन्ध पूर्ण पुष्प भी प्रशस्त हैं ॥४-७॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—कुङ्कुम एवं बधुजीवकुसुम (बाँधुली), चम्पक, भूमिचम्पक, पीतयूथी, कदम्ब, आम्र मञ्जरी श्रीजनार्द्दन को अर्पण करें। मल्लिका, कुब्ज, माधवी, यूथिका जातीय, मल्लिका जातीय, कुब्ज जातीय एवं कदम्ब, केतकी, पाटला, कर्णतुहली—यह सब एवं नानाविध सुगन्धयुक्त पुष्प श्रीहरि को अर्पण करे। उत्तम वर्ण विशिष्ट एवं उत्तम गन्धपूर्ण होने से भी कतिपय पुष्प निवेदन करे। पुष्पार्पण विधि में उल्लेख न होने से भी जो पुष्प अति सुन्दर है, उसको भी अर्पण करे। देश, काल भेद से समुत्पन्न पुष्प समूह गन्धपूर्ण एवं वर्ण विशिष्ट होने से उनको भी नित्य अर्पण करे ॥८-१४॥

उक्त विष्णुधर्मोत्तर में श्रीवज्र-मार्कण्डेय संवाद में वर्णित है—जिस शुक्ल वर्ण कुसुम के मध्य भाग में अन्य वर्ण विद्यमान है, उसका नाम शुभ शुक्ल है, वह पुष्प अति सुन्दर एवं श्रीकेशव का अतिप्रिय है ॥१५॥

स्कान्दे —

वासन्ति मल्लिकापुष्पं तथा वै वार्षिकी तु या। कुसुम्भं यूथिके द्वे च तथा चैवातिमुक्तकम् ॥१६

केतकं चम्पकञ्चैव माधवृन्तकमेव च। पुरन्ध्रि-मञ्जरीपुष्पं चूतपुष्पं तथैव च ॥१७॥

बन्धुजीवकपुष्पञ्च कुसुमं कुङ्कुमस्य च। जातिपुष्पाणि सर्व्वाणि कुन्दपुष्पन्तथैव च ॥१८॥

पाटलायास्तथा पुष्पं नीलमिन्दीबरन्तथा। कुमुदे श्वेतरक्ते च श्वेतरक्ते तथाम्बुजे ॥१९॥

तत्रैवान्यत्र —

एवमादीनि पुष्पाणि दातव्यानि सदा हरेः ॥२०॥

मालती तुलसी पद्मं केतकी मणिपुष्पकम्। कदम्बकुसुमं लक्ष्मीः कौस्तुभं केशवप्रियम् ॥२१

किञ्च —

कण्टकीन्यपि देयानि शुक्लानि सुरभीणि च। तथा रक्तानि देयानि जलजानि द्विजोत्तम ॥२२

नारदीये सप्तसाहस्रे श्रीभगवन्नारद-संवादे —

मालती वकुलाशोकशेफाली नवमालिका। आम्रञ्च तगराख्यञ्च मल्लिका मधुपिण्डिका ॥२३

यूथिकाष्टपदं कुन्दकदम्बशिखिपिङ्गकम्। पाटला चम्पकं हृद्यं लवङ्गमतिमुक्तकम् ॥२४॥

केतकं कुरुवकं विल्वं कह्लारं वासकं द्विज। पञ्चविंशति पुष्पाणि लक्ष्मीतुल्यप्रियाणि मे ॥२५

मदीया वनमाला च पुष्पैरेभिर्मया पुरा। ग्रथिता च तथा तत्त्वैः पञ्चविंशतिभिः क्रमात् ॥२६

हारीतस्मृतौ च —

तुलस्यौ पङ्कजे जात्यौ केतक्यौ करवीरकौ। शस्तानि दशपुष्पाणि तथा रक्तोत्पलानि च ॥२७

पुरन्ध्रिः पुङ्गवीति प्रसिद्धा, तस्या मञ्जरी पुष्पञ्च ॥१७॥

यथा लक्ष्मीः कौस्तुभञ्चेति दृष्टान्तत्वेनोदाहृतम्, कण्टकीनि कण्टकयुक्तानि ॥२१-२२॥

शेफाली सेहलीति प्रसिद्धा, मधु मधुकपुष्पं, पिण्डिका नन्द्यावर्त्तः, अष्टपदं नागकेशरं, शिखी चूड्रियेति प्रसिद्धा, पिङ्गकं हरिद्राकुसुमम् ॥२३-२४॥

स्कन्दपुराण में वर्णित है— वसन्त कालीन किंवा वर्षाकालीन मल्लिका, कुसुम्भ, द्विविध यूथिका, माधवी, केतकी, चम्पक, माधवृन्त, पुरन्ध्रि की मञ्जरी अथवा पुष्प, आम्रमञ्जरी, बन्धुजीव, कुङ्कुम, सब प्रकार जाती, कुन्द, पाटला पुष्प एवं नीलेन्दीवर, शुक्ल कुमुद, लोहित कुमुद, शुभ्रपद्म एवं रक्तपद्म इत्यादि पुष्प समूह श्रीहरि को नित्य निवेदन करना चाहिये ॥१६-२०॥

स्कन्दपुराण के अन्यत्र भी वर्णित है— मालती, तुलसी, पद्म, केतकी, मणिपुष्प एवं कदम्बकुसुम, लक्ष्मी एवं कौस्तुभ के समान श्रीकेशव को प्रिय हैं ॥२१॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! शुभ्र वर्ण सुगन्धि पुष्प, कण्टकयुक्त होने से भी अर्पण करे एवं जलज रक्तपुष्प भी निवेदन करे ॥२२॥

नारदपुराण के सप्तसहस्र में श्रीभगवन्नारद संवाद में वर्णित है, हे द्विज ! मालती, वकुल, अशोक, शेफाली, नवमल्लिका, आम्र, तगर, मल्लिका, मधुक (मौया पुष्प), पिण्डिका (नन्द्यावर्त्त) यूथिका, नागकेशर, कुन्द, कदम्ब, शिखि, हरिद्रा, पाटला, चम्पक, लवङ्ग, माधवी, केतकी, कुरुवक, विल्व, कह्लार, वासक, यह पञ्चविंशति प्रकार कुसुम, लक्ष्मी के समान मेरे प्रिय हैं। मैंने पहले क्रमानुसार पञ्चविंशति प्रकार पुष्पों के एवं पच्चीस प्रकार के तत्त्वों से अपनी वनमाला गूँथी है ॥२३-२६॥

हारीत स्मृति में उक्त है— द्विविध तुलसी, द्विविध पद्म, द्विविध जाती, द्विविध केतकी एवं दो प्रकार

अथ सामान्यतोऽखिलपुष्प-माहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

दानं सुमनसां श्रेष्ठं तथैव परिकीर्त्तितम् । अलक्ष्म्याः शमनं मुख्यं परं लक्ष्मीविवर्द्धनम् ॥२८॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं माङ्गल्यं बुद्धिवर्द्धनम् । स्वर्गदञ्च तथा प्रोक्तं वह्निष्टोमफलप्रदम् ॥२९॥
न रत्नेन सुवर्णेन न च वित्तेन भूरिणा । तथा प्रसादमायाति देवश्चक्रगदाधरः ॥३०॥

तत्रैवान्यत्र—

धर्म्मार्ज्जितधनक्रीतैर्यः कुर्य्यात् केशवार्च्चनम् । उद्धरिष्यत्यसन्देहं सप्त पूर्व्वांस्तथापरान् ॥३१॥
आरामस्थैस्तु कुसुमैर्यः कुर्य्यात् केशवार्च्चनम् । एतदेव समाप्नोति नात्र कार्य्या विचारणा ॥३२
यथा कथञ्चिदाहृत्य कुसुमैः पूजयन् हरिम् । नाकपृष्ठमवाप्नोति न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥३३
तथा राष्ट्राहृतैः पुष्पैर्यः कुर्य्यात् केशवार्च्चनम् । पञ्चविंशत्यतीतांश्च पञ्चविंशत्यनागतान् ।
उद्धरेदात्मनो वंश्यान् नात्र कार्य्या विचारणा ॥३४॥
नगरेऽपि वसन् यस्तु भैक्ष्याशी शंसितव्रतः । अरण्यादाहृतैः पुष्पैः पत्रमूलफलाङ्कुरैः ॥३५॥
यथोपपन्नैः सततमभ्यर्च्चयति केशवम् ॥३६॥
सर्व्वकामप्रदो देवस्तस्य स्यान्मधुसूदनः । पुंसस्तस्याप्यकामस्य परं स्थानं प्रकीर्त्तितम् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥३७॥

धर्म्मेण न्यायेन अर्ज्जितं यद्धनं, तेन क्रीतैः कुसुमैः, एतेन न्यायोपात्तवित्तेन पुष्पक्रयणमपि शस्तं ब्राह्मणादेरिति बोधितम् ॥३१॥

की केतकी और दो प्रकार की करवीर (कर्णेर)—यह दशविध पुष्प एवं लोहितोत्पल प्रशस्त हैं ॥२७॥

अथ सामान्यतोऽखिलपुष्प-माहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—पुष्पार्पण श्रेष्ठदान रूप में अभिहित है। यह दान, अलक्ष्मी निवारण एवं लक्ष्मी वृद्धिकारक है एवं धन, यशः, आयुः, मङ्गल, बुद्धि वृद्धिकारी है, कथित है, इस प्रकार दान से स्वर्ग एवं अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ होता है। चक्र एवं गदाधारी भगवान् रत्न, स्वर्ण एवं बहुविध धन के द्वारा इस प्रकार प्रसन्न नहीं होते हैं—पुष्पार्पण से जिस प्रकार प्रसन्न होते हैं ॥२८-३०॥

इसी प्रकार अन्यत्र भी वर्णित है—जो व्यक्ति, न्याय पथ से धनोपार्जन कर उससे पुष्प क्रय पूर्वक केशव की पूजा करते हैं, वे अधस्तन सप्त एवं ऊर्द्ध्वतन सप्त पुरुषों को उद्धार करते हैं। जो व्यक्ति, उद्यान स्थित पुष्प द्वारा केशव की पूजा करते हैं, वे उद्यान को प्राप्त करते हैं, इसमें संशय नहीं है। जिस किसी प्रकार से कुसुम संग्रह पूर्वक श्रीहरि की पूजा करने से स्वर्ग लाभ होता है, इसमें सन्देह नहीं है। जो व्यक्ति राष्ट्र से (ग्राम से) भी पुष्प आहरण कर श्रीकेशव की अर्च्चना करते हैं, वे निज अतीत पञ्चविंशति एवं भविष्यत् पच्चीस पुरुषों को उद्धार करते हैं, इस विषय में सन्दिहान होना निष्प्रयोजन है। नगरवासी होकर भी जो व्यक्ति, भिक्षाजीवी एवं व्रतधारी होकर अरण्य से फल, मूल, पुष्प, पत्र, अङ्कुर आनयन पूर्वक यथोपयुक्त भाव से सर्वदा श्रीकेशव की पूजा करते हैं, देवादिदेव श्रीमधुसूदन, उनकी समस्त कामना पूर्ण करते हैं। प्रार्थना न करने पर भी कथित है कि वे परमपद प्राप्त करते हैं। जहाँ गमन करने से शोक विदूरित होता है, वह ही श्रीविष्णु का परमपद है ॥३१-३७॥

तत्रैव श्रीवज्रमार्कण्डेय-संवादे

अक्षमैस्तूपवासानां धनहीनैस्तथा नरैः। अरण्यादाहृतैः पुष्पैः संपूज्य मधुसूदनम्।
पूर्व्वजन्मनि संप्राप्तं राज्यं श्रृणु नराधिप ॥३८॥

नृपो ययातिर्नहुषो विश्वगन्धः करन्धमः। दिलीपो युवनाश्वश्च शतपर्व्वा भगीरथः ॥३९॥

भीमश्च सहदेवश्च महाशीलो महामनुः। देवलः कालकाक्षश्च कृतवीर्य्यो गुणाकरः ॥४०॥

देवरातः कुसुम्भश्च विनीतो विक्रमो रघुः। महोत्साहो वीतभयो अनमित्रः प्रभाकरः ॥४१॥

कपोतरोमा पर्ज्जन्यश्चन्द्रसेनः परन्तपः। भीमसेनो दृढ़रथः कुशनाभः प्रतर्द्दनः ॥४२॥

एते चान्ये च बहवः पूर्व्वजन्मनि केशवम्। पूजयित्वा क्षितावस्यां प्रापू राज्यमकण्टकम् ॥४३

यक्षत्वमथ गान्धर्व्वं देवत्वञ्च तथैव च। विद्याधरत्वं नागत्वं ये गता मनुजोत्तमाः ॥४४॥

बहुत्वाच्च न ते शक्या मया वक्तुं तवानघ। तस्माद्यत्नः सदा कार्य्यः पुरुषैः कुसुमार्च्चने ॥४५॥

अरण्यजातैः कुसुमैः सदैव, सपूजयित्वा स्वयमाहृतैस्तु।
सर्व्वेश्वरं यत् फलमाप्नुवन्ति, राजेन्द्र तद्वर्णयितुं न शक्यम् ॥४६॥

स्वयमाहृत्य पुष्पाणि भिक्षाशी केशवार्च्चनम्। यः करोति स राजेन्द्र वंशानामुद्धरेत् शतम् ॥४७

विष्णुधर्मोत्तरे—

पुष्पाणि तु सुगन्धीनि मनोज्ञानि तु यः पुमान्। प्रयच्छति हृषीकेशे स भागवतमानवः ॥४८॥

नारसिंहे—

तपःशील-गुणोपेते पात्रे वेदस्य पारगे। दश दत्त्वा सुवर्णानि यत् फलं समवाप्नुयात्।
तत् फलं लभते मर्त्यो हरेः कुसुमदानतः ॥४९॥

अनमित्र इत्यादावकारलोपाभावादिकमार्षम् ॥४१॥

विष्णुधर्मोत्तर के श्रीवज्रमार्कण्डेय संवाद में वर्णित है—हे नराधिप! अवधान करें, पूर्वजन्म में उपवास करने में असमर्थ एवं धनहीन मनुष्यगण, वन से पुष्प आहरण पूर्वक श्रीमधुसूदन की अर्चना करके राज्य प्राप्त किये हैं। नरपति ययाति, नहुष, विश्वगन्ध, करन्धम, दिलीप, युवनाश्व, शतपर्वा, भगीरथ, भीम, सहदेव, महाशील, महामनु, देवल, कालकाक्ष, कृतवीर्य, गुणाकर, देवरात, कुसुम्भ, विनीत, विक्रम, रघु, महोत्साह, वीतभय, अनमित्र, प्रभाकर, कपोतरोमा, पर्जन्य, चन्द्रसेन, परन्तप, भीमसेन, दृढ़रथ, कुशनाभ एवं प्रतर्दन, यह सब एवं अन्यान्य बहुसंख्यक नृपति पूर्वजन्म में श्रीकेशव की अर्चना करके इस पृथिवी में निष्कण्टक राज्य प्राप्त किये थे। जो सब मानवश्रेष्ठ यक्ष, गन्धर्व, देवता, किंवा विद्याधर अथवा नाग हुये थे उनकी संख्या अनेक हैं। हे निष्पाप! एतज्जन्य मैं नामोल्लेख करने में असमर्थ हूँ। अतएव, मनुष्यगण सर्वदा कुसुम संग्रह करने में यत्न करें। हे राजश्रेष्ठ! जो व्यक्ति भिक्षान्न भोजन पूर्वक स्वयं पुष्प चयन कर श्रीकेशव की पूजा करते हैं, वे कुलज शतपुरुषों को उद्धार करते हैं ॥३८-४७॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है— जो व्यक्ति, मनोहर सुगन्धि पुष्प श्रीहृषीकेश को निवेदन करते हैं, वे भगवद्भक्त नाम से ख्यात होते हैं ॥४८॥

नारसिंहपुराण में उक्त है—तप परायण, शीलान्वित, वेदपारग पात्र में दश सुवर्ण दान करने पर जो फल होता है, मनुष्य, श्रीहरि को पुष्पदान कर उसी फल को पाते हैं ॥४९॥

तत्रैवाग्रे—
मल्लिका-मालतीजाती-केतकाशोकचम्पकैः । पुन्नाग-नागवकुलैः पद्मै रुत्पलजातिभिः ॥५०॥
एतैरन्यैश्च कुसुमैः प्रशस्तैरच्युतं नरः । अर्च्चन् दशसुवर्णस्य प्रत्येकं फलमाप्नुयात् ॥५१॥
एवं हि राजन् नरसिंहमूर्त्तेः, प्रियाणि पुष्पाणि तवेरितानि ।
एतैश्च नित्यं हरिमच्चर्य्य भक्त्या, नरो विशुद्धो हरिमेव याति ॥५२॥

स्कान्दे—
स्वयमाहृत्य यो दद्यादरण्यकुसुमानि च । स राज्यं स्फीतमाप्नोति लोके निहतकण्टकम् ॥५३

तत्रैव श्रीशिवोमा-संवादे—
यैः कैश्चिदिह पुष्पैश्च जलजैः स्थलजैरपि । संपूज्य कथितैर्भक्त्या विष्णुलोके महीयते ॥५४॥

विष्णुरहस्ये श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न संवादे—
ऋतुकालोद्भवैः पुष्पैर्योऽर्च्चयेद्रुक्मिणीपतिम् ।
सर्व्वान् कामानवाप्नोति यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥५५॥

अथ पुष्पविशेष-माहात्म्यम्

तथा च नारसिंहे—
पुष्पजातिविशेषेण भवेत् पुण्यं विशेषतः ॥५६॥

किञ्च—
एवं पुष्पविशेषेण फलं तदधिकं नृप । ज्ञेयं पुष्पान्तरेणापि यथा स्यात्तन्निबोध मे ॥५७॥

कथितैर्विहितैरित्यर्थः, पूर्व्वोक्तैर्वा ॥५४॥

एवमिति द्रोणपुष्पोक्त-प्रकारेणेति ज्ञेयं, तत्पुराणे द्रोणपुष्पे तथैकस्मिन्नित्यनन्तरमस्य पाठात् । अतः पुष्पान्तरेणेति द्रोणपुष्पादितरेणापीत्यर्थः । पुष्पान्तरज्ञेनेति पाठे अन्तरं भेदस्तज्ज्ञेन ॥५७॥

नृसिंहपुराण के अग्रभाग में लिखित है – मल्लिका, मालती, जाती, केतकी, अशोक, चम्पक, पुन्नाग, नाग, वकुल, पद्म एवं उत्पल जातीय समुदाय पुष्प एवं अन्यान्य प्रशस्त कुसुम द्वारा मनुष्य श्रीहरि की पूजा करने से प्रत्येक कुसुम में दश सुवर्णमुद्रा अर्पण का फल लाभ करते हैं। हे राजन् ! नृसिंह मूर्त्ति के प्रिय कुसुम समूह का वर्णन मैंने किया, केवल उक्त पुष्प समूह के द्वारा श्रीहरि की अर्च्चना कर मनुष्य पवित्र होकर श्रीहरि को प्राप्त कर सकते हैं ॥५०-५२॥

स्कन्दपुराण में कथित है—जो व्यक्ति स्वयं अरण्यकुसुम चयनकर श्रीहरि को अर्पण करते हैं, वे पृथिवी में निष्कण्टक से वर्द्धित राज्य प्राप्त करते हैं ॥५३॥

उक्त स्कन्दपुराण में वर्णित श्रीशिव-उमा संवाद में वर्णित है—जलज हो अथवा स्थलज हो, जिस किसी भी पुष्प के द्वारा मनुष्य, श्रीहरि की पूजा करके श्रीविष्णुलोक में ससम्मान से निवास करने में सक्षम होगा ॥५४॥

विष्णुरहस्य के मार्कण्डेय-इन्द्रद्युम्न-संवाद में वर्णित है—जो व्यक्ति, ऋतुकालोत्पन्न कुसुम के द्वारा रुक्मिणीवल्लभ की पूजा करते हैं, उनकी परलोक सम्बन्धीय एवं नरलोक सम्बन्धीय निखिल कामना सफल होती है ॥५५॥

अथ पुष्पविशेष माहात्म्यम्

नृसिंहपुराण में वर्णित है—कुसुम के जातिभेद से विशेष विशेष पुण्य होता है ॥५६॥
और भी वर्णित है—हे राजन् ! द्रोणपुष्प का माहात्म्य की वर्णना जो मैंने किया है, तदनुसार पुष्पभेद

तत्र द्रोणपुष्पमाहात्म्यम्

नारसिंहे एव—

द्रोणपुष्पे तथैकस्मिन् माधवाय निवेदिते। दत्त्वा दश सुवर्णानि यत् फलं तदवाप्नुयात् ॥५८

जात्याः माहात्म्यम्

द्रोणपुष्पसहस्रेभ्यः खादिरं वै विशिष्यते। शमीपुष्पसहस्रेभ्यो विल्वपुष्पं विशिष्यते ॥५९॥

विल्वपुष्पसहस्रेभ्यो वकपुष्पं विशिष्यते। वकपुष्पसहस्राद्धि नन्द्यावर्त्तं विशिष्यते ॥६०॥

नन्द्यावर्त्तसहस्राद्धि करवीरं विशिष्यते। करवीरस्य कुसुमात् श्वेतपुष्पमनुत्तमम् ॥६१॥

करवीर-श्वेतकुसुमात् पालाशं पुष्पमुत्तमम्। पालाशपुष्पसाहस्रयात् कुशपुष्पं विशिष्यते ॥६२

कुशपुष्पसहस्राद्धि बनमाला विशिष्यते। बनमालासहस्राद्धि चम्पकन्तु विशिष्यते ॥६३॥

चम्पकात् पुष्पशतकादशोकपुष्पमुत्तमम्। अशोकपुष्पसाहस्रयात् सेवन्तीपुष्पमुत्तमम् ॥६४॥

कुब्जपुष्पसहस्राणां मालतीपुष्पमुत्तमम्। मालतीपुष्पसाहस्रयात् त्रिसन्ध्यापुष्पमुत्तमम् ॥६५

त्रिसन्ध्यारक्तसाहस्रयात् त्रिसन्ध्याश्वेतकं वरम्।
त्रिसन्ध्याश्वेतसाहस्रयात् कुन्दपुष्पं विशिष्यते ॥६६॥

कुन्दपुष्पसहस्राद्धि शतपत्रं विशिष्यते। शतपत्रसहस्राद्धि मल्लिकापुष्पमुत्तमम् ॥६७॥

मल्लिकापुष्पसाहस्रयाज्जातीपुष्पं विशिष्यते।
सर्व्वासां पुष्पजातीनां जातीपुष्पमिहोत्तमम् ॥६८॥

जातीपुष्पसहस्रेण यच्छन्मालां सुशोभनाम्।
विष्णवे विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥६९॥

कल्पकोटिसहस्राणि कल्पकोटि-शतानि च। वसेद्विष्णुपुरे श्रीमान् विष्णुतुल्यपराक्रमः ॥७०॥

शेषाणां पुष्पजातीनां यत् फलं विधिदर्शितम्। तत्फलस्यानुसारेण विष्णुलोके महीयते ॥७१

नन्द्यावर्त्तं पिण्डीतगरं, करवीरं रक्तम् अग्रे श्वेतमित्युक्तेः, वनमाला पुष्पविशेषः मालतीजातिभेदः ॥६१-६५॥

से फलाधिक्य होता है, इसको जानना होगा, एतद्व्यतीत अन्य पुष्प से भी जो फल होता है, उसका वर्णन मुझसे सुनो ॥५७॥

तत्र द्रोणपुष्पमाहात्म्यम्

नृसिंहपुराण में लिखित है—केवल एक ही द्रोणकुसुम श्रीमाधव को निवेदन करने से दश सुवर्णमुद्रा अर्पण करने का फल लाभ होता है ॥५८॥

जात्याः माहात्म्यम्

एक शमीपुष्प सहस्र द्रोणपुष्प की अपेक्षा श्रेष्ठ है, सहस्र संख्यक शमीपुष्प की अपेक्षा एक विल्वपुष्प श्रेष्ठ है, सहस्र विल्वपुष्प की अपेक्षा एक अगासिया (वक) पुष्प उत्तम है, सहस्र वकपुष्प की अपेक्षा एक नन्द्यावर्त्त उत्तम है, सहस्र नन्द्यावर्त्त की अपेक्षा एक करवीर पुष्प प्रधान है। करवीर पुष्प के मध्य में शुक्ल करवीर श्रेष्ठ है, एवं शुक्ल करवीर से पलाश पुष्प श्रेष्ठ है, सहस्र पलाश पुष्प की अपेक्षा एक कुशपुष्प प्रधान है, सहस्र कुशपुष्प से एक बनमाला मालतीजातीय कुसुम प्रधान है। सहस्र वनमाला से एक चम्पक श्रेष्ठ है

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

सर्व्वासां पुष्पजातीनां जात्यः श्रेष्ठतमा मताः ।
जातीनामपि सर्व्वासां शुक्ला जातिः प्रशस्यते ।।७२।।

स्कान्देऽपि ब्रह्मनारद-संवादे—

'मल्लिका'-इत्यादिश्लोकत्रयमास्ते ।

किञ्च तत्रैवान्यत्र—

जातीपुष्पप्रदानेन गन्धर्व्वैः सह मोदते । जातीपुष्पाष्टकं दत्वा वह्निष्टोमफलं भवेत् ।।७४।।
जातीपुष्पसहस्रेण यथेष्टां गतिमाप्नुयात् । श्वेतद्वीपमवाप्नोति लक्षपूजाविधायकः ।।७५।।
जातीपुष्पकृतां मालां कर्पूरपटवासिताम् । निवेद्य देवदेवाय यत् फलं प्राप्नुयान्नरः ।
न तद्वर्णयितुं शक्यमपि वर्षशतैरपि ।।७६।।

मालत्या माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

वर्णानान्तु यथा विप्रस्तीर्थानां जाह्नवी यथा ।
सुराणान्तु यथा विष्णु पुष्पाणां मालती तथा ।।७७।।

लक्षं जातीपुष्पाणामेव, तेन पूजायाः विधायकः ।।७५।।
कर्पूरस्य पटः चूर्णगन्धस्तेन वासिताम्, मालवत्या इति पाठेऽपि मालवत्येव मालती, मुक्ति परमानन्द-लक्षणाम् ।।७६-७८।।

शतसंख्यक चम्पक से एक अशोक प्रधान है, सहस्र अशोक कुसुम की अपेक्षा एक कुब्ज कुसुम श्रेष्ठ है, सहस्र कुब्ज कुसुम की अपेक्षा एक मालती पुष्प प्रधान है, सहस्र मालती कुसुम से एक त्रिसन्ध्या पुष्प श्रेष्ठ है। लोहित वर्ण हजार त्रिसन्ध्या पुष्प से एक कुन्दकुसुम प्रधान है, हजार कुन्दकुसुम से एक पद्म श्रेष्ठ है, सहस्र मल्लिका कुसुम से एक जातीपुष्प उत्तम है। यहाँ जो सब कुसुमों का उल्लेख हुआ है, तत् समुदाय कुसुम से एक जातीपुष्प का प्राधान्य है, जो व्यक्ति सहस्र जातीकुसुम से सुन्दर माला निर्माण कर भक्तिपूर्वक यथाविधि श्रीविष्णु को निवेदन करते हैं, उनका पुण्य फल सुनो। वे सब व्यक्ति श्रीमान् एवं श्रीहरि तुल्य पराक्रमवान् होकर कल्पकोटि-सहस्र एवं कल्पकोटि-शत काल श्रीविष्णुधाम में निवास करते हैं। यथाविधि अवशिष्ट पुष्प समूह का जो फल निर्दिष्ट हुआ है, तदनुसार पूजक व्यक्ति श्रीविष्णुधाम में सम्मानित होते हैं ।।५९-७१।।

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है— जितने प्रकार के पुष्प हैं, उन सबसे जातीपुष्प को प्रधान कहा गया है, जाती कुसुम के मध्य में शुभ्र वर्ण जाती कुसुम उत्तम है ।।७२।।

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में 'मल्लिका' इत्यादि श्लोकत्रय का उल्लेख है ।।७३।।

उक्त स्कन्दपुराण के स्थानान्तर में लिखा है— जातीपुष्प प्रदान करने से गन्धर्ववृन्द के सहित आनन्द से वास होता है। अष्ट जाती पुष्प अर्पण करने से अग्निष्टोमयज्ञ का फल लाभ होता है। सहस्र जाती कुसुम अर्पण करने से अभीप्सित गति मिलती है। लक्ष जाती कुसुम के द्वारा अर्च्चना करने से श्वेत द्वीप में निवास होता है। जाती कुसुम द्वारा निर्मित माला को कर्पूरवासित कर देवदेव को अर्पण करने पर मनुष्य को जो फल होता है उसका वर्णन शतवर्ष पर्य्यन्त करने से भी वर्णन शेष नहीं हो सकता है ।।७४-७६।।

मालत्या माहात्म्यम्

मालती कुसुम के सम्बन्ध में स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है— जिस प्रकार वर्णों के

मालत्या हि तथा देवं योऽर्च्चयेद्गरुड़ध्वजम् ।
जन्मदुःखजरारोगैर्मुक्तोऽसौ मुक्तिमाप्नुयात् ॥७८॥

तत्रैवान्यत्र —

योऽर्च्चयेन्मालतीपुष्पैः कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् । तेनाप्तं नास्ति सन्देहस्तत्पदं दुर्लभं हरेः ॥७९॥

मालतीकलिकामालामीषद्विकसितां हरेः । दत्त्वा शिरसि विप्रेन्द्र वाजिमेधफलं लभेत् ॥८०॥

गारुड़े—

पक्षीन्द्र न श्रुतं दृष्टं भूतं वा न भविष्यति ।
मालत्या न समं पुष्पं द्वादश्या न समा तिथिः ॥८१॥

पुष्पणैकेन मालत्याः प्रीतिर्या केशवस्य हि । न सा क्रतुसहस्रेण भवते नारदोऽब्रवीत् ॥८२॥

यत्र यत्र खगश्रेष्ठ भवते मालतीवनम् । पत्रे पत्रे तथातुष्टो वसते तत्र केशवः ॥८३॥

दृष्ट्वा तु मालतीपुष्पं वैष्णवेन करे धृतम् । प्रीतो भवति दैत्यारिः सुतं दृष्ट्वा यथा खग ॥८४॥

पुष्पे पुष्पे खगश्रेष्ठ मालत्याः सुमनोहरे । अक्षयं प्राप्यते स्थानं दाहप्रलय-वर्ज्जितम् ॥८५॥

वल्लभं मालतीपुष्पं माधवस्य सदैव हि । हेलया दापयेत् स्थानं स्वकीयं गरुड़ध्वजः ॥८६॥

दत्तमात्रं हरेः पुष्पं निर्म्माल्यं भवति क्षणात् । अहोरात्रं प्रभुक्तं हि मालतीकुसुमं न हि ॥८७॥

विष्णोरङ्गात् परिभ्रष्टं मालतीकुसुमं खग । यो धारयेच्च शिरसि सर्व्वधर्म्मफलं लभेत् ॥८८॥

अदत्त्वा केशवे यस्तु स्वमूर्ध्ना मालतीं वहेत् । स नरः खगशार्द्दूल सर्व्वधर्म्मच्युतो भवेत् ॥८९॥

न सममित्यत्र नकारस्य अधुनापि नास्तीत्यर्थः । भवते भवति इत्यादिकमार्षमुन्नेयम् ॥८१-८२॥
निर्म्माल्यमिति उपभुक्तत्वेनोत्तारणयोग्यमित्यर्थः; नहि निर्म्माल्यं भवति । पाठान्तरं सुगमम् । अदत्त्वा असमर्प्य ॥८७-८९॥

मध्य में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, तीर्थ के मध्य में जिस प्रकार गङ्गा, देवताओं के मध्य में जैसे श्रीविष्णु, उस प्रकार कुसुमों के मध्य में मालती है। जो व्यक्ति मालती कुसुम के द्वारा गरुड़ध्वज श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे जन्म-दुःख, जरा एवं रोग से मुक्त होकर मुक्ति लाभ करते हैं ॥७७-७८॥

स्कन्दपुराण के अन्यत्र वर्णित है—जो व्यक्ति मालती कुसुम के द्वारा त्रिभुवनेश्वर श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं, वे श्रीहरि के दुर्लभ धाम लाभ करेंगे इसमें संशय नहीं है। हे विप्रश्रेष्ठ ! ईषत् प्रस्फुटित मालती कलिका के द्वारा माला निर्माण कर श्रीहरि के मस्तक में अर्पण करने से अश्वमेध-यज्ञ का फल लाभ होता है ॥७९-८०॥

गरुड़पुराण में उक्त है—हे पक्षिप्रधान ! मालती के समान कुसुम द्वादशी के समान तिथि नहीं सुनी गई न दिखाई दी, न हुई है और न तो होगी। नारद ने कहा है—एक मालती कुसुम से श्रीहरि जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं, सहस्र यज्ञ से भी उस प्रकार सन्तुष्ट नहीं होते हैं। हे विहगश्रेष्ठ ! जहाँ पर मालती वन है, केशव प्रीत होकर उसके पत्र में निवास करते हैं। हे विहङ्गम ! पुत्र को देखकर जिस प्रकार आनन्द होता है, वैष्णव के हस्त में मालती कुसुम को देखकर श्रीहरि उस प्रकार प्रीत होते हैं। हे खगश्रेष्ठ ! सुमनोहर मालती कुसुम अर्पण करने से प्रतिपुष्प से ताप रहित, प्रलय रहित अक्षय स्थान लाभ होता है, मालती कुसुम श्रीमाधव को सर्वदा ही प्रीतिद है। गरुड़ध्वज, पूजक को अनायास निजधाम में वास-स्थान प्रदान

कार्त्तिके च तस्या माहात्म्यविशेषः

तथा च गारुड़े—

सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं खगेश्वर । विहाय कार्त्तिके मासि मालतीं यच्छ केशवे ॥९०॥

सर्व्वमासेषु पक्षीन्द्र मालती केशवप्रिया । प्रबोधन्यां विशेषेण अश्वमेधादिदायिनी ॥९१॥

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे —

मालतीमालया विष्णुः पूजितो येन कार्त्तिके ।
पापाक्षरकृतां मालां हठात् सौरिः प्रमार्ज्जति ॥९२॥

पाद्मे उत्तरखण्डे कार्त्तिक-माहात्म्ये—

मालतीजातिकापुष्पैः स्वर्णजात्या च चम्पकैः ।
पूजितो माधवो दद्यात् कार्त्तिके वैष्णवं पदम् ॥९३॥

कमलस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

शुभ्राशुभ्रैर्महागन्धैः कुसुमैः पङ्कजोद्भवैः । अधोक्षजं समभ्यर्च्च्य नरो याति हरेः पदम् ॥९४॥

तत्रैवान्यत्र —

अहो नष्टा विनष्टास्ते पतिताः कलिकन्दरे । यैर्नार्च्चितो हरिर्भक्त्या कमलैरसितैः सितैः ॥९५॥

मालां पङ्क्तिं, सौरिर्यमः ॥९२॥

अप्रणयेनाप्यर्च्चितः सन् । पद्महस्तभृदिति यद्यपि हस्तेन पद्मं विभर्त्तीत्यर्थः ॥९३-९७॥

करते हैं। श्रीहरि को पुष्प अर्पण करने से ही निर्माल्य होता है। किन्तु दिवारात्र प्रभुक्त होने से भी मालती कुसुम निर्म्माल्य नहीं होता है। हे विहग ! जो व्यक्ति, श्रीहरि के अङ्ग से भ्रष्ट मालती कुसुम निज मस्तक में धारण करते हैं, वे समस्त धर्मों का फल लाभ करते हैं। हे खगश्रेष्ठ ! जो व्यक्ति श्रीकेशव को निवेदन न करके मालती कुसुम निज मस्तक में धारण करते हैं, वे मनुष्य, समस्त धर्म से भ्रष्ट होते हैं ॥८१-८९॥

कार्त्तिके च तस्या माहात्म्य विशेषः

गरुड़पुराण में उसका वर्णन है—हे विहगश्रेष्ठ ! सुवर्णदान, गोदान, भूमिदान न करके कार्त्तिक मास में श्रीकेशव को मालती कुसुमार्पण करो। हे पक्षिश्रेष्ठ ! मालती, समस्त मासों में श्रीहरि को प्रसन्न करती है। विशेषकर कार्त्तिक मास में अश्वमेधादि का फल प्रदान करती है ॥९०-९१॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—कार्त्तिक मास में जो व्यक्ति, मालती कुसुम के द्वारा श्रीविष्णु की पूजा करते हैं, यमराज उनके सम्बन्ध में लिखित पापाक्षरों को सहसा विदूरित कर देते हैं अर्थात् उनके समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं ॥९२॥

पद्मपुराण उत्तर खण्ड के कार्त्तिक माहात्म्य में लिखित है—कार्त्तिक मास में मालती, जाती स्वर्ण जाती अथवा चम्पक द्वारा श्रीमाधव पूजित होने से विष्णुधाम अर्पण करते हैं ॥९३॥

कमलस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—मानव महा गन्ध पूर्ण श्वेत अथवा नील कमल द्वारा अधोक्षज श्रीहरि की अर्चना करने से श्रीहरिधाम को प्राप्त करता है ॥९४॥

स्कन्दपुराण के अन्यत्र भी वर्णित है—अहो ! जो सब व्यक्ति, भक्तिपूर्वक शुभ्र पद्म अथवा नील पद्म के

पद्मेनैकेन देवेशं योऽर्च्चयेत् कमलाप्रियम्। वर्षायुतसहस्रस्य पापस्य कुरुते क्षयम् ॥९६॥
पद्मैः पद्मालयाभर्त्ता पूजितः पद्महस्तभृत्।
ददाति वैष्णवान् पुत्रान् भक्तिमव्यभिचारिणीम् ॥९७॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-संवादे—

पद्मपुष्पाणि यो दद्यात्तस्माच्छतगुणं भवेत् ॥९८॥

तत्र वर्ण विशेषेण माहात्म्यविशेषः

तथा च स्कान्दे—

रक्तपद्मप्रदानेन रुक्ममाषकदो भवेत्। शतं दत्त्वा च धर्म्मात्मा वह्निष्टोमफलं लभेत् ॥९९॥
सहस्रञ्च तथा दत्त्वा सूर्य्यलोके महीयते। विष्णुलोकमवाप्नोति लक्षपूजाविधायकः ॥१००॥
स्वयमेव तथा लक्ष्मीर्भजते नात्र संशयः। रक्तपद्मप्रदानाद्धि श्वेतस्य द्विगुणं फलम् ॥१०१॥

तत्रापि कार्त्तिके विशेषः

पाद्मोत्तरखण्डे कार्त्तिक माहात्म्ये —

कमलैः कमलाकान्तः पूजितः कार्त्तिके तु यैः। कमला अनुगा तेषां जन्मान्तरशतेष्वपि ॥१०२

स्कान्दे च श्रीब्रह्मनारद-संवादे —

कार्त्तिके नार्च्चितो यैस्तु कमलैः कमलेक्षणः। जन्मकोटिषु विप्रेन्द्र न तेषां कमला गृहे ॥१०३

तस्मादिति प्राग्वत्, तत्र पूर्व्वोक्तां सौवर्णपुष्पदशकफलप्रदानात् करवीरपुष्पार्पणफलादिति ज्ञेयम् ॥९८॥
रुक्ममाषकद इति सुवर्णमाषदानफलं प्राप्नुयादित्यर्थः। शतं रक्तपद्मानाम्, एवमग्रेऽपि, स्वयमेव लक्ष्मीर्भजत इति साक्षात् सर्व्वसम्पत्तिस्तस्य भवेदित्यर्थः एवं कमला अनुगेत्यपि ॥९९-१०२॥

द्वारा श्रीहरि की अर्चना नहीं किये हैं, वे सब नष्ट विनष्ट होकर कलिगह्वर में निपतित हुये हैं। जिन्होंने एकमात्र पद्म के द्वारा देवेश्वर कमलाकान्त की पूजा की है, उनका अयुत वर्ष कृत पाप विनष्ट होता है। पद्महस्त कमलाकान्त, पद्म के द्वारा पूजित होने से वैष्णव पुत्रगण को अव्यभिचारिणी भक्ति प्रदान करते हैं ॥९५-९७॥

उक्तपुराण में श्रीशिव-उमा-संवाद में उक्त है—जो व्यक्ति, श्रीहरि को पद्म निवेदन करेंगे, वे उससे भी अर्थात् स्वर्णमय दश पुष्प अर्पण का फलप्रद करवीर कुसुमार्पण से शतगुण अधिक फल प्राप्त करेंगे ॥९८॥

तत्र वर्ण विशेषेण माहात्म्यविशेषः

स्कन्दपुराण में वर्णित है—रक्त पद्म प्रदान करने से एक माषा सुवर्ण दान का फल लाभ होगा, धर्मात्मा व्यक्ति, एकशत पद्म प्रदान करने से अग्निष्टोम का फल लाभ करेंगे। सहस्र दान करने से सूर्य्यलोक में सम्मान के सहित निवास कर सकेंगे। जो व्यक्ति, लक्ष रक्तपद्म के द्वारा श्रीहरि की अर्चना करते हैं, वे विष्णुलोक को प्राप्त करते हैं अर्थात् लक्ष्मी के अनुग्रह से उनको समस्त सम्पत्ति लाभ होता है, इसमें संशय नहीं है। रक्त पद्म अर्पण करने की अपेक्षा शुक्ल पद्म निवेदन का फल द्विगुण है ॥९९-१०१॥

तत्रापि कार्त्तिके विशेषः

पाद्मोत्तर खण्ड के कार्त्तिक माहात्म्य में लिखित है—जो कार्त्तिक मास में कमल द्वारा कमलाकान्त की पूजा करते हैं, कमला शतजन्म पर्य्यन्त उनकी अनुगा होती हैं ॥१०२॥

नीलोत्पलस्य माहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

दत्त्वा नीलोत्पलं मुख्यं कुसुमं कुङ्कुमस्य च ।
तुल्यं फलमवाप्नोति बन्धुजीवस्य च द्विजाः ॥१०४॥

सुवर्णदशदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः । दत्त्वा नीलोत्पलं विष्णोर्नात्र कार्य्या विचारणा ॥१०५
नीलोत्पलशतं दत्त्वा वह्निष्टोमफलं लभेत् । नीलोत्पलसहस्रेण पुण्डरीकमवाप्नुयात् ।
लक्षपूजां नरः कृत्वा राजसूयफलं लभेत् ॥१०६॥

कुमुदस्य माहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

रुक्ममाषकदानस्य फलं कुमुदतो भवेत् । कुमुदानां शतं दत्त्वा चन्द्रलोके महीयते ॥१०७॥
सहस्रञ्च तथा दत्त्वा यथेष्टां गतिमाप्नुयात् । अश्वमेधमवाप्नोति लक्षपूजाविधायकः ॥१०८॥
रक्तोत्पलप्रदे विष्णोस्तथा स्याद्‌द्विगुणं फलम् ॥१०९॥

कदम्बस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

जातरूपनिभैर्विष्णुं कदम्बकुसुमैर्मुने । येऽर्च्चयन्ति च गोविन्दं न तेषां सौरिजं भयम् ॥११०॥
कदम्बकुसुमैर्हृद्यैर्येऽर्च्चयन्ति जनार्द्दनम् । तेषां यमालयो नैव न जायन्ते कुयोनिषु ॥१११॥

जातरूपं सुवर्णं, तन्निभैस्तत्सदृशवर्णैरित्यर्थः । न च ते कुयोनिषु जायन्ते ॥११०-१११॥

स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—हे द्विजश्रेष्ठ ! जो जन कार्त्तिकमास में कमल के द्वारा कमलनयन की पूजा नहीं किये हैं, कोटि जन्म में भी उनके गृह में कमला निवास नहीं करती हैं ॥१०३॥

नीलोत्पलस्य माहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—हे द्विजगण ! मुख्य नीलोत्पल एवं कुङ्कुम पुष्प, बन्धुजीव पुष्प अर्पण करने पर समान फल होता है, श्रीविष्णु को नीलोत्पल अर्पण करने से मनुष्य दश सुवर्ण प्रदान का फल लाभ करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, एक शत नीलोत्पल निवेदन करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ होता है एवं लक्ष नीलोत्पल द्वारा पूजा करने पर मनुष्य राजसूययज्ञानुष्ठान का फल प्राप्त करते हैं ॥१०४-१०६॥

कुमुदस्य माहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तर में उक्त है—कुमुद अर्पण करने से एक माष परिमित सुवर्ण दान का फल लाभ होगा। शतसंख्यक कुमुद पुष्प निवेदन करने से चन्द्रलोक में ससम्मान से वसति होगी। सहस्र संख्यक कुमुद कुसुम अर्पण करने से वासनानुरूप गति लाभ होता है एवं लक्ष्यसंख्यक कुमुद कुसुम के द्वारा पूजन करने से अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है। श्रीहरि को रक्तोत्पल प्रदान करने से उस प्रकार द्विगुण फल होगा ॥१०७-१०९॥

कदम्बस्य माहात्म्यम्

ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—हे तपोधन ! स्वर्णवर्ण कदम्ब पुष्प के द्वारा जो व्यक्ति श्रीगोविन्द की अर्चना करते हैं, उनका यम भय नहीं होता है। जो जन, मनोहर कदम्ब कुसुम द्वारा जनार्दन की पूजा करते हैं, उनको यमालय जाना नहीं पड़ता है एवं कुत्सित योनि में भी जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है ॥
॥११०-१११॥

किञ्च—

न तथा केतकीपुष्पैर्मालतीकुसुमैर्न हि। तोषमायाति देवेशः कदम्बकुसुमैर्यथा ॥११२॥

दृष्ट्वा कदम्बपुष्पाणि प्रीतो भवति माधवः। किं पुनः पूजितस्तैश्च सर्व्वकामप्रदो हरिः ॥११३॥

यथा पद्मालयां प्राप्य प्रीतो भवति माधवः। कदम्बकुसुमं लब्ध्वा तथा प्रीणाति लोककृत् ॥११४

सकृत् कदम्बपुष्पेण हेलया हरिरर्च्चितः। सप्त जन्मानि देवेशस्तस्य लक्ष्मीरदूरतः ॥११५॥

कदम्बपुष्पगन्धेन केशवो वा सुवासितः। जन्मायुतार्ज्जितस्तेन निहतः पापसञ्चयः ॥११६॥

आषाढ़े विशेषः

तत्रैव—

घनागमे घनश्यामः कदम्बकुसुमार्च्चितः। ददाति वाञ्छितान् कामान् शतजन्मानि सम्पदः ॥११७

कदम्बकुसुमैर्देवं घनवर्णं घनागमे। येऽर्च्चयन्ति मुनिश्रेष्ठ तैराप्तं जन्मनः फलम् ॥११८॥

करवीरस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीशिवोमा-संवादे—

करवीरैर्महादेवि यः पूजयति केशवम्। दशसौवर्णकैः पुष्पैर्यत् फलं तदवाप्नुयात् ॥११९॥

करवीरैः सुरक्तैश्च यो विष्णुं सकृदर्च्चयेत्। गवामयुतदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥१२०॥

लोककृदपि हेलयापि; वा-शब्दो यदिवेत्यर्थः, कदम्बपुष्पस्य गन्धमात्रेणापि, यदि वा वासितस्तथापीत्यर्थ ॥११४-११६॥

सम्पदश्च विभूतीर्ददाति; घनश्याम इति घनवर्णमिति च कदम्बपुष्पभूषणेन शोभातिशयोऽभिप्रेतः ॥११७-११८॥

कदम्ब कुसुम से देवेश्वर को सन्तोष जिस प्रकार होता है, केतकी अथवा मालतीपुष्प से उस प्रकार सन्तोष नहीं होता है। श्रीमाधव, कदम्ब कुसुम को देखकर ही प्रसन्न होते हैं, सुतरां तद्द्वारा पूजित होने से जिस प्रकार प्रसन्न होंगे, उसकी कथा ही क्या है, तब तो श्रीहरि समस्त वासना पूर्ण करते हैं। लोकस्रष्टा माधव, कमला को प्राप्त कर जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं, कदम्ब कुसुम प्राप्त होने से उस प्रकार आनन्दित होते हैं, श्रीहरि की अवहेलना से भी एकमात्र कदम्ब कुसुम से पूजा करने से श्रीहरि एवं लक्ष्मी सप्त जन्म पर्य्यन्त सन्निधान में अवस्थान करते हैं। कदम्ब कुसुम के द्वारा केशव को सुवासित करने से अयुत जन्म-अर्जित पातकपुञ्ज विनष्ट होते हैं ॥११२-११६॥

आषाढ़े विशेषः

स्कन्दपुराण में ही वर्णित है—वर्षाकाल उपस्थित होने से यदि कदम्ब कुसुम के द्वारा घनश्याम की अर्चना की जाती है, तब आप शतजन्म पर्य्यन्त प्रतिजन्म को अभिलषित मनोऽभीष्ट सिद्ध करते हैं एवं सर्व सम्पत्ति प्रदान करते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ! जो व्यक्ति वर्षाकाल में घनश्यामदेव की पूजा कदम्ब-कुसुम के द्वारा करते हैं, उनका जन्म सार्थक होता है ॥११७-११८॥

करवीरस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के श्रीशिव-उमा-संवाद में वर्णित है—हे महादेवि! जो व्यक्ति, करवीर कुसुम द्वारा केशव की पूजा करते हैं, वे दश सुवर्ण पुष्प प्रदान का फल लाभ करते हैं। जो मनुष्य, सातिशय लोहितवर्ण करवीर के द्वारा सकृन्मात्र श्रीविष्णु की अर्चना करते हैं, वे दशसहस्र गो-दान का फल प्राप्त करते हैं ॥११९-१२०॥

तत्रैव ब्रह्मनारद-संवादे—

येऽर्च्चयन्ति सुराध्यक्षं करवीरैः सितासितैः। चतुर्युगानि विप्रेन्द्र प्रीतो भवति केशवः ॥१२१॥

सितरक्तैर्महापुण्यैः कुसुमैः करवीरजैः। योऽच्युतं पूजयेद्भक्त्या स याति गरुड़ध्वजम् ॥१२२॥

पुरन्ध्रिपुष्पस्य माहात्म्यम्

पुरन्ध्रि-पुष्पैर्यः कुर्य्यात् पूजां मधुरिपोर्नरः। तस्य प्रसादमायाति देवश्चक्रगदाधरः ॥१२३॥

रम्याः पुरन्ध्रि-मञ्जर्य्यो दयितास्तस्य नित्यशः।

पुरन्ध्रि-पुष्पं यो दद्यादेकमप्यस्य मण्डले ॥१२४॥

तिलप्रस्थप्रदानस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम्। पुरन्ध्रि-मञ्जरीपुष्पैः सहस्रेणार्च्चयेद्धरिम् ॥१२५॥

अग्निष्टोममवाप्नोति कुलमुद्धरते तथा। कर्पूरपटवासेन पुरन्ध्रिमधिवासिताम् ॥१२६॥

महारजनरक्ते च तथा सूत्रे निवेशिताम्। मालां पुष्पसहस्रेण यः प्रयच्छति भक्तितः ॥१२७॥

अश्वमेधफलं तस्य नात्र कार्य्या विचारणा। शतेन वाजपेयस्य फलमाप्नोत्यसंशयम्।

लक्षपूजां तथा कृत्वा सर्व्वज्ञानमवाप्नुयात् ॥१२८॥

अगस्त्यपुष्पस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

अगस्त्यकुसुमैर्देवं येऽर्च्चयन्ति जनार्द्दनम्। दर्शनात्तस्य देवर्षे नरकाग्निः प्रशाम्यति ॥१२९॥

न तत् करोति विप्रेन्द्र तपसा तोषितो हरिः। यत् करोति हृषीकेशो मुनिपुष्पैरलङ्कृतः॥१३०

मुनिपुष्पकृतां मालां ये यच्छन्ति जनार्द्दने। देवेन्द्रोऽपि मुनिश्रेष्ठ कम्पते तस्य शङ्कया ॥१३१॥

किञ्च तत्रैवान्यत्र—

मुनिपुष्पकृतां मालां दृष्ट्वा कण्ठे विलम्बिताम्। प्रीतो भवति दैत्यारिर्दशजन्मानि नारद ॥१३२

तथेति समुच्चये पक्षान्तरे वा, महारजनरक्ते सूत्रे पुष्पसहस्रेण निवेशितां ग्रथितां मालाञ्च यः प्रयच्छति; शतेन पुरन्ध्रिपुष्पाणाम्, एवं लक्षञ्च, तेन पूजाम् ॥१२६-१२८॥

हे देवर्षे! तस्य दर्शनात् तेषां दर्शनादित्यर्थः, कण्ठे आत्मनो भक्तस्य वा ॥१२९-१३२॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—हे विप्रश्रेष्ठ! जो व्यक्ति शुभ्र अथवा लोहित करवीर कुसुम द्वारा देवदेव श्रीहरि की पूजा करते हैं, चतुर्य्युगावसान यावत् श्रीहरि उनके प्रति सन्तुष्ट रहते हैं। अतीव पवित्र श्वेत किंवा रक्त करवीर पुष्प द्वारा जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक श्रीअच्युत की पूजा करते हैं, वे श्रीगरुड़ध्वज को प्राप्त करते हैं ॥१२१-१२२।

पुरन्ध्रिपुष्पस्य माहात्म्यम्

जो व्यक्ति पुरन्ध्रि पुष्प के द्वारा मधुरिपु श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं, चक्र-गदाधारी श्रीहरि उन पर प्रसन्न रहते हैं। रमणीया पुरन्ध्री मञ्जरी नित्य ही श्रीहरि की प्रीति विधायिनी है। जो व्यक्ति प्रभु के मण्डल में एक पुरन्ध्रि पुष्प अर्पण करते हैं, उनको प्रस्थ परिमित तिलदान का फल लाभ होता है, सन्देह नहीं है। जो जन, सहस्र संख्यक पुरन्ध्रि मञ्जरी अथवा तत्पुष्प के द्वारा श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ करते हैं एवं निजकुल को उद्धार करते हैं। सहस्र संख्यक पुरन्ध्रि मञ्जरी कर्पूरचूर्ण से सुगन्धित करके भक्ति पूर्वक श्रीकेशव को माल्य प्रदान करते हैं, आप निःसन्देह अश्वमेध-यज्ञ का फल

अगस्त्यवृक्षसम्भूतैः कुसुमैरसितैः सितैः । येऽर्च्चयिष्यन्ति देवेशं संप्राप्तं परमं पदम् ॥१३३॥

विष्णुरहस्ये —

अगस्त्यसम्भवैः पुष्पैः किंशुकैः सुमनोहरैः । समभ्यर्च्चर्य हृषीकेशं जन्मदुःखाद्विमुच्यते ॥१३४॥

तत्र च कार्त्तिके विशेषः

स्कान्दे तत्रैव —

बिहाय सर्व्वपुष्पाणि मुनिपुष्पेण केशवम् ।
कार्त्तिके योऽर्च्चयेद्भक्त्या वाजिमेधफलं लभेत् ॥१३५॥
मुनिपुष्पार्च्चितो विष्णुः कार्त्तिके पुरुषोत्तमः ।
ददात्यभिमतान् कामान् शशि-सूर्य्यस्थितो यथा ॥१३६॥

गवामयुतदानेन यत् फलं प्राप्यते मुने । मुनिपुष्पेण चैकेन कार्त्तिके तत् फलं स्मृतम् ॥१३७॥

किंशुकैः पलाशपुष्पैः, किंवा किंशुकपुष्पाकारैरित्यर्थः ॥१३४॥

यथा सूर्य्यस्थितः शशीति अमावास्यायां यथा फलविशेषो भवतीत्यर्थः । शशीति ह्रस्वपाठेनैकपदे योग-विशेषः ; अर्थस्तु स एव । यद्वा, शुक्लरक्तागस्त्यपुष्पैः पूजितः सन् शशिसूर्य्ययोः स्थित इव ताभ्यामप्यधिकः पुरुषोत्तमो भवति, अतः शोभातिशयं प्राप्तोऽसौ श्यामसुन्दरः सन्तुष्टः सन् अभिमतान् कामान् ददातीत्यर्थः ॥ ॥१३६॥

लाभ करते हैं । शत संख्य पुरन्ध्रि पुष्प अर्पण करने से निश्चय ही वाजपेय-यज्ञ का फल होता है एवं लक्ष संख्य द्वारा पूजा करने से सर्वज्ञता लाभ होता है ॥१२३-१२८॥

अगस्त्यपुष्पस्य-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है—हे नारद ! जो जन, वक पुष्प के द्वारा श्रीहरि की पूजा करते हैं, उनका दर्शन करने पर नरकानल निर्वापित होता है । हे विप्रसत्तम ! वक कुसुम के द्वारा अलङ्कृत करने से श्रीहरि जो कुछ करते हैं, तपोनुष्ठान के द्वारा सन्तुष्ट करने पर उस प्रकार कुछ नहीं करते हैं । हे मुनिवर ! जो व्यक्ति, जनार्दन को वक पुष्प की माला अर्पण करते हैं, उनके भय से सुरराज कम्पित होते हैं ॥१२९-१३१॥

स्कन्दपुराण के अन्यत्र और भी वर्णित है—हे नारद ! स्वीय कण्ठ में अथवा वक-पुष्प रचित माला भक्त-कण्ठ में लम्बायमान देखने से श्रीहरि दश जन्म पर्य्यन्त उसके प्रति सन्तुष्ट रहते हैं । जो पुरुष, शुभ्र अथवा कृष्णवर्ण वककुसुम द्वारा देवदेव जनार्दन की पूजा करते हैं, उनको परमपद मिलता है ॥१३२-१३३

विष्णु रहस्य में कथित है—पलाश कुसुम तुल्य मनोहर वक कुसुम द्वारा हृषीकेश की पूजा करने से जन्म-दुःख से मुक्ति लाभ होता है ॥१३४॥

तत्र च कार्त्तिके विशेषः

स्कन्दपुराण के उक्त स्थल में ही वर्णित है—जो व्यक्ति अन्यान्य पुष्प वर्जन कर केवल वक पुष्प द्वारा कार्त्तिक मास में भक्ति पूर्वक श्रीकेशव की पूजा करते हैं, उनको अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है । कार्त्तिक मास में वक पुष्प द्वारा पूजित पुरुषोत्तम विष्णु अमावस्या में पूजित होने से जिस प्रकार फल प्रदान करते हैं, तद्रूप अभीप्सित विषय पूर्ण करते हैं । हे मुने ! अयुत संख्य गोदान करने पर जो फल लाभ होता है, कार्त्तिक मास में एक वक पुष्प द्वारा पूजा करने से उक्त फल लाभ होता है ॥१३५-१३७॥

पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये च —

मुनिपुष्पैर्यदि हरिः पूजितः कार्त्तिके नरैः। मुनीनामेव गतिदो ज्ञानिनामूर्द्ध्वरेतसाम् ॥१३८॥

केतकीपुष्पस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे तत्रैव—

केतकीपुष्पकेणैव पूजितो गरुड़ध्वजः। समाः सहस्रं सुप्रीतो जायते मधुसूदनः ॥१३९॥

अर्च्चयित्वा हृषीकेशं कुसुमैः केतकोद्भवैः। पुण्यं तद्भुवनं याति केशवस्य रमालयम् ॥१४०॥

किञ्च—

सुवर्णकेतकीपुष्पं यो ददाति जनार्द्दने। सुवर्णदानजं पुण्यं लभते स महामुने ॥१४१॥

विशेषतश्चाषाढ़े

तत्रैव—

केशवः केतकीपुष्पैर्मिथुनस्थे दिवाकरे। येनार्च्चितः सकृद्भक्त्या स मुक्तो नरकार्णवात् ॥१४२

केतकीपुष्पमादाय मिथुनस्थे दिवाकरे। येनार्च्चितो हरिर्भक्त्या प्रीतो मन्वन्तरं मुने ॥१४३॥

श्रावणे माहात्म्य-विशेषः

कर्कराशिगते सूर्य्ये केतकीपत्रकोमलैः। येऽर्च्चयिष्यन्ति गोविन्दं संप्राप्ते दक्षिणायने ॥१४४॥

कृत्वा पापसहस्राणि महापापशतानि च।
तेऽपि यास्यन्ति विप्रेन्द्र यत्र विष्णुः श्रिया सह ॥१४५॥

पत्रैकेनेति पाठे एकेनापि पत्रेणेत्यर्थः। तथापि पत्रशब्दोऽत्र पुष्पपत्रपरः। यद्वा, केतकीशब्देन तत्पुष्पं, तस्यैकपत्रेण, क्वचिच्च पत्रैकेनैवेति पाठः ॥१३९॥

सुवर्णवत् यत् केतकीपुष्पं; एतेन शुक्लाभं वन्यकेतकं व्यवच्छिन्नम् ॥१४१॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है—यदि मनुष्यगण, कार्त्तिक मास में वक पुष्प के द्वारा श्रीहरि की पूजा करते हैं तो, प्रभु उन सबको ज्ञानो, ऊद्‌ध्वरेता और तापसी गति प्रदान करते हैं ॥१३८॥

केतकीपुष्पस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में लिखित है--केवल केतकी कुसुम द्वारा गरुड़ध्वज श्रीमधुसुदन की अर्च्चना करने से ही वे सहस्र वर्ष वत्सर पर्य्यन्त पूजक के प्रति परितुष्ट रहते हैं। केतकी वृक्ष समुद्भव पुष्प के द्वारा हृषीकेश की पूजा करने से जहाँ कमला का निवास है, उस पवित्र धाम में गमन कर सकते हैं ॥१३९-१४०॥

और भी वर्णित है—जो व्यक्ति, सुवर्ण वर्ण केतकी कुसुम जनार्दन को अर्पण करते हैं, हे महामुने! वे सुवर्ण दान का फल लाभ करते हैं ॥१४१॥

विशेषतश्चाषाढ़े

स्कन्दपुराण में वर्णित है—सूर्य्य मिथुन राशिगत होने पर जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक केतकी कुसुम के द्वारा श्रीकेशव की पूजा करते हैं, वे नरकार्णव से उत्तीर्ण होते हैं। हे मुने! दिवाकर मिथुन राशि गत होने पर जो व्यक्ति केतकी कुसुम द्वारा भक्तिपूर्वक श्रीहरि की पूजा करते हैं, श्रीहरि मन्वन्तर यावत उनके प्रति सन्तुष्ट रहते हैं ॥१४२-१४३॥

श्रावणे माहात्म्य-विशेषः

हे विप्रश्रेष्ठ! क्षिणायन उपस्थित होने से जब भास्कर कर्कट राशि गत होते हैं, तब जो व्यक्ति, सुकोमल केतको कुसुम के द्वारा श्रीगोविन्द की पूजा करते हैं, वे स्र सहस्र एवं शत शत महापाप करने से भी कमला के सहित श्रीहरि जहाँ पर निवास करते हैं, वहाँ पर गमन करते हैं ॥१४४-१४५॥

कार्त्तिकेऽपि माहात्म्य विशेषः

तत्रैव—

कार्त्तिके केतकीपुष्पं दत्तं येन कलौ हरेः। दीपदानञ्च देवर्षे तारिते स्वकुलायुतम् ॥१४६॥

कुन्दस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे तत्रैव—

अभ्यर्च्चर्य कुन्दकुसुमैः केशवं कलमषापहम्। प्रयाति भवनं विष्णोर्वन्दितं मुनिचारणैः ॥१४७॥

दशमस्कन्धे (३०।११) च साक्षात् श्रीभगवद्वेशवर्णने—

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै,-स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृ तिमच्युतो वः।

कान्ताङ्गसङ्ग-कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः, कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥१४८॥

तथा (श्रीभा १०।३५।२०)—

कुन्ददामकृतकौतुकवेशो, गोपगोधनवृतो यमुनायाम्।

नन्दसूनुरनघे तव वत्सो, नर्म्मदः प्रणयिनां विजहार ॥१४९॥

दीपदाञ्चेति दृष्टान्तत्वेन, तस्य कार्त्तिके परमप्रसिद्धमाहात्म्यात् ॥१४६॥

रासक्रीड़ायां अन्तर्हितस्य श्रीभगवतोऽन्वेषणे विरहाकुलानां श्रीवल्लवीनां वचनम्—अपीति निर्द्धारणे प्रश्ने वा, भो एणपत्नि हे सखि, वो युष्माकं दृशां, गात्रैः श्रीलोचनाद्यवयवैः सुनिर्वृ तिं परमानन्दं तन्वन् सन् प्रियया श्रीराधया सहाच्युत इह उपगतः निकटं प्राप्तः। तस्य लिङ्गमाहुः—कान्तेति। कुलपतेः श्रीकृष्णस्य, एवं रासक्रीड़ाय श्रीभगवता साक्षाद्भूषणभूतकुन्दमालाया गृहीतत्वात्, तथैव च भगवदुपगमविज्ञानात्तत्प्रियत्व-सिद्धया माहात्म्यविशेषः सङ्गतः ॥१४८॥

तथा दिवसान्तरे तासामेव श्रीयशोदां प्रति वचनम्—कुन्देति। कुन्दस्य दाम्ना मालया कृतः, कौतुकेन परमोत्साहेन; यद्वा, कौतुकमुत्सवस्तद्रूपो वेशो येन; एवं माहात्म्यविशेषः सिद्ध एव ॥१४९॥

कार्त्तिकेऽपि माहात्म्य-विशेषः

स्कन्दपुराण के उक्त स्थल में ही लिखित है—हे देवर्षे! जो व्यक्ति, कार्त्तिक मास में श्रीहरि को केतकी कुसुम एवं प्रदीप प्रदान किये हैं, उन्होंने स्वीय दश सहस्र कुल की रक्षा की है ॥१४६॥

कुन्दस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में उक्त है—कुन्द पुष्प द्वारा पापनाशन केशव की पूजा करने से मनुष्यगण, मुनिवृन्द तथा चारणगण वन्दित श्रीहरि धाम में प्रस्थान करते हैं ॥१४७॥

श्रीभागवत के दशम स्कन्ध के साक्षात् भगवद् वेश वर्णन में लिखित है—गोपीगण, हरिणीगण की दृष्टि को प्रसन्न देखकर श्रीकृष्णदर्शन की सम्भावना कर कही थीं, हे हरिणपत्नीगण! हमारे अच्युत स्वीय चारु वसन, एवं बाहु प्रभृति के द्वारा तुम सबके नयनानन्द वर्द्धन करतः प्रिया के सहित क्या समीप में आगमन किये थे? कारण, श्रीकृष्ण की कुन्द पुष्पमाला जो कान्तागण के सङ्ग वशतः तदीय कुच कुङ्कुम से रञ्जिता हुई, उसकी गन्ध यहाँ पर आ रही है ॥१४८॥

दशम स्कन्ध में ही वर्णित है—शुकदेव बोले, हे राजन्! श्रीकृष्ण, इस प्रकार वृन्दावन प्रदेश में क्रीड़ा करतः सायाह्न में गोधनसमूह को प्रत्यानयन पूर्वक जिस समय यमुना में क्रीड़ा करते हैं, उस समय गोपीगण उनका तात्कालिक सौभाग्य वर्णन कर कहने लगीं—हे शुद्धशीले यशोदे! तुम्हारे वत्स, श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्ण, कौतुक के सहित गोप एवं गोधनसमूह से परिवृत होकर प्रणयीगण को हर्षित करते हुये यमुना में विहार करते हैं ॥१४९॥

पावन्तीकुसुमस्य माहात्म्यम्

विष्णुपुराणे—
अर्च्चयित्वा हृषीकेशं पावन्तीकुसुमैर्नरः । हृष्टपुष्टगणाकीर्णं कार्ष्णं लोकमवाप्नुयात् ॥१५०॥

कर्णिकारस्य माहात्म्यम्

तत्रैव—
कर्णिकारमयैः पुष्पैः कान्तैः कनकसुप्रभैः । अर्च्चयित्वाच्युतं लोके तस्य लोके महीयते ॥१५१॥

दशमस्कन्धे (२१।५) च तत्रैव—
बर्हापीड़ं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं, बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै,-र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्त्तिः ॥१५२

रक्तशतपत्रिकाया माहात्म्यम्

स्कान्दे तत्रैव—
कुङ्कुमारुणवर्णाढ्यां शतपत्रिकाम् । यो ददाति जगन्नाथे श्वेतद्वीपात् पतेन्न हि ॥१५३॥

सेवन्ती-पलाशपुष्पयोर्माहात्म्यम्

तत्रैव—
सेवन्तीकुसुमैः पुष्पैः किंशुकैः सुमनोहरैः । समभ्यर्च्च्य हृषीकेशं जन्मदुःखाद्विमुच्यते ॥१५४॥

पावन्ती कुन्दभेदः, हृष्टपुष्टैरन्तर्व्वहिः सुखपूर्णैः, गणैः, पार्षदैराकीर्णं व्याप्तं कार्ष्णं कृष्णसम्बन्धिनं, हृष्टपुष्ट इत्यसमस्तपाठे नरस्य विशेषणम् ; पाठान्तरं सुगमम् ॥१५०॥

कर्णिकारं कर्णयोर्विभ्रदिति—साक्षात् श्रीभगवद्वेशे तस्य वर्णनेन माहात्म्यभरः सिद्ध एव ॥१५२॥

पावन्तीकुसुमस्य माहात्म्यम्

विष्णुपुराण में वर्णित है—मनुष्यगण, पावन्तीकुसुम के द्वारा हृषीकेश की पूजा करके अन्तर्वाह्य सुख-पूर्ण पार्षदवृन्द से परिवृत कृष्णलोक को प्राप्त करते हैं ॥१५०॥

कर्णिकारस्य माहात्म्यम्

विष्णुपुराण में उक्त है—काञ्चन तुल्य सुन्दर कान्ति मनोहर कर्णिकार कुसुम द्वारा अच्युत की पूजा करने से तदीय धाम में सम्मान के सहित निवास होता है ॥१५१॥

दशमस्कन्ध में लिखा है—श्रीशुकदेव ने कहा—हे राजन् ! श्रीकृष्ण स्मरण से व्रजाङ्गनागण के चित्त क्षुब्ध हुआ, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो—गोपीवृन्द ने मन में समझा, श्रीहरि नटवर वेश धारण कर स्वीय पद चिह्न शोभित रमणीय वृन्दावन में प्रविष्ट हुये हैं, उनके शिरोभाग में मयूरपुच्छमय मुकुट, कर्णयुगल में कर्णिकार, परिधान में काञ्चन तुल्य कपिश वसन, गल देश में वैजयन्ती माला विद्यमान है। वे अधर-सुधा द्वारा वेणु रन्ध्र को पूर्ण करते हैं और गोपगण उनके चारों ओर उन्हीं की कीर्त्ति को गाते रहते हैं ॥१५२॥

रक्तशतपत्रिकाया माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में उक्त है—जो व्यक्ति कुङ्कुम तुल्य अरुण वर्ण गन्धयुक्त शतपत्रिका कुसुम जगन्नाथ को अर्पण करते हैं, वे पुनर्वार श्वेतद्वीप से प्रत्यावर्त्तन नहीं करते हैं ॥१५३॥

सेवन्ती पलाश पुष्पयोर्माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के उसी स्थान में लिखा है—पवित्र सेवन्ती एवं मनोरम पलाश फूल के द्वारा हृषीकेश की पूजा करने से जन्म दुःख से उत्तीर्ण हो जाता है ॥१५४॥

कुब्जस्य माहात्म्यम्

तत्रैव—

गन्धाढ्यै र्विमलैर्वन्यैः कुसुमैः कुब्जकोद्भवैः । भक्त्याभ्यर्च्च्य हृषीकेशं श्वेतद्वीपे वसेन्नरः ।।१५५

चम्पकस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे तत्रैव—

नीलोत्पलसमं दानं चम्पकस्य जनार्द्दने ।।१५६।।

तत्रैव ब्रह्मनारद-संवादे—

वर्षाकाले तु देवेशं कुसुमैश्चम्पकोद्भवैः । येऽर्च्चयन्ति नरा भक्त्या संसारे न पुनर्गतिः ।।१५७

अशोकवकुलयोर्माहात्म्यम्

विष्णुरहस्ये तत्रैव—

अशोककुसुमै रम्यैर्जन्मशोकभयापहम् । पूजयित्वा हरिं देवं याति विष्णुमनामयम् ।।१५८।।

अन्यच्च स्कान्दे तत्रैव—

वकुलाशोककुसुमैर्येऽर्च्चयन्ति जगत्पतिम् । ते वसन्ति हरेर्लोके यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।।१५९।।

पाटलस्य माहात्म्यम्

तत्रैव—

योऽर्च्चयेत् पाटलापुष्पैः सर्व्वपापहरं हरिम् ।
स पुण्यात्मा परं स्थानं वैष्णवं व्रजते ध्रुवम् ।।१६०।।

जनार्द्दने दानं समर्पणम् । निरातङ्कः संसारादिभयरहितः ।।१५६-१६२।।

कुब्जस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में लिखित है—मानव, गन्धयुक्त शुभ्र वन कुब्ज पुष्प द्वारा भक्तिपूर्वक हृषीकेश की पूजा करने से श्वेतद्वीप में निवास कर सकते हैं ।।१५५।।

चम्पकस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के उक्त स्थान में लिखित है—जनार्दन को चम्पक कुसुम अर्पण करने से नीलोत्पलार्पण का फल लाभ होता है ।।१५६।।

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है—जो मनुष्य चम्पक कुसुम के द्वारा श्रीहरि की पूजा करते हैं, उनको पुनर्वार संसार में देह धारण करना नहीं पड़ता है ।।१५७।।

अशोक वकुलयोर्माहात्म्यम्

विष्णुरहस्य में लिखित है—मनोहर अशोक कुसुम के द्वारा जन्म, शोक, भय, निवारक श्रीहरिदेव की पूजा करने से अनामय विष्णुधाम में गति होती है ।। ५८।।

स्कन्दपुराण के अन्यत्र वर्णित है—वकुल, अशोक कुसुम द्वारा जो व्यक्ति विश्वपति की पूजा करते हैं, वे सब चन्द्र सूर्य्य के स्थित काल पर्य्यन्त विष्णुधाम में निवास करते हैं ।।१५९।।

पाटलस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के उक्त स्थल में लिखित है—जो व्यक्ति पाटलपुष्प के द्वारा सर्व पापहर श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे पवित्रात्मा अवश्य ही विष्णुलोक गमन करते हैं ।।१६०।।

यः पुनः पाटलापुष्पैर्वसन्ते गरुड़ध्वजम् ।
अर्च्चयेत् परया भक्त्या मुक्तिभागी भवेद्धि सः ॥१६१॥

तिलकस्य माहात्म्यम्

विष्णुरहस्ये—

तिलकस्योज्ज्वलैः पुष्पैः संपूज्य मधुसूदनम् ।
धूतपाप्मा निरातङ्कः कृष्णस्यानुचरो भवेत् ॥१६२॥

जवाया माहात्म्यम्

विष्णुरहस्ये—

समुज्ज्वलैर्जवापुष्पैरभ्यर्च्चर्य जलशायिनम् । सुपुण्यां गतिमाप्नोति वीतभीर्वीतमत्सरः ॥१६३॥
जवापुष्पैः पुमान् भक्त्या संपूज्य पुरुषोत्तमम् । उत्तमां गतिमाप्नोति प्रसन्ने गरुड़ध्वजे ॥१६४॥

अटरूषकस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे तत्रैव—

अटरूषकपुष्पैर्यः पूजयेत् जगतां पतिम् । स पुण्यवान्नरो याति विष्णोस्तत्परमां गतिम् ॥१६५॥

कुसुम्भस्य माहात्म्यम्

तत्रैव—

कुसुम्भकुसुमैर्हृद्यैर्येऽर्च्चयन्ति जनार्द्दनम् । तेषां ममालये वासः प्रसादाच्चक्रपाणिनः ॥१६६॥

समुज्ज्वलैः शुक्लैः; तत्पूजयैव प्रसन्ने सति; द्वितीयान्तो वा पाठः, पुरुषोत्तममिति विशेषणम् ॥१६३-१६४॥
मम ब्रह्मणः ॥१६६॥

वसन्त ऋतु में जो व्यक्ति पाटल पुष्प द्वारा परम भक्तिपूर्वक गरुड़ध्वज की पूजा करते हैं, वे निश्चय ही मुक्ति लाभ करेंगे ॥१६१॥

तिलकस्य माहात्म्यम्

विष्णुरहस्य में वर्णित है—शुभ्र तिलपुष्प द्वारा सम्यक् प्रकार से मधुसूदन की पूजा करने से पापशून्य एवं संसारादि भय रहित होकर श्रीकृष्ण का अनुचर होता है ॥१६२॥

जवाया माहात्म्यम्

विष्णुरहस्य में लिखित है—शुक्ल जवाकुसुम के द्वारा जलशायिदेव की पूजा करने से भयरहित एवं निर्मत्सर होकर अतिशय पवित्र गति को प्राप्त होते हैं ॥१६३॥

जो व्यक्ति जवाकुसुम के द्वारा विधिपूर्वक भक्ति सहित गरुड़ध्वज श्रीहरि की पूजा करते हैं, गरुड़ध्वज उनके प्रति प्रसन्न होने से वे भी उत्तम गति लाभ करते हैं ॥१६४॥

अटरूषकस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति, अटरूषक कुसुम के द्वारा जगत्पति की पूजा करते हैं, वे पुण्यहीन व्यक्ति, श्रीविष्णु के परमपद को प्राप्त होते हैं ॥१६५॥

कुसुम्भस्य माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में उक्त है—जो व्यक्ति, मनोहर कुसुम्भ कुसुम द्वारा जनार्दन की पूजा करते हैं, वे सब चक्रपाणि प्रभु की इच्छा से मेरे (ब्रह्मा के) धाम में निवास करते हैं ॥१६६॥

मल्लिकाया माहात्म्यम्

स्कान्दे तत्रैव —

मल्लिकापुष्पजातीनां यूथिकायास्तथैव च।
तथा कुब्जकजातीनां फलस्यार्द्धं प्रकीर्त्तितम् ॥१६७॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-संवादे —

सुगन्धैर्मल्लिकापुष्पैरर्च्चयित्वाऽच्युतं नरः। सर्व्वपाप-विनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ॥१६८॥

मल्लिकाकुसुमैर्देवं वसन्ते गरुड़ध्वजम्।
योऽर्च्चयेत् परया भक्त्या दहेत् पापं त्रिधार्ज्जितम् ॥१६९॥

कुम्भीपुष्पस्य माहात्म्यम्

स्कान्दे तत्रैव—

कुम्भीपुष्पन्तु देवर्षे यः प्रयच्छेज्जनार्द्दने। सुवर्णपलमात्रन्तु पुष्पे पुष्पे भवेन्मुने ॥१७०॥

गोकर्णादीनां माहात्म्यम्

विष्णुरहस्ये—

गोकर्ण-नागकर्णाभ्यां तथा विल्लातकेन च। अर्च्चयित्वाच्युतं देवं देवानामधिपो भवेत् ॥१७१

अञ्जली-वोतकीपुष्पैः कुष्माण्डतिमिरोद्भवैः।
अलङ्कृत्वा नरः कृष्णं कृतार्थो हरिलोकभाक् ॥१७२॥

फलस्य पूर्व्वमुक्तस्य नीलोत्पलार्पणफलस्य; तत्र तथैव क्रमपाठात् ॥१६७॥

त्रिधेति—महापातकादिभेदेन कायिकादिभेदेन वा ॥१६९॥

नागकर्णः हस्तिकर्णेति प्रसिद्धः, अञ्जली श्यामपुष्पं, वोतकी वोतकवो इति प्रसिद्धा, तिमिरा त्रिँतयेति प्रसिद्धा ॥१७१-१७२॥

मल्लिकाया माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में उक्त है—मल्लिका जातीय पुष्प, यूथिका जातीय पुष्प एवं कुब्ज जातीय कुसुमार्पण का फल, पूर्ववर्णित नीलोत्पलार्पण के अर्द्ध फल सदृश कथित हुआ है ॥१६७॥

उक्त पुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है—मानव, सुगन्धि मल्लिका कुसुम के द्वारा अच्युत की पूजा करने से समस्त पापों से मुक्त होकर विष्णुधाम गमन पूर्वक सम्मान के सहित वहाँ पर वास करता है। जो व्यक्ति, वसन्तकाल में मल्लिका कुसुम द्वारा परम भक्ति से गरुड़ध्वज की पूजा करते हैं, वे काय, वाक्य, मन के द्वारा कृत त्रिविध पाप कोभस्मीभूत करते हैं ॥१६८-१६९॥

कुम्भीपुष्पस्य माहात्म्यम्

उक्त स्कन्दपुराण में वर्णित है—हे नारद ! जो व्यक्ति, श्रीजनार्दन को कुम्भीपुष्प निवेदन करते हैं, वे प्रति पुष्प में एक पल परिमित सुवर्णदान का फल लाभ करते हैं ॥१७०॥

गोकर्णादीनां माहात्म्यम्

विष्णुरहस्य में वर्णित है—गोकर्ण, नागकर्ण एवं विल्लातक पुष्प द्वारा अच्युतदेव की पूजा करने से देवगण के आधिपत्य लाभ होता है। अञ्जली, वोतकी, कुष्माण्ड, तिमिरापुष्प द्वारा श्रीकृष्ण को अलङ्कृत करने से मानव, कृतकृत्य होकर गोलोकधाम को प्राप्त करता है ॥१७१-१७२॥

दूर्व्वादिपुष्पाणां माहात्म्यम्

स्कान्दे तत्रैव—

गृहदूर्व्वाभवैः पुष्पैस्तथा काशकुशोद्भवैः। भूधरं समलङ्कृत्य विष्णुलोके व्रजेन्नरः ॥१७३॥

विष्णुरहस्ये च—

शर-दूर्व्वामयैः पुष्पैस्तथा काशकुशोद्भवैः।
भुवनेशमलङ्कृत्य विष्णुलोके व्रजेन्नरः ॥१७४॥ इति।

वर्णभेदेन पुष्पाणां फलभेदश्च दर्शितः। तथा तेषाञ्च सर्व्वेषां मालाया महिमाधिकः ॥१७५॥

श्वेतैः पुष्पैः समभ्यर्च्चय नरो मोक्षमवाप्नुयात्।

तथा च स्कान्दे विष्णुधर्म्मोत्तरे च—

कामानवाप्नुयाल्लोके पीतैर्देवं समर्च्चयन् ॥१७६॥
शत्रूणामभिचारेषु तथा कृष्णैः प्रपूजयेत् ॥१७७॥

विष्णुरहस्ये च—

स्वर्णलक्षाधिकं पुष्पं माला कोटिगुणाधिका।
दत्ता भवति कृष्णाय नरैर्भक्तिसमन्वितैः ॥१७८॥ इति।

मल्लिकान्तु दिवारात्र्योर्नक्तं सम्पाकयूथिके। नन्द्यावर्त्तं चार्द्धरात्रे मालतीं प्रातरेव हि ॥१७९
इतराणि च पुष्पाणि दिवा भगवतेऽर्पयेत्। एवं केचिच्च मन्यन्ते पूजाविधि-विशारदाः ॥१८०

किञ्च—

प्रहरं तिष्ठते जाती करवीरमहर्निशम्। जलजं सप्तरात्राणि षण्मासन्तु वकं तथा ॥१८१॥ इति।
अवचयोत्तरे काले ज्ञेयमेतद्विचक्षणैः ॥१८२॥

दूर्वादिपुष्पाणां माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के उक्त स्थान में ही लिखित है—गृह दूर्वाभव कुसुम, काश कुसुम एवं कुश कुसुम द्वारा भूधर को अलङ्कृत करने से मनुष्य विष्णुधाम गमन करेगा ॥१७३॥

विष्णुरहस्य में भी वर्णित है—शरपुष्प, दूर्वापुष्प, काशपुष्प एवं कुशपुष्प द्वारा भुवनेश्वर को अलङ्कृत करने से मानव विष्णुलोक गमन करेगा ॥१७४॥

वर्ण भेद से पुष्प समूह का फल भेद भी वर्णित हुआ है एवं उक्त पुष्प समूह की माला निर्म्माण कर प्रदान करने से महिमा वृद्धि होती है, इसका भी उल्लेख हुआ है ॥१७५॥

स्कन्दपुराण एवं विष्णुधर्म्मोत्तर में लिखित है—मानव, श्वेत पुष्प द्वारा विष्णु-पूजा करने से मोक्ष लाभ करता है, पीत पुष्प द्वारा हरि पूजा करने से संसार में अभीप्सित फल लाभ होगा। शत्रु के प्रति अभिचार प्रयोग करना हो तो कृष्ण पुष्प से पूजन करना चाहिये ॥१७६-१७७॥

विष्णुरहस्य में वर्णित है—भक्ति पूर्वक श्रीकृष्ण को पुष्प अर्पण करने से लक्ष सुवर्ण दानाधिक फल लाभ होता है। पुष्प की माला प्रदान करने से कोटिगुणाधिक फल लाभ होता है। मल्लिका कुसुम का अर्पण दिवारात्र किया जा सकता है। सोंदालि एवं यूथिका रात्रि में, नन्द्यावर्त्त अर्द्धरात्रि में, मालती केवल प्रातःकाल में एवं अन्यान्य पुष्प समूह दिवस में ही अर्पण कर सकते हैं। कतिपय पूजाविधिज्ञ व्यक्तिगण का कथन इस प्रकार है ॥१७८-१८०॥

और भी कथित है—जाती, एक प्रहरकाल पर्य्यन्त रहती है, करवीर, अहोरात्रिपर्य्यन्त, पद्म, सप्तरात्रि

अथ पुष्पमण्डपादि

पुष्पाणां मण्डपं छत्रं वितानं वैष्णवोत्तमः । दोलादिकञ्च निर्म्माय श्रीकृष्णाय समर्पयेत् ॥१८३

अथ पुष्पमण्डपादि-माहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तरे—

कृष्णवेश्मनि यः कुर्य्यात् सुरूपं पुष्पमण्डपम् । स पुष्पकविमानैस्तु कोटिभिः क्रीड़ते दिवि ॥१८४

तत्रैव स्कान्दे च—

कृत्वा पुष्पगृहं विष्णोः पुष्पैर्वा तद्वितानकम् । फलेन योगमायाति राजसूयाश्वमेधयोः ॥१८५॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-संवादे—

केशवोपरि यः कुर्य्याच्छत्रं वा पुष्पमण्डपम् ।
पुष्पैस्तन्मञ्चकं वापि तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ॥१८६॥

प्राप्तैश्वर्य्यो महाभागैः क्रीड़ारतिसमन्वितैः । नित्यन्तु मोदते स्वर्गे स नरो नात्र संशयः ॥१८७

विशेषतः कार्त्तिके

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

मालतीमालया येन कार्त्तिके पुष्पमण्डपम् । केशवस्य गृहे चक्रे न मया विदितं फलम् ॥१८८॥

अथ सुवर्ण-पुष्पादि-माहात्म्यम्

स्वर्णरत्नादिपुष्पैश्च भगवन्तं समर्च्चयेत् । न च निर्म्माल्यतां यान्ति तानि तन्मुहुरर्पयेत् ॥१८९

सुरूपं सुन्दरम् ; मञ्चकं पर्य्यङ्कम् ॥१८४-१८६॥ तत् तस्मात् ॥१८९॥

पर्य्यन्त एवं वक पुष्प छः मास पर्य्यन्त अवस्थित होता है। विचक्षण व्यक्ति इस नियम को पुष्पचयन के अनन्तर ही स्वीकार करें ॥१८१-१८२॥

अथ पुष्पमण्डपादि

वैष्णवश्रेष्ठ व्यक्ति, कुसुम-मण्डप, छत्र, वितान एवं दोलादि निर्माण करके श्रीकृष्ण को प्रदान करें ॥१८३

अथ पुष्पमण्डपादि-माहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—जो व्यक्ति, श्रीकृष्ण-मन्दिर में मनोहर पुष्प-मण्डप निर्म्माण करते हैं, वे पुष्प-निर्मित कोटि विमानारोहण कर क्रीड़ा करते हैं ॥१८४॥

विष्णुधर्मोत्तर एवं स्कन्दपुराण में वर्णित है—पुष्प द्वारा श्रीविष्णु-गृह एवं श्रीविष्णु की शय्या रचना करने से राजसूय एवं अश्वमेध-यज्ञ का फल लाभ होता है ॥१८५॥

स्कन्दपुराण के श्रीशिवोमा-संवाद में वर्णित है, जो केशव के उपरिभाग में पुष्पच्छत्र अथवा पुष्पमण्डप किंवा उनका पर्य्यङ्क निर्माण करते हैं, उनका पुण्य-वर्णन मैं करता हूँ। वे मनुष्य ऐश्वर्य्य, नानाविध उत्तम भोग, क्रीड़ा एवं विहार प्राप्त होकर नित्य स्वर्ग में आनन्द लाभ करते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥१८६-१८७॥

विशेषतः कार्त्तिके

स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—जो मालती कुसुम की माला द्वारा कार्त्तिक मास में केशव-मन्दिर में मण्डप प्रस्तुत किये हैं, उसका फल किस प्रकार होगा, उसका परिज्ञान मेरा नहीं है॥१८८॥

अथ सुवर्ण-पुष्पादि-माहात्म्यम्

सुवर्ण एवं रत्नादि निर्मित कुसुम द्वारा भगवान् की पूजा करें, उक्त पुष्प समूह निर्माल्य नहीं होते हैं, उसका पुनर्वार अर्पण किया जा सकता है ॥१८९॥

तथा चोक्तं देव्या —

न निर्म्माल्यं हेमपुष्पमर्पयेदर्पितं सदा ॥१९०॥

विष्णुधर्मोत्तरे स्कान्दे च —

कृत्रिमाण्यनुलेपानि गन्धेनातिसुगन्धिना । धूपेन पटवासेन चन्दनाद्यनुलेपनैः । १९१॥

अथ स्वर्णपुष्पादि-माहात्म्यम्

स्कान्दे—

स्वर्णपुष्पार्च्चितो यस्य गृहे तिष्ठति केशवः ।

तस्यैव पादरजसा शुध्यति क्षितिमण्डलम् ॥१९२॥

सुवर्णपुष्पैरभ्यर्च्य राजसूयफलं लभेत् । रत्नैर्देवमथाभ्यर्च्य राजा भवति भूतले ॥१९३॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-संवादे—

पुष्पजातिषु सर्व्वासु सौवर्णं पुष्पमुत्तमम् ॥१९४॥ इति ।

एवमुक्तैरनुक्तैश्च शोभाढ्यैर्वा सुगन्धिभिः । संपूज्यो भगवान् पुष्पैर्न निषिद्धैस्तु दुःखदैः ॥१९५॥

स्वर्णादिपुष्पाणामर्पणप्रकारं लिखति—कृत्रिमाणि इति । कृत्रिमाणि सुवर्णपुष्पादीनि धूपेन पटवासेन च सुगन्धिद्रव्यचूर्णेन विशिष्टानि ॥१९१॥

स्वर्णपुष्पैरर्च्चितः अभिषिक्तः, एवं पुष्पप्राचुर्य्यमुक्तम्, पाठान्तरम् सुगमम्; तस्यैवेत्यत्रायं भावः—यस्य पादरजोमात्रेण जगत् पवित्रं स्यात्तस्य स्वर्गादिफलान्तरं कियन्मात्रम्? श्रीश्रीभगवत्पार्षदवर एवासार्वाति ॥१९२॥ रत्नैः रत्नमयपुष्पैः ॥१९३॥

अनुक्तैः शास्त्रोक्त-व्यतिरिक्तैः; यदि च तानि शोभावन्ति सुगन्धीनि वा भवन्ति, तदा तैश्च संपूज्य इत्यर्थः । शास्त्रेण निषिद्धैस्तु न संपूज्यः, यतो दुःखदैः ॥१९५॥

भगवती देवी ने भी कहा है—सुवर्ण पुष्प निर्माल्य नहीं होता है, एक बार निवेदन होने पर भी पुनः पुनः उसको निवेदन कर सकते हैं ॥१९०॥

विष्णुधर्मोत्तर एवं स्कन्दपुराण में लिखित है - अतिशय सुगन्धि गन्धद्रव्य, धूप, कर्पूरचूर्ण एवं चन्दनादि अनुलेपन सामग्री के सहित कृत्रिम (सुवर्णादि निर्मित) पुष्प अर्पण करे ॥१९१॥

अथ स्वर्णपुष्पादि-माहात्म्यम्

जिनके गृह में सुवर्ण पुष्पादि द्वारा पूजित होकर श्रीकेशव विराजित हैं, उन व्यक्ति की चरणधुलि के द्वारा भूमण्डल पवित्र होता है ॥१९२॥

स्वर्ण पुष्प द्वारा श्रीकेशव की अभ्यर्चना करने से राजसूय-यज्ञ का फल लाभ होता है । रत्न-पुष्प द्वारा श्रीकेशव की पूजा करने से भूमण्डल में राजा होता है ॥१९३॥

स्कन्दपुराण के श्रीशिव-उमा-संवाद में कथित है—समस्त प्रकार पुष्पजाति के मध्य में स्वर्णपुष्प सर्व श्रेष्ठ है ॥१९४॥

जिन सब पुष्पों का उल्लेख हुआ है, एवं जिसका उल्लेख नहीं हुआ है, वे सब सुदृश्य एवं सुगन्ध होने पर ही अर्पण योग्य हैं । किन्तु जो सब पुष्प भगवान् के दुःखद हैं, इस प्रकार कहा गया है, उनको प्रदान न करे ॥१९५॥

अथ निषिद्धानि पुष्पाणि

तत्र सामान्यतो विष्णुधर्मोत्तरे—

श्मशानचैत्यद्रुमजं भूमौ वापि निपातितम्। कलिका च न दातव्या देवदेवस्य चक्रिणः ॥१९६॥

शुक्लान्यवर्ण-कुसुमं न देयञ्च तथा भवेत्। सुगन्धि शुक्लं देयं स्याज्जातं कण्टकिनो द्रुमात् ॥१९७

दत्त्वा कण्टकिसद्भूतमनुक्तं परिभूयते। अनुक्तरक्तकुसुमादसौभाग्यमवाप्नुयात् ॥१९८॥

उग्रगन्धि तथा दत्त्वा नित्यमुद्वेगमाप्नुयात् अगन्धि दत्त्वा वाप्नोति ह्यशुभं परमं नरः ॥१९९

तत्रैव तृतीयकाण्डे—

उग्रगन्धीन्यगन्धीनि कुसुमानि न दापयेत्। अन्यायतन-जातानि कण्टकीनि तथैव च ॥२००॥

रक्तानि यानि धर्म्मज्ञाश्चैत्यवृक्षोद्भवानि च। यानि श्मशानजातानि तथा चाकालजानि च।

दानं विवर्ज्जयेद्यत्नात् पुष्पाणामप्यगन्धिनाम् ॥२०१॥

नारदीये राक्षसी-शपथे—

पारक्यारामजातैश्च कुसुमैरर्च्चयेत् सुरान्। तेन पापेन लिप्येयं यद्यैतदनृतं वदे ॥२०२॥

ज्ञानमालायाम्—

कलिकाभिस्तथा नेज्यं विना चम्पकजैः शुभैः।

शुष्कैर्न पूजयेद्विष्णुं पत्रैः पुष्पैः फलैरपि ॥२०३॥ इति।

जातियूथ्योस्तथा मल्ली-नवमालिकयोरपि। कलिकाभिर्हरेर्भक्तैः सौरभ्यात् कैश्चिदिष्यते ॥२०४

चैत्यद्रुमो नाम वद्धवेदिकतलः पूज्यो वृक्षः। अनुक्तं पूर्व्वोक्तादितरत् ॥१९६-१९८॥

धर्म्मज्ञा इति पाठे हे धर्म्मज्ञा इति तत्रत्यानां सम्वोधनम् ॥२०१॥

अथ निषिद्धानि पुष्पाणि

विष्णुधर्मोत्तर में सामान्यतः लिखा है—श्मशान वृक्षोत्पन्न अथवा चैत्य (पूज्य) वृक्षोद्भव मृत्तिका में निपतित पुष्प एवं कलिका, देवदेव चक्रपाणि को अर्पण न करें। शुक्ल वर्ण व्यतीत अन्य वर्ण का पुष्पार्पण न करे। शुभ्र वर्ण एवं सुगन्धि पुष्प, कण्टकतरुजात होने पर भी अर्पण करे। जो सब कण्टकवृक्षजात पुष्प का अथवा रक्तवर्ण पुष्प का उल्लेख नहीं हुआ है उसको प्रदान करने से मनुष्य दुःख भागी होगा। उग्र गन्धयुक्त पुष्पार्पण करने से नित्य उद्वेग प्राप्त होगा। गन्धशून्य पुष्प अर्पण करने से अतिशय अमङ्गल होता है ॥१९६-१९९॥

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय काण्ड में उक्त है तीव्र गन्धि अथवा गन्धहीन पुष्पार्पण न करे। अपर के गृह जात अथवा कण्टकि वृक्षजात पुष्प को भी अर्पण न करे। हे धार्मिकगण! लोहितवर्ण पुष्प, चैत्यतरुजात पुष्प, श्मशान वृक्षजात पुष्प, अकालोत्पन्न पुष्प एवं गन्धशून्य पुष्प भी प्रदान न करे।।२००-२०१॥

नारदीयपुराण में राक्षसी शपथ वाक्य में वर्णित है—यदि मैं मिथ्या कहती हूँ, तो अपर व्यक्ति के उद्यानोत्पन्न पुष्प द्वारा देवार्च्चन करने से जो पाप होता है, मैं उस पातक से लिप्त होजाऊँगी ॥२०२॥

ज्ञानमाला में वर्णित है—चम्पक व्यतीत अपर पुष्प कलिका के द्वारा श्रीविष्णु की पूजा न करे एवं शुष्क पत्र अथवा शुष्क फल, पुष्प से भी श्रीविष्णु की पूजा न करे ॥२०३॥

जाति, यूथी, मल्लिका एवं नवमल्लिका, इन सब पुष्पों के कलियों की गन्ध भी अत्युत्तम है, तज्जन्य कतिपय भक्त उसके निवेदन करने का विधान देते हैं ॥२०४॥

विष्णुरहस्ये—

न शुष्कैः पूजयेद्विष्णुं कुसुमैर्न महीगतैः। नाविशीर्णदलैः क्लिष्टैर्न चैवाशु-विकाशितैः ॥२०५॥

पाद्मे—

कीटकोषोपविद्धानि शीर्णपर्य्युषितानि च। वर्ज्जयेदूर्णनाभेन वासितं यदि शोभनम् ॥२०६॥

गन्धवन्त्यपवित्राणि उग्रगन्धीनि वर्ज्जयेत् ॥२०७॥

गन्धहीनमपि ग्राह्यं पवित्रं यत् कुशादिकम् ॥२०८॥

वैहायस-पञ्चरात्रे—

चतुष्पथ-शिवावास-श्मशानावनि-मध्यतः। सुगन्धि-फल-पुष्पाणि नाददीतार्च्चने हरेः ॥२०९॥

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

न विशीर्णदलैः श्लिष्टैर्नाशुभैर्नाविकाशिभिः।

पूतिगन्ध्युग्रगन्धीनि अम्लगन्धानि वर्ज्जयेत् ॥२१०॥

कीटकोषोपविद्धानि शीर्णपर्य्युषितानि च। भग्नपत्रञ्च न ग्राह्यं कृमिदुष्टं न चाहरेत् ॥२११॥

वर्ज्जयेदूर्णनाभेन वासितं यदि शोभनम्। स्थलस्थं नोद्धरेत् पुष्पं छेदयेज्जलजं न तु।

यानि स्पृष्टानि चास्पृश्यैर्लोकायुक्तैश्च वर्ज्जयेत् ॥२१२॥

आशुविकाशितैः बलाद्विकाशितैः ॥२०५॥

कीटस्य कोषरूपावासेन अपविद्धानि दूषितानि पुष्पाणि शीर्णानि पर्य्युषितानि च, यद्यपि शोभनमुत्तमम्, अपवित्राणि चेद् गन्धवन्त्यपि पुष्पाणि वर्ज्जयेत्॥२०६॥ चतुष्पथादेरवनिर्भूमिस्तन्मध्यान्न गृह्णीयात ॥२०९॥

विशीर्णदलादिभिः पुष्पैर्न पूजा कार्य्येति शेषः। श्लिष्टैः अन्योऽन्यसंलग्नैः ॥२१०॥

नोद्धरेत् मूलतो नोत्पाटयेत्; लोके अयुक्तैर्निन्द्यैश्च स्पृष्टानि पुष्पाणि वर्ज्जयेत् ॥२१२॥

विष्णुरहस्य में वर्णित है—शुष्कवर्ण पुष्प भूतल में पतित होने से उस पुष्प के द्वारा श्रीविष्णु-पूजा न करे। एवं जो पुष्प दलक्लिष्ट है, एवं प्रयत्न से विकसित हुआ है, ऐसे पुष्प से भगवदर्च्चन करना उचित नहीं है ॥२०५॥

पद्मपुराण में लिखित है—मध्य में कीट होने से जो पुष्प दूषित हुआ है, जो पुष्प शीर्ण, पर्य्युसित है एवं ऊर्णनाभ के जाल द्वारा व्याप्त है, ऐसे पुष्प उत्तम शोभायुक्त होने से भी श्रीविष्णु को निवेदन न करे। अपवित्र पुष्प सुगन्धि होने से भी वर्जन करे एवं उग्रगन्धि पुष्प भी वर्जन करे। कुशादि पुष्प गन्धहीन है, किन्तु पवित्र है। सुतरां वह निवेदन योग्य है ॥२०६-२०८॥

वैहायस पञ्चरात्र में उक्त है—श्रीहरि-पूजन के निमित्त चतुष्पथ, महादेव के वासस्थान एवं श्मशान भूमि से सुगन्धि फल, पुष्प ग्रहण न करे ॥२०९॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है—जिन पुष्पों का दल शीर्ण है, मुरझाया हुआ है, जिनका दल परस्पर संलग्न है, जो कुसुम अपवित्र अथवा अविकशित है, उन सबसे पूजा न करे। पूतिगन्धि, दुर्गन्ध पूर्ण, तीक्ष्ण गन्धि, अम्लगन्ध-युक्त कुसुमार्पण न करे। अभ्यन्तर में कीटकोष विद्यमान होने से कुसुम दूषित होता है। अतः उसका चयन न करे। जो शीर्ण, पर्य्युसित, भग्नदल, कृमिपुष्ट, उसका चयन भी न करे। जिस कुसुम में ऊर्णनाभ विद्यमान है, वह उत्तम होने से भी परित्याग करे। स्थलभाग में उत्पन्न मुलतः उत्पाटित न करे। जल गत पुष्प छेदन करना उचित नहीं है। जिस कुसुम में अस्पृश्य अथवा लोक-निन्दनीय वस्तु का स्पर्श हुआ है, उसको त्याग देना ही उचित है ॥२१०-२१२॥

अत्रापवादः

ज्ञानमालायाम्—

न पर्य्युषितदोषोऽस्ति जलजोत्पल-चम्पके । तुलस्यगस्त्यबकुले बिल्वे गङ्गाजले तथा ॥२१३॥

विष्णुधर्मोत्तरे च—

न गृहे करवीरस्थैः कुसुमैरर्च्चयेद्धरिम् । पतितैर्मुकुलैर्म्लानैः श्वासैर्वा जन्तु-दूषितैः ।
आघातैरङ्गसंस्पृष्टैर्दूषितैश्चैव नार्च्चयेत् ॥२१४॥

अथ विशेषतो निषिद्धानि

विष्णुधर्मोत्तरे तृतीयकाण्डे

क्रकरस्य च पुष्पाणि तथा धुस्तूरकस्य च । कृष्णञ्च कूटजं चार्कं नैव देयं जनार्द्दने ॥२१५॥

किञ्चान्यत्र—

नार्कं नोन्मत्तकं झिण्टिं तथैव गिरिकर्णिकाम् । न कण्टकारिकापुष्पमच्युताय निवेदयेत् ॥२१६॥

कूटजं शाल्मलीपुष्पं शिरीषञ्च जनार्द्दने । निवेदितं भयञ्चोग्रं निःसत्वञ्च प्रयच्छति ॥२१७

स्कान्दे तत्रैव—

येऽर्च्चयन्ति त्रिलोकेशमर्कपुष्पैर्जनार्द्दनम् । तेभ्यः क्रुद्धो भयं दुःखं क्रोधं विष्णुः प्रयच्छति ॥२१८

उन्मत्तकेन ये मूढ़ाः पूजयन्ति त्रिविक्रमम् । उन्मादं दारुणं तेभ्यो ददाति गरुड़ध्वजः ॥२१९॥

काञ्चनावयवैः पुष्पैर्येऽर्च्चयन्त्यसुरद्विषम् । दारिद्र्यं दुःखबहुलं तेषां विष्णुः प्रयच्छति ॥२२०

गिरिकर्णिकया विष्णुं येऽर्च्चयन्त्यबुधा नराः ।
तेषां कुलक्षयं घोरं कुरुते मधुसूदनः ॥२२१॥ इति ।

गृहे यः करवीरः श्वेतपुष्पो रक्तपुष्पश्च, तत्स्थैस्तदीयैरित्यर्थः । अतएवोक्तं वाराहे—'बन्धूक-करवीरे च न गृहे रोपयेत् क्वचित् ॥' इति । श्वासैर्जन्तुभिर्वादूषितैरित्यर्थः । अङ्गेन स्वीयहस्तव्यतिरिक्तेन गात्रेण संस्पृष्टैः दूषितैश्च निन्दितैः ॥२१४॥ क्रकरस्य करवीरस्य ॥२१५॥

निःसत्त्वमिति पाठे निःसत्त्वतामित्यर्थः ॥२१७॥

अत्रापवादः

ज्ञानमाला में कथित है—जलजपद्म, चम्पक, तुलसी, अगस्त्य एवं वकुल पुष्प, विल्वपत्र, गङ्गाजल पर्य्युसित होने से भी दोष नहीं होता ॥२१३॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—गृहस्थित श्वेत किंवा रक्त करवीर तरुजात कुसुम के द्वारा श्रीहरि की पूजा न करे। भू-पतित, अविकशित, म्लान, श्वासदुष्ट, जन्तुदुष्ट, आघात से निष्पिष्ट, हस्तव्यतीत अन्य अङ्ग संस्पृष्ट अथवा निन्दनीय- इन सब पुष्पों से अर्च्चन कार्य्य निषिद्ध है ॥२१४॥

अथ विशेषतो निषिद्धानि

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीयकाण्ड में उक्त है—करवीर, धुस्तूर, कृष्णवर्ण कूटज, अर्कपुष्प जनार्दन को अर्पण न करे ॥२१५॥

अन्यत्र भी वर्णित है—अर्क, धुस्तूर, झिण्टी, गिरि कर्णिका, कण्टकारी कुसुम अच्युत को निवेदन न करे। कूटज, शाल्मली एवं शिरीषकुसुम जनार्दन को निवेदन करने से महाभय उत्पन्न होता है एवं धनहीन होता है ॥२१६-२१७॥

स्कन्दपुराण के उक्त स्थान में वर्णित है—जो व्यक्ति, अर्क पुष्प द्वारा त्रिलोकाधिप की पूजा करते हैं

अथ पुष्पग्रहणकालादि

मध्याह्ने स्नानमाचर्य्य कुसुमैस्तु समाहृतैः । नैव संपूजयेद्विष्णुं यन्निषिद्धानि तान्यपि ॥२२२

तथा च स्कान्दे तत्रैव—

स्नानं कृत्वा तु यत् किञ्चित् पुष्पं गृह्णन्ति वै नराः । देवतास्तन्न गृह्णन्ति पितरः खलु वै द्विज ।
ऋषयस्तन्न गृह्णन्ति भस्मीभवति काष्ठवत् ॥२२३॥ इति ।

कुसुमानामलाभे तु चौर्य्यादानं न दुष्यति । देवतार्थन्तु कुसुममस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥२२४॥

तथा कौर्म्मे श्रीव्यासगीतायाम् —

पुष्पे शाकोदके काष्ठे तथा मूले फले तृणे । अदत्तादानमस्तेयं मनुः प्राह प्रजापतिः ॥२२५॥
गृहीतव्यानि पुष्पाणि देवार्च्चनविधौ द्विजाः ।
नैकस्मादेव नियतमननुज्ञाप्य केवलम् ॥२२६॥ इति ।

अपि-शब्दः पूर्व्वनिषिद्धापेक्षया समुच्चये; तानि मध्याह्नस्नानानन्तरमाहृतानि कुसुमानि ॥२२२॥

खल्विति समुच्चये; पितरश्च न गृह्णन्ति; भस्मीभवति विफलं स्यादित्यर्थः ॥२२३॥

धर्म्मार्ज्जितधन-क्रीतैरित्यादि-विष्णुधर्म्मोत्तरादिवचनैर्न्यायोपार्ज्जितानि कुसुमानि देवपूजायां विहितानि, तत्र धनाद्यभावे किं कर्त्तव्यम् ? तत्र लिखति – कुसुमानामिति । चौर्य्येण आदानं ग्रहणं अस्तेयमिति चौर्य्येणानीतमपि चोरितं न भवति । अतएवोक्तं विष्णुधर्म्मोत्तरे—'यथाकथञ्चिदाहृत्य कुसुमैरर्च्चयेद्धरिम्' इति ॥२२४

अदत्तस्याप्यादानम् ॥२२५॥

किञ्च तत्रैव विशेषमाह— ग्रहीतव्यानीति । एवं भगवदर्थमेव शाकादीनामादानमदुष्टमिति ज्ञेयम्, स्वार्थे तु दोष एव । 'तृणं काष्ठं फलं पुष्पं प्रकाशं वै हरेद्बुधः । धर्म्मार्थं केवलं विप्रो ह्यन्यथा पतितो भवेत् ॥' इति। अतएव तत्रैव—'तृणं वा यदि वा शाकं मूलं वा जलमेव वा । परस्यापहरन् जन्तुर्नरकं प्रतिपद्यते ॥' इति ॥२२६

विष्णु क्रुद्ध होकर उनको भय, दुःख, शान्ति प्रदान करते हैं । जो मूढ़ व्यक्ति धुस्तूर पुष्प द्वारा जनार्दन की अर्चना करते हैं, गरुड़ध्वज उन सबको भयानक उन्माद रोग प्रदान करते हैं । जो व्यक्ति काञ्चनाकार पुष्पसमूह के द्वारा दैत्यारि की पूजा करते हैं, विष्णु उन सबको बहुत दारिद्र क्लेश प्रदान करते हैं । जो मनुष्य, गिरिकर्णिका पुष्प के द्वारा श्रीविष्णु की पूजा करते हैं, मधुसूदन भीषण रूप में उनका वंश नाश करते हैं ॥२१८-२२१॥

अथ पुष्पग्रहणकालादि

मध्याह्न स्नान के पश्चात् आहृत पुष्प द्वारा एवं निषिद्ध पुष्प द्वारा श्रीविष्णु की पूजा न करे ॥२२२॥

स्कन्दपुराण के उक्त स्थान में उक्त है—हे द्विज ! मनुष्य, स्नान के पश्चात् जिस पुष्प का चयन करेगा, देवगण, पितृगण, ऋषिगण कदाच उसको ग्रहण नहीं करते हैं । वह काष्ठ के समान भस्मीभूत होता है॥२२३

पुष्प अप्राप्य होने से चोरी कर लाने से भी दोष नहीं होता है । मनु ने कहा है—देवता के उद्देश्य से पुष्प चौर्य्य को चौर्य्य मध्य में गण्य नहीं होता है ॥२२४॥

कूर्मपुराण की व्यासगीता में उक्त है—प्रजापति मनु कहे हैं– पुष्प, शाक, जल, काष्ठ, मूल, फल, तृण यह सब वस्तु किसी के प्रदान न करने पर भी आनयन करने से वह चोरी करना नहीं होता है । हे विप्रगण ! देवपूजा के निमित्त उद्यान स्वामी से अनुमति न लेकर केवल एक व्यक्ति के उद्यान से सर्वदा पुष्प ग्रहण करना कर्त्तव्य नहीं है ॥२२५-२२६॥

विहितेषु निषिद्धानां विहितालाभतो मतम्। कुसुमानामुपादानं निषिद्धानां न कर्हिचित् ॥२२७

विहितप्रतिषिद्धैस्तु विहितालाभतोऽर्च्चयेत् ॥२२८॥

निषिद्धपुष्पसंग्रहश्लोकौ

क्लिष्टं पर्य्युषितञ्च भूमिपतितं छिद्रञ्च कीटान्वितं,
यत् केशोपहतञ्च गन्धरहितं यच्चोग्रगन्धान्वितम्।
हस्ते यद्विधृतं प्रणामसमये यद्वामहस्ते कृतं,
यच्चान्तर्जलधौ तमर्च्चनविधौ पुष्पञ्च तद्वर्जयेत् ॥२२९॥
भङ्क्त्वा यद्विटपादिकं क्षितिरुहं चोत्पाट्य यच्चाहृतं
यच्चाक्रम्य समाहृतं तदखिलं पुष्पं भवत्यासुरम्।
चौर्य्याकृष्टमनुक्तिदुष्टमशुचिस्पृष्टं यदप्रोक्षितं
यच्चाघ्रातमधोऽम्बरे विनिहितं क्रीतञ्च तद्वर्ज्जयेत् ॥२३०॥

पत्राणि चापयेद्दूर्व्वाद्यङ्कुरानपि भक्तितः। किन्तु श्रीतुलसीपत्रं सर्व्वत्रैव विशेषतः ॥२३१॥

अथ पत्राणि

विष्णुधर्मोत्तरे—

पुष्पाभावेन यो दद्यादत्र दूर्व्वाङ्कुरानपि। सोऽपि पुण्यमवाप्नोति पुष्पदानस्य वै द्विजाः ॥२३२

ननु विष्णुधर्म्मोत्तरे तृतीयकाण्डे अन्यायतनजातानि पुष्पाणि निषिद्धानि, स्कान्दादौ च कण्टक्यादीनि विहितानि सन्ति, तथा वामनपुराणादौ बन्धूकजवापुष्पयोर्निषेधः श्रूयते, ते चात्र विष्णुधर्म्मोत्तरादौ विहिते एव इत्येवमादिविरोधे कथं व्यवहर्त्तव्यम्? तत्र लिखति—विहितेष्विति, शास्त्रैर्विहितेषु कुसुमेषु मध्ये निषिद्धानां कुसुमानामुपादानं ग्रहणं विहितानामलाभतो हेतोः अलाभे वा सति मतं बुधैः। विहितानां लाभे सति च तानि निषिद्धानि, न ग्राह्याण्येव। यानि च केवलं सर्व्वत्र निषिद्धान्येव, तेषां कदाचिदप्युपादानं न मतमित्यर्थः ॥२२७॥

विहितेषु मध्ये प्रतिषिद्धैर्निषिद्धैः पुष्पैः विहितानामलाभे सतीत्यर्थः। अर्च्चयेद्देवम् ॥२२८॥

शास्त्र विहित पुष्प यदि अप्राप्य होता है तो निषिद्ध पुष्प भी ग्रहणीय है। किन्तु जो सब पुष्प एकबार ही निषिद्ध हैं, वे सब ग्रहण योग्य नहीं हैं ॥२२७॥

विहित पुष्प के अभाव होने पर विहित पुष्प के मध्य में निषिद्ध पुष्प द्वारा पूजन करे ॥२२८॥

निषिद्धपुष्पसंग्रहश्लोकौ

निषिद्ध पुष्प ग्रहण विषय में दो श्लोक हैं, शुष्क किंवा दलित, पर्य्युषित, भूपतित, छिद्रयुक्त, कीट-विशिष्ट, केशदूषित, गन्धहीन, उग्र गन्ध विशिष्ट पुष्प एवं जो पुष्प हस्त में लेकर प्रणाम किया है और पुष्प जल में डुबाकर धोया गया है, ऐसे पुष्प; उस पुष्प को पूजा कार्य में परित्याग करे। शाखा इत्यादि तोड़ कर, वृक्ष उत्पाटन कर एवं वृक्ष में आरोहण कर जो पुष्प आहृत होता है, वे सब असुर ग्राह्य हैं। चौर्य्य द्वारा गृहीत, अधिकारी को न कहकर आहृत अशुचि द्रव्य संस्पृष्ट, अप्रोक्षित, आघ्रात, अधोवस्त्र में स्थापित अथवा मूल्य प्रदान से क्रीत पुष्प वर्जनीय है ॥२२९-२३०॥

पत्र एवं दूर्वाङ्कुरादि के द्वारा भी भक्ति पूर्वक पूजा करनी चाहिये। किन्तु विशेषतः सर्वत्र ही तुलसी पत्र द्वारा पूजा करे ॥२३१॥

पुष्पाभावे हि देयानि पत्राण्यपि जनार्द्दने । पत्राभावे पयो देयं तेन पुण्यमवाप्नुयात् ।।२३३।।

निवेद्य भक्त्या मधुसूदनाय, द्रुमच्छदं वाऽयथ सत्प्रसूनम् ।

दूर्व्वाङ्कुरं वा सलिलं द्विजेन्द्राः, प्राप्नोति तत्तन्मनसा यथेच्छेति ।।२३४।।

तत्रैव तृतीयकाण्डे—

भृङ्गराजस्य विल्वस्य वकपुष्पस्य च द्विजाः । जम्बाम्रवीजपूराणां पत्राणि विनिवेदयेत् ।।२३५

एतेषामपि चैकस्य पत्रदानं महाफलम् । पत्राणि ससुगन्धीनि पल्लवानि मृदूनि च ।

तेन पुण्यमवाप्नोति पुष्पदानसमुद्भवम् ।।२३६।।

नारसिंहे —

पत्राण्यपि सुपुण्यानि हरिप्रीतिकराणि च । प्रवक्ष्यामि नृपश्रेष्ठ शृणुष्व गदतो मम ।

अपामार्गन्तु प्रथमं भृङ्गराजं ततः परम् ।।२३७।।

ततस्तमालपत्रञ्च ततश्च शमिपत्रकम् । दूर्व्वापत्रं ततः श्रेष्ठं ततोऽपि कुशपत्रकम् ।।२३८।।

तस्मादामलकं श्रेष्ठं ततो विल्वस्य पत्रकम् । विल्वपत्रादपि हरेस्तुलसीपत्रमुत्तमम् ।।२३९।।

एतेषाञ्च यथालब्धैः पत्रैर्यश्चार्च्चयेद्धरिम् । सर्व्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते ।।२४०।।

वामने—

विल्वपत्रं समीपत्रं पत्रं भृङ्गरजस्य च । तमालामलकीपत्रं शस्तं केशव-पूजने ।।२४१।।

द्रुमस्य छदं पत्रम् ; प्रसूनं पुष्पम् ।।२३४।।
तेषां मध्ये एकस्य कस्यचित् पल्लवानि च निवेदयेदिति पूर्व्वेणान्वयः ।।२३६।।
परं श्रेष्ठम् ।।२३७।।

अथ पत्राणि

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—हे द्विजवृन्द ! जो व्यक्ति पुष्प के अभाव से दूर्वाङ्कुर अर्पण करते हैं, वे पुष्पार्पण का फल प्राप्त होते हैं। श्रीहरि को पुष्प के अभाव में पत्र एवं पत्र के अभाव में जल अर्पण करे, तद्द्वारा भी पुण्य लाभ होता है। हे द्विजश्रेष्ठगण ! वृक्ष पत्र, श्रेष्ठ पुष्प, दूर्वाङ्कुर किंवा जल, भक्ति पूर्वक एकाग्र मन से मधुसूदन को अर्पण करने से अभिलषित फल लाभ होता है ।।२३२-२३४।।

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय काण्ड में वर्णित है—भृङ्गराज, विल्व, वक, जम्बु, आम्र एवं जम्बीर पत्रसमूह निवेदन करे। इन सबके मध्य में एक वृक्ष का पत्र अर्पण करने से भी महत् फल लाभ होता है। सुगन्धयुक्त पत्र एवं कोमल पल्लव समूह श्रीहरि को अर्पण करने पर पुष्पदान का पुण्य लाभ होता है ।।२३५-२३६

नृसिंहपुराण में उक्त है—हे नृपश्रेष्ठ ! श्रीहरि के प्रीतिकर अतिशय पवित्र पत्रसमूह का कीर्त्तन मैं कहूँगा, श्रवण करें- प्रथम अपामार्ग (ओंगा) फिर भृङ्गराज (भाँगरा) अतःपर तमालपत्र, शमीपत्र, उससे दूर्वापत्र श्रेष्ठ है, तदपेक्षा भी कुशपत्र उत्तम है। कुशपत्र से आमलक पत्र श्रेष्ठ है, उससे विल्वपत्र श्रेष्ठ है। श्रीविष्णु पूजा में विल्वपत्र की अपेक्षा तुलसी पत्र उत्तम है। जो व्यक्ति इन सब यथा लब्ध पत्र समूह के द्वारा श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे समस्त पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक में ससम्मान निवास करते हैं ।।२३७-२४०।।

वामनपुराण में लिखित है—विल्वपत्र, शमीपत्र, भृङ्गराज पत्र, तमाल पत्र, आमलकी पत्र श्रीकेशव-

येषां न सन्ति पुष्पाणि प्रशस्तान्यर्च्चने विभोः।
पल्लवान्यपि तेषां स्युः शस्तान्यर्चाविधौ हरेः ॥२४२॥

आग्नेये—

केतकीपुष्पपत्रञ्च भृङ्गराजस्य पल्लवम्। तुलसी कालतुलसी सद्यस्तुष्टिकरं हरेः ॥२४३॥
विल्वपत्रं शमीपत्रं पत्रं भृङ्गरजस्य च। तमालपत्रञ्च हरेः सद्यस्तुष्टिकरं भवेत् ॥२४४॥

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे —

शमीपत्रैश्च यो देवं पूजयत्यसुरद्विषम्। यममार्गो महाघोरो निस्तीर्णस्तेन नारद ॥२४५॥
कुम्भीपत्रेण देवर्षे येऽर्च्चयन्ति जनार्द्दनम्। कोटिजन्मार्ज्जितं पापं दहते गरुड़ध्वजः ॥२४६॥
सकृदभ्यर्च्च्य गोविन्दं विल्वपत्रेण मानवः। हरिर्दद्यात् फलं तस्मै सर्व्वयज्ञैः सुदुर्ल्लभम् ॥२४७
विल्वपत्रेण ये देवं कार्त्तिके कलिवर्द्धन। पूजयन्ति महाभक्त्या मुक्तिस्तेषां मयोदिता ॥२४८
मारुकं केतकीपत्रं तथा दमनकं मुने। दत्तमात्रं हरेः प्रीतिं करोति शतवार्षिकीम् ॥२४९॥
दमनैकेन देवेशं संप्राप्ते मधुमाधवे। गो-सहस्रस्य तु मुने संपूज्य लभते फलम् ॥२५०॥
दूर्व्वाङ्कुरं हरेर्यस्तु पूजाकाले प्रयच्छति। पूजाफलं शतगुणं सम्यगाप्नोति मानवः ॥२५१॥
मञ्जरीं सहकारस्य केशवे यदि नारद। ये यच्छन्ति महाभागास्ते कोटिफलभागिनः ॥२५२॥

केतक्याः पुष्पस्य पत्रम्। भृङ्गराज-भृङ्गरजयोरवान्तरभेदो ज्ञेयः ॥२४३॥
देवेशं अर्च्चयन्त्विति शेषः। पाठान्तरं सुगमम् ॥२५०॥

पूजन में श्रेष्ठ हैं। श्रीप्रभु के अर्चनोपयोगी प्रशस्त पुष्प संग्रह न होने से पल्लव के द्वारा श्रीहरि पूजन करने से भी प्रशस्त फल लाभ होता है ॥२४१-२४२॥

अग्निपुराण में वर्णित है – केतकी कुसुम पत्र, भृङ्गराज पत्र, एवं तुलसी पत्र, कृष्णतुलसी पत्र श्रीहरि को आशु तुष्टिकारक हैं। विल्वपत्र, शमीपत्र, भृङ्गरज पत्र एवं तमाल पत्र द्वारा पूजा करने से श्रीहरि तत्क्षणात् सन्तुष्ट होते हैं ॥२४३-२४४॥

स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है – हे नारद! जो व्यक्ति, शमीपत्र द्वारा दैत्यारि जनार्दन की पूजा करते हैं, वे भयङ्कर यममार्ग से मुक्त होते हैं। हे देवर्षे! कुम्भी पत्र के द्वारा जो व्यक्ति, जनार्दन की पूजा करते हैं, जनार्दन उनके कोटि-जन्मार्जित पाप समूह को ध्वंस करते हैं। मनुष्य, यदि एक बार मात्र विल्वपत्र द्वारा श्रीगोविन्द की पूजा करते हैं, तो श्रीहरि, उनको सर्वविध यज्ञानुष्ठान जनित दुर्लभ फल प्रदान करते हैं। हे नारद! जो व्यक्ति, कार्त्तिक मास में विल्वपत्र के द्वारा भक्ति के सहित श्रीहरि की पूजा करते हैं, उनके मोक्ष का विषय वर्णन किया हूँ। हे मुने! मारुक पत्र, केतकी पत्र, दमनक पत्र निवेदन करने से ही श्रीहरि शतवर्ष व्यापी सन्तुष्ट होते हैं। चैत्र वैशाख मास में दमनक पत्र द्वारा श्रीहरि की पूजा करने से सहस्र गोदान का फल लाभ होता है। जो मानव, श्रीहरि के पूजन समय में दूर्वाङ्कुर प्रदान करते हैं, वे पूजा का शतगुण फल लाभ करते हैं। हे नारद! यदि मानवगण, केशव को आम्रमञ्जरी प्रदान करते हैं, तो वे सब सौभाग्यशाली मानवगण कोटिगुण फल भागी होते हैं ॥२४५-२५२॥

किञ्च—
शक्त्या दूर्व्वाङ्कुरैः पुम्भिः पूजितो मधुसूदनः। ददाति हि फलं नूनं यज्ञदानादिदुर्ल्लभम् ।।२५३

तत्रैव श्रीशिवोमा-संवादे—
विल्वपत्रैरखण्डैश्च सकृद्देवं प्रपूज्य वै। सर्व्वपापविनिर्मुक्तो मम लोके स तिष्ठति ।।२५४।।

विष्णुरहस्ये च—
सकृदभ्यर्च्य गोविन्दं विल्वपत्रेण मानवः। मुक्तिभागी निरातङ्कः कृष्णस्यानुचरो भवेत् ।२५५

विष्णुधर्म्मे च—
मरुको दमनश्चैव सद्यस्तुष्टिकरो हरेः ।।२५६।।

किञ्च—
देयान्यूर्द्ध्वमुखान्येव पत्रपुष्पफलानि हि ।।२५७।।

तथा ज्ञानमालायाम्—
पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम्। दुःखदं तत् समाख्यातं यथोत्पन्नं तथार्पणम् ।।२५८।।

अथ तुलस्यर्पण-नित्यता

पाद्मे—
तुलसी न येषां हरिपूजनार्थं, संपद्यते माधव-पुण्यवासरे।
धिग्यौवनं जीवनमर्थसन्ततिं, तेषां सुखं नेह च दृश्यते परे ।।२५९।।

श्रीतुलसीपत्रं सर्व्वत्रैव विशेषतोऽर्पयेदिति लिखितं, तत्र तुलस्यर्पणस्य नित्यतामादौ लिखति— तुलसीत्यादिना। आर्षत्वाच्छन्दोभङ्गः सोढव्यः, एवमग्रेऽपि। माधवः वैशाखमासः श्रीकृष्णो वा, तस्य पुण्यवासरः अक्षयतृतीयादिः, एकादश्यादिर्वा, तस्मिन्नपि। परे च परलोके सुखं निर्वृतिर्न दृश्यते शास्त्रविद्भिः, कौश्चिद्वा; यद्वा, तेषामिति तैः ।।२५९।।

और भी वर्णित है—पुरुष समूह, यदि दूर्व्वाङ्कुर के द्वारा भक्तिपूर्वक मधुसूदन की पूजा करते हैं, तब यज्ञदान प्रभृति के द्वारा जो फल प्राप्त करना सुकठिन है, उसको भी श्रीहरि उनको निश्चय अर्पण करते हैं ।।२५३।।

स्कन्दपुराण के श्रीशिव-उमा-संवाद में लिखित है—जो व्यक्ति, अखण्ड विल्वपत्र द्वारा एक बार मात्र श्रीविष्णु की पूजा करते हैं, वे समस्त पापों से मुक्त होकर शिवलोक में निवास करेंगे ।।२५४।।

विष्णुरहस्य में वर्णित है—मनुष्य विल्वपत्र द्वारा श्रीगोविन्द की पूजा करने से, मुक्त एवं भयशून्य होकर, श्रीकृष्ण के अनुचर बनेंगे ।।२५५।।

विष्णु धर्म में उक्त है—मरुक एवं दमनक पत्र श्रीहरि को सद्य प्रसन्न करते हैं ।।२५६।।

और भी वर्णित है—ऊर्द्ध्वमुख पत्र, पुष्प एवं फल श्रीहरि को अर्पण करें ।।२५७।।

तद्विषय में ज्ञानमाला में वर्णित है—अधोमुख पत्र, पुष्प एवं फल श्रीहरि को प्रीतिकर नहीं हैं। वे सब दुःखदायक रूप में कथित हैं, सुतरां जिस रूप में उत्पन्न हैं, उस प्रकार से ही अर्पण करना विधेय है ।।२५८।।

अथ तुलस्यर्पण-नित्यता

पद्मपुराण में उक्त है—वैशाख मास के पुण्य वासर में अथवा श्रीकृष्ण के पुण्य वासर में अर्थात् अक्षय तृतीया, एकादश्यादि तिथि में जो व्यक्ति श्रीहरि पूजार्थ तुलसी संग्रह नहीं करते हैं, उन सबके यौवन, जीवन एवं अर्थ सञ्चय को धिक्कार है। इहकाल एवं परकाल में उन सबको किसी काल में सुख नहीं मिलता है ।।२५९।।

गारुड़े श्रीभगवदुक्तौ—

तुलसीं प्राप्य यो नित्यं न करोति ममार्च्चनम् ।

तस्याहं प्रतिगृह्णामि न पूजां शतवार्षिकीम् ॥२६०॥

वृहन्नारदीये च यज्ञध्वजाख्यानान्ते—

यद्‌गृहे नास्ति तुलसी शालग्रामशिलार्च्चने । श्मशानसदृशं विद्यात्तद्‌गृहं शुभवर्ज्जितम् ॥२६१

अतएवोक्तम्—

तुलसीं विना या क्रियते न पूजा, स्नानं न तद्यत्तुलसीं विना कृतम् ।

भुक्तं न तद्यत्तुलसीं विना कृतं, पीतं न तद्यत्तुलसीं विना कृतम् ॥२६२॥

वायुपुराणे च—

तुलसीरहितां पूजां न गृह्णाति सदा हरिः । काष्ठं वा स्पर्शयेत्तत्र नो चेत्तन्नामतो यजेत् ॥२६३

तुलसीदलमादाय योऽन्यं देवं प्रपूजयेत् । ब्रह्महा स हि गोघ्नश्च स एव गुरुतल्पगः ॥२६४॥

अतएवोक्तं गारुड़े नैवेद्य-प्रसङ्गे—

तुलसीदलसंमिश्रं हरेर्यच्छेच्च तत् सदा ॥२६५॥ इति ।

भगवद्दुर्लभायास्तु तुलस्या महिमाद्भुतः । सर्व्वशास्त्रेषु विख्यातः संक्षेपेणेह लिख्यते ॥२६६॥

अथ तुलसी-माहात्म्यम्, तत्र स्वतः परमोत्तमता

स्कान्दे—

सर्व्वौषधिरसनैव पुरा ह्यमृतमन्थने । सर्व्वसत्त्वोपकाराय विष्णुना तुलसी कृता ॥२६७॥

प्राप्य आनीय इत्यर्थः ॥२६०॥

अद्‌भुतः अनिर्व्वचनीयः, अतो विस्तरेण लिखितुमशक्य इति भावः ॥२६६॥

गरुड़पुराण में श्रीभगवद्वाक्य इस प्रकार है—जो व्यक्ति, प्रत्यह तुलसी संग्रह पूर्वक मेरी पूजा नहीं करता है, मैं शतवर्ष उसकी पूजा ग्रहण नहीं करता हूँ ॥२६०॥

वृहन्नारदीय में यज्ञध्वज आख्यान के शेष भाग में लिखित है- शालग्राम शिला की पूजा के निमित्त जिसके गृह में तुलसी नहीं है, उसका गृह श्मशान तुल्य अमङ्गल जनक है ॥२६१॥

अतएव कथित है—तुलसीव्यतीत पूजा, पूजा नहीं है, तुलसीव्यतीत स्नान, स्नान नहीं है, तुलसीव्यतीत भोजन, भोजन नहीं है, एवं तुलसी व्यतीत पान, पान रूप में परिगणित नहीं हो सकता है ॥२६२॥

वायुपुराण में कथित है - हरि, कदाच तुलसीव्यतीत पूजा ग्रहण नहीं करते हैं, सुतरां तुलसी अप्राप्य होने से तदीय काष्ठ का स्पर्श श्रीहरि के अङ्ग में करना चाहिये । उसके अभाव से केवल तुलसीनामोच्चारण कर श्रीहरि की अर्च्चना करें । तुलसीपत्र ग्रहण कर जो व्यक्ति, अन्य देवता की पूजा करते हैं, वे ब्रह्मघाती, गो-घाती एवं गुरुहारगामी के तुल्य पापी होते हैं ॥२६३-२६४॥

अतएव गरुड़पुराण में नैवेद्य प्रसङ्ग में कथित है—तुलसीपत्र समन्वित नैवेद्य सतत निवेदन करे ॥२६५

भगवद् दुर्लभा तुलसी की अनिर्वचनीय महिमा का विषय सर्व शास्त्र में ही प्रसिद्ध है, यहाँ पर संक्षेप में यह विषय लिपिबद्ध हो रहा है ॥२६६॥

अथ तुलसी-माहात्म्यम्, तत्र स्वतः परमोत्तमता

स्कन्दपुराण में स्वभावतः ही तुलसी का परमोत्कर्ष वर्णित है—प्राचीन काल में अमृत मन्थन के समय जीवसमूह के उपकारार्थ, श्रीविष्णु सर्वोषधिरस के द्वारा तुलसी की सृष्टि किये हैं ॥२६७॥

अतएव—

न विप्रसदृशं पात्रं न दानं सुरभीसमम् । न च गङ्गासमं तीर्थं न पत्रं तुलसीसमम् ॥२६८॥

अतएव च विष्णुरहस्ये—

अभिन्नपत्रां हरितां हृद्यमञ्जरिसंयुताम् । क्षीरोदार्णवसम्भूतां तुलसीं दापयेद्धरेः ॥२६९॥

श्रीभगवद्दुर्ल्लभता

नारदीये—

तावद्गर्जन्ति पुष्पाणि मालत्यादीनि भूसुर । यावन्न प्राप्यते पुण्या तुलसी कृष्णवल्लभा ॥२७०

विष्णुरहस्ये—

कृष्णा वाप्यथवाऽकृष्णा तुलसी कृष्णवल्लभा ।
सिता वाप्यथवा कृष्णा द्वादशी वल्लभा हरेः ॥२७१
तावद्गर्ज्जन्ति रत्नानि कौस्तुभादीन्यहर्निशम् ।
यावन्न प्राप्यते कृष्णा तुलसीपत्रमञ्जरी ॥२७२

अगस्त्यसंहितायाम्—

पूर्व्वमुग्रतपः कृत्वा वरं वव्रे मनस्विनी । तुलसी सर्व्वपुष्पेभ्यः पत्रेभ्यो वल्लभा ततः ॥२७३

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये श्रीयमब्राह्मणसंवादे—

सर्व्वासां पत्रजातीनां तुलसी केशवप्रिया ॥२७४

न विप्रसदृशमित्यादि त्रयं दृष्टान्तत्वे साध्यसन्निधौ सिद्धनिर्द्देशो दृष्टान्त इति न्यायात्, एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥२६८

गर्ज्जन्ति गर्व्वं वहन्तीत्यर्थः; अकृष्णा कृष्णेतरा हरिद्वर्णेत्यर्थः; कृष्णेति—तस्यां प्रीतिविशेषात् परमस्निग्धत्वेन श्यामताप्राप्तेर्वा ॥२७०-२७२॥

अतएव वर्णित है—विप्र के सदृश, दानपात्र नहीं है, गोदान के तुल्य, दान नहीं है, गङ्गा के समान तीर्थ नहीं है, एवं तुलसीपत्र के सदृश और पत्र भी नहीं है ॥२६८॥

विष्णुरहस्य में कथित है—अखण्डपत्र, हरिद्वर्ण, सुन्दर मञ्जरीविशिष्ट क्षीरोदसमुद्र से उत्पन्ना तुलसी श्रीहरि को अर्पण करे ॥२६९॥

श्रीभगवद्दुर्लभता

नारदीय में उक्त है—हे द्विज ! जब तक कृष्णप्रिया तुलसी प्राप्त न हो, तब तक मालती प्रभृति के पुष्प गर्वप्रकाश करते हैं ॥२७०॥

विष्णुरहस्य में वर्णित है—कृष्णवर्ण, हरिद्वर्ण, समस्त तुलसी ही श्रीकृष्ण वल्लभा है एवं कृष्णपक्षीया शुक्लपक्षीया उभयविध द्वादशी तिथि ही श्रीहरि की अतिशय प्रिया है। यावत् पर्य्यन्त कृष्णवर्ण तुलसी अथवा मञ्जरी उपलब्ध नहीं होती है, तावत् पर्य्यन्त कौस्तुभादि रत्नसमूह गर्वप्रकाशित करते हैं ॥२७१-२७२

अगस्त्य संहिता में लिखा है—पूर्वकाल में सद्बुद्धिसम्पन्ना तुलसीने घोरतर तपस्या कर वरकी प्रार्थना की थी, तज्जन्य वे समस्त पुष्प एवं पत्रों की अपेक्षा श्रीगोविन्द की वल्लभा हुई हैं ॥२७३॥

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में श्रीयम ब्राह्मण संवाद में कथित है—सकल जातीय पत्र की अपेक्षा तुलसी श्रीकेशव की वल्लभा है ॥२७४॥

किञ्च—

सर्व्वथा सर्व्वकालेषु तुलसी विष्णुवल्लभा ॥२७५

तत्रैवोत्तरखण्डे कार्त्तिक माहात्म्ये श्रीनारदोक्तौ—

तुलसीदलपूजाया मया वक्तुं न शक्यते । अत्यन्तवल्लभा सा हि शालग्रामाभिधे हरौ ॥२७६
पातिव्रत्येन वृन्दासौ हरिमाराध्य कर्म्मणा । पूर्व्वजन्मन्यसौ लेभे कृष्णसंयोगमुत्तमम् ॥२७७

तत्रैव श्रीवृन्दोपाख्यानान्ते—

सत्यं प्रीतिकरं वाक्यं कोपस्तस्यास्तु तामसः । भावद्वयं हरौ जातं यत्तद्वर्णद्वयं ह्यभूत् ।
श्यामाऽपि तुलसी विष्णोः प्रिया गौरी विशेषतः ॥२७८॥

द्वारकामाहात्म्ये च श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्नसंवादे—

यथा लक्ष्मीः प्रिया विष्णोस्तुलसी च ततोऽधिका ॥२७९॥

स्कान्दे—

योगिनां विरतौ वाञ्छा कामिनाञ्च यथा रतौ ।
पुष्पेष्वपि च सर्व्वेषु तुलस्याञ्च तथा हरेः ॥२८०॥
निरस्य मालतीपुष्पं मुक्त्वापुष्पं सरोरुहम् ।
गृह्णाति तुलसीं शुष्कामपि पर्य्युषितां हरिः ॥२८१॥

शालग्रामाभिधे श्रीशालग्रामशिला-संज्ञके, श्रीवृन्दाभक्त्यैव, तद्रूपेणावतीर्णत्वात् तदाख्यायिका तत्रैव विस्तीर्णास्ति ॥२७६॥

और भी कथित है—तुलसी सर्वप्रकार से एवं सर्वसमय में श्रीविष्णु वल्लभा है ॥२७५॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के कार्त्तिक माहात्म्य में श्रीनारद वाक्य में उक्त है—तुलसीपत्र द्वारा पूजा करने के माहात्म्य का वर्णन करने में मैं अक्षम हूँ। उक्त तुलसी, शालग्रामशिलारूपी श्रीहरि की अतिशय वल्लभा है। वृन्दादेवी ने पातिव्रत्य जनक कर्म द्वारा श्रीहरि की उपासना करके पूर्वजन्म में श्रीहरि का सङ्गलाभ किया है ॥२७६-२७७॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्डस्थ श्रीवृन्दा उपाख्यान के अवशेष में वर्णित है—वृन्दा का प्रीतिकर वाक्य सत्त्व है, एवं उनका कोप ही तमः है। उभय गुण संस्पर्श हेतु श्रीहरि में भावद्वय उत्पन्न हुये हैं। तज्जन्य तुलसी के द्विविध वर्ण हुये हैं, उनमें कृष्णवर्ण तुलसी श्रीविष्णुप्रिया होनेसे भी गौरी तुलसी विशेष प्रिया है ।२७८

द्वारका माहात्म्य के मार्कण्डेय इन्द्रद्युम्न संवाद में उक्त है—लक्ष्मी जिस प्रकार श्रीविष्णु की प्रिया हैं, तुलसी उससे भी अधिक प्रिया हैं ॥२७९॥

स्कन्दपुराण में वर्णित है—योगिगण की जिसप्रकार वैराग्य वासना, एवं कामीगण की जिसप्रकार रति क्रिया का अनुराग, तद्रूप सकल पुष्प की अपेक्षा श्रीहरि की अतिशय प्रीति तुलसी के प्रति है। मालती पुष्प मुक्तापुष्प एवं पद्म को परित्याग कर श्रीहरि, पर्युषित एवं शुष्क होनेसे भी तुलसीपत्र ग्रहण करते हैं ॥२८०-२८१॥

अतएव चतुर्थस्कन्धे (८।५५) श्रीध्रुवं प्रति श्रीनारदोपदेशे—

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः।

शस्तांकुरांशुकैश्चार्च्चेत् तुलस्या प्रियया प्रभोः ।।२८२

रासक्रीड़ायाञ्च दशमस्कन्धे (३०।७) श्रीगोपीनां भगवदन्वेषणे—

कच्चित्तुलसी कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये । सह त्वाऽलिकुलैर्बिभ्रद्दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ।।२८३

अतएव स्कान्दे—

यत् फलं सर्व्वपुष्पेषु सर्व्वपत्रेषु नारद । तुलसीदलमात्रेण प्राप्यते केशवार्च्चने ।।२८४।।

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये तत्रैव—

त्यक्त्वा तु मालती पुष्पं मुक्त्वा चैव सरोरुहम् । गृहीत्वा तुलसीपत्रं भक्त्या माधवमर्च्चयेत् ।

तस्य पुण्यफलं वक्तुमलं शेषोऽपि नो भवेत् ।।२८५।।

तत्रैव श्रीमाघ माहात्म्ये देवदूतविकुण्डल संवादे—

मणिकाञ्चनपुष्पाणि तथा मुक्तामयानि च । तुलसीपत्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ।।२८६

अगस्त्यसंहितायाम्—

नीलोत्पलसहस्रेण त्रिसन्ध्यं योऽर्च्चयेद्धरिम् । फलं वर्षशतेनापि तदीयं नैव लभ्यते ।।२८७।।

वन्यैः शस्तैरङ्कुरैर्दूर्वाङ्कुरादिभिरन्यैर्वल्कलादिभिः ; प्रिययेति—प्रभोरर्च्चने तस्या आवश्यकत्वम् ; किंवा सर्व्वनैरपेक्ष्येण तयैव तत्सन्तोषणमभिप्रेतम् ।।२८२।।

अलिकुलैः सह त्वा त्वां बिभ्रत् दधानः ।।२८३।।

तत् प्राप्यते ।।२८४।। अलं समर्थो न स्यात् ।।२८५।।

मुक्तामयानि च पुष्पाणि ; तुलसीपत्रस्य श्रीकृष्णाय कस्मैचिद्वान्यस्मै यद्दानं तस्य ।।२८६।।

तेनापि वर्षशतेनापि, तदीयं तुलसी सम्बन्धि, तत्प्रकरणात्, फलं नैव लभ्यते ।।२८७।।

अतएव चतुर्थस्कन्ध में ध्रुव के प्रति श्रीनारद का उपदेश यह है—जल, पवित्रमाल्य,फलमूलादि, प्रशस्त दूर्वाङ्कुर, वल्कल एवं प्रिया तुलसी के द्वारा श्रीहरि की पूजा करे ।।२८२।।

दशम स्कन्ध की रासक्रीड़ा प्रकरण में श्रीगोपीगण कर्त्तृक भगवदन्वेषण में वर्णित है—हे गोविन्द चरण प्रिये ! मङ्गलमयी तुलसी ! जो तुम्हारे अतीव प्रियतम हैं, जो तुमको अलिकुल के सहित शिरोभाग में धारण करते हैं, उन श्रीहरि को क्या तुमने देखा है ? २८३।।

अतएव स्कन्दपुराण में लिखित है—हे नारद ! सर्वप्रकार पुष्प एवं सर्वप्रकार पत्र द्वारा श्रीकेशवकी पूजा करने से जो फल होता है, एकमात्र तुलसी पत्रसे भी वह फल लाभ होता है ।।२८४।।

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में उक्त है—मालती एवं पद्म को वर्जन कर यदि तुलसीपत्र ग्रहण कर भक्तिपूर्वक श्रीहरि की अर्च्चना की जाय, तो उससे जो पुण्य सञ्चय होता है, अनन्तदेव भी उसका वर्णन कर शेष करने में असमर्थ हैं ।।२८५।।

पद्मपुराण के माघमाहात्म्य के देवदूत-विकुण्डल संवाद में वर्णित है—श्रीविष्णु को तुलसीपत्र अर्पण करने से जो फल होता है, मणिखचित स्वर्णपुष्प अर्पण एवं मुक्तामय पुष्पसमूह अर्पण करने से उसके षोड़शांश का एकांश फल भी नहीं होता है ।।२८६।।

अगस्त्य संहिता में लिखित है—जो व्यक्ति सहस्रनीलोत्पल द्वारा त्रिसन्ध्या श्रीहरि की पूजा करते हैं वे व्यक्ति शतवत्सर पर्य्यन्त उक्तानुष्ठान करने से भी तुलसी पत्रार्पण के समान फल लाभ नहीं करते हैं।

विद्वन् सर्व्वेषु पुष्पेषु पङ्कजं श्रेष्ठमुच्यते । तत्पुष्पेष्वपि तन्माल्यं कोटिकोटिगुणं भवेत् ॥२८८

विष्णोः शिरसि विन्यस्तमेकं श्रीतुलसीदलम् । अनन्तफलदं विद्वन् मन्त्रोच्चारणपूर्व्वकम् ॥२८९

किञ्च —

वर्णाश्रमेतराणाञ्च पूजायाश्चैव साधनम् । अपेक्षितार्थदं नान्यत् जगत्यस्ति तपोधन ॥२९०

अतएव नारदीये—

वर्ज्ज्यं पर्य्युषितं पुष्पं वर्ज्ज्यं पर्य्युषितं फलम् ।
न वर्ज्ज्यं तुलसीपत्रं न वर्ज्ज्यं जाह्नवी-जलम् ॥२९१॥

अथ श्रीभगवदर्पणेन पापहारित्वम्

पाद्मे—

श्रीमत्तुलस्यार्च्चयते सकृद्धरिं, पत्रैः सुगन्धैर्विमलैरखण्डितैः ।
यस्तस्य पापं पटसंस्थितं प्रभु,—र्निरीक्षयित्वा मृजते स्वयं यमः ॥२९२॥

स्कान्दे —

तुलसीदललक्षेण योऽर्च्चयेद्द्वारकाप्रियम् । जन्मायुतसहस्राणां पापस्य कुरुते क्षयम् ॥२९३॥

ब्राह्मे —

लिङ्गमभ्यर्च्चितं दृष्ट्वा प्रतिमां केशवस्य च । तुलसीपत्रनिकरैर्मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥२९४॥

पर्य्युषितमपि तुलसीपत्रं न वर्ज्ज्यम् ; एतेन शुष्कं पर्य्युषितं यदीति स्कान्दोक्तद्या श्रीतुलसीपत्रचूर्णमपि समर्पितम् ; एवं वैष्णवानां तच्चूर्णसंग्रहः समूल एव ज्ञेयः ॥२९१॥

एवं स्वाभाविकं श्रीतुलस्या माहात्म्यं लिखित्वाधुना श्रीमच्चरणाब्जविषयकसमर्पण-माहात्म्यं लिखन् तत्रादावखिलपापापहारित्वं विलिखति—श्रीमदित्यादिना । प्रभुः पापानां नियन्तापि निरीक्ष्य मार्ज्जयतीति मार्ज्जनस्य सम्यक्त्वाय निरीक्षणं, किंवा गुह्यत्वादितस्ततोऽवलोकनमिति ज्ञेयम् ॥२९२॥

तुलसीपत्रनिकरैरभ्यर्च्चिताम् ॥२९४॥

हे विद्वन् ! समुदाय पुष्प के मध्य में पद्म श्रेष्ठ है—इस प्रकार वर्णन है। उक्त पद्मसमूह से भी तुलसीदल माल्य कोटि कोटि गुण में श्रेष्ठ है। हे विद्वन् ! मन्त्र उच्चारण पूर्वक एक श्रीतुलसीपत्र श्रीविष्णु के मस्तक में अर्पित होने से उक्त पत्र अनन्त फल प्रदान करता है ॥२८७–२८९॥

और भी कथित है—हे तपोधन ! इस जगत् में वर्ण, आश्रम के पक्ष में तुलसीपत्र व्यतीत अन्यरूप पूजोपकरण तद्रूप अभीष्ट फलदायक नहीं है ॥२९०॥

अतएव नारदपुराण में लिखित है—पर्य्युसित पुष्प, पर्य्युसित फल वर्जन करे, किन्तु तुलसी पत्र एवं गङ्गाजल पर्य्युसित होने से भी वर्जन न करे ॥२९१॥

अथ श्रीभगवदर्पणेन पापहारित्वम्

पद्मपुराण में कथित है—जो मानव, सुगन्धि, परिष्कृत, अखण्डित तुलसीपत्र द्वारा सकृन्मात्र श्रीहरि की पूजा करते हैं, गुप्त हो अथवा प्रकाश्यही हो, तदीय पट संस्थित यावतीय पातक, जो पाप यमराज के पत्र में लिखित है, समस्त पातक को निरीक्षण पूर्वक यमराज मार्जन कर देते हैं ॥२९२॥

स्कन्द पुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति लक्ष्य तुलसी द्वारा श्रीद्वारका प्रिय हरि की पूजा करते हैं, उनके कोटिजन्म के पाप विनष्ट होते हैं ॥२९३॥

ब्रह्मपुराण में लिखित है—तुलसीपत्र के द्वारा पूजित श्रीकेशवमूर्त्ति का दर्शन जो व्यक्ति करते हैं,

नित्यमभ्यर्च्चयेद्यो वै तुलस्या हरिमीश्वरम् । महापापानि नश्यन्ति किं पुनश्चोपपातकम् ॥२९५

अन्यत्र च—

गुह्यानि यानि पापानि अनाख्येयानि मानवैः । नाशयेत्तानि तुलसी दत्ता माधवमूर्द्धनि ॥२९६

हरेर्गृहं यदा यस्तु तुलसीदलविप्रुषैः । त्रिसन्ध्यं प्रोक्षयेद्भक्त्या महापापैः प्रमुच्यते ॥२९७

अतएव स्कान्दे अवन्तीखण्डे—

किं करिष्यति संरुष्टो यमोऽपि सह किङ्करैः । तुलसीदलेन देवेशः पूजितो येन दुःखहा ॥२९८

अगस्त्यसंहितायाञ्च—

न तस्य नरकक्लेशो योऽर्च्चयेत्तुलसीदलैः । पापिष्ठो वाप्यपापिष्ठः सत्यं सत्यं न संशय ॥२९९

अथ वैरि नाशकत्वम्

पुरा क्रौञ्चवधार्थाय कोमलैस्तुलसीदलैः । अर्च्चयित्वा हृषीकेशं स्वामिना निहतो रिपुः ॥३००

सर्व्वसम्पत्प्रदत्वम्

अगस्त्यसंहितायाम्—

माल्यानि तन्वते लक्ष्मीं कुसुमान्तरितान्यपि । तुलस्याः स्वयमानीय निर्म्मितानि तपोधन ३०१

तुलसीदलस्य विप्रुषैर्जलविन्दुभिः ॥२९७॥

क्वचिच्च तुलसीदलकोमलैरिति पाठः । अर्थस्तथैवः ; स्वामिना कार्त्तिकेयेन ॥३००॥

कुसुमैरन्तरितानि, मध्ये मध्येऽन्यपुष्पैर्ग्रथितानीत्यर्थः । तुलस्या माल्यानि समर्पितानि सन्ति, लक्ष्मीं सम्पदं तन्वते विस्तारयन्तीति ज्ञेयम् । 'पत्रं पुष्पं फलञ्चैव श्रीतुलस्या समर्पितम्' इति तत्संहितायां निरन्तरपूर्व्व-श्लोकैः समर्पणस्य प्रकृतत्वात् ; यद्वा, भगवदर्थं निर्म्मितान्यपि लक्ष्मीं तन्वते, अस्तु तावत् समर्पणादि ॥३०१॥

उनके ब्रह्महत्या जनित पाप विनष्ट हो जाता है । जो व्यक्ति नित्य तुलसीपत्र द्वारा परमेश्वर श्रीहरिकी पूजा करते हैं, उनके उपपातकों का विषय क्या कहूँ ? समुदाय महापातक भी विनष्ट होते हैं ॥२९४-२९५॥

अन्यत्र भी वर्णित है—माधव के मस्तक में तुलसीपत्र अर्पित होने से वह तुलसी मानव के अकथ्य गोपनीय पाप समूह को विनष्ट करती है । जो व्यक्ति, भक्तिपूर्वक तुलसीपत्र विनिःसृत वारिविन्दु के द्वारा त्रिसन्ध्या श्रीहरिमन्दिर का मार्जन करते हैं, वे सब महापातकों से मुक्त होते हैं ॥२९६-२९७॥

अतएव स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड में उक्त है—जो मानव, तुलसीदल द्वारा दुःखनाशन श्रीहरि की पूजा करते हैं, शमनराज एवं तदीय किङ्करगण क्रुद्ध होकर भी उनका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते हैं ॥२९८॥

अगस्त्यसंहिता में लिखित है—पापिष्ठ हो अथवा धार्मिक हो, तुलसीदल के द्वारा श्रीविष्णु पूजन करने से, मैं सत्य कर पुनःपुनः कहता हूँ उनको पुनर्बार नरक यन्त्रणा भोग करना नहीं पड़ता है ॥२९९॥

अथ वैरिनाशकत्वम्

पूर्वकाल में षडानन, क्रौञ्च विनाशन के निमित्त कोमल तुलसीपत्र के द्वारा हृषीकेश की पूजा करतः अरि को संहार किये थे ॥३००॥

सर्व्वसम्पत्प्रदत्वम्

अगस्त्य संहिता में उक्त है—हे तपोधन ! स्थान स्थान में अन्य पुष्प द्वारा ग्रथित तुलसीमाला स्वयं संग्रह कर निर्माण करने से सम्पत्ति वृद्धि होती है ॥३०१॥

परमपुण्यजनकत्वम्

स्कान्दे —

कृष्णमूर्द्धनि विन्यस्ता तुलसीपत्रमञ्जरी । सुवर्णकोटिपुण्यानां फलं यच्छत्यतोऽधिकम् ॥३०२

तीर्थयात्रादिभिरहो कालक्षेपेण किं जनाः । येऽर्च्चयन्ति हरेर्विम्वं तुलसीदलकोमलैः ॥३०३॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

पुष्पान्तरैरन्तरितं निर्म्मितं तुलसीदलैः । माल्यं मलयजालिप्तं दद्यात् श्रीराम-मूर्द्धनि ॥३०४

किन्तस्य बहुभिर्यज्ञैः सम्पूर्णवरदक्षिणैः । किन्तीर्थसेवया दानैरुग्रेण तपसाऽपि वा ॥३०५॥

वाचं नियम्य चात्मानं मनो विष्णौ निधाय च । योऽर्च्चयेत्तुलसीमाल्यैर्यज्ञकोटिफलं भवेत् ३०६

भवान्धकूपमग्नानामेतदुद्धारकारणम् ॥३०७॥

गारुड़े—

यस्यारामोद्भवैः पत्रैस्तुलसीसम्भवैर्हरिः । पूज्यते खगशार्द्दूल त्रिदशं पुण्यमाप्नुयात् ॥३०८॥

अन्यत्र च —

तुलसीदलमाल्येन विष्णुपूजां करोति यः । पत्रे पत्रेऽश्वमेधानां दशानां लभते फलम् ॥३०९॥

विम्वं श्रीमूर्त्तिम् ॥३०३॥
आत्मानं च देहं नियम्य ॥३०६॥
एतत् तुलसीमाल्यैर्विष्णवर्च्चनम् ॥३०७॥
त्रिदशं पुण्यमिति—स आरामकर्त्ता त्रयोदशं पुण्यभागं प्राप्नुयात्, पूजकस्तु द्वादश भागानित्यर्थः ॥३०८

परमपुण्यजनकत्वम्

स्कन्दपुराण में लिखित है—तुलसीपत्र एवं मञ्जरी श्रीकृष्ण के मस्तक में अर्पित होने से उस से कोटि सुवर्णदानज पुण्य की अपेक्षा अधिक फल होता है, जो व्यक्ति, तुलसी के कोमल दल समूह के द्वारा श्रीहरि मूर्त्ति की पूजा करते हैं, उनको तीर्थयात्रादि द्वारा समय अतिवाहित करने का प्रयोजन ही क्या है ॥३०२-३०३

अगस्त्य संहित में वर्णित है—मध्य मध्य में पुष्प द्वारा तुलसीदल समूह ग्रन्थन कर माला प्रस्तुत करके उस में चन्दन लेपन पूर्वक जो व्यक्ति श्रीहरि के मस्तक में अर्पण करते हैं, उनको सम्पूर्ण एवं श्रेष्ठ दक्षिणा-युक्त विविध यज्ञ करने का प्रयोजन ही क्या है ? कठोर तपस्या से ही क्या प्रयोजन है। तीर्थपर्य्यटन से भी क्या फल होगा ? दान का भी क्या प्रयोजन है ? जो व्यक्ति वाक्य संयम एवं देह शोधन पूर्वक तद्गत चित्र से तुलसी माल्य द्वारा श्रीविष्णु की अर्च्चना करते हैं, वे कोटियज्ञानुष्ठान का फल प्राप्त करते हैं। तुलसीमाल्य के द्वारा श्रीविष्णुपूजन, संसाररूप अन्धकूपमग्न व्यक्ति.गण का उद्धार का एकमात्र कारण है ॥३०४-३०७॥

गरुड़पुराण में वर्णित है—हे विहग श्रेष्ठ ! जिनके उपवनजात तुलसीपत्र के द्वारा श्रीहरि पूजित होते हैं, वे पूजनकारी व्यक्ति के सञ्चित पुण्य के त्रयोदशांश का एकांश लाभ करते हैं ॥३०८॥

अन्यत्र भी कथित है—जो व्यक्ति, तुलसीपत्र के माल्य के द्वारा श्रीविष्णु की पूजा करते हैं, वे प्रत्येक पत्र प्रदान से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करते हैं ॥३०९॥

अतएव विष्णुरहस्ये स्कान्दे च—

गृहीत्वा तुलसीपत्रं भक्त्या विष्णुं समर्च्चयेत् । अर्च्चितं तेन सकलं सदेवासुर-मानुषम् ॥३१०

किञ्च काशीखण्डे—

शालग्रामशिला येन पूजिता तुलसीदलैः । सपारिजातमालाभिः पूज्यते सुरसद्मनि ॥३११॥

सर्व्वार्थसाधकत्वम्

स्कान्दे—

समञ्जरीदलैर्युक्तं तुलसीसम्भवैः क्षितौ । कुर्व्वन्ति पूजनं विष्णोस्ते कृतार्थाः कलौ नराः ॥३१२

अगस्त्य संहितायाम्—

पत्रं पुष्पं फलञ्चैव श्रीतुलस्याः समर्पितम् । रामाय मुक्तिमार्गस्य द्योतकं सर्व्वसिद्धिम् ॥३१३

मुक्तिप्रदत्वम्

पाद्मे देवदूतविकुण्डल संवादे—

तुलसीमञ्जरीभिर्यः कुर्य्याद्धरिहरार्च्चनम् । न स गर्भगृहं याति मुक्तिभागी भवेन्नरः ॥३१४

गारुड़े—

तावद्भ्रमति संसारे विमूढ़ः कलिवर्त्मनि । यावन्नाराधयेद्देवं तुलसीभिः प्रयत्नतः ॥३१५॥

तत्रैव भगवदुक्तौ—

तुलसीपत्रमादाय यः करोति ममार्च्चनम् । न पुनर्योनिमायाति मुक्तिभागी भवेन्नरः ॥३१६

सदेवासुरमानुषं जगदिति शेषः ; यद्वा, सकलं विश्वम् ॥३१०॥
सर्व्वसिद्धिदं सर्व्वार्थसिद्धिदायकम् ॥३१३॥ गर्भरूपं गृहम् ॥३१४॥
कलिर्वर्त्म यस्य तस्मिन्, प्रायः पापमयत्वात् संसारस्य ॥३१५-३१६॥

अतएव विष्णुरहस्य एवं स्कन्दपुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति, तुलसीपत्र ग्रहण करतः भक्तिपूर्वक श्रीविष्णु की पूजा करते हैं, उनके द्वारा देव, असुर, एवं नर प्रभृति का पूजन सम्पन्न होता है ॥३१०॥

काशीखण्ड में और भी वर्णित है—जो मानव, तुलसीपत्र द्वारा शालग्राम शिला पूजन करते हैं, वे देवलोक में पारिजात माला के द्वारा पूजित होते हैं ॥३११॥

सर्व्वार्थसाधकत्वम्

स्कन्दपुराण में उक्त है—जो सब व्यक्ति, मर्त्यलोक में तुलसीमञ्जरी के सहित पत्र द्वारा श्रीविष्णु पूजन करते हैं, कलियुग में वे सब व्यक्ति ही धन्य हैं ॥३१२॥

अगस्त्य संहिता में लिखित है— जो मानव, तुलसीपत्र, पुष्प, फल, श्रीराम को समर्पण करते हैं, उनका मुक्ति पथ प्रशस्त होता है एवं वे सर्वविषय में सिद्धिप्राप्त करते हैं ॥३१३॥

मुक्तिप्रदत्वम्

पद्मपुराण के देवदूतविकुण्डल संवाद में वर्णित है—जो व्यक्ति, तुलसीमञ्जरी द्वारा श्रीहरिहर की पूजा करते हैं, उनको पुनर्वार गर्भागार में प्रविष्ट होना नहीं पड़ता है, एवं वे मुक्तिलाभ करते हैं ॥३१४॥

गरुड़ पुराण में लिखित है—विमूढ़ व्यक्ति, यावत्काल यत्नपूर्वक तुलसीपत्र द्वारा श्रीहरि की उपासना करते हैं, तावत्काल पर्य्यन्त उनको पापमय संसारपथ में भ्रमण करना नहीं होता है ॥३१५॥

गरुड़पुराण की श्रीभगवदुक्ति में प्रकाश है—जो व्यक्ति, तुलसीपत्र ग्रहण करतः मेरी पूजा करते हैं,

अगस्त्यसंहितायाम्—

तुलसीपत्रमादाय योऽर्च्चयेद्रामसमन्वहम् । स याति शाश्वतं ब्रह्म पुनरावृत्ति-दुर्ल्लभम् ॥३१७॥

पूजायोग्यैः फलैः पत्रैः पुष्पैर्वा योऽर्च्चयेद्धरिम् ।

स मातुर्गर्भवासादि दुःखं नैव लभेत् क्वचित् ॥३१८॥

वैकुण्ठलोक-प्रापकत्वम्

पाद्मे तत्रैव—

आरोप्य तुलसीं वैश्य संपूज्य तद्दलैर्हरिम् । वसन्ति मोदमानास्ते यत्र देवश्चतुर्भुजः ॥३१९

तत्रैवान्यत्र—

तुलसी कृष्णगौराभा तयाभ्यर्च्चर्य जनार्द्दनम् ।

नरो याति तनुं त्यक्त्वा वैष्णवीं शाश्वती गतिम् ॥३२०॥

विष्णुरहस्ये—

कृष्णं कृष्णतुलस्या हि यो भक्त्या पूजयेन्नरः । स याति भुवनं शुभ्रं यत्र विष्णुः श्रिया सह ३२१

बृहन्नारदीये श्रीयम-भागीरथ-संवादे—

योऽर्च्चयेद्धरिपादाब्जं तुलसीकोमलच्छदैः । न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात् कदाचन ॥३२२

पुनरावृत्तिदुर्लभमिति अपुरावृत्तिकमित्यर्थः ॥३१७॥
गतिं गम्यं स्थानमित्यर्थः ॥३२०॥
शुभ्रं निर्म्मलम् ॥३२१॥
ब्रह्म—सच्चिदानन्दम्, तत्स्वरूप लोकात् वैकुण्ठात् ; तथा च तृतीयस्कन्धे—'ब्रह्मलोकः सनातनः' इति ॥३२२

उनकी पुनर्वार जन्मग्रहण करना नहीं पड़ता है, एवं वे मुक्तिप्राप्त करते हैं ॥३१६॥

अगस्त्य संहिता में लिखा है—जो व्यक्ति तुलसीपत्र ग्रहण कर प्रत्यह श्रीराम की पूजा करते हैं, वे दुर्लभ, नित्यस्वरूप ब्रह्मधाम को प्राप्त करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। जो व्यक्ति, पूजायोग्य फल, पत्र अथवा पुष्प द्वारा श्रीहरि की पूजा करते हैं, उनको कभी भी जननी जठर में वासजन्य क्लेश भोगना नहीं पड़ता है ॥३१७-३१८॥

श्रीवैकुण्ठलोकप्रापकत्वम्

पद्मपुराण के उस प्रकरण में लिखित है—हे वैश्य ! जो मानव, तुलसीवृक्ष रोपण कर उसके पत्र द्वारा श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे सब चतुर्भुज भगवान अधिष्ठित धाम में सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥३१९॥

पद्मपुराण के अन्यत्र वर्णित है—जो व्यक्ति, कृष्णवर्ण एवं गौरवर्ण तुलसी द्वारा श्रीजनार्दन की पूजा करते हैं, वे शरीर त्यागकर अक्षय विष्णुधाम गमन करते हैं ॥३२०॥

विष्णुरहस्य में लिखित है—जो मनुष्य, कृष्णवर्ण तुलसी द्वारा भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण पूजा करते हैं, लक्ष्मी के सहित विष्णु जिस लोक में विराजते हैं, उस विमल धाम में उनकी गति होती है ॥३२१॥

बृहन्नारदीय पुराण के यम भागीरथ संवाद में लिखित है—जो मानव, कोमल तुलसीदल द्वारा श्रीहरि पादपद्म की पूजा करते हैं, उनको कदाच ब्रह्मधाम से पुनरावृत्ति नहीं होती है ॥३२२॥

गारुड़े—

कृष्णार्च्चनार्थं भिक्षूणां यच्छन्ति तुलसीदलम्। अन्येषामपि भक्तानां यान्ति तत् परमं पदम् ३२३

अतएव हरिभक्तिसुधोदये वैष्णवं विप्रं प्रति यमदूतानामुक्तौ—

सुकृती दुष्कृती वापि तुलस्या योऽर्च्चयेद्धरिम्। तस्यान्ते हि वयं नेशा विष्णुदूतैः स नीयते ३२४

अतएवोक्तं स्कान्दे—

योऽभ्यस्येत् परमात्मानं त्यक्तसर्व्वैषणो मुनिः।
तुलस्या योऽर्च्चयेद्विष्णुं जगतः सम्मतावुभौ ॥३२५॥

श्रीभगवत्-प्रीणनत्वम्

ब्राह्मे—

तुलसीदलगन्धेन मालतीकुसुमेन च। कपिलाक्षीरदानेन सद्यस्तुष्यति केशवः ॥३२६॥

पाद्मे कार्तिक-माहात्म्ये वृन्दोपाख्यानान्ते—

इत्येवं वल्लभा विष्णोः पूर्व्वजन्मन्यथाधुना। प्रीयते पूजितो ह्यस्या दलैर्दैत्यबलान्तकः ॥३२७

स्कान्दे च—

सुवर्णमणिपुष्पैस्तु प्रीतो भवति नाच्युतः। तुलसीदलभागेन यथा प्रीयेत केशवः ॥३२८॥

अतएव तत्रैव ब्रह्मनारद-संवादे—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं तुलसीगन्धवासितम्। फलं लक्षगुणं प्रोक्तं केशवाय निवेदितम् ॥३२९

त्यक्त्वाः सर्व्वा एषणाः पुत्रादि-स्पृहात्रयं येन सः, एषणास्तिस्रश्च श्रुत्योक्ताः—'पुत्रैषणाश्च वित्तैषणाश्च लोकैषणाश्च' इति ॥३२५॥

गरुड़पुराण में लिखित है—जो व्यक्ति, कृष्णपूजा के निमित्त सन्न्यासी एवं अन्यान्य भक्तवृन्दको तुलसीपत्र अर्पण करते हैं, वे सब उस परम धामको प्राप्त करते हैं ॥३२३॥

अतएव हरिभक्ति सुधोदय में विष्णुभक्त विप्र के प्रति यमदूतगण का वाक्य यह है—कथा धर्मनिष्ठ, अधार्मिक; जो कोई क्यों न हो, तुलसी द्वारा केशव की पूजा करने से मरणोपरान्त हम सब उनको स्पर्श कर नहीं सकते हैं। विष्णुदूतगण द्वारा वह लाया जाता है ॥३२४॥

अतएव स्कन्दपुराण में लिखित है—जो मुनि, निखिल कामना वर्जित होकर परमात्मा की आराधना करते हैं, एवं जो तुलसीपत्र द्वारा श्रीविष्णु की पूजा करते हैं, वे दोनों ही संसार में समान रूप से प्रशंसित हैं ॥३२५॥

श्रीभगवत्-प्रीणनत्वम्

ब्रह्मपुराण में लिखा है—तुलसीदल की गन्ध, मालतीपुष्प एवं कपिला धेनु का दुग्ध, इन तीन द्रव्यों से श्रीहरि आशु सन्तुष्ट होते हैं ॥३२६॥

पद्मपुराणस्थ कार्त्तिक माहात्म्य के वृन्दा के उपाख्यानान्त में कथित है—पूर्वजन्म में तुलसी रूपिणी वृन्दा, इस प्रकार में श्रीविष्णु की प्रियतमा हुई थी, अतएव इस जन्म में इनके पत्र के द्वारा श्रीविष्णु पूजित होने से दैत्यसैन्य विनाशक भगवान् अतिशय प्रीत होते हैं ॥३२७॥

स्कन्दपुराण में लिखा है—तुलसीदल द्वारा अच्युत केशव जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं, सुवर्ण एवं मणि निर्मित पुष्प द्वारा भी तद्रूप प्रीत नहीं होते हैं ॥३२८॥

अतएव स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद संवाद में उक्त है—तुलसीपत्र की गन्ध से सुवासित पत्र, पुष्प, फल

तुलसीगन्धमिश्रन्तु यत् किञ्चित् कुरुते हरेः । कल्पकोटिसहस्राणि प्रीतो भवति केशवः ।।३३०

किञ्च, द्वारकामाहात्म्ये मार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-संवादे—

यः पुनस्तुलसीपत्रैः कोमलैर्मञ्जरीयुतैः । पूजयेत् सूत्रबद्धैस्तु कृष्णं देवकिनन्दनम् ।।३३१।।

या गतिर्योगयुक्तानां या गतिर्यज्ञशीलिनाम् । या गतिर्दानशीलानां या गतिस्तीर्थसेविनाम् ३३२

या गतिर्मातृभक्तानां द्वादशीवेधवर्ज्जिनाम् । कुर्व्वतां जागरं विष्णोर्नृत्यतां गायतां फलम् ३३३

वैष्णवानान्तु भक्तानां यत् फलं वेदवादिनाम् । पठतां वैष्णवं शास्त्रं वैष्णवेभ्यश्च यच्छताम् ।।

फलमेतन्महीपाल लभते नात्र संशय ।।३३४।।

कार्त्तिकादौ फलविशेषः

तत्र कार्त्तिके गारुडे—

गवामयुतदानेन यत् फलं लभते खग । तुलसीपत्रकैकेन तत् फल कार्त्तिके स्मृतम् ।।३३५।।

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

तुलसीदललक्षेण कार्त्तिके योऽर्च्चयेद्धरिम् । पत्रे पत्रे मुनिश्रेष्ठ मौक्तिकं लभते फलम् ।।३३६।।

तत्रैवाग्रे—

तुलसीदलानि पुण्यानि ये यच्छन्ति जनार्द्दने । कार्त्तिकं सकलं वत्स पापं जन्मायुतं दहेत् ३३७

इष्ट्वा क्रतुशतैः पुण्यैर्दत्वा रत्नान्यनेकशः । तुलसीदलेन तत् पुण्यं कार्त्तिके केशवार्च्चनात् ३३८

मौक्तिकं फलं मोक्षं, मुक्तेः फलं भक्ति वा ।।३३६।।

तेषां पापं दहेत् नश्यति ; यो यच्छतीति वा पाठः । ततश्च स एवात्मनोऽन्यस्यापि पापं दहेत् ; पुण्यैरुत्तमैरश्वमेधादिभिरित्यर्थः ; यत् प्राप्यते, तत् पुण्यं स्यात् ।।३३७-३३८।।

एवं जल केशवको निवेदन करने से लक्षगुण फल लाभ होता है, तुलसीपत्र गन्धयुक्त जो कोई द्रव्य केशवको अर्पण करने से, उस से श्रीहरि कोटिकल्प पर्य्यन्त प्रसन्न रहते हैं ।।३२९-३३०।।

और भी द्वारकामाहात्म्य के मार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न संवाद में लिखत है—हे भूप ! जो व्यक्ति, सूत्र द्वारा ग्रथित मञ्जरीयुक्त कोमल तुलसीपत्र द्वारा देवकीनन्दन श्रीहरि की पूजा करते हैं। वे योगाभ्यासकारी की गति, यज्ञानुष्ठाता की गति, दाता की गति, तीर्थ भ्रमणकारी की गति, जननीभक्त की गति, द्वादशी वेध वर्जनकारी की गति, श्रीविष्णु के उद्धेश्य से रात्रि जागरण पूर्वक नृत्यगीतकारी का फल, विष्णुभक्त का फल, वेदाध्ययनकारी का फल' वैष्णव शास्त्राध्यायी का फल, वैष्णववृन्दको दानकारी का फल प्राप्त करते हैं, इस विषय में सन्देहावकाश नहीं है ।।३३१-३३४।।

कार्त्तिकादौ फलविशेषः

तन्मध्य में कार्त्तिकमास का फल गरुड़पुराण में वर्णित है—हे विहग ! दशसहस्र गोदान करने से जो फल होता है, कार्त्तिकमास में एक तुलसीपत्र अर्पण से वह फल होता है ।।३३५।।

स्कन्धपुराण के ब्रह्मनारद संवाद में उक्त है—हे मुनिश्रेष्ठ ! जो व्यक्ति, कार्त्तिकमास में लक्ष तुलसीपत्र द्वारा श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे प्रत्येक पत्र में मोक्ष अथवा मुक्ति का फल स्वरूप भक्ति लाभ करते हैं ।।३३६।।

उक्त पुराण में लिखित है—हे वत्स ! जो मानव, सम्पूर्ण कार्त्तिकमास में पवित्र तुलसीदल समूह जनार्दन को अर्पण करते हैं, उनके अयुत जन्म के पाप समूह विनष्ट होते हैं। शत शत पवित्र अश्वमेध

किञ्च—
यः पुनस्तुलसीं प्राप्य कार्त्तिकं सकलं मुने । अर्च्चयेद्देवदेवेशं स याति परमां गतिम् ॥३३९॥

पाद्मे कार्त्तिक माहात्म्ये—
मञ्जरीभिः सपत्राभिर्मालाभिश्चापि केशवः । तुलस्याः कार्त्तिके प्रीतो ददाति पदमव्ययम् ३४०

अथ माघे

स्कान्दे तत्रैव—
स्नात्वा महानदीतोये कोमलैस्तुलसीदलैः । योऽर्च्चयेन्माधवं माघे कुलानां तारयेच्छतम् ॥३४१
सुकोमलैर्दलैर्यस्तु मञ्जरीभिर्जनार्द्दनम् । अर्च्चयेन्माघमासे तु क्रतूनां लभते फलम् ॥३४२॥

अथ चातुर्मास्ये

स्कान्दे—
संपूज्य तुलसीभक्त्या घनश्यामं जनार्द्दनम् । चतुरो वार्षिकान्मासान् अश्वमेधायुतं लभेत् ३४३

अथ वैशाखे

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीयमब्राह्मण-संवादे—
तुलसी गौरकृष्णाख्या तयाभ्यर्च्चर्य मधुद्विषम् । विशेषेण तु वैशाखे नरो नारायणो भवेत् ३४४
माधवं सकलं मासं तुलस्या योऽर्च्चयेन्नरः । त्रिसन्ध्यं मधुहन्तारं नास्ति तस्य पुनर्भव ॥३४५

तुलस्या भक्तिर्मालादिरचना, तया ॥३४३॥
नारायण इव भवेत्, तत्सारूप्यप्राप्त्या ; पुनर्भवो जन्मलक्षणः संसारो नास्ति, नित्यवैकुण्ठवासात् ॥३४४-३४५

यज्ञाचरण से एवं अनेक रत्नार्पण से जो पुण्य सञ्चय होता है, कार्त्तिकमास में तुलसीपत्र द्वारा केशव की पूजा करने से वही पुण्य होता है ॥३३७-३३८॥

और भी कथित है—हे मुने ! जो मानव, तुलसीपत्र संग्रह पूर्वक तद्द्वारा समुदाय कार्त्तिकमास में देव देव श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे उत्तम गति प्राप्त करते हैं ॥३३९॥

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है—तुलसीपत्र सह मञ्जरी एवं माला कार्त्तिकमास में अर्पण होने से केशव तद् द्वारा सन्तुष्ट होकर नित्य पद प्रदान करते हैं ॥३४०॥

अथ माघे

स्कन्दपुराण में लिखित है—माघमास में महानदी जल में स्नान कर कोमल तुलसीदल द्वारा जो व्यक्ति माधव की पूजा करते हैं, वे निज शत कुलको उद्धार करते हैं। जो व्यक्ति माघमास में सुकोमल तुलसीपत्र द्वारा एवं मञ्जरी द्वारा जनार्दन की पूजा करते हैं, वे यज्ञ समूह का फल लाभ करते हैं ॥३४१-३४२॥

अथ चातुर्मास्ये

स्कन्दपुराण में वर्णित है—भक्तिपूर्वक, तुलसी के द्वारा घनश्याम जनार्दन की पूजा चारवत्सर चतुर्मास में करने से अयुत अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है ॥३४३॥

अथ वैशाखे

पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य के श्रीयमब्राह्मण संवाद में लिखित है—विशेषतः वैशाखमास में गौर वर्ण एवं कृष्णवर्ण तुलसीपत्र द्वारा श्रीमधुसूदन की पूजा करने से मनुष्य नारायण सदृश होते हैं, अर्थात् उनकी पुनर्वार संसार में जन्म नित्य वैकुण्ठधाम में निवास हेतु उनको नारायण सारूप्य लाभ होता है,

अथ तुलसीग्रहणविधिः

वायुपुराणे—

अस्नात्वा तुलसीं छित्त्वा य पूजां कुरुते नरः ।
सोऽपराधी भवेत् सत्यं तत् सर्व्वं निष्फलं भवेत् ॥३४६॥

तत्रादौ मन्त्रः

स्कान्दे—

तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया । केशवार्थे विचिन्वामि वरदा भव शोभने ॥३४७॥
त्वदङ्गसम्भवैः पत्रैः पूजयामि यथा हरिम् । तथा कुरु पवित्राङ्गि कलौ मलविनाशिनि ॥३४८

गारुड़े च—

मोक्षैकहेतो धरणीप्रशस्ते, विष्णोः समस्तस्य गुरोः प्रियेति ।
आराधनार्थं वरमञ्जरीकं लुनामि पत्रं तुलसि क्षमस्व ॥३४९॥

इत्युक्त्वा तुलसीं नत्वा चित्वा दक्षिणपाणिना । पत्राण्येकैकशो न्यसेत् सत्पात्रे मञ्जरीरपि ३५०

स्कान्दे— तन्माहात्म्यञ्च

मन्त्रेणानेन यः कुर्य्याद्गृहीत्वा तुलसीदलम् । पूजनं वासुदेवस्य लक्ष-कोटिफलं लभेत् ॥३५१

विचिन्वामीत्यार्षं, विचिनोमि ॥३४७॥
एकैकशो दक्षिणहस्तेन चित्वा तथैव सत्पात्रे उत्तमभाजने अर्पयेन्निदध्यात् ॥३४९-३५०॥

ग्रहण नहीं करना पड़ता है । जो मनुष्य, समस्त वशाखमास तुलसी के द्वारा त्रिसन्ध्या मधुरिपु श्रीहरि की पूजा करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥३४४-३४५॥

अथ तुलसीग्रहणविधिः

वायुपुराण में लिखित है—जो मनुष्य, अस्नात अवस्था में तुलसी चयन कर श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे निश्चय ही अपराधी होते हैं, एवं तदीय कर्मसमूह निष्फल होते हैं ॥३४६॥

तत्रादौ मन्त्रः

स्कन्दपुराण में लिखित है—हे शोभने ! हे तुलसि ! अमृत से लक्ष्मी की उत्पत्ति हुई है । तुम सदा ही जनार्दन की प्रिया हो, केशव की पूजा के निमित्त मैं तुम को चयन करता हूँ, तुम वरदायिनी होओ ॥३४७
हे पवित्र कलेवरे ! हे कलिकलुष नाशिनि ! तुम्हारे अङ्गोत्पन्न पत्र से मैं जिस प्रकार जनार्दन की पूजा कर सकूँ—तुम वही करो ॥३४८॥

गरुड़पुराण में उक्त है—हे तुलसी ! तुम मोक्ष का एकमात्र कारण हो, पृथिवी में तुम्हारी समान श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, तुम चराचर के गुरु भगवान् श्रीहरि की प्रिया हो, अतएव उनकी उपासना निबन्धन मैं तुम्हारी सर्वोत्तम मञ्जरी एवं पत्र च्छेदन करता हूँ, तुम मुझे क्षमा करो ।३४९॥

उक्त मन्त्र उच्चारण पूर्वक तुलसीको प्रणाम कर दक्षिण हस्त द्वारा एक एक पत्र एवं मञ्जरी चयन कर उत्तम पात्र में स्थापन करे ॥३५०॥

तन्माहात्म्यञ्च

स्कन्दपुराण में उक्त है—जो व्यक्ति उस मन्त्र के द्वारा तुलसीदल ग्रहण पूर्वक वासुदेव की पूजा करते हैं, वे कोटिलक्ष फल लाभ करते हैं ॥३५१॥

किञ्च—

शालग्रामशिलार्च्चार्थं प्रत्यहं तुलसी-क्षितौ ।
तुलसीं ये विचिन्वन्ति धन्यास्ते करपल्लवा ॥ इति । ॥३५२॥

संक्रान्त्यादौ निषिद्धोऽपि तुलस्यवचयः स्मृतौ । परं श्रीविष्णुभक्तैस्तु द्वादश्यामेव नेष्यते ॥३५३

अथ तुलस्यवचयनिषेधकालः

विष्णुधर्मोत्तरे—

न छिन्द्यात् तुलसीं विप्रा द्वादश्यां वैष्णवः क्वचित् ॥३५४॥

गारुड़े—

भानुवारं विना दूर्व्वां तुलसीं द्वादशीं विना । जीवितस्याविनाशाय न विचिन्वीत धर्म्मवित् ३५५

पाद्मे च श्रीकृष्णसत्या संवादीय—कार्त्तिकमाहात्म्ये—

द्वादश्यां तुलसीपत्रं धात्रीपत्रञ्च कार्त्तिके । लुनाति स नरो गच्छेन्निरयानतिगर्हितान् ॥३५६॥

अतएवोक्तम्—

देवार्थे तुलसीच्छेदो होमार्थे समिधान्तथा । इन्दुक्षये न दुष्येत गवार्थे तु तृणस्य च ॥३५७॥

एवं कृत्वा महापूजामङ्गोपाङ्गादिकं प्रभोः । क्रमाद्यथासम्प्रदायं तत्तत्स्थानेषु पूजयेत् ॥३५८

क्षिताविति– पृथिव्यामेव, श्रीतुलस्याः सत्त्वात्, अतः क्षितिरपि धन्येति भावः ॥३५२॥
क्षिताविति– पृथिव्यामेव, श्रीतुलस्याः सत्त्वात्, अतः क्षितिरपि धन्येति भावः ॥३५२॥

'संक्रान्तौ पक्षयोरन्ते द्वादश्यां रविवासरे । तुलसीं ये विचिन्वन्ति'– इत्यादिवचनैः स्मृतिशास्त्रे निषिद्धोऽपि
परं केवलं द्वादश्यामेव तुलस्या अवचयो नेष्यते ॥३५३॥

जीवितस्याविनाशायेति, अन्यथा आयुःक्षयः स्यादित्यर्थः ; एवं द्वादश्यामेव निषेधादमावस्यादावपि
तदवचयो विहित इति ज्ञेयम् । तदेवाभिव्यञ्जयति—देवार्थ इति ; समासान्तःप्रविष्टेनापि छेदेन
सहाग्रेऽप्यन्वयः ॥३५५-३५७॥ आदिशब्देन

अङ्गानि श्रीमूर्त्तौ मन्त्रवर्णादि-न्यासस्थानानि, उपाङ्गानि वेत्वादि-चिह्नचतुष्टयम् ;
श्रीमूर्त्तिन्यस्त-मन्त्रपदाक्षराणि आवरणानि च; तेषां तेषां वर्णादीनां स्थानेषु क्रमेण गन्धादिभिः पूजयेत् ३५८

और भी उक्त है—जो व्यक्ति तुलसी क्षेत्र में शालग्रामशिला की पूजा के निमित्त प्रतिदिन तुलसी चयन
करते हैं, उन पुरुषों की अंगुली धन्य है, एवं पृथिवी में तुलसी के सद्भावजन्य पृथिवी भी धन्या है ।
स्मृतिशास्त्र में संक्रान्ति प्रभृति में अर्थात् अमावस्या, पूर्णिमा, द्वादशी एवं रविवार में तुलसी चयन निषिद्ध
होने से भी विष्णुभक्तगण केवल द्वादशी तिथि में ही तुलसी चयन नहीं करते हैं ॥३५२-३५३॥

अत तुलस्यवचय निषेधकालः

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—हे विप्रगण ! वैष्णव द्वादशी तिथि में कदाच तुलसी चयन न करे ॥३५४
गरुड़पुराण में कथित है—धर्मज्ञ व्यक्ति, यदि आयु ह्रास की कामना न करे तो, रविवार में दूर्वा एवं
द्वादशी तिथि में तुलसी चयन न करें । ऐसा करने से परमायु घटती है ॥३५५॥
पद्मपुराण के श्रीकृष्ण सत्यभामा संवाद में उक्त है—जो व्यक्ति, द्वादशी तिथि में तुलसीपत्र एवं
कार्त्तिकमास में धात्रीपत्र छेदन करते हैं, वे अतिशय गर्हित नरक गमन करते हैं ॥३५६॥
अतएव कथित है—अमावस्या तिथि में देवता के निमित्त तुलसीच्छेदन, होम के निमित्त काष्ठच्छेदन,
एवं गो के निमित्त तृणच्छेदन करने से दोष नहीं होता है ॥३५७॥

उस प्रकार से भगवान् की महापूजा समापन पूर्वक तत्तद्वर्णादि के स्थल में क्रमानुसार और

अथाङ्गोपाङ्ग-पूजा

मन्त्रवर्ण-पदान्यादौ तत्तन्न्यासपदेषु च । वेणुञ्च मालां श्रीवत्सं कौस्तुभञ्च यथास्पदम् ॥३५९

ततश्च मूलमन्त्रेण क्षिप्त्वा पुष्पाञ्जलित्रयम् । प्रार्थ्यानुज्ञां भगवतोऽर्च्चयेदावृतिदेवता ॥३६०

ताश्च प्रत्येकमावाह्य स्नानादि परिकल्प्य च । पूजयेद्गन्धपुष्पाभ्यां यथास्थानं यथाक्रमम् ३६१

अथावरणपूजा

कर्णिकायां चतुर्द्दिक्षु द्योतमानान् प्रभोः सखान् । वसुदामं सुदामञ्च दामञ्च किङ्किणीं यजेत् ३६२

इति प्रथमावरणम्

तदेव विविच्य दर्शयति—मन्त्रेति । तस्य तस्य न्यासस्थानेषु यथास्पदं यथास्थानम् । अयमर्थः—पूर्व्वं श्रीमूर्त्तौ यस्मिन्नङ्गे यन्न्यस्तमस्ति, तस्मिन् तदेव क्रमेण पूजयेदिति । प्रयोगः—श्रीमस्तके ॐ ह्रीं नमः, ललाटे ॐ क्लीं नमः इत्यादिः । श्रीनेत्रद्वये केचिदपि पूजां कुर्व्वन्ति, ॐ ह्रीं नमः इत्यादिः । अत्र सर्व्वत्र निजसम्प्रदाय व्यवहार एवानुसर्त्तव्यः ; अतएव लिखितम्—यथासम्प्रदायमिति । वेण्वादींश्च श्रीमुखादौ पूर्व्ववत् पूजयेत् । प्रयोगः—श्रीमुखवेणवे नमः इत्यादिः ॥३५९॥

आवृतिः आवरणं, तद्रूपा देवताः ॥३६०॥

ता आवरणदेवताः, तासामेव स्नानादिकं परिकल्प्य सम्पाद्य ताः पूजयेत् ॥३६१॥

तदेव विविच्य दर्शयति—कर्णिकायामित्यादिना ऊर्द्ध्वयोरित्यन्तेन । चतुर्दिक्षु—श्रीभगवतः पूर्व्वादिदिक्-चतुष्टये ; प्रयोगः—ॐ वसुदामाय नमः इत्यादिः ।३६२॥

सम्प्रदायानुसार गन्धादि द्वारा अङ्ग अर्थात् श्रीमूर्ति में मन्त्रवर्णादि का न्यासस्थल समूह एवं उपाङ्गादि अर्थात् वेणु इत्यादि चतुष्टय एवं श्रीमूर्त्तिस्थित मन्त्रादि एवं अक्षर समूह की पूजा करनी चाहिये ॥३५८॥

अथाङ्गोपाङ्ग-पूजा

प्रथमतः तत्तन्न्यास स्थान में स्थानानुसार मन्त्र, वर्ण, पद एवं वेणु, माला, श्रीवत्स एवं कौस्तुभ की पूजा करे । अर्थात् श्रीमूर्त्ति के निज अङ्ग में जो विन्यस्त हैं, उन में क्रमानुसार पूजा करे । पूजा का प्रयोग यह है—मस्तक में ॐ ह्रीं नमः । ललाट में ॐ क्लीं नमः इत्यादि । "ॐ ह्रीं नमः इत्यादि रूप में श्रीनेत्र-द्वय में भी कोई कोई पूजा करते हैं। तज्जन्य लिखित है—सम्प्रदायानुसार पूजा करे। उसका प्रकार "श्रीमुखे वेणवे नमः" इत्यादि ॥३५९॥

तदनन्तर, मूलमन्त्र द्वारा तीनवार पुष्पाञ्जली प्रदान करतः श्रीभगवान् की अनुज्ञा प्रार्थना कर आवरण देवतागण की पूजा करनी चाहिये ॥३६०॥

उक्त देवतावृन्द के प्रत्येक को आवाहन करके स्नान प्रभृति सम्पन्न करके गन्धपुष्प द्वारा यथास्थल में यथा क्रम से पूजा करे ॥३६१॥

अथावरणपूजा

श्रीभगवान्के पूर्वादि दिक्चतुष्टय में कर्णिका में विराजित तदीय सखा वसुदाम, सुदाम, दाम एवं किङ्किणि की पूजा करे । प्रयोग—"ॐ वसुदामाय नमः इत्यादि" यह प्रथमावरण है ॥३६२॥

तद्वहिश्चाग्निकोणादौ केशरेष्वङ्गदेवताः । हृदयादियुताः पूज्याः स्वस्ववर्णादिशोभिताः ॥३६३

इति द्वितीयावरणम्

ततो वहिश्च पूर्व्वादि-दिग्दलेष्वष्टसु प्रभोः । महिषी रुक्मिणी सत्यभामा नाग्नजिती क्रमात् ३६४

सुनन्दा मित्रविन्दा च सम्पूज्याथ सुलक्षणा । जाम्बवती सुशीला च तत्तद्‌द्रव्यादिभूषिताः ३६५

इति तृतीयावरणम्

पूर्व्वाद्यष्टदलाग्रेषु वसुदेवञ्च देवकीम् । श्रीनन्दं श्रीयशोदाञ्च बलभद्रं सुभद्रिकाम् ॥३६६॥

गोपान् गोपीश्च तद्भावत्रपया दूरतः स्थिताः । विचित्ररूपवेशादि-शोभमानानिमान् यजेत् ३६७

इति चतुर्थावरणम्

अग्निकोणादाविति कोणचतुष्टये प्रथमाङ्गदेवताचतुष्टयम् ; अन्त्याश्च चतुर्दिक्ष्वेवेति ज्ञेयम् ; हृदयादिमन्त्रैः हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा इत्यादिभिर्युक्ताः । प्रयोगः—ह्रीं हृदयाय नमः, नमः शिरसे स्वाहा नमः इत्यादिः । तद्वर्णादिकञ्चोक्तं क्रमदीपिकायाम्—'मुक्तेन्दुकान्तकुवलय-हरिनीलहुताशनप्रभाः प्रमदाः । अभयवरस्फूरितकराः प्रधानतनवोऽङ्गदेवताः स्मार्य्याः ॥' इति । अस्यार्थः शुक्लनीलरक्तवर्णाः स्त्रीरूपाः अभयवरकराः प्रधानदेवतास्वरूपा ध्येया इत्यर्थः ॥३६३॥

महिषीणां ध्यानं लिखति-- तत्तदिति । तेन तेन कमलादिना द्रव्येण, आदि-शब्दाद्रूप-भूषणादिना च भूषिताः ; तच्चोक्तं तत्रैव—'तपनीयमरकताभाः सुसितविचित्राम्बरा द्विशस्त्वेताः । पृथुकुचभरालसाङ्ग्यो विविधमणिप्रकरविलसिताभरणाः । दक्षिणकरधृतकमलाः सुरभिपात्रमुद्रितान्यकराः ॥' इति । अस्यार्थः द्विशः युग्मशः, क्रमेण काञ्चनमरकतवद्वर्णा रत्नपूरितसत्पात्रलांक्षतवामकरा इति ॥३६५॥

पूर्व्वं पूर्व्वदिक्स्थितं, तदादिषु अष्टसु दलाग्रेषु वसुदेवादीनष्ट यजेत्, पूजयेदिति द्वाभ्यामन्वयः । क्रमादित्यग्रे लिखितत्वात् सर्व्वत्रैव सम्बन्धनीयम् । तत्र गोपगोपीनां बहुत्वेऽपि गणत्वाभिप्रायेण द्वित्वं ज्ञेयम् ननु भगवतः प्रियतमानां भगवतीनां श्रीगोपीनां चतुर्थावरणे पूजनं नोपयुज्यते, भगवदत्यन्तान्तिक एव तासामवस्थित्युपपत्तेः ; तत्र लिखति— तद्भावेति, तेन तेन अनिर्वचनीयेन परमगोप्येन वा भावेन प्रेम-विशेषेण या त्रपा, तया दूरतः स्थिताः । अत्यन्तसन्निकर्षेण निजभावस्य प्रकाशे सति सभामध्ये कुलवतीनां तासां परमलज्जोत्पत्तचा श्रीयशोदादिसङ्गापेक्षया च तत्रावस्थानं युक्तमेवेति भावः । एतदपि सकामपूजा-विषयकमेवेत्यामिकमग्रे व्यक्तं भावि । इति इमान् वसुदेवादीन् पुमान् स्त्रियेत्येकशेषत्वम् । रूपादिकञ्च तेषां ध्यानार्थं तत्रैवोक्तम्—'ज्ञानमुद्राभयकरौ पितरौ पीतपाण्डुरौ । दिव्यमाल्याम्बरालेप-भूषणौ मातरौ पुनः ॥

उसके वहिर्भाग के अग्निकोणादि स्थान चतुष्टय में केशर में विराजमान अङ्गदेवतागण के स्वीय स्वीय वर्णादि एवं हृदयादि मन्त्र सह पूजा करे । प्रयोग—"ह्रीं हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा, नमः इत्यादि" यह द्वितीय आवरण है ॥३६३॥

उसके वहिर्भाग में पूर्वादि दिक्स्थित अष्टदल में कमलादि वस्तु द्वारा अलंकृत रुक्मिणी, सत्यभामा, नाग्नजिती, सुनन्दा, मित्रविन्दा, सुलक्षणा, जाम्बवती, एवं सुशीला नाम्नी श्रीकृष्ण महिषीवृन्द की क्रमान्वय से पूजा करनी चाहिये यह तृतीयावरण है ॥३६४-३६५॥

पूर्वादि दिक्स्थ अष्टदल में विचित्ररूप एवं वेशादि द्वारा शोभमान वसुदेव, देवकी, श्रीनन्द, श्रीयशोदा बलराम, सुभद्रा, गोपगण एवं श्रीकृष्ण प्रति अनुरक्त। लज्जावशतः दूर में अवस्थित गोपीगण की पूजा यथाक्रम से करना चाहिये । यह चतुर्थावरण है ॥३६६-३६७॥

तद्बहिश्चतुरस्रान्तपूर्व्वाद्याशाचतुष्टये । सन्तानं पारिजातञ्च कल्पद्रुममथार्च्चयेत् ॥३६८॥
हरिचन्दनमप्येवं दिव्यवृक्षानभीष्टदान् । कर्णिकायाञ्च सम्पूज्य मन्दारं देवपृष्ठतः ॥३६९॥

इति पञ्चमावरणम्

तद्बहिश्चाष्टदिक्पालान् स्वस्वदिक्ष्वेव पूजयेत् ।
तत्तद्वीजाधिपत्यास्त्र-वाहन-स्वजनान्वितान् ॥३७०॥

तत्तद्वर्णान् दिव्यवेशाननन्तश्च तथार्च्चयेत् । निर्ऋत्यम्बुपयोर्मध्ये ब्रह्माणं चेन्द्ररुद्रयोः ॥३७१॥

इति षष्ठावरणम्

धारयन्तौ च वरदं पयसा पूर्णपात्रकम् । अरुणश्यामले हारमणिकुण्डल-मण्डिते ॥ बलः शङ्खेन्दुधवलो मुषलं लाङ्गलं दधत् । हालालीलो नीलवासा हेलावानेककुण्डलः ॥ कलायश्यामला भद्रा सुभद्रा भद्रभूषणा। वराभययुता पीतवसना रूढ़यौवना ॥ वेणुवीणा-वेत्रयष्टिशङ्खश्रृङ्गादिपाणयः । गोपा गोप्यश्च विविध-प्राभृतात्तकराम्बुजाः ॥' इति । एषामयमर्थः—पितरौ श्रीवसुदेव-नन्दौ, मातरौ श्रीदेवकीयशोदे, हाला माध्वी, हेला लीला, प्राभृतमुपायनमिति ॥३६६-३६७॥

कर्णिकायां देवस्य भगवतः पृष्ठे मन्दारञ्च, च-शब्दात् दिव्यवृक्षमभीष्टदमादौ सम्पूज्य पश्चात्तेभ्यो वासुदेवादिभ्यो वहिश्चतुरस्राभ्यन्तरे पूर्व्वादि दिक्चतुष्टये सन्तानादीन् क्रमेणार्च्चयेत् । एवं लिखितप्रकारेण अभीष्टदायकान् दिव्यवृक्षान् पश्चार्च्चयेत् ॥३६९॥

दिक्पालान् इन्द्रादीनष्ट, स्वस्वदिक्षु इन्द्रादीनां निजनिजासु चतुरस्रस्य पूर्व्वाद्यष्टदिक्षु ; तस्य तस्य इन्द्रादेः वीजानि वीजाक्षराणि आधिपत्यानि देवादिपतित्वादीनि, अस्त्राणि वज्रादीन्यायुधानि, वाहनानि ऐरावतादीनि, स्वजनाः सारथ्यादिपरिवारास्तैरन्वितान् ॥३७०॥

ध्यानार्थं तेषां वर्णादिकं लिखति—तत्तदिति पादेनैकेन । सः प्रसिद्धः कपिशादि-वर्णो येषां, तान् ; दिव्यः विचित्रमणिगणकिरण प्रस्फुरणादिमयो वेशः भूषणं येषां तान् । अधुना अधऊर्द्ध्वदिग्द्वयपालयोः पूजासन्निवेशं लिखति अनन्तमिति । तथा तेनैव प्रकारेणेति—वीजादिना वर्णादिना चान्वितमित्यर्थः । अनन्तं निर्ऋतेः अम्बुपस्य वरुणस्य च मध्ये अर्च्चयेत् ; ब्रह्माणञ्च इन्द्र-रुद्रयोर्मध्ये तथैवार्च्चयेत् । तत्र वीजाक्षराणि—'लां वां मां क्षां रां यां सां हां ह्रीं आं' इति । वर्णादिकञ्चोक्तं तत्रैव—'कपिशकपिल-नील-श्यामल-श्वेत-धूम्रा,-मलसित शुचि-रक्ता वर्णतो वासवाद्याः । करकमलविराजत्-स्वायुधा दिव्यवेशा, विविधमणिगणास्तु प्रस्फुरद्भूषणाढ्याः ॥' इति ; आधिपत्यानि च ; देवतेजः-प्रेत-रक्षो-जल-प्राण-नक्षत्र-भूत-नाग-प्रजानां क्रमशः प्रयोगः—'ॐ लां इन्द्राय देवाधिपतये सायुधाय सवाहनाय सपरिवाराय कपिशवर्णाय विविधमणिगणकिरण-प्रस्फुरद्भूषणाय नमः' इत्यादिः । क्वचिच्च वर्णभूषणप्रयोगो न तिष्ठति ॥३७१॥

कर्णिका में भगवान् के पश्चात्भाग में प्रथम मन्दार एवं अभीष्ट फलद स्वर्गीय पञ्चतरु की उपासना कर के पश्चात् वहिर्भागस्थ कोणचतुष्टयस्थ पूर्वादि दिक् में क्रमान्वय से सन्तान, पारिजात, कल्पवृक्ष, हरिचन्दन वृक्ष की पूजा करे । यह पञ्चमावरण है ॥३६८-३६९॥

उसके वहिर्भाग में पूर्वादि अष्टदिग् में कपिशादि वर्णयुक्त दिव्यवेशान्वित इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वायु, वरुण, कुवेर ईशान—ये दिक्पालाष्टक की, नैर्ऋत, एवं वरुण के मध्य में अधोदिक्पाल अनन्त की एवं इन्द्र, रुद्र के मध्य में ऊर्द्ध्वदिक् पाल ब्रह्मा की निज निज वीजवर्ण, आदिपत्य, शस्त्र, वाहन एवं स्वजनवृन्द के सहित पूजा करे । प्रयोग—"ॐ लां इन्द्राय देवाधिपतये सायुधाय सवाहनाय सपरिवाराय कपिशवर्णाय विविधमणिगणकिरण-प्रस्फुरद् भूषणाय नमः" इत्यादि । यह षष्ठावरण है ॥३७०-३७१॥

ततो बहिश्चाष्टदिक्षु मौलिस्थानात्मलक्षणान् । भगवत्पार्षदांस्तत्र वर्णायुधविभूषणान् ॥३७२

वज्रं शक्तिञ्च दण्डञ्च खड़्गपाशांकुशान् क्रमात् ।

यजेद् गदां त्रिशूलञ्च चक्राब्जे त्वधऊर्द्ध्वयोः ॥३७३॥

तन्माहात्म्यञ्च

विष्णुधर्मोत्तरे—

शङ्खं चक्रं गदां पद्मं तोमरं मुषलं हलम् । अन्यद्वापि हरेः शस्त्रं स्मृत्वा पापात् प्रमुच्यते ३७४

इति सप्तमावरणम्

सर्व्वानन्दप्रदं ह्येतत् सप्तावरणपूजनम् । अशक्तोऽङ्गेन्द्रवज्राद्यमावृतित्रयमर्च्चयेत् ॥३७५॥

ईदृक् चैकान्तिभिर्ज्ञेयं तत्तत्कामवतां मतम् । अन्यथा गोकुले कृष्णदेवे तत्तदसम्भवात् ॥३७६॥

मौलिस्थानि आत्मन आत्मनो लक्षणानि आयुधचिह्नाणि येषां वज्रादीनां, तान् यजेदिति—द्वाभ्यामन्वयः तेषां तादृशमूर्त्तिमत्त्वादौ हेतुः—भगवत्पार्षदानिति । तानेव विविच्य लिखति—वज्रमिति । अष्टदिक्षु वज्रादीनष्ट, चक्रं पद्मञ्चेति द्वे, अधऊर्द्ध्वे च क्रमाद्यजेत् । वर्णादिकं चैषां तत्रैवोक्तम्—'अर्च्चा वह्निनिजसुलक्षितमौलियुक्ताः स्वस्वायुधभयसमुद्यतपाणिपद्माः', 'कनकरजत-तोयदाभ्र-चम्पारुण हिमनील-जवाप्रवालभासः क्रमतः' इति, रुचात्तवज्रपूर्व्वा रुचिरविलेपनवस्त्रमाल्यभूषाः' इति ॥३७२-३७३॥

अन्यत् वज्रादिकं स्मृत्वापि, किं पुनः पूजयित्वा इत्यर्थः ॥३७४॥

अशक्तः सप्तावरणपूजने असमर्थश्चेत्, अङ्गेन्द्रवज्रयुक्तमावरणत्रयं पूजयेत् ; एतदपि पूर्व्ववत् सकाम-जपाभिप्रायेणैव ॥३७५॥

ननु श्रीभागवताद्युक्तानुसारेण तथात्रैव पूर्व्वलिखितध्यानानुसारेण च श्रीवृन्दावने गोपगोप्यादि-परिवृतस्य श्रीगोपालदेवस्यावरणपूजायां कथं श्रीरुक्मिण्याद्याः श्रीवसुदेवादयश्च सङ्गच्छेरन्, एकान्तिमतेन परमविरोधापत्तेः ? सत्यं, अयञ्चावरणपूजाविधिः कामपराणां शत्रुजयादिकामसिद्ध्यभिप्रायेणैवेति लिखति ईदृक् चेति । एतल्लिखितप्रकारकमावरणपूजनं तत्तत्कामवतां 'जयदं प्रधनेऽभयदं विपिने' इत्यागमोक्त विविधकामपराणामेव मतं सम्मतमिति एकान्तिभिर्ज्ञेयम् ; अन्यथा तत्तत्कामव्यतिरेकेण श्रीभगवति श्रीकृष्णे तत्रापि गोकुले ते ते रुक्मिण्यादयो न सम्भवन्तीत्यर्थः ॥३७६॥

उसके बहिर्भाग में पूर्वादि दिक् अष्टक में वर्ण, आयुध, भूषण के सहित निज निज लक्षणाक्रान्त भगवान् के प्रधान प्रधान पार्षदवृन्द की उपासना करे । तन्मध्य में अष्टदिक् में क्रमान्वय में वज्र, शक्ति, दण्ड, खड़्ग, पाश, अंकुश, गदा एवं त्रिशूल की एवं अधः तथा ऊर्द्ध्व दिक् में चक्र एवं पद्म की पूजा करे ॥३७२-३७३॥

तन्माहात्म्यञ्च

विष्णुधर्मोत्तर में उक्त है—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, तोमर, मुषल, हल, अथवा श्रीहरि के अपर शस्त्र का स्मरण करणे से पापों से निष्कृति होती है । यह सप्तमावरण है ॥३७४॥

सप्तावरण की पूजा, यावतीय आनन्द प्रदा है, समस्त आवरण पूजा करने में असमर्थ होने पर अङ्ग, इन्द्र, एवं वज्र विशिष्ट आवरणत्रय की पूजा करे ॥३७५॥

इस प्रकार आवरण पूजा, उस उस अरिविजयादि कामनाकारी व्यक्तिगण का सम्मत है । भगवद्भक्त वृन्द उसको जानते हैं । कामना व्यतीत गोकुल में श्रीकृष्णदेवके सहित श्रीरुक्मिणी प्रभृति का मिलन होना सम्भव नहीं है ॥३७६॥

एकान्तिभिस्तु राधाद्या यथाध्यानं प्रभोः प्रियाः।
प्रथमावरणे पूज्याः काले कृष्णान्तिकं गताः ॥३७७॥

ततो गोपकुमाराश्च तद्वयस्यास्ततो बहिः। नन्दो यशोदारोहिण्यौ गोपा गोप्यश्च तत्समाः ३७८
ततश्च वत्सा गावश्च वृषारण्यमृगादयः। ततो ब्रह्मादयो देवाः प्राप्ता नीराजनोत्सवे ॥३७९
रामः कदाचित् कृष्णस्य कदाचिन्मातुरन्तिके। श्रीनारदश्च परितो भ्रमन् हर्षभराकुलः ३८०
एवं यद्ध्यानपूजादावेकान्तिभ्यः प्ररोचते। कृष्णाय रोचतेऽत्यन्तं तदेव च सतां मतम् ॥३८१

तथा च तृतीयस्कन्धे (२४।३१) श्रीकर्द्दमस्तुतौ (६।११)—

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव। यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥३८२

ननु तर्हि एकान्तिभिः कथमावरणपूजा कार्य्या ? तत्र लिखति— एकान्तिभिरिति चतुर्भिः। यथाध्यानं पूर्व्वलिखति ध्यानानुसारेण क्रमदीपिकायां भगवद्ध्यानानन्तरमेव गोपीनां ध्यानोक्तेः, 'गोपीगोपपशूनां बहिः स्मरेत्' इत्यादिना, यच्च तत्र 'गोभिर्मुखाम्बुजविलीनविलोचनाभिः' इत्यादिश्लोकषट्केन गवादिभ्यो गोपेभ्य गोपबालकेभ्यश्च पश्चाद्भगवद्ध्याने गोप्यो निर्दिष्टा इति तच्च बाह्यक्रमेणोह्यम्; अन्यथा पूर्व्वापरविरोधापत्तेरिति दिक्। काल इति सदा लज्जया प्रायो दूरतो वर्त्तमाना अपि पूजोत्सवसमयं प्राप्य कृष्णस्यान्तिकं प्राप्ताः, अतएव प्रथमावरणे पूज्याः, एवं कामपराणां तत्तत्पूजाविधिरप्यनुमत इत्यूह्यम् पूज्या इति सर्व्वत्रानुवर्त्तत एव; विभक्त्यादि-व्यत्ययेन यथासम्भवं सम्बन्धनीयम् ॥३७७॥

तस्य श्रीकृष्णस्य वयस्या गोपकुमाराः, तत्समाः श्रीनन्दयशोदाभ्यां सह समानवयस्का इत्यर्थः। तत्र नन्दसमा गोपाः, यशोदासमा गोप्य इति ॥३७८॥

कदाचित् कृष्णस्यान्तिके पूज्यः, मातुः रोहिण्याः ॥३८०॥

नन्वेवं तन्त्रोक्तादिक्रमेण स्वच्छन्द-पूजाविधिरयं शास्त्रपराणां सतां सम्मतः कथं स्यात् ? तत्र लिखति— एवमिति। ध्यानपूजादौ विषये यदेकान्तिभ्यः प्रकर्षेण रोचते, तदेव भगवतेऽत्यन्तं रोचते; अतः सतां तदेव सम्मतमित्यर्थः ॥३८१॥

तदेव प्रमाणयति—तान्येवेति। श्रीकपिलदेवं प्रति श्रीकर्द्दमस्य वचनमिदम्—हे भगवन् ! तव रूपाणि अवताराः चतुर्भुजत्व-द्विभुजत्वाद्याकारा वा शुक्लकृष्णादिवर्णा वा सौन्दर्य्याणि वा, स्वजनानामेकान्तभक्तानां तेभ्य यानि यानि रोचन्ते, तान्येव ते तव अभिरूपाणि योग्यानीत्यर्थः, परमभक्तवात्सल्यभरात्। यद्वा,

---

भगवद्भक्ति परायण व्यक्तिवृन्द प्रथमावरण में श्रीराधा प्रभृति श्रीप्रभु की प्रियावर्ग की पूर्व कथित ध्यानानुसार पूजा करें। श्रीराधा प्रभृति अपाणिगृहीत प्रेयसी हैं, अतः लज्जावशतः दूरस्थस्थिति उन सब की होने से भी पूजाकाल में सन्निहित रहती हैं ॥३७७॥

तत्पश्चात् प्रभु के वयस्य गोपकुमार की पूजा करनी चाहिये। उसके वहिर्भाग में नन्द एवं तत्सदृश गोपवृन्द की एवं यशोदा, रोहिणी एवं तत्तुल्य गोपीवृन्द की पूजा करे। अनन्तर वत्स, धेनु, वृष एवं वन्य मृगादि की पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् नीराजनोत्सव काल में प्राप्त ब्रह्मा प्रभृति देववृन्द की आराधना करे ॥३७८-३७९॥

श्रीबलराम की आराधना कभी श्रीकृष्ण के समीप में एवं किसी समय माता रोहिणी के समीप में करे। एवं हर्षभर से समन्तात् भ्रमणकारी श्रीनारद की भी पूजा करे ! इस प्रकार ध्यानपूजादि विषय में भगवद्भक्तवृन्दको जो रूचिकर हो, वह ही श्रीकृष्ण का प्रीति जनक एवं साधुवृन्द सम्मत है ॥३८०-३८१

अतएव श्रीमद्भागवतीय तृतीयस्कन्धोक्त श्रीकर्दमस्तुति में वर्णित है—हे भगवन् ! प्राकृत रूप रहित

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति, तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥३८३॥

ततोऽष्टनामभिः कृष्णं पुष्पाञ्जलिभिरर्च्चयेत् । कुर्य्यात्तैरेव वा पूजामशक्तोऽखिलदैः प्रभोः ३८४

श्रीकृष्णो वासुदेवश्च तथा नारायणः स्मृतः । देवकीनन्दनश्चैव यदुश्रेष्ठस्तथैव च ॥३८५॥

सम्मतानीत्यर्थः ; यद्वा, तान्येव रूपाणि ते तुभ्यं रोचन्ते, ततः अभिरूपाणि तान्येव परममनोहराणि । अन्यत् समानम् । अरूपिण इति—आद्ये पक्षे न विद्यते रूपी अवतारी यस्मात्तस्य परमावतारिण इत्यर्थः । द्वितीय-तृतीयपक्षद्वये अकारो विष्णुस्तद्रूपिणः, अतश्चतुर्भुजत्व-श्यामवर्णत्वादिमत इत्यर्थः । चतुर्थे न विद्यते रूपी सौन्दर्य्यवान् अन्यो यस्मात् ; तस्य सहज-परमसौन्दर्य्यवत इत्यर्थः । तथा भूतस्यापि तव, अतः शुक्लादिवर्ण-विशिष्टस्यास्य श्रीकपिलावतारस्य मह्यं रोचनादेवं त्वयावतीर्णमिति श्रीकर्द्दमाभिप्रायः । यद्वा, रूप्यते दृश्यते साक्षात् क्रियते भगवान् यैस्तानि रूपाणि श्रवणादीनि नवधाभक्त्यङ्गानि यानि यादृशानि ; अरूपिणः रूपः निरूपणं तद्वान् रूपी, तद्व्यतिरिक्तस्य अनिर्वचनीयमाहात्म्यस्य इत्यर्थः । परं पूर्व्ववदेव, अतो मम गृहत्यागादिना अग्रे श्रवणादि-भक्त्येकनिष्ठत्वबुभूषा तुभ्यं रोचते एवेति तदभिप्रायो ज्ञेयः । एवमेकान्तिभ्यो यद्रोचते, तदेव भगवते रोचते इति सिद्धम् ॥३८२॥

ततस्तदावरणपूजानन्तरम्, अष्टभिर्नाममन्त्रैः कृष्णं पुष्पाञ्जलिभिः पूजयेत, श्रीकृष्णाय पुष्पाञ्जलिं दद्यादित्यर्थः । तथा च क्रमदीपिकायामावरण-पूजानन्तरम्-'इत्यर्च्चयित्वा जलगन्धपुष्पैः, कृष्णनामाष्टकेनाप्यथ पुष्पपूजाम् । कुर्य्याद्बुधः' इति । अस्यार्थः—इति पूर्व्वोक्तप्रकारेणावरणानि जलादिभिः पूजयित्वा, अथानन्तरं पुष्पपूजां पुष्पैः कृष्णपूजां कुर्य्यादित्यर्थः । कृष्णपूजामिति क्वचित् पाठः तथापि स एवार्थः । जलगन्ध-पुष्पैरित्यस्य पूर्व्वेणैव सम्बन्धात् ; अतो भिन्नोपक्रमायार्थशब्दप्रयोग इति । अत्र च केचिन्मन्यन्ते—प्रत्येकं नामैकः पुष्पाञ्जलिरित्येवमष्टनामभिरष्टपुष्पाञ्जलीन् दद्यादिति; केचिच्च सर्व्वान्ते त्रीन् पुष्पाञ्जलीनिति । तत्र च यथासम्प्रदायं व्यवहारः । अधुना पूर्व्वलिखित-तत्तद्भगवत्पूजाविधावत्यन्तासमर्थं प्रतिपक्षान्तरं लिखति—कुर्य्यादिति, अशक्तश्चेत्तर्हि प्रभोः श्रीकृष्णस्य पूजां कुर्य्यात् । तैः नामाष्टकदेयपुष्पाञ्जलिभिरेव ; यद्वा, तैरष्टनामभिः तत्कीर्त्तनैरेवेत्यर्थः । तान्नमात्रेणैवाशेष-पूजाफलं संसिध्येदेवेति लिखति—अखिलदैरिति तथा च क्रमदीपिकायाम्—'एभिरेवाथवा पूजा कर्त्तव्या कंसवैरिणः । संसारसागरोत्तीर्णैः सर्व्वकामाप्तये बुधैः ॥' इति । केचिच्च मन्यन्ते—अत्यन्तासमर्थो ह्यावरणपूजां विहायावरणपूजापरिवर्त्तेन तैरेव पूजयेत्, आवरणपूजा-प्रसङ्गोक्तत्वादिति । तथा कंसवैरिणः पूजा कर्त्तव्येत्युक्तत्वादेभिरेवेति निर्द्धाराच्च परमाशक्तस्य तैरेव सर्व्वा पूजा सम्पद्येतेत्यवगम्यते इति दिक् ॥३८४॥

तानि नामान्येव लिखति—श्रीकृष्ण इति द्वाभ्याम् । 'नम इति शब्देन युतैः तैर्नामभिः पूजां कुर्य्यात्' इति

अप्राकृत रूप सम्वलित आपके, अवतारों के द्विभुज चतुर्भुज प्रभृति जो आकृति हैं, एवं शुक्ल कृष्णादि जो वर्ण एवं सौन्दर्य्यादि हैं, वे सब अतिमनोहर हैं । साधुव्यक्तिगण, निज निज अन्तर में तुम्हारी जिस जिस मूर्त्ति की चिन्ता करते हैं, तुम, उनपर करुणा करके उन्हीं मूर्त्तियों को धारण करते हो ॥३८२-३८३॥

अथ श्रीमन्नामाष्टकपूजा

तत्पश्चात् नामाष्टक रूप मन्त्रद्वारा श्रीकृष्ण को पुष्पाञ्जलि अर्पण करे । यदि कोई व्यक्ति पूर्वोक्त विधानानुसार श्रीप्रभु की पूजा करने में अक्षम हो तो अष्टनाम से ही पूजा करे, इसी से सब पूजा का फल मिलेगा ॥३८४॥

अष्टनाम इसप्रकार है—श्रीकृष्ण, वासुदेव, नारायण, देवकीनन्दन, यदुश्रेष्ठ, वार्ष्णेय, असुराक्रान्त

वार्ष्णेयश्चासुराक्रान्त-भारहारी तथा परः। धर्म्मसंस्थापकश्चेति चतुर्थ्यन्तैर्नमोयुतैः ॥३८६

इति श्रीगोपालभट्ट विलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे पौष्टिक नाम सप्तमो विलासः।

पूर्व्वेणैवान्वयः। एवं श्रीकृष्णावतारसम्बन्धिनाम्नामग्रे लेख्येन माहात्म्यविशेषेणाशेषा पूजा स्वतः सम्पद्यत एवेति भावः। प्रयोगः—'श्रीकृष्णाय नमः' इत्यादिः ॥३८५-३८६॥

इति सप्तमो विलासः।

भारहारी एवं धर्मसंस्थापक। चतुर्थ्यन्त नमः शब्द युक्त अर्थात् "श्रीकृष्णाय नमः" नाम के द्वारा पूजा करनी चाहिये ॥३८५-३८६॥

इति श्रीगोपाल भट्ट विलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे पौष्टिक नामक सप्तम विलासः।

अष्टम--विलासः

श्रीचैतन्यप्रभुं वन्दे यत्पादाश्रयवीर्यतः। संगृह्णात्याकरव्रातादज्ञो रत्नावलीमयम् ॥१॥

अथ धूपनम्

ततश्च धूपमुत्सृज्य नीचैरतन्मुद्रयार्पयेत्। कृष्णं संकीर्त्तयन् घण्टां वामहस्तेन वादयन् ॥२॥

तथा च बह्वृचपरिशिष्टे—

धूपस्य वीजने चैव धूपेनाङ्गविधूपने। नीराजनेषु सर्व्वेषु विष्णोर्नामानि कीर्त्तयेत् ॥३॥

एवं श्रीभागवतोऽनुग्रहप्रभावेण बहुलग्रन्थेभ्यः परमोत्तमान् श्लोकान् संगृह्य लिखन् भक्त्या तं प्रणमति श्रीचैतन्येति। यस्य पादयोराश्रयः शरणापत्तिस्तस्य तेन वा यद्वीर्य्यं प्रभावः तस्माद्धेतोः तेन वा; आकरः समुद्रादिस्थानीयं शास्त्रं, तस्य व्रातात् समूहात्, रज्ञोऽप्ययं जनः, एवं श्रद्धाप्रयत्नादिविशेषः सूचितः ॥१॥

उत्सृज्य 'एष धूपो नमः' इति मूलमन्त्रेणोत्सर्गं कृत्वा; नीचैरिति भूमितो देवस्य श्रीनाभिपर्य्यन्तं धूपपात्रं समुत्थाप्येति सदाचारतो ज्ञेयम्; तथा 'घण्टाञ्च स्वाहा, अस्त्राय फट्' इति गन्धाक्षतकुसुमैः पूजितामिति बोद्धव्यम् ॥२॥

जिनके श्रीचरणकमलों के आश्रय से इस दीनजन, आकरस्वरूप अतिदुर्द्धर्ष शास्त्र समूह से रत्नावली का संग्रह करने के निमित्त प्रवृत्त हुआ है, मैं उन्हीं श्रीचैतन्यचन्द्र की वन्दना करता हूँ ॥१॥

अथ धूपनम्

अनन्तर धूप उत्सर्ग कर भूतल से नाभि पर्य्यन्त धूपपात्रको उठावे एवं वामहस्त से घण्टा वादन पूर्वक श्रीकृष्णनाम कीर्त्तन करते करते धूप प्रदान मुद्रा प्रदर्शन द्वारा धूप अर्पण करे ॥२॥

बह्वृच परिशिष्ट में तद्विषय वर्णित है—धूपवीजन के निमित्त अर्थात् सौगन्ध्य का सर्वतः विस्तार निमित्त व्यजनादि द्वारा पवन करण के समय धूप के द्वारा अङ्ग सौगन्ध्य सम्पादन के समय, एवं सर्वविध निराजन

जयघोषं प्रकुर्व्वीत कारुण्यं चाभिकीर्त्तयेत् । तथा मङ्गलघोषञ्च जगद्बीजस्य च स्तुतिम् ॥४॥

अन्यत्र च—

ततः समर्पयेद्धूपं घण्टावाद्यजयस्वनैः । धूपस्थानं समभ्यर्च्च्य तर्ज्जन्या वामया हरेः ॥५॥

तत्र मन्त्रः

वनस्पतिरसोत्पन्नो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः । आघ्रेयः सर्व्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥६

वामन पुराणे— अथ धूपाः

रुहिकाख्यं कणो दारु-सिह्लकञ्चागुरुः सिता । शङ्खो जातीफलं श्रीशे धूपानि स्युः प्रियाणि वै ७

मूलागमे—

सगुग्गुल्वगुरुशीरसिताज्य-मधुचन्दनैः । साराङ्गारविनिक्षिप्तैः कल्पयेद्धूपमुत्तमम् ॥८॥

विष्णुधर्मोत्तरे च—

तथैव शुभगन्धा ये धूपास्ते जगतः पते । वासुदेवस्य धर्म्मज्ञैर्निवेद्या दानवेश्वर ॥९॥

अथ धूपेषु निषिद्धम्

तत्रैव— न धूपार्थे जीवजातम् ॥१०॥

धूपस्य सर्व्वतः प्रसारणार्थं व्यजनादिना यद्वीजनं, तस्मिन् ; कारुण्यं पूतनादि-सद्गतिदातृत्वादिकम् ; जगद्बीजस्य भगवतः स्तुतिं ब्रह्मादिकृताम् ॥३-४॥

धूपस्य स्थानं पात्रं हरेः समर्पयेत् ॥५॥

रुहिका जटामांसी, कणो गुग्गुलुविशेषः, सिता सर्करा, शङ्खो नखी, न जीवजातं प्राण्यङ्गसम्भवं, नखी-पुष्पलकमृगमदादिकम्, न दद्यादिति शेषः । यच्च शङ्खादिकं पूर्व्वं धूपेषु विहितम्, तत्र च 'विहित-प्रतिषिद्धैस्तु विहितालाभतोऽर्च्चयेत्' इति पुष्पप्रकरणलिखित-न्यायोऽवतारयितव्यः । एवमग्रेऽप्यनुसन्धेयम् ॥७-१०॥

के समय, श्रीविष्णु नाम समूह का कीर्त्तन करे। एवं जगत् कारण प्रभु का 'जय' शब्द, तथा मङ्गल शब्द उच्चारण, कारुण्य कीर्त्तन, पूतना प्रभृति की सद्गति प्रदातृत्वादि का वर्णन, एवं ब्रह्मादिकृत स्तुति पाठ करे ॥३-४॥

अन्यत्र भी लिखित हैं—वामहस्त की तर्ज्जनी के द्वारा धूपपात्र स्पर्श करतः पूजा कर पश्चात् घण्टा वादन एवं 'जय' शब्द उच्चारण के सहित श्रीहरि को धूप समर्पण करे ॥५॥

तत्र मन्त्रः

वृक्षरस से उत्पन्न, गन्धयुक्त, श्रेष्ठगन्ध समस्त देवतागण के आघ्राण के उपयुक्त यह धूप ग्रहण कीजिये ॥६

अथ धूपाः

वामनपुराण में लिखित है—जटामांसी गुग्गुल दारु हरिद्रा, सिह्लक, अगुरु, शर्करा, शङ्ख (नखी) एवं जातीफल, इन सब वस्तु द्वारा निर्मित धूप श्रीविष्णुको प्रसन्न करनेवाली है ॥७॥

मूलागम में लिखित है—गुग्गुल, अगुरु, उशीर, शर्करा, घृत, मधु, चन्दन, उत्तम काष्ठ के अङ्गारों में निक्षेप कर अर्थात् उत्कृष्ट अङ्गार चूर्ण के सहित मिश्रित कर उत्तम धूप निर्माण करे ॥८॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—हे जगत्पते ! हे दानवेश्वर ! धर्मज्ञ व्यक्तिगण उस प्रकार उत्कृष्ट गन्ध युक्त धूप वासुदेवको निवेदन करे ॥९॥

अथ धूपेषु निषिद्धम्

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—प्राणिजात वस्तु द्वारा धूप रचना न करे ॥१०॥

तत्रैवापवादः

विना मृगमदं धूपे जीवजातं विवर्ज्जयेत् ॥११॥

कालिकापुराणे—

न यक्षधूपं वितरेन्माधवाय कदाचन ॥१२॥

अग्निपुराणे—

न शल्लकीजं न तृणं न शल्करससम्भृतम् । धूपं प्रत्यङ्गनिर्मुक्तं दद्यात् कृष्णाय बुद्धिमान् ॥१३

अथ धूपन माहात्म्यम्

नारसिंहे श्रीमार्कण्डेय शतानीक संवादे—

महिषाख्यं गुग्गुलुञ्च आज्ययुक्तं सशर्करम् । धूपं ददाति राजेन्द्र नरसिंहस्य भक्तिमान् ॥१४

स धूपितः सर्व्वदिक्षु सर्व्वपापविवर्ज्जितः । अप्सरोगणयुक्तेन विमानेन विराजता ।

वायुलोकं समासाद्य विष्णुलोके महीयते ॥१५॥

स्कान्दे—

ये कृष्णागुरुणा कृष्णं धूपयन्ति कलौ नराः । सकर्पूरेण राजेन्द्र कृष्णतुल्या भवन्ति ते ॥१६

साज्येन वै गुग्गुलुना सुधूपेन जनार्द्दनम् । धूपयित्वा नरो याति पदं तस्य सदा शिवम् ॥१७

शल्लकी शालेयीति प्रसिद्धा, तृणम् उशीर-प्रभृति, शल्कः शेहरेति प्रसिद्धं तस्य रसो मज्जा। प्रत्यङ्ग-निर्मुक्तम् अङ्गं अङ्गं प्रतिनिर्मुक्तं, सम्भृतं शयड़ाकाण्डादि, तच्च न दद्यादित्यर्थः, निषिद्धप्रकरणत्वात्। यद्वा, प्रथमं निषिद्धमुक्त्वा पश्चाद्धूप-दानप्रकारमाह—प्रत्यङ्गं, श्रीभगवतः सर्व्वाङ्गेषु निर्मुक्तं प्रसृतं संलग्नं यथा स्यादिति ॥१३॥

कृष्णतुल्या इति तत्सारूप्यप्राप्तेः ॥१६॥

सदा शिवं नित्यमङ्गलम् ॥१७॥

तत्रैवापवादः

धूप विषय में मृगमद व्यतीत अन्य प्राणिजात द्रव्य वर्जन करे ॥११॥

कालिकापुराण में उक्त है—माधव को कदाच यक्षधूप अर्थात् शालवृक्षोत्पन्न निर्य्यास रूप धूप निवेदन न करे ॥१२॥

अग्निपुराण में उक्त है—शल्लकी (शालेयी) समुत्पन्न, उशीरादि तृणजात, शल्करस (शेहर की मज्जा) समुद्भव, एवं इन सब की काण्डादि से प्रत्यङ्ग से उत्पन्न धूप, बुधव्यक्ति श्रीकृष्ण को अर्पण न करें ॥१३॥

अथ धूपन माहात्म्यम्

नृसिंहपुराण के शतानीक मार्कण्डेय संवाद में उक्त है—हे राजेन्द्र ! भक्तिमान् मनुष्य, महिष गुग्गुल, घृत एवं शर्करा युक्त धूप श्रीनृसिंहदेव को अर्पण करते हैं, तो वे चतुर्दिक सुवासित कर एवं पापों से मुक्त हो कर अप्सरागण के सहित विमानारोहण पूर्वक वायुलोक गमन करते हैं, पश्चात् वहाँ से विष्णुलोक में जा कर सम्मान के सहित वास करते हैं ॥१४-१५॥

स्कन्दपुराण में लिखित है—हे राजेन्द्र ! कलिकाल में जो सब व्यक्ति कर्पूर मिश्रित कृष्ण अगुरु धूप श्रीकृष्ण को अर्पण करते हैं, वे सब श्रीकृष्ण तुल्य होते हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण सारूप्य प्राप्त करते हैं ॥१६॥

घृत के सहित गुग्गुलु मिश्रित कर श्रेष्ठ धूप द्वारा जनार्दन को धूपित करने से मनुष्य मङ्गलमय स्थान

अगुरुन्तु सकर्पूरं दिव्यचन्दनसौरभम् । दत्त्वा नित्यं हरेर्भक्त्या कुलानां तारयेच्छतम् ॥१८

विष्णुधर्मोत्तर तृतीयकाण्डे—

धूपानामुत्तमं तद्वत् सर्व्वकामफलप्रदम् । धूपन्तुरुष्ककं दत्त्वा वह्निष्टोमफलं लभेत् ॥१६॥

दत्त्वा तु कृत्रिमं मुख्यं सर्व्वकामानवाप्नुयात् । गन्धयुक्तकृतं दत्त्वा यज्ञगोसवमाप्नुयात् ॥२०

दत्त्वा कर्पूरनिर्यासं वाजिमेधफलं लभेत् । वसन्ते गुग्गुलुं दत्त्वा वह्निष्टोममवाप्नुयात् ॥२१

ग्रीष्मे चन्दनसारेण राजसूयफलं लभेत् । तुरुष्कस्य प्रदानेन प्रावृष्युत्तमतां लभेत् ॥२२

कर्पूरदानाच्छरदि राजसूयमवाप्नुयात् ॥२३॥

हेमन्ते मृगदर्पेण वाजिमेधफलं लभेत् । शिशिरेऽगुरुसारेण सर्व्वमेधफलं लभेत् ॥२४॥

पदमुत्तममाप्नोति धूपदः पुष्टिमश्नुते । धूपलेखा यथैवोर्द्ध्वं नित्यमेव प्रसर्पति ।

तथैवोर्द्ध्वगतो नित्यं धूपदानाद्धवेन्नरः ॥२५॥

प्रह्लादसंहितायाञ्च—

यो ददाति हरेर्धूपं तुलसीकाष्ठवह्निना । शतक्रतुसमं पुण्यं गोऽयुतं लभते फलम् ॥ इति । २६

मृगदर्पेण कस्तूर्य्या, सर्व्वैर्मेधैर्यज्ञैरपि सुदुर्लभम् ॥२४॥

उत्तमं पदं श्रीवैकुण्ठाख्यम्, इह लोके च पुष्टिं परिपूर्णतां लभते ; तद्वा, पोषणं तदनुग्रह इति द्वितीयस्कन्धोक्तलक्षणां पुष्टिं सर्व्वत्रानुभवतीत्यर्थः ॥२५॥

गोऽयुतं गवामयुतदानजञ्चेत्यर्थः ॥२६॥

में गमन करते हैं। कर्पूर के सहित अगुरु एवं सुगन्धि चन्दन निर्मित धूप भक्तिपूर्वक श्रीहरि को नित्य निवेदन करने से शतकुल का उद्धार होता है ॥१७-१८॥

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीयकाण्ड में वर्णित है—उत्तम धूप अर्पित होने से सर्वविध कामना सफल होती हैं, तुरुष्क धूप निवेदन करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ होता है। कृत्रिम उत्कृष्ट धूप प्रदान करने से सब प्रकार कामना सफल होती है। गन्धयुक्त करके निवेदन करने से अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है। वसन्तकाल में गुग्गुलु निवेदन करने पर अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ होता है। ग्रीष्मकाल में चन्दनसार द्वारा धूप प्रदान करने से राजसूय यज्ञ का फल लाभ होता है। वर्षाकाल में तुरुष्क का धूप प्रदान करने से उत्तमता की प्राप्ति होती है। शरत्काल में कर्पूर अर्पण करने से राजसूय यज्ञ का फल लाभ होता है ॥१६-२३॥

हेमन्तकाल में मृगनाभि अर्पण करने से अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है। शिशिरऋतु में अगुरसार निवेदन करने से सब यज्ञों का फल लाभ होता है ॥२४॥

धूप दानकारी परलोक में वैकुण्ठरूप उत्तम पद प्राप्त होता है, एवं इस जगत् में पुष्टिलाभकरता है। धूपशिखा जिस प्रकार प्रतिदिन ऊर्द्ध्वगामी होती है, धूपदाता भी धूपप्रदान वशतः प्रत्यह उस प्रकार ऊर्द्ध्वगामी होता है ॥२५॥

प्रह्लाद संहिता में लिखित है—जो व्यक्ति, तुलसीकाष्ठ वह्नि के द्वारा श्रीहरि को धूप प्रदान करते हैं, उनको शत यज्ञ तुल्य एवं दशसहस्र गोदान तुल्य फल प्राप्त होता है ॥२६॥

धूपयेच्च तथा सम्यक् श्रीमद्भगवदालयम् । धूपशेषं ततो भक्तचा स्वयं सेवेत वैष्णवः ॥२७

तथा च ब्राह्मे अम्बरीषं प्रति गौतमप्रश्ने —

धूपशेषन्तु कृष्णस्य भक्तचा भजसि भूपते । कृत्वा चारात्रिकं विष्णोः स्वमूर्द्ध्ना वन्दसे नृप २८

अथ श्रीभगवदालय धूपन माहात्म्यम्

कृष्णागुरुसमुत्थेन धूपेन श्रीधरालयम् । धूपयेद्वैष्णवो यस्तु स मुक्तो नरकार्णवात् ॥२९॥

धूपशेष सेवन माहात्म्यम्

पाद्मे श्रीगौतमाम्बरीष संवादे—

तीर्थकोटिशतैर्धौतो यथा भवति निर्म्मलः । करोति निर्म्मलं देहं धूपशेषस्तथा हरेः ॥३०॥

न भयं विद्यते तस्य भौमं दिव्यं रसातलम् । कृष्णधूपावशेषेण यस्याङ्गं परिवासितम् ॥३१

नापदो विपदस्तस्य भवन्ति खलु देहिनः । हरेर्दत्तावशेषेण धूपयेद्यस्तनुं सदा ॥३२॥

नासौख्यं न भयं दुःखं नाधिजं नैव रोगजम् । यः सेवयेद्धूपशेषं विष्णोरद्भुतकर्म्मणः ॥३३

तथेति समुच्चये, तेनैव प्रकारेणेति वा सम्यग् धूपयेत् ॥२७॥

दिव्यं दिवि भवं, रसातलं पातालभवमित्यर्थः ॥३१॥

आपद्विपदोः कार्य्यकारणत्वादिना भेदः कल्प्यः ॥३२॥

असौख्यं सुखाभावमात्रं, सेवयेदिति स्वार्थे इण् । यद्वा, अन्यमपि यं सेवयेत्, एवं सेवयित्वेत्यपि ॥३३

वैष्णवजन श्रीभगवन्मन्दिर को सर्वप्रकार से धूपित करें । तत्पश्चात् भक्तिपूर्वक स्वयं धूपशेष ग्रहण करें ॥२७॥

पद्मपुराण में अम्बरीष के प्रति गौतम प्रश्न में उक्त है—हे नरपते ! तुम क्या भक्तिपूर्वक श्रीहरि के धूपशेष भजना करते हो ? हे नृप ! उसकी आरत्रिक करके मस्तक द्वारा क्या उसकी वन्दना करते रहते हो ? २८॥

श्रीभगवदालय धूपन माहात्म्यम्

जो विष्णुभक्त व्यक्ति कृष्णागुरुजात धूप द्वारा श्रीधर के मन्दिर को धूपित करते हैं, वे नरक समुद्र से उत्तीर्ण होते हैं ॥२९॥

धूपशेष सेवन माहात्म्यम्

पद्मपुराण के गौतम अम्बरीष संवाद में उक्त है—शतकोटि स्नान करने से जिस प्रकार पुरुष पवित्र होता है, श्रीहरि का धूपावशेष उस प्रकार देहको पवित्र करता है । जिन व्यक्ति का शरीर श्रीहरि के धूपावशेष द्वारा सुवासित हुआ है, क्या स्वर्ग, क्या पृथिवी, और क्या पाताल, कहीं भी उनको भय विद्यमान नहीं होता ॥३०-३१॥

जो व्यक्ति, श्रीविष्णु को धुप अर्पण पूर्वक उसका अवशेष द्वारा सर्वदा निज देह को धूपित करते हैं, निश्चय कर कहता हूँ, उनपर कभी आपद—विपद विद्यमान नहीं रहती । आपद एवं विपद शब्द एकार्थ वाची होने पर भी 'आपद' शब्द से विघ्न को एवं 'विपद शब्द से आपद के कारण को जानना होगा ॥३२

अद्भुत कर्म्मा श्रीविष्णु के धूपावशेष की सेवा जो व्यक्ति करता है, उनको किसी प्रकार सुखाभाव नहीं होता । उनको कुछ भय भी विद्यमान नहीं रहता, एवं उनको मनः क्लेश जनित अथवा पीड़ा जनित किसी प्रकार का क्लेश नही होता ॥३३॥

क्रूरसत्त्वभयं नैव न च चौरभयं क्वचित् । सेवयित्वा हरेर्धूपं निर्म्माल्यं पादयोर्जलम् ॥३४॥

हरिभक्तिसुधोदये च—

आघ्राणं यद्धरेर्दत्तं धूपोच्छिष्टस्य सर्व्वतः । तद्भवव्यालदष्टानां भवेत् कर्म्मविषापहम् ॥ इति ।३५

दर्शनादपि धूपस्य धूपदानादिजं फलम् । सर्व्वमन्येऽपि विन्दन्ति तच्चाग्रे व्यक्तिमेष्यति ॥३६

अथ दीपनम्

तथैव दीपमुत्सृज्य प्राग्वद्घण्टाञ्च वादयन् । पादाब्जादादृगब्जन्तन्मुद्रयोच्चैः प्रदीपयेत् ॥३७

तत्र मन्त्रः

गौतमीये—

सुप्रकाशो महातेजाः सर्व्वतस्तिमिरापहः । सबाह्याभ्यन्तरज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥३८

अथ दीपः

दीपं प्रज्वालयेत् शक्तौ कर्पूरेण घृतेन वा । गव्येन तत्रासामर्थ्ये तैलेनापि सुगन्धिना ॥३९॥

सर्व्वतः प्रसर्पतः भवः संसार एव व्यालः महासर्पः, तेन दष्टानां जनानां विषं संसारदुःखम् अपहन्ती तथा तत् ३५

अन्ये धूपदातृ व्यतिरिक्ता जना अपि धूपस्य दर्शनादपि, आदिशब्देन धूपशेषाघ्राणाच्च जायत इति तथा तत् सर्व्वफलं लभते । तच्च फलप्राप्त्यादिकमग्रे महानीराजन-प्रकरणे प्रमाणवाक्य निदर्शनादिना व्यक्तं भावीत्यर्थः, तथा च तत्रैव लेख्यम्—'धूपञ्चारात्रिकं पश्येत् कराभ्यां तं प्रवन्दत' इत्यादि । ततश्चारात्रिक-वद्धूपस्यापि वन्दनं केचिन्मन्यन्ते ॥३६॥

तथा धूपनलिखित प्रकारेणैव प्राग्वदिति गन्धादिपूजितां घण्टा वामहस्तेन वादयन्नित्यर्थः । पादाब्जात् श्रीमूर्त्तेः पादाब्जमारभ्य आदृगब्जं नेत्राब्जपर्य्यन्तम् अतएवोच्चैः धूपापेक्षयोच्चतया तस्य दीपस्य मुद्रया प्रकर्षेण दीपयेत् ॥३७॥

शक्तौ सत्यां गव्येन घृतेन वा ; तत्र कर्पूरघृताभ्यां दीपप्रज्वालने विषये असामर्थ्ये अशक्तौ तु सुगन्धिना तिलादिजातेन तैलेनापि दीपं प्रज्वालयेत् ॥३९॥

श्रीहरि के धूप, निर्माल्य, एवं श्रीचरणामृत सेवन करने से कभी हिंस्रजन्तु का भय एवं चौर का भय नहीं रहता ॥३४॥

हरिभक्तिसुधोदय में लिखा है— संसार रूप महासर्प कर्त्तृक दष्ट व्यक्तिगण यदि श्रीहरि को अर्पित सर्वतः विस्तृत धूप का आघ्राण ग्रहण करें तो श्रीहरि, उनके संसार रूप विषको ध्वस कर देते हैं ॥३५॥

धूपदातृ व्यक्तिगण व्यतीत अपर धूप दर्शनकारी व्यक्तिगण भी धूपनादि जनित सर्वविध फल लाभ करते हैं। यह सब विषय का वर्णन पीछे किया जायगा ॥३६॥

अथ दीपनम्

धूप के समान दीप उत्सर्ग करतः पूर्व के समान वामकर से घण्टा वादन पूर्वक गन्धपुष्प द्वारा पूजित तन्मुद्रायोग से श्रीप्रभु के पादपद्म अवधि नेत्रपद्म पर्य्यन्त धूपापेक्षा समधिक परिमाण से श्रीहरि को दीपित करे ॥३७॥

तत्र मन्त्रः

गौतमीय तन्त्र में लिखित है— अतिशय उज्ज्वल महातेजा यावतीय अन्धकार विनाशक एवं बाह्याभ्यन्तर ज्योतिर्युक्त यह दीप ग्रहण कीजिये ॥३८॥

अथ दीपः

निज निज सामर्थ्यके अनुसार कर्पूर किंवा गव्यघृत संयुक्त दीप प्रज्वालित करे। यदि कोई व्यक्ति उस

तथा च नारदीयकल्पे—

सघृतं गुग्गुलुं धूपं दीपं गोघृतदीपितम्। समस्तपरिवाराय हरये श्रद्धयार्पयेत् ॥४०॥

भविष्योत्तरे— घृतेन दीपो दातव्यो राजन् तैलेन वा पुनः ॥४१॥

महाभारते च— हविषा प्रथमः कल्पो द्वितीयश्चौषधोरसैः ॥४२॥

अथ दीपे निषिद्धम्

भविष्योत्तरे— वसामज्जादिभिर्दीपो न तु देयः कदाचन ॥४३॥

महाभारते— वसामज्जास्थिनिर्यासैर्न कार्य्यः पुष्टिमिच्छता । ४४॥

विष्णुधर्म्मोत्तर तृतीयकाण्डे— नीलरक्तदशं दीपं प्रयत्नेन विवर्ज्जयेत् ॥४५॥

कालिकापुराणे—

दीपवृक्षाश्च कर्त्तव्यास्तैजसाद्यैश्च भैरव। वृक्षेषु दीपो दातव्यो न तु भूमौ कदाचन ॥४६॥

अथ दीप माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

प्रज्वाल्य देवदेवस्य कर्पूरेण च दीपकम्। अश्वमेधमवाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ॥४७॥

ओषध्यः तिल सर्षप कुसुम्भादयः, तद्रसैः ॥४२॥

प्रकार करने में असमर्थ हों तो सुगन्धि तैल से प्रदीप निर्म्माण कर प्रज्वालित कर सकते हैं ॥३९॥

नारदीयकल्प में तद्विषय का वर्णन है— घृतयुक्त गुग्गुलु धूप, गव्य घृतयुक्त दीप प्रज्वालित कर श्रद्धा पूर्वक सपरिवार श्रीहरि को अर्पण करे ॥४०॥

भविष्यपुराण के उत्तरभाग में लिखित है—हे राजन्! घृत किंवा तैल द्वारा दीप अर्पण करना चाहिये ॥४१

महाभारत में उक्त है—घृत द्वारा दीप दान उत्तम है। असामर्थ्य से ओषधि के तैल द्वारा (अर्थात् तिल, सर्षप, कुसुम्भ प्रभृति तल द्वारा) दीपार्पण विधेय है। घृत के द्वारा दीपार्पण प्रथम कल्प है, द्वितीय कल्प ओषधि तैल द्वारा दीपार्पण है ॥४२॥

अथ दीपे निषिद्धम्

भविष्यपुराण के उत्तरभाग में वर्णित है—वसा एवं मज्जा (अस्थिसार) प्रभृति के द्वारा कदाच दीप प्रदान न करे ॥४३॥

महाभारत में लिखित है—जो मानव, पुष्टि की कामना करते हैं, उनके पक्ष में वसा मज्जा एवं अस्थि निर्यास प्रभृति दीप अर्पण करना विधेय नहीं है ॥४४॥

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीयकाण्ड में लिखित है—नील, लोहित, वर्ण दीप दशा वस्त्रतन्तु युक्त दीप का वर्जन यत्नपूर्वक करे ॥४५॥

कालिकापुराण में वर्णित है—हे भैरव! तैजसादि धातु निर्मित दीपाधार में दीप निवेदन करना चाहिये पृथिवी में दीपक रखना उचित नहीं है। वृक्षाकार आधार में दीपार्पण करना कर्त्तव्य है ॥४६॥

दीपदान माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद संवाद में उक्त है—देवदेव के समीप में कर्पूर के द्वारा दीप प्रज्वालित करने से अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है, एवं वंश का उद्धार होता है ॥४७॥

अत्रैवान्यत्र च—

यो ददाति महीपाल कृष्णस्याग्रे तु दीपकम् । पातकन्तु समुत्सृज्य ज्योतीरूपं लभेत् पदम् ४८

वराहे—

दीपं ददाति यो देवी मद्भक्त्या तु व्यवस्थितः ।
नात्रान्धत्वं भवेत्तस्य सप्त जन्मानि सुन्दरि ॥४९॥

यस्तु दद्यात् प्रदीपं मे सर्व्वतः श्रद्धयान्वितः । स्वयंप्रभेषु देशेषु तस्योत्पत्तिर्विधीयते ॥५०॥

हरिभक्तिसुधोदये—

दत्तं स्वज्योतिषे ज्योतिर्यद्विस्तारयति प्रभाम् । तद्वर्द्धयति सज्ज्योतिर्दातुः पापतमोऽपहम् ॥५१

नारसिंहे—

घृतेन वाथ तैलेन दीपं प्रज्वालयेन्नरः । विष्णवे विधिवद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥५२॥
विहाय पापं सकलं सहस्रादित्यसप्रभः । ज्योतिष्मता विमानेन विष्णुलोके महीयते ॥५३॥

प्रह्लादसंहितायाञ्च—

तुलसी पावकेनैव दीपं यः कुरुते हरेः । दीपलक्षसहस्राणां पुण्यं भवति दैत्यज ॥ इति । ५४॥

ज्योतिः प्रकाशोः स्वप्रकाशोः ब्रह्म वा तद्रूपं, तदधनमित्यर्थः ; पदं वैकुण्ठलोकम् ॥४८॥

व्यवस्थितः स्थिरचित्तः ; अत्र अस्मिन् लोके, सप्त जन्मानि व्याप्य यदन्धत्वं भाव्यमस्ति, तन्न भवेत् ; यद्वा, अत्र अस्यां मद्भक्तौ अन्धत्वं ज्ञानहीनता न स्यात् । तत्र च सप्तजन्मानीति केपाप्यपराधेन ज्ञानहानिः कारणे जातेऽपि जन्मसप्तकं यावत् ; यद्वा, सप्तेति बाहुल्यमात्रे तात्पर्य्यं, कदापि ज्ञानहानिर्न स्यादित्यर्थः ।

स्वयंप्रभेषु स्वप्रकाशेषु ब्रह्मलोकादिषु श्वेतद्वीपादिषु वा ॥४९॥

सत् उत्तमं, ज्योतिर्ज्ञानम् ॥५१॥ तुलसीपावकेन तुलसीकाष्ठाग्निना ॥५४॥

इस ग्रन्थ के अन्यत्र भी लिखित है - हे भूप ! जो व्यक्ति, श्रीकृष्ण के समीप में दीपदान करते हैं, वे पापों से उद्धार लाभ कर ज्योतिः स्वरूप वैकुण्ठ प्राप्त करते हैं ॥४८॥

वराहपुराण में लिखित है—हे देवि ! हे सुन्दरि ! जो व्यक्ति, भक्तिपूर्वक स्थिर चित्त से मुझको दीप प्रदान करते हैं, इस जन्म से सप्त जन्म पर्य्यन्त वे अन्धे नहीं होते हैं । जो व्यक्ति, सम्यक् प्रकार से श्रद्धान्वित होकर मुझको दीप प्रदान करते हैं, वे स्वप्रकाश ब्रह्मलोकादि किंवा श्वेतद्वीपादि स्थान में जन्म ले सकते हैं ॥४९–५०॥

हरिभक्ति सुधोदय में लिखा है - स्वप्रकाश स्वरूप श्रीभगवान् को अर्पित दीप, जिस प्रकार स्वीय प्रभा विस्तार करता है, उस प्रकार वह दाता का उत्तम ज्ञान वृद्धि करता है, एवं पापरूप तिमिर विनाश करता है ॥५१॥

नृसिंहपुराण में लिखित है—जो मनुष्य, भक्तिपूर्वक घृत अथवा तैल द्वारा प्रज्वालित कर यथाविधि दीपार्पण श्रीविष्णु को करते हैं, उनके पुण्यों का फल श्रवण करो, वे समस्त पापों से मुक्त होकर सहस्र सूर्यसम तेजस्वी होकर एवं ज्योतिर्म्मय रथारोहण पूर्वक विष्णुलोक में जाकर ससम्मान से निवास करते हैं ॥५२-५३॥

प्रह्लाद संहिता में उक्त है—दैत्यकुमारि ! जो व्यक्ति, तुलसीकाष्ठ के अग्नि के द्वारा श्रीहरि को दीप प्रदान करते हैं, वे सहस्रलक्ष दीपदान के फल भागी होते हैं ॥५४॥

पश्चाद्दीपश्च तं भक्त्या मूर्ध्ना वन्देत वैष्णवः। धूपस्येवेक्षणात्तस्य लभन्तेऽन्येऽपि तत् फलम् ५५
केचिन्नानेन दीपेन श्रीमूर्त्तेर्मूर्ध्नि वैष्णवाः। नीराजनमिहेच्छन्ति महानीराजने यथा।।५६।।

तथा च रामार्च्चनचन्द्रिकायां धूपानन्तरं दीपप्रसङ्गे —

आरात्रिकन्तु विषमबहुवर्त्तिसमन्वितम्। अभ्यर्च्चर्य रामचन्द्राय वामहस्तमथार्पयेत् ।।५७।।
नमो दीपेश्वरायेति दद्यात् पुष्पाञ्जलिं ततः।
अवधूप्याभ्यर्च्चर्य वाद्यं मूर्ध्नि नीराजयेत् प्रभुम् ।। इति। ५८।।

अतएवेष्यते तस्य कराभ्यांवन्दनञ्च तैः। नाम चारात्रिकेत्यादि वर्त्तर्योऽपि बहुलाः समाः ।।५९
प्रसङ्गाल्लिख्यतेऽत्रैव श्रीमद्भगवदालये। दीपदानस्य माहात्म्यं कार्त्तिकीयञ्च तद्विना ।।६०

धूपस्येवेति— यथा धूपस्येक्षणात् दर्शनात् धूपदानादिफलमन्येऽपि लभन्ते, तथा तस्य दीपस्यापीक्षणाद्दीपदानादिफलं दीपदातुरितरेऽपि जनाः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।।५५।।

नीराजनं भ्रामणेन निर्म्मञ्छनं, महानीराजनं नृत्यगीतानन्तरं पूजाशेषे भावि, तस्मिन् यथा मूर्द्धनि नीराजनं क्रियते, तथा इह धूपानन्तरदीपार्पणेऽपीच्छन्ति मन्यन्त इत्यर्थः ।।५६।।

विषमाभिः अयुग्माभिर्बहुभिर्वर्त्तिभिः समन्वितम् आरात्रिकं नीराजनदीपम्, अभ्यर्च्चर्य पुष्पादिना पूजयित्वा अर्पणप्रकारमेवाह—नम इति। अवधूप्य भ्रामयित्वा, वाद्यैः प्रभुमेवाभ्यर्च्चर्य ।।५७-५८।।

अतो महानीराजनवद्व्यवहारादेव तस्य धूपानन्तरदेयदीपस्य वन्दनमपि तैः श्रीरामार्च्चनादिपरैरिष्यते। आरात्रिकेति विभक्त्यभावे नामस्वरूपमात्रनिर्द्देशाददोषः। आरात्रिकमिति—आदि शब्देन नीराजनमिति नाम चेष्यते। तथा बहुलाश्च असमाश्चायुग्मा वर्त्तर्योऽपीष्यन्ते, एवं मतभेदो मन्त्रदेवताभेदेन फलभेदा दना वोह्यः ।।५९।।

अत्र धूपानन्तरदीपदानप्रसङ्ग एव, श्रीमतो भागवत आलये यद्दीपदानं तस्य कार्त्तिकीयं कार्त्तिकमाससम्बन्धि यद्दीपदान-माहात्म्यं तद्विना, तस्याग्रे प्रतिमास पूजाप्रसङ्गे लेख्यत्वात् ।।६०।।

वैष्णवगण प्रथमतः दीपार्पण पूर्वक अवनत मस्तक से दीप की वन्दना करे। धूपदर्शक व्यक्ति, जिस प्रकार धूपदान का फल लाभ करते हैं, तद्रूप, दीपदाता व्यतीत अपर दीप दर्शनकारी व्यक्तिगण भी दीपार्पण जनित फल लाभ करते हैं। कतिपय वैष्णव, महानीराजनवत् नृत्यगीत नन्तर पूजा के अवसान में जिस प्रकार नीराजन होता है, उसके समान, भगवान् के मस्तक में दीप भ्रामण द्वारा नीराजन करने की इच्छा करते हैं ।।५५-५६।।

तद्रूप रामार्चनचन्द्रिका में धूपदानानन्तर दीपदान प्रसङ्ग में लिखित है—अयुग्म एवं बहुवर्त्तिका विशिष्ट नीराजन दीप की पुष्पादि द्वारा पूजा करके श्रीरामचन्द्र को अर्पण करे। तत्पश्चात् 'दीपेश्वराय नमः' कह कर पुष्पाञ्जलि अर्पण करे एवं दीप को घुमाकर वाद्य के द्वारा प्रभु की पूजा करके उनके मस्तक में नीराजन करे ।।५७-५८।।

अतएव रामचन्द्र अर्चना परायण वैष्णवगण कर द्वारा उनकी वन्दना, एवं बहुपरिमित अयुक्त वर्त्तिका समूह के द्वारा नीराजन करते हैं ।।५९।।

यहाँपर प्रसङ्ग क्रम से श्रीभगवन्मन्दिर में कार्त्तिकमास में देय दीप व्यतीत दीपदान का माहात्म्य वर्णित होता है ।।६०।।

अथ श्रीभगवदालये दीपप्रदानमाहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे प्रथमकाण्डे—

दीपदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति । केशवायतने कृत्वा दीपवृक्षामनोहरम् ।
अतीव भ्राजते लक्ष्म्या दिवमासाद्य सर्व्वतः ॥६१।

दीपमालां प्रयच्छन्ति ये नराः शार्ङ्गिणो गृहे । भवन्ति ते चन्द्रसमाः स्वर्गमासाद्य मानवाः ६२

दीपागारं नरः कृत्वा कूटागारनिभं शुभम् । केशवालयमासाद्य लोके भाति स शक्रवत् ॥६३॥

यथोज्ज्वलो भवेद्दीपः सम्प्रदातापि यादव । तथा नित्योज्ज्वलो लोके नाकपृष्ठे विराजते ६४

सदीपे च यथा देशे चक्षूंषि फलवन्ति च । तथा दीपस्य दातारो भवन्ति सफलेक्षणाः ॥६५॥

एकादश्याञ्च द्वादश्यां प्रतिपक्षन्तु यो नरः । दीपं ददाति कृष्णाय तस्य पुण्यफलं शृणु ॥६६

सुवर्णमणिमुक्ताढ्यं मनोज्ञमतिसुन्दरम् । दीपमालाकुलं दिव्यं विमानमधिरोहति ॥६७॥

पद्मसूत्रोद्भवां वर्त्ति गन्धतैलेन दीपकान् । विरोगः सुभगश्चैव दत्वा भवति मानवः ॥६८॥

दीपदानं महापुण्यमन्यदेवेष्वपि ध्रुवम् । किं पुनर्वासुदेवस्यानन्तस्य तु महात्मनः ॥६९॥

केशवालयमासाद्य दीपागारं कृत्वेति सम्बन्धः । कूटागारं मञ्जुगृहं तत्सदृशम्, एवं नित्यदीपदान माहात्म्यमुक्तम्, कालविशेषेऽपि फलविशेषमाह—एकादश्यामिति द्वाभ्याम् ।६३-६७।

अधुना सर्व्वेष्वेव दीपेषु वर्त्त्यादि माहात्म्यमाह—पद्मेति । एवं तत्तत्कामिनां सुख प्रवृत्तये तत्तत्फल-मुक्त्वा मुख्यं फलमाह—दीपदानमिति । अनन्तस्येति तद्दीपदानस्यापि फलमनन्तमेवेत्यर्थः, श्रीवैकुण्ठलोक-प्रापणात् ॥६८-६९॥

श्रीभगवदालये दीपप्रदान माहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तर के प्रथमकाण्ड में वर्णित है—दीपदान के समान दान न हुआ, और न आगे को होगा, जो व्यक्ति, श्रीहरि मन्दिर में मनोहर दीप तरु निर्माण करते हैं, वे सुरपुर में जाकर परम शोभा से विभूषित होते हैं ॥६१॥

जो सब मनुष्य, श्रीहरिमन्दिर में दीपमाला प्रदान करते हैं, वे सब देवलोक में जाकर चन्द्रतुल्य होते हैं ॥६२॥

जो व्यक्ति केशवमन्दिर में गमन पूर्वक देवगृह को दीपालोक से मनोहर गृह सदृश करते हैं, वे इस लोक में इन्द्रवत् शोभित होते हैं ॥६३॥

हे यादव ! दीप यद्रूप उज्ज्वल है, दीपदाता भी तद्रूप नित्य उज्ज्वल मूर्त्ति प्राप्त कर सुरलोक में विराज करते हैं । जिस प्रकार दीपालोक को देख कर नयन सफल होते हैं, उस प्रकार दीपदाता के भी नयन सफल होते हैं । जो मनुष्य, प्रतिपक्ष की एकादशी, द्वादशी तिथि में श्रीकृष्ण को दीपार्पण करते हैं, उनके पुण्य का फल श्रवण करो। वे मनुष्य, स्वर्ण, मणि, मुक्ता खचित अतिमनोहर दीप समूह से सुशोभित स्वर्गीय विमान में आरोहण करते हैं ॥६४-६७॥

जो मनुष्य, पद्मसूत्र निर्मित वर्त्तिका को गन्ध तैल द्वारा सिक्त कर दीपार्पण करते हैं, वे रोगरहित एवं सौभाग्यशाली होते हैं । जब अन्यान्य देवगण को दीपार्पण करने से निःसन्देह महापुण्य होता है, तब देवदेव अनन्त वासुदेव को दीपार्पण करने से जो महापुण्य होगा इस में सन्देह क्या है ? ६८-६९॥

तत्रैव तृतीयकाण्डे—

दीपं चक्षुःप्रदं दद्यात् तथैवोर्द्ध्वगतिप्रदम् । ऊर्द्ध्व यथा दीपशिखा दाता चोर्द्ध्व गतिस्तथा॥७०॥
यावदक्षिनिमेषाणि दीपो देवालये ज्वलेत् । तावद्वर्षसहस्राणि नाकपृष्ठे महीयते ॥७१॥

बृहन्नारदीये वीतिहोत्रं प्रति यज्ञध्वजस्य पूर्व्वजन्मवृत्त कथने—

प्रदीपः स्थापितस्तत्र सुरतार्थं द्विजोत्तम । तेनापि मम दुष्कर्म्म निःशेषं क्षयमागतम् ॥७२॥

विष्णुधर्म्मे च—

विलीयते स्वहस्ते तु स्वतन्त्रे सति दीपकः । महाफलो विष्णुगृहे न दत्तो नरकाय सः ॥७३॥

नारदीये मोहिनीं प्रति श्रीरुक्माङ्गदोक्तौ—

तिष्ठन्तु बहुवित्तानि दानार्थं वरवर्णिनि । हृदयायासकर्त्तृणि दीपदानाद्दिवं व्रजेत् ॥७४॥

नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठे उपरि वैकुण्ठलोक इत्यर्थः । द्वितीयस्कन्धे त्रिलोकपक्षकथने स्वर्गस्य ब्रह्मलोक-पर्य्यन्तत्वोक्तेः ॥७१॥

एवं श्रीभगवदालये भगवदुद्देशेन दीपदानफलं लिखितम्, अधुना पापकर्म्मोद्देशेनापि तत्स्थानमात्रे दीप-प्रज्ज्वालनफलं—लिखति प्रदीप इति । तत्र विष्णुमन्दिरे, 'शून्यं पूजादिभिर्विष्णोर्मन्दिरं प्राप्तवान्निशि' इति तत्र तस्य प्रस्तुतत्वात् । अत्रेयमाख्यायिका—यज्ञध्वज नाम राजा पूर्व्वजन्मनि दुर्ज्जन्मा चण्डालो महापापावलीनिरतः, कदाचिन् परदारोपभोगार्थं पूजादिरहितं भगवदालयं गतस्तत्स्थानं संमार्ज्ज्य, दीपं प्रज्ज्वाल्य, पापकर्म्मणा रात्रिं गमयन्, सद्यो रक्षिभिः प्राप्य हतो वैकुण्ठलोकं प्राप्तस्तत्र ब्रह्मादिलोकेषु च विविधसुखभोगानुपभुज्यान्ते स्वेच्छया पृथिव्यां भगवद्भावपरो राजा बभूवेति ॥७२॥

दिवं स्वर्गमिनि कामिन्यास्तस्या मोहिन्यास्तत्रादरविशेषात् । यद्वा, ऊर्द्ध्वलोकमित्यर्थः ।

उक्त ग्रन्थ के तृतीयकाण्ड में वर्णित है—दीप चक्षुःप्रद एवं ऊर्द्ध्वगति प्रद है । जिस परिमाण में दीपशिखा की ऊर्द्ध्वगति होती है दीपदाता भी उस परिमाण में ऊर्द्ध्वगामी होते हैं । देवालय में दीप,नेत्र के जितने निमेष काल पर्य्यन्त प्रदीप्त रहता है, दीपदाता, उतने ही सहस्र वर्ष पर्य्यन्त सम्मान के सहित वैकुण्ठलोक में निवास करते हैं ॥७०-७१॥

बृहन्नारदीय पुराण में वीतिहोत्र के समीप में यज्ञध्वज के पूर्वजन्म कथन प्रसङ्ग में लिखा है—हे द्विजश्रेष्ठ ! मैंने सम्भोग की कामना से श्रीहरिमन्दिर में दीप को जलाकर रखा था, उस से मेरे समस्त पातक विनष्ट हो गये हैं । इस में आख्यायिका इस प्रकार है—यज्ञध्वज नामक राजा, पहले जन्म में महा पापों से लिप्त वर्णसङ्कर चण्डाल था, एकसमय, वह परस्त्री गमन हेतु पूजादि रहित भगवन्मन्दिर में जाकर वह स्थान परिष्कार कर, प्रदीप जलाकर, पापकार्य्य में समस्त रात्रि अतिवाहित किया, उस समय सहसा मन्दिर रक्षक आकर उसको मार डाला, उसी समय वह वैकुण्ठ चला गया । वहाँपर एवं ब्रह्मलोक समूह में विविध भोग प्राप्त करने के पश्चात् पुनः वह निजेच्छा से पृथिवी में जन्म लेकर श्रीभगवद् भाव परायण राजा बना ॥७२॥

विष्णुधर्म में लिखित है—विष्णुगृह में अर्पित दीप, दीपदाता के हस्त में विद्यमान के समय ही यदि निर्वापित होता है, तथापि महाफल होता है । वह दीप कदापि निरय गतिप्रद नहीं होता ॥७३॥

नारदपुराण में मोहिनी के प्रति श्रीरुक्माङ्गदेव का वाक्य यह है—वर वर्णिनि ! दान के निमित्त बहु परिमित वित्तक्षय हृदय क्लेश है, सुतरां उस प्रकार कार्य्य करने की आवश्यकता नहीं है । दीपदान करने

तस्याप्यभावे सुभगे परदीप प्रबोधनम् । कर्त्तव्यं भक्तिभावेन सर्व्वदानाधिकञ्च यत् ॥ इति ।७५
सदा कालविशेषेऽपि भक्त्या भगवदालये । महादीपप्रदानस्य महिमाप्यत्र लिख्यते ॥७६॥

अथ महादीप माहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे प्रथमकाण्डे—

महावर्त्तिः सदा देया भूमिपाल महाफला । कृष्णपक्षे विशेषेण तत्रापि च विशेषतः ॥७७॥
अमावस्या च निर्द्दिष्टा द्वादशी च महाफला । आश्वयुज्यामतीतायां कृष्णपक्षश्च यो भवेत् ॥७८
अमावस्या तदा पुण्या द्वादशी च विशेषतः । देवस्य दक्षिणे पार्श्वे देया तैलतुला नृप ॥७९॥
पलाष्टकयुतां राजन् वर्त्ति तत्र तु दापयेत् । वाससा तु समग्रेण सोपवासो जितेन्द्रियः ॥८०॥
महावर्त्तिद्वयमिदं सकृद्दत्वा महामते । स्वर्लोकं सुचिरं भुक्त्वा जायते भूतले यदा ॥८१॥
तदा भवति लक्ष्मीवान् जयद्रविणसंयुतः । राष्ट्रे च जायते स्वस्मिन् देशे च नगरे तथा ८२
कुले च राजशार्द्दूल तत्र स्यात् दीपवत्-प्रभः । प्रत्युज्ज्वलश्च भवति युद्धेषु कलहेषु च ॥८३
ख्याति याति तथा लोके सद्गुणानाञ्च सद्गुणैः । एकमप्यथ यो दद्यादभीष्टतमयोर्द्वयोः ॥८४

वैकुण्ठमित्यनुक्तिस्तु तस्यां तत्प्रकाशनायोगादिति दिक्; यद् यस्मात् परदीपस्य प्रबोधनमपि सर्व्वदानेभ्योऽधिकम् ॥७४-७५॥

सदा सर्व्वस्मिन्नपि दिने, कालविशेषे अमावस्यादावपि, आश्वयुज्याम् आश्विनपौर्णमास्यां, पलाष्टकेन युता तैलस्य तुला पलशतम् अष्टोत्तरशतपलतैलानीत्यर्थः । दापयेत् दद्यात्, अग्रे दत्त्वेत्युक्तेः । एवमग्रेऽपि समग्रेण अखण्डेन ॥७६-८०॥

यो दापयेत्, स जायत इत्युत्तरेणान्वयः । दीपवत् प्रभा तमोनाशिनीद्युतिर्यस्य सः, सद्गुणानां जनानां

में ही सुरलोक गमन होता है। हे सुभगे! यदि दीप का अभाव हो तो, भक्ति पूर्वक अपर का दीप प्रज्वालित करना चाहिये। कारण, वह भी सर्वविध दानापेक्षा अधिक फलप्रद है ॥७४-७५॥

श्रीभगवन्मन्दिर में सर्वदा एवं कालभेद से अर्थात् अमावस्या प्रभृति तिथि में महादीप प्रदान की महिमा का वर्णन हो रहा है ॥७६॥

महादीप माहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तर के प्रथमकाण्ड में लिखित है—हे राजन्! महाफल प्रद महावर्त्ति सतत श्रीहरि को अर्पण करें। विशेषतः कृष्णपक्ष में, द्वादशी एवं अमावस्या में श्रीहरि को दीपार्पण करने से अधिक फल होता है। हे नृप! आश्विनमास की पूर्णिमा के पश्चात् कृष्णपक्षीया पुण्यातिथि द्वादशी एवं अमावस्या में श्रीप्रभु के दक्षिण भाग में एकशत अष्टपल तैल प्रदान करें, एवं जितेन्द्रिय होकर उपवास रहकर अखण्ड वसन द्वारा वर्त्तिका निर्माण कर उस तैल से अर्पण करें ॥७७-८०॥

हे महामते! जो व्यक्ति, एकवार मात्र इस प्रकार दीप वर्त्तिका अर्पण श्रीहरि को करते हैं, वे दीर्घ काल सुरपुर में सुख भोग करते हैं, एवं जब पृथिवी में देह धारण करते हैं, तब लक्ष्मीवान्, धनवान्, जयशाली होते हैं। हे राजश्रेष्ठ! वे राज्य में, देश में, नगर में, एवं कुल में दीपवत् जाज्वल्यमान होते हैं, युद्ध में, कलह में, अत्युज्ज्वल श्री धारण करते हैं एवं इस जगत् में सद्गुणशाली व्यक्तिगण के समान सद्गुण द्वारा ख्याति प्राप्त करते हैं। अभीष्टतम यह द्विविध वर्त्तिका मध्य में जो व्यक्ति, एक भी वर्त्तिका

मानुष्ये सर्व्वमाप्नोति यदुक्तं ते महाऽनघ। स्वर्गं तथात्वमाप्नोति भोगकाले तु यादव ॥८५
समान्यस्य तु दीपस्य राजन् दानं महफलम्। किं पुनर्महतो दीपस्यात्रेयत्ता न विद्यते। ८६

अथ शोणमलिनादि वस्त्रवर्त्या दीपदाननिषेधः

शोणं वादरकं वस्त्रं जीर्णं मलिनमेव च। उपभुक्तं न वा दद्यात् वर्त्तिकार्थं कदाचन इति।८७
स्वयमन्येन वा दत्तं दीपं न श्रीहरेर्हरेत्। निर्व्वापयेन्न हिंसाच्च शुभमिच्छन् कदाचन ।८८॥

अथ दीपनिर्व्वापणादि दोषः

विष्णुधर्म्मोत्तरे प्रथमकाण्डे—

दत्त्वा दीपो न हर्त्तव्यस्तेन कर्म्म विजानता। निर्व्वापणञ्च दीपस्य हिंसनञ्च विगर्हितम् ८९
यः कुर्य्याद्धिसनं तेन कर्म्मणा पुष्पितेक्षणः। दीपहर्त्ता भवेदन्धः काणो निर्व्वाणकृद्भवेत् ॥९०

विष्णुधर्म्मे च नारकान् प्रति श्रीधर्म्मराजोक्तौ—

युष्माभिर्यौवनोन्मादमुदितैरविवेकिभिः। द्यूतोद्द्योताय गोविन्दगेहाद्दीपः पुरा हृतः ।९१॥

मध्ये तथात्वं लक्ष्मीवत्त्वादिकम्, इयत्ता फले परिमितिः ॥८१-८६॥
शुभमिच्छन् जनः कदापि न हरेत्, नान्यत्र नयेत्, न निर्व्वापयेत्, न हिंसाच्च, तैलादिना न वियोजयेत् ॥८८
तेन हरणे यत् कर्म्म महापातकलक्षणं तद्विजानता जनेन; पुष्पं चक्षूरोगविशेषस्तद्युक्तमीक्षणं नेत्रं यस्य स भवेत्। तत् पुष्पितेक्षणत्वादिकञ्च दीपहिंसनकर्त्तुर्नरकभोगानन्तरं देहान्तरे ज्ञेयम्, अग्रे लेख्यवचनानुसारात् ॥८९-९०॥
द्यूतस्य उद्द्योताय प्रकाशनाय। ९१॥

श्रीहरि को अर्पण करते हैं, हे महानघ! हे यादव! त्वत् समीप में जो कुछ मैंने कहा तत्समुदाय को मनुष्यलोक में वे प्राप्त करते हैं। एवं भोग के समय में स्वर्ग एवं लक्ष्मीवत्त्व प्रभृति प्राप्त होते हैं। हे राजन् सामान्य दीपार्पण से जब महाफल होता है, तब महादीपार्पण में कितने फल होंगे, उसका परिमाण निर्णय करना सुदुरूह है ॥८१-८६॥

अथ शोणमलिनादिवस्त्रवर्त्या दीपदाननिषेधः

रक्तवर्ण, जीर्ण, मलिन एवं व्यवहृत कार्पास वस्त्र द्वारा निर्मित वर्त्तिका के द्वारा दीपदान करना कभी भी उचित नहीं है ।८७।

निजहितेच्छु व्यक्ति, कदाच स्वयं अथवा अन्य कर्त्तृक श्रीहरि समीप में प्रदत्त दीपक को अन्यत्र न ले जाय. निर्वापित न करे एवं तैलादि शून्य भी न करे ।८८।

अथ दीपनिर्व्वापणादि दोषः

विष्णुधर्मोत्तर प्रथम काण्ड में लिखित है—दीपार्पण कर उसको हरण करने से महापाप होता है। दीप निर्वापण एवं हिंसन भी दोषणीय है। प्रदीप तैलादि रहित होने से नेत्र में पुष्प रोग (चक्षुरोग) होता है। जो व्यक्ति, प्रदीप हरण करता है, वह अन्ध होता है। एवं जो व्यक्ति प्रदीप निर्वापण करता है, वह काणा (एक नेत्र रहित) होता है ।८९-९०।

विष्णुधर्म में नरकस्थित पुरुषों के प्रति श्रीधर्मराज के वचन में प्रकाशित है—तुम सब ने पूर्वकाल में यौवन गर्व से उन्मत्त एवं विवेक रहित होकर द्यूतक्रीड़ा के आलोक हेतु श्रीगोविन्द मन्दिर से दीप हरण

तेनाद्य नरके घोरे क्षुत्तृष्णापरिपीड़िताः । भवन्ति पतितास्तीव्रे शीतवात विदारिताः ॥६२॥

तत्रैव श्रीपुलस्त्योक्तौ च—

तस्मादायतने विष्णोर्दद्याद्दीपान् द्विजोत्तम । तांश्च दत्त्वा न हिंसेत न च तैलवियोजितान् ॥६३॥

कुर्व्वीत दीपहन्ता च मूकोऽन्धो जायते मृतः । अन्धे तमसि दुष्पारे नरके पच्यते किल ॥६४॥

भूमौ दीपदान-निषेधः

कालिकापुराणे—

दीपवृक्षाश्च कर्त्तव्यास्तैजसाद्यैश्च भैरव । वृक्षेषु दीपो दातव्यो न तु भूमौ कदाचन ॥६५॥

अथ नैवेद्यम्

दत्त्वा पुष्पाञ्जलिं पीठं पाद्यमाचमनं तथा । कृत्वा पात्रेषु कृष्णायार्पयेद्भोज्यं यथाविधि ॥६६॥

अथ नैवेद्यार्पण विधिः

अस्त्रं जप्त्वाम्बुना प्रोक्ष्य निवेद्यञ्चक्रमुद्रया । संरक्ष्य प्रोक्षयेद्वायुवीज-जप्तजलेन च ॥६७॥

तेन संशोष्य तद्दोषमग्निवीजञ्च दक्षिणे । ध्यात्वा करतलेऽन्यत्तत्पृष्ठे संयोज्य दर्शयेत् ॥६८॥

तदुत्थवह्निना तस्य शुष्कदोषं हृदा दहेत् । ततः करतले सव्येऽमृतवीजं विचिन्तयेत् ॥६९॥

न हिंसेत, न निर्व्वापयेत् । मृतः सन् मूकोऽन्धश्च जायते, इहलोके अन्धे तमसि अन्धतामिस्रसंज्ञके ॥६३-६४॥

भोज्यं पायसादि-नैवेद्यं पात्रेषु कृत्वा निधायार्पयेत् । यथाविधीत्यनेन छत्रचामरगीतवाद्याद्युत्सवपूर्व्वकं तदा नेतव्यमित्यादिकं ज्ञेयम् । अमृतोपस्तरणमसि स्वाहेति जलगण्डूषश्च देयमित्यादिकं लौकिक-व्यवहारानुसारेण ज्ञेयम् । अन्यच्चाग्रे विशेषतो व्यक्तं भावि ॥६६॥

निवेद्यं तदेव अस्त्रमन्त्रेण जप्ताभिः अद्भिः जलेन प्रोक्ष्य तत् निवेद्यं चक्रमुद्रया तद्भ्रामणेन संरक्ष्य, वायु-वीजं यमिति तेन जप्तं द्वादशवारानभिमन्त्रितं तज्जलं तेन च प्रोक्षयेत् । तेन प्रोक्षणेन तस्य निवेद्यस्य दोषं

किया था, इसी कारण, क्षुधा एवं तृष्णा से प्रपीड़ित एवं अतिशय शीतल वायु द्वारा क्लिष्ट होकर दुस्तर भीषण नरक में निपतित हुए हो ॥६१-६२॥

विष्णुधर्म के पुलस्त्य उक्ति में प्रकाश है—हे द्विजश्रेष्ठ ! श्रीविष्णु-मन्दिर में दीपार्पण करें, एवं दीपदान कर उसको निर्वापित न करें, तैल रहित भी न करें । जो व्यक्ति दीपक को बुझा देता है, वह इस जगत् में वाक्शक्तिहीन (गूंगा) एवं अन्ध होता है और देहान्त में अन्धतामिस्र नामक दुष्पार नरक में वास करता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥६३-६४॥

भूमौ दीपदान-निषेधः

कालिकापुराण में लिखित है—हे भैरव ! तैजसादि द्वारा दीपतरु (झाड़ आदि) निर्माण कर उसमें दीपार्पण करे, कदापि भूतल में दीप स्थापन न करे ॥६५॥

अथ नैवेद्यम्

पुष्पाञ्जलि, आसन, पाद्य एवं आचमन अर्पण कर पात्र में भोज्य अर्थात् पायसादि नैवेद्य रखकर विधि-पूर्वक अर्थात् छत्र, चामर, गीतवाद्यादि के सहित श्रीकृष्ण को समर्पण करे एवं 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' मन्त्र से जल गण्डूष भी प्रदान करे ॥६६॥

अथ नैवेद्यार्पण विधिः

"अस्त्राय फट्" मन्त्र द्वारा जप्त जल द्वारा नैवेद्य प्रोक्षण पूर्वक चक्रमुद्रा भ्रमण द्वारा रक्षण करे । पश्चात् "यं" वायु वीज द्वारा द्वादश बार जल में जप कर वह जल नैवेद्य में सेचन करे। तद्द्वारा नैवेद्य

तत्पृष्ठे दक्षिणं पाणितलं संयोज्य दर्शयेत् । तदुत्थया निवेद्यं तत् सिञ्चेदमृतधारया ॥१००॥
जलेन मूलजप्तेन प्रोक्ष्य तच्चामृतात्मकम् । सर्व्वं विचिन्त्य संस्पृश्य मूलं वाराष्टकं जपेत् ॥१०१
अमृतीकृत्य तद्धेनुमुद्रया सलिलादिभिः । तच्च कृष्णञ्च संपूज्य गृहीत्वा कुसुमाञ्जलिम् ॥१०२
श्रीकृष्णं प्रार्थ्य तद्वक्त्रात्तेजो ध्यात्वा विनिर्गतम् ।
संयोज्य च निवेद्यैतत् पात्रं वामेन संस्पृशन् ॥१०३॥
दक्षेण पाणिनादाय गन्धपुष्पान्वितं जलम् । स्वाहान्तं मूलमुच्चार्य्य तज्जलं विसृजेद्भुवि ॥१०४

संशोष्य सम्यक् शुष्कं कृत्वा दक्षिणे करतले अग्निवीजं रमिति ध्यात्वा सञ्चिन्त्य, अन्यत् वामकरतलं तस्य दक्षिणकरतलस्य पृष्ठे संयोज्य लग्नं कृत्वा दर्शयेत् । तस्मात् प्रदर्शनादुत्थेन जातेन वह्निना तस्य निवेद्यस्य शुष्कं पूर्व्वमेव शुष्कतां प्राप्तं दोषं दहेत् । ततः करतले सव्यहस्ते हृदेति मनसा ध्यानेनैव कार्य्यमित्यर्थः। एवमग्रेऽप्यूह्यम् । अमृतवीजं ठमिति ॥९७-९९॥

तस्य सर्व्वकरतलस्य पृष्ठे, तस्माद्दर्शनादुत्थया अमृतधारया, ततस्तालत्रय-दिग्बन्धनाभ्यां संरक्ष्य कवचेनावगुण्ठयेदिति विधिः सत्सम्प्रदायाद्विज्ञेयः, यथाविधीति प्राग्लिखनात् । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्॥१००॥

तन्निवेद्यञ्च मूलमन्त्रजप्तेन जलेन प्रोक्ष्य सर्व्वं तच्च अमृतात्मकं सुधामयं विचिन्त्य संस्पृश्य तदेव दक्षिण-हस्तेनाभिस्पृश्य ॥१०१॥

तत् निवेद्यं धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य परिपूर्णं विचिन्त्य, तत निवेद्यञ्च सलिलादिभिः जलगन्धपुष्पैः संपूज्य, कृष्णञ्च 'कृष्णाय नमः' इति तैरेव संपूज्य, कुसुमाञ्जलिं गृहीत्वेत्यस्य परेणान्वयः। श्रीकृष्णं प्रार्थ्य भगवन्नैवेद्य-ग्रहणाय श्रीमुखतस्ते महः प्रसरत्वित्यभ्यर्च्य, तस्य श्रीकृष्णस्य वक्त्रात् तेजो महः विनिर्गतं ध्यात्वा निवेद्य तदेव संयोज्य तेन सह संयुक्तं ध्यात्वेत्यर्थः । तस्य निवेद्यस्य पात्रं वामेन पाणिना संस्पृशन्, दक्षिणेन पाणिना गन्धादिसहितं जलमादाय स्वाहान्तमिति स्वाहान्तेऽपि मन्त्रेऽस्मिन् पुनरन्ते स्वाहेति प्रयुज्येत्यर्थः। तत्-दक्षिणपाणिग्रहीतं गन्धाद्यन्वितं जलं श्रीकृष्णाय इदं नैवेद्यं कल्पयामीति देवतीर्थेन भूमौ विसृजेदिति त्रिभिरन्वयः ॥१०२-१०४॥

सम्यक् शुष्क कर दक्षिण हस्त में "रं" वह्नि वीज की चिन्ता करे एवं दक्षिण करतल के पृष्ठभाग में वाम करतल संलग्न कर प्रदर्शन करे । तदुत्पन्न अग्नि के द्वारा निवेद्य द्रव्य का शुष्कत्वदोष मन मन में दहन करना चाहिये । पुनर्वार बाँये हाथ की हथेली में अमृतवीज "ठं" की चिन्ता करे ॥९७-९९॥

अनन्तर दक्षिण हस्त के तलदेश में वाम हस्त का पृष्ठभाग संलग्न कर प्रदर्शन करे, एवं उक्त मुद्रा से उत्पन्न अमृत धारा द्वारा निवेद्य द्रव्य को सेचन करे । अनन्तर मूलमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल से उक्त नैवेद्य को प्रोक्षण कर मन-मन में अमृतमय चिन्ता करे । पश्चात् दक्षिण हस्त द्वारा छूकर आठ बार मूल-मन्त्र का जप करे ॥१००-१०१॥

पश्चात् धेनु मुद्रा द्वारा उक्त नैवेद्य को परिपूर्ण जानकर जल सहित गन्ध पुष्प द्वारा उसकी ओर "श्रीकृष्णाय नमः" मन्त्र पाठ कर श्रीहरि की पूजा करे । अनन्तर पुष्पाञ्जलि ग्रहण पूर्वक श्रीहरि को यह कहकर प्रार्थना करे कि-"हे भगवन् ! नैवेद्य ग्रहण हेतु तुम्हारे श्रीमुखकमल से तेजः निर्गत हो" इस प्रकार प्रार्थना कर, मानो प्रभु के बदन कमल से तेजः निकल कर नैवेद्य में मिलित होता है, इस प्रकार चिन्ता करके निवेदन करे । पुनर्वार बाँये हाथ से नैवेद्य पात्र को स्पर्श कर दहिने हाथ से गन्ध पुष्प सहित जल ग्रहण करे एवं स्वाहान्त मूलमन्त्र का पाठ कर "श्रीकृष्णाय इदं नैवेद्यं कल्पयामि" कहकर गन्ध पुष्पादि सहित दक्षिण हस्त स्थित जल भूमि में विसर्जन करे ॥१०२-१०४॥

तत् पाणिभ्यां समुत्थाप्य निवेद्यं तुलसीयुतम् ।
पत्राढ्यं तस्य मन्त्रेण भक्त्या भगवतेऽर्पयेत् ॥१०५॥

निवेदनमन्त्रश्चायम्—

निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे ॥१०६॥ इति ।

अमृतोपस्तरणमसि स्वाहेत्युच्चारयन् हरेः । दत्वाथ विधिवद्वारिगण्डूषं वामपाणिना ।
दर्शयेद्ग्रासमुद्रां तु प्रफुल्लोत्पल-सन्निभाम् ॥१०७॥
प्राणादि-मुद्राहस्तेन दक्षिणेन तु दर्शयेत् । मन्त्रैश्चतुर्थीस्वाहान्तैस्ताराद्यैस्तत्तदाह्वयैः ॥१०८॥

'तुलसीदल-संमिश्रं हरेर्यच्छेच्च सर्व्वदा' इत्यादिवचनतस्तुलसी-साहित्यस्यावश्यकत्वेन तन्निवेद्यं पात्रसहितं तुलसीयुतञ्च पाणिभ्यां हस्तद्वयेन धृत्वा समुत्थाप्य, भूमितः समुद्धृत्य वारत्रयं समुत्थापयन्निति केचित् । तस्य निवेद्यार्पणस्य मन्त्रेण; तत्तेजसे इति पाठे तस्मै श्रीभगवन्मुखनिर्गताय महसे, तथापि स एवार्थः ॥१०५-१०६॥

अथानन्तरं विधिवद्यथा स्यात्, एतच्चाग्रेऽपि सर्व्वत्रानुवर्त्त्यम् । ततश्च 'अमृतोपस्तरणमसि' इति देवहस्ते जलगण्डूषं दत्वेति ज्ञेयम् ॥१०७॥

दक्षिणहस्तेन तु प्राणादिमुद्राः पञ्च, मन्त्रैः पञ्चभिः क्रमेण दर्शयेत् । आदि-शब्देन अपान-व्यानोदान-समानाः । मन्त्रानेव लिखति—तस्य तस्य प्राणादेराह्वयैर्नामभिः; कथम्भूतैः ? चतुर्थी विभक्तिः, स्वाहा च ते अन्ते येषां तैः, तारः प्रणवः आद्यो येषां तैश्च । प्राणादिमुद्राश्चोक्ताः क्रमदीपिकायाम्—'स्पृशेत् कनिष्ठोपकनिष्ठिके द्वे, स्वाङ्गुष्ठमूर्द्धर्ना प्रथमेह मुद्रा । तथापरा तर्ज्जनिमध्यमे स्या,-दनामिकामध्यमिके च मध्या ॥ अनामिका-तर्ज्जनि-मध्यमाः स्या,-त्तद्वच्चतुर्थी-सकनिष्ठिकास्ताः । स्यात् पञ्चमी तद्वदिति प्रतिष्ठा, प्राणादिमुद्रा' इति । एतदर्थः—कनिष्ठानामिके अङ्गुल्यौ स्वाङ्गुष्ठमूर्ध्ना चेत् स्पृशेत्, तदा आद्या मुद्रा स्यात् । तर्ज्जनी-मध्यमे चेदङ्गुष्ठमूर्ध्ना स्पृशेत्, तदा द्वितीया, एवं अनामिका-मध्यमे चेत् स्पृशेत्, तदा तृतीया; अनामिका-तर्ज्जनीमध्यमाश्चेत् स्पृशेत्, तदा चतुर्थी; ता अनामिकातर्ज्जनीमध्यमाः कनिष्ठासहिताश्चेत्, तदा पञ्चमीति । प्रयोगः—ॐ प्राणाय स्वाहा; इत्यङ्गुष्ठकनिष्ठिकानामिकाभिरित्येवमूह्यम् ॥१०८॥

अनन्तर तुलसीदल युक्त नैवेद्य पात्र को दोनों हाथों से धारण पूर्वक पृथ्वी से उठाय भक्तिसहित नैवेद्य-प्रदान के मन्त्र से प्रभु को निवेदन करदे । निवेदन मन्त्र—"हे भगवन् ! यह हविः आपको निवेदन करता हूँ, आप ग्रहण कीजिये ।" "निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे !" पश्चात् 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' मन्त्रोच्चारण पूर्वक वाम कर द्वारा श्रीहरि को जल गण्डूष अर्पण कर प्रफुल्ल कमल सदृश ग्रास मुद्रा का प्रदर्शन करे ॥१०५-१०७॥

विशेषतः, प्रथम प्रणव विशिष्ट एवं अन्त में चतुर्थी विभक्ति, एवं स्वाहायुक्त प्राणादि मन्त्र द्वारा दक्षिण हस्त से प्राणादि पञ्च मुद्रा प्रदर्शन करे । अर्थात् प्राणादि शब्द से प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान को जानना होगा । प्राणादि मुद्रा का वर्णन श्रीकेशवाचार्य्य कृत क्रमदीपिका ग्रन्थ में है । प्राणादि मन्त्र का प्रयोग यह है—ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा", प्राणादि मुद्रा इस प्रकार है—कनिष्ठा एवं अनामिका के अग्रदेश में अङ्गुष्ठ का अग्रभाग संलग्न करने से प्राण मुद्रा होती है । तर्जनी, मध्यमा एवं अङ्गुष्ठ के अग्रदेश उस रीति स्पृष्ट होने से अपान मुद्रा होती है, अनामिका एवं मध्यमा के अग्रदेश में अङ्गुष्ठ का अग्रभाग लगाने से व्यानमुद्रा होती है । अनामिका, तर्जनी, मध्यमा के अग्रभाग में अङ्गुष्ठ का अग्रभाग लगाने से 'उदानमुद्रा' होती है और चारों अङ्गुलियों के अग्रभाग में अङ्गुष्ठ का अग्रभाग स्थापन करने से 'समानमुद्रा' होती है ॥१०८॥

ततः स्पृशंश्च करयोरङ्गुष्ठाभ्यामनामिके । प्रदर्शयेन्निवेद्यस्य मुद्रां तस्य मनुं जपन् ॥१०९॥

मन्त्रश्चायं क्रमदीपिकायाम्—

नन्दजोऽम्बुमनुविन्दुयुग् नतिः पार्श्व-रा-मरुदवात्मने नि च ।
रुद्ध ङे-युत निवेद्यमात्मभूमास-पार्श्वमनिलस्तथामियुग्गति ॥

निवेद्यस्य मनुत्वेन स्वाभीष्टं मनुमेव ते । एकान्तिनो जपन्तस्तु ग्रासमुद्रां वितन्वते ॥१११॥
न च ध्यायन्ति ते कृष्णवक्त्रात्तेजोविनिर्गमम् । मञ्जुलव्यवहारेण भोजयन्ति हरिं मुदा ॥११२

अन्यत्र च—

शालीभक्तं सुभक्तं शिशिरकरसितं पायसं पूपसूपं
लेह्यं पेयं सुचूष्यं सितममृतफलं घारिकाद्यं सुखाद्यम् ।
आज्यं प्राज्यं समिज्यं नयनरुचिकरं वाजिकेलामरीच-
स्वादीयः शाकराजीपरिकरममृताहारजोषं जुषस्व ॥११३॥

'पश्चाङ्गुल्यग्रसंलग्ना प्रोत्थितोद्‌र्ध्वमुखी यदि' इत्यादिना पूर्व्वमुपचारगणमुद्रा-मध्ये लिखिता निवेद्य-मुद्रा। यद्वा, करद्वयस्याङ्गुष्ठद्वयेनानामिकाद्वयस्पर्शमेव निवेद्य-मुद्रा, तां प्रदर्शयेत्। किं कुर्व्वन्? तस्य निवेद्यस्य मनुं मन्त्रं जपन् ॥१०९॥

नन्दजः ठकारः, अम्बुमनुः औकारः, कस्यचिन्मते बकारः, तेन विन्दुना चानुस्वारेण युक्तः; नतिर्नमः-शब्दः, पार्श्वं पकारः, रा इति स्वरूपनिर्द्देशः। मरुद्यकारः अवात्मने इति स्वरूपनिर्द्देशः, तथा नि च, रुद्धेति च तच्च पदं ङे-युक्तं रुद्धायेत्यर्थः। निवेद्यमिति स्वरूपनिर्द्देशः। आत्मभूः ककारः, मासं लकारः, तद्युक्तः, पार्श्वं पकारः, अनिलो यकारः, अमीति स्वरूपनिर्द्देशः,—ठौं नमः पराय अवात्मनेऽनिरुद्धाय निवेद्यं कल्पयामीति ॥११०॥

सितं शुद्धं, घारिका घीवरेति प्रसिद्धा, तदाद्यं शोभनखाद्यम्, आज्यं घृतं, प्राज्यं घृतप्रचुरपक्वम्, समिज्यं

पश्चात् निवेद्य द्रव्य का मन्त्र जप पूर्वक उभय हस्त के अङ्गुष्ठ द्वय से अपनी-अपनी अनामिका अङ्गुली द्वय का स्पर्श करके निवेद्य मुद्रा दिखावे। पञ्च अङ्गुली के अग्रदेश परस्पर संलग्न होकर ऊर्ध्वमुख में अवस्थित होने से निवेद्यमुद्रा होती है। अथवा दोनों हाथों के दोनों अँगूठों से निज-निज दोनों अनामा स्पर्श करने से ही उसका नाम निवेद्यमुद्रा है ॥१०९॥

निवेद्य मुद्रा का मन्त्र—श्रीकेशवाचार्य कृत क्रमदीपिका में इस प्रकार वर्णित है—नन्दज (ठकार) अम्बुमनु (औकार) विन्दु (अनुस्वार) इनके सहित युक् अर्थात् युक्त, नति (नमः) शब्द, इन सबके एकत्र होने पर ही "ठौं नमः" होता है। पार्श्व (प) "रा" एवं मरुत् (य) इन तीनों में "पराय" होता है। पश्चात् "अवात्मने" पुनः "नि" एवं "रुद्ध" इन दोनों शब्द में ङ—चतुर्थी विभक्ति का योग होने से "निरुद्धाय" होता है। पुनः "निवेद्यं" पुनः आत्मभूः (क) मांस (ल) तद्युक्त (प) (ल्प) अनिल (य) एवं (आमि]—इन सबको एकत्र करने पर ही "ठौं नमः पराय अवात्मनेऽनिरुद्धाय निवेद्यं कल्पयामि"—यह मन्त्र हुआ ॥११०॥

भगवद्भक्तवृन्द स्वीय अभीष्ट मन्त्र का, निवेद्य द्रव्य के मन्त्र रूप में जप करते हैं एवं ग्रासमुद्रा का प्रदर्शन करते हैं। विष्णुमुखपद्म से जो तेजः निकलता है, वे वैसी चिन्ता नहीं करते हैं। तात्पर्य्य यह है कि—शिष्ट व्यवहारानुसार मनोहर व्यवहार से आनन्द पूर्वक श्रीहरि को भोजन कराते हैं ॥१११-११२॥

अन्यत्र भी वर्णित है—"हे भगवन्! शाल्योदन, हिमकर तुल्य श्वेत वर्ण उत्तम अन्न, पायस, पिष्टक,

किञ्च, गरुड़पुराणे—

नैवेद्यं परया भक्त्या घण्टाद्यैर्जयनिस्वनैः । नीराजनैश्च हरये दद्याद्दीपासनं बुधः ।।११४।।

अथ नैवेद्य-पात्राणि

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

नैवेद्यपात्रं वक्ष्यामि केशवस्य महात्मनः । हैरण्यं राजतं ताम्रं कांस्यं मृण्मयमेव च ।
पालाशं पद्मपत्रञ्च पात्रं विष्णोरतिप्रियम् ।।११५।।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

पात्राणान्तु प्रदानेन नरकञ्च न गच्छति ।।११६।।

पात्र-परिमाणम्

देवीपुराणे—

षट्त्रिंशदङ्गुलं पात्रमुत्तमं परिकीर्त्तितम् । मध्यमञ्च त्रिभागोनं कन्यसं द्वादशाङ्गुलम् ।
वस्वङ्गुलविहीनन्तु न पात्रं कारयेत् क्वचित् ।।११७।।

परमोत्तममित्यर्थः । श्लोकोऽयं जवनिकान्तर्द्धानानन्तरं वहिरेव पाठ्य इति ज्ञेयम् । क्रमदीपिकोक्तानुसारेण आदौ तन्मुख्यमन्त्रस्य लिखितत्वात् ।।११३।।

अन्यश्च नैवेद्यार्पणविधिं लिखति—नैवेद्यमिति । दीपश्चान्यमेकं भोजनकालपर्य्यन्तस्थायिनमासनञ्च दद्यात्; बुधः सदाचारविशेषविद्वानित्यर्थः ।।११४।।

कन्यसं कनिष्ठं, वसुभिरष्टभिरङ्गुलिभिर्विहीनं अष्टाङ्गुलपरिमाणतो न्यूनमित्यर्थः । क्वचिदिति स्नानादौ च सर्व्वत्र न कारयेदित्यर्थः ।।११७।।

सूप, लेह्य, पेय, चूष्य एवं शुद्ध सुधारस स्वरूप फल, घारिका (घिवर) प्रभृति उत्कृष्ट भोज्य, घृत, नयन प्रीतिकर, घृत पक्व द्रव्य, इलायची-मरीच प्रभृति द्वारा संस्कृत अति सुस्वादु अत्युत्तम घृतबहुल पक्वान्न एवं शाकादि उपकरण—इन सब सुधा तुल्य द्रव्यों के आस्वादन जनित सुख प्राप्त करें" इस प्रकार पाठ करना चाहिये ।।११३।।

गरुड़ पुराण में वर्णित है—सदाचार विशेषज्ञ व्यक्ति, घण्टा प्रभृति जय शब्द एवं नीराजन करके अतिशय भक्तिपूर्वक श्रीहरि को, नैवेद्य भोजनकाल पर्य्यन्त स्थायिदीप एवं आसन अर्पण करे ।।११४।।

अथ नैवेद्य पात्राणि

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवाद में लिखा है—महात्मा केशव के नैवेद्य पात्र का वर्णन करता हूँ। काञ्चन-पात्र, रौप्यपात्र, ताम्रपात्र, कांस्यपात्र, मृन्मयपात्र, पलाशपत्र एवं कमलपत्र निर्मित पात्र श्रीविष्णु के अतिशय प्रीतिकर हैं ।।११५।।

विष्णुधर्मोत्तर में उक्त है—श्रीहरि को पात्रसमूह अर्पण करने से पुनर्वार नरक गमन नहीं करना पड़ता है ।।११६।।

पात्र-परिमाणम्

देवीपुराण में लिखा है—षट्त्रिंशत् अङ्गुल परिमित पात्र, उत्तम है, चतुर्विंशति परिमित पात्र मध्यम एवं द्वादशाङ्गुल परिमित पात्र निकृष्ट है। कदाच अष्टाङ्गुल के न्यून पात्र का निर्माण न करे ।।११७।।

अथ भोज्यानि

एकादशस्कन्धे (२७।३४)—

गुड़पायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् । संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥११८॥

किञ्च, (११।४१)—

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः । तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥११९॥

अष्टमस्कन्धे (१।५२)—

नैवेद्यञ्चाधिगुणवद्दद्यात् पुरुषतुष्टिदम् ॥१२०॥

बौधायनस्मृतौ च—

नानाविधान्नपानैश्च भक्षणाद्यैर्मनोहरैः । नैवेद्यं कल्पयेद्विष्णोस्तदभावे च पायसम् ।

केवलं घृतसंयुक्तम् ॥१२१॥

वामनपुराणे—

हविषा संस्कृता ये च यवगोधूमशालयः । तिलमुद्गादयो माषा व्रीहयश्च प्रिया हरेः ॥१२२॥

गारुड़े—

अन्नं चतुर्विधं पुण्यं गुणाढ्यञ्चामृतोपमम् । निष्पन्नं स्वगृहे यद्वा श्रद्धया कल्पयेद्धरेः ॥१२३॥

गुड़-शब्देन सर्व्वे इक्षुविकारा गृह्यन्ते, तेषां गुड़ात्मकत्वात्; शष्कुल्यः—तैलपक्वविशेषाः, आपूपाः मण्डकादीनां समूहाः, सूपा व्यञ्जनानि; सति विभवे इति शेषः । यद्वा, गुड़-पायसादि-नैवेद्ये सति ॥११८॥

यच्चात्मनोऽत्यन्तप्रियमिति—लोकेऽनिष्टमपि अविहितमपि स्वस्य प्रियञ्चेत्तर्हि दद्यादित्यर्थः । अत्र च विहितमेव, न तु निषिद्धमिति केचिदाहुः; अत्यन्तनिषिद्धे च वैष्णवानां स्वत एवाप्रवृत्तेस्तन्न देयमेवेति, किं तदभिव्यञ्जनेन ? ॥११९॥

अधिगुणवत् अधिकगुणसंयुक्तं, यतः पुरुषस्य भगवतः तुष्टिदम्; यद्वा पुरुषाहारसम्मितं दद्यात्, न ततो न्यूनमित्यर्थः ॥१२०॥

केवलमेकमेव पायसं दद्यादित्यर्थः; तच्च घृतयुक्तमेव, 'अघृतश्चासुरं विदुः' इति स्मृतेः ॥१२१॥

हविषा गव्यघृतेन, व्रीहयः यवादिभ्योऽन्ये चणकादयः ॥१२२॥

अथ भोज्यानि

एकादशस्कन्ध में उक्त है—गुड़, पायस, घृत, शष्कुली, आपूप, मोदक, संयाव, दधि एवं सूप—इन सब द्रव्यों के नैवेद्य सामर्थ्यानुसार श्रीहरि को अर्पण करे ॥११८॥

और भी वर्णित है—संसार में जो पदार्थ प्रियतम हैं, एवं जो पदार्थ निज अतिशय प्रीतिद हैं, वह सब मुझको अर्पण करने से अनन्त फल होता है ॥११९॥

षष्ठ स्कन्ध में वर्णित है—श्रीभगवान् के प्रीतिकर अथवा एक मनुष्य के भोजनानुरूप प्रीतिजनक अधिक गुणशाली नैवेद्य अर्पण करना चाहिये ॥१२०॥

बौधायनस्मृति में उक्त है—विविध प्रकार अन्न, पान, एवं उत्तम भक्ष्य प्रभृति द्रव्य द्वारा श्रीविष्णु को नैवेद्य अर्पण करे, इसके अभाव में केवल मात्र—घृतयुक्त पायस प्रदान करे, कारण, घृतविहीन अन्न को असुरान्न करते हैं ॥१२१॥

वामनपुराण में लिखा है—यव, गोधूम, धान्य, तिल, मुद्ग, माषकलाय, यव, चणक प्रभृति शस्य गव्य घृत विशिष्ट होने से श्रीविष्णु के प्रीतिजनक होते हैं ॥१२२॥

गरुड़पुराण में लिखित है—निज गृह में पक्व, गुणयुक्त, अमृततुल्य एवं विशुद्ध चतुर्विध अन्न, श्रद्धापूर्वक श्रीहरि को अर्पण करे ॥१२३॥

भविष्ये—

पुष्पं धूपं तथा दीपं नैवेद्यं सुमनोहरम् । खण्डलड्डुक-श्रीवेष्टकासाराशोकवर्त्तिकाः ॥१२४॥

स्वस्तिकोल्लासिकादुग्ध-तिलवेष्टकिलाटिकाः ।

फलानि चैव पक्वानि नागरङ्गादिकानि च ॥१२५॥

अन्यानि विधिना दत्त्वा भक्ष्याणि विविधानि च । एवमादीनि दापयेद्भक्तितो नृप ॥१२६॥

वाराहे—

यस्तु भागवतो देवि अन्नाद्येन तु प्रीणयेत् । प्रीणितस्तिष्ठतेऽसौ वै बहुजन्मानि माधवि ॥१२७॥

सर्व्वव्रीहिमयं गृह्य शुभं सर्व्वरसान्वितम् । मन्त्रेण मे प्रदीयेत न किञ्चदपि संस्पृशेत् ॥१२८॥

इङ्गुदीफलविल्वानि बदरामलकानि च । खर्जूरांश्चासनांश्चैव मानवांश्च परूषकान् ॥१२९॥

शालोडुम्बरिकांश्चैव तथा प्लक्षफलानि च । पैप्पलं कण्टकीयञ्च तुम्बुरुञ्च प्रियङ्गुकम् ॥१३०

मरीचं शिंशपाकञ्च भल्लातकरमर्द्दकम् । द्राक्षाञ्च दाड़िमञ्चैव पिण्डखर्जूरमेव च ॥१३१॥

सौवीरं केलिकञ्चैव तथा शुभफलानि च । पिण्डारकफलं चैव पुन्नागफलमेव च ॥१३२॥

शमीञ्चैव कवीरञ्च खर्जूरकमहाफलम् । कुमुदस्य फलञ्चैव वहेड़कफलन्तथा ॥१३३॥

अजं कर्कोटकञ्चैव तथा तालफलानि च । कदम्बः कौमुदञ्चैव द्विविधं स्थलकञ्जयोः ॥१३४॥

श्रीवेष्टं लड्डुकेति प्रसिद्धं, कासारः पैवाकिकादि-घृतपक्वान्तर्निक्षेप्यो मधुरपक्वद्रव्य-विशेषः, कसेरुरिति-प्रसिद्धः। आशोकवर्त्तिका सेवालड्डु इति प्रसिद्धा, एकमूर्द्धा पिष्टमयो रचितः स्वस्तिको मतः ; उल्लासिका लपसीति प्रसिद्धा, दुग्धवेष्टः तिलवेष्टश्च, तत्र दुग्धवेष्टः क्षीरवटकः पूपिका वा; तिलवेष्टः अरसा इति प्रसिद्धः; किलाटिका क्षीरसारः पटखिरिसेति प्रसिद्धा अन्यानि च फलानि दत्त्वा पश्चाद्भक्ष्याणि दापयेत् इत्यत्र दद्यात् इति वा पाठः ॥१२४-१२६॥

अन्नाद्येन अन्नादिभक्ष्यपेयद्रव्येण, गृह्य गृहीत्वा ॥१२७-१२८॥

आसनान् चारवीजानि, मानवान् नारिकेलफलानि परूषकान् परुषा इति प्रसिद्धान्, एषु पुंस्त्वमार्षम् । अग्रे अन्यत्रापि एवं ज्ञेयम् । एवं देशभेदेन तत्तन्नामप्रसिद्धेरपि भेदात्, तत्तद्भाषया लिखितानामपि तत्तद्-द्रव्याणां सर्व्वदेशीयानां दुर्ज्ञेयत्वात् तल्लिखनप्रयासेनालम् । तत्तद्देशवासिभ्य एवापेक्षित-तत्तद्विशेषो ज्ञेयः । तथाप्यत्राप्रसिद्धं किञ्चित् श्रीमथुरादेशभाषया अभिव्यज्यत इति ॥१२९॥

भविष्यपुराण में वर्णित है—हे नृपते ! पुष्प, धूप, दीप, मनोहर नैवेद्य, लड्डू, श्रीवेष्ट (लजुवी, लडुयी नाम से प्रसिद्ध अथवा दही-बड़े) कासार (कसेरू) सेवालड्डू, स्वस्तिक (एक मस्तकयुक्त पिण्डाकार पिष्ट तण्डुलमय वस्तु भेद) उल्लासिका (लप्सी) क्षीरबड़ा अथवा पूपिका, तिलवेष्ट (अरसी अथवा तिलमुग्गे) किलाटिका (क्षीरसार, पटक्षीरसा अथवा मावा) एवं नागरङ्गादि (नारङ्गी) प्रभृति पक्व फलसमूह श्रद्धा पूर्वक अर्पण करतः पुनः अन्यान्य विविध भक्ष्य द्रव्य एवं अपरापर द्रव्यसमूह अर्पण करे ॥१२४-१२६॥

वरापुराण में वर्णित है—हे माधवि ! हे देवि ! जो अन्न इत्यादि भक्ष्य द्रव्य द्वारा वैष्णववृन्द को तृप्त करते हैं एवं सर्व रस विशिष्ट मङ्गलप्रद शस्यसमूह ग्रहणपूर्वक मन्त्र द्वारा मुझको अर्पण कर उससे कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं, वे अनेक जन्म पर्य्यन्त सुख से निवास करते हैं ॥१२७-१२८॥

इङ्गुदीफल, विल्वफल, वदर, आमलकी, खर्जुर, आसन (चारवीज) नारिकेल, परूषक (फरुषा अथवा परवल), शाल, उडुम्बरिक, प्लक्षफल, पिप्पलीफल, पनस, तुम्बुरु (धनियां), प्रियङ्गु (राई), मरीच,

पिण्डिकन्देति विख्यातं वंशनीपं ततः परम् । मधुकन्देति विख्यातं माहिषं कन्दमेव च ॥१३५॥
करमर्द्दकन्दञ्च तथा नीलोत्पलस्य च। मृणालं पौष्करञ्चैव शालूकस्य फलन्तथा ॥१३६॥
एते चान्ये च बहवः कन्दमूलफलानि च । एतानि चोपयोज्यानि ये मया परिकल्पिताः ॥१३७॥
मूलकस्य ततः शाकं चिञ्चाशाकं तथैव च । शाकञ्चैव कलायस्य सर्षपस्य तथैव च ॥१३८॥
वंशकस्य तु शाकञ्च शाकमेव कलम्बिकम् । आर्द्रकस्य च शाकं वै पालङ्कं शाकमेव च ॥१३९
अम्बिलोड़कशाकञ्च काशं कौमारकन्तथा । शुकमण्डलपत्रञ्च द्वावेव तरुवानकौ ॥१४०॥
चरस्य चैव शाकञ्च मधुकोडुम्बरं तथा । एते चान्ये च बहवः शतशोऽथ सहस्रशः।

कर्म्मण्याश्चैव सर्व्वे वै ये मया परिकीर्त्तिताः ॥१४१॥

व्रीहीनाञ्च प्रवक्ष्यामि उपयोगांश्च माधवि । एकचित्तं समाधाय तत् सर्व्वं शृणु सुन्दरि ॥१४२
धर्म्माधर्म्मिकरक्तञ्च सुगन्धं रक्तशालिकम् । दीर्घशूकं महाशालिं वरकुङ्कुमपत्रकम् ॥१४३॥

ग्रामशालिं समद्राशां सश्रीशां कुशशालिकाम् ।
यवाश्च द्विविधा ज्ञेयाः कर्म्मण्या मम सुन्दरि ॥१४४॥
कर्म्मण्याश्चैव मुद्गाश्च तिलाः कृष्णाः कुलत्थकाः ।
गोधूमकं महामुद्गमुद्गाष्टकमवाटजित् ॥१४५॥
कर्म्मण्येतानि चोक्तानि व्यजनानि प्रियान्वितान् ।
प्रतिगृह्णाम्यहं हचेतान् सर्व्वान् भागवतात् प्रियान् ॥१४६॥

किञ्च —

ये मयैवोपयोज्यानि गव्यं दधि पयो घृतम् ॥१४७॥

शिंशपा, भल्लातक (भिलावा), कारमर्दक (करोंदा), द्राक्षा, दाड़िम्ब, पिण्ड खर्जूर, सौवीर (बेर), केलिक (कदम्बविशेष), पिण्डारकफल (पिंढ़ालू), पुन्नागफल, शमी, कटीर, खर्जूर अथवा महाफल, कुमुदफल, बहेड़ाफल, अज, कर्कोटक, तालफल, कदम्ब, कौमुद, द्विविध स्थलकञ्ज, पिण्डिकन्द, वंशनीप, मधुकन्द, माहिषकन्द, करमर्दककन्द, नीलोत्पलकन्द, मृणाल, पुष्करफल, शालूकफल—यह सब एवं अन्यान्य कन्द, मूल फल का विषय जो वर्णित है, वह सभी मेरे भक्ष्य हैं ॥१२९-१३७॥

मूलक शाक (मूली का शाक), चिञ्चाशाक (नाली का शाक), कलायशाक, सरिषा शाक, वंशक शाक, पालङ्क शाक, कलम्बी शाक, आर्दक शाक, अम्बिलोड़क शाक, कौमारक शाक, शुकमण्डल पत्र, द्विविध वृक्ष के शुष्क पत्र, चर शाक, मधुक, औडुम्बर—यह सब एवं अन्यान्य शतसहस्रविध शाकादि का विषय जिसका वर्णन मैंने किया है, वह सभी कर्म के उपयोगी हैं ॥१३८-१४१॥

हे सुन्दरि ! हे माधवी ! सम्प्रति भक्षणीय व्रीहि प्रभृति का वर्णन मैं करता हूँ, एकाग्र चित्त से सुनो ॥ १४२॥

हे सुन्दरि ! धर्मरक्तशालि, अधर्मरक्तशालि, दीर्घशूक, महाशालि, श्रेष्ठ कुङ्कुमपत्र, ग्रामशालि, मद्रश शालि, श्रीशशालि, कुशशालि एवं द्विविध यव, मुझे कर्मोपयोगी है। मुग, तिल, कृष्ण, कुलत्थ कलाय, गोधुम, महामुग, मुद्गाष्टक—यह सब कर्मोपयोगी है। इन सब द्रव्य एवं जिन सब व्यञ्जनों का वर्णन हुआ है, उन सभी प्रिय द्रव्यों को वैष्णवों के निकट से मैं ग्रहण करता हूँ ॥१४३-१४६॥

और भी वर्णित है—गव्य, दधि, दुग्ध, घृत मेरे भोजन के उपयुक्त हैं ॥१४७॥

स्कान्दे च ब्रह्मनारद-संवादे—

हविः शाल्योदनं दिव्यमाज्ययुक्तं सशर्करम् । नैवेद्यं देवदेवाय यावकं पायसन्तथा ॥१४८॥

नैवेद्यानामभावे तु फलानि विनिवेदयेत् । फलानामप्यभावे तु तृणगुल्मौषधीरपि ॥१४९॥

ओषधीनामलाभे तु तोयञ्च विनिवेदयेत् । तदलाभे तु सर्व्वत्र मानसं प्रवरं स्मृतम् ॥१५०॥

स्कान्दे महेन्द्रं प्रति श्रीनारद-वचनम्—

यच्छन्ति तुलसीशाकं श्रृतं ये माधवाग्रतः । कल्पान्तं विष्णुलोके तु वसन्ति पितृभिः सह ॥१५१

अथ नैवेद्ये निषिद्धानि

हारितस्मृतौ—

नाभक्ष्यं नैवेद्यार्थे भक्ष्येष्वप्यजामहिषीक्षीरं पञ्चनखा मत्स्याश्च ॥१५२॥

द्वारकामाहात्म्ये—

नीलीक्षेत्रं वापयन्ति मूलकं भक्षयन्ति ये । नैवास्ति नरकोत्तारः कल्पकोटिशतैरपि ॥१५३॥

वाराहे—

माहिषञ्चाविकं चाजमयज्ञीयमुदाहृतम् ॥१५४॥

किञ्च—

माहिषं वर्ज्जयेन्मह्यं क्षीरं दधि घृतं यदि ॥१५५॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे तृतीयकाण्डे—

अभक्ष्यञ्चाप्यहृद्यञ्च नैवेद्यं न निवेदयेत् । केशकीटावपन्नञ्च तथा चाविहितञ्च यत् ॥१५६

महिषादिकं दध्यादि ॥१५५॥

केशकीटैः दूषितमिति—पाकानन्तरं केशकीटैः दूषितत्वं ज्ञेयम् । विष्णुधर्म्मोत्तरे च— कीटावपन्नं यन्निषिद्धं,

---

स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद-संवाद में लिखा है—घृत, शालि तण्डुल का अन्न, उत्तम घृत, शर्करायुक्त नैवेद्य एवं यव का पायस, देवदेव श्रीविष्णु को प्रदान करे। नैवेद्यादि का अभाव से फल निवेदन करे। फल का अभाव होने पर, तृण, गुल्म और औषधि प्रदान करे। औषधि का अभाव होने से केवल जल का अर्पण करे। जल के भी अभाव होने से, केवल मात्र मानस से द्रव्यादि निवेदन करे ॥१४८-१५०॥

स्कन्दपुराण में इन्द्र के प्रति श्रीनारदोक्ति यह है—जो मानव, घृतपक्व तुलसी शाक श्रीमाधव को अर्पण करते हैं, उनका निवास, श्रीविष्णुधाम में प्रलयकाल पर्य्यन्त पितृपुरुषगणों के सहित होता है ॥१५१॥

अथ नैवेद्ये निषिद्धानि

हारीतस्मृति में लिखा है—अभक्ष्य वस्तु नैवेद्य में अर्पण न करे। भक्ष्य द्रव्य के मध्य में अज-दुग्ध, (बकरी का दूध), महिषी-दुग्ध (भैंष का दूध) पञ्च नखयुक्त जीव एवं मत्स्य अर्पण न करे ॥१५२॥

द्वारका माहात्म्य में लिखा है—जो मानव क्षेत्र में नीलीरोपण करते हैं अथवा मूलक (मूलीविशेष) भोजन करते हैं, उनका उद्धार कोटि कल्प में भी नरक से नहीं होता है ॥१५३॥

वाराहपुराण में लिखित है—महिष, मेष, छाग, सम्बन्धीय घृत, पूजा के अनुपयोगी कहकर निरूपित हुआ है। और भी लिखा है—यदि कोई मनुष्य, मुझको दधि, दुग्ध, घृत प्रदान करें तो वे महिष सम्बन्धीय यह सब द्रव्य वर्जन करें ॥१५४-१५५॥

विष्णधर्मोत्तर के तृतीयकाण्ड में उक्त है—अभक्ष्य एवं अस्वादु नैवेद्य निवेदन न करे। निषिद्ध, केश एवं कीट समन्वित, मूषिका एवं लाङ्गूल कर्त्तृक उच्छिष्ट, अवज्ञावशतः त्यक्त, एवं जिसके ऊपर हुचकी

मूषिकालाङ्गुलोपेतमवधूतमवक्षुतम् । उड़ुम्बरं कपित्थञ्च तथा दन्तशठञ्च यत् ।
एवमादीनि देवाय न देयानि कदाचन ॥१५७॥

अथाभक्ष्याणि

कौर्मे—

वृन्ताकं जालिकाशाकं कुसुम्भाश्मन्तकं तथा ।
पलाण्डुं लशुनं शुक्लं निर्य्यासञ्चैव वर्ज्जयेत् ॥१५८॥

गृञ्जनं किंशुकञ्चैव कुकुण्डञ्च तथैव च । उड़ुम्बरमलावुञ्च जग्ध्वा पतति वै द्विजः ॥१५९

वैष्णवे—

भुञ्जीतोद्धृतसाराणि न कदाचिन्नरेश्वर ॥१६०॥

स्कान्दे—

यो भक्षयति वृन्ताकं तस्य दूरतरो हरिः ॥१६१॥

किञ्चान्यत्र—

वार्त्ताकुं वृहतीञ्चैव दग्धमन्नं मसूरकम् । यस्योदरे प्रवर्त्तेत तस्य दूरतरो हरिः ॥१६२॥

तच्च केशादि-सहितपाकाभिप्रायेण । देवद्रोण्यां देवयात्रायां प्रकृतिषु अवश्यकृतया महोत्तरेषु तन्मात्रमिति काकादिभिर्यावत् संस्पृष्टं तावदेवेत्यर्थः । द्रोणः षट्पञ्चाशदधिक-पलशतद्वयम् । लालाकृतं यत्र श्लेष्मक्षिप्तं तत् । यद्यपि आत्मभोग्यापेक्षया तदुपघातशोधनं, तत्र तत्रोक्तं, तथाप्यात्मभोग्यं शुद्धं यत् परमेश्वरार्पणेऽपि योग्यं स्यादिति; किंवा भगवदर्थपक्वान्नेऽपि प्रमादादिना कथञ्चित् न दोषः सम्भवेदिति तत्तच्छुद्धिः लिखितेति दिक् । एवमन्यत्र, तदप्यूह्यम् ॥१५६॥

लाङ्गुलो जन्तुविशेषः, अवधूतम् अवज्ञया त्यक्तम्, अवक्षुतं यस्योपरि क्षुतं कृतं तत् । दन्तशठं जम्बीर-फलम् ॥१५७॥

'नाभक्ष्यं नैवेद्यार्थे' इति हारीतस्मृतौ । 'अभक्ष्यञ्चाप्यहृद्यञ्च' इति विष्णुधर्म्मोत्तरे चाभक्ष्यार्पणं निषिद्ध-मित्यभक्ष्याणि लिखति—वृन्ताकमित्यादिना । कुसुम्भशाकं अश्मन्तकञ्च शाकविशेषं, शुक्लं काञ्जिकं कुकुण्डं फलविशेषम् ॥२५८॥

उद्धृतसाराणि पिण्याकादीनि ॥१६०॥

हुई है, ऐसी वस्तु कभी निवेदन न करे । एवं उडुम्बर (गूलर), कपित्थ, जम्वीर प्रभृति द्रव्य भी देवता को अर्पण न करे ॥१५६-१५७॥

अथाभक्ष्याणि

कूर्मपुराण में लिखित है—वार्त्ताकी (बेंगनी-भाटा), जालीशाक, कुसुम्भशाक, अश्मन्तकशाक, पलाण्डु (प्यांज), लशुन (लहसन), काञ्जिक शुक्त एवं निर्य्यास (मद)—यह सब वस्तु त्याज्य हैं । गृञ्जन, गाजर, किंशुक, कुकुण्ड (एक प्रकार फल), उडुम्वर (गूलर) और अलावु (कद्दू)—यह सब द्रव्य भक्षण करने से द्विज,-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति को पतित होना पड़ता है ॥१५८-१५९॥

विष्णुपुराण में लिखित है—हे राजन् ! पिण्याकादि अर्थात् जिसका सार अंश निकल गया हो, ऐसा द्रव्य अभक्ष्य है ॥१६०॥

स्कन्दपुराण में लिखा है—वृन्ताक-बैंगन भोजी व्यक्ति से श्रीहरि बहुत दूर अवस्थित रहते हैं ॥१६१॥

और भी अन्यत्र कथित है—वार्त्ताकु, बेंगनी, वृहती, दग्ध अन्न एवं मसूर—यह सब द्रव्य जिस व्यक्ति के उदरस्थ होते हैं, श्रीहरि उससे दूर रहते हैं ॥१६२॥

किञ्च—

अलावुं भक्षयेद्यस्तु दग्धमन्नं कलम्बिकाम् । स निर्लज्जः कथं ब्रूते पूजयामि जनार्द्दनम् ॥१६३॥

अतएवोक्तं यामले—

यत्र मद्यं तथा मांसं तथा वृन्ताक-मूलके । निवेदयेन्नैव तत्र हरेरैकान्तिकी रतिः ॥१६४॥

अथ नैवेद्यार्पण-माहात्म्यम्

स्कान्दे—

नैवेद्यानि मनोज्ञानि कृष्णस्याग्रे निवेदयेत् । कल्पान्तं तत्पितॄणान्तु तृप्तिर्भवति शाश्वती ॥१६५

फलानि यच्छते यो वै सुहृद्यानि नरेश्वर । कल्पान्तं जायते तस्य सफलञ्च मनोरथः ॥१६६

नारसिंहे—

हविः शाल्योदनं दिव्यमाज्ययुक्तं सशर्करम् । निवेद्य नरसिंहाय यावकं पायसन्तथा ॥१६७॥

समास्तण्डुलसंख्याया यावत्यस्तावतीर्नृप । विष्णुलोके महाभोगान् भुञ्जानस्ते सवैष्णवाः ॥१६८

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

अन्नदस्तृप्तिमाप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति । दत्त्वा च संविभागाय तथैवान्नमतन्द्रितः ।
त्रैलोक्यतर्पिते पुण्यं तत्क्षणात् समवाप्नुयात् ॥१६९॥

अक्षय्यमन्नपानञ्च पितृभ्यश्चोपतिष्ठते । ओदनं व्यञ्जनोपेतं दत्त्वा स्वर्गमवाप्नुयात् ॥१७०॥

परमान्नं तथा दत्त्वा तृप्तिमाप्नोति शाश्वतीम् । विष्णुलोकमवाप्नोति कुलमुद्धरते तथा ॥१७१

घृतौदन-प्रदानेन दीर्घमायुरवाप्नुयात् । दध्योदन-प्रदानेन श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥१७२॥

सम्यक् विभागो देवानां यज्ञभागो यस्मात्, स संविभागो विष्णुस्तस्मै ॥१६९॥

और भी लिखा है—जो व्यक्ति, अलाबु (कद्दू), दग्ध अन्न एवं कलम्बीशाक भक्षण करता है, वह निर्लज्ज व्यक्ति "मैं श्रीहरि को पूजा करता हूँ" यह बात किस प्रकार मुख से उच्चारण करेगा ॥१६३॥

अतएव यामल में उक्त है, जिसमें सुरा, मांस तथा बेंगन, वृन्ताक एवं मूलक निवेदन किया जाता है, उसमें जनार्दन की ऐकान्तिकी प्रीति नहीं रहती ॥१६४॥

अथ नैवेद्यार्पण माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में लिखित है—मनोज्ञ नैवेद्य श्रीकृष्ण के पुरोभाग में निवेदन करने से, कल्पान्त पर्य्यन्त तदीय पितृगण, अक्षय तृप्ति लाभ करते हैं। हे नरेश्वर! जो व्यक्ति, उत्तम फलसमूह निवेदन करते हैं, कल्पान्त पर्य्यन्त उन फलदाता का मनोरथ सफल होता है ॥१६५-१६६॥

नृसिंहपुराण में उक्त है—जो व्यक्ति, नृसिंहदेव को उत्तम घृत सहित शर्करायुक्त शालि-तण्डुल का अन्न एवं यव का पायस निवेदन करते हैं, तण्डुलों के संख्यानुसार उतने ही वर्ष वे वैष्णवों के सहित श्रीविष्णु-धाम में परमानन्दित होते हैं ॥१६७-१६८॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—सावधान पूर्वक श्रीहरि को अन्न निवेदन करने पर, अन्नदाता को तृप्ति लाभ होता है एवं उनको स्वर्ग मिलता है। अन्नदान से त्रिलोक तृप्त होते हैं, एवं अन्नदाता तत्क्षणात् तज्जनित पुण्यभागी होते हैं ॥१६९॥

व्यञ्जनयुक्त अन्न प्रदान करने से सुरपुर में गति होती है, एवं तदीय पितृगण अक्षय अन्नपानीय लाभ करते हैं ॥१७०॥

परमान्न अर्पण करने पर अक्षय तृप्ति लाभ होती है। एवं विष्णुलोक में वास एवं वंश का उद्धार होता

क्षीरोदन-प्रदानेन दीर्घजीवितमाप्नुयात् । इक्षूणाञ्च प्रदानेन परं सौभाग्यमश्नुते ॥१७३॥
रत्नानाञ्चैव भागी स्यात् स्वर्गलोकञ्च गच्छति ।
फाणितस्य प्रदानेन अग्न्याधानफलं लभेत् ॥१७४॥
तथा गुड़प्रदानेन कामिताभीष्टमाप्नुयात् ॥१७५॥
निवेद्येक्षुरसं भक्त्या परं सौभाग्यमाप्नुयात् ।
सर्व्वान् कामानवाप्नोति क्षौद्रं यश्च प्रयच्छति ॥१७६॥
तदेव तुहिनोपेतं राजसूयमवाप्नुयात् ।वह्निष्टोममवाप्नोति यावकस्य निवेदकः ।
अतिरात्रमवाप्नोति तथा पूपनिवेदकः ॥१७७॥
वैदलानाञ्च भक्ष्याणां दानात् कामानवाप्नुयात् । दीर्घजीवितमाप्नोति घृतपूरनिवेदकः ॥१७८
मोदकानां प्रदानेन कामानाप्नोत्यभीप्सितान् ॥१७९॥
नानाविधानां भक्ष्याणां दानात् स्वर्गमवाप्नुयात् ।
भोजनीय-प्रदानेन तृप्तिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥१८०॥
तथा लेह्यप्रदानेन सौभाग्यमधिगच्छति । बलवर्णमवाप्नोति चूष्याणाञ्च निवेदने ॥१८१॥

अभीप्सितान् कामान् वाञ्छितानि प्राप्नोतीत्यर्थः । विसर्गलोपेऽपि पुनः सन्धिरार्षः । पाठान्तरे कामितमभीष्टञ्च वाञ्छातीतम् ॥१७५॥ पूर्व्वं इक्षूणामिति इक्षुदण्डानाम्, अधुना इक्षूणां रसमिति भेदः ॥१७६

वैदलानां मुद्गचणकादि-सूपानाम ॥१७८॥

दन्तैरवखण्ड्यावखण्ड्य यानि भक्ष्यन्तेऽपूपादीनि तानि भक्ष्याणि; भोजनीयं भोज्यम् ॥१८०॥

यत् केवलं जिह्वया विलोड्य निगीर्य्यते पायसादि, यच्च जिह्वायां निक्षिप्य रसास्वादेन निगीर्य्यते द्रवीभूतं गुड़ादि तल्लेह्यम्; यानि दंष्ट्राभिर्निष्पीड्य सारांशं निगीर्य्यावशिष्टं त्यज्यते, यथेक्षुदण्डादीनि तानि चूष्याणि ॥१८१॥

है। घृतयुक्त अन्न प्रदान करने से सुदीर्घ परमायु होती है। दधियुक्त अन्न प्रदान करने से अतिशय ऐश्वर्य्य लाभ होता है। दुग्ध मिश्रित अन्न प्रदान करने पर दीर्घजीवन लाभ होता है एवं इक्षुदण्ड अर्पण करने से अत्यन्त सौभाग्यशाली होता है एवं रत्नभागी एवं सुरपुरगामी होता है। फाणित (बताशा) अर्पण करने पर अग्न्याधान का फल लाभ होता है। और गुड़ प्रदान करने से मनोरथ सिद्ध होता है ॥१७१-१७५॥

जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक इक्षुरस अर्पण करते हैं, वे अतीव सौभाग्यशाली होते हैं। मधु प्रदान करने पर समस्त कामना सिद्ध होती हैं। हिमयुक्त मधु होने से राजसूय यज्ञ का फल लाभ होता है। यव का पायस निवेदन करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ होता है, एवं पिष्टक निवेदन करने पर अतिरात्र यज्ञानुष्ठान का फल लाभ होता है ॥१७६-१७७॥

मुग, चणकादि का सूप अर्पण करने पर कामना सफल होती है, चन्द्रपुली निवेदन करने से दीर्घजीवन लाभ होता है एवं मोदक अर्पण से अभीष्ट सिद्ध होता है ॥१७८-१७९॥

विविध चर्व्य भक्ष्य द्रव्य प्रदान करने पर सुरपुर में निवास होता है, एवं भोज्य द्रव्य प्रदान करने से महती तृप्ति होती है। लेह्य द्रव्य प्रदान करने से सौभाग्य लाभ होता है, चूष्य द्रव्य प्रदान करने पर शक्ति एवं रूप लाभ होता है ॥१८०-१८१॥

कुल्माषोल्लासिकादाना वह्न्याधेयं फलं लभेत् । तथा कृषरदानेन वह्निष्टोममवाप्नुयात् ॥१८२

धानानां क्षौद्रयुक्तानां लाजानाञ्च निवेदकः ।
मुख्यानाञ्चैव शक्तूनां वह्निष्टोममवाप्नुयात् ॥१८३॥

वानप्रस्थाश्रितं पुण्यं लभेच्छाकनिवेदकः । दत्वा हरितकञ्चैव तदेव फलमाप्नुयात् ॥१८४॥

दत्त्वा शाकानि रम्याणि विशोकस्त्वभिजायते ।
दत्त्वा च व्यञ्जनार्थाय तथोपकरणानि च ॥१८५॥

सुकुले लभते जन्म कन्दमूलनिवेदकः । नीलोत्पलविदारीणां तरुटस्य तथा द्विजाः ॥१८६॥
कन्ददानादवाप्नोति वानप्रस्थफलं शुभम् । त्रपुषेर्वारुकं दत्त्वा पुण्डरीकफलं लभेत् ॥१८७॥
कर्कन्धुवदरे दत्त्वा तथा पारैवतं कलम् । परुषकन्तथाम्रञ्च पनसं नारिकेलकम् ॥१८८॥
भव्यं मोचन्तथा चोचं खर्जूरमथ दाड़िमम् । आम्रातकस्रुवाम्लोट-फलमानप्रियालकम् ॥१८९
जम्बूविल्वामलञ्चैव जात्यं वीणातकन्तथा । नारङ्ग-वीजपूरे च वाजफल्गुफलान्यपि ॥१९०॥
एवमादीनि दिव्यानि यः फलानि प्रयच्छति । तथा कन्दानि मुख्यानि देवदेवाय भक्तितः ॥१९१
क्रियासाफल्यमाप्नोति स्वर्गलोकन्तथैव च । प्राप्नोति फलमारोग्यं मृद्वीकानां निवेदक ॥१९२
रसान् मुख्यानवाप्नोति सौभाग्यमपि चोत्तमम् । आम्रैरभ्यर्च्य देवेशमश्वमेधफलं लभेत् ॥१९३

कुलमाषाः किञ्चित् स्विन्नमाषाः, उल्लासिका लपसीति प्रसिद्धा ॥१८२॥
धानानां भृष्टयवानाम् ॥१८३॥
हरितकं हरिद्वर्णकं, शाकं, शाकविशेषं वा ॥१८४॥
तरुटं पद्मवीजं, तस्य कन्दो विसं, त्रपुषं सुखाशं, इर्व्वारुकं कर्कटीफलं, वदरं, क्षुद्रवदरं, पारैवतं तिन्दुकाकृति फलं, पक्वं सद्भवललोहितं मधुराम्लञ्च द्विधा कामरूपदेशे प्रसिद्धम्, भव्यं कर्म्मरङ्गफलम्, मोचं कदलीफलं, चोचं काश्मीरदेशोद्भवं गुड़त्वचफलं, नारिकेलफलविशेषं वा, स्रुवा काँठाल इति प्रसिद्धा, अम्लोटः साहुलीति प्रसिद्धः, फलमानः वीजपूरभेदः, जात्यं जातीफलं, वीणातकं खण्डगुड़म् इति द्रव्यगुण-टीकायां लिखितम् । वाजफलं क्षीरिकाफल्गुफलानि गोष्ठोडूम्वरिका-फलानि ॥१८६-१९०॥

ईषत् खिन्नमाष एवं लप्सी प्रदान करने से अग्न्याधान का फल लाभ होता है । कृषर (खिचड़ी) अर्पण करने पर अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ होता है । शाक निवेदन करने से वानप्रस्थ आश्रम जनित फल लाभ होता है । मधु संयुक्त धान (भृष्टयव), लाज, खीलें, शक्तु (सत्तु सतुआ) निवेदन करने से अग्निष्टोम-यज्ञ का फल लाभ होता है एवं हारतक शाक अर्पण करने पर भी उक्त रूप फल लाभ होता है ।।१८२-१८४ रमणीय शाक एवं व्यञ्जन के निमित्त उपकरण अर्पण करने से शोक विनष्ट होता है । जो व्यक्ति, कन्द मूल अर्पण करते हैं, वे उत्तम कुल में जन्म ग्रहण करते हैं । हे द्विजगण ! नीलोत्पल, विदारी, एवं पद्मवीज का कन्द निवेदन करने से वानप्रस्थाश्रम का फल लाभ होता है । सुखास (दुधलप्सी) एवं कर्कटीफल (ककड़ी) अर्पण करने से पुण्डरीक का फल लाभ होता है । कर्कन्धु (वृहद् वदरीविशेष), वदर (क्षुद्र) तिन्दुकाकृति पारैवत, परुषक, आम्र, कंठाल (पनस), नारिकेल, कर्मरङ्ग, कदली, चोच (काश्मीरी गुड़त्वच) खर्जूर, दाड़िम, आम्रातक, स्रुवा, अम्लोट, फलमान, पियालक, जम्बु, विल्व, आमल, जात्य, वीणातक, नारङ्ग, वीजपुर, वीज, फल्गुफल—इस प्रकार अन्यान्य उत्तम-उत्तम फल, उत्तमोत्तम कन्द, जो व्यक्ति,

किञ्च—

मोचकं पनसं जम्बू तथान्यत् कुम्भलीफलम् । प्राचीनामलकं श्रेष्ठं मधुकोड़ुम्बरस्य च।
यत्नपक्वमपि ग्राह्यं कदलीफलमुत्तमम् ॥१९४॥

हरिभक्तिसुधोदये च—

यत्किञ्चिदल्पं नैवेद्यं भक्तभक्तिरसप्लुतम् ।
प्रतिभोजयति श्रीशस्तद्दातॄन् स्वसुखं द्रुतम् ॥१९५॥ इति।

ततः प्राग्वद्विचित्राणि पानकान्युत्तमानि च । सुगन्धि शीतलं स्वच्छं जलमप्यर्पयेत्ततः ॥१९६

अथ पानकानि तन्माहात्म्यञ्च

विष्णुधर्मोत्तरे—

पानकानि सुगन्धीनि शीतलानि विशेषतः । निवेद्य देवदेवाय वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥१९७॥
त्वगेला-नागकुसुम-कर्पूरसितसंयुतैः । सिताक्षौद्रगुड़ोपेतैर्गन्धवर्णगुणान्वितैः ॥१९८॥
बीजपूरकनारङ्ग-सहकारसमन्वितैः । राजसूयमवाप्नोति पालकैर्विनिवेदितैः ॥१९९॥

मृद्वीका द्राक्षा, कुम्भलीफलं कारभतीति प्रसिद्धं, प्राचीनामलकं पाणिपावेति प्रसिद्धम् ॥१९२-१९४॥
ततः नैवेद्यार्पणानन्तरं, प्राग्वदिति नैवेद्यार्पणवत् इत्यर्थः । विचित्राणि विविधानि ॥१९६॥
सितम्—दधि-बीजपूरकादिफलरस-निर्म्मितमित्यर्थः ॥१९८॥

श्रीविष्णु को भक्तिपूर्वक प्रदान करते हैं, उनकी समस्त क्रिया की पूर्त्ति होती है, वे स्वर्ग में निवास लाभ करते हैं। द्राक्षा निवेदन करने से आरोग्य लाभ होता है, श्रेष्ठ रस समुदाय की प्राप्ति होती है एवं उत्तम सौभाग्य वृद्धि होती है। आम्र के द्वारा देवदेव श्रीहरि की पूजा करने पर अश्वमेध-यज्ञ का फल लाभ होता है ॥१८५-१९३॥

और भी वर्णित है—(मोचा) मोचक, पनस (कटहर), जम्बू, कुम्भलीफल, प्राचीनामलकी फल, मधु-कोडुम्बर फल—यह सभी फल श्रेष्ठ कहे जाते हैं। उत्तम कदलीफल प्रयत्न पक्व होने से भी ग्रहणीय है॥ ॥१९४॥

हरिभक्ति सुधोदय में लिखित है—श्रीभगवान्, भक्त प्रदत्त स्वल्प परिमाण नैवेद्य से भी सन्तुष्ट होकर नैवेद्यदाता को तत्काल अपने सुख भोग कराते हैं ॥१९५॥

नैवेद्यार्पण के पश्चात् विविध उत्तम पानीय द्रव्य एवं सुगन्धि, शीतल, निर्मल जल पूर्ववत् (नैवेद्यार्पण के समान) अर्पण करे ॥१९६॥

अथ पानकानि तन्माहात्म्यञ्च

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—सुगन्धयुक्त, अथच शीतल पानीय देवदेव को निवेदन करने पर अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ होता है ॥१९७॥

दारुचिनि (दालचीनी), इलाइच(इलायची), नागकुसुम (पुन्नाग), कर्पूर (कपूर) एवं दधि, बीजपुरादि (बिजौरा नीबू आदि) फल के रस से युक्त, शर्करा मधु एवं गुड़ समन्वित एवं गन्ध, वर्ण, गुणविशिष्ट बीजपूर, नागरङ्ग (नरङ्गी) और सहकार (आम्र) समन्वित पानक निवेदित होने पर राजसूय यज्ञानुष्ठान का फल लाभ होता है ॥१९८-१९९॥

निवेद्य नारिकेलाम्बु वह्निष्टोमफलं लभेत् । सर्व्वकामवहा नद्यो नित्यं यत्र मनोरमाः ।
तत्र पानप्रदा यान्ति यत्र रामा गुणान्विताः ॥२००॥ इति।

इत्थं समर्प्य नैवेद्यं दत्त्वा जवनिकान्ततः । वहिर्भूय यथाशक्ति जपं सध्यानमाचरेत् ॥२०१॥

अथ ध्यानम्

ब्रह्मेशाद्यैः परित ऋषिभिः सूपविष्टैः समेतो, लक्ष्म्या शिञ्जद्वलयकरया सादरं वीज्यमान, ।
मर्म्मक्रीड़प्रहसितमुखो हासयन् पंक्तिभोक्तॄन्,भुङ्क्ते पात्रे कनकघटिते षड़्रसं श्रीरमेशः ॥२०२
इति ॥

एकान्तिभिश्चात्मकृतं सवयस्यस्य गोकुले । यशोदालाल्यमानस्य ध्येयं कृष्णस्य भोजनम् ॥२०३

अथ होमः

नित्यञ्चावश्यकं होमं कुर्य्यात् शक्त्यनुसारतः । होमाशक्तौ तु कुर्व्वीत जपन्तस्य चतुर्गुणम्॥२०४
केऽप्येवं मन्वतेऽवश्यं नित्यहोमं सदाचरेत् । पुरश्चरणहोमस्याशक्तौ हि स विधिर्मतः ॥२०५॥

पूर्व्वं दीक्षाविधौ होमविधिश्च लिखितः कियान्
तद्विस्तारश्च विज्ञेयस्तत्तच्छास्त्रात्तदिच्छुभिः ॥२०६॥

नित्यमित्यनेन श्रीवैकुण्ठलोकमभिप्रैति ॥२००॥
जवनिकां तिरस्करणीम् ॥२०१॥
शक्त्यनुसारत इति – शक्तौ अष्टोत्तरं सहस्रम्, अशक्तौ च शतमिति ज्ञेयम्, तस्य होमस्य ॥२०४॥
किं मन्वते ? तल्लिखति—अवश्यमित्यादिना । पुरश्चरणे कर्म्मणि यो होमस्तस्मिन्नशक्तावेव, स जप-चतुर्गुणहोमकरणरूपो विधिः ॥२०५॥

नारिकेल उदक अर्पण करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल लाभ होता है। जहाँ पर मनोज्ञ नदीसमूह विराजित हैं, एवं समस्त कामना पूर्ण करती हैं, एवं गुणवती रमणीवृन्द विराजित हैं, पानीय प्रदाता का निवास उस स्थान में होता है ॥२००॥
इस प्रकार नैवेद्य अर्पणकर जवनिका से बहिर्गत होकर शक्ति के अनुसार ध्यानयुक्त मन्त्र जप करे ॥२०१॥

अथ ध्यानम्

विरिञ्चि शिवादि देववृन्द एवं ऋषिगण जिनके चतुर्दिक में उपविष्ट हैं, लक्ष्मी बलय ध्वनि के सहित निज कर द्वारा आदरपूर्वक जिनको वीजन कर रही हैं एवं जो परिहास के समय स्वयं सहास्य वदन होकर पङ्क्ति भोजनगण को हँसाते हैं, वे रमापति, काञ्चनमय पात्र में षड़्विध रस का सेवन करते हैं ॥२०२॥
गोकुल धाम में यशोमती के द्वारा लालित वयस्कवृन्द के सहित श्रीकृष्ण के निजकृत भोजन के विषय की चिन्ता वैष्णववृन्द करें ॥२०३॥

अथ होमः

प्रत्यह शक्त्यनुसार आवश्यक होम करे। होम में असमर्थ होने पर होम का चतुर्गुण मन्त्र जप करे ॥२०४॥
कतिपय व्यक्ति इस प्रकार कहते हैं—नित्य अवश्य ही होम करना चाहिये, किन्तु पुरश्चरण के समय जो होम का विधान है, उसमें आशक्त होने पर, उक्त विधि अर्थात् होम की संख्या के चतुर्गुण जपानुष्ठान करे। इससे पहले दीक्षा-विधि में होम-विधि का वर्णन हुआ है। सुतरां तद्विषय में विशेषरूप से जानने की इच्छा हो तो उस शास्त्र से उक्त विवरण विशेषरूप से ज्ञात हो सकते हैं ॥२०५-२०६॥

समाप्ति भोजने ध्यात्वा दत्त्वा गाण्डूषिकं जलम्।
अमृतापिधानमसि स्वाहेत्युच्चारयेत सुधीः ॥२०७॥
विसृजेद् ववक्त्रे तत्तेजः संहारमुद्रया। नैकान्ती तेजसः कुर्य्यान्निःक्रान्तिमिव संक्रमम् ॥२०८॥

अथ बलिदानम्

ततो जवनिकां विद्वानपसार्य्य यथाविधि। विष्वक्सेनाय भगवन्नैवेद्यांशं निवेदयेत् ॥२०९॥

तथा च पञ्चरात्रे श्रीनारदवचनम्—

विष्वक्सेनाय दातव्यं नैवेद्यं तच्छतांशकम्। पादोदकं प्रसादञ्च लिङ्गे चण्डेश्वराय च ॥२१०॥

तद्विधिः

मुख्यादीशानतः पात्रान्नैवेद्यांशं समुद्धरेत्। सर्व्वदेवस्वरूपाय पराय परमेष्ठिने ॥२११॥
श्रीकृष्णसेवायुक्ताय विष्वक्सेनाय ते नमः। इत्युक्त्वा श्रीहरेर्वामे तीर्थक्लिन्नं समर्पयेत् ॥२१२॥
शतांशं वा सहस्रांशमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥२१३॥

अमृतापिधानमसीति जलगण्डूषं दत्त्वेति ज्ञेयम् ॥२०७॥

तत् नैवेद्यग्रहणाय विनिर्गतं यत् शतांशकमिति नैवेद्यस्य शतांशानामेकमंशमित्यर्थः। एवं सहस्रांशमपि, लिङ्गे चेत् श्रीशिवपूजा क्रियते, तदा चण्डेश्वराय तद्गणाध्यक्षाय तन्नैवेद्यादिकं दातव्यमित्यर्थः। एतच्च दृष्टान्तत्वेनोदाहरणं ज्ञेयम् ॥२१०॥

ईशानत इति ईशानकोणे मण्डलिकां कृत्वा स्थापितत्वात्। तीर्थं श्रीचरणोदकं, तेन क्लिन्नमार्द्रम् ॥२११-२१३॥

बुद्धिमान् व्यक्तिगण, भगवान् के भोजनावशेष का ध्यान करके जलगण्डूष प्रदान एवं "अमृतापिधान मसि स्वाहा" यह मन्त्र पाठ करे। पश्चात् संहारमुद्रा प्रदर्शनपूर्वक श्रीहरि के मुख-कमल से निष्क्रान्त नैवेद्य ग्रहणार्थ तेजः का प्रवेश श्रीहरि के वदन कमल में करावे। सकान्ती वैष्णववृन्द, तेजः निष्क्रमण के समान उसका सङ्कोचन करें ॥२०७ २०८॥

अथ बलिदानम्

अतःपर बुधव्यक्ति, जवनिका अपसारण पूर्वक श्रीहरि के नैवेद्यांश का अर्पण यथाविधि विष्वक्सेन को करें ॥२०९॥

तद्विषय में पञ्चरात्र में श्रीनारदोक्ति इस प्रकार है—"नैवेद्य के शत भाग का एक भाग, पादोदक एवं प्रसाद विष्वक्सेन को अर्पण करे। यदि, शिवलिङ्ग में शिवार्च्चन किया जाय तो, उक्त नैवेद्यांश का अर्पण "चण्डेश्वर" को भी करे ॥२१०॥

तद्विधिः

उसकी विधि इस प्रकार कथित है—प्रधान नैवेद्य पात्रस्थित ईशानकोणस्थित नैवेद्यांश उद्धृत करे, एवं "सर्व्वदेव स्वरूपाय पराय परमात्मने। श्रीकृष्ण सेवायुक्ताय विष्वक्सेनायते नमः।" अर्थात्–श्रीकृष्ण सेवा-निष्ठ, परमेष्ठी एवं सर्व्वदेव स्वरूप, श्रेष्ठ विष्वक्सेन- आपको नमस्कार। यह कहकर, श्रीचरणोदक के द्वारा सिक्त, उसके शतांश अथवा सहस्रांश, श्रीकृष्ण के वामपार्श्व में अर्पण करे। इस प्रकार न करने से समस्त हो विफल होता है। व्रजोपासक वैष्णववृन्द—उक्त मन्त्रस्थ "विष्वक्सेन" शब्द के स्थान में "भद्रसेन" पाठ करते हैं। कारण, वैकुण्ठ पार्षद "विष्वक्सेन" हैं, किन्तु गोलोक में भगवदुच्छिष्ट-भोजी पार्षद—"भद्रसेन" नाम से अभिहित हैं ॥२११-२१३॥

पश्चाच्च बलिरित्यादिश्लोकावुच्चार्य्य वैष्णवः।
सर्व्वेभ्यो वैष्णवेभ्यस्तच्छतांशं विनिवेदयेत् ॥२१४॥

तौ च श्लोकौ—

बलिर्विभीषणो भीष्मः कपिलो नारदोऽर्ज्जुनः।
प्रह्लादश्चाम्बरीषश्च वसुर्वायुसुतः शिवः ॥२१५॥
विष्वक्सेनोद्धवाक्रूराः सनकाद्याः शुकादयः।
श्रीकृष्णस्य प्रसादोऽयं सर्व्वे गृह्णन्तु वैष्णवाः ॥२१६॥
इदं यद्यपि युज्येत दर्पणार्पणतः परम्।
तथापि भक्तवात्सल्यात् कृष्णस्यात्रापि सम्भवेत् ॥२१७॥

अथ बलिदान-माहात्म्यम्

नारसिंहे—

ततस्तदन्नशेषेण पार्षदेभ्यः समन्ततः। पुष्पाक्षतैर्विमिश्रेण बलिं यस्तु प्रयच्छति ॥२१८॥
बलिना वैष्णवेनाथ तृप्ताः सन्तो दिवौकसः।
शान्तिं तस्य प्रयच्छन्ति श्रियमारोग्यमेव च ॥२१९॥

किञ्च पश्चाच्चेति, तस्य नैवेद्यस्य शतांशं शतांशानामेकांशं 'सर्व्वेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमः' इति विधिना निवेदयेत्। अत्र च विष्वक्सेनाय वा बलिप्रभृतिभ्यो वा दद्यातित्येवं विकल्पं केचिदिच्छन्ति, तच्चायुक्तमेव, अवश्यं विष्वक्सेनाय देयत्वात् ॥२१४॥

इदं वैष्णवेभ्यो बलिदानं, दर्पणस्य अर्पणम् अग्रे लेख्यं; भगवते निवेदनं तस्मात् परमनन्तरमेव युज्येत। अकृताचमनस्योच्छिष्टहस्तस्य श्रीभगवतो निविष्टत्वात्, अत्र अस्मिन् समयेऽपि भक्तवात्सल्यात् सम्भवेत्, अन्यथा तदुच्छिष्टस्यात्यन्तपरित्यागेन तस्यैवासन्तोषोत्पत्तेः इति दिक् ॥२१७॥

वैष्णवेन विष्णुसम्बन्धिना, तदुच्छिष्टमहाप्रसादान्नेन दत्तत्वात्; दिवौकसः पार्षदा एव; यद्वाऽन्येऽपि देवाः ॥२१९॥

अनन्तर वैष्णववृन्द, निम्नोक्त श्लोकद्वय का पाठ कर, वैष्णववृन्द को उक्त नैवेद्य के शतांश का एकांश "सर्व्वेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमः" कहकर अर्पण करें ॥२१४॥

उक्त श्लोकद्वय का अनुवाद यह है—बलि, विभीषण, भीष्म, कपिल, नारद, अर्जुन, प्रह्लाद, अम्बरीष, वसु, पवननन्दन, शिव, विष्वक्सेन, उद्धव, अक्रूर, सनकादि एवं शुकादि समस्त वैष्णववृन्द श्रीकृष्ण के यह प्रसाद ग्रहण करें ॥२१५-२१६॥

दर्पण अर्पण के पश्चात् यद्यपि वैष्णववृन्द को बलि प्रदान करना युक्तिसंगत है, तथापि, श्रीकृष्ण की भक्तवात्सल्यता के कारण, यहाँ उसके करने में दोष नहीं है ॥२१७॥

अथ बलिदान माहात्म्यम्

नृसिंहपुराण में लिखित है—जो व्यक्ति, उसके बाद पुष्प अक्षत मिश्रित उक्त अवशिष्ट अन्न के द्वारा पार्षदगण को बलि अर्पण करते हैं, देववृन्द, विष्णु सम्बन्धीय उक्त बलि के द्वारा सन्तुष्ट होकर प्रदानकारी को शान्ति, सम्पत्ति, नीरोगता प्रदान करते हैं ॥२१८-२१९॥

अथ जलगण्डूषाद्यर्पणम्

उपलिप्य ततो भूमिं पुनर्गाण्डूषिकं जलम्।
दद्यात् त्रिरग्रे कृष्णस्य ततोऽस्मै दन्तशोधनम् ॥२२०॥
पुनराचमनं दत्त्वा श्रीपाण्योः श्रीमुखस्य च ।
मार्ज्जनायांशुकं दत्त्वा सर्व्वाण्यङ्गानि मार्ज्जयेत् ॥२२१॥

परिधाप्यापरे वस्त्रे पुनर्दत्त्वासनान्तरम्। पाद्यमाचमनीयञ्च पूर्व्ववत् पुनरर्पयेत् ॥२२२॥
चन्दनागुरुचूर्णादि प्रदद्यात् करमार्ज्जनम्। कर्पूराद्यास्यवासञ्च ताम्बूलं तुलसीमपि ॥२२३॥

अथ मुखवासादि-माहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे तृतीयकाण्डे—

पूगजातीफले दत्त्वा जातीपत्रन्तथैव च। लवङ्गफल-कक्कोलमेलाकटफलन्तथा ॥२२४॥
ताम्बूलीनां किशलयं स्वर्गलोकमवाप्नुयात्। सौभाग्यमतुलं लोके तथा रूपमनुत्तमम् ॥२२५॥

स्कान्दे—

ताम्बूलञ्च सकर्पूरं सपूगं नरनायक।
कृष्णाय यच्छति प्रीत्या तस्य तुष्टो हरिः सदा ॥२२६॥

भूमिमुपलिप्येत, तद्यपि सदाचारानुसारेण श्रीहस्तादि-मार्ज्जनानन्तरमेवोपयुज्यते, तथापि क्रमदीपिकोक्तापेक्षयाऽत्र लिखितम्। गाण्डूषिकं गण्डूषार्थं जलं, कृष्णस्याग्रे पुरतः भगवन्नामाचामेति ब्रुवन् वारत्रयं दद्यात्। तदनन्तरं अस्मै कृष्णाय दन्तशोधनं सूक्ष्म-तृणविशेषाग्रादिकं दद्यात्। आचमनमिति आचमनार्थं वारिधारात्रयं पुनर्दत्त्वेति ज्ञेयम्। करस्य मार्ज्जनं शोधनं गन्धापनयनकरमित्यर्थः। आस्यवासं मुखवासं कर्पूरलवङ्गादि, तुलसीमपि दद्यादिति भोजनानन्तरं विष्णोरर्पितं तुलसीदलमित्यतोऽग्रलेख्यतन्माहात्म्य-प्रतिपादक-पञ्चरात्रवचनात् ॥२२०-२२३॥

अथ जलगण्डूषाद्यर्पणम्

प्रथमतः स्थान मार्जन करके आचमन के निमित्त श्रीकृष्ण के सम्मुख में गण्डूष परिमित जलार्पण तीन बार करे। पश्चात् दशन शोधनार्थ सूक्ष्म तृणाग्र प्रदान करे। पश्चात् हस्त एवं मुख प्रक्षालन के निमित्त पुनर्वार आचमनीय जल प्रदान करे। अनन्तर वस्त्र द्वारा मुख पोंछने के निमित्त वस्त्र प्रदान करे। पश्चात् वस्त्र द्वारा सब अङ्ग पोंछ देवे। उसके बाद, अन्य वस्त्रद्वय धारण कराकर पुनर्वार आचमन के निमित्त जल प्रदान करे। पश्चात् आसन, पाद्य यथाक्रम से प्रदान कर पूर्ववत् पुनर्वार आचमनीय प्रदान करे। पश्चात् कर मार्जन के निमित्त (हाथ की गन्धादि दूर करने के निमित्त) चन्दन, अगुरु चूर्णादि प्रदान करे एवं कर्पूर लवङ्गादि युक्त मुख सौगन्ध्य सम्पादक ताम्बूल एवं तुलसी पत्र प्रदान करना चाहिये ॥२२०-२२३॥

अथ मुख वासादिमाहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तर के तृतीय काण्ड में वर्णित है—गुवाक्, जातीफल, जातीपत्र, लवङ्ग, कक्कोल, इलाइच, कटफल एवं ताम्बूल निवेदन करने से स्वर्गलोक में निवास होता है एवं दाता, अतिशय सौभाग्य सम्पन्न एवं अतीव रूपवान् होता है ॥२२४-२२५॥

स्कन्दपुराण में लिखा है—हे राजन्! जो व्यक्ति, प्रीतिपूर्वक कर्पूर एवं पूग के सहित ताम्बूल अर्पण श्रीकृष्ण को करते हैं, उनके प्रति श्रीहरि सतत सन्तुष्ट रहते हैं ॥२२६॥

अथ पुनर्गन्धार्पणम्

दिव्यं गन्धं पुनर्दत्त्वा यथेष्टमनुलेपनैः । दिव्यैर्विचित्रैः श्रीकृष्णं भक्तिच्छेदेन लेपयेत् ॥२२७॥
रम्याणि चोद्‌र्ध्वपुण्ड्राणि सद्वर्णेन यथास्पदम् । सुगन्धिनानुलेपेन कृष्णस्य रचयेत्तराम् ॥२२८

तथा चागमे ध्यानप्रसङ्गे—

ललाटे हृदये कुक्षौ कण्ठे बाह्वोश्च पार्श्वयोः ।
विराजतोद्‌र्ध्वपुण्ड्रेण सौवर्णेन विभूषितम् ॥२२९॥ इति ।
दिव्यानि कञ्चुकोष्णीषकाञ्च्यादीनि पराण्यपि ।
वस्त्राणि सुविचित्राणि श्रीकृष्णं परिधापयेत् ॥२३०॥

ततो दिव्यकिरीटादिभूषणानि यथारुचि । विचित्रदिव्यमाल्यानि परिधाप्य विभूषयेत् ॥२३१

अथ महाराजोपचारार्पणम्

ततश्च चामरच्छत्रपादुकादीन् परानपि । महाराजोपचारांश्च दत्त्वादर्शं प्रदर्शयेत् ॥२३२॥

यथेष्टं भगवतः स्वस्य वा रुच्यनुसारेण, भक्तिच्छेदः पत्रभङ्ग्यादिनिर्म्माण-प्रकारविशेषस्तेन, पूर्व्वं भूषणानन्तरं गन्धार्पणं लिखितं भोजनात् प्रागनुलेपनस्याल्पत्वापेक्षातः, इदानीञ्च सर्व्वाङ्गलेपनाय बाहुल्यापेक्षया भूषणपरिधानात् प्रथममेव युक्तमिति दिक् । सद्वर्णेनेति—श्रीश्यामसुन्दरोपयुक्त-पीताद्युत्तमवर्णेनेत्यर्थः । यथास्पदमिति—ललाटादिस्थानेष्वित्यर्थः । एतच्चाग्र एव व्यक्तम् । रचयेत्तरां परमोत्कृष्टप्रकारेण विरचयेदित्यर्थः । सर्व्वाङ्गानुलेपनेऽपि शोभाविशेषार्थं हृदयादिस्थाने ऊर्द्ध्वपुण्ड्रविरचनमिति ज्ञेयम् ॥२२७-२२८॥

सौवर्णेन शोभनवर्णवतेत्यर्थः । यद्यप्येतत् पुनर्गन्धाद्यर्पणेन पूजनं गीतवाद्यानन्तरमेव तान्त्रिकाणां सम्मतं, तथा च क्रमदीपिकायाम्—ताम्बूलमर्घ्यमभिसमर्प्य सुवाद्यनृत्यगीतैः सुतृप्तमभिपूजयतात् पुरैव । गन्धादिभिः सपरिवारमिति, तथापि गीतनृत्याद्यर्थं दिव्यानुलेप-वस्त्रालङ्करणादिना महाराजविभूतिभिश्च विशिष्टस्यैव सभायामागमनं लौकिकव्यवहारानुसारेण समुपयुक्तम् । शक्तौ च सत्यां पुनरपि गन्धादिना पूजयेदिति चाग्रे लेख्यमेवेति दिक् ॥२२९-२३०॥

चामरादीन् उपचारान्, परानन्यान् ध्वजपताकादीन्, आदर्शं दर्पणम् ॥२३२॥

अथ पुनर्गन्धार्पणम्

पुनर्वार उत्तम गन्ध अर्पण पूर्वक उत्तम उत्तम अनुलेपन, द्रव्य द्वारा श्रीकृष्ण के सर्वाङ्ग लेपन करे एवं प्रभु की अथवा निज रुचि के अनुसार अनेक प्रकार तिलक रचना करे। एतद्‌व्यतीत उत्कृष्ट वर्णयुक्त सुगन्धमय अनुलेपन द्रव्य द्वारा श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग के यथास्थान में मनोहर ऊर्ध्वपुण्ड्र की रचना करनी चाहिये ॥२२७-२२८॥

आगम में ध्यान प्रसङ्ग में इन सब स्थानों का विषय वर्णित है। ललाट, हृदय, कुक्षि, कण्ठ, बाहुद्वय एवं पार्श्वद्वय में मनोहर वर्णविशिष्ट ऊर्ध्वपुण्ड्र से वे विभूषित हुये हैं ॥२२९॥

अत्युत्तम कञ्चुक, उष्णीष, काञ्चि प्रभृति अलङ्कार एवं विविध मनोज्ञ वसन श्रीकृष्ण को परिधान करावे। तदनन्तर उत्तम किरीटादि भूषण एवं विविध मनोज्ञ माल्या धारण कराकर रुचि के अनुसार श्रीकृष्ण को विभूषित करे ॥२३०-२३१॥

अथ महाराजोपचारार्पणम्

अनन्तर छत्र, चामर, पादुका प्रभृति महाराजोचित सामग्री एवं अन्यान्य ध्वज, पताकादि अर्पण कर दर्पण प्रदर्शन कराना चाहिये ॥२३२॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

यथादेशं यथाकालं राजलिङ्गं सुरालये। दत्त्वा भवति राजैव नात्र कार्य्या विचारणा ॥२३३

तत्र चामरमाहात्म्यम्

तथा चामरदानेन श्रीमान् भवति भूतले। मुच्यते च तथा पापैः स्वर्गलोकञ्च गच्छति ॥२३४

छत्रस्य माहात्म्यम्

तत्रैव—

छत्रं बहुशलाकञ्च झल्लरीवस्त्रसंयुतम्। दिव्यवस्त्रैश्च संयुक्तं हेमदण्ड-समन्वितम् ॥२३५॥
यः प्रयच्छति कृष्णस्य छत्रलक्षयुतैर्वृतः। प्रार्थ्यते सोऽमरैः सर्व्वैः क्रीड़ते पितृभिः सह ॥२३६॥

तत्रैव चान्यत्र—

राजा भवति लोकेऽस्मिन् छत्रं दत्त्वा द्विजोत्तमाः।
नाप्नोति रिपुजं दुःखं संग्रामे रिपुजिद्भवेत् ॥२३७॥

उपानत्सम्प्रदानेन विमानमधिरोहति। यथेष्टं तेन लोकेषु विचरत्यमरप्रभः ॥२३८॥

ध्वजस्य माहात्म्यम्

तत्रैव—

लोकेषु ध्वजभूतः स्याद्दत्त्वा विष्णोर्वरं ध्वजम्। शक्रलोकमवाप्नोति बहूनब्दगणान्नरः ॥२३९

झल्लरीवस्त्रं सूचिकर्म्मादि-विनिर्म्मितविलम्बमानाङ्गविशेषस्तद्युक्तम् ॥२३५॥
पादुकाया माहात्म्यञ्च पूर्व्वं श्रीमुखप्रक्षालनानन्तरं तत्समर्पणे लिखितमेवास्ति ॥२३८॥
ध्वजभूतः सर्व्वश्रेष्ठ इत्यर्थः। गरुड़ध्वजं गरुड़ाकारध्वजं, कृत्रिमगरुड़युक्तं वा ध्वजं, तन्माहात्म्यं तत्र

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—देश एवं कालानुसार देवालय में राजचिह्न अर्पण करने से राजा हो सकता है। इस विषय में कुछ भी विचार न करे ॥२३३॥

तत्र चामर माहात्म्यम्

चामर अर्पण करने से पृथिवी में श्रीमान् होता है। पापों से मुक्त होता है एवं स्वर्ग में निवास होता है ॥२३४॥

छत्रस्य माहात्म्यम्

उक्त ग्रन्थ में वर्णित है—बहु शलाका विशिष्ट, झालर, एवं दिव्य वस्त्र समन्वित, सुवर्णदण्ड छत्र का अर्पण, जो व्यक्ति श्रीकृष्ण को करते हैं, वे लक्ष लक्ष छत्र से परिवेष्टित होकर देववृन्द के प्रार्थनीय होते हैं एवं पितृवर्ग के सहित क्रीड़ा करते हैं ॥२३५-२३६॥

उक्त ग्रन्थ के अन्यत्र भी वर्णित है—हे द्विजश्रेष्ठगण! छत्रार्पण करने से राजा होता है, शत्रुजनित दुःख प्राप्त नहीं करना पड़ता है, एवं छत्रदाता, युद्ध में विपक्ष कुल को जय करने में समर्थ होते हैं ॥२३७॥

पादुका अर्पण करने से विमान में आरोहण करते हैं, एवं देवगण के समान प्रभावशाली होकर इच्छानुसार तत्तल्लोक में विचरण करते हैं ॥२३८॥

ध्वजस्य माहात्म्यम्

उक्त स्थान में लिखा है—जो मनुष्य, श्रीविष्णु को श्रेष्ठ ध्वज अर्पण करते हैं, वे लोक के मध्य में ध्वज सदृश, श्रेष्ठ होते हैं एवं अनेक वत्सर यावत् इन्द्रपुर में निवास करते हैं ॥२३९॥

किञ्च—
युक्तं पीतपताकाभिर्निवेद्य गरुड़ध्वजम् । केशवाय द्विजश्रेष्ठाः सर्व्वलोके महीयते ॥२४०॥ इति।
यत् प्रासादे ध्वजारोपमाहात्म्यं लिखितं पुरा । तदत्राप्यखिलं ज्ञेयं तत्रात्रत्यमिदन्तथा ॥२४१॥

किञ्च भविष्ये—
विष्णोर्ध्वजे तु सौवर्णं दण्डं कुर्य्याद्विचक्षणः । पताका चापि पीता स्याद्गरुड़स्य समीपगा ॥२४२

व्यजनस्य माहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
तालवृन्तप्रदानेन निर्वृतिं प्राप्नुयात् पराम् ॥२४३॥

वितानस्य माहात्म्यम्

तत्रैव—
वितानकप्रदानेन सर्व्वपापैः प्रमुच्यते । परां निर्वृतिमाप्नोति यत्र यत्राभिजायते ॥२४४॥

खड्गादीनां माहात्म्यम्

दत्त्वा निस्त्रिंशकान् मुख्यान् शत्रुभिर्नाभिभूयते । दत्त्वा तद्बन्धनं मुख्यमग्न्याधेयफलं लभेत्॥२४५

किञ्च—
पतद्ग्रहं तथा दत्त्वा शुभदस्त्वभिजायते । पादपीठप्रदानेन स्थानं सर्व्वत्र विन्दति ॥२४६॥
दर्पणस्य प्रदानेन रूपवान् दर्पवान् भवेत् । मार्ज्जयित्वा तथा तच्च सुभगस्त्वभिजायते ॥२४७

ध्वजार्पणेऽपि सर्व्वं ज्ञेयम् । तथा अत्रत्यं ध्वजार्पणसम्बन्धि इदं लिखितञ्च माहात्म्यं तत्र ध्वजारोपणे ज्ञेयं, द्वयोः साम्यादित्यर्थः ॥२३९-२४१॥

मुख्यान् श्रेष्ठान्; तेषां वन्दनं कोषम् ॥२४५॥ तं दर्पणं, मार्ज्जयित्वा निर्म्मलीकृत्य ॥२४७॥

और भी वर्णित है—हे द्विजश्रेष्ठगण ! पीतवर्ण पताकायुक्त गरुड़ाकार ध्वज का अर्पण, श्रीकेशव को करने से सर्व लोक में पूजित होते हैं ॥२४०॥

इसके पहले प्रासाद में ध्वजारोपण का माहात्म्य प्रसङ्ग में जो कुछ लिखा गया है, यहाँ पर भी ध्वज अर्पण करने से तद्रूप समुदाय फल लाभ होता है ॥२४१॥

भविष्यपुराण में वर्णित है— विज्ञव्यक्ति, श्रीविष्णु को प्रदानार्थ सुवर्ण द्वारा ध्वजदण्ड निर्माण करे, पताका भी पीतवर्ण एवं गरुड़ के निकटवर्त्ती होनी चाहिये ॥२४२॥

व्यजनस्य माहात्म्यम्

विष्णुधर्मोत्तर में लिखा है—तालवृन्त प्रदान करने से अतिशय सुख लाभ होता है ॥२४३॥

वितानस्य माहात्म्यम्

उक्त स्थान में वर्णित है—चन्द्रातप प्रदान करने पर सर्व पापों से मुक्त होता है एवं चन्द्रातप दाता का जन्म जहाँ पर होता है वह उस स्थान में परम सुख पाता है ॥२४४॥

खड्गादीनां माहात्म्यम्

जो व्यक्ति, श्रीविष्णु को उत्तम खड्ग अर्पण करते हैं, वे शत्रुकर्त्तृक पराभूत नहीं होते हैं एवं उत्कृष्ट खड्गकोष अर्पण करने से अग्न्याधान का फल लाभ होता है ॥२४५॥

और वर्णित है—पतद्ग्रह (पिकदानी) अर्पण करने से वह मङ्गलकर होता है। पादपीठ अर्पण करने से सर्वत्र विजय लाभ होता है। दर्पण प्रदान करने से रूपवान् एवं दर्पवान् होता है एवं दर्पण मार्जन कर निवेदन करने से सौभाग्यवान् होता है ॥२४६-२४७॥

यत् किञ्चिद्देवदेवाय दद्याद्भक्तिसमन्वितः । तदेवाक्षयमाप्नोति स्वर्गलोकं स गच्छति ॥२४८॥

किञ्च वामनपुराणे श्रीबलिं प्रति श्रीप्रह्लादोक्तौ—

श्रद्दधानैर्भक्तिपरैर्य्यान्युद्दिश्य जनार्द्दनम् । बलिदानानि दीयन्ते अक्षयाणि विदुर्बुधाः ॥२४९॥

अत्रापि केचिदिच्छन्ति दत्त्वा पुष्पाञ्जलित्रयम् ।

पूर्व्वोक्ता दश शङ्खाद्या मुद्राः संदर्शयेदिति ॥२५०॥

अथ गीत-वाद्यनृत्यानि

ततो विचित्रैर्ललितैः कारितैर्वा स्वयं कृतैः ।

गीतैर्वाद्यैश्च नृत्यैश्च श्रीकृष्णं परितोषयेत् ॥२५१॥

अथ तत्र निषिद्धम्

नृत्यादि कुर्व्वतो भक्तान्नोपविष्टोऽवलोकयेत् । न च तिर्य्यग्व्रजेत्तत्र तैः सहान्तरयन् प्रभुम् ॥२५२

तथा चोक्तम्—

नृत्यन्तं वैष्णवं हर्षादासीनो यस्तु पश्यति । खञ्जो भवति राजेन्द्र सोऽयं जन्मनि जन्मनि ॥२५३

एवं विविधं सकामस्यावान्तरफलं लिखित्वा मुख्यफलं लिखति—श्रद्दधानैरिति । दानानि देयानि अक्षयाणि अक्षय्यफलानि श्रीवैकुण्ठलोकप्रापकाणीत्यर्थः ॥२४९॥

अत्र अस्मिन् समयेऽपि ॥२५०॥

ललितैर्मनोहरैः कारितैर्नर्त्तक्यादिद्वारा, स्वयमेव कृतैर्वा ॥२५१॥

उपविष्टः सन्नावलोकयेत्, तत्र नृत्यादौ तेषां भगवतश्च मध्ये तिर्य्यग्व्रजनेनाच्छादनात्तैः सह प्रभुं भगवन्तं अन्तरयन् विच्छेदयन् न तिर्य्यग्व्रजेच्चेत्यर्थः ॥२५२॥

हर्षात् प्रेमानन्देन नृत्यन्तं, खञ्जः शतं काणे च खञ्जे चेति न्यायेनासंख्यदोषदुष्टो भवतीत्यर्थः ॥२५३॥

भक्तिपूर्वक श्रीविष्णु को जो कोई वस्तु अर्पण की जाय, वह अक्षय होती है एवं द्रव्यदाता का निवास स्वर्गलोक में होता है ॥२४८॥

वामनपुराण में श्रीबलि के प्रति प्रह्लाद के वाक्य यह हैं—श्रद्धालु होकर भक्तिपूर्वक श्रीजनार्दन के उद्देश्य से जो सब बलिदान अर्पित होते हैं, पण्डितगण, उस सबको अक्षय शब्द से निरूपण करते हैं ॥२४९

कोई कोई बुद्धिमान् व्यक्ति इस प्रकार अभिप्राय व्यक्त करते हैं—इस समय भी प्रथम तीन बार पुष्पाञ्जलि प्रदान करके पुनः पूर्व कथित शङ्खादि दश मुद्रा का प्रदर्शन करे ॥२५०॥

अथ गीत-वाद्यनृत्यानि

तत्पश्चात् स्वयंकृत अथवा अन्य के द्वारा अनुष्ठित मनोरम गीत, वाद्य एवं नृत्य द्वारा श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करे ॥२५१॥

अथ तत्र निषिद्धम्

जिस समय, भक्तगण नृत्य-गीतादि करते हैं, उस समय कोई व्यक्ति उपवेशन कर नृत्यादि अवलोकन न करें, एवं नृत्यादिरत भक्तवृन्द एवं प्रभु को अन्तराल कर उसके मध्य में वक्रभाव से गमन न करें ॥२५२

उक्त विषय में कथित है—हे राजेन्द्र ! प्रेमानन्द से विभोर होकर नृत्यरत वैष्णव को जो व्यक्ति उपविष्ट होकर दर्शन करते हैं, वे जन्म जन्म में खञ्ज (लूले लँगड़े) होते हैं ॥२५३॥

किञ्च—

नृत्यतां गायतां मध्ये भक्तानां केशवस्य च।
तानृते यस्तितरो याति तिर्य्यग्योनिं स गच्छति ॥२५४॥

अथ गीतादि-माहात्म्यम्

आदौ सामान्यतः नारसिंहे—

गीतवाद्यादिकं नाट्यं शङ्खतुर्य्यादिनिस्वनम्। यः कारयति विष्णोस्तु सन्ध्यायां मन्दिरे नरः।
सर्व्वकाले विशेषेण कामगः कामरूपवान् ॥२५५॥
सुसङ्गीत-विदग्धैश्च सेव्यमानोऽप्सरोगणैः। महार्हेण विमानेन विचित्रेण विराजता।
स्वर्गात् स्वर्गमनुप्राप्य विष्णुलोके महीयते ॥२५६॥

स्कान्दे विष्णुनारद-संवादे—

गीतं वाद्यञ्च नृत्यञ्च नाट्यं विष्णुकथां मुने।
यः करोति स पुण्यात्मा त्रैलोक्योपरि संस्थितः ॥२५७॥

बृहन्नारदीये श्रीयमभगीरथ-संवादे—

देवतायतने यस्तु भक्तियुक्तः प्रनृत्यति। गीतानि गायत्यथवा तत्फलं शृणु भूपते ॥२५८॥

तान् नृत्यद्गायद्भक्तान् ऋते विना तेषां नृत्यादिपरतया तद्दोषानापत्तेः ॥२५४॥

कारयतीति स्वार्थे इण्, अन्येनापि कारयतीति वा ॥२५५॥

स्वर्गात् स्वर्गमिति विलस्वर्गात् भौमस्वर्गं, भौमस्वर्गात् दिव्यस्वर्गं, ततो महर्लोकादिकं व्रजन् क्रमेण तत्र तत्र स्वेच्छया सुखभोगान् भुक्त्वेत्यर्थः ॥२५६॥

नाट्यमभिनयादि; यद्वा, देशीयमार्गभेदेन नाट्यनृत्ययोर्भेदः। एवमग्रेऽपि, त्रैलोक्यं ब्रह्मलोकपर्य्यन्तं, तदुपरि वैकुण्ठलोके सम्यक् स्थितो भवति ॥२५७॥

और भी लिखा है—भक्तगण व्यतीत, अन्य जो कोई व्यक्ति, श्रीहरि एवं तदीय भक्तवृन्द के मध्यदेश को आवृत करते हैं, वे तिर्यग्योनि प्राप्त करते हैं। २५४॥

अथ गीतादि-माहात्म्यम्

सामान्यरूप से नृसिंहपुराण में उक्त है—जो मनुष्य सर्वदा, विशेषतः सन्ध्या काल में विष्णु-मन्दिर में गीत, वाद्यादि, नाट्य एवं शङ्ख, तूर्य्य प्रभृति को बजाता है, अथवा दूसरे से बजवाता है, वह यथेच्छगामी एवं स्वेच्छारूपी होता है। एवं सुसङ्गीत निपुण अप्सरोगण कर्त्तृक सेवित महामूल्य विचित्र विमान में आरोहण पूर्वक स्वर्ग से स्वर्गान्तर में गमन करते करते अवशेष में विष्णुलोक में जाकर ससम्मान से वास करता है ॥२५५-२५६॥

स्कन्दपुराण के विष्णु-नारद संवाद में उक्त है— हे मुने ! जो पुण्यात्मा, विष्णु-कथा अवलम्बनपूर्वक गीत, वाद्य, नृत्य एवं नाट्य करते हैं, वे त्रैलोक्य उपरिस्थित वैकुण्ठधाम मे जाकर विराजित होते हैं।२५७

बृहन्नारदीय पुराण में यम-भगीरथ-संवाद में उक्त है—हे राजन् ! जो मनुष्य, भक्ति पूर्वक देवालय में नृत्य किवा गान करते हैं, उसका फल श्रवण करें। वे मनुष्य, सङ्गीत द्वारा गन्धर्वाधिपतित्व लाभ करते हैं, नृत्य द्वारा, रुद्रगणों के अधिपतित्व लाभ करते हैं, अनन्तर अष्ट कुलों के सहित संसार से मुक्त होते हैं। ॥२५८-२५९॥

गन्धर्व्वराजतां गानैर्नृत्याद्रुद्रगणेशताम् ।
प्राप्नोत्यष्टकुलैर्युक्तस्ततः स्यान्मोक्षभाङ्नरः ॥२५९॥

लिङ्गे श्रीमार्कण्डेयाम्बरीष-संवादे—

विष्णुक्षेत्रे तु यो विद्वान् कारयेद्भक्तिसंयुतः ।
गान-नृत्यादिकञ्चैव विष्णवाख्याञ्च कथान्तथा ॥२६०॥
जातिं स्मृतिञ्च मेधाञ्च तथैव परमां स्थितिम् ।
प्राप्नोति विष्णुसालोक्यं सत्यमेतन्नराधिप ॥२६१॥

अन्यत्र च श्रीभगवदुक्तौ—

विसृज्य लज्जां योऽधीते गायते नृत्यतेऽपि च ।
कुलकोटि-समायुक्तो लभते मामकं पदम् ॥२६२॥

अतएवोक्तम्—

भारते नृत्यगीते तु कुर्य्यात् स्वाभाविकेऽपि वा ।
स्वाभाविकेन भगवान् प्रीणातीत्याह शौनकः ॥२६३॥

अतएव नारदीये—

विष्णोर्गीतञ्च नृत्यञ्च नटनञ्च विशेषतः ।
ब्रह्मन् ब्राह्मणजातीनां कर्त्तव्यं नित्यकर्म्मवत् ॥२६४॥

मोक्षः संसारदुःखान्मुक्तिः; मोक्षयतीति श्रीभगवान् वा, तं भजति प्राप्नोतीति तथा सः ॥२५९॥

विष्णवाख्यां वैष्णवीमित्यर्थः; यद्वा, विष्णुना सह तत्कथाया अभेदाभिप्रायेण विष्णवाख्यामित्युक्तम्; यद्वा, विष्णोराख्या नाममात्रमपि यस्यां तामपि; परमामित्यस्य सर्व्वैरेवान्वयः; परमां जातिं जन्मान्तरे इहैव वा साधूनां पूज्यत्वेन, स्थितिं निष्ठां भगवद्भजनादौ ॥२६०-२६२॥

भारते भरतमुनिप्रणीते निजस्वभावसिद्धेऽपि वा, सन्धिरार्षः । स्वाभाविकेनापि नृत्यगीतेन ॥२६३॥

विष्णोः विष्णवर्थमित्यर्थः नटनमभिनयनम्; यद्वा, नाटयति नर्त्तयतीत नटनं नाट्यम् ॥२६४॥

लिङ्ग पुराण के श्रीमार्कण्डेय-अम्बरीष-संवाद में लिखित है—हे नृपते ! जो बुधव्यक्ति, भक्तियुक्त होकर विष्णु क्षेत्र में विष्णु-कथा विषयक नृत्य-गीतादि का अनुष्ठान करवाते हैं, वे उत्तम जाति, स्मृति, मेधा, स्थिति, (भगवद्गुण में निष्ठा) को प्राप्त करते हैं, एवं श्रीविष्णु के सहित सालोक्य प्राप्त होते हैं। यह सत्य है ॥२६०-२६१॥

अन्यत्र भी श्रीभगवान् की उक्ति यह है—जो व्यक्ति, लज्जा परित्यागपूर्वक मत्सन्निधान में-अध्ययन, गान किंवा नृत्य करते हैं, वे कोटि कुल के सहित मेरे धाम में निवास करते हैं ॥२६२॥

अतएव कथित है—भरतमुनि प्रणीत, अथवा निजउद्भावित स्वाभाविक नृत्य-गीतादि करे, स्वाभाविक नृत्य गीत से भगवान् प्रसन्न होते हैं। शौनक मुनि, इस प्रकार कह गये हैं ॥२६३॥

तज्जन्य नारदपुराण में कथित है—हे ब्राह्मण ! श्रीविष्णु के उद्देश्य से नृत्य, गीत एवं अभिनयादि ब्राह्मणों को नित्य क्रिया के समान अवश्य करणीय है ॥२६४॥

किन्तु स्मृतौ—
गीतनृत्यानि कुर्व्वीत द्विजदेवादितुष्टये । न जीवनाय युञ्जीत विप्रः पापभिया क्वचित् ॥२६५॥
इति ।
एवं कृष्णप्रीणनत्वाद्गीतादेर्नित्यता परा । संसिद्धैरविशेषेण ज्ञेया सा हरिवासरे ॥२६६॥
तथा चोक्तम्—
केशवाग्रे नृत्यगीतं न करोति हरेर्दिने । वह्निना किं न दग्धोऽसौ गतः किं न रसातलम् ॥२६७

अथ विशेषतो गीतस्य माहात्म्यम्

द्वारका-माहात्म्ये श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न संवादे—
कृष्णं सन्तोषयेद्यस्तु सुगीतैर्मधुरस्वनैः । सर्व्ववेदफलं तस्य जायते नात्र संशयः ॥२६८॥
स्कान्दे श्रीमहादेवोक्तौ—
श्रुतिकोटिसमं जप्यं जपकोटिसमं हविः । हविःकोटिसमं गेयं गेयं गेयसमं विदुः ॥२६९॥
काशीखण्डे विष्णुदूतशिवशर्म्म-संवादे—
यदि गीतं क्वचिद्गीतं श्रीमद्धरिहराङ्कितम् ।
मोक्षन्तु तत् फलं प्राहुः सान्निध्यमथवा तयोः ॥२७०॥

क्वचित् कदाचिदपि जीवनाय निजवृत्त्यर्थं न युञ्जीत, न कुर्य्यात्; तत्र हेतुः— पापाद्भिया, तथा सति स्यादित्यर्थः । अधुना गीतनृत्यादि-नित्यत्वं लिखति— एवमिति । परा परमा महोत्सवदिनेषु चात्यन्तनित्यमेव तदिति लिखति— अविशेषेणेति ॥२६५-२६६॥ हरेर्दिने एकादश्यादावपि ॥२६७॥

'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (श्रीगी १०।२२) इति भगवद्विभूतित्वेन तस्य श्रैष्ठ्यात् सुस्वरगानमयत्वेन भगवत्तोषणाद्वा, तस्य पाठादिना सर्व्वतोऽधिकं फलं तज्जायते ॥२६८॥

हविः नैवेद्यं, गेयसमं निरुपममित्यर्थः ॥२६९॥

मोक्षस्य तुच्छत्वेन पक्षान्तरमाह— सान्निध्यमिति । तयोः श्रीहरिहरयोः ॥२७०॥

किन्तु स्मृति में उक्त है—द्विज देवतादि के सन्तोषार्थ, विप्र नृत्य गीतानुष्ठान करें, किन्तु जीविकार्थ कभी भी न करें, जीविका के निमित्त गीतादि करने से पाप में निमग्न होना पड़ता है ॥२६५॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण का सन्तोष जनक होने के कारण, सिद्ध पुरुषगण, गीतादि की नित्यता, विशेषतः श्रीहरिवासर में अधिक नित्यता का वर्णन किये हैं ॥२६६॥

अतएव उक्त है—जो मानव, हरिदिन में अर्थात् एकादशी प्रभृति तिथि में, श्रीकेशव के सम्मुख में नृत्य गीत नहीं करते हैं, उनको क्या अग्नि से दग्ध होना नहीं पड़ता है ? अथवा उनको क्या पाताल में जाना नहीं पड़ेगा ? ॥२६७॥

अथ विशेषतो गीतस्य माहात्म्यम्

द्वारका माहात्म्य के मार्कण्डेय-इन्द्रद्युम्न-संवाद में लिखा है—जो व्यक्ति, सुमधुर स्वर से सुन्दर गान द्वारा श्रीकृष्ण का प्रीति विधान करते हैं, वे निश्चय ही निखिल वेदाध्ययन का फल लाभ करते हैं ॥२६८॥

स्कन्दपुराण के श्रीमहादेव के वाक्य में उक्त है-जप द्वारा कोटि श्रुति का फल लाभ होता है, नैवेद्यार्पण में कोटि जप का फल सिद्ध होता है । गीत, कोटि नैवेद्य के तुल्य है, एवं गीत,-गीत के सदृश्य है, अर्थात् अनुलनीय कहकर निर्दिष्ट है ॥२६९॥

काशी खण्ड में विष्णुदूत शिवशर्मा-संवाद में लिखित है—यदि किसी स्थान में श्रीहरिहर विषयक गीत अनुष्ठित होता है, तो उसका फल मोक्ष अथवा हरिहर के समीप में अवस्थित होना निर्दिष्ट है ॥२७०॥

विष्णुधर्म्मे श्रीभगवदुक्तौ—

रागेणाकृष्यते चेतो गान्धर्व्वाभिमुखं यदि । मयि बुद्धिं समास्थाय गायेथा मम सत्कथाः ।।२७१

हरिभक्तिसुधोदये—

यो गायतीशमनिशं भुवि भक्त उच्चैः, स द्राक् समस्तजनपापभिदेऽलमेकः ।
दीपेष्वसत्स्वपि ननु प्रतिगेहमन्त,-र्ध्वान्तं किमत्र विलसत्यमले द्युनाथे ।।२७२।।

यदानन्दकलं गायन् भक्तः पुण्याश्रु वर्षति । तत् सर्व्वतीर्थ-सलिलस्नानं स्वमलशोधनम् ।।२७३

वाराहे—

ब्राह्मणो वासुदेवार्थं गायमानोऽनिशं परम् । सम्यक् तालप्रयोगेण सन्निपातेन वा पुनः ।।२७४
नव वर्षसहस्राणि नव वर्षशतानि च । कुवेरभवनं गत्वा मोदते वै यदृच्छया ।।२७५।।
कुवेर-भवनाद्भ्रष्टः स्वच्छन्दगमनालयः । फलमाप्नोति सुश्रोणि मम कर्म्मपरायणः ।।२७६।।

रागेण मल्लाररागादिना; यद्वा विषयप्रीत्या यद्याकृष्यते, ततश्च गान्धर्व्वाभिमुखं गीतोत्सुक यदि स्यात्; यद्वा, गान्धर्व्वाभिमुखं यदा स्यात्तदा मयि बुद्धिं समास्थाय मनो निवेश्य; यद्वा, इमाः कृष्णस्य गाथा इत्येतावन्मात्रं मनसि कृत्वा, सतीः उत्तमा रास-क्रीड़ाद्याश्रयाः कथाः; यद्वा, मम ये सन्तः, तेषां कथा गायेथाः, तेनैवाखिलान्यरागोऽपयास्यतीति भावः ; यद्वा, परमभाग्योदितेन तेनैव सर्व्वं सेत्स्यतीति ।।२७१।।

द्राक् सद्य एव समस्तजनानां सर्व्वजीवानां पापस्य भिदे नाशनाय एक एव अलं समर्थः, तदेवार्थान्तरोपन्यासेन द्रढ़यति—दीपेष्विति ।।२७२।।

आनन्देन कलो मधुरास्फुटध्वनिर्यथा स्यात्तथा गायन् सन् यत् पुण्यरूपं अश्रु प्रेमाश्रु वर्षति; स्वान.मपि मलशोधनम् ।।२७३ ।

सन्निपातेन विविधरागादि-समुच्चयेन । ननु कथं तस्य ततोऽपि भ्रंशः सम्भवेत् ? सत्यं, स्वेच्छयैव परित्यज्यान्यत्र गच्छतीत्याह— स्वच्छन्देन गमनमालयश्च निवासस्थानं यस्य सः । ननु तर्हि का गतिस्तस्य स्यात् ? तत्राह– मम कर्म्मपरायणः मद्भक्तिपरः सन् ; फलं तदनुरूपम्; यद्वा, परमफलत्वेन विख्यातं श्रीवैकुण्ठम् ; यद्वा, मत्सेवापरत्वं फलं प्राप्नोति ।।२७४-२७६।।

विष्णुधर्मोत्तर में श्रीभगवान् का कथन यह है—यदि तुम्हारा चित्त, मल्लारादि राग में समाकृष्ट होकर सङ्गीत करने के निमित्त उत्कण्ठित हो, तो मुझमें चित्त स्थापन कर सत्कथा अर्थात् रासक्रीड़ादि विषयक कथा, अथवा समयानुरूप साधुवृन्द की कथा को अवलम्बन पूर्वक गान करो ।।२७१।।

हरिभक्ति सुधोदय में लिखित है—जो भक्त, पृथिवी में उच्चैःस्वर से सतत श्रीहरि विषयक गान करते हैं, वे एक ही सद्य सकल लोकों का पाप विनष्ट करने में निश्चय ही समर्थ हैं, दीपालोक का अभाव होने से भी यदि गगन में निर्मल भास्कर का उदय होता है, तो गृहाभ्यन्तर में क्या अन्धकार विद्यमान होता है ? ।।२७२।।

भक्त व्यक्ति, पुलकायित होकर गद्‌गद् स्वर से गान करते करते जिस प्रेमाश्रुधारा का वर्षण करते हैं, वह निज निखिल पापापहारक एवं निखिल तीर्थोदक में स्नानतुल्य होता है ।।२७३।।

वराहपुराण में कथित है—हे सुन्दरि ! यदि ब्राह्मण, सम्यक् ताल प्रयोग एवं अनेक प्रकार के रागादि के द्वारा जनार्दन के उद्देश में निरन्तर गान करें, तो वे कुवेर भवन में जाकर नवसहस्र एवं नवशत वर्ष पर्य्यन्त स्वेच्छा से विचरण करते हैं। पुनर्वार निज इच्छानुसार उस स्थान को छोड़कर यत्र तत्र गमन करते हैं, एवं वास करते हैं । एवं मत्प्रति भक्तिमान् होने से जो फल होता है, उस फल को प्राप्त करते हैं। ।।२७४-२७६।।

नारायणानां विधिना गानं श्रेष्ठतमं स्मृतम्। गानेनाराधितो विष्णुः स्वकीर्त्तिज्ञानवर्च्चसा।
दक्षति तुष्टः स्थानं स्वं यथास्मै कौशिकाय वै ॥२७७॥

किञ्च—

एष वो मुनिशार्द्दूलाः प्रोक्तो गीतक्रमो मुनेः।
ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं परम् ॥२७८॥
हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्रगानाधिको भवेत्। कर्म्मणा मनसा वाचा वासुदेवपरायणः।
गायन्नृत्यंस्तमाप्नोति तस्माद्गेयं परं विदुः ॥२७९॥

प्रथमस्कन्धे श्रीनारदोक्तौ (६।३४)—

प्रगायतः स्ववीर्य्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥२८०॥

नारायणानां नारायणाराधनकर्मणाम्; यद्वा, नारं जीवसमूहः, तदाश्रयभूतानां कर्म्मणां मध्य इत्यर्थः। गानस्य वर्च्चः प्रभावो यस्मात्तेन; यद्वा, स्वस्य कीर्त्ति-ज्ञान-वर्च्चोभिः सहितं द्वन्द्वैक्यम्। कौशिकायेत्यत्र तत्रैवाख्यायिकेयम्—'कौशिकनामा विप्रो भगवद्गीतप्रभावेण सशिष्यः ससेवको गीतश्रोतृभिः सहितो वैकुण्ठलोकं गतो भगवता बहुसम्मानितः' इति ॥२७७॥

एष इत्यादिः सूतोक्तिः; मुनेः श्रीनारदस्य गीतशिक्षाक्रमः; तदाख्यायिका च तत्रैव प्रसिद्धा; यथा—द्वारकायां श्रीरुक्मिणीसत्यभामादेर्दासीभ्योऽसौ यत्नाद्गानविद्यामशिक्षत' इति ॥२७८॥

रुद्रादपि गानेन अधिको विशिष्टो भवेदिति ॥२७९॥

स्वस्य भगवतो वीर्य्याणि अद्भुतचरितानि पूतनामोक्षादीनि, तीर्थं गङ्गादि, पादात् चरणाब्जशौचोदकात् यस्य सः श्रीकृष्णः; किञ्च प्रियं श्रवः कीर्त्तिर्यस्य सः, अत आहूत इव, आदरेण निमन्त्रित इव; यद्वा, बलादाकृष्यानीत इव। एवं पूर्व्वं चित्तादन्तर्हितो ध्यानादिप्रयत्नेन यो मया पुनर्हृदि द्रष्टुं न शक्तः, सोऽयं गानात् स्वयमेव सद्यः साक्षादिव चित्ते दृश्यत इति ध्यानादपि तद्वीर्य्यगानस्य माहात्म्यं सूचितम् ॥२८०॥

नारायण आराधना के कर्मसमूह के मध्य में किंवा, जीवसमूह के अनुष्ठेय कर्मसमूह के मध्य में, विधाता ने गान को ही श्रेष्ठतम रूप में निर्देश किया है। जो व्यक्ति, गान के द्वारा श्रीविष्णु की आराधना करते हैं, उनके यशः, गान एवं प्रभाव वर्द्धनशील होते हैं, एवं भगवान् सन्तुष्ट होकर उनको कौशिक विप्र के समान निज स्थान दान करते हैं ॥२७७॥

और भी कथित है—हे मुनिश्रेष्ठगण! देवर्षि नारद की गीत शिक्षा का क्रम का वर्णन किया हूँ। ब्राह्मण, सर्वदा वासुदेव विषयक गान करने से सालोक्य मुक्ति लाभ करते हैं, एवं गीत विषय में रुद्रदेव की अपेक्षा भी अधिक दक्ष हो सकते हैं। काय-वाक्य-मन के द्वारा भगवत् परायण होकर गीत नृत्य करने से श्रीविष्णु को प्राप्त कर सकते हैं, तज्जन्य सङ्गीत ही 'प्रधान' कहकर वर्णित हुआ है ॥२७८-२७९॥

प्रथम स्कन्द में श्रीनारदोक्ति यह है—जिनके पादपद्म से गङ्गादि तीर्थसमूह की उत्पत्ति हुई है, एवं जिनकी कीर्त्ति अतीव प्रिय है, उन श्रीकृष्ण, उनकी लीलागान के समय स्वयं आहूत के समान सत्वर मेरे हृदय में दर्शन देते हैं। ध्यानादि द्वारा जिनका साक्षात्कार दुरूह है, गान द्वारा अनायास वह दर्शन सम्पन्न होता है। तज्जन्य भगवन् माहात्म्य गान की महिमा ध्यानापेक्षा अधिक है ॥२८०॥

द्वादशस्कन्धे श्रीसूतोक्तौ (१२।४९-५०)—

मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा, न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदुहैव मङ्गलं, तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥२८१॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं, तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां, यदुत्तमःश्लोक-यशोऽनुगीयते ॥२८२॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

दत्त्वा च गीतं धर्म्मज्ञा गन्धर्व्वैः सह मोदते । स्वयं गीतेन संपूज्य तस्यैवानुचरो भवेत् ॥२८३॥

पाद्मे श्रीकृष्ण-सत्यभामासंवादीय-कार्त्तिकमाहात्म्ये श्रीपृथुनारद-संवादे श्रीभगवदुक्तौ—

नाहं वसामि वैकुण्ठे न योगिहृदये रवौ । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥२८४
तेषां पूजादिकं गन्ध पाद्याद्यैः क्रियते नरैः । तेन प्रीतिं परां यामि न तथा मत्पूजनात् ॥२८५

अतएवोक्तम्—

कर्म्मण्यौपयिकत्वेन ब्राह्मणोऽन्य इति स्मृतः । कारिकायामतः प्रोक्तं विप्रो गीतै रमेदिति ॥२८६

असतीः असत्यः दुष्टा इत्यर्थः; यतः असतामेव कथारताः । यत् यासु, किं तर्हि सत्यमुत्तमादिकञ्च? तदाह—उत्तमश्लोकस्य श्रीकृष्णस्य यशोऽनुगीयत इति यत् तदेव सत्यम् । उह हर्षे प्रसिद्धौ वा, भगवद्गुणानामैश्वर्य्यादीनामुदयः गायके श्रोतृप्रभृतिषु च प्रकाशे यस्मात् तत्, रम्यं जगत्सन्तोषदं, रुचिरं श्रवणरुचिकरं यतो नवं नवं प्रतिक्षण-नूतनमित्यर्थः; महानुत्सवो यस्मात् तत् ॥२८१-२८२॥

तेषां मद्भक्तानाम्, आदि-शब्दादनुगमनादि आद्यशब्दात् पुष्पान्तस्तवनादीनि ॥२८५॥

कर्म्मणि भगवदाराधन-लक्षणे, औपयिकत्वेन तदयोग्यत्वात्, अन्यः दास इति स्मृतः शास्त्रैः स्मृतिकृद्भिर्वा। कारिकायामुपनिषद्भागविशेषे श्लोकनिबद्ध-श्रुत्यादिव्याख्याग्रन्थे वा ॥२८६॥

द्वादशस्कन्ध में भी श्रीसूतोक्ति यह है—श्रीहरि-कीर्त्तन ही महाफलद है । तद्व्यतीत सकल वाणी, वृथा प्रलापमात्र हैं, विस्तार पूर्वक कहते हैं—जिस कथा में भगवान् अधोक्षज का प्रसङ्ग नहीं है, वह वाणी असती-दुष्टा है एवं मिथ्याभूता है, किन्तु जिसमें भगवद् गुण प्रसङ्ग विराजित है, वह ही सत्य है, वह ही मङ्गलकर है एवं पुण्यजनक रूप में प्रसिद्ध है, जिसमें श्रीहरि की यशोगाथा, विस्तृत रूप से वर्णित है, वह ही रमणीय है, वह ही सुन्दर है, वह ही क्षण क्षण में नूतन है, वह ही सतत चित्त का महोत्सव स्वरूप है एवं वह ही मनुष्यवृन्द का शोकसागर शोषक है ॥२८१-२८२॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—हे धार्मिकगण ! जो मनुष्य, परकृत गीत के द्वारा भगवदुपासना करते हैं, वे गन्धर्वगण के सहित क्रीड़ा करते हैं और जो स्वयं गान करके श्रीविष्णु की उपासना करते हैं, वे श्रीविष्णु के अनुचर बनते हैं ॥२८३॥

पद्मपुराण में श्रीकृष्ण-सत्यभामा-संवाद सम्बन्धीय कार्त्तिक माहात्म्य में श्रीपृथु-नारद-संवाद में श्रीभगवान् की उक्ति में प्रकाशित है—हे नारद ! मैं वैकुण्ठधाम में अथवा योगिगण के हृदय में, किंवा सूर्य्यमण्डल में निवास नहीं करता हूँ, जहाँ मेरे भक्तवृन्द गान करते हैं, मैं वहाँ पर ही रहता हूँ । मनुष्यगण गन्धपाद्यादि द्वारा उक्त भक्तवृन्द की पूजा करने से मैं जिस प्रकार सन्तुष्ट होता हूँ, मेरी आराधना से मैं उस प्रकार सन्तुष्ट नहीं होता हूँ ॥२८४-२८५॥

अतएव कथित है—आराधना कार्य्य में ब्राह्मण योग्य होने के कारण, शास्त्रकार उनको विष्णुदास कहते हैं, एतद्भिन्न-उपनिषद् के अंशविशेष किंवा छन्दोबद्ध श्रुति प्रभृति शास्त्र में कथित है—ब्राह्मणगण, भगवद् विषयक सङ्गीत से सुतृप्त होते हैं ॥२८६॥

अथ नृत्यस्य माहात्म्यम्

द्वारकामाहात्म्ये तत्रैव—

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहु सुभक्तितः । स निर्दहति पापानि जन्मान्तरशतेष्वपि ॥२८७॥

हरिभक्तिसुधोदये —

बहुधोत्सार्य्यते हर्षाद्विष्णुभक्तस्य नृत्यतः ।
पद्भ्यां भूमेर्दिशोऽक्षिभ्यां दोर्भ्यां वाऽमङ्गलं दिवः ॥२८८॥

वाराहे—

यश्च नृत्यति सुश्रोणि पुराणोक्तं समासतः । त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रिंशद्वर्षशतानि च ।
पुष्करद्वीपमासाद्य मोदते वै यदृच्छया ॥२८९॥

पुष्कराच्च परिभ्रष्टः स्वच्छन्दगमनालयः । फलमाप्नोति सुश्रोणि मम कर्म्मपरायणः ॥२९०॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

नृत्यं दत्त्वा तथाप्नोति रुद्रलोकमसंशयम् । स्वयं नृत्येन संपूज्य तस्यैवानुचरो भवेत् ॥२९१॥

अन्यत्र श्रीनारदोक्तौ—

नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिकावादनैर्भृशम् । उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्व्वे पातकपक्षिणः ॥२९२॥

भावैः शृङ्गारादिरसैः, विविधचेष्टाभिर्वा; बहु यथा स्यात् तथा, जन्मान्तरशतेषु कृतानि करिष्यमाणान्यपि पापानि ॥२८७॥

नृत्यतो विष्णुभक्तस्य पादादिभिः क्रमाद्भूम्यादेरमङ्गलम् उत्सार्य्यते विनश्येत इत्यर्थः ॥२८८॥

पुराणोक्तं भरतादि-पुरातनमुन्युक्तं यथा स्यात् तच्छास्त्रानुसारेणेत्यर्थः। समासतः संक्षेपेणापि यो नृत्यति; यद्वा, समासतः पुराणोक्तं तस्य फलमिदमिति शेषः। तदेवाह— त्रिंशदित्यादिना । अन्यल्लिखितार्थमेव ॥२८९

शरीरस्थाः स्वस्य सर्व्वेषामपि वा ॥२९२॥

अथ नृत्यस्य माहात्म्यम्

द्वारका माहात्म्य के उक्त स्थान में उक्त है—जो व्यक्ति, प्रफुल्लित चित्त से अतिशय भक्तिपूर्वक बहु नृत्य करते हैं, उनके शत जन्म के पाप विनष्ट होते हैं ॥२८७॥

हरिभक्ति सुधोदय में लिखित है—हर्षवशतः नृत्यरत विष्णुपरायण व्यक्ति के पद द्वारा पृथिवी का, नयन द्वारा, दिङ्मण्डल का एवं बाहु द्वारा, स्वर्ग का अमङ्गल विनष्ट विशेष रूप से होता है ॥२८८॥

वराहपुराण में कथित है—हे सुश्रोणि ! जो व्यक्ति, भरतादि मुनि कथित शास्त्रानुसार स्वल्प परिमाण में नृत्य करते हैं, वे पुष्कर द्वीप में जाकर त्रिंशत् सहस्र एवं त्रिंशत वर्ष पर्यन्त यथेच्छ विहार करते हैं, तत्पश्चात् उस स्थान से परिभ्रष्ट होकर इच्छानुसार यथा तथा गमनपूर्वक वास करते हैं एवं मेरे प्रति भक्तिनिष्ठ होने से जो फल होता है, उसको प्राप्त करते हैं ॥२८९-२९०॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—अपर के द्वारा अनुष्ठित नृत्य द्वारा प्रभु की आराधना करने से निःसंदेह रुद्रलोक लाभ होता है। स्वयं नृत्य करके प्रभु की आराधना करने पर उनका अनुचर हो सकते हैं ॥२९१॥

अन्यत्र भी श्रीनारदोक्ति में प्रकाश है—जो मानव, कमलापति के सम्मुख में करतालि वादन पूर्वक पुनः पुनः नृत्य करते हैं, उनके शरीरस्थ पातक समूह पक्षिवत् उड्डीन होकर पलायन करते हैं ॥२९२॥

अथ वाद्यस्य माहात्म्यम्

सङ्गीत-शास्त्रे—

वीणावादन-तत्त्वज्ञः श्रुतिजाति-विशारदः । तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥२६३॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

वाद्यं दत्त्वा तथा विप्रः शक्रलोकमवाप्नुयात् । स्वयं वाद्येन संपूज्य तस्यैवानुचरो भवेत् ॥२६४

वाद्यानामपि देवस्य तन्त्रीवाद्यं सदा प्रियम् । तेन संपूज्य वरदं गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥२६५॥

अथ शक्तौ पुनः पूजा

शक्तश्चेत् सपरीवारं कृष्णं गन्धादिभिः पुनः । पञ्चोपचारैर्मूलेन संपूज्यार्घ्यं समर्पयेत् ॥२६६

अथ नीराजनम्

ततश्च मूलमन्त्रेण दत्त्वा पुष्पाञ्जलित्रयम् । महानीराजनं कुर्य्यान्महावाद्य-जयस्वनैः ॥२६७॥

प्रज्ज्वालयेत्तदर्थञ्च कर्पूरेण घृतेन वा । आरात्रिकं शुभे पात्रे विषमानेकवर्त्तिकम् ॥२६८॥

श्रुतयः षट्त्रिंशद्भेदाः, जातयः सप्त स्वराः, मेघनादवसन्तादि-रागालापभेदा वा तत्तदभिज्ञः । मोक्षो मार्गो उपायभूतो यस्मिन् भगवति वैकुण्ठलोके वा तं नियच्छति वशीकरोति; अन्येभ्योऽपि नितरां यच्छति ददातीति वा ॥२६३॥

सपरीवारं पूर्व्वलिखितावरणसहितं, 'सपरिवाराय कृष्णाय नमः' इत्युच्चार्य्य मूलमन्त्रेण गन्धादिभिः पञ्चभिरुपचारैः पुनः सम्यक् पूजयित्वा 'सपरिवाराय कृष्णाय इदमर्घ्यं स्वाहा' इति अर्घ्यं निवेदयेदित्यर्थः ॥ ॥२६६॥

तदर्थं महानीराजननिमित्तम्, आरात्रिकं दीपं, शुभे उत्तमे सुवर्णादि-निर्म्मिते विस्तीर्णे पात्रे विषमा अयुग्मा अनेकाश्च बद्धा वर्त्तिका वर्त्यो यस्मिन् तम् ॥२६८॥

अथ वाद्यस्य माहात्म्यम्

सङ्गीत शास्त्र में वर्णित है—जो व्यक्ति, वीणावादन में दक्ष हैं, श्रुति एवं जाति विषय में निपुण हैं, एवं ताल प्रयोग में पटु हैं, वे मोक्ष के हेतुभूत श्रीविष्णु को बिना प्रयास से वशीभूत कर सकते हैं ॥२६३॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—विप्र, अन्यकृत वाद्य के द्वारा, विष्णु की आराधना करके विष्णुलोक लाभ करते हैं। स्वयं वाद्य वादन पूर्वक, श्रीविष्णु की आराधना करने से श्रीविष्णु का अनुचर होते हैं, यावतीय वाद्य के मध्य में तन्त्रीवाद्य, श्रीविष्णु का सर्वदा अति प्रिय है। उक्त तन्त्रीवाद्य द्वारा वरद श्रीहरि की आराधना करने से गणपति-लोक लाभ होता है ॥२६४-२६५॥

अथ शक्तौ पुनः पूजा

समर्थ होने से मूलमन्त्र द्वारा गन्धादि पञ्चोपचार से पुनर्वार सपरिवार श्रीकृष्ण की पूजा करके अर्घ्य समर्पण करना चाहिये ॥२६६॥

अथ नीराजनम्

अनन्तर मूलमन्त्र पाठ पूर्वक तीन बार पुष्पाञ्जलि देकर महावाद्य एवं जयध्वनि के सहित महानीराजन करना चाहिये। एवं इस नीराजन के निमित्त सुवर्णादि निर्मित उत्तम पात्र में कर्पूर एवं घृत द्वारा अयुग्म एवं बहु वर्त्तिविशिष्ट दीप प्रज्वालित करे ॥२६७-२६८॥

अथ नीराजन-माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे —

बहुवर्त्तिसमायुक्तं ज्वलन्तं केशवोपरि । कुर्य्यादारात्रिकं यस्तु कल्पकोटिं वसेद्दिवि ॥२९९॥

कर्पूरेण तु यः कुर्य्याद्भक्त्या केशवमूर्द्धनि । आरात्रिकं मुनिश्रेष्ठ प्रविशेद्विष्णुमव्ययम् ॥३००॥

तत्रैवान्यत्र —

दीप्तिमन्तं सकर्पूरं करोत्यारात्रिकं नृप । कृष्णस्य वसते लोके सप्त कल्पानि मानवः ॥३०१॥

तत्रैव श्रीशिवोमा-संवादे —

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यत् कृतं पूजनं हरेः । सर्व्वं सम्पूर्णतामेति कृते नीराजने शिवे ॥३०२॥

हरिभक्तिसुधोदये —

कृत्वा नीराजनं विष्णोर्दीपावल्या सुदृश्यया । तमोविकारं जयति जिते तस्मिंश्च को भवः ॥३०३॥

अन्यत्र च —

कोटयो ब्रह्महत्यानामगम्यागमकोटयः । दहत्यालोकमात्रेण विष्णोः सारात्रिकं मुखम् ॥३०४॥
इति ।

यच्च दीपस्य माहात्म्यं पूर्व्वं लिखितमस्ति तत् । द्रष्टव्यं सर्व्वत्रापि प्रायेणाभेदतोऽन्ययोः ॥३०५॥

केशवोपरीति, केशवमूर्द्धनीति च; प्रायः श्रीमस्तकनिर्म्मञ्छनं बोधयति । प्रविशेदिति अत्यन्तसान्निकृष्टो भूत्वा तिष्ठेदित्यर्थः । न व्ययो भावो भक्तानां यस्मादिति मोक्षो निरस्त एव ॥२९९-३००॥

सप्त कल्पानीति असंख्यत्वे तात्पर्य्यम्, अथवा श्वेतद्वीपादौ वैकुण्ठलोके तावत्कालं स्थित्वा पश्चात् परमोत्साहेन तादृशभक्ति-प्रचारणाय स्वेच्छया अवतरणाभिप्रायेणोक्तम् ॥३०१॥ शिवे हे पार्व्वति ॥३०२॥

तमः तमोगुणः अज्ञानं वा सत्त्वावरकत्वात्, तस्य विकारं कामक्रोधादिकं, द्वितीयपक्षे देहाभिमानादिकम्, तस्मिन् तमोविकारे; भवः संसारः कः स्यात्, अपि तु न कश्चिदपि, स्वत एव जितो भवतीत्यर्थः ॥३०३॥

कोटयः कोटीः, याः कोटयस्ता इति वा; सारात्रिकं दीपसहितं दीपालोकेनाधिकं शोभमानमित्यर्थः ॥३०४॥

अत्र नीराजनेऽपि तत् सर्व्वं माहात्म्यं द्रष्टव्यं मन्तव्यं ज्ञेयम् । तत्र हेतुः—अनयोर्धूपानन्तरदीपस्य एतन्नीराजनदीपस्य चेति द्वयोरभेदात् । प्रायेणेति—स्वमते वर्त्त्यादिभेदात् ॥३०५॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है— जो व्यक्ति, बहु वर्त्तियुक्त जलन्त दीप द्वारा एवं कर्पूर द्वारा केशव के शिरोदेश में आरात्रिक करते हैं, वे कोटि-कल्प-काल यावत् स्वर्गलोक एवं विष्णुलोक में निवास करते हैं ॥२९९-३००॥

उस पुराण में अन्यत्र भी वर्णित है—हे राजन् ! जो मनुष्य, ज्वलन्त कर्पूर दीप द्वारा नीराजन करते हैं, वे सप्त कल्प यावत् कृष्णधाम में निवास करते हैं ॥३०१॥

उक्त पुराण के श्रीशिव-उमा-संवाद में लिखित है— हे पार्वति ! भगवान् का नीराजन करने से मन्त्र-वर्जित एवं क्रिया-वर्जित, जो कोई भी पूजा की गई है, वह सभी सम्पूर्ण होती हैं ॥३०२॥

हरिभक्ति सुधोदय में लिखा है—सुदृश्य दीपराजि द्वारा विष्णु का नीराजन करने से तमोविकार—काम-क्रोधादि अथवा अज्ञान-विकार—अभिमानादि विनष्ट होते हैं और उनके दूर होने से संसार-ग्रस्त नहीं होना पड़ता है ॥३०३॥

अन्यत्र भी उक्त है—नीराजन के समय, दीपालोक के द्वारा अत्यधिक शोभमान श्रीविष्णु का मुख-दर्शन मात्र से कोटि-कोटि ब्रह्मघ्न पाप एवं कोटि-कोटि अगम्यागमन पाप दग्ध होते हैं ॥३०४॥

धूप के अनन्तर अर्पित दीप एवं नीराजन दीप, उन उभय दीपों में भेद न होने के कारण, पूर्व में दीप का

अतः सादरमुत्थाय महानीराजनं त्विदम्। द्रष्टव्यं दीपवत् सर्व्वैर्वन्द्यमारात्रिकञ्च यत् ॥३०६

तदुक्तं श्रीपुलस्त्येन विष्णुधर्म्मे —

धूपं चारात्रिकं पश्येत् कराभ्याञ्च प्रवन्दते। कुलकोटिं समुद्धृत्य याति विष्णोः परं पदम् ॥३०७

मूलागमे च—

नीराजनञ्च यः पश्येद्देवदेवस्य चक्रिणः। सप्त जन्मानि विप्रः स्यादन्ते च परमं पदम् ॥३०८॥

अथ शङ्खादिवादन-माहात्म्यम्

बृहन्नारदीये श्रीयमभगीरथ-संवादे—

केशवायतने राजन् कुर्व्वन् शङ्खरवं नरः। सर्व्वपाप-विनिर्मुक्तो ब्रह्मणा सह मोदते ॥३०९॥

करशब्दं प्रकुर्व्वन्ति केशवायतनेषु ये। ते सर्व्वे पापनिर्मुक्ता विमानेशा युगद्वयम् ॥३१०॥

तालादि-कांस्यनिनदं कुर्व्वन् विष्णुगृहे नरः। यत् फलं लभते राजन् शृणुष्व गदतो मम ॥३११

सर्व्वपाप-विनिर्मुक्तो विमानशत-सङ्कुलः। गीयमानश्च गन्धर्व्वैर्विष्णुना सह मोदते ॥३१२॥

भेरीमृदङ्गपटह-निशानाद्यैश्च डिण्डिमैः। सन्तर्प्य देवदेवेशं यत् फलं लभते शृणु ॥३१३॥

देवस्त्रीशत-संयुक्तः सर्व्वकामसमन्वितः स्वर्गलोकमनुप्राप्य मोदते पञ्चकल्पकम् ॥३१४॥ इति।

अतः अस्मान्माहात्म्यविशेषात् ॥३०६॥

विमानानामीशाः स्वामिनो भवन्ति ॥३१०॥ निशानो वादित्रविशेषः ॥३१३॥

का जो माहात्म्य लिखित हुआ है, यहाँ भी प्राय वही सब जानना चाहिये। प्राय शब्द का तात्पर्य्य यह है- धूप दान के पश्चात् दीप दान की जो बात है, उसमें बहुत बत्ती का प्रयोजन नहीं है ॥३०५॥

अतएव सब व्यक्ति, आदर के सहित उत्थित होकर महानीराजन दीप एवं नीराजन दीप की वन्दना, तुल्य रूप से दर्शन कर करें ॥३०६॥

पुलस्त्य के द्वारा श्रीविष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—धूप एवं नीराजनदीप दर्शन करने से एवं उभय हस्त के द्वारा वन्दन करने से कोटिकुलोद्धार पूर्वक विष्णु का परमधाम लाभ होता है ॥३०७॥

मूलागम में भी वर्णित है— जो व्यक्ति, देवदेव चक्रपाणि का नीराजन दर्शन करते हैं, वे सप्त जन्म विप्र होकर परिणाम में परमपद प्राप्त करते हैं ॥३०८॥

अथ शङ्खादिवादन-माहात्म्यम्

बृहन्नारदीय पुराण के श्रीयम-भगीरथ-संवाद में लिखा है—हे राजन्! जो मनुष्य, केशव के आलय में शङ्खवादन करते हैं, वे सकल पापों से मुक्त होकर ब्रह्मलोक में निवास करते हैं। जो व्यक्ति, केशव के आलय में कर ध्वनि करते हैं, वे सब पापों से निर्मुक्त होकर युगद्वय पर्य्यन्त विमानों के अधीश्वरत्व को प्राप्त करते हैं ॥३०९-३१०॥

हे राजन्! विष्णु के निलय में ताल प्रभृति कांस्यध्वनि करने से मनुष्य जो फल प्राप्त करते हैं, मैं उसका वर्णन करता हूँ, श्रवण करें। वादक मानव, सकल पाप निर्मुक्त होकर शतशत विमानारोहण पूर्वक श्रीविष्णु के सहित आनन्दानुभव करते हैं एवं गन्धर्ववृन्द उनका यशोगान करते हैं ॥३११-३१२॥

भेरी, मृदङ्ग, पटह, निशान वाद्य एवं डिण्डिमादि वाद्ययन्त्र द्वारा देवदेव श्रीविष्णु को सन्तुष्ट करने से जो फल लाभ होता है, उसका श्रवण करें। वादक व्यक्ति, शतशत देवस्त्रीगण कर्त्तृक परिवेष्टित होकर एवं सर्व काम समन्वित होकर देवलोक में गमन करते हैं एवं पञ्चकल्प परिमित काल वहाँ पर विहार करते हैं ॥३१३-३१४॥

अथ सजलशङ्ख-नीराजनम्

ततश्च सजलं शङ्खं भगवन्मस्तकोपरि । त्रिर्भ्रामयित्वा कुर्व्वीत पुनर्नीराजनं प्रभोः ॥३१५॥

तन्माहात्म्यञ्च द्वारकामाहात्म्ये तत्रैव—

शङ्खे कृत्वा तु पानीयं भ्रामितं केशवोपरि।
सन्निधौ वसते विष्णोः कल्पान्तं क्षीरसागरे ॥३१६॥ इति।

नीराजनद्वयं चैतत्ताम्बूलस्यार्पणात् परम् । केचिदिच्छन्ति केचिच्च दर्पणार्पणतः परम् ॥३१७॥

तथा च पञ्चरात्रे—

पुनराचमनं दद्यात् करोद्वर्त्तनमेव च । सकर्पूरञ्च ताम्बूलं कुर्य्यान्नीराजनं तथा ॥३१८॥
समर्प्य मुकुटादीनि भूषणानि विचक्षणः । आदर्शयेत्तथादर्शं प्रकल्प्य छत्रचामरे ॥३१९॥

गारुड़े च—

अथ भुक्तवते दत्त्वा जलैः कर्पूरवासितैः । आचमनञ्च ताम्बूलं चन्दनैः करमार्ज्जनम् ॥३२०
पुष्पाञ्जलिं ततः कृत्वा भक्त्यादर्शं प्रदर्शयेत् । नीराजनं पुनः कार्य्यं कर्पूरं विभवे सति ॥३२१॥

अतएव वायुपुराणे—

आरात्रिकन्तु निःस्नेहं निःस्नेहयति देवताम् । अतः संशमयित्वैव पुनः पूजनमाचरेत् ॥३२२॥

जलपूर्णशङ्खेन पुनर्नीराजनं लिखति—ततश्चेति ॥३१५॥

येन भ्रामितं, स वसते वसति ॥३१६॥

आरात्रिकं नीराजनपात्रं निःस्नेहं घृतादिरहितं,निःस्नेहां दयारहितां, संशमयित्वा संशमय्य निर्व्वाप्येत्यर्थः। यच्चपूर्व्वं दीपनिर्व्वापणदोष उक्तः, स दीपविषयक एव, न तु नीराजनविषयको ज्ञेयः ॥३२२॥

अथ सजलशङ्ख-नीराजनम्

अनन्तर जलपूर्ण शङ्ख भ्रमण, श्रीभगवान् के मस्तकोपरि वारत्रय कराकर पुनर्वार नीराजन करे ॥३१५॥

तन्माहात्म्यञ्च

द्वारका माहात्म्य के उसी स्थान में लिखित है—जो व्यक्ति, जलपूर्ण शङ्ख, श्रीकेशव के मस्तक पर घुमाते हैं, वे कल्पान्त काल पर्य्यन्त क्षीरसागर में श्रीविष्णु के सन्निधान में निवास करते हैं ॥३१६॥

कतिपय व्यक्ति, ताम्बूल अर्पण के पश्चात्, कतिपय व्यक्ति, दर्पण अर्पण के पश्चात् इस द्विविध नीराजन की इच्छा करते हैं ॥३१७॥

उक्त विषय का वर्णन पञ्चरात्र में है—पुनराचमन, हस्तमार्जन, सकर्पूर ताम्बूल अर्पण पूर्वक नीराजन करें। विज्ञव्यक्ति, मुकुटादि भूषण, छत्र एवं चामर अर्पण पूर्वक दर्पण प्रदर्शन करें ॥३१८-३१९॥

गरुड़पुराण में वर्णित है—भोजन के पश्चात् प्रथमतः आचमन के निमित्त कर्पूर वासित जल, तत्पश्चात् ताम्बूल, अनन्तर करमार्जनार्थ चन्दन निवेदन पूर्वक पुष्पाञ्जलि प्रदान करे, अतःपर भक्तिपूर्वक दर्पण प्रदर्शन करे। समर्थ होने पर कर्पूर के द्वारा पुनर्वार नीराजन करे ॥३२०-३२१॥

अतएव वायुपुराण में वर्णित है—नीराजनपात्र, स्नेहरहित होने पर देवता को स्नेह रहित करता है, अतः उसको निर्वापित करके पुनर्वार पूजा-कार्य्यारम्भ करे। तात्पर्य्य यह है कि दीपनिर्वाण का जो दोष पहले वर्णित हुआ है, वह नीराजन सम्बन्धीय नहीं है, किन्तु गृहदीप सम्बन्धीय है ॥३२२॥

अतएव द्वारकामाहात्म्ये तत्रैव—

कृत्वा पूजादिकं सर्व्वं ज्वलन्तं कृष्णमूर्द्धनि ।
आरात्रिकं प्रकुर्व्वाणो मोदते कृष्णसन्निधौ ।।३२३।। इति।

केचिन्नीराजनात् पश्चादिच्छन्ति प्रणतिं ततः । प्रदक्षिणं ततः स्तोत्रं गीतनृत्यादिकं ततः ।।३२४

एवं भागवताः स्वस्वसम्प्रदायानुसारतः । प्रवर्त्तन्ते प्रभोर्भक्तौ भक्त्या सर्व्वं हि शोभनम् ।।३२५

ततो निक्षिप्य देवस्योपरि पुष्पाञ्जलित्रयम् ।
विचित्रैर्मधुरैः स्तोत्रैः स्तुतिं कुर्व्वीत भक्तिमान् ।।३२६।।

अथ स्तुतिविधिः

महाभारते—

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामि याम् ।
तया व्यास-समासिन्या प्रीयतां मधुसूदनः ।।३२७।। इति।
आरम्भे च स्तुतेरेतं श्लोकं स्तुतिपरः पठेत् ।
सत्यां तस्यां समाप्तौ च श्लोकं संकीर्त्तयेदिमम् ।।३२८।।

इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीरितः । वाग्यज्ञेनार्च्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्द्दनः ।।३२९।।

प्रणतिं वन्दनं, ततः प्रणतेः पश्चात् प्रदक्षिणमिच्छन्ति, एवमग्रेऽपि ।।३२४।।

ननु परस्परं संवादाभावेनानिर्द्धारदोषः स्यात्तत्र लिखति—भक्त्येति ।।३२५।।

कृष्णम् आरिराधयिषुः आराधयितुमिच्छन्, जिगदिषामि गदितुमिच्छामि, व्यासो विस्तारः, समासः संक्षेपस्तद्युक्तया, तया वाचा ।।३२७।।

एतम् आरिराधयिषुरित्यादिकं, तस्याः स्तुतेः समाप्तौ सत्याम्, इममिति—विद्येत्यादिकम् ।।३२८।।

अतएव द्वारका माहात्म्य के उस स्थान में वर्णित है—जो व्यक्ति, पूजादि समुदाय कार्य्य सम्पन्न करके प्रज्वलित दीपपङ्क्ति द्वारा श्रीकृष्ण के मस्तकोपरि नीराजन करते हैं, वे श्रीकृष्ण के सन्निधान में आनन्द अनुभव करते हैं ।।३२३।।

कतिपय व्यक्ति नीराजन के पश्चात्, तत्पश्चात् प्रदक्षिण, बाद में स्तव एवं परिशेष में नृत्यादि की इच्छा करते हैं ।।२२४।।

वैष्णववृन्द, इस प्रकार निज निज सम्प्रदायानुसार भक्तिपूर्वक श्रीप्रभु के अर्च्चनादि कार्य्य करें, कारण, भक्तिपूर्वक जो कार्य्य सम्पन्न होते हैं वे सब सम्पूर्ण होते हैं। अनन्तर भक्तिमान् होकर श्रीहरि के मस्तक में वारत्रय पुष्पाञ्जलि अर्पण कर विचित्र एवं मधुर स्तोत्र द्वारा स्तव करें ।।३२५-३२६।।

अथ स्तुतिविधिः

महाभारत में वर्णित है—श्रीकृष्ण की आराधना हेतु वासना करके जो वाक्य कहने के इच्छुक हूँ, संक्षिप्त एवं विस्तृत उस वाक्य के द्वारा मधुसूदन प्रसन्न हों ।।३२७।।

स्तुतिकारी व्यक्ति, स्तुति के प्रारम्भ में पूर्वोक्त "अरिराधयिषुः" इत्यादि श्लोक एवं स्तुति समाप्त होने पर पश्चात् कथित "इति विद्या" इत्यादि श्लोक पाठ करें। विद्या एवं तपस्या हेतु, यह अयोनिज, वाक्य एवं यज्ञ द्वारा पूजित श्रीहरि, मत्प्रति प्रसन्न हों ।।३२८-३२९।।

अथ स्तोत्राणि

पूर्वतापनीय-श्रुतिषु—

ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे । विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः ॥३३०॥

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे । कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः ॥३३१॥

नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने । नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः ॥३३२॥

बर्हापीड़ाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे । रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥३३३॥

कंसवंशविनाशाय केशिचानूरघातिने । वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥३३४॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्द्दिने । कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलवल्गवे ॥३३५॥

वल्लवीनयनाम्भोज-मालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥३३६॥

नमः पापप्रणाशाय गोवर्द्धनधराय च । पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्त्तासु-हारिणे ॥३३७॥

निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धिवैरिणे । अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥३३८॥

प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर । आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥३३९॥

श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर । संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥३४०॥

केशव क्लेशहरण नारायण जनार्द्दन । गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥३४१॥

लोलाभ्यां कुण्डलाभ्यां, वल्गवे सुन्दराय, वल्लवीनां नयनान्येवाम्भोजानि, तेषां माला पंक्तिस्तद्वते, ताभिः सदा परमया शक्त्या दृश्यमानायेत्यर्थः ॥३३५-३३६॥

निष्कलाय परिपूर्णाय निर्म्मायायेति वा, अशुद्धवैरिणे परमपावनायेत्यर्थः । अद्वितीयाय निरुपमायेत्यर्थः ॥३३८

अथ स्तोत्राणि

पूर्वतापनीय श्रुति में वर्णित है—जगत् की सृष्टि, स्थिति, नाश के कारण, विश्वेश्वर, विश्वरूप गोविन्द को नमस्कार करता हूँ। विज्ञान एवं परमानन्द स्वरूप गोपीनाथ गोविन्द, कृष्ण को नमस्कार करता हूँ। पद्मलोचन, पद्ममाली, पद्मनाभ, पद्मापति को नमस्कार है। जिनका मस्तक मयूर पुच्छ से भूषित है, जो अकुण्ठ बुद्धि विशिष्ट हैं, कमलारूपी मानस सरोवर के हंस स्वरूप हैं, उन श्रीगोविन्द को नमस्कार करता हूँ। कंसवंश ध्वंसकारी, केशी, चानूर नाशक, महादेव के वन्दनीय एवं अर्जुन-सारथी को नमस्कार। वेणु-वादनरत, गोरक्षक, कालियमर्दन, कालिन्दीकुल विहारी, चञ्चल कुण्डल द्वारा शोभमान, गोपीगण के नयन-कमल की माला धारणकारी, नृत्यशाली एवं प्रणतजनों के प्रतिपालक श्रीकृष्ण को नमस्कार। पाप प्रकाशक, गोवर्द्धनधारी, पूतना एवं तृणावर्त्त के जीवन विनाशक श्रीकृष्ण को नमस्कार है ॥३३०-३३७॥

परिपूर्ण, मोहशून्य, शुद्ध, परमपावन, अतुलनीय, परमपूजनीय श्रीकृष्ण को नमस्कार है। हे परमानन्द! आप प्रसन्न हों, हे परमेश्वर ! आप प्रसन्न हों। हे प्रभो ! मनः पीड़ा एवं व्याधिरूप भुजङ्ग दष्ट मुझको आप रक्षा कीजिये। हे श्रीकृष्ण ! हे रुक्मिणीकान्त ! हे गोपीजन मनोहारिन् ! हे जगद्गुरो ! संसार-सागर में मग्न होरहा हूँ, मुझको आप रक्षा करें। हे केशव ! हे क्लेशनाशन ! हे नारायण ! हे जनार्दन ! हे गोविन्द! हे परमानन्द ! हे माधव ! मेरा परित्राण आप करें ॥२३८-३४१॥

विशेषतः कलिकाले स्तोत्राणि

एकादशस्कन्धे (५।३३-३४)—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं, तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपाल ! भवाब्धिपोतं, वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३४२॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं, धर्म्मिष्ठ ! आर्य्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधाव,-द्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३४३॥

विशेषत एकादशस्कन्धोक्त-श्लोकद्वयेन कलिकाले स्तूयादिति शिष्टाचारादिलिखति— ध्येयमिति । हे प्रणतपाल ! हे महापुरुष ! ते तव चरणारविन्दं वन्दे । कथम्भूतम् ? ध्येयं ध्यातुं योग्यं, सदेति सर्व्वत्र सम्बध्यते। ध्येयत्वे हेतवः—इन्द्रियकुटुम्बादिभिर्यः परिभवस्तिरस्कारः तं हन्तीति तथा तत । किञ्च, अभीष्टदोहं मनोरथपूरकं, किञ्च, तीर्थास्पदं गङ्गाद्याश्रयत्वेन परमपावनं, किञ्च, शिवविरिञ्चिभ्यां नुतं स्तुतम्; ननु तौ कृतार्थावेव, किमर्थं ताभ्यां नुतम् ? तत्राह—शरण्यमाश्रयणयोग्यं सुखविशेषार्थमिति भावः; यद्वा, परमेश्वरत्वेनावश्य-सेव्यत्वात् तन्माहात्म्यविशेषेणाकर्षणाद्वा । ननु ब्रह्मादिस्तुत्यं कथं प्राकृतस्य गोचरः स्यात् ? न, भृत्यार्त्तिहं यस्य कस्यापि भृत्यमात्रस्यार्त्तिहन्तारम्; न केवलमागन्तुकमार्त्तिमात्रं हन्ति, किन्तु भवाब्धिपोतं संसारार्णवतारकञ्च; यद्वा, शिव-विरिञ्चिनुतमिति परमैश्वर्य्यमुक्त्वा,शरण्यमिति च शरणागतवात्सल्यमुक्त्वा, भक्तानां सदा सङ्गित्वमाह—भृत्यानामार्त्तिं विरहदुःखं साक्षात्कारादिना हन्तीति । किञ्च, प्रणतान् स्वस्वभक्तान् वरदानादिना पालयन्तीति प्रणतपाला इन्द्रादयो देवास्तेषामपि भवाब्धिपोतम्, अथवा परिभवघ्नमभीष्टदोहमिति विशेषणाभ्यां कामिनां सर्व्वदुःखनाशकत्वं कामपरिपूरकत्वं चोक्तम् । तीर्थास्पदमिति मुमुक्षूणां मुक्तिप्रदत्वं, शिवविरिञ्चिनुतमिति मुक्तानामपि स्तुत्यत्वेन सुखविशेषात्मकत्वं परमाकर्षकत्वञ्च । शरण्यं परमाश्रयमिति दासानां सर्व्वपुरुषार्थमयत्वम्; किंवा शरणं वैकुण्ठधाम भगवानेव वा तत्प्रदमित्यर्थः। इति परमपद-प्रदत्वं, भृत्यानां रुक्मिणीप्रभृतीनां भार्य्याणां विरहार्त्तिघ्नमिति परमप्रेमविषयत्वम्;प्रणतान् वैष्णवान् पालयन्ति, अन्नादिदानेन पुष्णन्ति, दुष्टजनादिभ्यो वा रक्षन्तीति प्रणतपालाः; यद्वा, प्रणता वैष्णवा एव पालाः पालका येषां जनानां तेषां वैष्णवसेवकानां भवाब्धिपोतं भक्तिप्रदानेनानायासतो वैकुण्ठलोक प्रापणात्; संसारदुःखपरम्परापहारकमिति—निजदासानुदासानामपि सर्व्वदुःखक्षपणादिकम् ॥३४२॥

इदानीं स्वयमाप्तकामत्वान्नैरपेक्ष्यं भक्तार्थञ्च सापेक्षतां दर्शयन् श्रीरामचन्द्रं स्तौति—त्यक्त्वेति । हे धर्म्मिष्ठ सदाचारप्रवर्त्तक, हे महापुरुष पुरुषोत्तम ! अन्यैर्दुस्त्यजा या सुरेप्सिता राज्यलक्ष्मीरयोध्यासाम्राज्यविभूतिस्तां त्यक्त्वा यत्ते चरणारविन्दमरण्यं दण्डकवनादिकमगात्; किं राज्यवैकल्यदर्शनेन ? नहि, आर्य्यस्य गुरोर्दशरथस्य वचसा कैकेयीं प्रति तदीयवचनसत्यता-प्रतिपालनायेत्यर्थः; एवं धर्म्मिष्ठत्वमुक्त्वा महापुरुषत्वं

विशेषतः कलिकाले स्तोत्राणि

एकादशस्कन्ध में उक्त है—हे प्रणतपालक ! हे महापुरुष ! आपके जो चरणयुगल, एक मात्र ध्येय हैं, इन्द्रिय एवं कुटुम्बादि जनित पराभव विनाशक हैं, मनोरथ परिपूरक हैं, गङ्गा प्रभृति तीर्थों के एकमात्र आश्रय हैं, शिव एवं ब्रह्मा कर्त्तृकस्तुत हैं, आश्रय करने के योग्य हैं, भक्तवृन्द के दुःख मोचक हैं एवं संसार समुद्र से रक्षा करनेवाले हैं । मैं उन्हीं चरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ ।

हे धर्मिष्ठ महापुरुष ! हे सदाचार प्रवर्त्तक ! अपर के पक्ष में वर्जन करना अति दुष्कर है, एवं देवगण का भी अभीष्ट है, इस प्रकार राज्यलक्ष्मी को परित्याग कर आप पिता के वचन से वन में प्रस्थान किये थे एवं निज प्रिया की प्रसन्नता के निमित्त मायामृग के पश्चाद्धावमान हुये थे, अतएव आपके चरण-कमलों की वन्दना मैं करता हूँ ।

अष्टम-विलासः

वैदिकानीदृशान्येव कृष्णे पौराणिकान्यपि ।
तान्त्रिकाणि च शस्तानि स्तोत्राण्यभिनवान्यपि ।।३४४।।

विष्णुधर्म्मोत्तरे हंसगीतायाम्—

अभ्रष्टलक्षणैः कृत्वा स्वयं विरचिताक्षरैः ।
स्तवं ब्राह्मणशार्द्दूलास्तस्मात् कामानवाप्नुयात् ।।३४५।।

स्तुति-माहात्म्यम्

विष्णुधर्म्मे—

सर्व्वदेवेषु यत् पुण्यं सर्व्ववेदेषु यत् फलम् । नरस्तत्फलमाप्नोति स्तुत्वा देवं जनार्द्दनम् ।।३४६

दर्शयन् भक्तजनवश्यतामाह—दयितया श्रीसीतया ईप्सितं मायामृगं मायया स्वर्णमायाकारं हरिणं यदन्व- धावत्तद्वन्दे; यद्वा, 'कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णम्' (श्रीभा ११।५ ३२) इति तत्रैव प्रागुक्तेः, कलौ श्रीकृष्णस्य परम- पूज्यत्वात् तदीयलीलावर्णनेन तमेव स्तौति—राज्यलक्ष्मीं श्रीमथुरासम्पत्तिम्; अविवक्षितत्वात् असन्धिः; धर्म्मिष्ठस्य पूर्व्वजन्मनि एकाग्रतया कृतभगवदाराधनलक्षणधर्म्मस्य आर्य्यस्य श्रीवसुदेवस्य; यद्वा, धर्म्मिष्ठयो- रार्य्ययोः श्रीवसुदेवदेवक्योर्वचसा, अत्र 'अयन्त्वसभ्यः' (श्रीभा १०।३।२२) इत्यादिना वसुदेवस्य, 'जन्म ते मय्यसौ' (श्रीभा १०।३।२९) इत्यादिना देवक्याः । अरण्यं वृहद्वनादिकम्; यद्वा, धर्म्मिष्ठे भक्तिलक्षणधर्म्मनिष्ठे श्रीनन्दगोपराजे; यदरण्यं व्रजभूमिलक्षणं तत् । एवं सत्यपि महापुरुषत्वेनैव सदाचार-प्रवर्त्तकत्वं भक्तजना- धीनत्वञ्च ज्ञेयम् । परमदुर्लभतामाह—मायया लक्ष्म्या अपि मृग्यत इति मृगम्; यद्वा, भक्तजनाधीनत्वमेवाह— मायया लक्ष्म्या मृगं क्रीड़ामृगवत् पराधीनमित्यर्थः । अरण्यगमने निगूढ़हेत्वन्तरम्—दयितया श्रीराधया ईप्सितं पूर्व्वस्मिन्निहापि जन्मनि विविधाराधनेन प्राप्तुमिष्टमतएवान्वधावच्चारण्यमेव । गोपालनादिक्रीड़या सर्व्वतो धावन्निव परिबभ्रामेत्यर्थः ।।३४३।।

ईदृशानि एतादृश-श्रीगोकुललीलामृतमयानि वैदिकानि कृष्णस्तोत्राणि भवन्ति; यद्वा, कृष्णे शस्तानि तत्सुखकराणीत्यर्थः । अभिनवानि आधुनिक-कविनिवद्धानि ।।३४४।।

कलिकाल में श्रीकृष्ण ही परम पूज्य हैं—भा० ११।५।३२ में वर्णित है—कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र पार्षदम्, यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्भजन्तिहि सुमेधसः ।" अतएव उनकी लीला का वर्णन द्वारा उन्हीं का स्तव करते हैं । धर्मिष्ठ ! पूर्वजन्म में एकाग्र चित्त से श्रीभगवान् की आराधना में निष्ठायुक्त, आर्य्य श्रीवसुदेव एवं देवकी के वचन "अयं त्वसभ्यः" "जन्म ते मय्यसौ पापः" इत्यादि वचनों से जो, त्यागने का अत्यन्त अनुपयोगी, एवं सुरवृन्द के अभिलषित राज्यलक्ष्मी-श्रीमथुरा सम्पत्ति, को परित्याग कर अरण्य—वृहद् वनादि में आप गमन किये हैं । हे महापुरुष ! मायामृग, श्रीलक्ष्मी की भी अन्वेषणीय दयिता-श्रीराधा के अभिलषित, गोपालनादि के निमित्त वन के सर्वत्र धावमान के द्वारा विचरणशाली हैं, आपके उभय चरणारविन्दों को मैं प्रणाम करता हूँ ।।३४२-३४३।।

इस प्रकार वेदोक्त, पुराणोक्त, तन्त्रोक्त एवं नव्य कविगण रचित स्तोत्र समूह, श्रीकृष्ण के प्रीति विधान में प्रशस्त हैं ।।३४४।।

विष्णुधर्मोत्तर की हंसगीता में लिखित है—हे ब्राह्मणश्रेष्ठवृन्द ! जिसके लक्षणसमूह अभ्रष्ट हैं, ऐसे स्वयं रचित अक्षरसमूह के द्वारा भगवान् का स्तव करने से भगवान् समस्त कामना को पूर्ण कर देते हैं ।।३४५।।

स्तुति माहात्म्यम्

विष्णुधर्म में लिखा है—निखिल देवताओं की आराधना से जो पुण्य होता है एवं समस्त वेद पाठ करने से जो फल होता है, देवादिदेव जनार्दन की स्तुति करने पर वही फल मिलता है ।।३४६।।

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

न वित्तदाननिचयैर्बहुभिर्मधुसूदनः। तथा तोषमवाप्नोति यथा स्तोत्रैर्द्विजोत्तमाः ॥३४७॥

नारसिंहे—

स्तोत्रैर्जपैश्च देवाग्रे यः स्तौति मधुसूदनम्। सर्व्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥३४८

हरिभक्तिसुधोदये—

स्तुवन्नमेयमाहात्म्यं भक्तिग्रथितरम्यवाक्। भवेद्ब्रह्मादिदुर्लभ्य-प्रभुकारुण्यभाजनम् ॥३४९॥

यथा नरस्य स्तुवतो बालकस्येव तुष्यति। मुग्धवाक्यैर्न हि तथा विबुधानां जगत्पिता ॥३५०

अबलं प्रभुरीप्सितोन्नतिं, कृतयत्नं स्वयशःस्तवे घृणी।

स्वयमुद्धरति स्तनार्थिनं, पदलग्नं जननीव बालकम् ॥३५१॥

स्कान्दे अमृतसारोद्धारे—

श्रीकृष्णस्तवरत्नौघैर्येषां जिह्वा त्वलङ्कृता।

नमस्या मुनिसिद्धानां वन्दनीया दिवौकसाम् ॥३५२॥

तत्रैव कार्त्तिक-माहात्म्ये श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

स्तोत्राणां परमं स्तोत्रं विष्णोर्नामसहस्रकम्। हित्वा स्तोत्रसहस्राणि पठनीयं महामुने ॥३५३

तेनैकेन मुनिश्रेष्ठ पठितेन सदा हरिः। प्रीतिमायाति देवेशो युगकोटिशतानि च ॥३५४॥ इति।

भक्त्या प्रेम्णा ग्रथिताः क्रमेण निबद्धाः, अतएव रम्या वाग्यस्य सः; ब्रह्मादि-दुर्लभ्यं यत् प्रभोर्भगवतः कारुण्यं, तस्य भाजनं विषयः ॥३४९॥

विबुधानां देवानां विदुषामपि वा ॥३५०॥

अबलम् अशक्तम् ॥३५१॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—हे द्विजश्रेष्ठ ! मधुसूदन, स्तुति से जिस प्रकार प्रसन्न होते हैं, बहुविध धन दान से भी उस प्रकार प्रसन्न नहीं होते हैं ॥३४७॥

नृसिंहपुराण में लिखित है— जो मानव, स्तोत्र एवं जप द्वारा मधुसूदन के पुरोभाग में स्तव करते हैं, वे समस्त पापों से समुत्तीर्ण होकर विष्णुधाम को प्राप्त करते हैं ॥३४८॥

हरिभक्ति सुधोदय में वर्णित है—जो व्यक्ति, भक्तिपूर्वक विरचित मनोहर स्तव द्वारा भगवान् का अपरिमेय माहात्म्य वर्णन करते हैं, वे प्रभु की ब्रह्मादि देवदुर्ल्लभ करुणा का अधिकारी होते हैं ॥३४९॥

बालकवत् स्तवकारि मानवगण के मुग्ध वाक्य से जगत्पिता, जिस प्रकार सन्तुष्ट होते हैं, विद्वान् व्यक्तियों के वाक्य से उस प्रकार प्रसन्न नहीं होते हैं ॥३५०॥

माता, जिस प्रकार स्तनपानेच्छु पदलग्न बालक को उत्तोलनपूर्वक स्वयं ग्रहण करती है, वैसे ही दयालु प्रभु, यत्नपूर्वक स्तवकारी अक्षम व्यक्ति को अभीष्ट उन्नति प्रदान कर स्वयं उद्धार करते हैं ॥३५१॥

स्कन्दपुराण का अमृतसारोद्धार में वर्णित है—जिनकी जिह्वा, श्रीकृष्ण के स्तवरूप रत्नसमूह से अलङ्कृत है, वे सब, सिद्ध, मुनि एवं देववृन्द के भी वन्दनीय होते हैं ॥३५२॥

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य के ब्रह्मा-नारद-संवाद में लिखित है— हे महामुने ! सहस्र स्तोत्र को परित्यागकर स्तोत्रसमूह के मध्य में श्रेष्ठ— विष्णुसहस्रनाम का पाठ करें ॥३५३॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! वह एकमात्र सहस्रनामस्तुति का पाठ सतत करने पर देवेश्वर, शतकोटि युगकाल पर्य्यन्त सन्तुष्ट रहते हैं ॥३५४॥

आगम-विलासः

स्नाने यत् स्तोत्रमाहात्म्यं लिखितं लेख्यमग्रतः ।
यच्च कीर्त्तन-माहात्म्यं सर्व्वं ज्ञेयमिहापि तत् ॥३५५॥

तन्नित्यता

विष्णुधर्म्मे—

नूनं तत् कण्ठशालूकमथवा प्रतिजिह्विका ।
रोगो वान्यो न सा जिह्वा या न स्तौति हरेर्गुणान् ॥३५६॥

अथ वन्दनम्

प्रणमेदथ साष्टाङ्गं तन्मुद्राञ्च प्रदर्शयेत् । पठेत् प्रतिप्रणामञ्च प्रसीद भगवन्निति ॥३५७॥

उक्तमेकादशे श्रीभगवता (२७।४५)—

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि । स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥३५८

अथ प्रणामविधिः

तत्रैव (२७।४६)—

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्याञ्च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥३५९॥

यद्यपि स्नपने सहस्रनाम-माहात्म्यं लिखतिमस्ति, तथापि स्तोत्रेषु मध्ये सहस्रनामस्तोत्रस्य परमश्रेष्ठचा-पेक्षया पुनरत्रोल्लिखितम् । यच्च कीर्त्तनमाहात्म्यमग्रतो लेख्यं, तत् सर्व्वमिह स्तुतिमाहात्म्येऽपि ज्ञेयं, सर्व्वेषा-मेवेषां कीर्त्तनरूपत्वात् ॥३५५॥

कण्ठशालूकं गलरोगविशेषः ॥३५६॥

प्राकृतैरर्व्वाचीनैर्लौकिकभाषानिबद्धैरिति वा ॥३५८॥

बाहुभ्यां दक्षिणोत्तराभ्यां परस्परं मम दक्षिणोत्तरपादौ गृहीत्वा; यद्वा, परस्परं निबद्धाभ्यां कृतापराध-वत् प्रपन्नं पाहीत्यादि विज्ञाप्य प्रणमेदित्यर्थः ॥३५९॥

स्नान प्रकरण में जो स्तोत्र माहात्म्य वर्णित है, एवं इसके पश्चात् जो कीर्त्तन माहात्म्य वर्णित होगा, वह सब माहात्म्य इस स्तुति प्रकरण में भी प्रयुक्त होगा ॥३५५॥

तन्नित्यता

विष्णुधर्म में लिखित है—जो रसना, श्रीहरि के गुण वर्णन नहीं करती है, वह कण्ठ शालुक (गल रोग विशेष) अथवा प्रति जिह्वा (आलजिह्वा) अथवा अन्य प्रकार की पीड़ा है ॥३५६॥

अथ वन्दनम्

अनन्तर साष्टाङ्ग प्रणाम करे, एवं उसकी मुद्रा प्रदर्शन करे । एवं प्रत्येक प्रणाम में ही 'प्रसीद भगवन्' अर्थात् "हे भगवन् ! मुझ पर प्रसन्न हों" इसका पाठ करना चाहिये ॥३५७॥

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में श्रीभगवान् कहे हैं पौराणिक एवं आधुनिक विविध स्तुति पाठ कर "हे भगवन् ! प्रसीद" "हे भगवन् आप प्रसन्न होइये" कहकर दण्डवत् निपतित होकर वन्दना करनी चाहिये ॥३५८॥

अथ प्रणाम विधिः

एकादशस्कन्ध में ही लिखित है—बाहुद्वय के द्वारा मदीयपदद्वय धारणपूर्वक शिरोदेश अवनत करके हे देव ! मैं मृत्यु के आक्रमणरूप समुद्र से भीत हूँ एवं आपका आश्रित हूँ, मेरी रक्षा कीजिये' यह कहकर प्रणाम करें ॥३५९॥

किञ्चागमे—

दोर्भ्यां पद्भ्याञ्च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा। मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥३६०

जानुभ्याञ्चैव बाहुभ्यां शिरसा वचसा धिया।

पञ्चाङ्गकः प्रणामः स्यात् पूजासु प्रवराविमौ ॥३६१॥ इति।

गरुड़ं दक्षिणे कृत्वा कुर्य्यात्तत्पृष्ठतो बुधः। अवश्यं च प्रणामांस्त्रीन् शक्तश्चेदधिकाधिकान् ॥३६२

तथा च नारदपञ्चरात्रे—

सन्धि वीक्ष्य हरिं चाद्यं गुरून् स्वगुरुमेव च। द्विचतुर्विंशदथवा चतुर्विंशत्तदर्द्धकम्।

नमेत्तदर्द्धमथवा तदर्द्धं सर्व्वथा नमेत् ॥३६३॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

देवार्च्चादर्शनादेव प्रणमेन्मधुसूदनम्। स्थानापेक्षा न कर्त्तव्या दृष्ट्वार्च्चां द्विजसत्तमाः।

देवार्च्चादृष्टपूतं हि शुचि सर्व्वं प्रकीर्त्तितम् ॥३६४॥

प्रणामेऽष्टाङ्गानि दर्शयति—पद्भ्यामिति। पादादिभिः प्रणामः क्रमेण तत्तदङ्गैर्भूम्यवष्टम्भनेन तत्संस्पर्शनात्। दृशा प्रणामः चक्षुरीषन्निमीलनात्, मनसा शिरो मत्पादयोः कृत्वा इत्यादि-ध्यानेन; वचसा च 'भगवन् प्रसीद' इत्यादिरूपेणोह्यः ॥३६०॥ इमौ अष्टाङ्ग-पञ्चाङ्ग प्रणामौ ॥३६१॥

गरुड़ं भगवदभिमुखे वर्त्तमानं दक्षिणे कृत्वेति भगवतः पुरोभागे पृष्ठदेशे वामेऽत्यन्तनिकटे च प्रणाम-निषेधात्। तथा चाग्रे लेख्यम्—'अग्रे पृष्ठे वामभागे' इत्यादि। त्रीन् प्रणामानवश्यं कुर्य्यात्, यच्च नमस्कारेण चैकेनेत्यादिकमग्रे लेख्यं तच्च माहात्म्यपरतयैव, न तु विधेयत्वेन। यथा एकप्रदक्षिणाया निषिद्धत्वेऽपि 'प्रदक्षिणेन चैकेन' इत्यादिकं माहात्म्यपरमेव सङ्गच्छते, अन्यथातिविरोधात्। शक्तश्चेद्भवति, तर्हि ततोऽधिकान् षड़ादीन् अष्टचत्वारिंशदन्तान्, ततोऽप्यधिकान् अष्टोत्तरशतादीन् कुर्य्यात् ॥३६२॥

सन्धि भोजनशयनाद्यवसरं; वीक्ष्य आलोच्य, तद्व्यतिरिक्तकाले इत्यर्थः। लोके सदाचारानुसारतः, आद्यं हरिं श्रीकृष्णम्। गुरवश्चोक्ताः कौर्म्मे—'यो भावयति या सूते येन विद्योपदिश्यते। ज्येष्ठो भ्राता च भर्त्ता च पञ्चैते गुरवः स्मृताः॥' इति तान्। द्विचतुर्विंशदिति अष्टचत्वारिंशदित्यर्थः ॥३६३॥

आगम में उक्त है—बाहुद्वय, चरणद्वय, जानुद्वय वक्षःस्थल, मस्तक, दृष्टि, मन एवं वाक्य-यह अष्टाङ्ग द्वारा, अर्थवत् अष्ट अवयव के द्वारा प्रणाम 'अष्टाङ्ग' अष्टाङ्ग शब्द से निर्द्धारित हुआ है। जानुद्वय, बाहुद्वय, मस्तक, वाक्य एवं बुद्धि—इन पञ्च अङ्ग द्वारा प्रणाम को 'पञ्चाङ्ग' शब्द से निरूपण किया जाता है। अर्च्चन कार्य्य में यह पञ्चाङ्ग एवं अष्टाङ्ग प्रणाम ही प्रशस्त है ॥३६०-३६१॥

विज्ञ व्यक्ति, प्रणाम करने के समय, भगवान् के सम्मुखस्थ गरुड़ को दक्षिण दिक् में रखकर वामदिक् में प्रणाम करे। प्रभु के अति सन्निकट में प्रणाम निषिद्ध है। प्रणाम, तीन वार अवश्य ही करे, किन्तु समर्थ होने पर तदपेक्षा अधिक वार करना चाहिये। अर्थात् निज सामर्थ्य के अनुसार छं, बारह, चौबिश, अड़तालीश अथवा एक सौ आठ बार प्रणाम करे ॥३६२॥

नारद पञ्चरात्र में यह विषय लिखित है—शयन भोजनादि व्यतीत प्रथमतः श्रीहरि को, तत्पश्चात गुरुवर्ग को, अर्थात् पिता, माता, विद्यादाता, ज्येष्ठ भ्राता एवं पति को एवं स्वीय गुरुदेव को अष्टचत्वारिंशत वार (अड़तालीस वार) अथवा षट्त्रिंशत् वार (छत्तीस वार) अथवा अष्टादश वार अथवा नव वार प्रणाम करना चाहिये ॥३६३॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—हे द्विजश्रेष्ठगण! देवप्रतिमा दर्शन करते ही प्रणाम करे, स्नान की अपेक्षा न करे। कारण, देवमूर्त्ति के दृष्टिपूत जिस किसी वस्तु होवे, उस सबको ही पवित्र कहा गया है ॥३६४॥

अथ नमस्कार-माहात्म्यम्

...सिंहे—
नमस्कारः स्मृतो यज्ञः सर्व्वयज्ञेषु चोत्तमः । नमस्कारेण चैकेन नरः पूतो हरिं व्रजेत् ॥३६५॥

...दे—
दण्डप्रणामं कुरुते विष्णवे भक्तिभावितः । रेणुसंख्यं वसेत् स्वर्गे मन्वन्तरशतं नरः ॥३६६॥

...श्रीब्रह्मनारद-संवादे—
...दण्डवद्भूमौ नमस्कारेण योऽर्च्चयेत् । स यां गतिमवाप्नोति न तां क्रतुशतैरपि ।
नमस्कारेण चैकेन नरः पूतो हरिं व्रजेत् ॥३६७॥

...श्रीशिवोमा-संवादे—
भूमिमापीड्य जानुभ्यां शिर आरोप्य वै भुवि ।
प्रणमेद्यो हि देवेशं सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥३६८॥

...न्यत्र—
...र्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च । नारायण-प्रणामस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥३६९
...ठ्येनापि नमस्कारं कुर्व्वतः शार्ङ्गधन्वने । शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥३७०॥

सर्व्वेषु यज्ञेषु मध्ये नमस्कार उत्तमो यज्ञः देवताराधनं स्मृतः स्मृतिकृद्भिः ॥३६५॥
रेणुसंख्यमिति—दण्डप्रणामाचरणे यावन्तो रेणवो गात्रैः संस्पृश्यन्ते, तावत्संख्यं तेषां प्रत्येकं मन्वन्तरशतं ...दित्यर्थः । एवमसंख्यत्वे तात्पर्य्यम् । स्वर्गे ऊर्द्ध्वलोके वसेदिति वैकुण्ठप्राप्तौ कस्यचित् क्रमगत्यपेक्षया ॥ ॥३६६॥

नमस्कारमात्रेण योऽर्च्चयेत्, प्रणामरूपमर्च्चनं यः कुर्य्यादित्यर्थः ॥.६७॥

अथ नमस्कार माहात्म्य

नृसिंहपुराण में लिखित है—नमस्कार रूप यज्ञ, समस्त यज्ञों के मध्य में श्रेष्ठ है, एकमात्र नमस्कार के ...मनुष्य विशुद्ध होकर श्रीहरि को प्राप्त कर सकता है ॥३६५॥

स्कन्दपुराण में वर्णित है—जो व्यक्ति, एक वार मात्र श्रीविष्णु को भक्ति पूर्वक दण्डवत् प्रणाम करते ...प्रणाम के समय उनके अङ्ग में जितने धूलिकण लगते हैं, उतने ही शतमन्वन्तर काल यावत् वे सुरपुर ...निवास करते हैं ॥३६६॥

उक्त पुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—भूमि में दण्डवत् प्रणामकर, अर्थात् दण्डवत् निपतित ...कर प्रणाम कर जो व्यक्ति, नमस्कार रूप पूजन करते हैं, वे जिस प्रकार फल प्राप्त करते हैं, शतयज्ञा-...पूजन से भी उस प्रकार फल लाभ नहीं होता है। केवलमात्र नमस्कार से ही मनुष्य शुद्ध होकर श्रीहरि ...को प्राप्त करते हैं ॥३६७॥

स्कन्दपुराण के श्रीशिव-उमा-संवाद में वर्णित है—जो व्यक्ति, भूतल में जानुयुगल निपीड़नपूर्वक एवं ...मस्तक स्थापन करतः देवदेव भगवान् को प्रणाम करते हैं, उनको अश्वमेध-यज्ञ का फल मिलता है ॥३६८

उक्त पुराण के अन्यत्र वर्णित है—श्रीनारायण को प्रणाम करने से जो फल लाभ होता है, शतकोटि ...अथवा सहस्रकोटि तीर्थ सेवन से भी उसके षोड़शांश का एकांश का फल लाभ नहीं होता है। शार्ङ्गधन्वा श्रीहरि को शठता से भी नमस्कार करने पर भी प्रणामकारी का शतजन्मार्जित पाप तत्क्षणात् विनष्ट ...होता है ॥३६९-३७०॥

रेणुमण्डितगात्रस्य कणा देहे भवन्ति यत् । तावद्वर्षसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥३७१॥

विष्णुधर्मोत्तरे—

अभिवाद्यं जगन्नाथं कृतार्थश्च तथा भवेत् । नमस्कारक्रिया तस्य सर्व्वपाप-प्रणाशिनी ॥३७२

जानुभ्याञ्चैव पाणिभ्यां शिरसा च विचक्षणः ।
कृत्वा प्रणामं देवस्य सर्व्वान् कामानवाप्नुयात् ॥३७३॥

विष्णुपुराणे—

अनादिनिधनं देवं दैत्यदानवदारणम् । ये नमन्ति नरा नित्यं न हि पश्यन्ति ते यमम् ॥३७४॥

ये जना जगतां नाथं नित्यं नारायणं द्विजाः ।
नमन्ति न हि ते विष्णोः स्नानादन्यत्र गामिनः ॥३७५॥

नारदीये—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो, दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म, कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥३७६॥

हरिभक्तिसुधोदये—

विष्णोर्दण्डप्रणामार्थं भक्तेन पतिता भुवि । पातितं पातकं कृत्स्नं नोत्तिष्ठति पुनः सह ॥३७७

कणा रेणुपरमाणवः, यदित्यव्ययं यावन्त इत्यर्थः । कला ये इति पाठेऽपि स एवार्थः ॥३७१॥

सह तेन पुनर्नोत्तिष्ठति, कदाचिदपि पश्चात्तस्य पातक न स्यादित्यर्थः ॥३७७॥

प्रणाम के समय में धूलिधुसरित गात्र में जितनी धूलिकण संलग्न होती हैं, उतने सहस्र वत्सर पर्यन्त श्रीविष्णुलोक में ससम्मान निवास करने में सक्षम प्रणामकारी होते हैं ॥३७१॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—जो व्यक्ति, जगन्नाथ को प्रणाम करते हैं, वे कृतार्थ होते हैं, उनके सकल पाप विध्वंस होते हैं ॥३७२॥

विचक्षण व्यक्ति, जानुद्वय, करद्वय एवं मस्तक द्वारा भगवान् को प्रणाम करने से सकल कामना लाभ कर सकते हैं ॥३७३॥

विष्णुपुराण में लिखित है—अनादि, अनन्त, दैत्य दानव हन्ता भगवान् को जो सब मनुष्य नित्य नमस्कार करते हैं, वे सब, पुनर्वार यम दर्शन नहीं करते हैं ॥३७४॥

हे द्विजगण ! जो सब मनुष्य, जगन्नाथ श्रीहरि को सर्वदा नमस्कार करते हैं, उन सबको विष्णुलोक से अन्यत्र गमन नहीं करना पड़ता है ॥३७५॥

नारद पुराण में वर्णित है—श्रीकृष्ण को एक वार मात्र प्रणाम करने से जो फल लाभ होता है, दश संख्यक अश्वमेध यज्ञ के अवभृत स्नान से भी तद्रूप फल नहीं होता है। दशाश्वमेधकारी को पुनर्वार जन्म ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु श्रीकृष्ण को प्रणाम करने से पुनर्वार जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है ॥३७६

हरिभक्तिसुधोदय में लिखत है— श्रीविष्णु को प्रणाम करते समय, भक्त व्यक्ति, जिस समय भूमि में निपतित होते हैं, उस समय उनके सकल पाप निपतित होते हैं, अर्थात् विनष्ट होते हैं, किन्तु उत्थान के समय वे पुनर्वार पापों के सहित उत्थित नहीं होते हैं, अर्थात् उनका पाप, अवशेष नहीं रहता है ॥३७७॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल संवादे—

तपस्तप्त्वा नरो घोरमरण्ये नियतेन्द्रियः। यत् फलं समवाप्नोति तन्नत्वा गरुड़ध्वजम् ॥३७८

कृत्वापि बहुशः पापं नरो मोहसमन्वितः। न याति नरकं नत्वा सर्व्वपापहरं हरिम् ॥३७९॥

तत्रैव वेदनिधिस्तुतौ—

अपि पापं दुराचारं नरं तत् प्रणतः हरेः। नेक्षन्ते किङ्करा याम्या उलूकास्तपनं यथा ॥३८०॥

विष्णुपुराणे श्रीयमस्य निजभटानुशासने—

हरिममरगणार्च्चिताङ्घ्रि पद्मं, प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्यः।
तमपगतसमस्तपापबन्धं, व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम् ॥३८१॥

ब्रह्मवैवर्त्ते—

शरणागतरक्षणोद्यतं, हरिमीशं प्रणमन्ति ये नराः।
न पतन्ति भवाम्बुधौ स्फुटं, पतितानुद्धरति स्म तानसौ ॥३८२॥

अष्टमस्कन्धे च बलिवाक्ये (२३।२)—

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः, प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः।
यल्लोकपालैस्तदनुग्रहोऽमरै,-रलब्धपूर्व्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥३८३॥

नेक्षन्ते ईक्षितुमपि न शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥३८०॥

परमार्थतः तत्त्वतः, अतएवापगतसमस्तपापबन्धम् ॥३८१॥

पूर्व्वं पश्चाद्वा कथञ्चिद्भवाम्बुधौ पतितानपि सतः तान् प्रणामकर्त्तॄन् असौ हरिरुद्धरति स्म उद्धार;
द्धा, स्म हेतौ, पतितान् भ्रष्टानपि तान् नरानसावुद्धरति, यतः तत् किं वक्तव्यं, तत्प्रणामकारिणो न
पतन्तीत्यर्थः ॥३८२॥

अहो भगवन्, त्वत्प्रणामस्य महिमा, यदर्थं कृतः समुद्यम एव प्रपन्नानां त्वदेकनिष्ठभक्तानां योऽर्थस्तस्य

पद्मपुराण के देवदूत विकुण्डल संवाद में वर्णित है—मनुष्य, इन्द्रिय संयम के सहित अरण्य में नियत दुष्कर तपस्या करके जो फल लाभ करते हैं, गरुड़ध्वज भगवान् को नमस्कार करने से वह फल लाभ होता है ॥३७८॥

जो व्यक्ति, अनेकानेक पापाचरण करके मोह ग्रस्त होते हैं, सर्वपापहर श्रीहरि को नमस्कार करने से पुनर्वार उनको नरक गमन नहीं करना पड़ता है ॥३७९॥

पद्मपुराण की वेदनिधि स्तुति में लिखित है—पेचकगण, जिस प्रकार सूर्य्य की ओर दृष्टि सञ्चालन में सक्षम नहीं होते हैं, उस प्रकार हरि-प्रणामकारी पापी एवं दुराचारी व्यक्ति के प्रति भी यम-किङ्करगण दृष्टिपात करने में सक्षम नहीं होते हैं ॥३८०॥

विष्णुपुराण के निज दूतगण के प्रति श्रीयमराज के उपदेश के प्रसङ्ग में वर्णित है—देवगण भी जिनके पदकमल की पूजा करते हैं, उन श्रीहरि को जो मानव, भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं, उनके समस्त पाप विनष्ट होते हैं, सुतरां होमाग्नि के समान पूत उन मानव को परित्याग कर तुम सब अन्यत्र गमन करना।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में लिखा है—जो सब मनुष्य, शरणागत पालक श्रीहरि को प्रणाम करते हैं, वे सब संसार जलधि में कभी भी निपतित नहीं होते हैं, किंवा यदि कभी पतित होने की सम्भावना होती है, तथापि श्रीहरि उन सबका उद्धार करते हैं ॥३८१-३८२॥

श्रीमद्भागवत के अष्टमस्कन्ध में बलि वाक्य में प्रकाश है—मैंने, शरणागत भक्तवृन्द के समान सावधान

अतएव नारायणव्यूहस्तवे—

अहो भाग्यमहो भाग्यमहो भाग्यं नृणामिदम् ।
येषां हरिपदाब्जाग्रे शिरो न्यस्तं यथा तथा ।।३८४।।

किञ्च नारसिंहे श्रीयमोक्तौ—

तस्य वै नारसिंहस्य विष्णोरमिततेजसः । प्रणामं ये प्रकुर्व्वन्ति तेषामपि नमो नमः ।।३८५।।

भविष्योत्तरे च जलधेनुप्रसङ्गे—

विष्णोर्देवजगद्धातुर्जनार्द्दनजगत्पतेः । प्रणामं ये प्रकुर्व्वन्ति तेषामपि नमो नमः ।।३८६।। इति।

बृहन्नारदीये लुब्धकोपाख्यानारम्भे—

सकृद्वा न नमेद्यस्तु विष्णवे शर्म्मकारिणे । शवोपरं विजानीयात् कदाचिदपि नालपेत् ।।३८७

किञ्च, पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये यमब्राह्मण-संवादे—

पश्यन्तो भगवद्द्वारं नामशस्त्रपरिच्छदम् । अकृत्वा तत्प्रणामादि यान्ति ते नरकौकसः ।।३८८

विधौ अभक्तेऽपि मयि तस्य सम्पादने समाहितोऽप्रमत्तः स्थितः; कुतः ? यत् येनोद्यमेन लोकपालैः मरैः सत्त्वप्रधानैरप्यलब्धपूर्व्वस्त्वदनुग्रहः अपसदे नीचे राजसे मय्यर्पितः । अयं भावः—परमेश्वराय तुभ्यमहं वराकस्त्रिलोकीं दत्तवानित्येतदास्तां, प्रणामोऽपि न सम्यक् कृतः, किन्तु तदर्थमुद्यममात्रं कृतं, तेन च कर्म्मतपोदानादिकोटिभिरप्यलभ्यस्त्वदनुग्रहः सम्पादितः, अहो तत्प्रणामप्रभावाश्चर्य्यत्वमिति ।।३८३।।

यथा तथा येन केनापि प्रकारेणेत्यर्थः ।।३८४।।

तेषां तेभ्योऽपि नमो नमः, भक्त्या वीप्सा ।।३८५-३८६।।

अप्यर्थे वा-शब्दः, नालपेत् तं न सम्भाषेत, नास्तिकत्वापत्तेः ।।३८७।।

नाम श्रीकृष्णादि, शस्त्रं सुदर्शनादि, ताभ्यां शोभितमित्यर्थः; इति भगवदालयलक्षणमुक्तम् । तस्य भगवतः प्रणामम्, आदि-शब्देन दर्शनादि अकृत्वा ये यान्ति ।।३८८।।

होकर प्रणाम करने के निमित्त केवल मात्र उद्यम ही किया, किन्तु प्रणाम करने में सक्षम नहीं हुआ, तथापि आपने यह हीन असुर के प्रति जो अनुग्रह प्रदर्शन किया है, इस प्रकार अनुग्रह को पूर्वकाल में सत्त्व प्रधान लोकपालगण भी प्राप्त नहीं किये हैं ।।३८३।।

अतएव नारायण व्यूह स्तव में वर्णित है—जो सब मनुष्य के मस्तक श्रीहरि-चरणकमल के अग्रभाग में प्रणत होते हैं, अहो, उनका क्या ही सौभाग्य है ? ।।३८४।।

नृसिंह पुराण में श्रीयम ने कहा है—जो असीमतेजाः नृसिंह रूपी उन श्रीहरि की वन्दना करते हैं, उनको पुनः पुनः प्रणाम ।।३८५।।

भविष्य पुराण के उत्तर भाग में जलधेनु प्रसङ्ग में वर्णित है—जगत् के धारणकर्त्ता जगत्पति जनार्दन विष्णु को जो लोग प्रणाम करते हैं, उन सब व्यक्तियों को बारम्बार प्रणाम करता हूँ ।।३८६।।

अथ प्रणाम नित्यता

बृहन्नारदीय के लुब्धक उपाख्यान के आरम्भ में वर्णित है—जो व्यक्ति, मङ्गलमय श्रीविष्णु को एक बार मात्र भी नमस्कार नहीं करते हैं, उनको शव तुल्य जानना चाहिये, उनसे कभी वार्त्तालाप न करे ।।३८७

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में यम-ब्राह्मण-संवाद में वर्णित है—जो मानव, श्रीकृष्ण प्रभृति नाम एवं सुदर्शनादि अस्त्र द्वारा शोभित भगवद्-द्वार को देखकर भी अर्थात् उक्त लक्षणों से भगवन् मन्दिर है, जानकर भी भगवान् का दर्शन एवं उनको प्रणाम न करके प्रस्थान करते हैं वे सब मानव नरक में निवास करते हैं ।।३८८।।

अथ नमस्कारे निषिद्धानि

विष्णुस्मृतौ—

जन्म प्रभृति यत्किञ्चित् पुमान् वै धर्म्ममाचरेत्।
सर्व्वं तन्निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात् ॥३८९॥

वाराहे—
वस्त्रप्रावृतदेहस्तु यो नरः प्रणमेत माम्। श्वित्री स जायते मूर्खः सप्त जन्मानि भामिनी ॥३९०॥

किञ्चान्यत्र—
अग्रे पृष्ठे वामभागे समीपे गर्भमन्दिरे। जपहोमनमस्कारान्न कुर्य्यात् केशवालये। ३९१॥

अपि च—

सकृद्भूमौ निपतितो न शक्तः प्रणमेन्मुहुः।
उत्थायोत्थाय कर्त्तव्यं दण्डवत् प्रणिपातनम् ॥३९२॥ इति।

अथ प्रदक्षिणा

ततः प्रदक्षिणां कुर्य्याद्भक्त्या भगवतो हरेः।
नामानि कीर्त्तयन् शक्तौ ताञ्च साष्टाङ्गवन्दनाम् ॥३९३॥

प्रदक्षिणा-संख्या

नारसिंहे—

एकां चण्ड्यां रवौ सप्त तिस्रो दद्याद्विनायके।
चतस्रः केशवे दद्यात् शिवे त्वर्द्ध-प्रदक्षिणाम्। ३९४॥

अग्रादिकं भगवत एव ज्ञेयः तत्र न कुर्य्यात्। केशवालय इति आलयस्यतिः तत्स्थाने तु कुर्यादित्यर्थः। ॥३९१॥ शक्तश्चेत्तर्हि भूमौ सकृन्निपतितः सन् शिरश्चालनादिमात्रेण मुहुर्न प्रणमेत्। ननु तर्हि कथं प्रणमेत्? तदाह—उत्थायेति ॥३९२॥

शक्तौ सत्याञ्च तां प्रदक्षिणामष्टाङ्गेन वन्दनेन प्रणामेन सहितां कुर्य्यात् ॥३९३॥

अथ नमस्कारे निषिद्धानि

विष्णु स्मृति में उक्त है—यदि कोई मानव, एक हस्त के द्वारा भगवान् को अभिवादन करते हैं, तो उनके द्वारा जन्मावधि जो कुछ धर्माचरण हुये हैं, वे सब ही निष्फल होते हैं ॥३८९॥

वराह पुराण में लिखित है—हे भामिनि! जो व्यक्ति, सर्व देह को वस्त्रावृत करके मुझको प्रणाम करते हैं, वे सप्तजन्म यावत् धवल कुष्ठ रोगी एवं मूर्ख होते हैं ॥३९०॥

अन्यत्र भी वर्णित है—केशव-मन्दिर में श्रीभगवान् के अग्रभाग में, पश्चाद्भाग में, वामभाग में, निकट में, मन्दिराभ्यन्तर में जप, होम एवं नमस्कार न करे ॥३९१॥

और भी लिखा है—समर्थ होने पर, एकवार मात्र भूतल में निपतित होकर मस्तक सञ्चालनादि के द्वारा बारम्बार प्रणाम न करे, प्रतिवार ही उत्थित होकर दण्डवत् निपतित होकर प्रणाम करे ॥३९२॥

अथ प्रदक्षिणा

अनन्तर भक्तिपूर्वक भगवान् श्रीहरि को प्रदक्षिणा एवं उनके नाम-कीर्त्तन करे एवं समर्थ होने पर साष्टाङ्ग प्रणाम पूर्वक प्रदक्षिणा करे ॥३९३॥

प्रदक्षिणा-संख्या

नृसिंह पुराण में लिखित है—चण्डीदेवी की एक बार, सूर्य्य की सात बार, गणपति की तीन बार, श्रीहरि की चारबार, और महादेव की अर्द्धबार प्रदक्षिणा करे। "शिव प्रदक्षिणे मन्त्री, अर्द्धचन्द्र क्रमेण तु।

अथ प्रदक्षिणमाहात्म्यम्

वाराहे—

प्रदक्षिणां ये कुर्व्वन्ति भक्तियुक्तेन चेतसा । न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम् ॥३६५

यस्त्रिः प्रदक्षिणं कुर्य्यात् साष्टाङ्गकप्रणामकम् । दशाश्वमेधस्य फलं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥३६६

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

विष्णोर्विमानं यः कुर्य्यात् सकृद्भक्त्या प्रदक्षिणम् ।
अश्वमेधसहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ॥३६७॥

तत्रैव चातुर्म्मास्य-माहात्म्ये—

चतुर्व्वारं भ्रमीभिस्तु जगत् सर्व्वं चराचरम् ।
क्रान्तं भवति विप्राग्र्य तत्तीर्थगमनाधिकम् ॥३६८॥

तत्रैवान्यत्र—

प्रदक्षिणन्तु यः कुर्य्यात् हरिं भक्त्या समन्वितः ।
हंसयुक्तविमानेन विष्णुलोकं स गच्छति ॥३६९॥

नारसिंहे—

प्रदक्षिणेन चैकेन देवदेवस्य मन्दिरे । कृतेन यत् फलं नृणां तच्छृणुष्व नृपात्मज ।
पृथ्वी-प्रदक्षिणफलं यत्तत् प्राप्य हरिं व्रजेत् ॥४००॥

पुण्यमत्र भक्तिलक्षणं, तत्कृतां भक्तानामित्यर्थः ॥३६५॥ विमानमिव विमानं प्रासादं रथं वा ॥३६७॥
क्रान्तं परिक्रान्तं, भ्रमी प्रदक्षिणा, तीर्थगमनाधिकम् ॥३६८॥

सव्यासव्य क्रमेणैव सोमसूत्रं न लङ्घयेत् ॥" शिव की प्रदक्षिणा करनी हो तो, अर्द्धचन्द्राकार से प्रदक्षिणा करनी चाहिये । अर्थात् बाँई ओर से दक्षिण ओर गमन करे । किन्तु सोमसूत्र लङ्घन न करे । जल निकलने के मार्ग को सोमसूत्र कहते हैं ॥३९४॥

अथ प्रदक्षिणमाहात्म्यम्

वराह पुराण में लिखित है—जो मानव, भक्तियुक्त चित्त से श्रीहरि की प्रदक्षिणा करते हैं, उनको यमपुर गमन नहीं करना पड़ता है । वे भक्तजनों की गति प्राप्त करते हैं ॥३९५॥

जो मानव, साष्टाङ्ग प्रणाम पूर्वक भगवान् की वारत्रय परिक्रमा करते हैं, वे दश अश्वमेध यज्ञ का फल लाभ करते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥३९६॥

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है—जो मनुष्य, भक्तिपूर्वक सकृमात्र श्रीविष्णु मन्दिर अथवा रथ की प्रदक्षिणा करते हैं, वे सहस्र अश्वमेध का फल लाभ करते हैं ॥३९७॥

उक्त ग्रन्थ में चातुर्मास्य माहात्म्य में वर्णित है—हे विप्रश्रेष्ठ ! भगवान् की प्रदक्षिणा चार बार करने से चराचर विश्व की प्रदक्षिणा होती है, एवं तद्द्वारा तीर्थगमन से भी अधिक फल लाभ होता है ॥३९८॥

उक्त ग्रन्थ के अन्यत्र भी वर्णित है—जो मानव, भक्तिपूर्वक श्रीहरि की प्रदक्षिणा करते हैं, वे हंसयुक्त विमान में आरोहण पूर्वक विष्णुलोक गमन करते हैं ॥३९९॥

नृसिंह पुराण में लिखित है—हे राजकुमार ! मानवगण को देवश्रेष्ठ श्रीहरि-मन्दिर की एक बार मात्र प्रदक्षिणा करने से जो फल लाभ होता है, उसका श्रवण करो । वे सब व्यक्ति पृथिवी प्रदक्षिण का फल प्राप्त कर भगवान् श्रीहरि को प्राप्त करते हैं ॥४००॥

अन्यत्र च—

एवं कृत्वा तु कृष्णस्य यः कुर्य्याद्द्विः प्रदक्षिणम् । सप्तद्वीपवतीपुण्यं लभते तु पदे पदे ।
पठन्नामसहस्रन्तु नामान्येवाथ केवलम् ॥४०१॥

हरिभक्तिसुधोदये—

विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्व्वन् यस्तत्रावर्त्तते पुनः । तदेवावर्त्तनं तस्य पुनर्नावर्त्तते भवे ॥४०२॥

वृहन्नारदीये यमभगीरथ-संवादे—

प्रदक्षिणत्रयं कुर्य्याद्यो विष्णोर्मनुजेश्वर । सर्व्वपापविनिर्मुक्तो देवेन्द्रत्वं समश्नुते ॥४०३॥

तत्रैव प्रदक्षिणमाहात्म्ये सुधर्म्मोपाख्यानारम्भे—

भक्त्या कुर्व्वन्ति ये विष्णोः प्रदक्षिणचतुष्टयम् ।
तेऽपि यान्ति परं स्थानं सर्व्वलोकोत्तमोत्तमम् ॥४०४॥ इति ।
तत् ख्यातं यत् सुधर्म्मस्य पूर्व्वस्मिन् गृध्रजन्मनि ।
कृष्णप्रदक्षिणाभ्यासान्महासिद्धिरभूदिति ॥४०५॥

अथ प्रदक्षिणायां निषिद्धम्

विष्णुस्मृतौ—

एकहस्तप्रणामश्च एका चैव प्रदक्षिणा । अकाले दर्शनं विष्णोर्हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥४०६॥

सप्तद्वीपवत्याः पृथिव्याः पुण्यं दानेन प्रदक्षिणीकरणेन वा यत् फलं तदित्यर्थः । अथेति अथवा, आवर्त्तते परिभ्रमति ॥४०१॥

अपि निश्चये, पूर्व्वोक्त-समुच्चये वा, प्रयान्ति इति वा पाठः ॥४०४॥

किं तदिति लिखति—यत् तत् ख्यातं वृहन्नारदीयतः प्रसिद्धमेव, अतस्तद्विशेषलिखनेनालमिति भावः । सुधर्म्मस्येति; तदाख्यायिका च तत्रैव प्रसिद्धा ॥४०५॥

अकाले भोजनादिसमये ॥४०६॥

अन्यत्र भी वर्णित है—जो व्यक्ति, श्रीहरि की प्रदक्षिणा दो बार करते हैं, एवं सहस्रनाम अथवा प्रभु का नाम मात्र कीर्त्तन करते हैं, वे सप्तद्वीपवती वसुन्धरा प्रदक्षिणा का अथवा वसुन्धरा दान का फल लाभ करते हैं ॥४०१॥

हरिभक्ति सुधोदय में उक्त है—जो मानव, श्रीविष्णु की एक बार प्रदक्षिणा करके पुनर्वार प्रदक्षिणा करते हैं, उनको पुनर्वार संसार में प्रत्यावर्त्तन नहीं करना पड़ता है ॥४०२॥

वृहन्नारदीय पुराण के यम-भगीरथ-संवाद में वर्णित है—हे राजन्! जो मनुष्य, श्रीविष्णु की परिक्रमा तीन बार करते हैं वे समस्त पापों से मुक्त होकर इन्द्रत्व को प्राप्त होते हैं ॥४०३॥

वृहन्नारदीय पुराण के प्रदक्षिणा माहात्म्य में सुधर्मोपाख्यान के प्रारम्भ में लिखित है—जो मनुष्य, भक्तिपूर्वक श्रीविष्णु की प्रदक्षिणा वारचतुष्टय करते हैं, सर्वलोकों के उत्तम स्थान से भी उत्तम स्थान में उनकी गति होती है ॥४०४॥

पूर्वतन गृध्र जन्म में श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा का अभ्यास से ही सुधर्मा को जो महासिद्धि प्राप्त हुई थी, वह वृहन्नारदीय पुराण में प्रसिद्ध है ॥४०५॥

अथ प्रदक्षिणायां निषिद्धम्

विष्णुस्मृति में वर्णित है– एक हस्त से प्रणाम, एक वार प्रदक्षिणा एवं अकाल में अर्थात् भोजनादि के समय में श्रीहरि का दर्शन करने से पूर्व्वार्जित पुण्य विनष्ट होता है ॥४०६॥

किञ्च—

कृष्णस्य पुरतो नैव सूर्य्यस्यैव प्रदक्षिणाम् । कुर्य्याद्भ्रमरिकारूपां वैमुख्यापादनीं प्रभौ ॥४०७

तथा चोक्तम्—

प्रदक्षिणं न कर्त्तव्यं विमुखत्वाच्च कारणात् ॥४०८॥

अथ कर्म्माद्यर्पणम्

ततः श्रीकृष्णपादाब्जे दास्येनैव समर्पयेत् । त्रिभिर्मन्त्रैः स्वकर्म्माणि सर्व्वाण्यात्मानमप्यथ ॥४०९

मन्त्राश्च

इतः पूर्व्वं प्राणबुद्धिधर्म्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्म्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं, यदुक्तं, यत् कृतं, तत् सर्व्वं श्रीकृष्णार्पणं भवतु स्वाहा । मां मदीयञ्च सकलं हरये समर्पयामीति । ॐतत् सत् ॥४१०॥ इति।

अथ तत्र कर्म्मार्पणम्

बृहन्नारदीये—

विरागी चेत् कर्म्मफले न किञ्चिदपि कारयेत् ।
अर्पयेत् स्वकृतं कर्म्म प्रीयतामिति मे हरिः ॥४११॥

भ्रमरिका आवर्त्तवद्भ्रमणं, तद्रूपां प्रदक्षिणां नैव कुर्य्यात् । तत्र हेतुः— प्रभौ भगवति वैमुख्यं पृष्ठदानं, तस्य आपादनीं कारिणीम् ॥४०७॥

दास्येनैव ब्रह्मार्पणादिरूपेण, अथानन्तरमात्मानमपि तथैव समर्पयेत् ॥४०९॥

मनसा यत् स्मृतं, वाचा यदुक्तं, हस्तादिभिः कर्म्मणा यत् कृतमिति सम्बन्धः । तत्र शिश्ना शिश्नेन ॥४१०॥

हरिर्मे प्रीयतामित्येवं समर्पयेत् ॥४११॥

और भी वर्णित है—श्रीकृष्ण के सम्मुख में मण्डलाकार श्रीसूर्य्यदेव की प्रदक्षिणा न करे, ऐसा करने से भगवान् के सम्मुख में पश्चाद् देश स्थापित होता है ॥४०७॥

तद्विषय में वर्णित है—वैमुख्य कारण निबन्धन निषिद्ध प्रदक्षिणा अर्थात् उनकी ओर से पृष्ठ करके प्रदक्षिणा करने का निषेध है ॥४०८॥

अथ कर्म्माद्यर्पणम्

अनन्तर तीन मन्त्र द्वारा श्रीकृष्ण के पाद-पद्म में दास्य भाव से निज कर्मसमूह का अर्पण करे, पश्चात् आत्मार्पण भी करना चाहिये ॥४०९॥

मन्त्र इस प्रकार है—सर्व श्रीकृष्णार्पणं भवतु स्वाहा । मां मदीयञ्च सकलं हरये समर्पयामीति । ॐतत् सत् । इति । (१) मैं प्राण, बुद्धि, देह एवं धर्म में अधिकारी होकर इति पूर्व में जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के समय चित्त में जो स्मरण किया है, वाक्य से जो प्रकाश किया है और कर्म (शारीरिक प्रयत्न) हस्त, पद, उदर एवं शिश्न द्वारा जो कुछ किया है, वह सब श्रीहरि को समर्पित होवे । (२) निज को एवं मदीय वस्तु समूह श्रीहरि को समर्पण करता हूँ । (३) वे ब्रह्मा, विष्णु, शिवात्मक एवं नित्य स्वरूप हैं । अर्थात् 'ॐ तत् सत्' इस मन्त्र का प्रयोग करे ॥४१०॥

अथ तत्र कर्म्मार्पणम्

बृहन्नारदीय में वर्णित है—कर्मफल में विरक्त होने पर कुछ भी न करे । "श्रीहरिर्मे प्रीयताम्" अर्थात् "भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों"—यह कहकर स्वकृत कर्म अर्पण करे ॥४११॥

अतएव कूर्म्मपुराणे —

प्रीणातु भगवानीशः कर्म्मणानेन शाश्वतः । करोति सततं बुद्धया ब्रह्मार्पणमिदं परम् ।।४१२।।

यद्वा फलानां संन्यासं प्रकुर्य्यात् परमेश्वरे । कर्म्मणामेतदप्याहुर्ब्रह्मार्पणमनुत्तमम् ।।४१३।।

अथ कर्म्मार्पण विधिः

दक्षेण पाणिनार्घ्यस्थं गृहीत्वा चुलुकोदकम् । निधाय कृष्णपादाब्ज-समीपे प्रार्थयेदिदम् ।।४१४।।

पादत्रयक्रमाक्रान्त त्रैलोकेश्वर केशव । त्वत्प्रसादादिदं तोयं पाद्यं तेऽस्तु जनार्द्दन ।।४१५।।

अथ कर्म्मार्पणमाहात्म्यम्

बृहन्नारदीये—

परलोकफलप्रेप्सुः कुर्य्यात् कर्म्माण्यतन्द्रितः । हरेर्निवेदयेत्तानि तत् सर्व्वं त्वक्षयं भवेत् ।।४१६।।

अतएव नारायण व्यूहस्तवे —

कृष्णार्पितफलाः कृष्णं स्वधर्म्मेण यजन्ति ये ।
विष्णुभक्तचर्यिनो धन्यास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ।।४१७।।

अथ स्वार्पणविधिः

अहं भगवतोऽहंशोऽस्मि सदा दासोऽस्मि सर्व्वथा ।
तत्कृपापेक्षको नित्यमित्यात्मानं समर्पयेत् ।।४१८।।

प्रीणात्विति-बुद्धया करोति यत्, परं श्रेष्ठं, नाहं कर्त्ता, सर्व्वमेतत् ब्रह्मैव कुरुते, तथा ह्यत्र तद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमित्यादिना तत्रैवोक्तप्रकारदर्शनात् । संन्यासं समर्पणं कर्म्मणां वा संन्यासम् ।।३१२-४१३।।

दक्षेण दक्षिणेन, अर्घ्यस्थमर्घ्यपात्रवर्त्ति चुलुकमात्रोदकम् ।।४१४।।

'अंशोऽस्मि' इत्यनेन नित्यमुक्तशुद्धस्वभावत्वादिकम्, अतः सदा दासोऽस्मीति नित्यदास्यं चाभिप्रेतम् । एवं सर्व्वप्रकारेण; यद्वा, तथापि सर्व्वथा या तस्य भगवतः कृपा, तस्या अपेक्षकः; तदेक प्रार्थक इति प्रेमपरता सूचिता । इति एवमेवात्मानं सम्यगर्पयेत, न त्वैक्येनेत्यर्थः ।।४१८।।

अतएव कर्मपुराण में वर्णित है—नित्यस्वरूप भगवान् ईश्वर, मदीय कर्म द्वारा प्रसन्न हों, सर्वदाही इस प्रकार जानकर कर्मानुष्ठान करने से वे सब श्रेष्ठ ब्रह्मार्पण होते हैं अथवा कर्म का निखिल फल परमेश्वर को अर्पण करने से वह भी श्रेष्ठ ब्रह्मार्पण शब्द से अभिहित होता है ।।४१२-४१३।।

अथ कर्म्मार्पण विधिः

दक्षिण हस्त में अर्घ्यपात्रस्थ एक चुल्लू जल लेकर श्रीकृष्ण के चरणकमल समीप में रखकर प्रार्थना करे—हे त्रिविक्रम ! हे त्रिभुवनाधिपते ! हे केशव ! हे जनार्दन ! आपके अनुग्रह से—यह उदक आपका चरणोदक अर्थात् पाद्य हो ।।४१४-४१५।।

अथ कर्म्मार्पण माहात्म्यम्

बृहन्नारदीय में लिखित है—जो मनुष्य, परलोक फल लाभ कामना से सावधान होकर क्रियानुष्ठान करते हैं, एवं वे सब कार्य्यसमूह का अर्पण श्रीहरि को करते हैं, उनके सब कर्म अक्षय होते हैं ।।४१६।।

अतएव नारायण व्यूह स्तव में लिखित है—जो मनुष्य, विष्णुभक्ति-परायण होकर श्रीकृष्ण को कर्म फल अर्पण पूर्वक निज निज धर्मानुसार उनकी पूजा करते हैं, वे ही धन्यवाद के पात्र हैं, सुतरां उनको पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ ।।४१७।।

अथ स्वार्पणविधिः

मैं भगवदंश हूँ एवं सर्वदा सब प्रकार से उनका किङ्कर हूँ । मैं सतत उनकी कृपा का प्रार्थी हूँ । इस प्रकार से आत्म-समर्पण करना चाहिये ।।४१८।।

तथा चोक्तं श्रीशङ्कराचार्य्यपादैः—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥४१९॥

अथात्मार्पण-माहात्म्यम्

सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादोक्तौ (६-२६)—

धर्म्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग, ईक्षा त्रयी नय-दमौ विविधा च वार्त्ता ।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं, स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥४२०॥

एकादशे श्रीभगवदुद्धव-संवादे (२९।३४)—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा, निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो, मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥४२१॥

तच्च मायावाद्याचार्य्योक्त्यापि संवादयति—सत्यपीति; भेदस्य मायाकृतसंसारित्वादेरपगमे वृत्तेऽपि, आत्मतत्त्वज्ञाने सत्यपीत्यर्थः । 'तवाहं दासोऽस्मि' इत्यर्थः, न तु मामकीनस्त्वम्, अंशेनांशिनो व्यापकत्वासम्भवात्, तथा सति साम्यापत्तेः । एवं भेदाभेदसिद्धान्तोक्तमभेदेऽपि भेदं दृष्टान्तेन साधयति—सामुद्र इति। तरङ्गस्य जलमयत्वादिना समुद्रादभिन्नत्वेऽपि अंशतया परिच्छिन्नत्वादिना ततो भिन्न एवेति दिक् । एतच्च श्रीभागवतामृतटीकायां विस्तरेण विवृतमेवास्ति ॥४१९॥

धर्म्मोऽर्थ कामश्चेति यस्त्रिवर्गः; तदर्थञ्च ये ईक्षाद्या अभिहिताः, ईक्षा आत्मविद्या, त्रयी धर्म्मविद्या, नयस्तर्कः, दमो दण्डनीतिः, विविधा च वार्त्ता जीविका, तदेतत् सर्व्वं निगमस्य वेदस्यार्थजातं स्वसुहृदः स्वान्तर्यामिणो निजप्रियतमस्य वा परमस्य वा पुंसः पुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्य स्वात्मार्पणं स्वात्मनि अर्पणं संयोजनम्; यद्वा, स्वात्मनः स्वकीयदेहस्य मनसो वा, किंवा जीवात्मनस्तस्मिन्नर्प्यतेऽनेनेत्यर्पणं, तत्साधनञ्चेत्तर्हि सत्यं मन्ये, सत्यपरत्वात्; अन्यथा तु तत् सर्व्वसत्यमेव; अथवा तदेतदखिलं निगमस्य त्रैगुण्यविषयस्य प्रतिपाद्यं मन्ये । सत्यं, पुनर्निस्त्रैगुण्यलक्षणं परमस्य पुंसः स्वात्मार्पणमेवेत्यर्थः; तथा च श्रीभगवद्गीतासु (२।४५)—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्ज्जुन' इति ॥४२०॥

मर्त्यो यदा त्यक्त-समस्तकर्म्मा सन् निवेदितात्मा भवति, तदाऽसौ मे विचिकीर्षितः प्रेमभक्त्यादिप्रदानेन विशिष्टः कर्त्तुमिष्टो भवति । तथा च अमृतत्वं संसारध्वंसेन मरणातीतत्वं परमानन्दरसं वा; यद्वा, ममाधरा-

---

इस विषय में श्रीशङ्कराचार्य्य की उक्ति यह है—हे नाथ ! ब्रह्म एवं संसार के मध्य में मायाकृत भेद ज्ञान अपसारित होने से अर्थात् आत्मतत्त्व ज्ञानोदय होने से मैं अनुभव करूँगा, "मैं आपका ही दास हूँ, मैं, आप नहीं हूँ, अर्थात् मैं ब्रह्म नहीं हूँ।" जलमय तरङ्ग—समुद्र का अंश है, तरङ्ग समुद्र पद वाच्य नहीं है। कारण—अंश कभी अंशी को व्याप्त नहीं कर सकता है। इस प्रकार अभेद में भी दृष्टान्त से भेद का संस्थापन करते हैं। समुद्र की तरङ्ग सलिलमय होने पर भी तरङ्ग शब्द से ही पुकारी जाती है, कभी उसको समुद्र कहकर नहीं पुकारा जाता है ॥४१९॥

अथात्मार्पण माहात्म्यम्

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद की उक्ति में वर्णित है—धर्मार्थकाम रूप त्रिवर्ग साधन के निमित्त जो ईक्षा (आत्मज्ञान) त्रयी (धर्मज्ञान, नय (तर्क) दम (दण्डनीति) वर्त्ता (जीविका) का विषय कथित है, वह सब वेद का ही प्रतिपादित हैं, एवं अन्तर्य्यामी श्रीहरि में जो आत्म-समर्पण है, वही सत्य रूप में प्रतीत होता है ॥४२०॥

एकादश स्कन्ध के श्रीभगवत्-उद्धव-संवाद में वर्णित है—मानव समस्त कर्मों को छोड़कर यदि मुझमें

अथ जपः

जपस्य पुरतः कृत्वा प्राणायामत्रयं बुधः। मन्त्रार्थस्मृतिपूर्व्वञ्च जपेदष्टोत्तरं शतम्।
मूलं लेख्येन विधिना सदैव जपमालया ॥४२२॥
शक्तोऽष्टाधिकसाहस्रं जपेत्तं चार्पयन् जपम्।
प्राणायामांश्च कृत्वा त्रीन् दद्यात् कृष्णकरे जलम् ॥४२३॥

तत्र चायं मन्त्रः

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादात् त्वयि स्थिते ॥४२४॥ इति।
जपप्रकारो योऽपेक्ष्यो मालादिनियमात्मकः। पुरश्चर्य्याप्रसङ्गे तु स विलिखिष्यतेऽग्रतः ॥४२५
अर्पितं तच्च सञ्चिन्त्य स्वीकृतं प्रभुणाखिलम्।
पुनः स्तुत्वा यथाशक्ति प्रणम्य प्रार्थयेदिदम् ॥४२६॥

मृतत्वं गोप्यत्वेन स्पष्टं तदनुक्तिः। अविरतपानेन तत्र संलग्नत्वादभेदविवक्षायां त्व-प्रत्ययः। प्रतिपद्यमानः प्राप्नुवन्, मया सह आत्मभूयाय अत्यन्तसंयोगाय कल्पते योग्यः समर्थो वा भवति, वै ध्रुवम् ॥४२१॥

मन्त्रस्यार्थः अभिधेयं, तस्य स्मृतिरनुसन्धानं, तत्पूर्व्वकं मूलं निजमन्त्रं, लेख्येन अग्रे पुरश्चरणप्रकरणे लिखिष्यमाणेन विधिना, तत्र च सर्व्वदा जपमालयैव अष्टोत्तरशतवारान् जपेत्। अर्थश्च पूर्व्वतापनीयाद्युक्तानुसारेण ज्ञेयः। तथा च क्रमदीपिकायाम्—'स्वाहेति स्वात्मानङ्गमयामि' इति 'स्वतेजसे तस्मै' इति तथा; अथवा 'व्रजयुवतीनां दयिताय जुहोमि, मां मदीयमपि' इति; एवं श्रीभगवच्चरणारविन्दे स्वात्मसमर्पणरूप एवार्थ इति दिक् ॥४२२॥

शक्तश्चेदष्टाधिक-सहस्रवारान् संजपेत्। तच्च जपं समर्पयन्, श्रीभगवति स्थिते साक्षाद्वर्त्तमाने सति; यद्वा, त्वयि स्थितः, त्वन्निष्ठो यो जनस्तस्मिन् या सिद्धिः, सा मे भवतु ॥४२३-४२४॥

आदि-शब्दादङ्गुल्यादि, वागादि च। सोऽग्रे लिखिष्यते; अतएव ज्ञेय इति भावः ॥४२५॥

भगवत्यर्पितं तच्च जपमखिलं प्रभुणा भगवता स्वीकृतमङ्गीकृतमिति सञ्चिन्त्य ॥४२६॥

आत्म-समर्पण करें, एवं मेरा प्रीतिकर कार्य्य करने के निमित्त इच्छुक हों, तो उस समय वे अमरत्व प्राप्त कर मेरे सहित एकत्र होने में समर्थ होते हैं ॥४२१॥

अथ जपः

विज्ञ व्यक्ति, जप करने के समय प्रथम तीन बार प्राणायाम कर मन्त्रार्थ स्मरण करें, "व्रजललनागणों के प्रिय के उद्देश्य में मैं अपना अपने को भी समर्पण करता हूँ" इस प्रकार श्रीभगवच्चरणारविन्द में आत्म-समर्पण रूप ही मन्त्र का अर्थ है। अनन्तर पश्चाल्लिखित विधि के अनुसार जप-माला में अष्टाधिक शत वार मूल-मन्त्र का जप करें। समर्थ होने से अष्टाधिक सहस्रवार जप करें। जपावसान में तीन बार प्राणायाम कर श्रीकृष्ण के हस्त में जल प्रदान करें ॥४२२-४२३॥

तत्र चायं मन्त्रः

हे देव! आप गोपनीय से भी अत्यन्त गोपनीय हैं एवं रक्षक हैं, अतएव अस्मत्कृत जप ग्रहण करें। आपके प्रति निष्ठाशील व्यक्ति जिस सिद्धि को प्राप्त होते हैं, आपके अनुग्रह से मुझको वही सिद्धि प्राप्त हो। माला के नियमादि संवलित जप का विशेष भेद, पश्चात् पुरश्चरण प्रकरण में लिखित होगा। भगवान् में अर्पित होने पर, वह सब जप, मानों उन्होंने ग्रहण किया है, इस प्रकार चिन्तन करे, एवं शक्त्यनुसार पुनर्वार स्तुति एवं प्रणाम कर वक्ष्यमाण प्रार्थना करे ॥४२४-४२६॥

अथ प्रार्थनम्

आगमे—

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्द्दन। यत् पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥४२७॥

किञ्च—

यद्दत्तं भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम्। आवेदितं निवेद्यन्तु तद्‌गृहाणानुकम्पया ॥४२८॥

विधिहीनं मन्त्रहीनं यत् किञ्चिदुपपादितम्। क्रियामन्त्रविहीनं वा तत् सर्व्वं क्षन्तुमर्हसि ॥४२९

किञ्च—

अज्ञानादथवा ज्ञानादशुभं यन्मया कृतम्। क्षन्तुमर्हसि तत् सर्व्वं दास्येनैव गृहाण माम् ॥४३०

स्थितिः सेवा गतिर्यात्रा स्मृतिश्चिन्ता स्तुतिर्वचः।
भूयात् सर्व्वात्मना विष्णो मदीयं त्वयि चेष्टितम् ॥४३१॥

अपि च—

कृष्ण राम मुकुन्द वामन वासुदेव जगद्‌गुरो।
मत्स्य कच्छप नारसिंह वराह राघव पाहि माम् ॥४३२॥

देव-दानव-नारदादिवन्द्य दयानिधे। देवकीसुत देहि मे तव पादभक्तिमचलाम् ॥४३३॥

श्रीविष्णुपुराणे—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्। तेषु तेष्वच्युतो भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥४३४॥

आवेदितं सर्मपितम् ॥४२८॥

यत्र कुत्रापि कथञ्चिन्मम स्थितिरूद्‌र्ध्वावस्थानं तव सेवारूपा भवत्वित्यर्थः। एवमन्यदप्यूह्यम्, इत्थं सर्व्वात्मना मदीयं चेष्टितं त्वयि भूयात्तद्भक्तिरूपं भवत्वित्यर्थः ॥४३१॥ अच्युता अव्यभिचारिणी ॥४३४॥

अथ प्रार्थनम्

आगम में लिखित है—हे देव! हे जनार्दन! मैं मन्त्रहीन, क्रियाहीन एवं भक्तिहीन होकर जो पूजा-कार्य्य करता हूँ, वह सब परिपूर्ण हों ॥४२७॥

और भी लिखित है—भक्तिपूर्वक जो पत्र, पुष्प, फल एवं जल अर्पित हुआ है, निवेदित वे सब वस्तु आप कृपा पूर्वक ग्रहण करें। विधिहीन, मन्त्रहीन अथवा क्रियामन्त्र विवर्जित जो कोई कर्म सम्पादित हुये हैं, वह सब आप क्षमा कीजिये ॥४२८-४२९॥

और भी वर्णित है—अज्ञान से हो, अथवा ज्ञान से हो, मैंने जो कुछ अशुभ कार्य्य किया हूँ वे सब आप क्षमा कीजिये और मुझको निज दास्य में ग्रहण कीजिये ॥४३०॥

हे विष्णो! स्थिति, सेवा, गति, यात्रा, स्मृति, चिन्ता, स्तुति, वाक्य–इत्यादि मेरी समस्त चेष्टा, आपके उद्देश्य में ही समाहित हों ॥४३१॥

और भी लिखा है—हे कृष्ण! हे राम! हे मुकुन्द! हे वामन! हे वासुदेव! हे जगद्‌गुरो! हे मत्स्य! हे कच्छप! हे नृसिंह! हे वराह! हे राघव! मेरी रक्षा कीजिये ॥४३२॥

हे देव दैत्य नारदादि के वन्दनीय! हे करुणानिधे! हे देवकीनन्दन! आपके चरण-कमलों में मुझको अचलाभक्ति प्रदान करें ॥३३३॥

श्रीविष्णुपुराण में वर्णित है—हे नाथ! हे अच्युत! मैं सहस्र योनि के मध्य में जिस जिस योनि में देह धारण करूँ, उस उस जन्म में आप के प्रति मेरी अतुला अव्यभिचारिणी दृढ़ाभक्ति विद्यमान रहे ॥४३४॥

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥४३५॥

पाण्डवगीतायाम्—

कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु, रक्षःपिशाच-मनुजेष्वपि यत्र तत्र ।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात्, त्वय्येव भक्तिरतुलाऽव्यभिचारिणी च ॥४३६॥

पाद्मे—

युवतीनां यथा युनि युनाञ्च युवतौ यथा । मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥४३७॥

अथापराध-क्षमापणम्

ततोऽपराधान् श्रीकृष्णं क्षमाशीलं क्षमापयेत् ।
सकाकु कीर्त्तयन् श्लोकानुत्तमान् साम्प्रदायिकान् ॥४३८॥

तथा हि—

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया । दासोऽहमिति मां मत्वा क्षमस्व मधुसूदन ॥४३९॥

या यादृशी प्रीतिरविवेकानां विषयासक्तानां विषयेषु अनपायिनी अव्यवच्छिन्ना भवति सा तादृशी प्रीतिः त्वामनुस्मरतः सतो मे हृदयात् नापसर्पतु नापयातु, सदा त्वत्स्मरणे संपद्यतामित्यर्थः ; यद्वा, हे माप हे लक्ष्मीपते, सा विषये प्रीतिस्त्वामनुस्मरतो मे हृदयात् सर्पतु निर्गच्छतु, तत्प्रीतौ सत्यां त्वदनुस्मरणासिद्धे-रित्यर्थः; यद्वा, हृत् अयन्ते स्वभावतः प्राप्नुवन्तीति हृदया विषयाः गृहपुत्रादयो वा, तान् कदाचित् कालान्तरे स्मरतोऽपि मे सा प्रीतिस्त्वामनुलक्ष्यीकृत्य अनपायिनी सती सर्पतु प्रसरतु । अविवेकानामपि कदाचित् विषयेषु प्रीतेरपायं कुण्ठतां चाशङ्क्योक्तम्—अनपायिनीति ॥४३५॥

विषयानुरक्त व्यक्तिवर्ग की प्रीति केवल विषय में रहती है, किन्तु आपका स्मरण कर मेरा हृदय में जो प्रीति सञ्चारित हुई है, वह प्रीति, विषयिगण की विषय प्रीति के समान अव्यवच्छिन्ना होकर विद्यमान रहे, अर्थात् कदाच मेरा हृदय से अपगत न हो, अथवा विषयानुरक्त व्यक्तिगण की प्रीति केवल विषय में ही निबद्ध रहती है, हे लक्ष्मीपते ! तादृश विषयासक्ति जैसे आपका स्मरण मात्र से ही मेरा हृदय से दूर हो जाय ॥४३५॥

पाण्डव गीता में लिखित है—हे केशव ! कीट, पक्षी, मृग, सरीसृप, राक्षस, पिशाच एवं मनुष्य प्रभृति के मध्य में जिस किसी योनि में उत्पन्न होऊँ, आपके अनुग्रह से उस जन्म में ही आपके प्रति मेरी दृढ़ा अचला, अतुलनीया अव्यभिचारिणी भक्ति विद्यमान रहे ॥४३६॥

पद्मपुराण में वर्णित है—जिस प्रकार युवा में युवती का, एवं युवती में युवक का मन परस्पर आसक्त होता है, उस प्रकार मेरा मन आप में जाकर एकान्त अनुरक्त रहे ॥४३७॥

अथापराध-क्षमापणम्

तत्पश्चात् सम्प्रदाय विशुद्ध, उत्तम श्लोकसमूह का उच्चारण कातर स्वर से करके क्षमाशील श्रीकृष्ण के समीप में क्षमा प्रार्थना करे ॥४३८॥

उक्त विषय का वर्णन यह है—हे मधुसूदन ! मैं अहर्निश जो सहस्र अपराध कर रहा हूँ, मुझको दास जानकर वे सब क्षमा कीजिये ॥४३९॥

किञ्च—

प्रतिज्ञा तव गोविन्द न मे भक्तः प्रणश्यति ।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यहम् ॥४४०॥

अथापराधाः

आगमे—

यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे । देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः ॥४४१॥
उच्छिष्टे वाऽथवाऽशौचे भगवद्दर्शनादिकम् । एकहस्त-प्रणामश्च तत्पुरस्तात् प्रदक्षिणम् ॥४४२
पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्य्यङ्कबन्धनम् । शयनं भक्षणं वापि मिथ्याभाषणमेव च ॥४४३॥
उच्चैर्भाषा मिथो जल्पो रोदनानि च विग्रहः । निग्रहानुग्रहौ चैव नृषु च क्रूरभाषणम् ॥४४४
कम्बलावरणं चैव परनिन्दा परस्तुतिः । अश्लील भाषणं चैव अधोवायुविमोक्षणम् ॥४४५॥
शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदित-भक्षणम् । तत्तत्कालोद्भवानाञ्च फलादीनामनर्पणम् ॥४४६॥
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिके । पृष्ठीकृत्वासनञ्चैव परेषामभिवादनम् ॥४४७॥
गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा । अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत् परिकीर्त्तिताः ॥४४८

ननु तवापराधाः क्षम्या न भवन्तीति चेत्तत्र लिखति—प्रतिज्ञेति । अन्यथाऽपराधाचरणानन्तरमेव प्राणान् त्यक्ष्यामीति भावः ॥४४०॥

अग्र इत्यनुवर्त्तत एव, वायुविमोक्षणमित्यन्तम्; तथा पृष्ठीकृत्यासनमित्यत्र परेषामभिवादनमित्यत्रापि ज्ञेयम् । गुरौ मौनं स्तुत्याद्यकरणम् ॥४४१-४४८॥

और भी वर्णित है—हे गोविन्द ! आपकी प्रतिज्ञा, यह है कि "मेरा भक्त कभी नाश को प्राप्त नहीं होता है" मैं इसका स्मरण कर प्राण धारण कर रहा हूँ ॥४४०॥

अथापराधाः

आगम में वर्णित है—यानारूढ़ होकर अर्थात् शकट प्रभृति में आरोहण कर, अथवा चरणों में पादुका धारण कर, भगवान् के मन्दिर में जाना (१) देवोत्सवादि का पालन न करना (२) देवता के सम्मुख में प्रणाम न करना (३) उच्छिष्ट अथवा अपवित्र अवस्था में भगवद्दर्शनादि करना (४) एक हस्त से प्रणाम करना (५) भगवत् सम्मुख में प्रदक्षिणा करना (६) उनके सम्मुख में पाद प्रसारण करना, पैर फैलाना, (७) उनके सम्मुख में पर्य्यङ्कबन्धन करना (८) उनके आगे शयन (९) भोजन (१०) मिथ्या कथन (११) उच्च वाक्य प्रयोग (१२) परस्पर गप्प करना (१३) रोदन (१४) विरोध (१५) निग्रह (१६) अनुग्रह (१७) निष्ठुर वाक्य प्रयोग (१८) कम्बल आवरण (१९) परापवाद (२०) परस्तुति (२१) अश्लील भाषण (२२) अधोवायु त्याग (२३) शक्ति विद्यमान होने पर भी गौण उपचार (२४) अर्थात् मुख्य कल्प करने में सक्षम होने से भी उन्हें न करके गौण उपचार करना। अनिवेदित द्रव्य भोजन (२५) समयोपयोगी फल का अप्रदान (२६) अग्रभाग गृहीत वस्तु प्रदान (२७) भगवान् की ओर पीठ करके बैठना (२८) भगवान् के सम्मुख में अपर को अभिवादन करना (२९) श्रीगुरुदेव की स्तुति प्रभृति न करना (३०) निज प्रशंसा एवं देवता की निन्दा करना (३१-३२) श्रीविष्णु के समीप में यह द्वात्रिंशत् (बत्तीस) प्रकार अपराध वर्णित हुए हैं ॥४४१-४४८॥

वाराहे—

द्वात्रिंशदपराधा ये कीर्त्यन्ते वसुधे मया । वैष्णवेन सदा ते तु वर्ज्जनीयाः प्रयत्नतः ॥४४९॥
ये वै न वर्ज्जयन्त्येतानपराधान् मयोदितान् । सर्व्वधर्म्मपरिभ्रष्टाः पच्यन्ते नरके चिरम् ॥४५०
राजान्नभक्षणञ्चैवमापद्यपि भयावहम् । ध्वान्तागारे हरेः स्पर्शः परं सुकृत-नाशनः ॥४५१॥
तथैव विधिमुल्लङ्घ्य सहसा स्पर्शनं हरेः । द्वारोद्घाटो विना वाद्यं क्रोड़मांसनिवेदनम् ।४५२॥
पादुकाभ्यां तथा विष्णोर्मन्दिराद्योपसर्पणम् । कुक्कुरोच्छिष्टकलनं मौनभङ्गोऽच्युतार्च्चने ॥४५३
तथा पूजनकाले च विड़ुत्सर्गाय सर्पणम् । श्राद्धादिकमकृत्वा च नवान्नस्य च भक्षणम् ॥४५४॥
अदत्त्वा गन्धमाल्यादि धूपनं मधुघातिनः । अकर्म्मण्यप्रसूनेन पूजनञ्च हरेस्तथा ॥४५५॥
अकृत्वा दण्डकाष्ठञ्च कृत्वा निधुवनं तथा । स्पृष्ट्वा रजस्वलां दीपं तथा मृतकमेव च ।४५६॥
रक्तं नीलमधौतञ्च पारक्यं मलिनं पटम् । परिधाय मृतं दृष्ट्वा विमुच्यापानमारुतम् ॥४५७॥

क्रोधं कृत्वा श्मशानञ्च गत्वा भूत्वाप्यजीर्णभुक् ।
भक्षयित्वा क्रोड़मांसं पिण्याकं जालपादकम् ॥४५८॥

तथा कुसुम्भशाकञ्च तैलाभ्यङ्गं विधाय च । हरेः स्पर्शो हरेः कर्म्मकरणं पातकावहम् ॥४५९

किञ्च तत्रैव—

मम शास्त्रं वहिष्कृत्य अस्माकं यः प्रपद्यते ।
मुक्त्वा च मम शास्त्राणि शास्त्रमन्यत् प्रभाषते ॥४६०॥

एवमपराधं विजानीयादिति शेषः; केवलमिति वा ॥४५१॥
विधिमुल्लङ्घ्य आचमनादिकमकृत्वेत्यर्थः ॥४५२॥ कलनं स्पर्शनम् ॥४५३॥
मम शास्त्रं मदुक्तं पञ्चरात्रादि, यद्वा, भक्तिप्रधानं, वहिष्कृत्य अनादृत्य; अस्माकमस्मान् ॥४६०॥

वराहपुराण में वर्णित है—हे धरणि ! मैंने जो द्वात्रिंशद्विध अपराध का वर्णन किया हूँ, वैष्णवगण, यत्नपूर्वक सर्वदा उन सबका त्याग करें। जो व्यक्ति, मत् कथित यह सब अपराध का त्याग नहीं करते हैं, वे सब सर्व धर्म परिभ्रष्ट होकर सदा नरक में वास करते हैं। विपद् काल में भी राजान्न भोजन करने पर एक विषम अपराध होता है और अन्धकार गृह में श्रीहरि को स्पर्श करने से सुनिश्चित पुण्य विनष्ट होता है ॥४४९-४५१॥

उस प्रकार विधि उल्लङ्घन पूर्वक श्रीहरि को स्पर्श करना, वाद्य व्यतीत श्रीविष्णु-मन्दिर का द्वारोद्-घाटन, शूकरमांस अर्पण, पादुका लेकर श्रीविष्णु-मन्दिर में प्रवेश, कुक्कुरोच्छिष्ट स्पर्श, श्रीविष्णु-पूजन के समय मौनभङ्ग, पूजन समय में मलत्यागार्थ गमन, श्राद्धादि न करके नवान्न भोजन, गन्धमाल्यादि प्रदान न करके धूप प्रदान, अप्रशस्त कुसुम के द्वारा श्रीहरि-पूजन, दन्तधावन न करके, स्त्री सम्भोग करके, रजस्वला नारी को स्पर्श करके, दीप एवं मृतव्यक्ति को स्पर्श करके, रक्तवर्ण, नीलवर्ण, अधौत, परकीय, मलिन वसन परिधान पूर्वक, शव दर्शन करके, अधोवायु त्याग करके, क्रोध करके, श्मशान गमन करके, अजीर्ण-भोजी होकर, शूकर मांस, पिण्याक (खर) जालपादक (हंस) एवं कुसुम्भ शाक भक्षण करके, सर्वाङ्ग में तैल म्रक्षणकर अर्थात् तेल मलकर, श्रीहरि को स्पर्श करना एवं तदीय कर्म करण, यह सब करने से अतिशय पातक होता है ॥४५२-४५९॥

उक्त ग्रन्थ में और भी लिखित है—जो व्यक्ति, मत्कथित पञ्चरात्रादि शास्त्र अथवा भक्ति-प्रधान शास्त्रों

मद्यपस्तु समासाद्य प्रविशेद्भवनं मम ॥४६१॥

यो मे कुसुम्भशाकेन प्रापणं कुरुते नरः ॥४६२॥

अपि च—

मम दृष्टेरभिमुखं ताम्बूलं चर्व्वयेत्तु यः । कुरुवक-पलाशस्थैः पुष्पैः कुर्य्यान्ममार्च्चनम् ॥४६३

ममार्च्चामासुरे काले यः करोति विमूढ़धीः । पीठासनोपविष्टो यः पूजयेद्वा निरासनः ॥४६४॥

वामहस्तेन मां धृत्वा स्नापयेद्वा विमूढ़धीः । पूजा पर्य्युषितैः पुष्पैः ष्ठीवनं गर्व्वकल्पनम् ॥४६५॥

तिर्य्यक्पुण्ड्रधरो भूत्वा यः करोति ममार्च्चनम् ।

याचितैः पत्रपुष्पाद्यैर्यः करोति ममार्च्चनम् ॥४६६॥

अप्रक्षालितपादो यः प्रविशेन्मम मन्दिरम् । अवैष्णवस्य पक्वान्नं यो मह्यं विनिवेदयेत् ॥४६७

अवैष्णवेषु पश्यत्सु मम पूजां करोति यः । अपूजयित्वा विघ्नेशं सम्भाष्य च कपालिनम् ॥४६८

नरः पूजान्तु यः कुर्य्यात् स्नपनञ्च नखाम्भसा ।

अमौनी घर्म्मलिप्ताङ्गो मम पूजां करोति यः ॥४६९॥

ज्ञेयाः परेऽपि बहवोऽपराधाः सदसम्मतैः । आचारैः शास्त्रविहित-निषिद्धातिक्रमादिभिः ।

तत्रापि सर्व्वथा कृष्णनिर्म्माल्यन्तु न लङ्घयेत् ॥४७०॥

भवनं समासाद्य प्राप्य विशेत् ; यद्वा, समासाद्येति भूत्वा इत्यर्थः । मद्यपमिति—द्वितीयान्तपाठो वा, ततश्च समासाद्य समागम्य स्पृष्ट्वेत्यर्थः ॥४६१॥

प्रापणं नैवेद्यं, ष्ठीवनं गर्व्वकल्पनञ्चेति द्वयं भगवदालये ज्ञेयम् ॥४६२-४६५॥

याचितैर्याचित्वा गृहीतैः, शक्तौ सत्यामिति शेषः ॥४६६॥ नखाम्भसा नखस्पृष्टजलेन ॥४६९॥

न केवलमेतावन्त एव, अन्येऽपि सन्तीति लिखति—ज्ञेया इति । सतां वैष्णवानामसम्मतैराचारैः कृत्वा

का अनादर कर, मेरी उपासना करता है, एवं मेरे शास्त्रों को परित्यागकर अपर शास्त्रों की प्रशंसा करता है, मद्यपायी का सङ्ग करके मन्निकेतन में प्रवेश करता है, कुसुम्भ शाक के सहित नैवेद्य प्रदान करता है, वह अपराधी होता है ।४६०-४६२॥

और भी कथित है—जो व्यक्ति, मेरी दृष्टि के पुरोभाग में ताम्बूल चर्वण करता है (पान चावता है) कुरुवक एवं पलाश पुष्प के द्वारा मेरी पूजा करता है, मूढ़मति जो मनुष्य, आसुरिक समय में मेरी पूजा करता है, जो पीठासन में किंवा निरासन से मेरी पूजा करता है, जो व्यक्ति, अज्ञानवशतः वामहस्त से धारणकर मुझको स्नान कराता है । जो व्यक्ति, पर्य्युषित पुष्प से पूजा करता है, मन्दिर में निष्ठीवन त्याग करता है (खखार डालता है), जो व्यक्ति गर्व प्रकाश करता है, जो व्यक्ति वक्रपुण्ड्र धारण करके मेरी पूजा करता है, सामर्थ्य होने पर भी अपर के निकट प्रार्थना करके पत्र-पुष्प ग्रहण पूर्वक मेरी पूजा करता है, बिना चरण धोये, चरण प्रक्षालन न करके मन्निकेतन में प्रवेश करता है, जो व्यक्ति वैष्णव व्यतीत अपर व्यक्ति का पक्वान्न मुझे प्रदान करता है, जो व्यक्ति गणपति की पूजा न करके एवं कपालधारी के सहित सम्भाषण करके पूजा करता है, जो मनुष्य नखस्पृष्ट जल द्वारा मुझको स्नान कराता है, मौन भङ्ग करके एवं धर्माक्त देह होकर मेरी पूजा करता है, वे सभी अपराधी होते हैं ॥४६३-४६९॥

एतद्भिन्न साधुगण के असम्मत आचार एवं शास्त्रविहित, निषिद्ध आचारादि अतिक्रम करने से भी अपराध होता है, श्रीहरि के निर्म्माल्य में भी कदाच अश्रद्धा न करे ॥४७०॥

तथा च नारसिंहे शान्तनुं प्रति नारदवाक्यम्—

अतः परन्तु निर्म्माल्यं न लङ्घय महीपते । नरसिंहस्य देवस्य तथान्येषां दिवौकसाम् ॥४७१॥

कृष्णस्य परितोषेप्सुर्न तच्छपथमाचरेत् । नानादेवस्य निर्म्माल्यमुपगृह्णीत न क्वचित् ॥४७२॥

तथा विष्णुधर्म्मोत्तरे—

आपद्यपि च कष्टायां देवेश-शपथं नरः । न करोति हि यो ब्रह्मंस्तस्य तुष्यति केशवः ॥४७३॥

न धारयति निर्म्माल्यमन्यदेवधृतन्तु यः । भुङ्क्ते न चान्य नैवेद्यं तस्य तुष्यति केशवः ॥४७४॥
इति ।

अथापराधशमनम्

सम्वत्सरस्य मध्ये च तीर्थे शौकरके मम । कृतोपवासः स्नानेन गङ्गायां शुद्धिमाप्नुयात् ॥४७५

मथुरायां तथाप्येवं सापराधः शुचिर्भवेत् ॥४७६॥

अनयोस्तीर्थयोरङ्के यः सेवेत् सुकृती नरः । सहस्रजन्मजनितानपराधान् जहाति सः ॥४७७॥

स्कान्दे—

अहन्यहनि यो मर्त्यो गीताध्यायन्तु संपठेत् । द्वात्रिंशदपराधैस्तु अहन्यहनि मुच्यते ॥४७८॥

तत्र कार्त्तिक-माहात्म्ये —

तुलस्या कुरुते यस्तु शालग्रामशिलार्च्चनम् । द्वात्रिंशदपराधांश्च क्षमते तस्य केशवः ॥४७९॥

तत्रैवान्यत्र—

द्वादश्यां जागरे विष्णोर्यः पठेत्तुलसीस्तवम् । द्वात्रिंशदपराधानि क्षमते तस्य केशवः ॥४८०॥

हेतुभिर्वा; तानेव लिखति—शास्त्रेति । शास्त्रेण विहितं निषिद्धञ्च यत् तदतिक्रमादिभिः । आदि शब्देन निजसम्प्रदायाचारातिक्रमादयः ॥४७०॥

उक्त विषय में नृसिंहपुराण में शान्तनु के प्रति नारदोक्ति यह है—हे राजन् ! इसके बाद श्रीनृसिंहदेव एवं अन्यान्य देवता के निर्माल्य में अनादर न करें ॥४७१॥

जो मानव, श्रीहरि को प्रसन्न करने के इच्छुक हैं, वे कभी उनकी शपथ न करें एवं किसी समय भी विभिन्न देवताओं के प्रसाद सेवन न करें ॥४७२॥

विष्णुधर्मोत्तर में कथित है—हे ब्रह्मन् ! आपदकाल उपस्थित होने पर अथवा कष्ट उपस्थित होने पर भी जो व्यक्ति प्रभु की शपथ नहीं करते हैं, श्रीकेशव उनके प्रति सन्तुष्ट होते हैं, एवं जो मानव, अन्य देवता का नैवेद्य भोजन नहीं करते हैं, श्रीकेशव उनके प्रति सन्तुष्ट होते हैं ॥४७३-४७४॥

अथापराधशमनम्

संवत्सर के मध्य में शौकरतीर्थ में अनाहार रहकर गङ्गाजल में स्नान करने से पवित्रता लाभ होती है, मथुरा में भी उस प्रकार उपवास रहकर यमुना स्नान करने पर शुद्धि होती है । जो मनुष्य, उक्त उभय तीर्थ के सन्निधान में रहकर भगवत्सेवा करते हैं, वे यथार्थ पुण्यवान् हैं, उनके सहस्र जन्म के सञ्चित अपराध समूह विनष्ट होते हैं ॥४७५-४७७॥

स्कन्दपुराण में लिखित है, जो मनुष्य, प्रत्यह गीताध्याय अध्ययन करते हैं, वे प्रत्यह द्वात्रिंशत् अपराध से मुक्त होते हैं ॥४७८॥

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक-माहात्म्य में लिखत है—जो व्यक्ति, तुलसी द्वारा शालग्राम की पूजा करते हैं, श्रीकेशव, उनके द्वात्रिंशत् प्रकार अपराध क्षमा करते हैं ॥४७९॥

इसी पुराण के अन्यत्र भी वर्णित है—जो मानव, द्वादशी तिथि में रात्रि-जागरण पूर्वक शालग्राम की

यः करोति हरेः पूजां कृष्णशस्त्राङ्कितो नरः । अपराधसहस्राणि नित्यं हरति केशवः ।।४८१
।। इति ।

अथ शेषग्रहणम्

ततो भगवता दत्तं मन्यमानो दयालुना । महाप्रसाद इत्युक्त्वा शेषं शिरसि धारयेत् ।।४८२

अथ निर्म्माल्यधारणनित्यता

पाद्मे श्रीगौतमाम्बरीष-संवादे—

अम्बरीष हरेर्लग्नं नीरं पुष्पं विलेपनम् । भक्त्या न धत्ते शिरसा श्वपचादधिको हि सः ।।४८३

अथ श्रीभगवन्निर्म्माल्य-माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे —

कृष्णोत्तीर्णन्तु निर्म्माल्यं यस्याङ्गं स्पृशते मुने । सर्व्वरोगैस्तथा पापैर्मुक्तो भवति नारद ।।४८४

विष्णोर्निर्म्माल्यशेषेण यो गात्रं परिमार्ज्जयेत् ।
दुरितानि विनश्यन्ति व्याधयो यान्ति खण्डशः ।।४८५।।

मुखे शिरसि देहे तु विष्णूत्तीर्णान्तु यो वहेत् ।
तुलसीं मुनिशार्द्दूल न तस्य स्पृशते कलिः ।।४८६।।

किञ्च—

विष्णुमूर्त्तिस्थितं पुण्यं शिरसा यो वहेन्नरः । अपर्य्युषितपापस्तु यावद्युगचतुष्टयम् ।।४८७।।

शेषं निर्म्माल्यम् ।।४८२।।
निर्म्माल्यमनुलेपनादि ।।४८४।।
पुण्यं श्रीतुलस्यादि, अपर्य्युषितपापः सद्यःसंक्षीणपापः ।।४८७।।

पूजा करते हैं, श्रीकेशव उनके द्वात्रिंशत् प्रकार अपराध क्षमा करते हैं। जो मानव, श्रीकृष्ण शस्त्र से अङ्कित होकर श्रीहरि की पूजा करते हैं, श्रीकेशव, सर्वदा उनके सहस्र प्रकार अपराध क्षमा करते हैं। ।।४८०-४८१।।

अथ शेषग्रहणम्

इसके बाद मानों "प्रभु ने कृपापूर्वक दान किया है" इस प्रकार भावना करके "महाप्रसाद" यह वाक्योच्चारण पूर्वक मस्तक पर निर्म्माल्य धारण करे ।।४८२।।

अथ निर्म्माल्यधारणनित्यता

पद्मपुराण के श्रीगौतमाम्बरीष-संवाद में लिखित है— हे अम्बरीष ! श्रीहरि के गात्रलग्न सलिल, कुसुम, चन्दन, धारण जो मानव निज मस्तक में नहीं करते हैं, वे सब चाण्डाल से भी अधम हैं ।।४८३।।

अथ श्रीभगवन्निर्म्माल्य-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है— हे मुने ! श्रीकृष्ण के अङ्ग से अवतारित निर्माल्य जिस व्यक्ति के अङ्ग में स्पृष्ट होता है, वह व्यक्ति, सर्व रोग एवं सर्व पाप से मुक्त होता है। जो व्यक्ति, श्रीविष्णु निर्माल्य के अवशेष के द्वारा अङ्गमार्जन करते हैं, उनके समस्त पातक ध्वंस होते हैं, एवं व्याधि समूह भी विखण्डित होते हैं। जो व्यक्ति, मुख में, मस्तक में, शरीर में श्रीविष्णु की अङ्गोत्तीर्ण तुलसी धारण करते हैं, हे मुनिश्रेष्ठ ! कलि, उनको स्पर्श करने में सक्षम नहीं होता है ।।४८४-४८६।।

और भी कथित है—जो मानव, श्रीविष्णु के अङ्ग लग्न पवित्र निर्माल्य धारण मस्तक में करते हैं,

किं करिष्यति सुस्नातो गङ्गायां भूसुरोत्तम ।
यो वहेत् शिरसा नित्यं तुलसीं विष्णुसेविताम् ॥४८८॥

विष्णुपादाब्जसंलग्नामहोरात्रोषितां शुभाम् । तुलसीं धारयेद्यो वै तस्य पुण्यमनन्तकम् ॥४८९

अहोरात्रं शिरे यस्य तुलसी विष्णुसेविता । न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥४९०

किञ्च—

विष्णोः शिरःपरिभ्रष्टां भक्त्या यस्तुलसीं वहेत् ।
सिध्यन्ति सर्व्वकार्य्याणि मनसा चिन्तितानि च ॥४९१॥

अपि च—

प्रमार्ज्जयति यो देहं तुलस्या वैष्णवो नरः । सर्व्वतीर्थमयं देहं तत्क्षणात् द्विज जायते ॥४९२

गारुड़े—

हरेर्मूर्त्यवशेषन्तु तुलसीकाष्ठचन्दनम् । निर्म्माल्यन्तु वहेद्यस्तु कोटितीर्थफलं लभेत् ॥४९३॥

नारदपञ्चरात्रे—

भोजनानन्तरं विष्णोरर्पितं तुलसीदलम् । तत्क्षणात् पापनिर्मोकश्चान्द्रायणशताधिकः ॥४९४॥

किञ्चान्यत्र—

कौतुकं शृणु मे देवि विष्णोर्निर्म्माल्यवह्निना । तापितं नाशमायाति ब्रह्महत्यादिपातकम् ॥४९५

शिरे शिरसि; न लिप्यति, न लिप्यते ॥४९०॥
वैष्णव इत्यनेन श्रीभगवन्निर्म्माल्यतुलस्येति बोध्यम् ॥४९२॥
पापान्निर्म्मोकः निःशेषेण मुक्तिश्चान्द्रायणशतादप्यधिक इति सवासनाशेषपाप-सञ्चयक्षपणात् ॥४९४॥
निर्म्माल्यं प्रसादतुलस्यादि, तदेव वह्निस्तेन तापितं दग्धं सत् ॥४९५॥

उनका युग चतुष्टय कृत पाप तत्क्षणात् विनष्ट होता है। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! जो मानव, विष्णुभुक्ता तुलसी धारण, नित्य मस्तक में करते हैं, उनको गङ्गा में यथाविधि स्नान का प्रयोजन ही क्या है ? श्रीविष्णु के पादपद्म में दिवा-निशि अवस्थिता शुभ तुलसी को धारण मस्तक में करते हैं, उनको निःसीम पुण्य मिलता है। श्रीविष्णु भुक्ता तुलसी जिनके मस्तक में दिवारात्र अवस्थिता होती है, जिस प्रकार कमलपत्र में जल-स्पर्श नहीं होता है, उस प्रकार उनके अङ्ग में पाप स्पर्श नहीं होता है ॥४८७-४९०॥

और भी वर्णित है—जो मानव, श्रीविष्णु के मस्तक से विगलिता तुलसी धारण भक्तिपूर्वक करते हैं, उनके मनः कल्पित सर्वाभिलाष सिद्ध होते हैं ॥४९१॥

और भी कथित है—जो वैष्णव, निज देह में श्रीविष्णु निर्मालय तुलसी घर्षण करते (तुलसी मलते) हैं, हे द्विज ! तत्काल उनका देह सर्वतीर्थमय होता है ॥४९२॥

गरुड़पुराण में उक्त है—श्रीहरि के विग्रह लग्न तुलसी काष्ठ चन्दन का अवशेष एवं निर्मालय धारण, जो मानव करते हैं, उनको कोटि तीर्थ का फल लाभ होता है। ।४९३॥

नारद पञ्चरात्र में वर्णित है—श्रीहरि का प्रसाद होने पर उनमें अर्पित तुलसीपत्र सेवन करने से तत्-क्षणात् पाप से मुक्ति लाभ होता है एवं शतचन्द्रायणापेक्षा अधिक फल लाभ होती है ॥४९४॥

अन्यत्र और भी वर्णित है—हे देवि ! कौतुकवार्त्ता श्रवण करो, ब्रह्मवधादि जो कोई भी पातक क्यों न हो, श्रीविष्णु निर्मालयरूप अग्नि से वे सब भस्मीभूत होते हैं ॥४९५॥

एकादशस्कन्धे श्रीभगवन्तं प्रत्युद्धवोक्तौ (६।४६)—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्च्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥४९६

अतएव स्कान्दे श्रीयमस्य दूतानुशासने—

पादोदकरता ये च हरेर्निर्म्माल्यधारकाः।
विष्णुभक्तिरता ये वै ते तु त्याज्याः सुदूरतः ॥४९७॥ इति।
विसर्ज्जनन्तु चेत् कार्य्यं विसृज्यावरणानि तत्।
देवे तन्मुद्रया प्रार्थ्य देवं हृदि विसर्ज्जयेत् ॥४९८॥

तथा चोक्तम्—

पूजितोऽसि मया भक्त्या भगवन् कमलापते।
स लक्ष्मीको मम स्वान्तं विश विश्रान्तिहेतवे ॥४९९॥
प्रार्थ्यैवं पादुके दत्त्वा साङ्गमुद्वासयेद्धरिम्।
प्राणायामं षड़ङ्गञ्च कृत्वा मुद्रां विसर्ज्जनीम् ॥५००॥

अथ पूजाविधि-विवेकः

अयं पूजाविधिर्मन्त्रसिद्ध्यर्थस्य जपस्य हि। अङ्गं भक्तेस्तु तन्निष्ठैर्न्यासादीनन्तरेष्यते ॥५०१॥

एवं क्रमदीपिकाद्युक्तानुसारेण प्रायः कामपराणां पूजाविधिं लिखित्वा इदानीं श्रीभगवद्भक्तिपराणां पूजाविधिं तत्रैव विभज्य दर्शयति—अयमिति। पञ्चमादिविलासचतुष्टयेन लिखितोऽयं पूजाविधिः श्रीभगवदर्च्चनप्रकारः, जपस्य अङ्गं, क्रमदीपिकाद्यभिप्रेतस्य तत्तत्कामेन जपस्यैव तत्र प्राधान्यात्। कथम्भूतस्य? मन्त्रस्य सिद्धिः साधनं, सैव अर्थः प्रयोजनं यस्य तस्य, अतस्तत्तत्फलार्थं जपेन मन्त्रसाधनस्यैव विधेयत्वात् मन्त्रादीनां श्रीभगवता सहाभेदापादनार्थं तत्तन्न्यासादिकमिति भावः। भक्तेर्नवविधायास्तु अङ्गं यः पूजाविधिः स च न्यासादीन् प्रकारान् अन्तरा विनैव भक्तिनिष्ठैरिष्यते। आदि-शब्देन आवाहनादि-कतिपयमुद्रादि च। भक्तिपरैः साक्षाद्भगवद्बुद्ध्या श्रीमूर्त्त्यादिपूजने न्यासाद्ययोगादित्येषा दिक् ॥५०१॥

एकादश स्कन्ध में श्रीभगवान् के प्रति श्रीउद्धव की उक्ति इस प्रकार है—तुम जो माल्य, चन्दन, वसन अलङ्कार उपभोग कर छोड़ देते हो, वह सब धारण एवं तुम्हारी उच्छिष्ट भोजन करके ही हम तुम्हारी माया को जीतने में सक्षम होंगे ॥४९६॥

अतएव स्कन्दपुराण में दूत के प्रति श्रीयमराज का उपदेश है—जो मानव, श्रीविष्णुपादोदक में अनुरक्त हैं, जो सब व्यक्ति श्रीहरि निर्माल्य धारण करते हैं एवं श्रीविष्णुभक्ति में अतीव आसक्त हैं, उन सबको दूर से ही परित्याग करना अर्थात् उन सबके समीप होकर मत जाना ॥४९७॥

विसर्जन करना हो तो, आवरण देवताओं को मूल देवता में विसर्जन कराकर विसर्जनी मुद्रा के द्वारा प्रार्थना पूर्वक देवता को निज हृदय में विसर्जन करे ॥४९८॥

उक्त विषय में वर्णित है—हे भगवन्! हे कमलापते! मैंने भक्तिपूर्वक—देवी लक्ष्मी के सहित तुम्हारी पूजा की है, सम्प्रति विश्राम हेतु मदीय अन्तःकरण में प्रवेश करिये ॥४९९॥

इस प्रकार प्राथना करके पादुका निवेदन पूर्वक, प्राणायाम, षड़ङ्गन्यास एवं विसर्जनी मुद्रा प्रदर्शन पूर्वक अङ्ग के सहित श्रीहरि को विसर्जन करना चाहिये ॥५००॥

अथ पूजाविधि विवेकः

पूजाविधि का वर्णन हुआ है, मन्त्र सिद्धि के निमित्त, जप का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है किन्तु नौ

तत्र देवालये पूजा नित्यत्वेन महाप्रभोः । काम्यत्वेनापि गेहे तु प्रायो नित्यतया मता ॥५०२

सेवादिनियमो देवालये देवस्य चेष्यते । प्रायः स्वगेहे स्वच्छन्दसेवा स्वव्रतरक्षया ॥५०३॥

भक्तचङ्गपूजाविधौ च देवालय-निजगृहभेदेन कथञ्चिद्भेदमपि परं दर्शयति—तत्रेति । तस्मिन् भक्तचङ्ग-
पूजाविधौ या देवालये निजगृहात् पृथक्त्वेन केवलं भगवदर्थं स्वयं निर्म्मिते मन्दिरे पूर्व्वसिद्धे वा दे कुलादौ
महाप्रभोः श्रीभगवतः श्रीकृष्णस्य पूजा, सा तदुपासकानां नित्यत्वेन काम्यत्वेनापि मता भक्तिनिष्ठैः ।
एकादशीव्रतादिवदित्यत्र दृष्टान्तो द्रष्टव्यः । महाप्रभोरिति नित्यत्वे काम्यत्वे च हेतुरुन्नेयः, तस्यैवापूजने महादोष-
श्रवणात्, पूजने चाशेष वाञ्छित-वाञ्छातीत-फलसिद्धेश्च । तत् सर्व्वमग्रे तत्प्रकरणे व्यक्तं भावि । गेहे निजगृहे
च या पूजा, सा प्रायो नित्यत्वेनैव मता । एवं देवालये पूजाया नित्यतयावश्य-कर्त्तव्यत्वादकरणे प्रत्यवायः ।
सम्पादनञ्च तस्याः केवलं कर्त्तव्यत्वेन श्रीभगवत्प्रीत्युद्देशेन वा । काम्यतया च तत्तत्फलापेक्षया यथाविधि
श्रेष्ठश्रेष्ठद्रव्यसमर्पणादिकालानतिक्रमणमपराधवर्ज्जनादिकञ्च ज्ञेयम् । गृहे च नित्यत्वेन केवलमकरणे प्रत्यवाय-
परिहारात् फलानुसन्धानाभावाच्च निजनियमपरिपालनानुसारेण स्वगृहसिद्ध-द्रव्यार्पणादिकमेवेति । यद्यपि
अग्निहोत्रादौ नित्यकर्म्मण्यपि सामान्यतो ब्रह्मलोकादिप्राप्तिः फलं, यथा श्रूयते, तथात्रापि परमपदप्राप्तिः
फलमस्त्येव, तथापि सेवकैस्तच्चाननुसन्धेयम् । केवलं कर्त्तव्यत्वेनैव कार्य्यमित्युक्तम् । प्राय इत्यनेन देवालयवद्-
गृहेऽपि कस्यचित् कदाचित् केनचित् कामेनापि पूजा सम्मतेति ॥५०२॥

तदेवाभिव्यञ्जयन् तत्तद्भेदफलं लिखति—सेवादीति । देवस्य भगवतः सेवाया भक्तिविशेषेण पूजाया
नियमो यस्मिन् काले, येन द्रव्येण, यथा येन कर्त्रा कार्य्यतादिरूपः, तथा 'यद्यत् प्रियतमं लोके यच्चातिप्रिय-
मात्मनः' (श्रीभा ११।११।४१) इत्यादिवचनानुसारेण तत्तद्द्रव्यार्पणरूपश्च; तथा केवलं श्रीभगवदुद्देशेनैव
यथाकालं नित्यनियमितभोगार्पणादिरूपश्च । आदि-शब्दात् 'अग्रे पृष्ठे वामभागे' इत्यादिवचनानुसारेण यस्मिन्
स्थाने यथा नमस्कार्य्यमिति प्रणामनियमः ; तथा यत्र भोजनादिकमुपयुज्यते, तत्रैव तत् कर्त्तव्यमित्यादि-
प्रकारको वाराहाद्युक्तदेवालय-विषयकापराध-परिहारादिनियमश्चेष्यते भक्तिनिष्ठैः ; अन्यथा सम्यक्-
फलासिद्धेः । अतो व्रतदिनेऽप्यन्यदिनवद्भोगसमर्पणं सम्मतं स्यात् । एवं केचिद्द्वादश्यां दिवापि भगवतः
स्वापनमिच्छन्ति, निजगृहे तु स्वच्छन्देन निजेच्छया वेष्यते । यदा यत्र येन द्रव्येण यथा सेवा कर्त्तुं शक्यते,
तदा तत्र तेन तथा कार्य्या, न तु कालदेशद्रव्यादिनियमेनेत्यर्थः । गृहस्थानामवश्यकृत्यकुटुम्बभरणादिव्यापार-
परतया निजभृत्यातिथ्याद्यपेक्षया च तत्तन्नियमासिद्धेः । अतो निजपरिवारवैष्णवाभ्यागताद्यपेक्षया भगवदर्प्य-
भोगस्य कदाचिद्बहुलताऽल्पता च स्यात् । तत्र च स्वस्य आत्मनो यद्व्रतं नियमः वैष्णवत्वेन नित्यं वृन्ताक-
मसुरादिवर्ज्जनं, दशम्यादौ क्षारादिवर्ज्जनं, चातुर्म्मास्यादौ शाकादिकलिङ्गादिवर्ज्जनञ्च, तथा द्वादश्यनति-
क्रमणादिकञ्च, तस्य रक्षया तत्-परिपालनानुसारेणेत्यर्थः । अतो व्रतदिने केचिदन्नञ्च न समर्पयन्ति; एवं यदा
पान्येवात्मोपभोगयोग्यानि, तदा तान्येव भगवते समर्प्याणीति भावः । यदि वा भक्तिविशेषतः कदाचित्तानि
समर्प्येरन्, तदा निजव्रतापेक्षया स्वयं नोपयोक्तव्यानि, कस्मैचिद्वैष्णवाय देयानि, जले वाप्यानि । एकान्तिभिश्च
भावविशेषेण चेत्तानि स्वयमुपयुज्येरन्; ततश्च तेषां व्रतादावनधिकारान्न कोऽपि दोषो घटेतेत्यग्रे

प्रकार भक्तचङ्ग में जो पूजा विधि है, उसमें न्यासादि व्यतीत भी (अर्थात् न्यास, आवाहन मुद्रा-प्रदर्शन
व्यतीत भी) पूजानुष्ठान हो सकता है । कारण, भक्तिपरायण व्यक्तिगण श्रीमूर्त्ति में साक्षात् भगवद्बुद्धि
करते हैं, अतएव उसकी पूजाविधि में न्यासादि नहीं करते हैं ॥५०१॥

भक्तचङ्ग पूजनस्थल रूप देव-मन्दिर में श्रीभगवदर्चन उपासकगण के पक्ष में नित्य हो सकता है अथवा
काम्य भी हो सकता है, किन्तु निज गृह में अर्च्चन उन सबके पक्ष में नित्यकरणीय है ॥५०२॥

देवालय में पूजन करना हो तो सेवा इत्यादि के नियम रक्षा करनी चाहिये, किन्तु अपने घर में अपनी
इच्छानुसार पूजा कर सकेंगे । किन्तु यह सब निज व्रत भङ्ग न होने से ही हो सकते हैं ॥५०३॥

किञ्च विष्णुधर्म्मोत्तरे—

घृतेन स्नपितं देवं चन्दनेनानुलेपयेत्। सितजात्याश्च कुसुमैः पूजयेत्तदनन्तरम्।।५०४।।
श्वेतेन वस्त्रयुग्मेन तथा मुक्ताफलैः शुभैः। मुख्यकर्पूरधूपेन पयसा पायसेन च।।५०५।।
पद्मसूत्रस्य वर्त्या च घृतधूपेन चाप्यथ। पूजयेत् सर्व्वथा यत्नात् सर्व्वकामप्रदार्च्चनाम्।।५०६

कृत्वेमां मुच्यते रोगी रोगात् शीघ्रमसंशयम्।
दुःखार्त्तो मुच्यते दुःखाद्बद्धो मुच्येत बन्धनात्।।५०७।।
राजग्रस्तश्च मुच्येत तथा राजभयान्नरः।
क्षेमेण गच्छेदध्वानं सर्व्वानर्थविवर्जितः।।५०८।। इति।

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे प्रातरर्च्चा-समापनो नामाष्टमो विलासः।

———

लेख्यमेव। प्राय इत्यनेन च देवालय इव भक्तिविशेषेण कस्यचित् कदाचित् कश्चित् सेवानियमोऽभिप्रेतः। एतच्च लौकिकेन सेवा-शब्देनापि लौकिकबन्धुवत् श्रीभगवति सूचिचेन भावविशेषेणानुमतमेव। यद्यपि स्वव्रतरक्षयेत्यत्रापि प्रायः शब्दसम्बन्धे कृते कदाचित् कस्यचिद्भक्तिविशेषेण निजव्रतानादरश्चापद्यते, तथापि कृष्णस्तस्य पराङ्मुख इत्यादिवचनात् कार्त्तिकादिव्रताकरणे महादोषश्रवणात्, वैष्णव: स्वव्रतं परिपाल्यमेवेति तथा न व्याख्येयम्। किञ्च, यद्यपि गृहेऽपि पूजापराधवर्ज्जनादिकमपेक्ष्यते, तथापि उच्चैर्भाषा मिथोजल्प इत्याद्यपराधानां प्रायो गृहे वर्ज्जनस्याशक्यत्वात् तत्तन्नियमो न सम्भवेदिति ज्ञेयम्। इत्थं चैककालं द्विकालं वेत्यादिवचनात् एककालमपि पूजा; तथा निजगृहप्रदेशे समावेशेन यत्र कुत्रापि भगवते नमस्कारः, श्रीभगवत्पुरतो भोजनञ्चोपपद्यते। एवमन्यदप्यूह्यम्। एवमेव सर्व्वमविरुद्धमनवद्यञ्च स्यात्। अन्यथा द्वात्रिंशदपराधेषु भगवदग्रतो भोजन-निषेधस्य 'नैवेद्यशेषं तुलसीविमिश्रितम्' इत्यादौ मुरारेः पूरतो भोजने महागुणतया विधानस्य चेत्यादेर्बहुलविरोधापत्तेरित्येषा दिक्।।५०३।।

इति अष्टमो विलासः।

विष्णुधर्मोत्तर में और भी वर्णित है—श्रीविष्णु को घृत द्वारा स्नान कराकर चन्दन के द्वारा अनुलिप्त करना चाहिये। तत्पश्चात् शुभ्र जातीय पुष्प द्वारा पूजा करे, अतः पर शुक्ल परिधेय एवं उत्तरीय, पवित्र मुक्ता फल, उत्तम कर्पूर धूप, दुग्ध, पायस, पद्म सूत्र वर्त्ति एवं घृतयुक्त प्रदीप प्रभृति के द्वारा भक्तिपूर्वक पूजा करे, यह पूजा सर्वाभीष्टदायिनी है। यह पूजा करने से रोगी रोग से मुक्त होगा, इसमें सन्देह नहीं है। दुःख में निपतित व्यक्ति दुःख से मुक्त होता है एवं बन्दी बन्धन मुक्त होता है। इनकी प्रसन्नता से अपराधी जन राजभय से मुक्त होता है एवं पथिकजन, विपदापन्न न होकर स्वच्छन्द से पथ में गमन कर सकते हैं।
।।५०४-५०८।।

।। इति श्रीगोपालभट्ट विलिखित भगवद्भक्तिविलासे प्रातरर्चासमापनो नामाष्टमोविलास ।।

———

नवम विलासः

स प्रसीदतु चैतन्यदेवो यस्य प्रसादतः । महाप्रसादजाताहः सद्यः स्यादधमोऽप्ययम् ॥१॥
अथ शङ्खोदकं तच्च कृष्णदृष्टिसुधोक्षितम् । वैष्णवेभ्यः प्रदायाभिवन्द्य मूर्द्धनि धारयेत् ॥२॥

शङ्खोदक-माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—
शङ्खोदकं हरेर्भक्तिर्निर्म्माल्यं पादयोर्जलम् । चन्दनं धूपशेषन्तु ब्रह्महत्यापहारकम् ॥३॥

तत्रैव शङ्खमाहात्म्ये—
शङ्खस्थितन्तु यत्तोयं भ्रामितं केशवोपरि । वन्दते शिरसा नित्यं गङ्गास्नाने तस्य किम् ॥४॥

अधुना महाप्रसादप्रकरणं लिखन् परमगुरु-श्रीभगवत्प्रसादं प्रार्थयते- स इति । महाप्रसादो नाम भगवद्-उच्छिष्टादि, तस्य जातं समुच्चयः तद्योग्यः स्यात् । एवमेतल्लिखने परमायोग्यस्याप्यात्मनो भगवत्प्रसादेनैव योग्यता सम्भावितेति पूर्व्ववदूह्यम् । एवमग्रेऽपि बोद्धव्यम् ॥१॥

तच्चेति यत् पूर्व्वं पूजोपकरणाद्यभ्युक्षणानन्तरं पुनर्भृतजले श्रीभगवदग्रतो न्यस्ते शङ्खे स्थितं पश्चाच्च तेन शङ्खेन त्रिर्भ्रामिणतो भगवन्नीराजनमनुष्ठितं, तदा तत्स्थजलस्यापि नीराजनेन सौभाग्यं जातमस्ति तदित्यर्थः । अतएव पूर्व्वं भगवदग्रतो न्यस्तत्वात् कृष्णस्य दृष्टिरूपया सुधया उक्षितं सिक्तं चेति महासौभाग्यजातं दर्शितम् । यदि च शङ्खान्तरेण सद्योजलभृतेन भगवन्नीराजनमेव द्रष्टव्यं, तथापि तच्छङ्खजलस्य नीराजनेन भगवद्दृष्टिगोचरता-वाप्त्या, किंवा नीराजनान्तरं स्तवनवन्दनाद्यर्थमवश्यं भगवदग्रतो धार्य्यत्वेन तद्दृष्टिसुधोक्षितत्वं सम्पद्यत एव; एवञ्च पूर्व्वस्थापितेनैव शङ्खेन क्षीरादिस्नपनं बोद्धव्यम्, अन्यथा शङ्खबाहुल्यापत्तेः । ततश्च स्नपनानन्तरं तस्य रिक्तत्वात्, तथानीराजनशङ्खस्य जलग्रहणाच्च पुनरग्रे लेख्यं भगवदग्रतः शङ्खस्थापनं युक्तमेव । न च वक्तव्यमिदं पूर्व्वं शङ्खः स्थापितोऽस्त्येव, क्षीरस्नपनादिकं नीराजनञ्च शङ्खान्तरेणैवेति पुनः शङ्खस्थापनेनालमिति, यतः शिष्टाचारानुसारेण विष्णुभक्तिचन्द्रोदयादौ ग्रन्थे श्रीनृसिंहारण्यादिभिः प्रामाणिकवर्गैर्लिखितम्—पूजासमाप्तौ पुष्पादिना पूजापूर्व्वकं शङ्खस्य विशेषतः स्थापनमपेक्ष्यत एव । पूर्व्वन्तु पूजोपकरणाद्यभ्युक्षणोपक्षीणजलः शङ्खः पूजारम्भे मङ्गलार्थं केवलं जलेनापूर्य्य स्थापित आसीदिति विशेषः ॥२॥

भक्तिः—श्रवणकीर्त्तनादि-नवविधा ॥३॥ यो वन्दते, तस्य ॥४॥

अधुना महाप्रसाद प्रकरण लिखने के निमित्त परमगुरु श्रीभगवान् की प्रसन्नता प्रार्थना करते हैं, जिनके प्रसाद से मैं अधम होकर भी सद्यः महाप्रसाद (श्रीभगवन्नाम एवं उच्छिष्ट) प्राप्त करने का योग्य पात्र हो सकूँ, वे प्रसिद्ध श्रीचैतन्य प्रभु मेरे प्रति प्रसन्न हों ॥१॥

अनन्तर जिस शङ्खस्थित जल में श्रीकृष्ण के दृष्टिरूप अमृत पात हुआ है, प्रथम, वह जल वैष्णव को प्रदान पूर्वक पुनर्वार अपने मस्तक में धारण करे ॥२॥

शङ्खोदक माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—श्रीहरि के पूजावशेष शङ्खजल, श्रीहरि की नवधा भक्ति (श्रवण कीर्त्तनादि) श्रीहरि की निर्म्माल्य, उनके श्रीचरणोदक एवं उपभुक्त चन्दन, धूप, इन सबके द्वारा ब्रह्महत्या जनित पाप विदूरित होता है ॥३॥

उक्त पुराण के शङ्ख माहात्म्य में वर्णित है—शङ्खस्थित जो जल, श्रीकेशव के मस्तक के उपरिभाग में भ्रमण कराया गया है, उस जल को जो नित्य मस्तक पर धारण करते हैं, गङ्गास्नान की उनको आवश्यकता क्या है ? ॥४॥

न दाहो न क्लमो नार्त्तिर्नरकाग्निभयं न हि । यस्य शङ्खोदकं मूर्ध्नि कृष्णदृष्ट्यावलोकितम् ॥५
न ग्रहा न च कुष्माण्डाः पिशाचोरग-राक्षसाः । दृष्ट्वा शङ्खोदकं मूर्ध्नि विद्रवन्ति दिशो दश ॥६
कृष्णमूर्ध्नि भ्रामितन्तु जलं तच्छङ्खसंस्थितम् । कृत्वा मूर्धन्यवाप्नोति मुक्तिं विष्णोः प्रसादतः ॥७
भ्रामयित्वा हरेर्मूर्ध्नि मन्दिरं शङ्खवारिणा । प्रोक्षयेद्वैष्णवो यस्तु नाशुभं तद्गृहे भवेत् ॥८॥
नीराजनजलं यत्र यत्र पादोदकं हरेः । तिष्ठते मुनिशार्द्दूल वर्द्धन्ते तत्र सम्पदः ॥९॥

तत्रैवाग्रे—

नीराजनजलं विष्णोर्यस्य गात्राणि संस्पृशेत् । यज्ञावभृथलक्षाणां स्नानजं लभते फलम् ॥१०॥

तत्रैव श्रीशिवोक्तौ—

पादोदकेन देवस्य हत्यायुत-समन्वितः । शुध्यते नात्र सन्देहस्तथा शङ्खोदकेन हि ॥११॥

बृहद्विष्णुपुराणे च—

तीर्थाधिकं यज्ञशताच्च पावनं, जलं सदा केशवदृष्टिसंस्थितम् ।
छिनत्ति पापं तुलसीविमिश्रितं, विशेषतश्चक्रशिलाविनिर्मितम् ॥१२॥

अथ तीर्थधारणम्

कृष्णपादाब्जतीर्थञ्च वैष्णवेभ्यः प्रदाय हि ।
स्वयं भक्त्याभिवन्द्याथो पीत्वा शिरसि धारयेत् ॥१३॥

पलायन्त इत्यर्थः ॥५-६॥

चक्रशिलाविनिर्मितं भगवच्चरणामृतमित्यर्थः ॥१२॥

शङ्खस्थित जिस जल में श्रीकृष्ण की दृष्टि पड़ी है, वह जल, जिस व्यक्ति के मस्तक में विद्यमान होता है, उसको यातना, ग्लानि, शोक एवं नरकाग्नि प्रभृति का भय नहीं होता है । ग्रह, कुष्माण्ड, पिशाच, भुजङ्ग, राक्षस प्रभृति मस्तक स्थित शङ्ख जल को देखकर दशदिक् में पलायन करते हैं ॥५-६॥

शङ्खस्थित जो जल श्रीहरि के मस्तकोपरि भ्रमित हुआ है, अर्थात् घुमाया गया है, उसको निज मस्तक पर धारण करने पर श्रीहरि के प्रसाद से मुक्ति लाभ होता है । जो वैष्णव, शङ्खजल श्रीहरि के मस्तक पर घुमाकर उस जल से मन्दिर प्रोक्षण करते हैं, उनके उस आलय में अमङ्गल नहीं रहता ॥७-८॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! जहाँ श्रीहरि का नीराजन जल एवं चरणोदक अवस्थित है, वहाँ सब प्रकार की सम्पद बढ़ती रहती है ॥९॥

उक्त पुराण के अग्रभाग में लिखित है—श्रीविष्णु का नीराजन जल जिस व्यक्ति का देह को स्पर्श करता है, उसको लक्ष यज्ञ का अवभृत स्नान जनित फल लाभ होता है ॥१०॥

उक्त स्थान में श्रीशिव की उक्ति है—अयुत हत्याजनित पाप से लिप्त होने पर भी श्रीहरि का चरणोदक, एवं शङ्खजल स्पर्श करने से अङ्ग शुद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥११॥

बृहद्विष्णु पुराण में लिखित है—श्रीकेशव के दृष्टिपात जल, विशेषतः शालग्रामशिलोदक सर्वदा तीर्थवारि से भी अतिशय पवित्र है, शतयज्ञ की अपेक्षा भी शुद्धिजनक है एवं उससे पाप विदूरित होता है ॥१२

अथ तीर्थधारणम्

श्रीकृष्ण के चरणकमलोदक, सर्व प्रथम वैष्णववृन्द को प्रदान पूर्वक पश्चात् प्रणाम पूर्वक किञ्चित् पान करके मस्तक में धारण करे ॥१३॥

तस्य मन्त्रविधिश्च प्राक् प्रातःस्नानप्रसङ्गतः ।
लिखितो ह्यधुना पाने विशेषो लिख्यते कियान् ॥१४॥

स चोक्तः—

ॐ चरणं पवित्रं विततं पुराणं, येन पूतस्तरति दुष्कृतानि ।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता, अपि पाप्नानमरातिं तरेम ॥१५॥
लोकस्य द्वारमार्च्चयत् पवित्रं ज्योतिष्मत् विभ्राजमानं महस्तदमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं लोके सुधितां दधातु ॥१६॥ इति ।
इमं मन्त्रं समुच्चार्य्य सर्व्वदुष्टग्रहापहम् । प्राश्नीयात् प्रोक्षयेद्देहं पुत्त्रमित्रपरिग्रहम् ॥१७॥

किञ्च—

विष्णोः पादोदकं पीतं कोटिहत्याघनाशनम् । तदेवाष्टगुणं पापं भूमौ विन्दुनिपातनात् ॥१८॥

अथ श्रीचरणोदक-पान-माहात्म्यम्

पाद्मे गौतमाम्बरीष-संवादे—

हरेः स्नानावशेषन्तु जलं यस्योदरे स्थितम् । अम्बरीष प्रणम्योच्चैः पादपांशुः प्रगृह्यताम् ॥१९॥

तत्रैव देवदूत-विकुण्डल-संवादे—

ये पिबन्ति नरा नित्यं शालग्रामशिलाजलम् । पञ्चगव्यसहस्रैस्तु सेवितैः किं प्रयोजनम् ॥२०॥

यस्य मूर्द्ध्नि वर्त्तते; ग्रहादयः मूर्द्धि स्थितं शङ्खोदकं दृष्ट्वा न किञ्चित् शक्नुवन्ति, प्रत्युत विद्रवन्ति विधिर्धारणप्रकारश्च; कियान् संक्षिप्तो विधिविशेषो लिख्यते ॥१४॥
चरणं चरणारविन्दं, तदुदकमित्यर्थः । अरातिं संसारलक्षणम्; सुधितां सुधावदादरणीयतामित्यर्थः ॥१५-१६॥
तत्तस्मात् पानोक्तपुण्यादष्टगुणमित्यर्थः ॥१८॥

उक्त विषयक मन्त्र विधि का वर्णन इसके पहले प्रातः स्नान प्रसङ्ग में हुआ है, अधुना पान विषयक कतिपय विशेष विधि का वर्णन होता है ॥१४॥

उक्त मन्त्र इस प्रकार है—"ॐ चरणं पवित्रं" इत्यादि, अर्थात् पवित्र चरणामृत का माहात्म्य पुराकाल से प्रसिद्ध है । चरणामृत से पवित्र होकर मानववृन्द पापों से मुक्त होते हैं । एवं उक्त श्रीचरणोदक स्पर्श से हम सब पवित्र होकर पापपूर्ण संसार से उत्तीर्ण होते हैं । यह स्वर्ग का द्वार स्वरूप है । ज्योतिर्म्मय, समुज्ज्वल एवं वन्दनीय है । मैं उक्त श्रीचरणोदक की पूजा करता हूँ । यह अमृतमयी धारा स्वरूप श्रीचरणामृत पुनः पुनः क्षरित होकर पृथिवी में अमृतवत् आदरणीय हो ॥१५-१६॥

सर्वविध दुष्टग्रह विनाशक इस मन्त्र का पाठ कर चरणामृत पानपूर्वक निज देह में एवं पुत्र, मित्र, स्त्री, कुटुम्ब के शरीर में प्रोक्षण करे ॥१७॥

और भी वर्णित है – श्रीविष्णु-पादोदक पान द्वारा कोटि संख्यक हत्याजनित पाप विनष्ट होते हैं । वह चरणामृत, विन्दुमात्र भूतल में निपतित होने से अष्टगुण पाप होता है ॥१८॥

अथ श्रीचरणोदक-पान माहात्म्यम्

पद्मपुराण के गौतम-अम्बरीष-संवाद में वर्णित है– हे अम्बरीष ! जिनके उदर में श्रीविष्णु के स्नान-अवशेष जल रहता है, तुम उनको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर उनकी पदरेणु ग्रहण करना ॥१९॥

उक्त पुराण के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में वर्णित है—जो मानव, नित्य शालग्राम शिलोदक पान करते हैं, उनको सहस्र सहस्र वार पञ्चगव्य पान से प्रयोजन क्या है ? ॥२०॥

कोटितीर्थसहस्रैस्तु सेवितैः किं प्रयोजनम् ।
नित्यं यदि पिवेत् पुण्यं शालग्राम-शिलाजलम् ॥२१॥

शालग्रामशिलातोयं यः पिवेद्विन्दुना समम् । मातुः स्तन्यं पुनर्नैव सपिवेद्भुक्तिभाङ्नरः ॥२२॥

किञ्च—

दहन्ति नरकान् सर्व्वान् गर्भवासञ्च दारुणम् ।
पीतं यैस्तु सदा नित्यं शालग्राम-शिलाजलम् ॥२३॥

तत्रैव श्रीयमधूम्रकेतु-संवादे—

शालग्रामशिलातोयं विन्दुमात्रं तु यः पिवेत् । सर्व्वपापैः प्रमुच्येत मुक्तिमार्गे कृतोद्यमः ॥२४॥

तत्रैव पुलस्त्यभगीरथ-संवादे—

पादोदकस्य माहात्म्यं भगीरथ वदामि ते । पावनं सर्व्वतीर्थेभ्यो हत्याकोटिविनाशकम् ॥२५
धृते शिरसि पीते च सर्व्वास्तुष्यन्ति देवताः । प्रायश्चित्तन्तु पापानां कलौ पादोदकं हरेः ॥२६॥

किञ्च—

त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु नार्म्मदम् । सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव यामुनम् ॥२७॥
पुनन्त्येतानि तोयानि स्नानदर्शनकीर्त्तनैः । पुनाति स्मरणादेव कलौ पादोदकं हरेः ॥२८॥

किञ्च—

अर्च्चितैः कोटिभिर्लिङ्गैर्नित्यं यत् क्रियते फलम् । तत् फलं शतसाहस्रं पीते पादोदके हरेः ॥२९॥
अशुचिर्वा दुराचारो महापातकसंयुतः । स्पृष्ट्वा पादोदकं विष्णोः सदा शुध्यति मानवः ॥३०॥

नित्य पवित्र शालग्रामोदक पान करने से पुनर्वार सहस्र कोटि तीर्थ सेवन का प्रयोजन क्या है ?॥२१॥

जो व्यक्ति, विन्दु परिमित शालग्राम शिलोदक पान करते हैं, उनको पुनर्वार मातृस्तन्य पान नहीं करना पड़ता है ॥२२॥

और भी लिखित है—जो मानव, नित्य शालग्राम शिलोदक पान किये हैं, उनके यावतीय नरक क्लेश एवं गर्भवास जनित क्लेश विनष्ट होगये हैं ॥२३॥

पद्मपुराण के श्रीयम-धूमकेतु-संवाद में वर्णित है—जो व्यक्ति, शालग्रामशिलोदक विन्दुमात्र पान करते हैं, वे समस्त पापों से निष्कृति लाभ करते हैं एवं मुक्ति-मार्ग के निमित्त उद्योगी होते हैं ॥२४॥

पद्मपुराण के पुलस्त्य-भगीरथ-संवाद में लिखित है—हे भगीरथ ! तुमको चरणोदक का माहात्म्य कहता हूँ। वह समस्त तीर्थों से पवित्र कारक एवं हत्याकोटि विघातक है ॥२५॥

श्रीचरणोदक मस्तक में धारण करने से अथवा पान करने से समस्त देवता सन्तुष्ट होते हैं। कलियुग में श्रीहरि चरणोदक ही समस्त पापों का प्रायश्चित स्वरूप है ॥२६॥

और भी लिखा है—सरस्वती का जल, तीन दिन में, नर्मदा का जल सप्ताह में, गङ्गोदक तत्क्षणात्, एवं यमुना जल दर्शन मात्र से ही पवित्र कारक है। यह सब जल, दर्शन, स्नान, कीर्त्तन द्वारा ही पवित्र कारक हैं, किन्तु कलिकाल में श्रीहरि-पादोदक स्मरण मात्र से ही पवित्र करते हैं ॥२७-२८॥

और भी उक्त है—श्रीहरि-पादोदक पान करने से प्रत्यह कोटि शिव लिङ्ग की पूजा करने की अपेक्षा भी शतसहस्रगुण फल लाभ होता है। मनुष्य शुचि अथवा दुराचार किंवा महापातक लिप्त हो, विष्णु पादोदक स्पर्श करने से पवित्र होते हैं। मरण के समय मस्तक में, वदन में, अङ्ग में श्रीहरि-चरणोदक

पापकोटियुतो यस्तु मृत्युकाले शिरोमुखे । देहे पादोदकं तस्य न प्रयाति यमालयम् ॥३१॥

न दानं न हविर्येषां स्वाध्यायो न सुरार्च्चनम् ।
तेऽपि पादोदकं पीत्वा प्रयान्ति परमां गतिम् ॥३२॥

कार्त्तिके कार्त्तिकीयोगे किं करिष्यति पुष्करे । नित्यं च पुष्करं तस्य यस्य पादोदकं हरेः ॥३३

विशाखा-ऋक्षसंयुक्ता वैशाखी किं करिष्यति । पिण्डारके महातीर्थे उज्जयिन्यां भगीरथ॥३४

माघमासे प्रयागे तु स्नानं किं करिष्यति । प्रयागं सततं तस्य यस्य पादोदकं हरेः ॥३५॥

प्रबोधवासरे प्राप्ते मथुरायाञ्च तस्य किम् ।
नित्यञ्च यामुनं स्नानं यस्य पादोदकं हरेः ॥३६॥

काश्यामुत्तरवाहिन्यां गङ्गायान्तु मृतस्य किम् । यस्य पादोदकं विष्णोर्मुखे चैवावतिष्ठते ॥३७

किञ्च—

हित्वा पादोदकं विष्णोर्योऽन्यतीर्थानि गच्छति ।
अनर्घं रत्नमुत्सृज्य लोष्ट्रं वाञ्छति दुर्म्मतिः ॥३८॥
कुरुक्षेत्रसमो देशो विन्दुः पादोदकं मतः ॥३९॥

पतेद्यत्राक्षयं पुण्यं नित्यं भवति तद्गृहे । गयापिण्डसमं पुण्यं पुत्राणामपि जायते ॥४०॥

पादोदकेन देवस्य ये कुर्य्युः पितृतर्पणम् । नासुराणां भयन्तस्य प्रेतजन्यं न राक्षसम् ॥४१॥

न रोगस्य भयञ्चात्र नास्ति विघ्नकृतां भयम् । न दुष्टा नैव घोराक्षाः स्वापदोत्थभयं न हि ॥४२

तस्य शिरसि मुखे च पादोदकं चेत्तर्हि स न प्रयातीत्यर्थः ॥३१॥
हविः-शब्देन होमाद्युपलक्ष्यते ॥३२॥
यस्य पादोदकं सेव्यं स्यादिति शेषः, स देशो मतः सद्भिः । विन्दुः विन्दुमात्रम् ॥३३-३९॥

स्पृष्ट होने से कोटि पापों में लिप्त पापी को भी फिर शमन-भवन को जाना नहीं पड़ता है । जो लोक, दान, होम, वेदाध्ययन किंवा देवपूजा नहीं किये हैं, श्रीविष्णु चरणोदक पान करने से उन सबकी परमागति होती है ॥२९-३२॥

जो व्यक्ति, श्रीहरिचरणोदक पान करते हैं, वे नित्य पुष्कर स्नान करते हैं, कार्त्तिक मास में कृत्तिका नक्षत्र युक्त पुष्कर स्नान से उनको क्या प्रयोजन है ? हे भगीरथ ! विशाखा नक्षत्र युक्त वैशाखी पूर्णिमा में उज्जयिनी के पिण्डारक तीर्थ में स्नान करके भी वे अधिक संख्यक फल की आशा क्या कर सकते हैं ? नित्य श्रीहरिपादोदक-पायी व्यक्ति, माघ मास में प्रयाग स्नान करके क्या अधिक पुण्य लाभ करेंगे ? जो श्रीहरिचरणोदक पान करते हैं, उनको उत्थान द्वादशी में मथुरा में यमुना-स्नान से प्रयोजन ही क्या है ? वे नित्य ही यमुना स्नान करते हैं, जिनके वदन विवर में विष्णु पादोदक विराजित है, काशी में उत्तर वाहिनी गङ्गा के तीर देश में देहत्याग से उनको क्या अधिक फल लाभ होगा ? ॥३३-३७॥

और भी वर्णित है—जो व्यक्ति, विष्णुपादोदक वर्तन पूर्वक अन्य तीर्थ गमन करता है, वह दुर्म्मति अमूल्य रत्न परित्याग कर लोष्ट का अभिलाष करता है । साधुगण, विन्दुमात्र पादोदक को कुरुक्षेत्र तुल्य देश के समान मानते हैं, जिस गृह में नित्य श्रीहरिपादोदक विद्यमान है, वहाँ अक्षय पुण्य सञ्चित है, एवं पुत्रगण के द्वारा गया क्षेत्र में पिण्डदान के समान फल लाभ होता है । श्रीहरिचरणोदक के द्वारा पितृ तर्पण

ग्रहाः पीड़ां न कुर्व्वन्ति चौरा नश्यन्ति दारुणाः । किन्तस्य तीर्थगमने देवर्षीनाञ्च दर्शने ॥४३॥
यस्य पादोदकं मूर्ध्नि शालग्रामशिलोद्भवम् । प्रीतो भवति मार्त्तण्डः प्रीतो भवति केशवः ।
ब्रह्मा भवति सुप्रीतः प्रीतो भवति शङ्करः ॥४४॥
पादोदकस्य माहात्म्यं यः पठेत् केशवाग्रतः । स याति परमं स्थानं यत्र देवो जनार्द्दनः ॥४५
ब्रह्माण्डपुराणे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—
प्रायश्चितं यदि प्राप्तं कृच्छ्रं वा त्वघमर्षणम् ।
सोऽपि पादोदकं पीत्वा शुद्धिं प्राप्नोति तत्क्षणात् ॥४६॥
अशौचं नैव विद्येत सूतके मृतकेऽपि च । येषां पादोदकं मूर्ध्नि प्राशनं ये च कुर्वते ॥४७॥
अन्तकालेऽपि यस्येह दीयते पादयोर्ज्जलम् । सोऽपि सद्गतिमाप्नोति सदाचारैर्वहिष्कृतः॥४८
अपेयं पिवते यस्तु भुङ्क्ते यश्चाप्यभोजनम् । अगम्यागमना ये वै पापाचाराश्च ये नराः ।
तेऽपि पूज्या भवन्त्याशु सद्यः पादाम्बुसेवनात् ॥४९॥
किञ्च—
अपवित्रं यदन्नं स्यात् पानीयञ्चापि पापिनाम् ।
भुक्त्वा पीत्वा विशुद्धः स्यात् पीत्वा पादोदकं हरेः ॥५०॥
तप्तकृच्छ्रात् पञ्चगव्यान्महाकृच्छ्राद्विशिष्यते । चान्द्रायणात् पारकृच्छ्रात् पराकादपि सुव्रत ।
कायशुद्धिर्भवत्याशु पीत्वा पादोदकं हरेः ॥५१॥

सदाचारैर्वहिष्कृतोऽपि चेत् ॥४८ अभोजनमभक्ष्यम् ॥४९॥
तप्तकृच्छ्र-महाकृच्छ्रादिकं नाम व्रतविशेषः ॥५१॥

करने से असुर, प्रेत, राक्षस से भय नहीं होता है। रोगभय, विघ्नभय अथवा घोर रूप सर्प्प से भय, किंवा हिंस्र जन्तु से भय नहीं होता है। ग्रह पीड़ा भी नहीं होती है। दारुण चौरभय भी विनष्ट होता है। उस समय तीर्थ गमन, देवता अथवा ऋषिगण को दर्शन करने की आवश्यकता ही क्या है? शालग्राम शिलोत्पन्न जल जिनके मस्तक में विद्यमान है, उनके प्रति सूर्य्य, केशव, ब्रह्मा, शङ्कर सन्तुष्ट होते हैं। जो मनुष्य केशव के सम्मुख में पादोदक माहात्म्य पाठ करते हैं, जहाँ पर देवादिदेव जनार्दन विराजित हैं, उस परम धाम में उनका निवास होता है ॥३८-४५॥

ब्रह्माण्डपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में वर्णित है—यदि किसी को कृच्छ्र प्रायश्चित अथवा अघमर्षण मन्त्र जप करना आवश्यक हो, तो चरणोदक पान से ही उनकी शुद्धि होती है ॥४६॥

जो सब व्यक्ति श्रीहरिचरणामृत धारण मस्तक में करते हैं, एवं पान करते हैं, उन सबको जननाशौच अथवा मरणाशौच से लिप्त नहीं होना पड़ता है। सदाचार वहिष्कृत व्यक्ति को भी यदि अन्तकाल में श्रीचरणोदक पान कराया जाता है तो वह सद्गति प्राप्त करता है ॥४७-४८॥

श्रीहरिचरणामृत पान करने से अपेय पायी, अभोज्य भोजी, अगम्य गामी एवं पाप स्वभाव विशिष्ट व्यक्ति भी सद्यः पूजनीय होता है ॥४९॥

और भी लिखा है—श्रीहरिचरणामृत पान करने से पापीजन का अन्न भक्षण एवं जलपान जनित अपवित्रता विनष्ट होती है। हे सुव्रत! पञ्च गव्य, तप्त कृच्छ्र, चान्द्रायण, पारकृच्छ्र अथवा पराकव्रत से भी श्रीहरिपादोदक पवित्र है। श्रीहरिपादोदक पान मात्र से ही शरीर पवित्र होता है ॥५०-५१॥

अगुरुं कुङ्कुमञ्चापि कर्पूरञ्चानुलेपनम् । विष्णुपादाम्बुसंलग्नं तद्वै पावनपावनम् ॥५२॥
दृष्टिपूतं तु यत्तोयं विष्णुना प्रभविष्णुना । तद्वै पापहरं पुत्र किं पुनः पादयोर्जलम् ॥५३॥
एतदर्थमहं पुत्र शिरसा विष्णुतत्परः । धारयामि पिबाम्यद्य माहात्म्यं विदितं मम । ५४॥
प्रियस्त्वमग्रजः पुत्रस्तदर्थं गदितं मया । रहस्यं मे त्वनर्हस्य न वक्तव्यं कदाचन ॥५५॥
धारयस्व सदा मूर्ध्नि प्राशनं कुरु नित्यशः । जन्म-मृत्यु-जरादुःखैर्मोक्षं यास्यसि पुत्रक ॥५६॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे —

सद्यः फलप्रदं पुण्यं सर्व्वपापविनाशनम् । सर्व्वमङ्गलमङ्गल्यं सर्व्वदुःखविनाशनम् ॥५७॥
दुःस्वप्ननाशनं पुण्यं विष्णुपादोदकं शुभम् । सर्व्वोपद्रव-हन्तारं सर्व्वव्याधि-विनाशनम् ॥५८॥
सर्व्वोत्पातप्रशमनं सर्व्वपापनिवारणम् । सर्व्वकल्याणसुखदं सर्व्वकामफलप्रदम् ॥५९॥
सर्व्वसिद्धिप्रदं धन्यं सर्व्वधर्म्मविवर्द्धनम् । सर्व्वशत्रु-प्रशमनं सर्व्वभोगप्रदायकम् ॥६०॥
सर्व्वतीर्थस्य फलदं मूर्ध्नि पादाम्बुधारणम् । प्रयागस्य प्रभासस्य पुष्करस्य च सेवने ।
पृथूदकस्य तीर्थस्य आचान्तो लभते फलम् । ६१॥
चक्रतीर्थे फलं यादृक् तादृक् पादाम्बुधारणात् । सरस्वत्यां गयायाञ्च गत्वा यत् प्राप्नयात् फलम्
तत् फलं लभते श्रेष्ठं मूर्ध्नि पादाम्बुधारणात् ॥६२॥

विष्णुना कर्त्रा दृष्ट्या कृत्वा पूतं पावितमित्यर्थः यद्वा, विष्णुना विष्णोरित्यर्थः ॥५३॥
अनर्हस्य अयोग्यस्य अवैष्णवस्येत्यर्थः, तं प्रति न वक्तव्यम् ॥५५॥ हन्तारमित्यार्ष, हन्तृ ॥५८॥
सेवने यत् फलं तत्, आचान्तः कृतपादोदकाचमनः ॥६१॥

श्रीविष्णुपादोदक संलग्न, अगुरु, कुङ्कुम, कर्पूर, चन्दनादि अनुलेपन द्रव्य, पवित्र वस्तु को भी पवित्र करता है । हे पुत्र ! भगवान् श्रीविष्णु कर्त्तृक दृष्ट जल जब पवित्र होकर पाप नाश करता है, तब श्रीविष्णु पादोदक का माहात्म्य का वर्णन अधिक क्या करें ? हे वत्स ! एतज्जन्य मैं आज विष्णुपरायण होकर पादोदक धारण एवं पान करता रहता हूँ । इसका माहात्म्य मैं जानता हूँ ॥५२-५४॥

तुम मेरा प्रिय अनुज पुत्र हो, तज्जन्य तुमको मैंने गोपनवार्त्ता कहा । अपात्र व्यक्ति के निकट इसका कथन न करना । पुत्र ! श्रीहरिपादोदक नित्य धारण एवं पान करो, इससे जन्म, मृत्यु जरा एवं दुःख-राशि से मुक्त हो जाओगे ॥५५-५६॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—श्रीविष्णुपादोदक पवित्र, आशुफलप्रद, निखिल पापहारक, सर्वमङ्गल का मङ्गलस्वरूप, सर्व दुःख विनाशक, दुःस्वप्न निवारक, सर्वोपद्रव शान्तिकर एवं सर्व व्याधि विध्वंसक है ॥५७-५८॥

मस्तक पर श्रीविष्णुपादोदक धारण करने से यावतीय उत्पात शान्ति, सकल पाप निवारण, सर्वविध कल्याण एवं सुखोत्पत्ति, सकल कामना की फल प्राप्ति, सर्व सिद्धि लाभ, यशः प्राप्ति, सर्व धर्म वृद्धि, सकल शत्रु विनाश, सकल भोग लाभ एवं समस्त तीर्थ सेवन जनित फल लाभ होता है । प्रयाग, प्रभास, पुष्कर, पृथूदक तीर्थ जल सेवन करने से जो फल लाभ होता है, श्रीहरिपादोदक पान करने से वह फल होता है, एवं चक्रतीर्थ में जिस प्रकार फलोत्पन्न होता है, श्रीविष्णुपादोदक धारण से भी वह फल होता है । सरस्वती एवं गया गमन से जो फल होता है, श्रीविष्णुपादोदक मस्तक में धारण करने से भी तद्रूप फल होता है ॥५९-६२॥

स्कान्दे—

पादोदकस्य माहात्म्यं देवो जानाति शङ्कर। विष्णुपादच्युतो गङ्गा शिरसा येन धारिता।
स्नानं नैवास्ति पापस्य देहिनां देहमध्यतः ।।६३।।

सवाह्याभ्यन्तरं यस्य व्याप्तं पादोदकेन वै। पादोदं विष्णुनैवेद्यमुदरे यस्य तिष्ठति ।।६४।।
नाश्रयं लभते पापं स्वयमेव विनश्यति। महापापग्रहग्रस्तो व्याप्तो रोगशतैर्यदि ।।६५।।
हरेः पादोदकं पीत्वा मुच्यते नात्र संशयः। शिरसा तिष्ठते येषां नित्यं पादोदकं हरेः ।।६६।।
किं करिष्यति ते लोके तीर्थकोटिमनोरथैः। अयमेव परो धर्म्म इदमेव परन्तपः।
इदमेव परं तीर्थं विष्णुपादाम्बु यत् पिवेत् ।।६७।।

तत्रैव श्रीशिवोमा-संवादे—

विलयं यान्ति पापानि पीते पादोदके हरेः। किं पुनर्विष्णुपादोदं शालग्रामशिलाच्युतम् ।।६८
विशेषेण हरेत् पापं ब्रह्महत्यादिकं प्रिये। पीते पादोदके विष्णोर्यदि प्राणैर्विमुच्यते।
हत्वा यमभटान् सर्व्वान् वैष्णवं लोकमाप्नुयात् ।।६९।।

तत्रैव श्रीशिवकार्त्तिकेय-संवादे श्रीशालग्रामशिला-माहात्म्ये—

छिन्नस्तेन महासेन गर्भावासः सुदारुणः। पीतं येन सदा विष्णोः शालग्रामशिलाजलम् ।।७०

देहिनां मध्ये तस्यैकस्य देहमध्ये पापस्य स्थानं नैवास्ति। देहिनः इति वा पाठः ।।६३।।

वाह्यं मस्तकादि, तेन सहितमाभ्यन्तरं जठरान्तर्नाड्यादि, तत्र वाह्यं मस्तकादौ धारणेन, आभ्यन्तरञ्च पानेन व्याप्तमित्यर्थः ।।६४।।

हरेः प्रतिमारूपस्येत्यर्थः। किं पुनरिति प्रतिमातः श्रीशालग्रामशिलायाः माहात्म्यविशेषाभिप्रायेण। अतएवाह—विशेषेणेति समूलं सर्व्वमेवेत्यर्थः; यद्वा, हरेः पादोदके गङ्गाजलरूपे, अन्यत् समानम् ।।६८-६९।।

स्कन्दपुराण में लिखित है—श्रीविष्णु चरण निःसृता गङ्गा को जिन्होंने मस्तक में धारण किया है, वह देव शङ्कर ही पादोदक माहात्म्य को जानते हैं। देहधारियों के मध्य में केवल श्रीशङ्कर के देह में ही पाप का स्थान नहीं है ।।६३।।

जिनके वाह्य अभ्यन्तर पादोदक द्वारा व्याप्त है, जिनके उदर में श्रीविष्णु के चरणोदक एवं नैवेद्य विद्यमान हैं, पाप का स्थान वहाँ नहीं होता है, पाप स्वयं विनष्ट हो जाता है। महापातक ग्रस्त एवं शत-शत पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति भी श्रीहरि चरणोदक पान से निष्कृति प्राप्त करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जिनके मस्तक में श्रीहरिपादोदक नित्य विद्यमान है, वे सब कोटितीर्थ का अभिलाषी क्यों होंगे ? श्रीविष्णु पादोदक पान ही श्रेष्ठ धर्म है, एवं वह ही श्रेष्ठ तीर्थ है ।।६४-६७।।

उक्त पुराण के श्रीशिव-उमा-संवाद में लिखित है—श्रीहरि-प्रतिमा का चरणोदक पान करने से सकल पाप विनष्ट होते हैं। शालग्रामशिला निःसृत श्रीविष्णु पादोदक का माहात्म्य अधिक और क्या कहूँ, हे प्रिये ! वह ब्रह्महत्यादि पाप का मूलतः विनाशक है। श्रीहरिपादोदक पान पूर्वक देह त्याग करने से यमदूतगण विताड़ित होते हैं, एवं विष्णुलोक गमन होता है ।।६८-६९।।

उक्त पुराण के शिव-कार्त्तिक-संवाद में शालग्रामशिला माहात्म्य प्रसङ्ग में लिखित है—हे कार्त्तिकेय ! जिन्होंने नित्य शालग्राम शिलोदक पान किया है, उन्होंने भीषण गर्भवास क्लेश छेदन किया है ।।७०।।

ये पिबन्ति नरा नित्यं शालग्रामशिलाजलम् । पञ्चगव्यसहस्रैस्तु प्राशितैः किं प्रयोजनम् ॥७१

प्रायश्चित्ते समुत्पन्ने किं दानैः किमुपोषणैः । चान्द्रायणैश्च तीर्थैश्च पीत्वा पादोदकं शुचि ॥७२॥

बृहन्नारदीये लुब्धकोपाख्यानारम्भे—

हरिपादोदकं यस्तु क्षणमात्रञ्च धारयेत् । स स्नातः सर्व्वतीर्थेषु विष्णोः प्रियतरस्तथा ॥७३॥

अकालमृत्युशमनं सर्व्वव्याधिविनाशनम् । सर्व्वदुःखोपशमनं हरिपादोदकं शुभम् ॥७४॥

अत्रैव तदुपाख्यानान्ते—

हरिपादोदकस्पर्शाल्लुब्धको वीतकल्मषः । दिव्यं विमानमारुह्य मुनिमेनमथाब्रवीत् ॥७५॥

हरिपादोदकं यस्मान्मयि त्वं क्षिप्तवान्मुने ।
प्रापितोऽस्मि त्वया तस्मात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥७६॥

हरिभक्तिसुधोदये—

पादं पूर्व्वं किल स्पृष्ट्वा गङ्गाभूत् स्मर्त्तृमोक्षदा ।
विष्णोः सद्यस्तु तत्सङ्गि पादाम्बु कथमीड्यते ॥७७॥
तापत्रयानलो योऽसौ न शाम्येत् सकलाब्धिभिः ।
द्रुतं शाम्यति सोऽल्पेन श्रीमद्विष्णुपदाम्बुना ॥७८॥

युद्धास्त्राभेद्यकवचं भवाग्निस्तम्भनौषधम् । सर्व्वाङ्गैः सर्व्वथा धार्य्यं पाद्यं शुचिपदः सदा ॥७९

अमृतत्वावहं नित्यं विष्णुपादाम्बु यः पिबेत् । स पिबत्यमृतं नित्यं मासे मासे तु देवताः ॥८०॥

सर्व्वाङ्गैरिति ज्ञेयम् ॥७९॥

जो मनुष्य, नित्य शालग्रामशिलोदक पान करते हैं, उनको पञ्चगव्य पान करने का प्रयोजन क्या है ?७१ पवित्र विष्णुचरणोदक पान करने से प्रायचित्तार्थ दान, उपवास, चान्द्रायण किंवा तीर्थ सेवन का प्रयोजन ही क्या है ? ॥७२॥

बृहन्नारदीय पुराण के लब्धकोपाख्यानारम्भ में वर्णित है—जो श्रीहरिचरणोदक धारण करते हैं, उनको सब तीर्थों में स्नान करने का फल लाभ होता है, एवं वे श्रीहरि के अतिशय प्रिय होते हैं ॥७३॥

शुभ श्रीहरिपादोदक, अकाल मृत्यु, सर्व व्याधि एवं सब प्रकार दुःख को विनष्ट करता है ॥७४॥

उक्त पुराण के उक्त आख्यान के अन्तिम में लिखित है—श्रीहरि-चरणोदक स्पर्श हेतु व्याध पापमुक्त होकर दिव्य विमान में आरोहणपूर्बक मुनि को कहा था—"हे मुने ! आपने मेरे शरीर में जो श्रीहरिपादोदक निक्षेप किया, उससे ही मैंने श्रीविष्णु के परमधाम को प्राप्त किया" ॥७५-७६॥

हरिभक्ति सुधोदय में वर्णित है—पूर्वकाल में गङ्गा श्रीविष्णु के चरणस्पर्श करके ही स्मरणकारी को सद्यः मोक्षदात्री हुई हैं, अतएव श्रीविष्णु के चरण सम्बन्धि पादोदक का स्तव मैं कैसे करूँ ? सकल समुद्र मिलित होकर भी जिस तापत्रय रूप अग्नि को निर्वापित करने में सक्षम नहीं होते हैं। उक्त अग्नि, स्वल्प परिमाण श्रीमद् विष्णुपादोदक के द्वारा ही आशु निर्वापित होता है ॥७७-७८॥

पवित्र श्रीहरिपदकमल का पाद्य, युद्धास्त्र के पक्ष में अभेद्य कवच स्वरूप है। यह संसारानल का स्तम्भनकारी औषध विशेष है, अतएव सर्वदा श्रीविष्णु चरणोदक का धारण नाभि के ऊर्द्ध्वाङ्ग में करना चाहिये। देवगण प्रत्येक मास में सुधा सेवन करते रहते हैं, किन्तु अमृतत्व सम्पादक श्रीहरिपादोदक नित्य पान करने से उससे ही अमृत पान होता है ॥७९-८०॥

माहात्म्यमियदित्यस्य वक्ता योऽपि स निर्भयः । नन्वनर्घमणेर्मूल्यं कल्पयन्नघमश्नुते ॥८१॥

अन्यत्रापि—

स ब्रह्मचारी स व्रती आश्रमी च सदा शुचि । विष्णुपादोदकं यस्य मुखे शिरसि विग्रहे ॥८२

जन्मप्रभृतिपापानां प्रायश्चित्तं यदीच्छति । शालग्रामशिलावारि पापहारि निषेव्यताम् ॥८३

अतएव तेजोद्रविण-पञ्चरात्रे श्रीब्रह्मणोक्तम्—

पीठप्रणालादुदकं पृथगादाय पुत्रक । सिञ्चयेन्मूर्द्धिनभक्तानां सर्वतीर्थमयं हि तत् ॥८४॥ इति ।

पादोदकस्य माहात्म्यं विख्यातं सर्व्वशास्त्रतः ।
लिखितुं शक्नुयात् को हि सिन्धूर्म्मीन् गणयन्नपि ॥८५॥

विशेषतश्च पादोदं तुलसीदलसंयुतम् । शङ्खे कृत्वा वैष्णवेभ्यो दत्त्वा प्राग्वत् पिबेत् स्वयम् ॥८६

अथ शङ्खकृतपादोदक-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

कृत्वा पादोदकं शङ्खे वैष्णवानां माहात्मनाम् ।
यो दद्यात् तुलसीमिश्रं चान्द्रायणशतं लभेत् ॥८७॥
गृहीत्वा कृष्णपादाम्बु शङ्खे कृत्वा तु वैष्णवः ।
यो वहेत् शिरसा नित्यं स मुनिस्तापसोत्तमः ॥८८॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-संवादे—

शालग्रामशिलातोयं यदि शङ्खभृतं पिबेत् । हत्याकोटिविनाशञ्च कुरुते नात्र संशयः ॥८९॥

पीठं श्रीभगवदासनं, तस्य प्रणालात् ॥८४॥
प्राग्वदिति—तन्मन्त्रोच्चारणादि-विधिनेत्यर्थः ॥८६॥

श्रीविष्णु पादोदक का एतावत् माहात्म्य का कीर्त्तन जो करते हैं उनको भय व्याप्त नहीं होता है। किन्तु यह चरणामृत स्वरूप अमूल्य मणि का मूल्य निर्णय करने से पाप भागी होना पड़ता है ॥८१॥

अन्यत्र भी वर्णित है– वदन में, मस्तक में एवं अङ्ग में श्रीविष्णु पादोदक विराजित होने पर, उसी को ब्रह्मचारी, व्रती, आश्रमी एवं नित्य पूत कहा जाता है। आजन्म सञ्चित पातकराशि विनाशार्थ प्रायश्चित करना हो तो पापहारि शालग्राम शिलोदक ही पान करना चाहिये ॥८२-८३॥

पादोदक का माहात्म्य निखिल शास्त्र में विख्यात है। समुद्र की तरङ्ग की गणना करना सम्भव होने से भी पादोदक का माहात्म्य लिखने में कौन समर्थ होगा? विशेषतः तुलसीदल संयुक्त पादोदक शङ्ख में लेकर मन्त्रोच्चारणादि नियम पूर्वक वैष्णववृन्द को प्रदान करे एवं स्वयं पान करे ॥८५-८६॥

अथ शङ्खकृतपादोदक-माहात्म्यम्

अनन्तर शङ्खस्थापित चरणोदक का माहात्म्य का वर्णन करते हैं—स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्मनारद-संवाद में वर्णित है—जो व्यक्ति, तुलसी मिश्रित विष्णुपादोदक शङ्ख में लेकर महात्मा वैष्णवगण को प्रदान करते हैं, वे शतचान्द्रायण का फल लाभ करते हैं। जो वैष्णव, श्रीकृष्ण चरणामृत शङ्ख में लेकर नित्य मस्तक में धारण करते हैं, वही वैष्णव मुनि एव तापस श्रेष्ठ हैं ॥८७-८८॥

पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में लिखित है—शङ्खस्थापित शालग्राम शिलोदक पान करने से निःसन्देह कोटि हत्या-पाप विनष्ट होते हैं ॥८९॥

अगस्त्यसंहितायाम् —

शालग्रामशिलातोयं तुलसीदलवासितम् । ये पिबन्ति पुनस्तेषां स्तन्यपानं न विद्यते ॥९०॥ इति ।

श्रीविष्णोर्वैष्णवानाञ्च पावनं चरणोदकम् । सर्व्वतीर्थमयं पीत्वा कुर्य्यदाचमनं न हि ॥९१॥

तदुक्तं स्कान्दे शिवेन —

विष्णोः पादोदकं पीत्वा पश्चादशुचिशङ्कया । आचामति च यो मोहाद्ब्रह्महा स निगद्यते ॥९२

श्रुतिश्च—

भगवान् पवित्रं, भगवत्पादौ पवित्रं, भगवत्पादोदकं पवित्रं, न तत्पान आचमनीयम् । यथाहि सोम इति ॥९३॥

सौपर्णे च—

विष्णुपादोदकं पीत्वा भक्तपादोदकं तथा । य आचमति संमोहाद्ब्रह्महा स निगद्यते ॥९४॥ इति ।

ततः शुद्धं पयःपूर्णं गन्धपुष्पाक्षतान्वितम् । आधारोपरि संन्यस्येच्छङ्खं भगवदग्रतः ॥९५॥

अथ श्रीभगवदग्रतः शङ्खस्थापन-माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे शङ्ख-माहात्म्ये —

पुरतो वासुदेवस्य सपुष्पं सजलाक्षतम् । शङ्खमभ्यर्च्चितं पश्येत् तस्य लक्ष्मीर्न दुर्लभा ॥९६॥

आचमनं न हि नैव कुर्य्यादिति अस्पृश्यस्पर्शनादिना कथञ्चित् प्राप्तमाचमनं चरणोदकपानानन्तरं पुनस्तच्छुद्धये न कुर्य्यात् । यद्वा, 'स्नात्वा भुक्त्वा पयः पीत्वा' इत्यादिना जलपानानन्तरं स्मृतिविहितं यदाचमनं तच्छ्रीचरणोदक-पानानन्तरं न कार्य्यमित्यर्थः । एवञ्च पिपासया चरणोदकस्य पानं विज्ञेयं, न च प्राशनरूपमाचमनमात्रमिति ॥९१॥

अशुचिशङ्कया अशुद्धयाशङ्कयेत्यर्थः ॥९२॥

अगस्त्य संहिता में वर्णित है—तुलसीदल द्वारा सुरभित शालग्राम शिलोदक पान करने से पुनर्वार जन्म ग्रहण कर मातृ दुग्ध पान करना नहीं पड़ता है ॥९०॥

श्रीविष्णु एवं वैष्णवगण का पवित्र चरणोदक सर्वतीर्थ स्वरूप हैं, उनको पीने के पश्चात् आचमन न करे ॥९१॥

स्कन्द पुराण में उस प्रकार शिवोक्ति है—श्रीविष्णु चरणोदक पान करने के पश्चात् अशुद्धि मानकर मुख धोने से वह पुरुष ब्रह्मघाती होता है ॥९२॥

श्रुति में भी वर्णित है—भगवान् पवित्र, उनके चरणयुगल पवित्र हैं, उनका पादोदक भी पवित्र है। अतः उक्त पादोदक पान करके आचमन न करे । यह सोम नाम से अभिहित है ॥९३॥

गरुड़पुराण में वर्णित है—विष्णुपादोदक एवं भक्त पादोदक पान करने के पश्चात् अज्ञातवशतः आचमन करने से ब्रह्म-घातक कहकर परिगणित होता है ॥९४॥

पादोदक सेवन करने के पश्चात् जलपूर्ण गन्ध, पुष्प एवं तण्डुल युक्त पवित्र शङ्ख भगवान् के सम्मुख में आधार के ऊपर स्थापन करे ॥९५॥

अथ श्रीभगवदग्रतः शङ्खस्थापन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में शङ्ख माहात्म्य प्रस्ताव में उक्त है—वासुदेव के पुरोभाग में स्थापित, पूजित, पुष्प, जल एवं तण्डुल समन्वित शङ्ख निरीक्षण करने से कमला दुर्लभ नहीं होती हैं।

सपुष्पं वारिजं यस्य दूर्व्वाक्षतसमन्वितम् । पुरतो वासुदेवस्य तस्य श्रीः सर्व्वतोमुखी ॥९७॥ इति।

भत्वाथ भक्तिमान् श्रीमत्तुलस्या कानने प्रभुम् ।

संपूज्याभ्यर्च्चयेत्ताञ्च श्रीकृष्णचरणप्रियाम् ॥९८॥

अथ श्रीतुलसीवन पूजा

प्राग्दत्त्वार्घ्यं ततोऽभ्यर्च्च्य गन्धपुष्पाक्षतादिना ।

स्तुत्वा भगवतीं ताञ्च प्रणमेत् प्रार्थ्य दण्डवत् ॥९९॥

अथार्घ्यमन्त्रः

श्रियः श्रिये श्रियावासे नित्यं श्रीधरसत्कृते ।

भक्त्या दत्तं मया देवि अर्घ्यं गृह्ण नमोऽस्तु ते ॥१००॥

पूजामन्त्रः

निर्म्मिता त्वं पुरा देवैरर्च्चिता त्वं सुरासुरैः । तुलसी हर मे पापं पूजां गृह्ण नमोऽस्तु ते ॥१०१

स्तुतिश्च

महाप्रसादजननी सर्व्वसौभाग्यवर्द्धिनी । आधिव्याधिहरी नित्यं तुलसि त्वं नमोऽस्तु ते ॥१०२

प्रार्थना

श्रियं देहि यशो देहि कीर्त्तिमायुस्तथा सुखम् । बलं पुष्टिं तथा धर्म्मं तुलसि त्वं प्रसीद मे ॥१०३

वारिजं शङ्खः । पुरतस्तिष्ठतीति शेषः ॥९७॥ तां तुलसीञ्च ॥९८॥ गृह्ण गृहाण ॥१००॥

तुलसीति—दीर्घान्तपाठे सम्बोधनेऽपि छन्दोभङ्गभिया दैर्घ्यमार्षम्; यद्वा, त्वमित्यस्य विशेषणम् ॥१०१॥

जो व्यक्ति, वासुदेव के सम्मुख में पुष्प, दूर्वा एवं तण्डुल समन्वित शङ्ख स्थापन करते हैं, उनको सर्वाङ्गीण सौभाग्य लाभ होता है ॥९६-९७॥

तत्पश्चात् भक्तिपूर्वक तुलसीकानन में उपस्थित होकर प्रभु श्रीकृष्ण की पूजा करे एवं श्रीकृष्ण-चरण-प्रिया तुलसी की भी पूजा करे ॥९८॥

अथ श्रीतुलसीवन पूजा

प्रथमतः अर्घ्य अर्पण पूर्वक पश्चात् गन्ध, पुष्प एवं आतप ताण्डुलादि द्वारा पूजा करे । पश्चात् भगवती तुलसी को दण्डवत् प्रणाम पूर्वक प्रार्थना करे ॥९९॥

अथार्घ्यमन्त्रः

हे देवि ! आप श्री का आश्रय एवं निवासभूमि हो । आप नित्य श्रीधर की प्रियपात्री हो, मैंने भक्तिपूर्वक अर्घ्य अर्पण किया—ग्रहण कीजिये । आपको नमस्कार करता हूँ ॥१००॥

पूजामन्त्रः

हे तुलसी ! पूर्वकाल में आपका निर्म्माण देवतागण के द्वारा हुआ है, सुर एवं असुरसमूह आपकी पूजा करते हैं । आप मेरे पातक विदूरित कीजिये, आपको नमस्कार करता हूँ ॥१०१॥

स्तुतिश्च

हे तुलसि ! आप महाप्रसाद साधिनी, सर्वसौभाग्य वर्द्धनकारिणी एवं नित्य आधिव्याधि हारिणी हैं। आपको नमस्कार ॥१०२॥

प्रार्थना

हे तुलसि देवि ! आप मुझको श्री, यशः, कीर्त्ति, दीर्घायु, सुख, वस्त्र, पुष्टि एवं धर्म प्रदान कीजिये एवं मुझ पर प्रसन्न हूजिये ॥१०३॥

प्रणामवाक्यम्

अवन्तीखण्डे —

या दृष्टा निखिलाघसङ्घशमनी स्पृष्टा वपुःपावनी,
रोगाणामभिवन्दिता निरसिनी सिक्तान्तकत्रासिनी ।
प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता,
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥१०४॥
भगवत्यास्तुलस्यास्तु माहात्म्यामृतसागरे ।
लोभात् कूर्द्दितुमिच्छामि क्षुद्रस्तत् क्षम्यतां त्वया ॥१०५॥

अथ तुलसीवनपूजा-माहात्म्यम्

स्कान्दे—

श्रवणद्वादशीयोगे शालग्रामशिलार्च्चने । यत् फलं सङ्गमे प्रोक्तं तुलसी-पूजनेन तत् ॥१०६॥

गारुडे—

धात्रीफलेन यत् पुण्यं जयन्त्यां समुपोषणे । खगेन्द्र भवते नृणां तुलसी-पूजनेन तत् ॥१०७॥
प्रयागस्नाननिरतौ काश्यां प्राणविमोक्षणे । यत् फलं विहितं देवैस्तुलसीपूजनेन तत् ॥१०८॥

प्रत्यासक्तिः सम्बन्धविशेषः; विमुक्तिः विशिष्टा मुक्तिः, श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्ति-लक्षणा, तदेव फलम्; यद्वा, विमुक्तेर्मोक्षस्य फलं प्रेमभक्तिः तत् ददातीति तथा सा ॥१०४॥

श्रीब्रह्माद्यनिर्व्वाच्यमपि भगवत्पादपद्मप्रियतमायाः श्रीतुलस्या माहात्म्यं परमोपादेयत्वेन लोभतो लिखन्नादौ निजचापल्यापराधं क्षमापयति—भगवत्या इति । कूर्द्दितुमुत्प्लुत्य निपतितुं क्षुद्रोऽप्यहम् ॥१०५॥

धात्रीफलेनेति- तद्भक्षणादिनेत्यर्थः । जयन्त्यां जन्माष्टम्यां महाद्वादशीभेदे वा उपवासे च यत् पुण्यम्; यद्वा, जयन्त्युपोषणे धात्रीफलस्नानादिना यत् पुण्यं भवते भवति ॥१०७॥

प्रणामवाक्यम्

अवन्ती खण्ड में लिखित है—जिनका दर्शन करने से सब पाप विदूरित होते हैं, स्पर्श करने से शरीर पवित्र होता है, वन्दन करने से रोग बिनष्ट होता है, जल द्वारा सिक्त करने से यम भय विनष्ट होता है, रोपण करने से भगवत् सान्निध्य लाभ होता है एवं श्रीकृष्णपादपद्म में अर्पण करने से जो मुक्ति फल, प्रेम-भक्ति प्रदान करती हैं, उन तुलसी देवी को नमस्कार करता हूँ ॥१०४॥

हे भगवति तुलसि ! मैं क्षुद्र होकर भी लोभ वशतः आपके माहात्म्य-रूप अमृत सागर में कूदने की इच्छा कर रहा हूँ, आप मुझको क्षमा कीजिये ॥१०५॥

अथ तुलसीवनपूजा-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में वर्णित है—श्रवणा द्वादशी के योग में संगम स्थान में शालग्रामशिला का पूजन करने से जो फल होता है, कथित है—तुलसी पूजा करने से वही फल होता है ॥१०६॥

गरुड़पुराण में वर्णित है—हे खगश्रेष्ठ ! आमलकी सेवन करने से अथवा जन्माष्टमी किंवा जयन्ती द्वादशी में उपवास करने से जो फल लाभ होता है, तुलसी पूजन से मनुष्यों को वही फल मिल सकता है ।

देवगण नित्य प्रयाग स्नान में एवं काशी में देहत्याग में जो फल निरूपण किये हैं, तुलसी की पूजा से निःसन्देह वह फल होता है ॥१०७-१०८॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमाणां विशेषतः । स्त्रीणाञ्च पुरुषाणाञ्च पूजितेष्टं ददाति हि ॥१०६

तुलसी रोपिता सिक्ता दृष्टा स्पृष्टा च पावयेत् । आराधिता प्रयत्नेन सर्व्वकामफलप्रदा ॥११०॥

किञ्च—

प्रदक्षिणं भ्रमित्वा ये नमस्कुर्व्वति नित्यशः । न तेषां दुरितं किञ्चिदक्षीणमवशिष्यते ॥१११

बृहन्नारदीये यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते—

पूज्यमाना च तुलसी यस्य वेश्मनि तिष्ठति । तस्य सर्व्वाणि श्रेयांसि वर्द्धन्तेऽहरहर्द्विजाः ॥११२

अतएव पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-संवादे—

पक्षे पक्षे तु संप्राप्ते द्वादश्यां वैश्यसत्तम । ब्रह्मादयोऽपि कुर्व्वन्ति तुलसीवन-पूजनम् ॥११३

अतएव श्रीतुलसीस्तुति-महिमा

अनन्यमनसा नित्यं तुलसीं स्तौति यो नरः । पितृदेवमनुष्याणां प्रियो भवति सर्व्वदा ॥११४

अथ तुलसीवन-माहात्म्यम्

स्कान्दे—

रतिं बध्नाति नान्यत्र तुलसीकाननं विना । देवदेवो जगत्स्वामी कलिकाले विशेषतः ॥११५

हित्वा तीर्थ-सहस्राणि सर्व्वानपि शिलोच्चयान् । तुलसीकानने नित्यं कलौ तिष्ठति केशवः ॥११६

निरीक्षिता नरैर्यैस्तु तुलसीवनबाटिका । रोपिता यैश्च विधिना सम्प्राप्तं परमं पदम् ॥११७

न धात्री सफला यत्र न विष्णुस्तुलसीवनम् । तत् श्मशानसमं स्थानं सन्ति यत्र न वैष्णवाः ॥११८

अगस्त्य संहिता में लिखित है—चतुर्वण के मध्य में विशेषतः आश्रम चतुष्टय के मध्य में नर-नारी जो कोई तुलसीदेवी की पूजा करें, तुलसी उनको अभिलषित फल प्रदान करती हैं। तुलसी रोपण, जलसिञ्चन, दर्शन, स्पर्श से पवित्रता मिलती है एवं यत्नपूर्वक आराधना करने से सर्वाभिलाष सिद्ध होते हैं ॥१०६-११०

और भी लिखा है—प्रतिदिन प्रदक्षिणा करने के पश्चात् तुलसी को प्रणाम करने से कोई पाप ध्वंस होने में अवशेष नहीं रहते हैं ॥१११॥

वृहन्नारदीय पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के अन्त में लिखित है—हे द्विजगण ! प्रत्यह पूजिता तुलसी जिस गृह में अवस्थिता हैं, दिन दिन वहाँ सर्व प्रकार मङ्गल वृद्धि होती हैं ॥११२॥

अतएव पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में उक्त है—हे वैश्य प्रवर ! प्रतिपक्ष की द्वादशी तिथि का समागम में ब्रह्मादि देवगण भी तुलसीवन की पूजा करते हैं ॥११३॥

अतएव श्रीतुलसीस्तुति-महिमा

जो मानव, एकाग्रमन से नित्य तुलसी का स्तव करते हैं, वे पितृ, देव एवं नरगण के प्रिय होते हैं ॥११४

अथ तुलसीवन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में उक्त है—विशेषतः कलिकाल में देवदेव जगत्पति श्रीहरि तुलसी का वन व्यतीत अन्य किसी वस्तु से सन्तुष्ट नहीं होते हैं। कलियुग में श्रीकेशव, सहस्र सहस्र तीर्थक्षेत्र एवं समस्त पर्व श्रेणी को छोड़कर तुलसी कानन में ही नित्य निवास करते हैं। जो सब मनुष्य तुलसीवन दर्शन अथवा यथाविधि रोपण किये हैं, वे सब परमपद प्राप्त किये हैं। जहाँ पर फलित धात्रीवृक्ष, विष्णुमूर्त्ति तुलसी कानन अथवा वैष्णववृन्द अवस्थित नहीं हैं, वह स्थान श्मशान तुल्य है। जो मानव, कलिकाल में धरातल में श्रीकेशव के

केशवार्थे कलौ ये तु रोपयन्तीह भूतले । किं करिष्यत्यसन्तुष्टो यमोऽपि सह किङ्करैः ॥११९॥
तुलस्या रोपणं कार्य्यं श्रवणेन विशेषतः । अपराधसहस्राणि क्षमते पुरुषोत्तमः ॥१२०॥
देवालयेषु सर्व्वेषु पुण्यक्षेत्रेषु यो नरः । वापयेत्तुलसीं पुण्यां तत्तीर्थं चक्रपाणिनः ॥१२१॥
घटैर्यन्त्रघटीभिश्च सिञ्चितं तुलसीवनम् । जलधाराभिर्विप्रेन्द्र प्रीणितं भुवनत्रयम् ॥१२२॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

तुलसीगन्धमादाय यत्र गच्छति मारुतः । दिशो दश च पूताः स्युर्भूतग्रामश्चतुर्व्विधः ॥१२३॥
तुलसीकाननोद्भूता छाया यत्र भवेद्द्विज । तत्र श्राद्धं प्रदातव्यं पितॄणां तृप्तिहेतवे ॥१२४॥
तुलसीवीजनिकरः पतते यत्र नारद । पिण्डदानं कृतं तत्र पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥१२५॥

तत्रैवाग्रे—

दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्त्तिता नमिता श्रुता ।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा ॥१२६॥

नवधा तुलसीं नित्यं ये भजन्ति दिने दिने । युगकोटिसहस्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे ॥१२७॥
रोपिता तुलसी यावत् कुरुते मूलविस्तरम् । तावत्कोटिसहस्रन्तु तनोति सुकृतं कलौ ॥१२८॥
यावच्छाखाप्रशाखाभिर्वीजपुष्पैः फलैर्मुने । रोपिता तुलसी पुम्भिर्वर्द्धते वसुधातले ॥१२९॥

कुले तेषान्तु ये जाता ये भविष्यन्ति ये मृताः ।
आकल्पं युगसाहस्रं तेषां वासो हरेर्गृहे ॥१३०॥

जलधाराभिः सिञ्चितं सिक्तम् ॥१२२॥
चतुर्व्विधः, जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जभेदेन ॥१२३॥
नमिता नता, सेविता जलसेकादिना ॥१२६॥
प्रशाखा उपशाखाः ; तेषां कुले यावन्तः पुरुषाः ; तानेवाह—ये जाता इत्यादि । आकल्पं ब्रह्मदिनं व्याप्य यत् युगसाहस्रं, तत् प्राप्य ॥१२९-१३०॥

निमित्त तुलसी रोपण करते हैं, यम एवं उनके दूतगण कुपित होकर भी क्या करेंगे? विशेषतः श्रवणा नक्षत्र के योग से तुलसी रोपण करना चाहिये। ऐसा होने पर श्रीपुरुषोत्तम हरि, रोपणकारी का अपराध क्षमा करते हैं। देव-मन्दिर में अथवा पुण्य भूमि में मनुष्य पवित्र तुलसीवृक्ष रोपण करते हैं, उक्त स्थान समूह ही चक्रपाणि श्रीहरि के तीर्थ स्वरूप हैं। हे विप्रश्रेष्ठ! घट अथवा घटीयन्त्र द्वारा तुलसी वन में जल सेचन करने से जलधारा द्वारा भुवनत्रय की तृप्ति साधित होती है ॥११५-१२२॥

उक्त पुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—जहाँ पर पवन, तुलसी गन्ध वहन पूर्वक प्रवाहित होता है, उसके दशदिक् एवं चतुर्विध प्राणी पवित्र होते हैं। हे द्विज! जहाँ तुलसीवन की छाया पतित होती है, पितृगण को तृप्त करने के निमित्त वहाँ पर ही श्राद्धकार्य्य करे। हे नारद! जहाँ तुलसी बीज निपतित होता है, उस स्थान में पितृगण के उद्देश्य में पिण्डदान करने पर वह अक्षय होता है ॥१२३-१२५॥

उक्त श्रीब्रह्म-नारद संवाद के अग्रभाग में वर्णित है- नित्य तुलसी दर्शन, स्पर्शन, ध्यान, कीर्त्तन, नमस्कार, श्रवण, रोपण, सेवा अथवा पूजा करने से मङ्गल लाभ होता है, जो मानव, नित्य नवधा तुलसी आराधना करते हैं, वे सब सहस्रकोटि युग पर्य्यन्त श्रीहरिधाम में निवास करते हैं। कलिकाल में तुलसी रोपित होकर उसकी जितनी जड़ फैलती है, रोपणकारी का पुण्य भी उतना सहस्रकोटि विस्तृत होता है।

तत्रैव चावन्तीखण्डे—

तुलसी ये विचिन्वन्ति धन्यास्तत्करपल्लवाः । केशवार्थे कलौ ये च रोपयन्तीह भूतले ॥१३१॥

स्नाने दाने तथा ध्याने प्राशने केशवार्च्चने । तुलसी दहते पापं रोपणे कीर्त्तने कलौ ॥१३२॥

काशीखण्डे स्वदूतान् प्रति श्रीयमानुशासने—

तुलस्यलङ्कृता ये ये तुलसीनाम-जापकाः । तुलसीवनपाला ये ते त्याज्या दूरतो भटाः ॥१३३

तत्रैव ध्रुवचरिते—

तुलसी यस्य भवने प्रत्यहं परिपूज्यते । तद्गृहं नोपसर्पन्ति कदाचिद्यमकिङ्कराः ॥१३४॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-संवादे—

न पश्यन्ति यमं वैश्य तुलसीवनरोपणात् । सर्व्वपापहरं सर्व्वकामदं तुलसीवनं ॥१३५॥

तुलसीकाननं वैश्य गृहे यस्मिंस्तु तिष्ठते । तद्गृहं तीर्थभूतं हि नो यान्ति यमकिङ्कराः ॥१३६॥

तावद्वर्षसहस्राणि यावद्वीजदलानि च । वसन्ति देवलोके तु तुलसीं रोपयन्ति ये ॥१३७॥

तुलसीगन्धमाघ्राय पितरस्तुष्टमानसाः । प्रयान्ति गरुड़ारूढ़ास्तत्पदं चक्रपाणिनः ॥१३८॥

दर्शनं नर्मदायास्तु गङ्गास्नानं विशांवर । तुलसीदलसंस्पर्शः सममेतत्त्रयं स्मृतम् ॥१३९॥

ये च रोपयन्ति, ते धन्या इत्यादि ॥१३१॥

तत् श्रीवैकुण्ठाख्यमनिर्व्वचनीयं वा पदम् ॥१३८॥

हे मुने ! भूतल में मानवगण कर्त्तृक तुलसी रोपित होकर शाखा, प्रशाखा, बीज, पुष्प एवं फल से वर्द्धित होती है, रोपणकारीगण के कुल में जो सब जन्म ग्रहण किये हैं, अथवा जन्म ग्रहण करेंगे, किंवा पूर्व में जन्म ग्रहण किये थे, वे सब भी ब्रह्मपरिमाण में सहस्रयुगकाल श्रीहरिधाम में निवास करते हैं ॥१२६-१३०॥

स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड में लिखित है— कलियुग में पृथिवी पर जो मनुष्य श्रीकेशवप्रीत्यर्थ तुलसी चयन एवं रोपण करते हैं, उनके करपल्लव धन्य हैं। कलिकाल में स्नान, दान, ध्यान, भक्षण एवं श्रीकेशव पूजन में तुलसी व्यवहार एवं तुलसी रोपण, तुलसी महिमा कीर्त्तन करने से तुलसी पाप दग्ध कर देती है। ॥१३१-१३२॥

काशीखण्ड में निजदूतगण के प्रति श्रीयमोक्ति यह है— हे दूतगण ! तुलसी भूषण से भूषित, तुलसी नाम जापक एवं तुलसीवन रक्षक व्यक्तिगण को दूर से परित्याग करना, अर्थात् उनको मेरे पुर में कभी मत लाना ॥१३३॥

ध्रुवचरित में भी वर्णित है—जिनके गृह में प्रत्यह तुलसी की पूजा होती है, यमदूतगण कभी भी उनके गृह के सम्मुखस्थ होने में सक्षम नहीं होते ॥१३४॥

पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में लिखित है—हे वैश्य ! सर्व पापहर एवं सर्व कामद तुलसीवन रोपण करने से यम दर्शन नहीं होता है। हे वैश्य जिस गृह में तुलसीवन विद्यमान है, वह तीर्थ स्वरूप है, यमकिङ्करगण उस गृह के निकट गमन नहीं करते हैं। जो लोक, तुलसी रोपण करते हैं, तुलसी वृक्ष में जितने पत्ते एवं बीज उत्पन्न होते हैं, तुलसी रोपणकारी व्यक्ति उतने सहस्र वत्सर पर्य्यन्त सुरलोक में निवास करते हैं। पितृगण तुलसी गन्धाघ्राण पूर्वक सन्तुष्ट मन से गरुड़यान में बैठकर चक्रपाणि के वैकुण्ठ नामक धाम में प्रस्थान करते हैं ॥१३५-१३८॥

हे वैश्यश्रेष्ठ ! नर्मदा दर्शन, गङ्गा स्नान, एवं तुलसीपत्र संस्पर्श, यह तीन समान पुण्यकारक हैं। तुलसी रोपण, पालन, जलसेचन, दर्शन, स्पर्श करने से मानववृन्द के काय, वाक्य, मन के द्वारा सञ्चित पापसमूह

रोपणात् पालनात् सेकाद्दर्शनात् स्पर्शनान्नृणाम् ।
तुलसी दहते पापं वाङ्मनःकायसञ्चितम् ॥१४०॥

आम्रवृक्षसहस्रेण पिप्पलानां शतेन च । यत् फलं हि तदेकेन तुलसीविटपेन तु ॥१४१॥

विष्णुपूजन-संयुक्तस्तुलसीं यस्तु रोपयेत् । युगायुतदशैकं स रोपको रमते दिवि ॥१४२॥

तत्रैव वैशाख माहात्म्ये—

पुष्करादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा । वासुदेवादयो देवा वसन्ति तुलसीदले ॥१४३॥

दारिद्र्यदुःखरोगार्त्ति-पापानि सुबहून्यपि । तुलसी हरति क्षिप्रं रोगानिव हरीतकी ॥१४४॥

तत्रैव कार्तिक-माहात्म्ये —

यद्गृहे तुलसी भाति रक्षाभिर्जलसेचनैः । तद्गृहं यमदूताश्च दूरतो वर्ज्जयन्ति हि ॥१४५॥

तुलस्यास्तर्पणं ये च पितॄनुद्दिश्य मानवाः । कुर्व्वन्ति तेषां पितरस्तृप्ता वर्षायुतं जलैः ॥१४६

परिचर्य्याञ्च ये तस्य रक्षयाबालबन्धनैः । शुश्रूषितो हरिस्तैस्तु नात्र कार्य्या विचारणा ॥१४७

नावज्ञा जातु कार्य्यास्या वृक्षभावान्मनोषिभिः । यथा हि वासुदेवस्य वैकुण्ठ भोगविग्रहः ॥१४८

शालग्रामशिलारूपं स्थावरं भुवि दृश्यते । तथा लक्ष्म्यैक्यमापन्ना तुलसी भोगविग्रहा ॥१४९॥

अपरं स्थावरं रूपं भुवि लोकहिताय वै । स्पृष्टा दृष्टा रक्षिता च महापातकनाशिनी ॥१५०॥

अगस्त्यसंहितायाम्—

विष्णोस्त्रैलोक्यनाथस्य रामस्य जनकात्मजा । प्रिया तथैव तुलसी सर्व्वलोकैकपावनी ॥१५१॥

रक्षाभिः कण्टकावरणादिभिः ॥१४५॥

आबालम् आलबालं तद्बन्धनैर्या रक्षा, तया परिचर्य्यां ये कुर्व्वन्तीति शेषः ॥१४७॥

भस्मीभूत होते हैं । सहस्र आम्रवृक्ष एवं एक शत पिप्पलवृक्ष रोपण से जो फल होता है, वह फल तुलसी तरु की एक शाखा में विद्यमान है । जो श्रीविष्णु-पूजक व्यक्ति, तुलसी रोपण करते हैं उनका लक्ष युग पर्य्यन्त देवलोक में परमानन्द से वास होता है ॥१३९-१४२॥

उक्तपुराण के वैशाख माहात्म्य में उक्त है—पुष्करादि तीर्थसमूह, गङ्गादि नदीगण एवं वासुदेवादि देववृन्द समस्त तुलसी पत्र में निवास करते हैं । जिस प्रकार हरीतकी रोग शान्ति करती है, उस प्रकार तुलसी बहुविध दारिद्र्य दुःख, रोग एवं पातक विनष्ट करती है ॥१४३-१४४॥

उक्त पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य प्रसङ्ग में वर्णित है—कण्टक वेष्टनी द्वारा रक्षित एवं जलसेचनादि द्वारा वर्द्धित तुलसी जिस गृह में विद्यमान हैं, यमदूतवृन्द दूर से उस गृह को परित्याग करते हैं ॥१४५॥

जो मानव, तुलसी जल से पितृतर्पण करते हैं, उनके पितृवृन्द, उस जल से दशसहस्र वत्सर पर्य्यन्त तृप्ति लाभ करते हैं । जो मनुष्य, आलबाल बन्धन द्वारा (थांवला बनाकर) तुलसी की रक्षा एवं परिचर्य्या करते हैं, वे सब निःसन्देह हरिपूजा ही करते हैं ॥१४६-१४७॥

विवेकी व्यक्तिगण, कदाच तुलसी को वृक्ष बुद्धि से अवज्ञा न करें । जिस प्रकार वैकुण्ठ में श्रीवासु देव विग्रह का दर्शन, शालग्राम शिलारूपी स्थावर देह पृथिवी में होता है, उस प्रकार लक्ष्मी का एक स्थावर देहरूप में तुलसी लोकमङ्गल के निमित्त भूतल में विराजित हैं । इस देह का स्पर्श, दर्शन एवं पालन करने से महापातक विनष्ट होता है ॥१४८-१५०॥

अगस्त्य संहिता में लिखित है—रामरूपी त्रिलोकनाथ विष्णु की प्रेयसी यद्रूप जनकनन्दिनी हैं, सर्व-

तुलसीवाटिका यत्र पुष्पान्तरशतावृता । शोभते राघवस्तत्र सीतया सहितं स्वयम् ॥१५२॥

तुलसीविपिनस्यापि समन्तात् पावनं स्थलम् । क्रोशमात्रं भवत्येव गाङ्गेयस्यैव पाथसः ॥१५३

तुलसीसन्निधौ प्राणान् ये त्यजन्ति मुनीश्वर । न तेषां नरकक्लेशः प्रयान्ति परमं पदम् ॥१५४॥

किञ्च—

अनन्यदर्शनाः प्रातर्ये पश्यन्ति तपोधन । अहोरात्रकृतं पापं तत्क्षणात् प्रहरन्ति ते ॥१५५॥

गारुड़े—

कृतं येन महाभाग तुलसीवनरोपणम् । मुक्तिस्तेन भवेद्दत्ता प्राणिनां विनतासुत ॥१५६॥

तुलसी वापिता येन पुण्यारामे वने गृहे । पक्षीन्द्र तेन सत्योक्तं लोकाः सप्त प्रतिष्ठिताः ॥१५७॥

तुलसीकानने यस्तु मुहूर्त्तमपि विश्रमेत् । जन्मकोटिकृतात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः ॥१५८॥

प्रदक्षिणां यः कुरुते पठन्नाम-सहस्रकम् । तुलसीकानने नित्यं यज्ञायुतफलं लभेत् ॥१५९॥

हरिभक्तिसुधोदये—

नित्यं सन्निहितो विष्णुः सस्पृहस्तुलसीवने । अपि मेऽक्षतपत्रैकं कश्चिद्धन्योऽर्पयेदिति ॥१६०॥

वृहन्नारदीये गङ्गाप्रसङ्गे—

संसार-पापविच्छेदि गङ्गानाम प्रकीर्त्तितम् । तथा तुलस्या भक्तिश्च हरिकीर्त्तिप्रवक्तरि ॥१६१

तथैवेति—यथा जनकात्मजा सीता प्रिया, तथा तुलसी चेत्यर्थः ॥१५१॥

प्रहरन्ति प्रकर्षेण हरन्ति विनाशयन्ति, स्वस्यान्येषामपि वा ॥१५५॥

सत्योक्तं सत्यवचनमेवैतदित्यर्थः ॥१५७॥ यथा तुलस्या नाम च, हरिकीर्त्तिप्रवक्तरि भक्तिश्च ॥१६१॥

लोकैक पावनी तुलसी भी तद्रूप प्रेयसी हैं। जहाँ पर मध्य मध्य में विविध कुसुमपरिशोभित तुलसीवाटिका विद्यमान हैं। श्रीरामचन्द्र, श्रीसीतादेवी के सहित वहाँ पर स्वयं निवास करते हैं। जिस प्रकार गङ्गा के चतुर्दिकवर्ती एक क्रोश स्थान पवित्र है, उस प्रकार तुलसीवन के चतुर्दिवस्थ एक क्रोश स्थान पवित्र है। हे मुनिश्रेष्ठ ! जो लोक तुलसी के सन्निधान में प्राणत्याग करते हैं, उनको नरक यन्त्रणा भोग नहीं करना पड़ता है, वे सब विष्णुधाम गमन करते हैं ॥१५१-१५४॥

और भी वर्णित है—हे तपोधन ! जो लोक, प्रातःकाल में गात्रोत्थान पूर्वक अन्य वस्तु दर्शन न कर सर्व प्रथम तुलसी दर्शन करते हैं, उनका अहोरात्रकृत पातक सद्य विनष्ट होता है ॥१५५॥

गरुड़पुराण में लिखित है—हे महाभाग विनतानन्दन ! जिन्होंने तुलसी कानन का रोपण किया है, उन्होंने प्राणिवृन्द के मुक्ति का पथ प्रशस्त किया है। जिन्होंने पवित्र उपवन, वन एवं भवन में तुलसी रोपण किया है, हे पक्षीन्द्र ! सत्यकर कहता हूँ, उन्होंने सप्त लोक संस्थापन किया है। जिन्होंने एक मुहूर्त्त काल भी तुलसी कानन में विश्राम किया है, वे कोटि जन्म कृत पातक से मुक्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जो मानव, नित्य सहस्रनाम पाठ करते-करते तुलसीवन की प्रदक्षिणा करते हैं, वे दशसहस्र यज्ञ का फलभागी होते हैं ॥१५६-१५९॥

हरिभक्ति सुधोदय में उक्त है—"कोई धन्य मनुष्य मुझको एक पत्र अखण्ड तुलसी अर्पण करे" इस आशा से श्रीविष्णु सर्वदा तुलसीवन के निकट निवास करते हैं ॥१६०॥

वृहन्नारदीय पुराण के गङ्गा प्रसङ्ग में वर्णित है—जिस प्रकार गङ्गा का नाम-कीर्त्तन करने से संसार पाप विदूरित होता है, तुलसी एवं श्रीहरिगुण कीर्त्तनकारी के प्रति भक्ति करने से भी उस प्रकार फल होता है ॥१६१॥

तुलसीकाननं यत्र यत्र पद्मवनानि च। पुराणपठनं यत्र तत्र सन्निहितो हरिः ॥१६२॥

तत्रैव श्रीयमभगीरथ-संवादे—

तुलसीरोपणं ये तु कुर्व्वते मनुजेश्वर। तेषां पुण्यफलं वक्ष्ये वदतस्त्वं निशामय ॥१६३॥

सप्तकोटिकुलैर्युक्तो मातृतः पितृतस्तथा। वसेत् कल्पशतं साग्रं नारायणसमीपगः ॥१६४॥

तृणानि तलसीमूलात् यावन्त्यपहिनोति वै। तावतीर्ब्रह्महत्या हि छिनत्त्येव न संशयः ॥१६५॥

तुलस्यां सिञ्चयेद्यस्तु चुलुकोदकमात्रकम्। क्षीरोदशायिना सार्द्धं वसेदाचन्द्रतारकम् ॥१६६॥

कण्टकावरणं वापि वृतिं काष्ठैः करोति यः।
तुलस्याः शृणु राजेन्द्र तस्य पुण्यफलं महत् ॥१६७॥

यावद्दिनानि सन्तिष्ठेत् कण्टकावरणं प्रभो। कुलत्रययुतस्तावत् तिष्ठेद्ब्रह्मपदे युगम् ॥१६८॥

प्राकारकल्पको यस्तु तुलस्या मनुजेश्वर। कुलत्रयेण सहितो विष्णोः सारूप्यतां व्रजेत् ॥१६९॥

अतएव तत्रैव यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते—

दुर्ल्लभा तुलसीसेवा दुर्ल्लभा सङ्गतिः सताम्।
दुर्ल्लभा हरिभक्तिश्च संसारार्णव-पातिनाम् ॥१७०॥

अपहिनोति दूरीकरोति ॥१६५॥

वृतिम् आवरणम् ॥१६७॥

जहाँ पर तुलसी कानन एवं पद्मवन विद्यमान है। जहाँ पुराण पाठ होता है, श्रीहरि उस स्थान के सन्निकट में निवास करते हैं ॥१६२॥

वृहन्नारदीय पुराण के श्रीयम-भागीरथ-संवाद में लिखित है—हे राजन्! जो मनुष्य तुलसी रोपण करते हैं, उनके पुण्य का फल वर्णन करता हूँ, श्रवण करो। वे सब, पितृकुल के सप्तकोटि एवं मातृकुल के सप्तकोटि पुरुष के सहित श्रीनारायण के समीप में किञ्चिदधिक शत कल्पकाल पर्य्यन्त वास करते हैं। ॥१६३-१६४॥

तुलसीवृक्ष के मूलदेश से जितने तृण उठाकर फेंके जाय, उतनी ही ब्रह्महत्या का पाप विदूरित होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥१६५॥

तुलसी मूल में एक गण्डूष परिमाण जल सेचन करने से, जब तक चन्द्र-तारा विद्यमान हैं, तब तक क्षीरोदशायी भगवान् के सहित निवास कर सकता है ॥१६६॥

हे राजश्रेष्ठ! जो व्यक्ति, कण्टक द्वारा अथवा काष्ठ द्वारा तुलसी के चतुर्दिक में आवरण प्रदान करते हैं, उनका महत् पुण्य का वणन करता हूँ, श्रवण करो ॥१६७॥

जब तक उक्त कण्टकावरण रहेगा, आवरणदाता निज कुलत्रय के सहित तब तक ब्रह्मलोक में निवास करते हैं। और जो मनुष्य तुलसी के चतुर्दिक में प्राचीर निर्म्माण करते हैं, हे राजन्! वे कुलत्रय के सहित विष्णु सारूप्य लाभ करते हैं ॥१६८-१६९॥

अतएव उक्त पुराण में यज्ञध्वज उपाख्यान के अन्त में वर्णित है—संसार सागर में निपतित जनगण के पक्ष में तुलसी सेवा दुर्लभ, साधुसङ्ग दुर्लभ एवं श्रीहरिभक्ति भी सुदुर्लभ है ॥१७०॥

पुराणान्तरेषु च—

यत् फलं क्रतुभिः स्विष्टैः समाप्तवरदक्षिणैः ।
तत् फलं कोटिगुणितं रोपयित्वा हरेः प्रियाम् ॥१७१॥
तुलसीं ये प्रयच्छन्ति सुराणामर्च्चनाय वै ।
रोपयन्ति शुचौ देशे तेषां लोकोऽक्षयः स्मृतः ॥१७२॥

रोपितां तुलसीं दृष्ट्वा नरेण भुवि भूमिप । विवर्णवदनो भूत्वा तल्लिपिं मार्ज्जयेद्यमः ॥१७३॥
तुलसीति च यो ब्रूयात् त्रिकालं वदने यदि । नित्यं स गोसहस्रस्य फलमाप्नोति भूसुर ॥१७४
तेन दत्तं हूतं जप्तं कृतं श्राद्धं गयाशिरे । तपस्तप्तं खगश्रेष्ठ तुलसी येन रोपिता ॥१७५॥
श्रुताभिलषिता दृष्टा रोपिता सिञ्चिता नता । तुलसी दहते पापं युगान्ताग्निरिवाखिलम् ॥१७६
केशवायतने यस्तु कारयेत्तुलसीवनम् । लभते चाक्षयं स्थानं पितृभिः सह वैष्णवः ॥१७७॥

अन्यत्रापि—

तुलसीकानने श्राद्धं पितॄणां कुरुते तु यः । गयाश्राद्धं कृतं तेन भाषितं विष्णुना पुरा ॥१७८॥
तुलसीगहनं दृष्ट्वा विमुक्तो याति पातकात् । सर्व्वथा मुनिशार्द्दूल ब्रह्महा पुण्यभाग्भवेत् ॥१७९

किञ्च, स्कान्दे वशिष्ठ-मान्धातृ-संवादे—

शुक्लपक्षे यदा राजन् तृतीया बुधसंयुता । श्रवणेन महाभाग तुलसी चातिपुण्यदा ॥१८०॥इति

रोपयित्वा प्राप्नोतीति शेषः ॥१७१॥

अन्यान्य पुराण में भी वर्णित है—सम्यक् प्रकार से बहुविध दक्षिणा के सहित क्रियमाण विविध यज्ञानुष्ठान करने पर जो फल लाभ होता है, श्रीहरिप्रिया तुलसी रोपण करने से उसके कोटिगुण अधिक फल लाभ होता है। जो मनुष्य, देवपूजा के निमित्त तुलसी प्रदान करते हैं, एवं पवित्र स्थान में तुलसी रोपण करते हैं, वे सब अक्षय लोक प्राप्त करते हैं। हे राजन् ! मनुष्य यदि पृथिवी में तुलसी रोपण करें तो यमराज यह देखकर विवर्णवदन होकर तदीय पाण्डुलिपि मार्जन कर देते हैं ॥१७१-१७३॥

हे भूसुर ! 'तुलसी' यह नाम त्रिसन्ध्या उच्चारण करने से नित्य सहस्रगोदान का फल लाभ होता है।

हे पक्षिश्रेष्ठ ! जिन्होंने तुलसी रोपण किया है, उन्होंने दान, होम, जप, गयाशिर में श्राद्ध, तपस्या प्रभृति किया है ॥१७४-१७५॥

जिस प्रकार प्रलयानल सब कुछ भस्मीभूत करता है, उस प्रकार तुलसीमाहात्म्य श्रवण, तुलसीकामना एवं तुलसी दर्शन, रोपण, सिञ्चन, नमस्कार करने से तुलसी समस्त पाप दग्ध कर देती है ॥१७६॥

जो वैष्णव, केशवालय में तुलसीवन निर्माण करते हैं, वे पितृगण के सहित अक्षय स्थान लाभ करते हैं ॥१७७॥

अन्यत्र भी वर्णित है—प्राचीन काल में श्रीविष्णु कहे हैं—जो व्यक्ति, तुलसी कानन में पितृश्राद्ध करते हैं, उनके द्वारा गयाश्राद्ध निष्पन्न होता है। हे मुनिश्रेष्ठ ! तुलसीवन निरीक्षण करने से लोक समस्त पातक से मुक्त होते हैं एवं ब्रह्मघाती व्यक्ति भी पवित्र होता है ॥१७८-१७९॥

स्कन्दपुराण में वशिष्ठ-मान्धातृ-संवाद में उक्त है—हे राजन् ! शुक्लपक्ष की तृतीया तिथि यदि बुधवार संयुक्ता होती है, तब उस दिन तुलसीमाहात्म्य श्रवण करने से तुलसी अतिशय पुण्य प्रदान करती है ॥१८०

प्रसङ्गात् श्रीतुलस्या हि मृदः काष्ठस्य चाधुना ।
माहात्म्यं लिख्यते कृष्णे अर्पितस्य दलस्य च ॥१८१॥

अथ श्रीतुलसीमृत्तिका-काष्ठादि-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे —

भूगतैस्तुलसीमूलैर्मृत्तिका स्पर्शिता तु या । तीर्थकोटिसमा ज्ञेया धार्य्या यत्नेन सा गृहे ॥१८२॥

यस्मिन् गृहे द्विजश्रेष्ठ तुलसीमूलमृत्तिका । सर्व्वदा तिष्ठते देहे देवता न स मानुषः ॥१८३॥

तुलसीमृत्तिकालिप्तो यदि प्राणान् परित्यजेत् । यमेन नेक्षितुं शक्तो युक्तः पापशतैरपि ॥१८४

शिरसि क्रियते यैस्तु तुलसीमूलमृत्तिका । विघ्नानि तस्य नश्यन्ति सानुकूला ग्रहास्तथा ॥१८५

तुलसीमृत्तिका यत्र काष्ठं पत्रञ्च वेश्मनि । तिष्ठते मुनि शार्द्दूल निश्चलं वैष्णवं पदम् ॥१८६॥

तत्रैवान्यत्र —

मङ्गलार्थञ्च दोषघ्नं पवित्रार्थं द्विजोत्तम । तुलसीमूलसंलग्नां मृत्तिकामावहेद्बुधः ॥१८७॥

तन्मूलमृत्तिकां यो वै धारयिष्यति मस्तके । तस्य तुष्टो वरान् कामान् प्रददाति जनार्द्दनः ॥१८८

बृहन्नारदीये गङ्गाप्रसङ्गे —

तुलसीमूलसम्भूता हरिभक्तपदोद्भवा । गङ्गोद्भवा च मृल्लेखा नयत्यच्युतरूपताम् ॥१८९॥

देहे च यस्य तिष्ठति ॥१८३॥
तद्वैष्णवं पदं विष्णुस्थानमेव ॥१८६॥
दोषघ्नं दोषनाशार्थमित्यर्थः ; यद्वा, क्रियाविशेषणं, दोषघ्नीमिति वा पाठः ॥१८७॥
मृदो लेखा मृल्लेखा, तया लेखा पुण्ड्रादिरचना वा ॥१८९॥

प्रसङ्ग क्रम से सम्प्रति तुलसी मृत्तिका, श्रीकृष्ण को तुलसीकाष्ठचन्दन एवं तुलसीदलार्पण का माहात्म्य वर्णन करता हूँ ॥१८१॥

अथ श्रीतुलसीमृत्तिका-काष्ठादि-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—तुलसीमूल, मृत्तिका के मध्य में प्रविष्ट होकर जिस मृत्तिका में संलग्न हुई है, उसको कोटि तीर्थ तुल्य जानना चाहिये । उक्त मृत्तिका घर में रखना चाहिये । हे द्विजश्रेष्ठ ! जिनके गृह में अथवा देह में सर्वदा तुलसीमूल मृत्तिका विद्यमान है, वे मनुष्य नहीं हैं, देवता हैं । शत-शत पापलिप्त व्यक्ति, तुलसी मृत्तिका लिप्ताङ्ग होकर प्राण त्याग करने से यमराज, उनके प्रति दृष्टि निक्षेप करने में सक्षम नहीं होते हैं । जो व्यक्ति, तुलसीमूलोत्थित मृत्तिका धारण मस्तक में करते हैं, उनके विघ्नसमूह विनष्ट होते हैं एवं ग्रहगण उनके प्रति प्रसन्न होते हैं । हे मुनिश्रेष्ठ ! जिस गृह में तुलसी-मृत्तिका, तुलसी काष्ठ, एवं तुलसी पत्र विद्यमान है, उस गृह में श्रीविष्णु का निश्चय स्थान है ॥१८२-१८६॥

उक्त पुराण के अन्यत्र वर्णित है– हे द्विजश्रेष्ठ ! विचक्षण व्यक्ति, मङ्गल एवं पवित्रता निबन्धन, दोष-नाशिनी तुलसीमूल मृत्तिका अङ्ग में धारण करते हैं । जो व्यक्ति तुलसीमूल मृत्तिका मस्तक में धारण करते हैं, जनार्दन सन्तुष्ट होकर उनकी सकल कामना परिपूर्ण करते हैं ॥१८७-१८८॥

बृहन्नारदीय पुराण के गङ्गा प्रसङ्ग में वर्णित है—जो मनुष्य, तुलसीमूल मृत्तिका, वैष्णवचरण संलग्न मृत्तिका, एवं गङ्गा मृत्तिका द्वारा तिलकादि धारण करते हैं, वे साक्षात् विष्णु स्वरूप कहकर गण्य होते हैं ॥१८९॥

गारुड़े—

यद्‌गृहे तुलसीकाष्ठं पत्रं शुष्कमथार्द्रकम्। भवते नैव पापं तद्‌गृहे संक्रमते कलौ ।।१६०।।

श्रीप्रह्लादसंहितायां तथा विष्णुधर्म्मोत्तरेऽपि—

पत्रं पुष्पं फलं काष्ठं त्वक्शाखा-पल्लवाङ्कुरम् ।
तुलसीसम्भवं मूलं पावनं मृत्तिकाद्यपि ।।१६१।।

होमं कुर्व्वन्ति ये विप्रास्तुलसीकाष्ठवह्निना। लवे लवे भवेत् पुण्यमग्निष्टोमशतोद्भवम् ।।१६२

नैवेद्यं पचते यस्तु तुलसीकाष्ठवह्निना। मेरुतुल्यं भवेदन्नं तद्दत्तं केशवाय हि ।।१६३।।

शरीरं दह्यते येषां तुलसीकाष्ठवह्निना। न तेषां पुनरावृत्तिर्विष्णुलोकात् कथञ्चन ।।१६४।।

ग्रस्तो यदि महापापैरगम्यागमनादिकैः। मृतः शुध्यति दाहेन तुलसीकाष्ठवह्निना ।।१६५।।

तीर्थं यदि न संप्राप्तं स्मृतिर्वा कीर्त्तनं हरेः। तुलसीकाष्ठदग्धस्य मृतस्य न पुनर्भवः ।।१६६।।

यद्येकं तुलसीकाष्ठं मध्ये काष्ठचयस्य हि। दाहकाले भवेन्मुक्तिः पापकोटियुतस्य च ।।१६७।।

जन्मकोटिसहस्रैस्तु तोषितो यैर्जनार्द्दनः। दह्यन्ते ते जना लोके तुलसीकाष्ठवह्निना ।।१६८।।

अगस्त्यसंहितायाम्—

यः कुर्य्यात्तुलसीकाष्ठैरक्षमालां सुरूपिणीम्। कण्ठमालाञ्च यत्नेन कृतं तस्याक्षयं भवेत् ।।१६६

गरुड़ पुराण में वर्णित है—जिस गृह में शुष्क किंवा रसयुक्त तुलसीकाष्ठ अथवा पत्र विद्यमान है, कलिकाल में उस गृह में पाप का प्रवेश नहीं होता है ।।१६०।।

श्रीप्रह्लाद संहिता में एवं विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—तुलसी का पत्र, पुष्प, फल, काष्ठ, त्वक्, शाखा, पल्लव, अङ्कुर, मूल एवं मृत्तिका समूह सब ही पवित्र हैं ।।१६१।।

जो सब विप्र, तुलसी काष्ठ के अग्नि से होम-कार्य्य सम्पन्न करते हैं, शत अग्निष्टोम करने से जो फल उत्पन्न होता है, वे सब प्रतिकण में उक्त फल प्राप्त करते हैं ।।१६२।।

जो व्यक्ति, तुलसी काष्ठानल के द्वारा नैवेद्यान्न पाक कर श्रीकेशव को अर्पण करते हैं, उनका वह अन्न मेरु तुल्य होता है ।।१६३।।

तुलसीकाष्ठानल के द्वारा जिनका देह भस्मीभूत होता है, विष्णुलोक से कदाच उनको पुनरागमन नहीं करना पड़ता है ।।१६४।।

अगम्यागमनादि महापातक के द्वारा पातकी होकर मृत्यु होने से यदि तुलसीकाष्ठानल द्वारा उस शरीर को दग्ध किया जाय तो उक्त पाप समूह से वह मुक्त होता है ।।१६५।।

तीर्थ गमन न करने पर, श्रीहरिनाम कीर्त्तन स्मरण श्रीहरिगुण कीर्त्तन न करके मृत्यु होने से यदि उसको तुलसीकाष्ठानल से दग्ध किया जाय तो उसको पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है। कोटि पापों से पापी होने पर भी दाह के समय अन्यान्य काष्ठ के सहित तुलसी काष्ठ किञ्चिन्मात्र होने से मृत व्यक्ति सर्व पाप मुक्त होता है ।।१६६-१६७।।

जिन्होंने एकादिक्रम से सहस्रकोटि जन्म जनार्दन को सन्तुष्ट करने के निमित्त कार्य्य किया है, भूतल में उनके देह ही भाग्यवशतः तुलसी काष्ठ वह्नि से दग्ध होते हैं ।।१६८।।

अगस्त्य संहिता में लिखा है—जो व्यक्ति, तुलसी काष्ठ के द्वारा सुन्दर जप माला एवं कण्ठ माला निर्माण पूर्वक व्यवहार करते हैं, उनके द्वारा कृत समस्त पूजादि कार्य्य अक्षय होते हैं ।।१६६।।

अथ तुलसीपत्रधारण-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

यस्य नाभिस्थितं पत्रं मुखे शिरसि कर्णयोः। तुलसीसम्भवं नित्यं तीर्थैस्तस्य मखैश्च किम् ॥२००

तत्रैवान्यत्र—

शत्रुघ्नञ्च सुपुण्यञ्च श्रीकरं रोगनाशनम्। कृत्वा धर्म्ममवाप्नोति शिरसा तुलसीदलम् ॥२०१

यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी।
पुनातिसकलाँल्लोकान् शिरसा तुलसीं वहन् ॥२०२॥

बृहन्नारदीये श्रीयमभगीरथ-संवादे—

कर्णेन धारयेद्यस्तु तुलसीं सततं नरः। तत्काष्ठं वापि राजेन्द्र तस्य नास्त्युपपातकम् ॥२०३

हरिभक्तिसुधोदये वैष्णवविप्रं प्रति यमदूतानामुक्तौ—

कस्मादिति न जानीमस्तुलस्या हि प्रियो हरिः। गच्छन्तुं तुलसीहस्तं रक्षन्नेवानुगच्छति ॥२०४

पुराणान्तरे च—

यः कृत्वा तुलसीपत्रं शिरसा विष्णुतत्परः।
करोति धर्म्मकार्य्याणि फलमाप्नोति चाक्षयम् ॥२०५॥

मुखादौ स्थितं तुलसीपत्रमिति भगवदर्पितमिति ज्ञेयम्। एवमग्रेऽपि, पूर्व्वं तदर्पितमहाप्रसादस्य माहात्म्योक्तेः; अत्रार्पणादि-शब्दाभावाच्चेति दिक् ॥२००॥

ननु वैष्णवश्चेत्तर्हि कथं भगवदनर्पितां वहेत्? तत्राह— मिथ्याचार इति। दम्भमात्रेण वैष्णव इत्यर्थः, सोऽपि ॥२०२॥

विष्णुतत्पर इति—विष्णुतत्परत्वेन तुलसीमाहात्म्यं ज्ञात्वा श्रीविष्णुप्रीत्यर्थमित्यर्थः; यद्वा, अकार-प्रश्लेषेणावैष्णवोऽपीत्यर्थः ॥२०५॥

अथ तुलसीपत्रधारण-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—जिस मानव के नाभिस्थल में, मुख में मस्तक एवं कर्णयुगल में नित्य तुलसी-पत्र (भगवन्निवेदित तुलसी-पत्र) विद्यमान है, उनको पुनर्वार तीर्थ गमन का प्रयोजन क्या है? ॥२००॥

उक्त पुराण के अन्यत्र वर्णित है— तुलसी दल, शत्रुक्षयकारी, पुण्य वर्धक, सौभाग्योत्पादक एवं रोग-नाशक है। ईदृश तुलसी-पत्र, मस्तक में धारण करने से, धर्म लाभ होता है ॥२०१॥

जो कोई वैष्णव, भूतल में मिथ्याचारी एवं आश्रमरहित होकर भी मस्तक में तुलसी-पत्र धारण करने से त्रिलोक को पवित्र कर सकते हैं। वैष्णववृन्द, श्रीभगवदर्पित वस्तु ही धारण करते हैं, किन्तु वैष्णव होकर कैसे भगवदर्पित तुलसी धारण करेंगे? उत्तर में कहते हैं—मिथ्याचारी वैष्णव ही वैसा करते हैं, कारण, वे सब दाम्भिक, लोकप्रतारक वैष्णव हैं ॥२०२॥

बृहन्नारदीय पुराण के श्रीयम-भगीरथ-संवाद में वर्णित है—हे राजेन्द्र ! जो मनुष्य, तुलसी पत्र अथवा काष्ठ धारण कर्णयुगल में नियत करते हैं, उनको उप-पातक स्पर्श नहीं करता है ॥२०३॥

हरिभक्ति सुधोदय में वैष्णव विप्र के प्रति यमदूतगण की उक्ति इस प्रकार है— तुलसी किस कारण से श्रीहरि की प्रिया हैं, यह नहीं जानते। तुलसी हस्त में लेकर गमन करने से श्रीहरि उसकी रक्षा हेतु तत् पश्चात्-पश्चात् गमन करते हैं ॥२०४॥

अन्य पुराण में लिखित है—विष्णुपरायण व्यक्ति, निज मस्तक में तुलसी पत्र धारण पूर्वक धर्म कार्य्य करने से उससे अक्षय फल लाभ होता है ॥२०५॥

अथ तुलसीदलभक्षण-माहात्म्यम्

गरुड़पुराणे—

मुखे तु तुलसीपत्रं दृष्ट्वा शिरसि कर्णयोः । कुरुते भास्करिस्तस्य दुष्कृतस्य तु मार्ज्जनम् ॥२०६

त्रिकालं विनतापुत्र प्राशयेत्तुलसीं यदि । विशिष्यते कायशुद्धिश्चान्द्रायणशतं विना ॥२०७॥

स्कान्दे श्रीवशिष्ठमान्धातृ-संवादे—

चान्द्रायणात्तप्तकृच्छ्रात् ब्रह्मकुर्च्चात् कुशोदकात् ।
विशिष्यते कायशुद्धिस्तुलसीपत्रभक्षणात् ॥२०८॥

तथा च तुलसींपत्रभक्षणाद्भावविर्ज्जितः । पापोऽपि सद्गतिं प्राप्त इत्येतदपि विश्रुतम् ॥२०९॥

तथा च स्कान्दे श्रीब्रह्मणा नारदं प्रति कथिते अमृतसारोद्धारे लुब्धकोपाख्यानान्ते यमदूतान् प्रति श्रीविष्णुदूतानां वचनम्-

क्षीराब्धौ मथ्यमाने हि तुलसी कामरूपिणी । उत्पादिता महाभागा लोकोद्धारणहेतवे ॥२१०

यस्याः स्मरणमात्रेण दर्शनात् कीर्त्तनादपि । विलयं यान्ति पापानि किं पुनर्विष्णुपूजनात् ॥२११

जातरूपमयं पुष्पं पद्मरागमयं शुभम् । हित्वा तु रत्नजातानि गृह्णाति तुलसीदलम् ॥२१२॥

भक्षितं लुब्धकेनापि पत्रं तुलसीसम्भवम् । पश्चाद्दिष्टान्तमापन्नो भस्मीभूतं कलेवरम् ॥२१३॥

सितासितं यथा नीरं सर्व्वपापक्षयावहम् । तथा च तुलसीपत्रं प्राशितं सर्व्वकामदम् ॥२१४॥

यथा जातबलो वह्निर्दहते काननादिकम् । प्राशितं तुलसीपत्रं तथा दहति पातकम् ॥२१५॥

विशिष्यते विशिष्टो भवति ॥२०७॥ दिष्टान्तं मृत्युम् ॥२१३॥

अथ तुलसीदलभक्षण-माहात्म्यम्

गरुड़पुराण में उक्त है—मुख, मस्तक एवं कर्णद्वय में नियत तुलसी पत्र को देखकर यमराज उसके पाप को विदूरित कर देते हैं। हे गरुड़ ! यदि त्रिसन्ध्या में तुलसी पत्र भक्षण होता है तो शत चान्द्रायण का अनुष्ठान न करने पर भी तदपेक्षा अधिक देह शुद्धि होती है ॥२०६-२०७॥

स्कन्दपुराण के वशिष्ट-मान्धातृ संवाद में लिखित है—तुलसी पत्र भक्षण करने से चान्द्रायण, तप्तकृच्छ्र, ब्रह्मकूर्च एवं कुशोदक व्रत से भी अधिक देह शुद्ध होता है ॥२०८॥

और भी प्रसिद्ध हैं—तुलसी पत्र भक्षण करने से भाववर्जित पापी भी देह त्यागान्त में सद्गति लाभ करता है ॥२०९॥

स्कन्दपुराण में श्रीनारदमुनि के प्रति श्रीब्रह्माकर्त्तृक कथित अमृतसारोद्धार प्रस्ताव में लुब्धकोपाख्यान के अन्त में यमदूतगण के प्रति विष्णुदूतगण का वाक्य यह है—क्षीरसमुद्र मथित होने पर कामरूपिणी महाभागा तुलसी लोक-उद्धारार्थ उत्थित हुईं ॥२१०॥

तुलसी का दर्शन, स्मरण, माहात्म्य कीर्तन करने से ही पाप विनष्ट होता है, अतः तुलसी के द्वारा श्रीविष्णु पूजा का माहात्म्य का वर्णन क्या करे ? सुवर्णमय अथवा पद्मराग मणिमय यहाँ तक कि रत्न-खचित शुभ विविध पुष्प को परित्याग करके श्रीविष्णु तुलसी पत्र ग्रहण करते हैं ॥२११-२१२॥
व्याध भी यदि तुलसी-पत्र भक्षण कर देहत्याग करता है, तो उसका देहस्थ पाप भस्मीभूत होता है ॥२१३॥

जिस प्रकार शुक्ल एवं कृष्ण वर्ण अर्थात् गङ्गा एवं यमुना का जल पातक विनष्ट करता है, उस प्रकार शुक्ल एवं कृष्ण तुलसी पत्र भक्षण से सर्वाभिलाष सिद्ध होते हैं ॥२१४॥

प्रबल वह्नि जिस प्रकार काननादि को दग्ध करता है, तद्रूप तुलसी पत्र भक्षित होने से पातक दग्ध होता है ॥२१५॥

यथा भक्तिरतो नित्यं नरो दहति पातकम् । तुलसीभक्षणात्तद्वद्दहते पापसञ्चयम् ॥२१६॥
चान्द्रायणसहस्रस्य पराकाणां शतस्य च । न तुल्यं जायते पुण्यं तुलसीपत्रभक्षणात् ॥२१७॥
कृत्वा पापसहस्राणि पूर्व्वे वयसि मानवः । तुलसीभक्षणान्मुच्येत् श्रुतमेतत् पुरा हरेः ॥२१८॥
तावत्तिष्ठन्ति पापानि देहिनां यमकिङ्कराः । यावन्न तुलसीपत्रं मुखे शिरसि तिष्ठति ॥२१९॥

अमृतादुत्थिता धात्री तुलसी विष्णुवल्लभा ।
स्मृता संकीर्त्तिता ध्याता प्राशिता सर्व्वकामदा ॥२२०॥

तत्रैव श्रीयमं प्रति श्रीभगवद्वाक्यम् —

धात्रीफलञ्च तुलसी मृत्युकाले भवेद्यदि । मुखे यस्य शिरे देहे दुर्गतिर्नास्ति तस्य वै ॥२२१॥
युक्तो यदि महापापैः सुकृतं नार्ज्जितं क्वचित् । तथापि गीयते मोक्षस्तुलसी भक्षिता यदि ॥२२२
लुब्धकेनात्मदेहेन भक्षितं तुलसीदलम् । संप्राप्तो मत्पदं नूनं कृत्वा प्राणस्य संक्षयम् ॥२२३॥

पुराणान्तरे च —

उपोष्य द्वादशीं शुद्धां पारणे तुलसीदलम् । प्राशयेद्यपि विप्रेन्द्र अश्वमेधाष्टकं लभेत् ॥२२४॥ इति ।
तथैव तुलसीस्पर्शात् कृष्णचक्रेण रक्षितः । ब्रह्मबन्धुरिति ख्यातो हरिभक्तिसुधोदये ॥२२५॥

एतच्च माहात्म्यविशेष एव; हरेः भगवतः सकाशात् ॥२१८॥ शिरे शिरसि ॥२२१॥

जिस प्रकार मानव, नित्य श्रीहरिभक्ति में रत होकर पातकराशि को दग्ध करते हैं, उस प्रकार तुलसी पत्र भक्षण करने से भी सञ्चित पाप दग्ध होता है ॥२१६॥

तुलसी पत्र भक्षण करने से जिस प्रकार पुण्य सञ्चय होता है, सहस्र चान्द्रायण व्रत एवं शत पराकव्रत आचरण करने से भी उस प्रकार पुण्य सञ्चय नहीं होता है ॥२१७॥

जो मनुष्य प्रथम वयस में सहस्र पातक करके भी पश्चात् तुलसी भक्षण करते हैं, वे समस्त पातकों से मुक्त होते हैं । इस विवरण का श्रवण श्रीहरि के निकट से पहले हुआ है ॥२१८॥

हे यमदूतगण ! देही के मुख में, मस्तक में यावत्काल तुलसी पत्र अवस्थित न हो, तावत् पर्य्यन्त उसके देह में पाप अवस्थित हाता है ॥२१९॥

धात्री, अमृत से उत्पन्ना है एवं तुलसी श्रीविष्णु की प्रियतमा हैं, इन दोनों का स्मरण, कीर्त्तन, ध्यान, भक्षण से समस्त कामना की पूर्त्ति होती है ॥२२०॥

स्कन्दपुराण में श्रीयम के प्रति श्रीभगवद् वाक्य यह है—यदि किसी व्यक्ति के मृत्यु समय में मुख, मस्तक एवं शरीर में आमलकीफल एवं तुलसीपत्र विद्यमान होने से कभी उसकी दुर्गति नहीं होती है ॥२२१

यदि कोई मानव पापलिप्त होता है एवं कभी भी कोई पुण्य अर्ज्जन न किया हो, तो वह भी तुलसीपत्र भक्षण करने से मुक्त होता है ॥२२२॥

व्याध ने निज मर्त्यदेह से तुलसी-पत्र भक्षणपूर्वक प्राण परित्याग कर सुनिश्चित रूप से मेरे लोक में गमन किया है ॥२२३॥

पुराणान्तर में भी कथित है—हे विप्रेन्द्र ! शुद्धाद्वादशी तिथि में उपवास कर पारण दिन में तुलसी-पत्र भक्षण करने से अष्ट अश्वमेध यज्ञानुष्ठान का फल लाभ होता है ॥२२४॥

इसी प्रकार तुलसी-पत्र स्पर्श से कृष्णचक्र कर्त्तृक रक्षित होने पर हरिभक्ति सुधोदय ग्रन्थ में उसकी ख्याति 'ब्रह्मबन्धु' नाम से हुई ॥२२५॥

अतएवोक्तम्—

किं चित्रमस्याः पतितं तुलस्या, दलं जलं वा पतितं पुनीते ।
लग्नाधिभालस्थलमालवाल,-मृत्स्नापि कृत्स्नाघविनाशनाय ।।२२६।। इति ।

श्रीमत्तुलस्याः पत्रस्य माहात्म्यं यद्यपीदृशम् । तथापि वैष्णवैरतन्न ग्राह्यं कृष्णार्पणं विना ।।२२७

कृष्णप्रियत्वात् सर्व्वत्र श्रीतुलस्याः प्रसङ्गतः ।
सङ्कीर्त्यमानं धात्र्याश्च माहात्म्यं लिख्यतेऽधुना ।।२२८।।

अथ धात्री-माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

धात्रीच्छायां समाश्रित्य योऽर्च्चयेच्चक्रपाणिनम् ।
पुष्पे पुष्पेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।।२२९।।

तत्रैवाग्रे—

धात्रीच्छायान्तु संस्पृश्य कुर्य्यात् पिण्डं तु यो मुने ।
मुक्तिं प्रयान्ति पितरः प्रसादान्माधवस्य च ।।२३०।।

मूर्ध्नि घ्राणे मुखे चैव देहे च मुनिसत्तम । धत्ते धात्रीफलं यस्तु स महात्मा सुदुर्ल्लभः ।।२३१।।
धात्रीफलविलिप्ताङ्गो धात्रीफलविभूषितः। धात्रीफलकृताहारो नरो नारायणो भवेत् ।।२३२।।

तर्हि किं वैष्णवैरप्यनिवेदितं तद्ग्राह्यम्? नेति, लिखति—श्रीमदिति । कृष्णार्पणं विना तत्पत्रं न ग्राह्यम् ।।२२७।।

देहे च अन्यस्मिन् कराद्यङ्गेऽपि ।।२३१।।

अतएव कथित है—तुलसी का आश्चर्य्य माहात्म्य की कथा क्या कहूँ । उसका पतित पत्र एवं स्खलित जल पवित्रकारक है, एवं तुलसी मूलस्थ मृत्तिका ललाट भाग में संलग्न होने से सब पाप विदूरित होते हैं।

यद्यपि श्रीमत् तुलसी पत्र का माहात्म्य इस प्रकार ही है, तथापि वैष्णववृन्द, श्रीकृष्ण को अर्पण न करके तुलसी पत्र ग्रहण न करें ।।२२६-२२७।।

श्रीकृष्णप्रियत्व निबन्धन श्रीतुलसी के प्रसङ्ग में सर्वत्र धात्री का माहात्म्य भी कीर्त्तित हुआ है। सुतरां सम्प्रति धात्री का माहात्म्य वर्णन कर रहा हूँ ।।२२८।।

अथ धात्री-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—जो मनुष्य आमलकी वृक्षच्छाया को अवलम्बन कर चक्रपाणि श्रीहरि की पूजा करते हैं, वे प्रति पुष्प में अश्वमेधयज्ञ का फल लाभ करते हैं ।।२२९।।

उक्त पुराण के उक्त स्थान के किञ्चिदग्र भाग में वर्णित है—हे मुने ! धात्रीच्छाया संस्पर्श कर जो व्यक्ति पिण्ड प्रदान करते हैं, श्रीमाधव के प्रसन्नतावशतः उनके पितृगण मुक्ति लाभ करते हैं ।।२३०।।

हे मुनिसत्तम ! मस्तक, नासिका, मुख एवं हस्त प्रभृति स्थल में जो व्यक्ति धात्रीफल धारण करते हैं, तादृश महात्मा सुदुर्लभ है ।।२३१।।

धात्रीफल से अङ्ग लेपनकर, धात्रीफल से विभूषित होकर, एवं धात्रीफल भक्षणकर मनुष्य नारायण हो सकते हैं ।।२३२।।

यः कश्चिद्वैष्णवो लोके धत्ते धात्रीफलं मुने ।
प्रियो भवति देवानां मनुष्याणान्तु का कथा ॥२३३॥
यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽपि दुष्टधीः ।
पुनाति सकलाँल्लोकान् धात्रीफलदलाङ्गितः ॥२३४॥
धात्रीफलानि यो नित्यं वहते करसम्पुटे । तस्य नारायणो देवो वरमेकं प्रयच्छति ॥२३५॥
धात्रीफलञ्च भोक्तव्यं कदाचित् करसम्पुटात् ।
यशः श्रियमवाप्नोति प्रसादाच्चक्रपाणिनः ॥२३६॥
धात्रीफलञ्च तुलसी मृत्तिका द्वारकोद्भवा । सफलं जीवितं तस्य त्रितयं यस्य वेश्मनि ॥२३७
धात्रीफलैस्तु संमिश्रं तुलसीदलवासितम् । पिवते वहते यस्तु तीर्थकोटिफलं लभेत् ॥२३८॥
यस्मिन् गृहे भवेत्तोयं तुलसीदलवासितम् ।
धात्रीफलैश्च विप्रेन्द्र गाङ्गेयैः किं प्रयोजनम् ॥२३९॥
तुलसीदलनैवेद्यं धात्र्या यस्य फलं गृहे । कवचं वैष्णवं तस्य सर्व्वपापविनाशनम् ॥२४०॥

ब्रह्मपुराणे च —
धात्रीफलानि तुलसी ह्यन्तकाले भवेद्यदि । मुखे चैव शिरस्यङ्गे पातकं नास्ति तस्य वै ॥२४१॥

करसम्पुटादिति—पूर्व्वं मङ्गलार्थं यत्र करसम्पुटे धृतं, तस्मादपि ॥२३५॥
वहत इति पाठे निरन्तरश्लोक-वक्ष्यमाणतोयमेव सम्बन्धनीयम् ॥२३८॥

हे मुने ! जो कोई वैष्णव, धात्रीफल धारण करते हैं, वे मनुष्यगण की वार्त्ता तो दूर है, देववृन्द को प्रिय होते हैं ॥२३३॥

इस जगत् में जो कोई वैष्णव आचारभ्रष्ट एवं दुष्टबुद्धि सम्पन्न होकर धात्रीपत्र एवं धात्रीफल धारण कर लोकसमूह को पवित्र कर सकते हैं ॥२३४॥

जो व्यक्ति, नित्य अञ्जलिपुर में धात्रीफल धारण करते हैं, श्रीनारायणदेव उनके प्रति सन्तुष्ट होकर एक वर प्रदान करते हैं ॥२३५॥

यदि कभी कोई व्यक्ति करसम्पुट से धात्रीफल भोजन करते हैं तब वे चक्रपाणि की कृपा से यशः एवं सम्पद् सम्पन्न होते हैं ॥२३६॥

धात्रीफल, तुलसी एवं द्वारकोद्भवा मृत्तिका (गोपीचन्दन) यह तीन जिसके गृह में विद्यमान हैं, उसका जीवन सार्थक है ॥२३७॥

जो व्यक्ति, धात्रीफल समूह से मिश्रित एवं तुलसी पत्र से सुवासित जल, पान एवं वहन करते हैं, वे कोटि तीर्थ का फल लाभ करते हैं ॥२३८॥

हे विप्रेन्द्र ! जिनके गृह में तुलसी पत्र सुवासित एवं धात्रीफल समूह से मिश्रित जल है, उनको गङ्गा-जल से प्रयोजन क्या है ? ॥२३९॥

गृहस्थित तुलसीदलयुक्त नैवेद्य एवं धात्रीफल, वैष्णव कवच एवं सर्व पाप विनाशक है ॥२४०॥

ब्रह्मपुराण में वर्णित है—मृत्यु समय में वदन, मस्तक एवं देह में आमलकी फल और तुलसी-पत्र विद्यमान होने पर निश्चय ही उसके देह में पातक नहीं रह सकता है ॥२४१॥

कृत्वा तु भगवत्पूजां न तीर्थे स्नानमाचरेत् । न च देवालयोपेताऽस्पृश्यसंस्पर्शनादिना ॥२४२॥

अथ स्नाननिषेध-कालः

स्मृत्यर्थसारे—

न स्नायादुत्सवे तीर्थे माङ्गल्यं विनिवर्त्य च । अनुव्रज्य सुहृद्बन्धूनर्च्चयित्वेष्टदेवताम् ॥२४३

विष्णुस्मृतौ च—

विष्णवालयसमीपस्थान् विष्णुसेवार्थमागतान् ।
चाण्डालान् पतितान् वापि स्पृष्ट्वा न स्नानमाचरेत् ॥२४४॥

देवयात्राविवाहेषु यज्ञोपकरणेषु च । उत्सवेषु च सर्व्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥२४५॥

एवं प्रातः समभ्यच्चर्य श्रीकृष्णं तदनन्तरम् ।
शास्त्राभ्यासं द्विजः शक्त्या कुर्य्याद्विप्रो विशेषतः ॥२४६॥

यत् उक्तम्—

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते ।
एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः ॥२४७॥

एवं पूजाविधिं लिखित्वा तदनन्तरकृत्यं लिखन्नादौ तीर्थप्राप्त्यादिना विहितस्यापि स्नानस्य निषेधं लिखति- कृत्वेति । देवालयमुपेता येऽस्पृश्या नीचजातयः, तेषां स्पर्शनेन च न स्नानमाचरेत् । आदि-शब्देन यत्र कुत्रापि भगवत्पूजाद्युत्सवे सम्प्राप्तानां स्पर्शनादिकम् ॥२४२॥

तीर्थे न स्नायात् ॥२४३॥

विष्णवालयस्य समीपे तिष्ठन्ति निवसन्तीति तथा तान्, ततश्च काले विष्णोः सेवादर्शनादि, तदर्थं विष्णवालयान्तरागतानित्यर्थः ; यद्वा, विष्णवालयसमीपवर्त्तिनः ; कुतः ? विष्णुसेवार्थं यतः कुतोऽप्यागतान्, यद्वा, विष्णुसेवार्थमागतांश्च ॥२४४॥ द्विजः त्रैवर्णिकः ॥२४६॥

विप्रस्तु विशेषतः शास्त्राभ्यासं कुर्य्यादित्यत्र हेतुं लिखति—श्रुतीति । एकेन श्रुतिरूपेण स्मृतिरूपेण वा नेत्रेण विकलः विहीनः, द्वाभ्यां विकलः अन्धः ॥२४७॥

भगवत् पूजा करने के पश्चात् तीर्थ में भी स्नान करे। देवालय में उपस्थित होकर नीच जाति का संस्पर्श होने से भी स्नान न करे। आदि शब्द का प्रयोग श्लोक में होने के कारण, जिस किसी स्थान में भगवत् पूजादि उत्सव में समागत नीच जाति का संस्पर्श होने पर स्नान करना निषिद्ध है ॥२४२॥

अथ स्नाननिषेध-कालः

स्मृत्यथसार में लिखित है—उत्सव में तीर्थ में मङ्गल कार्य्य सम्पन्न करने के पश्चात्, सुहृत् एवं बन्धु-वर्ग का अनुगमन करके और अभीष्ट देवाच्चर्चन करके स्नान करना निषिद्ध है ॥२४३॥

विष्णुस्मृति में उक्त है– विष्णु-मन्दिर के समीपवर्त्ती एवं विष्णु-सेवा के निमित्त समागत चण्डाल अथवा पतित व्यक्ति का स्पर्श करके स्नान न करे। देवयात्रा में, विवाह में, यज्ञीय उपकरण में एवं उत्सव में समस्त नीच जाति स्पर्श करने पर भी अस्पृश्यस्पर्श दोष नहीं होता है ॥२४४-२४५॥

इस प्रकार प्रातःकाल में श्रीकृष्ण पूजन करने के पश्चात् द्विज अर्थात् त्रैवर्णिक विशेषतः विप्र शास्त्राभ्यास करें ॥२४६॥

कारण उक्त है—श्रुति एवं स्मृति विप्रगण के उभय नेत्र हैं, इनमें एक भी न होने से उसको काणा कहते हैं और दोनों न होने से अन्ध कहा जाता है ॥२४७॥

किञ्च, कौर्म्मे व्यासगीतायाम्—

योऽन्यत्र कुरुते यत्नमनधीत्य श्रुतिं द्विजाः ।
स सम्मूढ़ो न सम्भाष्यो वेदवाह्यो द्विजातिभिः ॥२४८॥
न वेदपाठमात्रेण सन्तुष्येदेव वै द्विजाः । यथोक्ताचारहीनस्तु पङ्के गौरिव सीदति ॥२४९॥
योऽधीत्य विधिवद्वेदं वेदार्थं न विचारयेत् ।
स चान्धः शूद्रकल्पस्तु पदार्थं न प्रपद्यते ॥२५०॥ इति ।
अतोऽधीत्यान्वहं विद्वानथाध्याप्य च वैष्णवः । समर्प्य तच्च कृष्णाय यतेत निजवृत्तये ॥२५१॥
वृत्तौ सत्याञ्च शृणुयात् साधून् सङ्गत्य सत्कथाम् ॥२५२॥

अथ वृत्ति-सम्पादनम्

सप्तमस्कन्धे (११।१८-२०)—

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥२५३॥
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतन्तु नित्यं याच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥२५४॥
सत्यानृतन्तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ॥२५५॥
आत्मनो नीचलोकानां सेवनं वृत्तिसिद्धये । नितरां निन्द्यते सद्भिर्वैष्णवस्य विशेषतः ॥२५६॥

विद्वान् शास्त्रज्ञश्चेत्, अध्याप्य शास्त्रं शिष्यान् पाठयित्वा, वैष्णवश्चेत्, तत् अध्ययनमध्यापनञ्च कृष्णाय समर्प्य ॥२५१॥ सतीमुत्तमां श्रीविष्णुवैष्णवाश्रयां कथाम् ॥२५२॥

आत्मनः सकाशात् ये नीचा लोकास्तेषां, वैष्णवस्य तु नीचलोकसेवनं विशेषतोऽधिकं निन्द्यते, नीचसेवनेन नीचानामवैष्णवदुष्टजनानामधीनत्वमहादोषापत्तेः ॥२५६॥

और भी कूर्मपुराण की व्यासगीता में वर्णित है—हे द्विजगण ! जो व्यक्ति, श्रुति अध्ययन न करके अन्य विषय में यत्न करते हैं, वे सब मूढ़ हैं, वेद बहिर्भूत हैं, द्विजादिगण, उन सबके सहित सम्भाषण न करें। हे द्विजवृन्द ! केवल वेदपाठ करके ही सन्तोष प्राप्त न करें। यथोक्त आचार विहीन होने से कर्दम में निपतित धेनु के समान क्लिष्ट होना पड़ता है। जिन्होंने विधिपूर्वक वेद पाठ किया है, किन्तु वेदार्थ विचार नहीं किया है, वे सब अन्ध हैं एवं शूद्र तुल्य हैं। सुतरां प्रकृत पदार्थ प्राप्त करने में सक्षम नहीं होते हैं ॥ ॥२४८-२५०॥

अतएव प्रतिदिन वेदाध्ययन करें। विद्वान् होने पर शिष्य को अध्ययन करावे। वैष्णव होने पर अध्ययन एवं अध्यापन श्रीकृष्ण को अर्पणपूर्वक निज जीविकार्थ प्रयत्न करें, जीविका वर्त्तमान होने पर साधुवृन्द के सहित मिलित होकर सत्कथा श्रवण करें ॥२५१-२५२॥

अथ वृत्ति-सम्पादनम्

सप्तम स्कन्ध में लिखित है—हे राजन् ! विप्र जाति के सम्बन्ध में जो वृत्ति चतुष्टय कथित हुआ है, तन्मध्य में ऋत एवं अमृत द्वारा किंवा मृत में प्रमृत द्वारा अथवा सत्यानृत द्वारा जीवन धारण कर सकते हैं, किन्तु स्ववृत्ति द्वारा कभी भी जीवन धारण न करें। ऋत शब्द का अर्थ उञ्छवृत्ति, उसको शिल भी कहते हैं, अमृत का अर्थ, अयाचित है। मृत शब्द का अर्थ, नित्य याच्ञा, प्रमृत का अर्थ, कृषि है। सत्यानृत का अर्थ, वाणिज्य है, एवं श्ववृत्ति का अर्थ, नीच सेवा है। जीविकार्थ, निजापेक्षा नीच व्यक्तिगण की सेवा निन्दनीय है। विशेषतः वैष्णव के पक्ष में अतिशय निन्दनीय है ॥२५३-२५६॥

तदुक्तं —

सेवा श्ववृत्तिर्यैरुक्ता न सम्यक् तैरुदाहृतम्।
स्वच्छन्दचरितः क्व श्वा विक्रीतासुः क्व सेवकः ॥२५७॥
पणीकृत्यात्मनः प्राणान् ये वर्त्तन्ते द्विजाधमाः।
तेषां दुरात्मनामन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणञ्चरेत् ॥२५८॥ इति।

शुक्लवृत्तेरसिद्धौ च भोज्यान्नान् शूद्रवर्गतः। तथैव ग्राह्याग्राह्याणि जानीयाच्छास्त्रतो बुधः ॥२५९

शुक्लवृत्तिश्च

श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे तृतीयकाण्डे—

प्रतिग्रहेण यल्लब्धं याज्यतः शिष्यतस्तथा।
गुणान्वितेभ्यो विप्रस्य शुक्लं तत् त्रिविधं स्मृतम् ॥२६०॥

युद्धोपकाराल्लब्धश्च दण्डाच्च व्यवहारतः। क्षत्रियस्य धनं शुक्लं त्रिविधं परिकीर्त्तितम् ॥२६१

कृषिवाणिज्यगोरक्षाः कृत्वा शुक्लं तथा विशः।
द्विज-शुश्रूषया लब्धं शुक्लं शूद्रस्य कीर्त्तितम् ॥२६२॥
क्रमागतं प्रीतिदानं प्राप्तञ्च सह भार्य्यया।
अविशेषेण सर्व्वेषां धनं शुक्लं प्रकीर्त्तितम् ॥२६३॥

अथ ग्राह्याग्राह्याणि

कौर्म्मे तत्रैव—

नाद्याच्छूद्रस्य विप्रोऽन्नं मोहाद्वा यदि कामतः।
स शूद्रयोनिं व्रजति यस्तु भुङ्क्ते ह्यनापदि ॥२६४॥

इस विषय में कहा है—नौकरी को श्ववृत्ति-कुक्कुरवृत्ति कहते हैं। किन्तु वह कथन यथार्थ नहीं है। कहाँ स्वच्छन्दाचारी कुत्ता? और कहाँ प्राण बिकेता सेवक? अर्थात् उभय में पारस्परिक तुलना असम्भव है। जो ब्राह्मणाधम, अपने प्राण को पण (विक्रेय वस्तु) करके जीविका करते हैं, उन पापात्माओं का अन्न भोजन करने पर, चान्द्रायण व्रत कर प्रायश्चित्त कर शुद्ध होना पड़ता है ॥२५७-२५८॥

शुक्ल (पवित्र वृत्ति) वृत्ति का अभाव होने पर जिन शूद्रों का अन्न ग्रहणीय है, उन शूद्रवर्ग से अन्न ग्रहण करे। पण्डितगण शास्त्रानुसार उस प्रकार ग्रहण को अग्रहण कहते हैं ॥२५९॥

शुक्लवृत्तिश्च

श्रीविष्णुधर्मोत्तर के तृतीयकाण्ड में 'शुक्लवृत्ति' अर्थात् पवित्र वृत्ति की वार्ता लिखित है—गुणान्वित व्यक्ति के निकट से, प्रतिग्रह द्वारा यजमान के निकट से अथवा शिष्य के समीप से जो लब्ध होता है, ब्राह्मण के पक्ष में उक्त तीन प्रकार शुक्लवृत्ति अर्थात् पवित्र वृत्ति वर्णित है। युद्धोपकार, दण्ड, एवं व्यवहार अर्थात् कार्य्याकार्य्य विचार द्वारा लब्ध। यह त्रिविध, क्षत्रिय के पक्ष में शुक्लवृत्ति कथित है। कृषि, वाणिज्य गोरक्षा द्वारा जो धन लाभ होता है, वह वैश्य के पक्ष में शुक्लवृत्ति है, एवं द्विज शुश्रूषा द्वारा लब्ध धन शूद्र के पक्ष में पवित्र वृत्ति है। परम्परागत, प्रीतियुक्त दान एवं भार्य्या के सहित प्राप्त, यह त्रिविध धन, सबके पक्ष में पवित्र निर्द्धारित हैं ॥२६०-२६३॥

अथ ग्राह्याग्राह्याणि

कूर्मपुराण में जीविका का विषय लिखित है— विप्र, शूद्रान्न भोजन न करें। मोहवशतः अथवा इच्छापूर्वक, आपद् भिन्न काल में शूद्रान्न भोजन करने पर शूद्र योनि मिलती है ॥२६४॥

दुष्कृतं हि मनुष्यस्य सर्व्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्याश्नाति किल्विषम् ॥२६५॥
आर्द्धिकः कुलमित्रश्च स्वगोपालश्च नापितः ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना दत्त्वा स्वल्पपणं बुधैः ॥२६६॥
पायसं स्नेहपक्वं यद्गोरसं चैव शक्तवः । पिण्याकञ्चैव तैलञ्च शूद्राद्ग्राह्यं तथैव च ॥२६७॥

अङ्गिराः—

गोरसञ्चैव शक्तूंश्च तैल-पिण्याकमेव च ।
अपूपान् भक्षयेच्छूद्रात् यत्किञ्चित् पयसा कृतम् ॥२६८॥

अत्रिस्मृतौ—

स्वसुतायाश्च यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम् ।
नरेन्द्रभवने भुक्त्वा विष्ठायां जायते कृमिः ॥२६९॥

अन्यत्र च—

दास-नापित-गोपाल-कुलमित्रार्द्धसीरिणः । भोज्यान्नाः शूद्रवर्गेऽमी तथात्मविनिवेदकः ॥२७०॥
मधूदकं फलं मूलमेधांस्यभयदक्षिणा । अभ्युद्यतानि त्वेतानि ग्राह्याण्यपि निकृष्टतः ॥२७१॥
खलक्षेत्रगतं धान्यं कूपवापीषु यज्जलम् । अग्राह्यादपि तद्ग्राह्यं यच्च गोष्ठगतं पयः ॥२७२॥
पानीयं पायसं भक्ष्यं घृतं लवणमेव च । हस्तदत्तं न गृह्णीयात् तुल्यं गोमांसभक्षणैः ॥२७३॥

मनुष्य के पापसमूह, अन्न के मध्य में अवस्थित हैं, सुतरां जो व्यक्ति, जिसका अन्न भोजन करता है, वह उसके पाप सेवन करता है ॥२६५॥

शूद्र के मध्य में 'आर्द्धिक—अर्थात् जिस व्यक्ति के सहित शस्य का अर्द्धांश भाग हो, उसको आर्द्धिक कहते हैं। एवं 'कुलमित्र' अर्थात् परम्परानुसार निज कुल का हितकारी, निज गोरक्षक, एवं नापित (नाई) इन सबों का अन्न भोज्य है। पण्डितगण, किञ्चित् मूल्य प्रदान कर शूद्र के निकट से पायस, घृत, तैलपक्व, गोदुग्ध, शक्तु, तिलकल्क अर्थात् खर एवं तैल ग्रहण कर सकते हैं ॥२६६-२६७॥

अङ्गिरा ऋषि ने कहा है—गोरस, शक्तु, तैल, पिन्याक, पिष्टक एवं दुग्ध द्वारा निर्मित वस्तु शूद्र के निकट से ग्रहण पूर्वक भोजन कर सकते हैं ॥२६८॥

अत्रिस्मृति में उक्त है—जो व्यक्ति, निज कन्या का द्रव्य भोजन करता है, वह पृथिवी का मल भोजन करता है, एवं राजभवन में भोजन करने से विष्ठा की कृमि होकर देह धारण करना पड़ता है ।२६९॥

अन्यत्र भी वर्णित है—भृत्य, नापित, गोरक्षक, कुलमित्र एवं अर्द्धसीरी (धनादि का विभागकारी) शूद्रवर्ग के मध्य में इन सबका अन्न भोजन कर सकता है ॥२७०॥

मधु, जल, फल, मूल, काष्ठ एवं अभयदान, यह सब बिना प्रार्थना से उपस्थित होने पर निकृष्ट जाति से भी ग्रहण कर सकता है। अग्राह्य जाति के निकट से खाभार भूमिस्थ धान्य, कूप एवं दीर्घिकास्थ जल, एवं गोष्ठस्थित दुग्ध ग्राह्य है ॥२७१-२७२॥

जल, पायस, भक्ष्य, घृत, लवण यह सब वस्तु हाथ से दी जाने पर अग्राह्य हैं। ग्रहण करने से गो-मांस भक्षण के तुल्य होता है। अर्थात् यह सब द्रव्य, केवल हस्त से प्रदान करने से ही दोष होता है ॥२७३॥

मनुस्मृतौ—

सामुद्रं सैन्धवं चैव लवणे परमाद्भूते । प्रत्यक्षे अपि तु ग्राह्ये निषेधस्त्वन्यगोगरः ॥२७४॥

आयसेनैव पात्रेण यदन्नमुपनीयते । भोक्ता तद्विट्समं भुङ्क्ते दाता च नरकं व्रजेत् ॥२७५॥

गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकशीलिनः ।
प्रोष्यान् वार्द्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥२७६॥

कौर्म्मे च तत्रैव—

तृणं काष्ठं फलं पुष्पं प्रकाशं वै हरेद्बुधः । धर्म्मार्थं केवलं विप्र ह्यन्यथा पतितो भवेत् ॥२७७॥

तिलमुद्गयवादीनां मुष्टिर्ग्राह्या पथि स्थितैः ।
क्षुधार्त्तैर्नान्यथा विप्रा धर्म्मविद्भिरिति स्थितिः ॥२७८॥

वैष्णवानां हि भोक्तव्यं प्रार्थ्यान्नं वैष्णवैः सदा ।
अवैष्णवानामन्नन्तु परिवर्ज्यममेध्यवत् ॥२७९॥

तथा च पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-संवादे—

प्रार्थयेद्वैष्णवादन्नं प्रयत्नेन विचक्षणः । सर्व्वपापविशुद्धयर्थं तदभावे जलं पिवेत् ॥२८०॥

दासाः कैवर्त्ताः, कुलमित्राणि पारम्पर्य्येण निजवंशहितकारिणः, अर्द्धसीरिणः वित्तादिविभागिनः ॥२७०॥

विप्रेभ्योऽपि सर्व्वेभ्यः शुक्लवृत्तिर्न सिध्यतीत्यभिप्रेत्य लिखति—गोरक्षकानिति । कारुकशीलिनः कटादिकारिणः ॥२७६॥

एवं ब्राह्मणस्य शुक्लवृत्तौ शूद्राणां सर्व्वेषामेवान्नवर्ज्जने प्राप्ते अपवादं दर्शयन् वैष्णवानाञ्च शुक्लवृत्तिमभिव्यञ्जयन्, अवैष्णवत्वेऽपि विप्राणामप्यन्नं वैष्णवैर्वर्ज्जनीयमित्यभिप्रेत्य लिखति—वैष्णवानामिति । हि निर्द्धारे प्रार्थ्यापि, अमेध्यं पुरीषादि, तद्वत् ॥२७९॥

मनुस्मृति में लिखित है—समुद्रोत्पन्न एवं सैन्धव, उभयविध लवण ही उत्कृष्ट हैं। यह दोनों लवण (नमक) स्वयं प्रत्यक्ष होने पर भी ग्रहण करने चाहिये। अन्य प्रत्यक्ष लवण अग्राह्य हैं। लौहपात्र में आनीत अन्न सेवन करने पर भोक्ता विष्ठातुल्य भोजन करता है, एवं दाता नरकगामी होता है। ब्राह्मण होकर जो गोरक्षक, व्यवसायी, कटादि निर्माणकारी, भृत्य, एवं वृद्धिजीवी अर्थात् सूद ग्रहणकारी है, उसके सहित शूद्रवत् आचरण करना चाहिये ॥२७४-२७६॥

कूर्मपुराण के उक्त स्थल में लिखित है—हे विप्र ! विचक्षण व्यक्ति, केवल धर्म के निमित्त, प्रकाश्य भाव से तृण, काष्ठ, फल एवं पुष्प आहरण करें, अन्यथा पतित होना पड़ता है। हे विप्रगण ! क्षुधातुर पथिकगण, तिल, मुद्ग एवं यव इत्यादि शस्य की मुष्टि (मुट्ठी) ग्रहण कर सकते हैं। अन्य अवस्था में ग्रहणीय नहीं है। यह व्यवस्था, धर्मशास्त्रविद्गण की है। वैष्णवगण, सर्वदा प्रार्थनापूर्वक वैष्णव के समीप से अन्न भोजन करें, जो वैष्णव नहीं हैं, इस प्रकार विप्र का अन्न वर्जन अमेध्यवत् करें ॥२७७-२७९॥

पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में उक्त विषय का वर्णन है—विचक्षण व्यक्ति, सर्वपाप विशुद्धि के निमित्त, यत्नपूर्वक वैष्णवगण के निकट अन्न भोजन करें। किन्तु इसके अभाव होने पर केवलमात्र जल पान करें ॥२८०॥

नारदीये—

महापातकसंयुक्तो व्रजेद्वैष्णव-मन्दिरम् । याचयेदन्नममृतं तदभावे जलं पिबेत् ॥२८१॥

विष्णुस्मृतौ —

श्रोत्रियान्नं वैष्णवान्नं हुतशेषञ्च यद्धविः ।
आनखात् शोधयेत् पापं तुषाग्निः कनकं यथा ॥२८२॥

स्कान्दे मार्कण्डेय-भगीरथ-संवादे—

शुद्धं भागवतस्यान्नं शुद्धं भागीरथीजलम् । शुद्धं विष्णुपरं चित्तं शुद्धमेकादशीव्रतम् ॥२८३॥

अवैष्णवगृहे भुक्त्वा पीत्वा वा ज्ञानतोऽपि वा ।
शुद्धिश्चान्द्रायणे प्रोक्ता इष्टापूर्त्तं वृथा सदा ॥२८४॥

श्रीप्रह्लादवाक्ये च —

केशवार्च्चा गृहे यस्य न तिष्ठति महीपते । तस्यान्नं नैव भोक्तव्यमभक्ष्येण समं स्मृतम् ॥२८५॥

केचिद्वृत्त्यनपेक्षस्य जपश्रद्धावतः प्रभो ।
विश्वस्तस्यादिशन्त्यस्मिन् कालेऽपि कृतिनो जपम् ॥२८६॥

श्रोत्रियान्नमिति, हुतशेषं हविरिति च दृष्टान्ततयात्र ज्ञेयम् ॥२८२॥

शुद्धमिति - सूतकादौ निषिद्धमपि शुद्धमेवेत्यर्थः । तथा च विष्णुस्मृतौ—'शिवविष्णवर्च्चने दीक्षा यस्य चाग्निपरिग्रहः । ब्रह्मचारि-यतीनाञ्च शरीरे नास्ति सूतकम् ॥' इति । तत्र दृष्टान्ताः—अशुचिसंसर्गादिनापि यथा गङ्गाजलं शुद्धमेवेत्यादयः; तदुक्तम्—'अपि चाण्डालभाण्डस्थं तज्जलं पावनं महत्' इत्यादि ॥२८३॥

वृत्तौ वृत्तिसम्पादने अनपेक्षस्य आसक्तिरहितस्य, यतः प्रभौ भगवति विश्वस्तस्य, भगवान् जगतां वृत्तिदः, किन्तत्प्रयासेनेति विश्वासं गतस्य, यतः कृतिनः अभिज्ञस्य, अतो जपे श्रद्धा प्रीतिस्तद्वतः । अस्मिन् अध्यनाध्यापनवृत्तिसम्पादनसम्बन्धिनि कालेऽपि जपमेवादिशन्ति । केचित् कृतिन इति वा ॥२८६॥

नारदपुराण में वर्णित है—महापातकी मनुष्य, वैष्णव भवन में गमनपूर्वक अमृतमय अन्न प्रार्थना करें, उसके अभाव में जल पान करें ॥२८१॥

विष्णुस्मृति में उक्त है—तुषानल जिस प्रकार काञ्चन को शुद्ध करता है, उस प्रकार श्रोत्रिय का अन्न, वैष्णव का अन्न एवं होमावशिष्ट हविः—यह सब नख से शरीर के सब पापों को विदूरित करते हैं ॥२८२॥

स्कन्दपुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में वर्णित है—भगवद्भक्त का अन्न पवित्र, गङ्गाजल पवित्र, विष्णुपरायण चित्त पवित्र एवं एकादशी व्रत पवित्र है। अज्ञानवशतः भी अवैष्णव के गृह में भोजन करने से चान्द्रायण व्रत के द्वारा शुद्धि होती है, अन्यथा उसके द्वारा अनुष्ठित सर्वदा इष्ट, पूर्त्त प्रभृति कर्मसमूह निष्फल होते हैं ॥२८३-२८४॥

श्रीप्रह्लाद वाक्य में लिखित है—हे राजन् ! जिसके गृह में श्रीकृष्ण-प्रतिमा नहीं हैं, उसका अन्न कभी भी भोजन नहीं करना चाहिये। कारण, वह अभक्ष्य तुल्य कहा गया है ॥२८५॥

जप विषय में कतिपय श्रद्धालु व्यक्ति, प्रभु में विश्वस्तचित्त होकर, अर्थात् श्रीभगवान् ही समस्त जगत् के वृत्ति दाता हैं, सुतरां जीविका के निमित्त प्रयास करना निष्प्रयोजन है। कहते हैं—उनके प्रति अध्ययन अध्यापन एवं वृत्ति सम्पादन काल में भी जप का उपदेश देते हैं ॥२८६॥

अथ माध्याह्निक-कृत्यानि

मध्याह्ने स्नानतः पूर्व्वं पुष्पाद्याहृत्य वा स्वयम् ।
भृत्यादिना वा सम्पाद्य कुर्य्यान्माध्याह्निकीः क्रियाः ॥२८७॥
स्नानाशक्तौ च मध्याह्ने स्नानमाचर्य्य मान्त्रिकम् ।
यथोक्तां भगवत्पूजां शक्तश्चेत् प्राग्वदाचरेत् ॥२८८॥

अथ वैष्णववैश्वदेवादि-विधिः

ततः कृष्णार्पितेनैव शुद्धेनान्नेन वैष्णवः । वैश्वदेवादिकं दैवं कर्म्म पैत्रञ्च साधयेत् ॥२८९॥

तदुक्तम्—

षष्ठे दिनविभागे तु कुर्य्यात् पञ्च महामखान् ।
दैवो होमेन यज्ञः स्यात् भौतस्तु बलिदानतः ॥२९०॥

पैत्रो विप्रान्नदानेन पैत्रेण बलिनाथवा । किञ्चिदन्नप्रदानाद्वा तर्पणाद्वा चतुर्व्विधः ॥२९१॥
नृयज्ञोऽतिथिसत्कारात् हन्तकारेण चाम्बुना । ब्रह्मयज्ञो वेदजपात् पुराणपठनेन वा ॥२९२॥

तन्नित्यता

कौर्म्मे—

अकृत्वा च द्विजः पञ्च महायज्ञान् द्विजोत्तमाः ।
भुञ्जीत् चेत् सुमूढ़ात्मा तिर्य्यग्योनिं स गच्छति ॥२९३॥

प्राग्वत् यथा प्रात.कृत्य तथेत्यर्थः ॥२८८॥

भौतो भूतसम्बन्धी यज्ञः, पैत्रश्च यज्ञश्चतुर्व्विधः, चतुर्व्विधत्वमेवाह—विप्रेति । अत्र च विशेषः कौर्म्मे—'देवयज्ञं भूतयज्ञं पितृयज्ञं तथैव च । मानुष्यं ब्रह्मयज्ञञ्च पञ्च यज्ञान् प्रचक्षते ॥ यदि स्यात तर्पणादर्व्वाग्ब्रह्मयज्ञः कृतो न हि । कृत्वा मानुष्ययज्ञं वै ततः स्वाध्यायमाचरेत् ॥ कुशपुञ्जे समासीनः कुशपाणिः समाहितः । शालाग्नौ लौकिके वाथ जले भूम्यामथापि वा । वैश्वदेवश्च कर्त्तव्यो देवयज्ञः स वै स्मृतः ॥' इत्यादि ॥२९०-२९१

अथ माध्याह्निक-कृत्यानि

मध्याह्न-स्नान के पूर्व में ही स्वयं पुष्पादि आहरण पूर्वक अथवा भृत्यादि द्वारा सम्पादनपूर्वक मध्याह्न कालीन कार्य्य समूह करे ॥२८७॥

मध्याह्न स्नान करने में अक्षम होने पर मन्त्र स्नान करके पूर्व कथितानुसार भगवत् पूजा करे एवं समर्थ होने पर प्रातः कृत्य के समान आचरण करे ॥२८८॥

अथ वैष्णववैश्वदेवादि-विधिः

अनन्तर वैष्णव व्यक्ति, श्रीकृष्ण निवेदित पवित्र अन्न द्वारा विश्वदेवादि दैव एवं पितृ सम्बन्धी कार्य्य निष्पन्न करे ॥२८९॥

उक्त विषय में वर्णित है—दिवस के षष्ठभाग में देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ करना चाहिये । होम द्वारा देवयज्ञ, बलि (सेवोपकरण द्वारा भूतयज्ञ, चतुर्विध पितृयज्ञ अर्थात् विप्रवृन्द को अन्न-अर्पण, पितृ सम्बन्धीय बलि प्रदान, किञ्चित् अन्न प्रदान अथवा तर्पण करें। अतिथिसेवा किंवा पानीयशाला अथवा जल द्वारा नृयज्ञ एवं वेद अथवा पुराण पाठ द्वारा ब्रह्मयज्ञ निष्पन्न होता है ॥२९०-२९२॥

तन्नित्यता

कूर्मपुराण में उक्त है—हे द्विजोत्तमवृन्द ! यदि द्विज, पञ्च यज्ञ न करके भोजन ग्रहण करते हैं, तो वह मूढ़ बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति तिर्य्यक योनि को प्राप्त करता है ॥२९३॥

अथ वैष्णवश्राद्ध-विधिः

प्राप्ते श्राद्धदिनेऽपि प्रागन्नं भगवतेऽर्पयेत् । तच्छेषेणैव कुर्व्वीत श्राद्धं भागवतो नरः ॥२९४॥

यच्च स्मृतौ —

गृहाग्निशिशुदेवानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
पितृपाको न दातव्यो यावत् पिण्डान्न निर्व्वपेत् ॥२९५॥ इति ।

ईदृक् सामान्यवचनं विशेषवचनव्रजैः । श्रुति-स्मृति-पुराणादिवर्त्तिभिर्बाध्यते ध्रुवम् ॥२९६॥

तथा च पाद्मे —

विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते ॥२९७॥

मोक्षधर्म्मे नारदोक्तौ—

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्य्यमुखनिसृतम् । पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥२९८

तच्छेषेण भगवन्निवेदितेनैव, यतो भागवतः भगवद्भक्तः ॥२९४॥

तत्र निषेधवाक्यमुल्लिखन् बहुतरवचनैस्तद्बाधयित्वा भगवदर्पितान्नादिनैव श्राद्धविधानं साधयति—गृहाग्नीत्यादिना अप्रकल्पिता इत्यन्तेन ॥२९५॥

ईदृक् गृहाग्नीति श्लोकसदृशम् ॥२९६॥

विशेषवचनान्येव दर्शयति— विष्णोरिति ॥२९७॥

सात्वतमिति—सात्वता वैष्णवास्तत्सम्बन्धिनमित्यर्थः । देवेशं श्रीभगवन्तं, तच्छेषेण भगवन्निवेदितेनेत्यर्थः । न चात्र वक्तव्यं यदन्नादिकं भोजनपात्रेषु निधायान्नसंस्काराद्यर्पणविधिना भगवतेऽर्पितं, तस्य यदवशिष्टं रन्धनपात्रादावस्ति तेनेति, विष्णोर्निवेदितान्नेनेति पाद्मोक्तेः । न च तदप्यवशिष्टमेवेति शङ्कनीयं, यतः संस्कारादिविधिना भगवतोऽग्रे यत् समर्प्यते, तदेव निवेदितमित्युपपद्यते इति । अतस्तस्यैव भगवद्भुक्तोच्छिष्टस्य भक्त्या शेष इत्यादुक्तिः । अन्यथा गृहभाण्डादौ स्थितस्य घृतखण्डादिद्रव्यस्य किञ्चिदर्पणात्तत्रापि सर्व्वत्र शेषत्वव्याप्त्या निवेदितत्वप्रसङ्गः स्यात्, तच्चायुक्तम् । तत्र तत्र स्थितस्य द्रव्यस्य सर्व्वस्यैव उच्छिष्टत्वेन पुनर्भगवतेऽर्पणायोगादिति दिक् । एवञ्च भगवदुच्छिष्टस्य परमभक्त्या महाप्रसादतया ग्रहणे शिष्टकृतो यज्ञावशिष्टद्रव्यकरणकहोम इव दत्तापहारदोषप्रसङ्गश्च न स्यात् । अन्यथा श्रीचरणामृतपानेऽनुलेपतुलस्यादि-निर्म्मालग्रहणेऽपि सर्व्वत्रैव दत्तापहारदोषव्याप्तिः स्यात् ; न च सा युक्ता, यतः तत्तद्ग्रहणे महाफल-

---

अथ वैष्णवश्राद्ध-विधिः

भगवत् परायण मनुष्य, श्राद्धदिन उपस्थित होने से प्रथमतः भगवान् को अन्न निवेदन करके उक्त अन्न द्वारा श्राद्ध करें ॥२९४॥

स्मृति में उक्त है—यावत् पर्य्यन्त पिण्डदान सम्पन्न नहीं होता है, तावत् पर्य्यन्त पितृ निमित्त पाककृत अन्न, गृहाग्नि, शिशु, देव, यति एवं ब्रह्मचारिवर्ग को प्रदान न करे ॥२९५॥

'गृहाग्नि' इत्यादि श्लोक सदृश सामान्य वचन, श्रुति स्मृति पुराणादि प्रभृति के विशेष वचनसमूह द्वारा बाधित है ॥२९६॥

उक्त विषय का वर्णन पद्मपुराण में इस प्रकार है—विष्णु निवेदित अन्न द्वारा अन्यान्य देववृन्द की पूजा करना चाहिये एवं पितृवृन्द को भी विष्णु निवेदित अन्न अर्पण करें । ऐसा करने पर अनन्त फल लाभ होता है ॥२९७॥

मोक्षधर्म में नारद की उक्ति है – प्रथम सूर्य्य मुखनिःसृत वैष्णव सम्बन्धीय विधि अवलम्बन पूर्वक श्रीभगवान् की पूजा करके तन्निवेदित अन्न द्वारा पिता पितामहवृन्द की पूजा करना चाहिये ॥२९८॥

ब्रह्माण्डपुराणे—

य: श्राद्धकाले हरिभुक्तशेषं, ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् ।
तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रा-नाकल्पकोटिं पितरः सुतृप्ताः ॥२९९॥

स्कान्दे श्रीशिवोक्तौ —

देवान् पितॄन् समुद्दिश्य यद्विष्णोर्विनिवेदितम् ।
तानुद्दिश्य ततः कुर्य्यात् प्रदानं तस्य चैव हि ॥३००॥
प्रयान्ति तृप्तिमतुलां सोदकेन तु तेन वै । मुकुन्दगात्रलग्नेन ब्राह्मणानां विलेपनम् ॥३०१॥
चन्दनेन तु पिण्डानां कर्त्तव्यं पितृतृप्तये । देवाणाञ्च पितॄणाञ्च जायते तृप्तिरक्षया ॥३०२॥
एवं कृते महीपाल मा भवेत् संशयः क्वचित् ॥३०३॥

तत्रैव श्रीपुरुषोत्तमखण्डे —

अन्नाद्यं श्राद्धकाले तु पतितार्द्यैर्निरीक्षितम् । तुलसीदलमिश्रेण सलिलेनाभिसिञ्चयेत् ३०४॥

प्रतिपादकानि तत्र तत्र वचनानि शतशः सन्ति, तेषु च कानिचित् श्रीचरणामृतपानादिप्रसङ्गे पूर्व्वं लिखितानि । अत्र च लिखितं 'विष्णोर्निवेदितान्नेन' इति । लेख्यान्यपि देवान् पितॄन् समुद्दिश्येति, मुकुन्दगात्रलग्नेनेति, सर्व्वप्रयत्नेनेत्यादीनि । श्रुतिश्च—'एक एव नारायणः' इत्यादि । एतच्चाग्रे लेख्यैः 'पत्र पुष्पं फलं तोयम्' (श्रीगी ९।२६) इत्यादिभिरनर्पितोपभोगनिषेधवचनैः । तथा 'अम्बरीष नवं वस्त्रम्' इत्यादिभिः तदुपभोग-विधिवचनैरपि नितरां द्रढ़यितव्यम् । विशेषतश्चात्र महतां बहूनां शिष्टानामाचार एव परमं प्रमाणमिति । भगवन्मायाहतानां भगवत्प्रसादवञ्चितानां दुष्टबुद्धीनां सर्व्वथोपेक्षैवोपयुक्तेति सर्व्वेषां साधूनां मतम् ॥२९८॥

अधुना पितृभ्योऽपि भगवदुच्छिष्टमहाप्रसाददाने बहुलवचनानि प्रमाणयन् आदौ तत्र नित्यश्राद्धादिविषयमेव तत्, न च पार्व्वणादिपरमिति केषाञ्चिदज्ञानां मतं निरस्यति— य श्राद्धेति । हरेर्भुक्तञ्च तत्, अतएव शेषञ्च ॥२९९॥

तस्य विष्णुनिवेदितस्यैव प्रदानं तान् देवादीन् उद्दिश्य कुर्य्यात् ॥३००॥

क्वचिदिति—भगवदुच्छिष्ट-दानेन गौण्यापत्त्या पित्रादितृप्तिः स्यान्न वेति, दत्तापहारदोषः स्यान्न वेत्यादौ, कुत्रापि संशयः शङ्कापि न भवेदित्यर्थः ॥३०३॥

अभिषिञ्चयेत् अभिषेचयेत्, स्वार्थे इण् ॥३०४॥

ब्रह्माण्ड पुराण में लिखित है—जो व्यक्ति, श्राद्ध समय में भक्तिपूर्वक श्रीहरि के भुक्तावशिष्ट महाप्रसाद एवं तद्द्वारा निर्मित तुलसी विमिश्रित पिण्ड प्रदान पितृ एवं देववृन्द को करते हैं, उनके पितृगण, कोटि कल्प काल पर्य्यन्त सुन्दर रूप से परितृप्त होते हैं ॥२९९॥

स्कन्दपुराण में श्रीशिवोक्ति यह है—देवगण एवं पितृगण को उद्देश्य करके श्रीविष्णु को जो द्रव्य अर्पण किया जाता है, श्रीविष्णु को निवेदित उस वस्तु तत्तत् देव एवं पितृगण को प्रदान करना चाहिये। श्रीविष्णु निवेदित जल के सहित पिण्ड प्रदान करने से पितृलोक की असीम तृप्ति होती है। मुकुन्द गात्र संलग्न चन्दन द्वारा ब्राह्मणगण को विलेपन कार्य्य सम्पन्न करे, एवं पितृवर्ग की तृप्ति हेतु उक्त चन्दन द्वारा पिण्ड को विलेपन करना कर्त्तव्य है। हे राजन् ! इस प्रकार करने से देवगण एवं पितृगण, अक्षय तृप्ति लाभ करते हैं। इस विषय में कोई संशय नहीं है ॥३००-३०३॥

उक्त पुराण के पुरुषोत्तम खण्ड में लिखित है—श्राद्धकाल में पतित जनगण कर्त्तृक अन्नादि निरीक्षित

तदन्नं शुद्धतामेति विष्णोर्नैवेद्यमिश्रितम् । विष्णोर्नैवेद्यशेषन्तु तस्माद्देयं द्विजन्मनाम् ।
पिण्डे चैव विशेषेण पितॄणां तृप्तिमिच्छता ॥३०५॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-संवादे —

पितॄनुद्दिश्य यैः पूजा केशवस्य कृता नरैः ।
त्यक्त्वा ते नारकीं पीड़ां मुक्तिं यान्ति महामुने ॥३०६॥

धन्यास्ते मानवा लोके कलिकाले विशेषतः । ये कुर्व्वन्ति हरेर्नित्यं पित्रर्थं पूजनं मुने ॥३०७

किं दत्तैर्बहुभिः पिण्डैर्गयाश्राद्धादिभिर्मुने । यैरर्च्चितो हरिर्भक्त्या पित्रर्थञ्च दिने दिने ॥३०८

यमुद्दिश्य हरेः पूजा क्रियते मुनिपुङ्गव । उद्धृत्य नरकावासात्तं नयेत् परमं पदम् ॥३०९॥

यो ददाति हरेः स्थानं पितॄनुद्दिश्य नारद । कर्त्तव्यं हि पितॄणां यत्तत् कृतं तेन भो द्विज ॥३१०

श्रुतौ च—

एक एव नारायण आसीत्, न ब्रह्मा, नेमे द्यावापृथिव्यौ, सर्व्वे देवाः, सर्व्वे पितरः, सर्व्वे मनुष्याः, विष्णुना अशितमश्नन्ति, विष्णुनाघ्रातं जिघ्रन्ति, विष्णुना पीतं पिबन्ति, तस्माद्विद्वांसो विष्णूपहृतं भक्षयेयुः ॥३११॥ इति ।

न च वक्तव्यमिदम्, अन्योद्देशेन भगवतेऽन्नादिसमर्पणं गौण्यापत्त्या भगवत्प्रीतिविशेषासाधनात् फल-विशेषजनकं न स्यादिति, यतो निजपित्रादिहितार्थं कृतं पूजनं भगवतः परमप्रीणनमेवेति । परमफल-सम्पादकमेव स्यादिति लिखति—पितॄनुद्दिश्येत्यादिना । एवञ्च पित्राद्यर्थं भगवत्पूजायां पश्चात्कृतायां भगवन्निवेदितेनैव स्वतः श्राद्धादिसम्पत्त्या तन्महागुणसिद्धेर्मुक्त्यादिमहाफलमुपपद्यत एवेति भावः । यद्वा, श्राद्धाग्रहपरित्यागेन पित्रर्थं भक्तिविशेषेण भगवत्पूजया स्वत एव फलविशेषः सिध्येत् । एवमेव, 'यथा तरोर्मूलनिषेचनेन, तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः' (श्रीभा ४।३१।१४) इत्यादिन्यायात् पित्रादीनाञ्च परम-तृप्तिः सिध्यति । न तु केवलनिजश्राद्धदानेन तेषामपि भगवदुच्छिष्ट-महाप्रसादापेक्षयेति दिक् ॥३०६-३११॥

होने से, उक्त दोष शुद्धि के निमित्त उसमें तुलसी जल सेचन करे। एवं उक्त अन्न श्रीभगवत् प्रसाद के सहित मिश्रित होने से शुद्ध होता है। अतएव द्विजगण को भगवत् प्रसाद अर्पण करना चाहिये एवं विशेष रूप से पितृलोक की तृप्ति वाञ्छा होने पर, पिण्ड में श्रीविष्णु नैवेद्य शेष अर्पण करे ॥३०४-३०५॥

उक्त पुराण के श्रीब्रह्म-नारद संवाद में लिखित है—हे महामुने ! जो मनुष्य पितृगण के उद्देश्य से श्रीकेशव की पूजा करते हैं वे सब नारकी पीड़ा त्याग कर मुक्त होते हैं ॥३०६॥

हे मुने ! संसार के मध्य में, विशेषतः कलिकाल में जो सब मानव, पितृलोक के निमित्त नित्य श्रीहरि पूजा करते हैं, वे सब ही धन्य हैं ॥३०७॥

हे मुने ! जो मानव, पितृ पुरुषों के उद्देश्य से प्रत्यह भक्तिपूर्वक श्रीहरि पूजा करते हैं, गया श्राद्ध प्रभृति बहु पिण्डदान अनुष्ठान में उनका प्रयोजन ही क्या है ? ॥३०८॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! जिसके उद्देश्य से श्रीहरि की पूजा की जाती है, वह नरकवास से निष्कृति प्राप्तकर परम पद प्राप्त करता है ॥३०९॥

हे नारद ! जो मानव, पितृपुरुषों के उद्देश्य से श्रीहरि को स्थान प्रदान करते हैं, उससे पितृगण के प्रति जो कर्त्तव्य है, वह प्रतिपालन होता है ॥३१०॥

श्रुति में भी वर्णित है—एकमात्र श्रीनारायण ही विद्यमान थे, ब्रह्मा नहीं थे, एवं स्वर्ग पृथिवी प्रभृति

अतएवोक्तं श्रीभगवता विष्णुधर्म्मे—

प्राणेभ्यो जुहुयादन्नं मन्निवेदितमुत्तमम् । तृप्यन्ति सर्व्वदा प्राणा मन्निवेदितभक्षणात् ॥३१२

तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन प्रदेयं मन्निवेदितम् । ममापि हृदयस्थस्य पितॄणाञ्च विशेषतः ॥३१३

किञ्च तत्रैवान्यत्र—

भक्ष्यं भोज्यञ्च यत्किञ्चिदनिवेद्याग्रभोक्तरि ।
न देयं पितृदेवेभ्यः प्रायश्चित्ती यतो भवेत् ॥३१४॥

सर्गादौ कथितो देवैरग्रभुग्भगवान् हरिः । यज्ञभागभुजो देवास्ततस्तेन प्रकल्पिताः ॥३१५॥

अथ श्राद्धे वैष्णवभोजन-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीमार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

यस्तु विद्याविनिर्मुक्तं मूर्खं मत्वा तु वैष्णवम् ।
वेदविद्भ्योऽददाद्विप्रः श्राद्धं तद्राक्षसं भवेत् ॥३१६॥

सिक्थमात्रन्तु यद्भुङ्क्ते जलं गण्डूषमात्रकम् । तदन्नं मेरुणा तुल्यं तज्जलं सागरोपमम् ॥३१७॥

ममेत्यादि षष्ठी चतुर्थ्यर्थे । हृदयस्थस्य परमात्मरूपस्येत्यर्थः । एवं भगवते निवेद्यैव पित्रादिभ्यो देयमित्युपपादितम् ॥३१२॥

अधुना कदाचिदप्यनिवेदितं न दातव्यमिति लिखति—भक्ष्यमिति । भक्ष्यभोज्ययोश्चर्व्व्याचर्व्व्यत्वेन भेदः । यत्किञ्चिदपि, अग्रभोक्तरि परमेश्वरे, यतः अनिवेदितदानात् प्रायश्चित्ती पातकी भवेत् ॥३१४॥

तदेवोपपादयति—सर्गादाविति । अग्रभुजे भगवतेऽदत्ते भुक्ते सति चौर्य्येणैव देवादीनामपि पापं स्यादिति भावः ॥३१५॥

कुछ भी पदार्थ उस समय नहीं थे, समस्त देवता, समस्त पितृलोक, समस्त मनुष्य, श्रीविष्णु का भुक्तान्न भोजन करते हैं । उनका आघ्रात द्रव्य का आघ्राण लेते हैं, एवं पीतद्रव्य पान करते हैं, सुतरां पण्डितगण, श्रीविष्णु प्रसादान्न भोजन करें ॥३११॥

अतएव भगवान् श्रीविष्णुधर्म में कहते हैं—मेरे उद्देश्य से निवेदित उत्कृष्ट अन्न की आहुति प्राणसमूह में प्रदान करे । मेरे उद्देश्य से निवेदित वस्तु भक्षण हेतु प्राणादि वायु सर्वदा परितृप्त होते हैं । अतएव यत्नपूर्वक सबके हृदय में अवस्थित परमात्मस्वरूप मुझको विशेषतः पितृपुरुषों को मेरे उद्देश्य में निवेदित अन्न प्रदान करे ॥३१२-३१३॥

विष्णु धर्मग्रन्थ के अन्य स्थान में वर्णित है—अग्रभोक्ता श्रीभगवान् को भक्ष्य भोज्य सामग्री अर्पण न करके पितृगण को निवेदन न करे, कारण, अनिवेदित प्रदान करने से प्रायश्चित्त करना पड़ता है । सृष्टि के आदि में देवगण, भगवान् श्रीहरि को अग्रभोक्ता रूप में निर्णय किये हैं । तज्जन्य श्रीहरि भी देवगण को यज्ञ भोक्ता रूप में निर्देश किये हैं ॥३१४-३१५॥

अथ श्राद्धे वैष्णवभोजन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में कथित है—जो विप्र, विद्यारहित वैष्णव को मूर्ख मान कर वेदज्ञवृन्द को श्राद्धपात्र प्रदान करते हैं, वह राक्षस श्राद्ध होता है । श्राद्ध में यदि वैष्णव, ग्रासपरिमित अन्न भोजन, एवं गण्डूष परिमित जल पान करते हैं, तब वह अन्न, मेरुतुल्य एवं वह जल सागर तुल्य होता है ॥३१६-३१७॥

नवम-विलासः

ब्रह्मपुराणे श्रीब्रह्मवचनम्—

शङ्खाङ्किततनुर्विप्रो भुङ्क्ते यस्य च वेश्मनि । तदन्नं स्वयमश्नाति पितृभिः सह केशवः ॥३१८

स्मृतिश्च—

सुराभाण्डस्थपीयूषं यथा नश्यति तत्क्षणात् । चक्राङ्करहितं श्राद्धं तथा शातातपोऽब्रवीत् ३१९॥

किञ्च, श्रीविष्णुरहस्ये—

निवेशयेन्नरो मोहादन्यपङ्क्तौ हरेः प्रियम् । स पतेन्निरये घोरे पङ्क्तिभेदी नराधमः ॥३२०॥

अथ श्रीभगवदर्पणे निषिद्धम्

निवेदितं यदन्यस्मै तदुच्छिष्टं हि कथ्यते । अतः कथञ्चिदपि तन्न श्रीभगवतेऽर्पयेत् ॥३२१॥

तथा चैकादशस्कन्धे श्रीभगवदुक्तौ (११।४०)—

अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥३२२॥

नारदीये—

पितृशेषन्तु यो दद्याद्धरये परमात्मने । रेतोदाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिनः ॥३२३॥

श्रीविष्णुधर्म्मे—

हरिशेषं हविर्दद्यात् पितृणामक्षयं भवेत् । न पुनः पितृशेषन्तु हरेर्ब्रह्मादिसद्गुरोः ॥३२४॥

शङ्खाङ्कितनुः वैष्णव इत्यर्थः ॥३१८॥

चक्रेण अङ्कश्चिह्नं यस्मिन् वैष्णवे तेन रहितम् । एवं श्राद्धे अवश्यं वैष्णवभोजनाद्वैष्णवस्य च भगवन्-निवेदितभोजननिर्द्धारात् भगवन्निवेदितेनैव श्राद्धादिकमिति प्रसिद्धम्; अन्येषामवैष्णवानां पङ्क्तौ ॥३१९-३२०

अन्यस्मै निवेदितं, मह्यं नोपयुञ्ज्यात्, न समर्पयेत् ॥३२१-३२२॥

रेतोदाः रेत एव उदम् उदकं पेयं येषां तथाभूताः सन्तः । विसर्गलोपेऽपि पुनः सन्धिरार्षः ॥३२३॥

हविः परमान्नं पितृणां पितृभ्यो दद्यात्, यतस्तत् अक्षयं अक्षय्यफलं भवेदित्यर्थः । हरेः हरये न दद्यात्, तत्र हेतुः—ब्रह्मेति ॥३२४॥

ब्रह्मपुराण में श्रीब्रह्मा का कथन यह है—शङ्खचिह्न से भूषित विप्र, अर्थात् वैष्णव, जिनके गृह में भोजन करते हैं, पितृगण के सहित श्रीकेशव, उक्त अन्न भोजन करते हैं ॥३१८॥

स्मृति में उक्त है—शातातप कहते हैं—जिस प्रकार सुराभाण्डस्थित अमृत तत्क्षणात् कर्म का अयोग्य होता है, उस प्रकार चक्राङ्क अर्थात् वैष्णवरहित श्राद्ध भी विनाश प्राप्त होता है ॥३१९॥

विष्णुरहस्य में वर्णित है—जो मनुष्य, मोहवशतः वैष्णव को अवैष्णव पङ्क्ति में प्रवेश कराते हैं, उन पङ्क्तिभेदी नराधमगण भीषण नरक में निपतित होते हैं ॥३२०॥

अथ श्रीभगवदर्पणे निषिद्धम्

दूसरे को निवेदित की हुई वस्तु उच्छिष्ट कही गई है। अतएव किसी प्रकार से ही उक्त सामग्री श्रीभगवान् को समर्पण न करे ॥३२१॥

उक्त विषय में एकादश स्कन्धोक्त श्रीभगवदुक्ति इस प्रकार है—अपर को निवेदित प्रदीप भी मुझको प्रदान न करे । ३२२॥

नारदपुराण में लिखित है—जो मानव, पितृपुरुष की उच्छिष्ट परमात्मा को अर्पण करते हैं, उनके पितृगण रेतः पान करके क्लेश भागी होते हैं ॥३२३॥

श्रीविष्णुधर्म में कथित है—श्रीहरिभुक्त परमान्न पितृगण को अर्पण करे । उससे ही पितृगण अक्षयतृप्ति लाभ करेंगे । कारण, श्रीहरि, ब्रह्मादि देवगण के भी सद्गुरु हैं । सुतरां कदाच पितृशेष वस्तु श्रीहरि को अर्पण न करे ॥३२४॥

अन्यत्र च—

दक्षादयश्च पितरो भृत्या इन्द्रादयः सुराः। अतस्तद्भुक्तशेषन्तु विष्णोर्नैव निवेदयेत् ॥३२५॥ इति।

एवमावश्यकं कृत्वा वैष्णवेभ्यो विभज्य च। श्रीमन्महाप्रसादान्नं भुञ्जीत सह बन्धुभिः ॥३२६

तथा च प्रह्लादपञ्चरात्रे—

स्वभावस्थैः कर्म्मजड़ान् वञ्चयन् द्रविणादिभिः। हरेर्नैवेद्यसम्भारान् वैष्णवेभ्यः समर्पयेत्॥३२७

अतएव वैष्णवतन्त्रे—

हरेर्निवेदितं किञ्चिन्न दद्यात् कर्हिचिद्बुधः।
अभक्तेभ्यः सशल्येभ्यो यद्ददन्निरये व्रजेत् ॥३२८॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे च—

अवैष्णवे देवधृतं निर्म्माल्यं न प्रयच्छति।
नैवेद्यं वा महाभाग तस्य तुष्यति केशवः ॥३२९॥ इति।
कथञ्चिदपि नाश्नीयादकृत्वा कृष्णपूजनम्।
न चासमर्प्य गोविन्दे किञ्चिद्भुञ्जीत वैष्णवः ॥३३०॥

अथ पूजाव्यतिरिक्तभोजनदोषाः

श्रीकूर्म्मपुराणे—

अनर्च्चयित्वा गोविन्दं यैर्भुक्तं धर्म्मवर्जितैः। श्वानविष्ठासमं चान्नं नीरञ्च सुरया समम् ॥३३१

श्रीमतो भगवतः, यद्वा, श्रीमद्भगवन्निवेदितत्वेन परमशोभायुक्तं, तदुच्छिष्टत्वेन च महाप्रसादरूपमन्नम् ॥३२६
स्वभावस्थैः स्वत एव वर्त्तमानैः अनिवेदितैरित्यर्थः ॥३२७॥
सशल्येभ्यो विद्धोपवासिभ्यः कर्म्मजड़ेभ्य इत्यर्थः ॥३२८॥
शौवानेति वक्तव्ये श्वानेत्यार्षम्; क्वचिच्च शुन इति पाठः ॥३३१॥

और भी कथित है—दक्षादि पितृगण एवं इन्द्रादि देवगण, सभी श्रीहरि के किङ्कर हैं, सुतरां इन सबके भुक्तावशेष वस्तु श्रीविष्णु को निवेदन न करे ॥३२५॥

इस प्रकार आवश्यकीय कार्य्य समाधान के अनन्तर वैष्णवगण को प्रसादान्न प्रदान करने के पश्चात् बन्धुवर्ग के सहित श्रीमन्महाप्रसान्न सेवन करे ॥६२६॥

प्रह्लाद पञ्चरात्र में उक्त विषय का वर्णन है—कर्मजड़ अवैष्णववृन्द को अनिवेदित द्रव्यार्पण अथवा धनादि के द्वारा वञ्चना करके श्रीहरि के नैवेद्य सम्भार वैष्णववृन्द को प्रदान करे ॥३२७॥

अतएव वैष्णवतन्त्र में लिखित है—विद्धोपवास परायण कर्मजड़ अवैष्णववृन्द को कभी भी श्रीहरि के नैवेद्यावशेष किञ्चिन्मात्र भी प्रदान बुधगण न करें, प्रदान करने से नरक में प्रदानकर्त्ता की गति होती है॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है— हे महाभाग ! देवधृत निर्माल्य अथवा नैवेद्य जो व्यक्ति, अवैष्णव को प्रदान नहीं करता है, श्रीकेशव उसके प्रति प्रसन्न होते हैं ॥३२८-३२९॥

श्रीकृष्णपूजा न करके, वैष्णव-भोजन न करें, एवं श्रीगोविन्द को प्रदान न करके किसी वस्तु का कुछ अंश ग्रहण न करें। अर्थात् अनिवेदित वस्तु भोजन कदाच न करें ॥३३०॥

अथ पूजाव्यतिरिक्तभोजनदोषाः

श्रीकूर्मपुराण में लिखित है—श्रीगोविन्द की पूजा न करके भोजन करने से उस धर्मभ्रष्ट पुरुष का अन्न कुत्ते की विष्ठा के समान एवं जल मद तुल्य होता है ॥३३१॥

किञ्च—
यो मोहादथवालस्यादकृत्वा देवतार्च्चनम् । भुङ्क्ते स याति नरकं शूकरेष्विह जायते ॥३३२॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं पूजयेद्धरिम् । अपूज्य भोजनं कुर्व्वन् नरकाणि व्रजेन्नरः ॥३३३॥

नारदीये च—
प्रातर्मध्यन्दिनं सायं विष्णुपूजा स्मृता बुधैः । अशक्तो विस्तरेणैव प्रातः सम्पूज्य केशवम् ॥३३४

मध्याह्ने चैव सायञ्च पुष्पाञ्जलिमपि क्षिपेत् ।
मध्याह्ने वा विस्तरेण संक्षेपेणाथवा हरिम् ॥३३५॥
संभोज्य भोजनं कुर्य्यादन्यथा नरकं व्रजेत् ॥३३६॥

अथानर्पितभोगनिषेधः

हयशीर्षपञ्चरात्रे—
न त्वेवापूज्य भुञ्जीत भगवन्तं जनार्द्दनम् । न तत् स्वयं समश्नीयात् यद्विष्णौ न निवेदयेत् ॥३३७

ब्रह्माण्डपुराणे—
पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधम् । अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् ॥३३८॥
अनिवेद्य तु भुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः । तस्मात् सर्व्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्व्वदा ॥३३९

अपूज्य अपूजयित्वा ॥३३३॥
आहाराय निजोपभोगाय ॥३३८॥

और भी लिखा है— भूलकर अथवा आलस्य से श्रीहरि पूजन न करने से वह निरयगामी होता है एवं इस जगत् में शूकर योनि प्राप्त होता है ॥३३२।

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—मनुष्य, एक काल अथवा द्विकाल किंवा त्रिकाल श्रीहरि की पूजा करें, पूजा न करके भोजन करने पर विविध नरक गमन होता है ॥३३३॥

नारदपुराण में वर्णित है – पण्डितगण, प्रातःकाल में, मध्याह्न काल में एवं सायं काल में श्रीविष्णु पूजा का विधान प्रदान किये हैं, विस्तृत पूजा में असमर्थ होने पर केवलमात्र प्रातःकाल में पूजा करके मध्याह्न एवं सायं काल में अन्ततः पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। एवं मध्याह्न काल में श्रीहरि को विस्तार रूप से अथवा संक्षेप रूप से भोजन कराकर स्वयं प्रसादान्न भोजन करे, इसके विपरीत होने से नरक में गिरना पड़ता है। ॥३३४-३३६॥

अथानर्पितभोगनिषेधः

हयशीर्ष पञ्चरात्र में लिखित है—परमेश्वर जनार्दन की पूजा न करके भोजन न करे, एवं प्रथम श्रीकृष्ण को बिना निवेदन किये भी किसी वस्तु का कुछ भी अंश स्वयं भोजन न करे ॥३३७॥

ब्रह्माण्डपुराण में लिखित है—पत्र, पुष्प, फल, जल, अन्न, पानादि एवं औषध प्रभृति जो भी वस्तु निज भोग के निमित्त ग्रहणीय है, बिना निवेदन किये उसका भोजन करना निषिद्ध है। अनिवेदित द्रव्य उपभोग करने से मनुष्य प्रायश्चित्तार्ह होता है, अतएव सर्वदा यावतीय द्रव्य श्रीविष्णु को निवेदन करके भोजन करे ॥३३८-३३९॥

पाद्मे गौतमाम्बरीष-संवादे—

अम्बरीष गृहे पक्वं यदभीष्टं सदात्मनः। अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तकल्पानि नारकी ॥३४०॥

तत्रैवोत्तरखण्डे शिवोमा-संवादे—

अवैष्णवानामन्नञ्च पतितानां तथैव च। अनर्पितं तथा विष्णौ श्वमांस-सदृशं भवेत् ॥३४१॥

विष्णुस्मृतौ—

अनिवेद्य तु यो भुङ्क्ते हरये परमात्मने। मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ३४२॥

अतएव गौतमाम्बरीष-संवाद एव—

अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्। कृत्वा विष्णूपभुक्तन्तु सदा सेव्यं हि वैष्णवैः ॥३४३

विष्णुधर्म्माग्निपुराणयोः—

गन्धान्नवरभक्ष्यांश्च स्रजो वासांसि भूषणम्। दत्त्वा तु देवदेवाय तच्छेषाण्युपभुञ्जते ॥३४४॥

गारुडे—

पादोदकं पिवेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्धरेः। शेषाश्च मस्तके धार्य्या इति वेदानुशासनम् ॥३४५॥

* षष्ठस्कन्धे पुंसवनव्रत-प्रसङ्गे (१९।२०)—

उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः। अद्यादात्मविशुद्धचर्थं सर्व्वकामार्थसिद्धये ॥३४६॥

विष्णोरुपभोग्यं कृत्वा यथाविध्यर्पणादिना तं भोजयित्वेत्यर्थः ॥३४३॥

गन्धान् अन्नानि वरभक्ष्यांश्च मोदकादीन्, उपभुञ्जते साधव इति सदाचारो दर्शितः ॥३४४॥

शेषाश्च तुलस्यादयः ॥३४५॥

देवं भगवन्तं, स्वे धाम्नि स्वहृदये, अग्रतः प्राक्, उद्वास्य विसर्ज्य ॥३४६॥

पद्मपुराण के गौतम-अम्बरीष-संवाद में वर्णित है—हे अम्बरीष ! स्वीय अभिलषित जो कोई अभीष्ट वस्तु घर में पकती है, वह जनार्दन को अर्पण किये बिना भोजन करने से सात कल्प तक नरक की यातना भोगनी पड़ती है ॥३४०॥

उक्त पुराण के उत्तरखण्ड में श्रीशिवोमा-संवाद में उक्त है—अवैष्णववृन्द का अन्न, पतित मानवों का अन्न, एवं श्रीविष्णु को बिना निवेदन किया हुआ अन्न, कुक्कुर मांस तुल्य है ॥३४१॥

विष्णुस्मृति में लिखा है—जो व्यक्ति, परमात्मा श्रीहरि को अर्पण न करके भोजन करता है, उसके पितृगण चिरकाल नरक में पच्यमान होते हैं ॥३४२॥

अतएव गौतम-अम्बरीष-संवाद में ही वर्णित है—हे अम्बरीष ! वैष्णववृन्द, नूतन वसन, फल, अन्न एवं रस प्रभृति समुदाय द्रव्य सर्वदा श्रीविष्णु को अर्पण करके अवशेष ग्रहण करें ॥३४३॥

विष्णुधर्म एवं अग्निपुराण में लिखित है—साधुगण, गन्ध, अन्न, उत्कृष्ट भक्ष्य (मोदकादि), माल्य, वस्त्र, भूषण प्रभृति देवदेव श्रीविष्णु को निवेदन करके अवशेष ग्रहण करते रहते हैं ॥३४०॥

गरुड़पुराण में लिखित है – वेद में इस प्रकार आदेश है कि, नित्य श्रीहरि पादोदक पान करे, नित्य श्रीहरि नैवेद्य सेवन करे एवं नित्य मस्तक में प्रसादी तुलसी प्रभृति धारण करे ॥३४५॥

षष्ठस्कन्ध पुंसवन व्रत प्रसङ्ग में लिखित है—आराध्यदेव को उनके निजधाम रूप निज हृदय में सुख पूर्वक निवासार्थ विसर्जन पूर्वक आत्म विशुद्धि एवं सर्वकाम समृद्धि के निमित्त प्रथम श्रीप्रभु निवेदित द्रव्य सेवन करे ॥३४६॥

अष्टमस्कन्धे च पयोव्रत-प्रसङ्गे (१६।४१)—

निवेदितं तद्भक्ताय दद्याद्भुञ्जीत वा स्वयम् ।।३४७।।

गौतमीयतन्त्रे —

शुक्लोपचारसम्भारैर्नित्यशो हरिमर्च्चयेत् । निवेद्य कृष्णाय विधिवदन्नं भुञ्जीत तत् स्वयम् ।
अथवा सात्वते दद्याद्यदि लभ्येत भक्तितः ।।३४८।।

शरत्प्रदीपे च—

भक्तक्षणक्षणो देवः स्मृतिः सेवा स्ववेश्मनि । स्वभोज्यस्यार्पणं दानं फलमिन्द्रादिदुर्ल्लभम् ।।३४९

तद्भक्ताय वैष्णवाय ।।३४७।।

एवमनर्पितोपभोगदोषजातं दर्शयित्वा तेन च निवेदितस्यैवोपभोगं विलिख्याधुना तदेव द्रढ़यन् भगवद्-र्पितस्य ग्रहणेऽपि दत्तापहारदोषो न प्रसज्येतेति भगवत्वात्सल्यभरतो न्यायान्तरेण साधयति—भक्तेति, भक्तस्य क्षणः अवसर एव उत्सव एव वा क्षणो यस्य, स्ववेश्मनि स्थितेन या स्मृतिः, सैव सेवा, स्वभोज्यस्य निजभक्ष्यस्यैवार्पणं यत्तदेव तस्मै दानम्, एवं सुखसेव्यत्वं भक्तवात्सल्यञ्चोक्तम् । तत्फलञ्च इन्द्रादिदुर्ल्लभं स्यात्, श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तेः । एवञ्चार्पणदानयोर्भेदोऽप्यभिहितः ; यतो नृपादिभ्यः सूदाभिरिव भगवतो भृत्यैर्द्रव्याणामर्पणमेव क्रियते, न तु दानं, तस्यैव सर्व्वद्रव्यादि-स्वामित्वेन तेषां तत्र स्वत्वाभावात् । अतो भगवते यद्दीयते, तदर्पणमित्युच्यते, न तु दानमिति । अतएव पाद्याद्युपचारं कल्पयामीत्येव सत्सम्प्रदायप्रयोगः, एवञ्च 'दद्यात् पुरुषतुष्टिदम्'इत्यादौ दान-शब्दस्यार्पणमेवार्थोऽवगन्तव्यः । न च शङ्कनीयं, स्वत्वाभावे पित्रादिभ्यः कथं तद्दानं घटतामिति ? महाप्रसादतया स्वीकृतेषु तेषु स्वत्वोत्पत्तेः, श्राद्धादिविधिबलेन तत्-कल्पनाद्वा । न च वक्तव्यम्—उच्छिष्टद्रव्यदानेन श्राद्धादौ गौण्यापत्तिरिति भगवदर्पणेन द्रव्यसंस्कारविशेष-सम्पत्त्या फलविशेषजनकत्वेन परममुख्यतापत्तेः । एतच्च पूर्व्वं सूचितमेव, तत्फलञ्च लिखितम् । इत्थञ्च, 'तस्मात् सर्व्वं निवेद्यं व विष्णोर्भुञ्जीत सर्व्वदा' इत्यादौ, 'ओदनः पक्त्वा भुज्यते' इत्यादिवत् एककर्म्मत्वेन यन्निवेद्यते, तदेव भुञ्जीतेत्यर्थो नितरां सिद्धः; न ह्यन्यत् निवेद्य अन्यद्भुञ्जीतेति पृथक्कर्म्मान्तरकल्पनदोषापत्तेः, 'अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम्' इत्यादिना विरोधाच्च । अतएव तत्त्वविदः साधवः पक्वान्नादिकम-शेषमेव भगवदग्रे नीत्वा परिवेश्य निधिवदर्पयन्ति । यच्च बाहुल्येन परिवेशनाद्यशक्त्या रन्धनपात्रादौ तिष्ठेत्, तदपि शङ्खोदकतुलसीदलनिक्षेपणादिना विनिवेदिततामापादयतीति दिक् ।।३४९।।

अष्टमस्कन्धस्थ पयोव्रत प्रसङ्ग में भी लिखित है— निवेदित द्रव्यसमूह वैष्णवों को भोजन करावे अथवा स्वयं भोजन करे ।।३४७।।

गौतमीयतन्त्र में लिखित है—पवित्र उपचार समूह के द्वारा प्रत्यह श्रीहरि की पूजा करे । विधि पूर्वक श्रीकृष्ण को अन्न निवेदन कर उक्त प्रसादान्न स्वयं सेवन करे अथवा यदि वैष्णव उपस्थित हो तो उनको भक्ति पूर्वक अर्पण करे ।।३४८।।

शरत् प्रदीप में लिखित है—भक्तवृन्द के उत्सव में ही श्रीविष्णु का उत्सव है, निज गृह में रहकर श्रीविष्णु का जो स्मरण, वह ही उनकी सेवा है, एवं निज भक्ष्य द्रव्य निवेदन ही उनको दान है, इन सब आचरण का फल वैकुण्ठ लाभ है । वह इन्द्रादि देवगण के पक्ष में भी दुर्लभ है ।।३४९।।

अथ नैवेद्यभक्षणविधिः

दृष्ट्वा महाप्रसादान्नं तत् प्राङ्नत्वाभिमन्त्रयेत् । स्वेष्टनाम्ना ततो मूलमनुना वारसप्तकम् ।।३५०

धर्म्मराजादिभागञ्चापास्य श्रीचरणामृतम् ।
तुलसीञ्चात्र निक्षिप्य श्लोकान् संकीर्त्तयेदिमान् ।।३५१।।
यस्योच्छिष्टं हि वाञ्छन्ति ब्रह्माद्या ऋषयोऽमलाः ।
सिद्धाद्याश्च हरेस्तस्य वयमुच्छिष्टभोजिनः ।।३५२।।

किञ्च—

यस्य नाम्ना विनश्यन्ति महापातकराशयः । तस्य श्रीकृष्णदेवस्य वयमुच्छिष्टभोजिनः ।।३५३
उच्छिष्टभोजिनस्तस्य वयमद्भुतकर्म्मणः । यो बाल्यलीलया तांस्तान् पूजनादीनपातयत् ।।३५४

एकादशस्कन्धे (६।४६)—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्च्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ।।३५५
यतोऽमृतोपस्तरणमसीत्युक्त्वा यथाविधि । पञ्च प्राणाहुतीः कृत्वा भुञ्जीत पुरतः प्रभोः ।।३५६

प्राक् प्रथमं नत्वा अभिवन्द्य तदन्नं गायत्र्या अभिमन्त्रयेत्, ततस्तदनन्तरं मूलमन्त्रेण सप्तवारान् अभिमन्त्रयेत ।।३५०।।

आदि-शब्देन पित्रादयः, अपास्य तदन्नादपनीय, श्रीचरणामृतं भगवत्पादोदकम्; अत्र मन्त्रे ।।३५१।।

तांस्तान् अनिर्व्वाच्यबलपराक्रमादियुक्तान्, 'येन लीलावराहेण हिरण्याक्षो निपातितः' इत्येतत् पद्यार्द्ध पठन्ति, तच्च निजेष्टदेवलीलानुसारेणेति ज्ञेयम् ।।३५४।

प्रभोर्भगवतः पुरतोऽग्रे भुञ्जीत, 'योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः' इति स्कान्दोक्तेः । यच्च वाराहे 'शयनं भोजनञ्चाग्रे' इत्याद्यपराधेषूक्तं, तदपि वहिर्देवालये श्रीमूर्त्तिपूजाविषयं, न तु स्वगृहे शालग्रामशिलापूजाविषयमिति विवेचनीयम्; एतच्च पूर्व्वं लिखितमेव ।।३५६।।

अथ नैवेद्यभक्षणविधिः

प्रथम महाप्रसादान्न दृष्टिगोचर होने से ही वन्दना पूर्वक गायत्री पाठ द्वारा अन्न को अभिमन्त्रित करे। पश्चात् मूलमन्त्र द्वारा सात बार अभिमन्त्रित करे ।।३५०।।

उक्त महाप्रसादान्न से धर्मराज प्रभृति का अंश अपनयन कर उसमें तुलसी पत्र एवं भगवत् पादोदक निक्षेप पूर्व वक्ष्यमाण श्लोक समूह का पाठ करे ।।३५१।।

ब्रह्मादि अमल ऋषिवर्ग एवं सिद्धगण, जिनकी उच्छिष्ट की वाञ्छा करते हैं, हम सब उन श्रीहरि के उच्छिष्ट सेवी हैं ।।३५२।।

और भी कथित है—जिनके नाम ग्रहण से पुञ्जीकृत महापातक विनष्ट होता है, हम सब उन श्रीकृष्ण के उच्छिष्ट भोजनकारी हैं, जिन्होंने बाल्यलीला में पूतना प्रभृति को विनष्ट किया है, हम सब उन विचित्र-कर्मा श्रीकृष्ण के उच्छिष्ट भोजी हैं। ३५३-३५४।।

एकादशस्कन्ध में वर्णित है—हम सबको निज किङ्कर ही जानें। हम सब तुम्हारे उपभुक्त माल्य, चन्दन, वसन, एवं भूषणादि के द्वारा भूषित होकर एवं उच्छिष्ट सेवन कर तुम्हारी माया-मुक्त हो जायेंगे। ।।३५५।।

तत्पश्चात् यथाविधि 'अमृतोपस्तरणमसि' मन्त्र पाठ पूर्वक पञ्च प्राणोद्देश्य में आहुति प्रदान कर प्रभु के सम्मुख में अर्थात् देवमन्दिर के वाहभाग में प्रसाद सेवन करे। श्रीप्रभु के सम्मुख में नित्य प्रसाद भोजन

तत्र च विशेषः

श्रीविष्णुपुराणे और्व्वसगर-संवादे —

प्रशस्तरत्नपाणिस्तु भुञ्जीत प्रयतो गृही ॥३५७॥

पुण्यगन्धधरः शस्तमाल्यधारी नरेश्वर । नैकवस्त्रधरोऽथार्द्रपाणिपादो नराधिप ॥३५८॥

विशुद्धवदनः प्रीतो भुञ्जीत न विदिङ्मुखः । प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि न चैवान्यमुखो नरः ॥३५९

दत्त्वा तु भक्तं शिष्येभ्यः क्षुधितेभ्यस्तथा गृही । प्रशस्तं शुद्धपात्रेषु भुञ्जीताकुपितो नृप ॥३६०

नासन्दीसंस्थिते पात्रे नादेशे च नरेश्वर । नाकाले नातिसंकीर्णे दत्त्वाग्रञ्च नरोऽग्नये ।

नाशेषं पुरुषोऽश्नीयादन्यत्र जगतीपते ॥३६१॥

गृहीति- पूर्व्वं सर्व्वत्र गृहस्थकृत्यलिखनादत्रापि युक्तमेव तत, द्रव्यसमर्पणादियोग्यत्वेन पूजादिधौ तस्यैव प्राधान्यात् । भग दर्थत्यक्तपरिग्रहस्य च विरक्तस्य यथालाभं भगवन्तं पूजयतो न तादृशो विधिनिषेधावकाशः कल्प्यत इति श्रीभागवतादिशास्त्रप्रसिद्धमेव किञ्चित् प्राक् लिखितमग्रे च लेख्यमिति ॥३५७॥

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा भुञ्जीत ॥३५९॥

प्रशस्त भगवन्निवेदनात् ॥३६०॥

आसन्दी दारुमयत्रिपदी, अदशे अयोग्यस्थाने, अकाले सन्ध्यादिसमये, आकाश इति पाठे अनावृते । अग्रमग्नये दत्त्वा, परिशिष्टस्यान्नस्य किञ्चिदग्नौ क्षिप्त्वा ॥३६१॥

करने पर अनन्त फल होता है । इस प्रकार स्कन्द पुराण का विधान है । किन्तु वराहपुराण के विधानानुसार श्रीप्रभु के सम्मुख में शयन भोजन से अपराध होता है। इसका समाधान इस प्रकार है— निषेधवचन का तात्पर्य्य है—देवालय में श्रीविग्रह के सम्मुख में भोजनादि न करे । किन्तु निज गृह में श्रीशालग्राम प्रभृति सेव्य के सम्मुख में निषिद्ध नहीं है । किन्तु सदाचार यह है कि देवता के सम्मुख में भोजनशयनादि लोक का आचरण लोक नहीं करते हैं ॥३५६॥

तत्र च विशेषः

श्रीविष्णुपुराण के और्व-सगर-संवाद में लिखित है—प्रशस्त रत्नपाणि होकर पवित्र भाव से गृहस्थ को भोजन कराना चाहिये ॥३५७॥

हे मनुजेश्वर ! पवित्र गन्धलेपन एवं शुभ्र माल्य धारण पूर्वक आर्द्रहस्त एवं आर्द्रपद से पूर्वास्य अथवा उत्तरास्य होकर प्रफुल्ल वदन एवं सन्तुष्ट मन से भोजन करे । एक वस्त्र धारण कर अग्न्यादि कोणाभिमुखी होकर भोजन न करे एवं अन्यान्य दिशाओं की ओर मुख करके भोजन करना उचित नहीं है ॥३५८-३५९॥

हे नृप ! शिष्य, भक्त, एवं क्षुधार्त्तगण को अन्न प्रदान कर रोष वर्जनपूर्वक प्रशस्त शुद्ध पात्र में भोजन करना ही गृही का कर्त्तव्य है ॥३६०॥

हे राजन् ! काष्ठनिर्मित त्रिपदी के ऊपर पात्र स्थापन कर अयोग्य स्थान में अथवा अति सङ्कीर्ण स्थान एवं असमय में अर्थात् सन्ध्यादि समय में भोजन न करे । निवेदितावशिष्ट अन्न का किञ्चिदंश प्रथम अग्नि में निक्षेप करके पश्चात् भोजन करना पड़ता है । किन्तु निःशेष रूप से भोजन करना निषिद्ध है । पात्र में अवशेष कुछ रखकर ही भोजन करना विधेय है ॥३६१॥

मध्वम्बुदधिसर्पिभ्यः शक्तुभ्यश्च विवेकवान् ।
अश्नीयात् तन्मयो भूत्वा पूर्व्वन्तु मधुरं रसम् ॥३६२॥
लवणाम्ले तथा मध्ये कटुतिक्तादिकांस्ततः ।
प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नीयात् मध्ये च कठिनाशनम् ॥३६३॥
अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुञ्चति । पञ्चग्रासं महामौनं प्राणाद्याप्यायनाय तत् ॥३६४
भुक्त्वा सम्यगथाचम्य प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
यथावत् पुनराचामेत् पाणी प्रक्षाल्य मूलतः ॥३६५॥
स्वस्थः प्रशान्तचित्तश्च कृतासनपरिग्रहः । अभीष्टदेवतानाञ्च कुर्व्वीत स्मरणं नरः ॥३६६॥
अगस्तिरग्निर्बड़वानलश्च, भुक्तं मयान्नं जरयन्त्वशेषम् ।
सुखञ्च मे तत्परिणामसम्भवं, यच्छन्त्वरोगं मम चास्तु देहे ॥३६७॥
विष्णुः समस्तेन्द्रियदेहदेहि,-प्रधानभूतो भगवान् यथैकः ।
सत्येन तेनान्नमशेषमेत,-दारोग्यदं मे परिणाममेतु ॥३६८॥
इत्युच्चार्य्य स्वहस्तेन परिमृज्य तथोदरम् । अनायासप्रदायीनि कुर्य्यात् कर्म्माण्यतन्द्रितः ॥३६९

कौर्म्मे व्यासगीतायाम्—

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत सूर्य्याभिमुखमेव वा ।
आसीनः स्वासने सिद्धे भूम्यां पादौ निधाय च ॥३७०॥

तन्मयो भूत्वाऽन्ने दत्तचित्तः सन् ॥३६२॥

मधु, जल, दधि, घृत एवं शक्तु इत्यादि वस्तु उत्तम एवं अनुत्तम विवेचना पूर्वक मनोनिवेश करतः प्रथम मधुर रस भोजन करे ॥३६२॥

भोजन के मध्य भाग में लवण एवं अम्लरस सेवनीय है। तत्पश्चात् कटु तिक्तादिरस भोजन करे। पुरुष, यदि प्रथम द्रव पदार्थ, मध्ये कठिन पदार्थ एवं अवशेष में पुनर्वार द्रवपदार्थ सेवन करे तो उसका बल एवं आरोग्य बिनष्ट नहीं होता है। पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख में उपवेशन कर आचमन पूर्वक सम्यक् मौनी होकर प्राणादि के तृप्त्यर्थ सर्वाग्र में पञ्चग्रास भोजन एवं पश्चात् भोजन करके पुनर्वार विधानानुसार हस्तद्वय के मूलपर्य्यन्त प्रक्षालनपूर्वक आचमन करे। अनन्तर सुस्थ एवं प्रशान्त चित्त से आसन में उपवेशन कर अभीष्ट देवता स्मरण करना ही मनुष्य का एकमात्र कर्त्तव्य है ॥३६३-३६६॥

अगस्ति, अग्नि, बाड़वानल, यह मेरा भुक्तान्न निःशेष से जीर्ण करें, वे भोजन परिपाक हेतु सुखोत्पादन करें एवं मेरा शरीर नीरोग हो। जिस प्रकार परात्पर विष्णु, समस्त इन्द्रिय शरीरी और शरीर से श्रेष्ठ हैं, उसी सत्य से यह सब अन्न मेरे सम्बन्ध में आरोग्यजनक होकर परिणाम लाभ करें ॥३६७-३६८॥

उक्त मन्त्रद्वय उच्चारण पूर्वक निज हस्त से उदरदेश मार्जन करके अनलस भाव से परिश्रम रहितकर्म का अनुष्ठान करे ॥३६९॥

कूर्मपुराण की व्यास गीता में वर्णित है—पूर्वमुख अथवा सूर्य्याभिमुख होकर निजसिद्धासन में उपवेशन पूर्वक भूमि में पदद्वय स्थापन करके भोजन करे ॥३७०॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते उदङ्मुखः॥३७१॥

पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्य्याद्भूमौ पात्रं निधाय च। उपवासेन तत्तुल्यं मनुराह प्रजापतिः॥३७२॥

उपलिप्ते शुचौ देशे पादौ प्रक्षाल्य वै करौ।
आचम्यार्द्राननोऽक्रोधः पञ्चार्द्रो भोजनं चरेत्॥३७३॥

महाव्याहृतिभिस्त्वन्नं परिवार्योदकेन तु। अमृतोपस्तरणमसीत्यपोशानक्रियां चरेत्॥३७४॥

स्वाहाप्रणवसंयुक्तां प्राणायेत्याहुतिं ततः। अपानाय ततो हुत्वा व्यानाय तदनन्तरम्॥३७५॥

उदानाय ततः कुर्य्यात् समानायेति पञ्चमीम्। विज्ञाय तत्त्वमेतेषां जुहुयादात्मनि द्विजाः॥३७६

शेषमन्नं यथाकामं भुञ्जीत व्यञ्जनैर्युतम्। ध्यात्वा तन्मनसा देवमात्मानं वै प्रजापतिम्॥३७७

अमृतापिधानमसीत्युपरिष्टादपः पिबेत्॥३७८॥

किञ्च तत्रैव—

यद्भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यच्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते सर्व्वं विद्यात्तदासुरम्।३७९॥
नार्द्धरात्रे न मध्याह्ने नाजीर्णे नार्द्रवस्त्रधृक्।
न च भिन्नासनगतो न याने संस्थितोऽपि वा॥३८०॥

प्रत्यङ्मुखः सन् चेद्भुङ्क्ते, तदा श्रियमेव भुङ्क्ते, सर्व्वसम्पदं लभत इत्यर्थः। ऋतं सत्यं सर्व्वं वाञ्छितं प्राप्नोतीत्यर्थः। आत्मनि जुहुयात् आत्मना सहैषामैक्यं भावयेदित्यर्थः। ततः भोजनानन्तरमित्यर्थः॥३७१-३७६

पूर्वमुख होकर भोजन करने से आयुः वृद्धि होती है। दक्षिणमुख में यशः लाभ, पश्चिममुख में सम्पत्ति लाभ एवं उत्तरमुख में बैठकर भोजन करने से सर्वाभीष्ट लाभ होता है॥३७१॥

भूमि में पात्र स्थापन कर पञ्चार्द्र होकर (करद्वय, पदद्वय एवं मुख प्रक्षालन पूर्वक) भोजन करने से वह अनशन तुल्य होता है, अर्थात् उससे किसी प्रकार रोगोत्पत्ति की आशङ्का नहीं है। यह कथन प्रजापति मनु का है॥३७२॥

गोमय लिप्त पवित्र स्थान में हस्तद्वय एवं पादद्वय प्रक्षालन कर आचमन करके आर्द्रमुख होकर एवं क्रोध वर्जन पूर्वक पञ्चार्द्र रूप में भोजन करना चाहिये। महाव्याहृति, अर्थात भूर्भुवः स्वः, पाठ करके जल द्वारा अन्न को वेष्टन पूर्वक 'अमृतस्तरणमसि) मन्त्र उच्चारण के सहित आचमन करे॥३७३-३७४॥

अनन्तर स्वाहा प्रणवयुक्त प्राणाय, अर्थात् ॐ प्राणाय स्वाहा कहकर आहुति प्रदान करे। पश्चात् क्रमशः अपान, व्यान, उदान एवं समान यह पञ्च आहुति प्रदान करे। हे द्विजवृन्द! उक्त रीति से विदित तत्त्व होकर स्वयं को आहुति रूप में समर्पण करे। पश्चात् यदृच्छाक्रम से अवशेष अन्न, व्यञ्जन के सहित भोजन करना होता है। उसके बाद, तद्गत चित्त होकर, निज को प्रजापतिदेव रूप में ध्यान कर भोजनान्त में 'अमृतपिधानमसि स्वाहा' कहकर आचमन करना पड़ता है॥३७५-३७८॥

उक्त पुराण में ही वर्णित है—मस्तक वेष्टन पूर्वक अर्थात् आच्छादन पूर्वक आहार, विदिङ्मुख अर्थात् अग्न्यादिकोणाभिमुख होकर भोजन एवं चर्मपादुका धारणकर भोजन, आसुरिक भोजन होता है। अर्द्ध-रात्र एवं मध्याह्न में, अजीर्ण अवस्था में, आर्द्रवस्त्र धारणकर, भग्नासन में उपवेशन कर, यान के ऊपर

न भिन्नभाजने चैव न भूम्यां न च पाणिषु । अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥३८१॥

किञ्च—

न वामहस्तेनोद्धृत्य पिवेद्वक्त्रेण वा जलम् ॥३८२॥

विष्णुस्मृतौ—

पिवतः पतते तोयं भाजने मुखनिर्गयम् । अभोज्यं तद्भवेदन्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥३८३॥

मार्कण्डेये—

भुञ्जीतान्नञ्च तच्चित्तो ह्यन्तर्जानु सदा नरः । उपघाताहृते दोषान्नान्नस्योदीरयेद्‌बुधः ॥३८४॥

अन्यत्र च—

हस्ताहृतेऽम्बुनान्येनानश्नन् पात्राहृते पिवेत् । दक्षिणन्तु परित्यज्य वामे नीरं निधापयेत् ।
अभोज्यं तद्भवेदन्नं पानीयञ्च सुरासमम् ॥३८५॥
तृप्तो दद्याद्धि तदन्नं शेषं दुर्गततृप्तये ॥३८६॥
सम्यगाचम्य दक्षाङ्घ्रेरङ्गुष्ठे वारि निक्षिपेत् ॥३८७॥
ततः संस्मृत्य सन्तुष्टः पुष्टिदामिष्टदेवताम् । सन्निकृष्टैर्वृतः शिष्टैर्जपेदन्नपतेर्मनून् ।
अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥३८८॥ इत्यादि ।

अश्नन् भुञ्जानः सन् हस्ताहृते पाणिं विना केवलं मुखेन जलं न पिवेत्; तथा पात्रं विना करादिना न पिवेदित्यर्थः; अन्यथा अभोज्यादिकं स्यादित्यर्थः ॥३८५॥

तृप्तः समाप्तभोजनः सन् ॥३८६॥

अङ्गुष्ठे वारि निक्षिपेत्; मन्त्रः—अङ्गुष्ठेति ॥३८७-३८८॥

बैठकर, भग्न-पात्र में, मृत्तिका में एवं हस्त में रखकर भोजन निषिद्ध है । अतिभोजन आरोग्य लाभ का अन्तराय है, परमायु क्षयकर, स्वर्गलाभ का प्रतिकूल, पापजनक एवं लोकनिन्दनीय है, अतएव परित्याज्य है ॥३७९-३८१॥

और भी वर्णित है—वाम हस्त के द्वारा पात्र उठाकर अथवा मुख के द्वारा जलपान निषिद्ध है ॥३८२॥

विष्णुस्मृति में लिखित है—वाम हस्त से जलपान करते समय मुख से जल भोजन-पात्र में पड़ने से वह अन्न अभोज्य होता है । उसको भोजन करने से चान्द्रायण प्रायश्चित्त करना पड़ता है ॥३८३॥

मार्कण्डेय पुराण में लिखित है—सर्वदा जानुदेश के मध्यस्थित स्थान में रखकर तद्‌गत चित्त होकर भोजन करे । पण्डित व्यक्ति काक अथवा मार्जार की उच्छिष्ट व्यतीत अन्न का अन्य और किसी प्रकार का दोष कीर्त्तन न करें ॥३८४॥

अन्यत्र भी वर्णित है—हस्त द्वारा ग्रहण न कर केवल मुख द्वारा जल पान न करें एवं पात्र व्यतीत केवल हस्त द्वारा जल पान करना निषिद्ध है । दक्षिण दिक् को छोड़कर वामदिक् में जल रखने से वह जल मदिरा तुल्य होता है एवं अन्न अभोज्य होता है ॥३८५॥

भोजन के अन्त में भोजनावशिष्ट अन्न, दुर्गतजनों के तृप्ति विधान हेतु अर्पण करे ॥३८६॥

सम्यक् प्रकार से आचमन पूर्वक दक्षिण चरण के अङ्गुष्ठ में जल निक्षेप करे । तत्पश्चात् पुष्टिदायिनी इष्टदेवता का स्मरण कर प्रसन्न चित्त होना चाहिये । अङ्गुष्ठ में जल प्रदान का मन्त्र—"अङ्गुष्ठ मात्रः"

भक्षयेदथ ताम्बूलं प्रसादं वल्लवीप्रभोः। शिष्टैरिष्टैर्जपेद्दिव्यं भगवन्नाममङ्गलम् ॥३८९॥

अथ नैवेद्य-माहात्म्यम्

वाराहे—

यो ममैवार्च्चनं कृत्वा तत्र प्रापणमुत्तमम्। शेषमन्नं समश्नाति ततः सौख्यतरं नु किम्॥३९०॥

स्कान्दे—

तवोपहारं भुक्त्वा यः सेवते यज्ञपूरुषम्। सेवितं तेन नियतं पुरोडाशो महाधिया॥३९१॥

किञ्च तत्रैव—

शङ्खोदकं तीर्थवराद्वरिष्ठं, पादोदकं तीर्थगणाद्गरिष्ठम्।
नैवेद्यशेषं क्रतुकोटिपुण्यं, निर्म्माल्यशेषं व्रतदानतुल्यम्॥३९२॥
नैवेद्यशेषं तुलसीविमिश्रं, विशेषतः पादजलेन सिक्तम्।
योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः, प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम्॥३९३॥
षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत् फलं परिकीर्त्तितम्।
विष्णोर्नैवेद्यशेषे यत् फलं तद्भुञ्जतां कलौ॥३९४॥

वल्लवीप्रभोः भगवतः श्रीकृष्णस्य प्रसादमिति तन्निवेदितमित्यर्थः॥३८९॥
प्रापणमुपहारं, तदेवाह—शेषमन्नमिति॥३९०॥
पुरोडाशः यज्ञशेषद्रव्यम्॥३९१॥
विष्णोर्नैवेद्यशेषं पादजलेन विमिश्रितं सहेति वा। क्वचिद्विष्णोरित्यत्र सिक्तमिति वा पाठः॥३९२॥
भुञ्जतां विष्णुनैवेद्यशेषेणापि तत् फलम्॥३९४॥

इत्यादि है। उसका अर्थ यह है—'जो अङ्गुष्ठ अङ्गुली परिमित पुरुष, अङ्गुष्ठ को आश्रय करके हैं, और जो सब विश्व के ईश्वर हैं, वह विश्वभोजी प्रभु तृप्त हों'। अनन्तर सन्निकटवर्त्ती शिष्टजनों से वेष्टित होकर 'अन्नपते अन्नस्य नो देहि' इत्यादि अन्नपति मन्त्र जप करना चाहिये॥३८७-३८८॥

अनन्तर श्रीकृष्णप्रसादित ताम्बूल भोजन पूर्वक अभिमत शिष्टजन के सहित आविष्ट होकर श्रीप्रभु के अत्युत्तम मङ्गलमय नाम का जप करे॥३८९॥

अथ नैवेद्य-माहात्म्यम्

वराह पुराण में वर्णित है—मेरी पूजा समापन करके मुझको उत्तम अन्न प्रदान करे, एवं अवशेष अन्न भोजन करने से उससे अधिक सुख और क्या हो सकता है?॥३९०॥

स्कन्दपुराण में लिखित है—त्वदीय उपहार भोजन करके जो व्यक्ति, यज्ञपुरुष की सेवा करते हैं, उन महामति मानव कर्त्तृक सतत यज्ञ शेष द्रव्य सेवन, निष्पन्न होता है॥३९१॥

उक्त पुराण में और भी लिखा है—शङ्खोदक उत्कृष्ट तीर्थोदक से प्रधान है, नैवेद्य शेष, कोटि यज्ञ का पुण्य स्वरूप है, एवं निर्म्माल्य शेष, व्रत एवं दान के समान है॥३९२॥

श्रीविष्णु का नैवेद्य शेष, तुलसी समन्वित, विशेषतः चरणामृत से अभिषिक्त करके जो व्यक्ति, नित्य मुरारि के सम्मुख में भोजन करते हैं, वे अयुत कोटि संख्यक यज्ञ का पुण्य प्राप्त करते हैं॥३९३॥

कलिकाल में श्रीविष्णु नैवेद्यशेष भोजन करने से षण्मास अनशन जनित फल लाभ होता है॥३९४॥

किञ्च, तत्र श्रीशालग्रामशिला-माहात्म्ये—

भक्त्या भुनक्ति नैवेद्यं शालग्रामशिलार्पितम्। कोटिं मखस्य लभते फलं शतसहस्रशः ।।३९५।।

ब्रह्मचारि-गृहस्थैश्च वानप्रस्थैश्च भिक्षुभिः। भोक्तव्यं विष्णुनैवेद्यं नात्र कार्य्या विचारणा ।।३९६

भुक्त्वान्यदेवनैवेद्यं द्विजश्चान्द्रायणञ्चरेत्। भुक्त्वा केशवनैवेद्यं यज्ञकोटिफलं लभेत् ।।३९७।।

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-संवादे—

अग्निष्टोमसहस्रैस्तु वाजपेयशतैरपि। तत् फलं प्राप्यते नूनं विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात् ।।३९८।।

हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमुदरे हरेः। पादोदकञ्च निर्म्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः ।।३९९

किञ्च—

पावनं विष्णुनैवेद्यं सुरसिद्धर्षिभिः स्मृतम्। अन्यदेवस्य नैवेद्यं भुक्त्वाचान्द्रायणञ्चरेत् ।।४००

कोटियज्ञैस्तु यत् पुण्यं मासोपोषणकोटिभिः।
तत् फलं प्राप्यते पुम्भिर्विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात् ।।४०१।।

तुलस्याश्च रजोजुष्टं नैवेद्यस्य च भक्षणम्। निर्म्माल्यञ्च धृतं येन महापातकनाशनम् ।।४०२

बृहद्विष्णुपुराणे—

नैवेद्यं जगदीशस्य अन्नपानादिकञ्च यत्। भक्ष्याभक्ष्यविचारश्च नास्ति तद्भक्षणे द्विजाः ।।४०३

ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत् ।।४०४।।

भुनक्ति भुङ्क्ते, मखस्य कोटिं लभते, स यज्ञकोटिं कृतवानित्यर्थः। तस्य च किं फलमित्यपेक्षायामाह—फलमिति। शतसहस्रशो या यज्ञकोटिस्तद्रूपं फलं लभते ।।३९५।।

अच्युतः अच्युततुल्य इत्यर्थः, सारूप्यादिप्राप्त्या; यद्वा, भक्तिमार्गान्निजेष्टाद्वा च्युतो न भवतीत्यर्थः ।।३९९

उक्त पुराण में श्रीशालग्रामशिला माहात्म्य में लिखित है— शालग्रामशिलार्पित नैवेद्यशेष भोजन करने से शतसहस्र कोटि यज्ञ का फल लाभ होता है ।।३९५।।

ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थ एवं भिक्षुक, चतुराश्रमस्थ समस्त व्यक्ति ही श्रीविष्णु नैवेद्यशेष भोजन करें। इस विषय में किसी प्रकार विचार उपस्थित करना अनुचित है। द्विज, अन्य देव के नैवेद्यशेष भोजन करने पर चान्द्रायण प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। किन्तु श्रीविष्णु-नैवेद्यशेष भोजन करने से कोटियज्ञ का फल प्राप्त करेंगे ।।३९६-३९७।।

उक्त पुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—सहस्र अग्निष्टोम एवं शत अश्वमेध यज्ञ अनुष्ठान से जो फल लाभ होता है, श्रीविष्णु-नैवेद्यशेष भोजन करने पर वह फल लाभ अवश्य होगा। जिनके हृदय में श्रीहरि का रूप, मुख में हरिनाम, उदर में श्रीहरि-नैवेद्य एवं मस्तक में श्रीहरि चरणामृत एवं निर्म्माल्य विद्यमान है, वे सब अच्युत के सदृश होते हैं ।।३९८-३९९।।

और भी वर्णित है—देवगण, सिद्धगण एवं ऋषिगण श्रीविष्णु नैवेद्य को पवित्र कहते हैं, एवं कहते हैं कि-देवतान्तर का नैवेद्य भोजन करने से चान्द्रायण व्रत करना होगा। कोटि यज्ञानुष्ठान से जो फल लाभ होता है, कोटिमासोपवास व्रत से जो पुण्य होता है, मानव श्रीविष्णु नैवेद्य सेवन से ही उक्त फल प्राप्त होते हैं। जो मानव, तुलसी धूलियुक्त नैवेद्य भक्षण एवं निर्म्माल्य धारण करते हैं उनका महापातक विनष्ट होता है ।।४००-४०२।।

बृहद्विष्णु पुराण में लिखित है—हे द्विजगण! विष्णु-नैवेद्य एवं अन्न पानादि जो वस्तु क्यों न हो-उसके

विकारं ये प्रकुर्व्वन्ति भक्षणे तद्द्विजातयः । कुष्ठव्याधिसमायुक्ताः पुत्रदारविवर्जिताः ।
निरयं यान्ति ते विप्रा यस्मान्नावर्त्तते पुनः ॥४०५॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

नवमन्नं फलं पुष्पं निवेद्य मधुसूदने । पश्चाद्भुङ्क्ते स्वयं यश्च तस्य तुष्यति केशवः ॥४०६॥

ब्रह्माण्डपुराणे—

मुकुन्दाशनशेषन्तु यो हि भुङ्क्ते दिने दिने ।
सिक्थे सिक्थे भवेत् पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम् ॥४०७॥

अन्यत्रापि—

एकादशीसहस्रैस्तु मासोपोषणकोटिभिः । तत्फलं प्राप्यते पुंभिर्विष्णोर्नैवेद्यभक्षणात् ॥४०८॥
इति ।

ततो यथोक्तमाचम्य ताम्बूलादि विभज्य च । महाप्रसादं दास्येन गृह्णीयात् प्रयतः स्वयम् ॥४०९

एकादशीसहस्रैरित्यनेन तद्व्रतगणादपि भगवन्नैवेद्यभक्षणस्य माहात्म्यमधिकमुक्तम् । यच्चाग्रे भागवतलक्षणे लेख्यं स्कान्दवचनम्— 'प्राणात्यये न चाश्नन्ति दिनं प्राप्यहरेर्नराः' इति, तच्च भगवन्महाप्रसादव्यतिरिक्त-परमिति ज्ञेयम् । न च वक्तव्यम्— वैष्णवानामनिवेदितभक्षणं सदा निषिद्धमेवेति, यतस्तद्वचनं न वैष्णव-विषयम्; किन्तु प्राणात्ययेऽपि सति ये नाश्नन्ति, ते भागवता इति सामान्योक्तेः । यद्वा, भगवद्भक्तिरेव तद्व्रतमितिबुद्ध्या भगवत्प्रीत्यपेक्षया तत्र महाप्रसादान्नभक्षणेनापि न दोषः कोऽपि प्रसज्येतेति केषाञ्चित् सतां मतम् । ततश्चैतद्वचनं नैवेद्यमाहात्म्यपरमेव, न तु तद्व्रतनिषेधकमिति मन्तव्यम्; यद्वा, निजविश्वास-विशेषेण भगवदधरामृत-महाप्रसादबुद्ध्या तदन्नाद्युपभोगो भक्तिरूपादप्येकादशीव्रतादेकान्तिनां परमफलत्वेनो-पादेय इति युक्त मेवोक्तम्— 'एकादशीसहस्रैः' इति ॥४०८॥

महाप्रसादरूपं ताम्बूलादि. आदि-शब्देन स्रक्चन्दनादि, आचम्य प्रयतः सन् दास्येन निमित्तेन गृह्णीयात् उपयुञ्ज्यात् ॥४०९॥

भोजन करने में भक्ष्याभक्ष्य विचार करना नहीं चाहिये । हे द्विजगण ! श्रीविष्णु नैवेद्य श्रीविष्णु तुल्य ही निर्विकार है । वह श्रीविष्णु का ही अनुरूप है । जो द्विजातिवृन्द उसके भक्षण विषय में विचार करते हैं, वे कुष्ठव्याधि संयुक्त एवं पुत्रदार विवर्जित होकर नरक गमन करते हैं । एवं वहाँ से पुनरावर्त्तन नहीं होता है ॥४०३-४०५॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—जो मानव, नूतन अन्न, फल, पुष्प श्रीमधुसूदन को निवेदन करते हैं, पश्चात् भोजन स्वयं करते हैं, उनके प्रति श्रीकेशव सन्तुष्ट होते हैं ॥४०६॥

ब्रह्माण्डपुराण में लिखित है—प्रत्यह जो व्यक्ति, श्रीहरि के नैवेद्यशेष भोजन करते हैं वे प्रति ग्रास में शतचान्द्रायण व्रत से भी अधिक फल प्राप्त करते हैं ॥४०७॥

अन्यत्र भी वर्णित है—श्रीविष्णु नैवेद्य भोजन करते ही सहस्र एकादशी व्रत एवं कोटि मासोपवास व्रत का फल लाभ होता है ॥४०८॥

अनन्तर यथाविधि आचमन करके प्रसादि ताम्बूल, माल्य, चन्दन महाप्रसादादि भक्तवृन्द को वितरण करके स्वयं महाप्रसाद भोजन करे एवं पवित्र चित्त से दास्य के उपयोगी रूप में स्वयं को चिन्ता करे ॥४०९

तथा च नवमस्कन्धे श्रीमदम्बरीषचरिते (४।२०)—

कामन्तु दास्ये न तु कामकाम्यया, यथोत्तमःश्लोकजनाश्रया रतिः ।।४१०।।

नैवेद्यभक्षणे यच्च निर्म्माल्यग्रहणे च यत् । माहात्म्यमादौ लिखितं ज्ञेयं सर्व्वमिहापि तत् ।।४११

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे महाप्रसादो नाम नवमो विलासः ।

कामं स्रक्चन्दनादिभोगं चकारेति पूर्व्वश्लोकस्थेनान्वयः । दास्ये निमित्ते, न तु भोगेच्छया, तत्राप्युत्तमःश्लोकजना वैष्णवाः, तद्विषया रतिः प्रीतिर्यथा स्यात्तथा चकारेति भगवद्भक्तिविषयकभक्ते परमोपादेयत्वमग्रे लेख्यं सूचितम् ।।४१०।।

इति नवमो विलासः ।

श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध के श्रीअम्बरीष चरित में वर्णित है—वह स्रक् च दनादि विषय भोग को भगवज्जनाश्रया रति लाभ के निमित्त भगवद्दास्य में तत्पर होकर ही करते थे। किन्तु वह विषय भोग वासना से प्रेरित होकर नहीं करते थे। केवलमात्र श्रीभगवत्प्रसाद स्वीकार करने के निमित्त ही करते थे।

यहाँ पर भी पूर्वलिखित नैवेद्य भक्षणज एवं निर्म्माल्य ग्रहणज माहात्म्य का अनुसन्धान करना विधेय **है ।।४१०-४११।।**

इति श्रीगोपालभट्ट विलिखिते भगवद्भक्तिविलासे महाप्रसादो नाम नवमोविलासः ।

———

दशम-विलासः

श्रीकृष्णचरणाम्भोजमधुपेभ्यो नमो नमः। कथञ्चिदाश्रयाद्येषां श्वापि तद्गन्धभाग्भवेत् ॥१॥
अथ श्रीकृष्णभक्तानां सभां सविनयं शुभाम्। गच्छेद्वैष्णवचिह्नाढ्यः पातुं कृष्णकथासुधाम् ॥२॥

तथा च स्मृतिः—

इतिहासपुराणाभ्यां षष्ठसप्तमकौ नयेत् ॥३॥

श्रीचैतन्यपदाम्भोज-रसिकेभ्यो नमो नमः। बहुधा यततेऽज्ञोऽयं येषां प्रीतिचिकीर्षया ॥

अथ श्रीभगवन्महाप्रसादसेवनानन्तरं सत्सङ्गसेवां लिखन्, तत्सुसिद्धये सतः प्रणमति—श्रीकृष्णेति, श्रीकृष्णस्य चरणाम्भोजयोर्मधु भक्तिरसं पिबन्तीति तथा तेभ्यः श्रीभगवद्भक्तेभ्य इत्यर्थः। नमो नम इति वीप्सा भक्तिविशेषेण। अपीत्यस्य पूर्व्वत्रापि सम्बन्धः। येषां श्रीकृष्णचरणाम्भोजमधुपानां केनचिदपि प्रकारेण य आश्रयः शरणागतिः, तस्मादपि श्वा तत्तुल्यः परमनीचजनोऽपीत्यर्थः, तस्य तस्य श्रीकृष्णचरणाम्भोज-मधुनः, तेषां वा श्रीकृष्णचरणाम्भोजमधुपानां गन्धं भजति प्राप्नोतीति तादृशो भवेत्। श्वापीत्यनेन च यथा कमलमधुपानमत्तस्य भ्रमतो भ्रमरस्य कथञ्चित् सम्बन्धात् तन्मुखनिर्गलन्मधुगन्धेन कुक्कुरोऽप्यामोदितो भवेदित्यत्र दृष्टान्त ऊह्यः। अतस्तल्लक्षणादिलिखनरूप-सज्जनाश्रयात् सत्सङ्गाख्यभक्ति-विलासस्य लिखनमयोग्यादपि मत्तः सुखं सम्यक् घटेतेति भावः ॥१॥

अथ महाप्रसादादिग्रहणानन्तरं, शुभां निर्द्दोषां सर्व्वसद्गुणाढ्यां चेत्यर्थः। सविनयं यथा स्यात्तथा गच्छेत्; किमर्थम्? कृष्णस्य कथैव सुधा, तां पातुम्। यद्यपि 'न रोधयति मां योगः' (श्रीभा ११।१२।१) इत्यादिना-ऽग्रतो लेख्येन वचनजातेन सतां सङ्गतिमात्रस्यापि परमोपादेयत्वमुक्तं, तथापि भगवत्कथामृतरसपानमेव परमोपादेयमिति, किंवा 'तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र,-पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति'(श्रीभा ४।२९।४१ इत्यादिन्यायेन सत्सङ्गतो भगवत्कथासुधापानं स्वत एव सम्पद्यत इति तत्स्वभावानुभावमात्रमत्र लिखितमिति दिक्। कथम्भूतः? वैष्णवानां चिह्नैः हरिमन्दिर-तिलक-मालामुद्रादिभिराढ्यः युक्तः सन्; अन्यथा वैष्णवाज्ञानेन प्रत्युत्थानाद्यकरणात्, सभासदां तेषामपराधापत्त्या तस्याप्यपराधापत्तेः ॥२॥

भगवत्पूजानन्तरं मध्याह्ने सत्सङ्ग इति केषाञ्चिन्मतं निरस्यन् भोजनानन्तरमेव सत्सङ्ग इति स्वमतं द्रढ़यन् स्मृतिवचनं प्रमाणयति—इतिहासेति, इतिहासो भारतादिः, षष्ठसप्तमौ अष्टधा-विभक्तादिनभागौ नयेत्, पञ्चमभागे गृहस्थस्य भोजनविधानात् ॥३॥

किसी प्रकार भी जिनका आश्रय ग्रहण करने से कुक्कुरतुल्य अति हीनजन भी श्रीकृष्णपाद की गन्ध का सेवनाधिकारी होता है, श्रीकृष्ण के श्रीचरण-कमलों के भ्रमर तुल्य उन समस्त भक्तवृन्द को मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ ॥१॥

महाप्रसाद प्रभृति ग्रहणपूर्वक, श्रीहरिमन्दिर तिलक, माल्य एवं श्रीहरिनामाक्षरादि वैष्णव चिह्न से विभूषित होकर श्रीहरि कथा सुधा पान करने के निमित्त विनीत भाव से श्रीकृष्ण भक्तवृन्द की शुभ सभा में गमन करे ॥२॥

उक्त विषय में स्मृति विधान यह है, महाभारतादि इतिहास एवं पुराण द्वारा अष्ट अंश से अंशीभूत दिवस का षष्ठ एवं सप्तम भाग अतिवाहित करे ॥३॥

अथ श्रीभगवद्भक्तानां लक्षणानि

सामान्यतः लैङ्गे—

विष्णुरेव हि यस्यैष देवता वैष्णवः स्मृतः ।।४।।

अत्र विशेषः

व्रत-कर्म्म-गुण-ज्ञान-भोग-जन्मादिमत्स्वपि । शैवेष्वपि च कृष्णस्य भक्ताः सन्ति तथा तथा ।।५

अत्र व्रतिषु मध्ये भगवद्भक्तिहेतु-व्रतपरता भगवद्भक्तलक्षणम्

तथा स्कान्दे श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवादे—

दशमीशेषसंयुक्तं दिनं वैष्णववल्लभम् । नोपासते महीपाल ते वै भागवता नराः ।।६।।

प्राणात्यये न चाश्नन्ति दिनं प्राप्य हरेर्नराः । कुर्व्वन्ति जागरं रात्रौ सदा भागवता हि ते ।।७।।

उपोष्य द्वादशीं शुद्धां रात्रौ जागरणान्विताम् । अल्पां तु साधयेद्यस्तु स वै भागवतो नरः ।।८।।

विष्णुभक्तमेव लक्षयति—विष्णुरेवेति । देवता इष्टदेवत्वेन पूज्य इत्यर्थः, एष वैष्णवः विष्णुभक्तः स्मृतः ।।४

एवं विष्णुदेवताकत्वमात्रेण सामान्यतो भगवद्भक्तानां लक्षणं लिखित्वा, इदानीं व्रतादिविशेषेण विशेषतो लक्षणानि लिखति—व्रतेति । व्रतमुपवासादि, कर्म्म सदाचारः, गुणः करुणादिः, ज्ञानमात्मानात्मविवेकादि, भोगः विषयसेवा, जन्म सत्कुलोत्पत्त्यादि, आदि-शब्दात् विद्यावित्तादिः, तत्तद्युक्तेषु । यद्यपि सतादीनाम-हेतुत्वात् तेषु विष्णुभक्ता न सम्भवन्ति, तथापि तेषु जनेषु मध्ये तथा शैवेष्वपि मध्ये; चकार उक्तसमुच्चये तथा तथा तेन व्रतादिविशेषेणैव प्रकारेण कृष्णस्य भक्ताः सन्ति वर्त्तन्ते । व्रतादिनिष्ठतत्तदसाम्प्रदायिकमध्ये भगवद्भक्तिहेतुर्भगवद्व्रतादिपरतया तत्तद्विशेषतो भगवद्भक्ता ज्ञेया इत्यर्थः ।।५।।

तदेव क्रमेण विविच्य लिखति—तत्रेत्यादिना हरेः प्रिय इत्यन्तेन । भगवद्व्रतानि एकादश्युपवासादीनि, तत्परता भगवद्भक्तानां लक्षणम् । तत्र हेतुः—भगवद्भक्तेर्हेतुरिति एकादशीव्रतादिभिरेव श्रवणादिमुख्यभक्ति-प्रवृत्तेः । यद्वा, भक्तिर्हेतुर्यस्यां सा, भगवद्भक्तिं विना भगवद्व्रतेष्वप्रवृत्तेरिति दिक् । एवमग्रेऽप्यूह्यम्; वैष्णव-वल्लभं दिनमेकादशी ।।६।। प्राणात्यये मरणसङ्कटेऽपि प्राप्ते सति ।।७।।

अथ श्रीभगवद्भक्तानां लक्षणानि

सामान्यतः लिङ्गपुराण में उक्त है—श्रीविष्णु ही जिनके अभीष्ट देवता हैं वे 'वैष्णव' शब्द से अभिहित होते हैं ।।४।।

अत्र विशेषः

उपवासादि व्रत, सदाचारादि कर्म, करुणादि गुण, आत्मानात्म विवेकादि ज्ञान, विषय भोग, सद्वंश में जन्म एवं विद्यावित्तादि युक्त व्यक्तिवृन्द में तथा शैवगण के मध्य में भी उक्त विशेष प्रकार व्रतादि के द्वारा ही श्रीकृष्ण के भक्तवृन्द विद्यमान हैं ।।५।।

अत्र व्रतिषु मध्ये भगवद्भक्तिहेतु-व्रतपरता भगवद्भक्तलक्षणम्

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में वर्णित है—हे राजन् ! जो मनुष्य, दशमीशेष संलग्न विष्णुवल्लभ दिवस अर्थात् एकादशी में उपवास नहीं करते हैं, निश्चय ही उन सबको भागवत जानना होगा ।।६।।

मरणरूप सङ्कटकाल उपस्थित होने से भी जो सब मनुष्य, हरिवासर में भोजन नहीं करते हैं, एवं हरिवासर की रात्रि में जागरण करते हैं, सर्वदा उन सबको भागवत जानना होगा ।।७।।

उपवास रहकर रात्रि में जागरण पूर्वक शुद्धाद्वादशी का साधन स्वल्प परिमाण में जो मनुष्य करते हैं, वे सब मानव भागवत हैं ।।८।।

भक्तिर्न विच्युता येषां न च्युतानि व्रतानि च । सुप्रियः श्रीपतिर्येषां ते स्युर्भागवता नराः ॥९॥

कर्म्मिषु भगवदर्पणादिना तदाज्ञाबुद्धया वा भक्तिहेतुः सदाचारपरता

धर्म्मार्थं जीवितं येषां सन्तानार्थञ्च मैथुनम् । पचनं विप्रसुखार्थं ज्ञेयास्ते वैष्णवा नराः ॥१०॥

अध्वगन्तु पथि श्रान्तं कालेऽत्र गृहमागतम् । योऽतिथिं पूजयेद्भक्त्या वैष्णवः स न संशयः ॥११

सदाचाररताः शिष्टाः सर्व्वभूतानुकम्पकाः । शुचयस्त्यक्तरागा ये सदा भागवता हि ते ॥१२॥

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये श्रीनारदाम्बरीष-संवादे—

जीवितं यस्य धर्म्मार्थे धर्म्मो हर्य्यर्थमेव च । अहोरात्राणि पुण्यार्थे तं मन्ये वैष्णवं जनम् ॥१३॥

भगवद्भक्तिर्न विच्युतेत्येतल्लक्षणं निर्द्दिशति—व्रतानि एकादशी-कार्त्तिकादिनियमाः, न च्युतानि नापयातानि, येषां व्रतानां सम्बन्धेन श्रीपतिः सुप्रियः स्यात् ॥९॥

भगवति अर्पणं कर्म्मणस्तत्फलस्य वा निवेदनम्, आदि-शब्दाच्च भगवतान्तर्यामिणा प्रेरितोऽहं करोमीति दासभावविशेषस्तेन । नन्वेवमपि कर्म्मणोऽत्यन्तवहिरङ्गत्वेन तथान्तर्यामिदृष्ट्या समर्पणाज्ज्ञानविशेषस्पर्शेन च साक्षाद्भक्तिहेतुत्वाभावात् तत्परत्वेन भगवद्भक्तलक्षणं न घटत इत्याशङ्क्य पक्षान्तरं लिखति—तस्य भागवतः आज्ञा, 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' इति वचनादरेण तत्तद्विहितकर्म्माचरणं, भगवदाज्ञाप्रतिपालनमेवेति सिध्यति । एवं भगवदर्पणादिना कृतः सदाचारः सत्कर्म्म भगवद्भक्तिहेतुर्भवति, अतस्तत्परता कर्म्मिषु मध्ये भगवद्भक्तलक्षणमित्यर्थः । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।

धर्म्मार्थमित्यादौ यद्यपि साक्षाद्भगवदर्पणादिकं न श्रूयते, तथापि ते वैष्णवाः ज्ञेया इत्याद्युक्त्या तत्र तत्र भगवदर्पणादिकमूह्यमेव, अन्यथा केवलतत्तत्कर्म्मनिष्ठया भगवत्सम्बन्धमात्राभावाद्वैष्णवत्वानुपपत्तेः । अथवा धर्म्मार्थमेव जीवितं, न तु विषयभोगार्थं, सन्तानार्थमेव मैथुनं, न तु सुखार्थं, पचनं अन्नादिपाकक्रिया विप्र-सुखार्थमेव, न तु स्वार्थम् । ते वैष्णवा वैष्णवत्वव्यतिरेकेण तादृशशुद्धचित्तत्वाभावतस्तथा प्रवृत्त्यसम्भवादिति दिक् ॥१०॥ भक्त्या भगवत्प्रीत्या ॥११॥

शिष्टाः शास्त्रपराः, त्यक्तो रागः कर्म्मफलादौ यैस्ते, एवञ्च भगवदर्पणमायातमेव ॥१२॥

एवं यस्य पुण्यार्थेऽहोरात्राणि भवन्ति तम् ॥१३॥

जो व्यक्ति भक्ति से विच्युत नहीं हैं, जो मनुष्य एकादशी व्रत एवं कार्त्तिकादि व्रत्त का नियम भङ्ग नहीं करते हैं, एवं श्रीपति, जिनके प्रणय पात्र हैं, वे सब मनुष्य ही भागवत हैं ॥९॥

कर्म्मिषु भगवदर्पणादिना तदाज्ञाबुद्धया वा भक्तिहेतुः सदाचारपरता

जो काम्यकर्म परायण हैं, एवं कर्मफल भगवान् को अर्पण करते हैं, एवं श्रुति-स्मृति श्रीभगवान् की आज्ञा हैं । 'मैं उसी आज्ञा को पालन करता हूँ' इस प्रकार बुद्धि से भक्तचङ्ग पालन करते हैं, उसे सदाचार कहते हैं । धर्माचरण के निमित्त ही जिनका जीवन है, मैथुन क्रिया भी केवल सन्तानोत्पादन हेतु है, अन्नादि पाक किया, विप्रश्रेष्ठ के निमित्त है, उन सब मनुष्य को वैष्णव समझना होगा ॥१०॥

पथश्रान्त पथिक उपस्थित समय में गृह में उपस्थित होने पर जो व्यक्ति, अतिथिबुद्धि से प्रीतिपूर्वक उनकी पूजा करते हैं, वे वैष्णव हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥११॥

जो मनुष्य सदाचार सम्पन्न हैं, शास्त्रानुरक्त हैं, सर्व प्राणी के प्रति दयालु हैं, पवित्र एवं कर्मफल परित्यागी हैं, वे सब ही भागवत हैं ॥१२॥

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्यस्थ श्रीनारद-अम्बरीष-संवाद में उक्त है—जिनका जीवन धर्म के निमित्त है, धर्म भी श्रीहरि के निमित्त ही है एवं अहोरात्र पुण्यकर्म निमित्त अतिवाहित होता है, उनको वैष्णव जानना होगा ॥१३॥

लैङ्गे च—

विष्णुभक्तिसमायुक्तान् श्रौतस्मार्त्तप्रवर्त्तकान् । प्रीतो भवति यो दृष्ट्वा वैष्णवोऽसौ प्रकीर्त्तितः । १४

गुणवत्सु भक्तिहेतुः कृपालुत्वादि-सद्गुणशीलता

स्कान्दे तत्रैव—

परदुःखेनात्मदुःखं मन्यन्ते ये नृपोत्तम । भगवद्धर्म्मनिरतास्ते नरा वैष्णवा नृप ॥१५॥

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलदेवहूति-संवादे (२६।२१)—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्व्वदेहिनाम् । अजातशत्रवः शान्ता साधवः साधुभूषणाः ॥१६

पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवस्य पुत्रानुशासने (५।२)—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते,-स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥१७॥

श्रौतानां स्मार्त्तानाञ्च कर्म्मणां प्रवर्त्तकान् ॥१४॥

अतस्त एव नरा भगवद्धर्म्मनिरता वैष्णवाः; यद्वा, वैष्णवा इत्यत्र हेतुः—भगवतो धर्म्मः स्वभावः परदुःखासहिष्णुतादिस्तत्र नितरां रता इति ॥१५॥

ये तितिक्षवः क्षमाशीलाः, सुहृदः निरुपाध्युपकारिणः शान्ताः क्रोधादिरहिता विनयादिमन्तो वा, साधु सुशीलमेव भूषणं येषां ते; तुलसीमालादिसद्द्रव्यं वा. ते साधवः भगवद्भक्ता इत्यर्थः । 'अहं भक्तपराधीनः' (श्रीभा ९।४।६३) इत्युपक्रम्य साधवो हृदयं मह्यम्' (श्रीभा ९।४।६८) इत्याद्युपसंहारे वदता श्रीभगवता साधव एव भक्ता इत्यभिव्यञ्जनात् । एवं महच्छब्देनापि मुख्यतया भगवद्भक्त एवाभिधीयते. श्रीप्रह्लादोक्तौ-'हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः' (श्रीभा ५।१८।१२) इत्यादिवचनार्थविचारात । तथा सच्छब्देनापि भगवद्भक्त एव—यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्म्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः' (श्रीभा ४।२२।३९) इत्यादि-वचनार्थानुसारादित्येषा दिक् ॥१६॥

विमुक्तेः विशिष्टाया मुक्तेः श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तिलक्षणायाः तमसः संसारस्य नरकस्य वा द्वारम्, साधवः शास्त्रानुवर्त्तिनः ॥१७॥

लिङ्गपुराण में लिखित है—श्रुति विहित एवं स्मृति विहित कर्मप्रवर्त्तक विष्णुभक्ति विशिष्ट व्यक्तिगण को दर्शन करके जो व्यक्ति तुष्ट होते हैं, वे सब वैष्णव होते हैं ॥१४॥

गुणवत्सु भक्तिहेतुः कृपालुत्वादि-सद्गुणशीलता

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में लिखित है— हे नृपश्रेष्ठ ! जो मानव परदुःख को आत्म-दुःख मानते हैं, इस प्रकार भगवद्धर्म्मानुरक्त मनुष्यवृन्द को वैष्णव जानना चाहिये ॥१५॥

तृतीय स्कन्ध में श्रीकपिल-देवहूति-संवाद में लिखा है—तितिक्षु, कारुणिक, समस्त जीवों के सुहृद् एवं अजातशत्रु हैं. वे सब ही साधु हैं, सुशीलता ही जिनका भूषण है, वे सब ही साधु हैं ॥१६॥

पञ्चम स्कन्ध के ऋषभदेव के पुत्रानुशासन में वर्णित है—हे वत्सगण ! पण्डितगण, महत् सेवा को 'भगवद्भक्त की सेवा को' मुक्तिद्वार एवं योषित्सङ्गी का सङ्ग को संसार अथवा क्लेशबहुल नरक का द्वार कहते हैं । हे पुत्रगण ! जो सब मानव, सब जीवों में समदर्शी, प्रशान्त, क्रोधहीन, सर्वजीव सुहृद् एवं सदाचार निष्ठ हैं, वे सब ही महत् हैं ॥१७॥

एकादशस्कन्धे भगवत्-प्रदत्तोद्धव-प्रश्नोत्तरे (११।२६-३१)—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्व्वदेहिनाम् । सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्व्वोपकारकः ॥१८॥

कामाक्षुभितधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।

अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥१९॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः । अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥२०

विष्णुपुराणे यम-तद्भट-संवादे—

न चलति निजवर्णधर्म्मतो यः, सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।

न हरति न चलति किञ्चिदुच्चैः, स्थिरमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥२१॥

ज्ञानिषु भक्तिहेतुर्ज्ञानवत्ता

एकादशे (२।४५-५२) हवियोगेश्वरोत्तरे—

सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥२२॥

श्रीभगवता प्रकर्षेण दत्ते उद्धवकृतप्रश्नस्य 'साधुस्तवोत्तमःश्लोकमतः कीदृग्विधः प्रभो', इत्यस्य उत्तरे प्रतिवचने । कृपालुः परदुःखासहिष्णुः, सर्व्वेदेहिनां केषाञ्चिदप्यकृतद्रोहः; यद्वा, सर्व्वदेहिनामुत्तम-मध्यम-नीचानां तितिक्षुः अपराधसहिष्णुः, सत्यं सारः स्थिरं बलं यस्य सः, अनवद्यात्मा असूयादिरहितः, सुखदुःखयोः समः, यथाशक्ति सर्व्वेषामुपकारकः, कामैरक्षुभितचित्तः, दान्तः संयतवाह्येन्द्रियः, मृदुः अकठिनचित्तः, शुचिः सदाचारः, अकिञ्चनः अपरिग्रहः, अनीहः दृष्टक्रियाशून्यः, मितभुक् लघ्वाहारः, शान्तः नियतान्तःकरणः, स्थिरः स्वधर्म्मनियमादौ, मच्छरणः मदेकाश्रयः, मुनिर्मननशीलः वृथावार्त्तात्यागी वा, अप्रमत्तः सावधानः, गभीरात्मा निर्व्विकारः, धृतिमान् विपद्यपि अकृपणः, जितषड्गुणः क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू षडूर्मयः एते जिता येन सः, अमानी मानाकाङ्क्षारहितः, अन्येभ्यो मानदः, कल्यः परबोधने दक्षः, मैत्रः अवञ्चकः, कारुणिकः करुणयैव सर्व्वत्र प्रवर्त्तमानः, न तु दृष्टलोभेन, कविः सम्यग्ज्ञानी भगवद्वर्णनशीलो वा; यद्यप्येते परदुःखासहिष्णुतादयो गुणाः कतिचिदन्येष्वपि सम्भवेयुः, तथापि 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्व्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (श्रीभा ५।१८।१२) इत्यादि-न्यायेन सर्व्वेषामेषां गुणानां भगवद्भक्तिष्वेव सम्यग्-वृत्तेः । किंवा भगवद्भक्तानां शुद्धसात्त्विकतया तेष्वेव निष्ठाव्याप्त्या तैर्गुणैर्भगवद्भक्तत्वं बोध्यत इति दिक् । एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥१८-२०॥

श्रीहवियोगेश्वरस्य उत्तरे, 'अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्म्मो यादृशो नृणाम् । यथा चरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्-

---

एकादश स्कन्ध में उद्धव के प्रश्नोत्तर में भगवद्दत्तोत्तर में वर्णित है—परदुःख कातर, सर्वदेही के प्रति अकृतद्रोह, अपराध सहिष्णु, सत्यसार, असूयादिशून्य, सुख-दुःख में सम, सर्वोपकारक, कामनासमूह में अक्षुब्धचित्त, वाह्येन्द्रिय निग्रहशील, कोमल चित्त, सदाचार सम्पन्न, अपरिग्रह, दृष्टक्रियाशून्य, मितभुक् (स्वल्प भोजी) नियतान्तःकरण, स्वधर्मनिष्ठ, मदेकाश्रय, मेरी शरणागत, मननशील, अप्रमत्त, सावधान, निर्विकार, धैर्यशील, जितषड्गुण (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा एवं मृत्युजयी) मानाकाङ्क्षाशून्य, मानप्रद, परप्रबोधन समर्थ, अवञ्चक, कारुणिक एवं सम्यक् ज्ञानी ही वैष्णव हैं ॥१८-२०॥

विष्णुपुराण के यमदूत-संवाद में लिखित है—जो व्यक्ति, निज वर्णाश्रम से भ्रष्ट नहीं हैं, जो निज सुहृद्, अरिपक्ष में समबुद्धि हैं, जो परद्रव्यापहारक अथवा उद्धत स्वभाव विशिष्ट नहीं हैं एवं स्थिर चित्त हैं वही विष्णुभक्त हैं ॥२१॥

ज्ञानिषु भक्तिहेतुर्ज्ञानवत्ता

एकादशस्कन्ध के हवियोगेश्वर के उत्तर में वर्णित है—हे राजन् ! जो मानव, सब जीवों में नियन्तृरूप

न यस्य स्व-पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा । सर्व्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ।।२३।।

एकादशे श्रीभगवदुक्तौ (११।३३)—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ।।२४।।

तत्रैव हवियोगेश्वरोत्तरे (२।४६-४७)—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च । प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।।२५।।

प्रियः ।।' (श्रीभा ११।२।४४) इति श्रीनिमिप्रश्नस्य प्रतिवचने । तत्र यद्धर्म्मो यस्मिन् धर्म्मे परिनिष्ठित इत्यस्योत्तरम्—सर्व्वभूतेष्विति । 'आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः' इति तन्त्रोक्तेः, आत्मनो हरेः सर्व्वभूतेषु मशकादिष्वपि नियन्तृत्वेन वर्त्तमानस्य भगवद्भावं निरतिशयैश्वर्य्यमेव यः पश्येत् न तु तारतम्यम्। अयञ्चात्मज्ञानपर इति ज्ञेयं प्रकरणबलात् । एवमग्रे 'ईश्वरे' इत्यादि-पद्यद्वयेऽपि । अतएव पश्येदिति सम्भावनायां सप्तमी । आत्मज्ञानपरस्य तादृशभगवज्ज्ञानासम्भवात्तथा आत्मनि हरावेव भूतानि च यः पश्येत् । कथम्भूते ? भगवति अप्रच्युतैश्वर्य्यादिरूपे, न पुनर्जड़मलिनभूताश्रयत्वेन जाड्यादि-प्रसक्त्या ऐश्वर्य्यादिप्रच्युतिं पश्येत्, स सर्व्वत्र परिपूर्णं भगवत्तत्त्वं पश्यन् भागवतोत्तम इत्यर्थः ।।२२।।

वित्तेषु स्वीयं परकीयं वेति आत्मनि च स्वपरो वेति भेदो यस्य नास्ति, यतः सर्व्वभूतेषु समः । भगवद्-दृष्ट्या भगवत्तत्त्वदृष्ट्या वा, व्यवहारादिना तुल्यः, अतएव शान्तः भगवन्निष्ठबुद्धिः, 'शमो मन्निष्ठया बुद्धेः' (श्रीभा ११।१९।३६) इति भगवदुक्तेः । वै प्रसिद्धौ, अस्य च सदा भगवन्निष्ठत्वेन सर्व्वत्र सद्व्यवहारादिना पूर्व्वोक्तादपि श्रैष्ठ्यमूह्यम्; अतएव तस्मादुत्तरो लेख्यः, एवमग्रेऽपि ।।२३।।

यावान् देशकालापरिच्छिन्नः, यश्च सर्व्वात्मा, तं मां ज्ञात्वा ज्ञात्वा पुनः पुनर्ज्ञात्वा एकान्तभावेन ये भजन्ति । यदि चैवं व्याख्येयं, यावान् नित्यकैशोरादिरूपः, यश्च श्रीदेवकीनन्दन-यशोदावत्सलेत्यादिरूपो यादृशः सहजपरमसौन्दर्य्यगुण-लीलारसविशेषाश्रयः । अन्यत् समानम्; भावः प्रेम्ण एव पूर्व्वावस्था, तत्रापीश्वरदृष्ट्या भयगौरवादिना विशुद्धत्वाभावाद्विशुद्धपरमपुरुषार्थरूपप्रेम्णो न्यूनः, अतएव श्रीस्वामिपादैश्च तद्व्याख्यातं सर्व्वलक्षणसारमाहेति । यद्वा, प्रथमं ज्ञात्वा अथानन्तरमज्ञात्वा भक्तिपरिपाकेनानुसन्धायेति । यद्वा, अप्यर्थे अथ-शब्दः, ज्ञात्वा त्वज्ञात्वापि केवलमेकान्तित्वेन ये भजन्ति परिचरन्त्येव, तदा प्रेमपरतादौ पद्यमेतद्द्रष्टव्यम् ।।२४।।

ईश्वरे भगवति प्रेम, तदधीनेषु तद्भक्तेषु मैत्री सख्यं, बालिशेषु अज्ञेषु कृपां, द्विषत्सु चोपेक्षां यः करोति, स मध्यमभागवत इत्यर्थः तादृशभेददर्शनात्; यद्वा, सर्व्वभूतेष्वित्यस्यायमर्थो द्रष्टव्यः— आत्मनो यो भगवान् इष्टदेवः श्रीकृष्णस्तस्य भावं प्रेम सर्व्वभूतेषु यः पश्येत्; तथा यानि भूतानि सर्व्वाणि तेषाञ्च भावं भगवति यः

में अधिष्ठित श्रीहरि का दर्शन करते हैं. एवं परमात्मा भगवान् श्रीहरि में सब जीवों को देखते हैं उन्हीं को उत्तम भागवत कहते हैं ।।२२।।

वित्त एवं आत्मा में स्वीय अथवा परकीय भेदबुद्धि जिनकी नहीं है, जो सर्वभूतों में समदर्शी एवं शान्त हैं, वे ही भागवतोत्तम हैं ।।२३।।

एकादशस्कन्ध में श्रीभगवदुक्ति इस प्रकार है—देश, काल, अपरिच्छिन्न, सर्वात्मा, सच्चिदानन्द रूप मुझको जानकर अथवा न जानकर जो लोक मेरा भजन अनन्यभाव से करते हैं, उन सबको भी मैं श्रेष्ठ भक्त मानता हूँ ।।२४।।

ईश्वर में प्रेम, तदधीन में अर्थात् भगवद्भक्तजन में मित्रता, अज्ञ लोक के प्रति दया एवं विद्वेषी अर्थात भगवद्विद्वेषीजन के प्रति उपेक्षा, जो मानव करते हैं, भेददर्शी होने के कारण वे मध्यम भक्त हैं ।।२५।।

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥२६॥

भोगवत्सु भक्तिहेतुर्भोगानासक्तता

हविर्योगेश्वरोत्तरे (श्रीभा ११।२।४८)—

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥२७॥

सज्जन्मविद्यादिमत्सु भक्तिहेतुर्निरभिमानिता

तत्रैव (श्रीभा ११।२।५१)—

न यस्य जन्मकर्म्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः । सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥२८

पश्येत्; तेषां तद्भावे हेतुः—'आत्मनि आत्मवत् स्वतो जगतः, प्रेमास्पदे; यद्वा, चेतयितरि तत्प्रेरणप्रसादेनैव तद्भाव इत्यर्थः । किंवा आत्मकोऽपि चेतयितृत्वेन तस्य परमात्मतयात्मनोऽपि सकाशात् परमप्रेमास्पदत्वं युक्तमेवेति । एवञ्च स्वयं परमप्रेमरसप्लुततया स्वानुमानेनान्येष्वपि तथाहृष्टचासौ भागवतोत्तम एव इत्यर्थः' इति । तदपेक्षया चास्य मध्यमत्वमुचितमेव । तादृशप्रेमराहित्येन सर्व्वत्र तादृशदृष्टचभावात् इत्थं व्याख्याय च पद्यमिदं प्रेमपरतादौ द्रष्टव्यम् ॥२५॥

अर्च्चायां प्रतिमायामेव पूजामीहते करोति, न तद्भक्तेषु अन्येषु च सुतरां न करोति; प्राकृतः प्रकृतिप्रारम्भः, अधुनैव प्रारब्धभक्तिः, शनैरुत्तमो भविष्यतीत्यर्थः । अर्च्चायामित्यनेन च तस्य तत्रार्च्चाबुद्ध्यपगमसूचनात् । 'पूज्ये विष्णौ शिलाधीः' इत्यादि-वचनप्रामाण्येन दोषविशेषापत्तेस्तथा वैष्णवासम्माननाच्च कनिष्ठत्वं दर्शितम् । यद्वा, अर्च्चायामिति निमित्तसप्तमी । पूजार्थमेव हरेः पूजां श्रद्धया करोति, तथा अन्येषु च देवतान्तरेषु भक्तः, न च तद्भक्तेषु वैष्णवेषु भक्तः, स प्राकृतः कनिष्ठो भागवत इत्यर्थः । स ऽपि भगवत्पूजाप्रवृत्त्या कालेनोत्तमो भवतीति ज्ञेयम् । अस्य च देवोत्तमादिज्ञानेनैव, किंवा हरेः पूजनेनैव लोकेषु निजपूजा स्यादित्यनेन तत्पूजायां प्रवृत्तेर्ज्ञानित्वं गमयति ॥२६॥

श्रीकृष्णाविष्टचित्तो न गृह्णात्येव, इन्द्रियैरर्थान् विषयान् गृहीत्वापीत्यपि-शब्दार्थः; न द्वेष्टि—तेषां दोषवत्त्वेऽपि सति न निन्दादिकं करोतीत्यर्थः । न काङ्क्षति गुणवत्त्वेऽपि सति न कामयते, यथोत्पन्नमेव तान् सेवते इत्यर्थः, भोगानासक्तत्वात् । तत्रैव हेतुः—इदमर्थादिकं सर्व्वमपि विष्णोर्मायां मायेति पश्यन्निति ॥२७

जन्म सत्कुलं, कर्म्म तपआदि, वर्णो विप्रत्वादिः, आश्रमः ब्रह्मचर्य्यादिः, जातिर्मूर्द्धाभिषिक्ताम्बष्ठताद्यनुलोमजत्वं, तैरप्यस्मिन् ईदृशगुणवत्यपि देहे यस्याहंभावः महाकुलीनोऽहमित्याद्यभिमानो न सज्जते, स हरेः प्रियो भगवद्भक्तोत्तमो ज्ञेय इत्यर्थः ॥२८॥

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक श्रीविग्रह में श्रीहरिपूजा करते हैं, किन्तु हरिभक्त अथवा अन्य मानव की पूजा नहीं करते हैं, वे प्राकृत भक्त हैं, अर्थात् प्रारम्भिक भक्त, कनिष्ठ भक्त हैं ॥२६॥

भोगवत्सु भक्तिहेतुर्भोगानासक्तता

भोगयुक्त मानवों की जो भोग विषय में अनासक्ति है, उसी को भक्ति उत्पत्ति के प्रति कारण जानना चाहिये । हविर्योगेश्वर के उत्तर में लिखित है—महाराज ! जो मानव, इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करके भी इस विश्व को श्रीविष्णु की बहिरङ्गा माया शक्ति द्वारा रचित मानते हैं, एवं भोग्य वस्तु की निन्दा प्रशंसा नहीं करते हैं, अर्थात् भोग्य वस्तु से हर्ष विषाद प्राप्त नहीं होते हैं, वे ही भागवतोत्तम हैं ॥२७॥

सज्जन्मविद्यादिमत्सु भक्तिहेतुर्निरभिमानिता

सत्कुल में जन्म एवं विद्यादिविशिष्ट होकर भी निरभिमानिता ही भक्ति प्राप्ति का कारण है—श्रीमद्भागवत के उसी स्थान में लिखित है—हे राजन् ! जो व्यक्ति, पाञ्चभौतिक देह धारण कर

भावाः कथञ्चिद्भक्तैव ज्ञानानासक्त्यमानिता ।
भक्तिनिष्ठापका जातास्ततो ह्युत्तमतोदिता ॥२९॥

शैवेषु श्रीशिवकृष्णाभेदकाः

बृहन्नारदीये—

शिवे च परमेशाने विष्णौ च परमात्मनि ।
समबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवतोत्तमाः ॥३०॥
अन्यच्च तेषां भगवच्छास्त्रार्थपरतादिकम् ।
साक्षाद्भक्त्यात्मकं मुख्यं लक्षणं लिख्यतेऽधुना ॥३१॥

नन्वेवं निर्विशेष भगवद्भक्तलक्षणमेवायातं, तत् कुतः ? तत्र तत्र एव भागवतोत्तम इत्यादि-निर्द्देशात्। तत्राह—भावा इति। कथञ्चिन् केनापि किञ्चिन् परिचर्य्याभावादिना प्रकारेण या भक्तिस्तयैव, न तु कर्म्मादिना यास्ताः पूर्व्वलिखिता ज्ञानादयो जाता वा यदि; तत्र ज्ञानं सर्व्वभूतेष्वित्यादिषु अनासक्तिश्च भोगानामसक्तत्वं 'गृहीत्वापीन्द्रियैः' इत्यत्र, अमानिता च निरभिमानत्वं 'न यस्य जन्म' इत्यत्र दर्शितम्। कथम्भूताः ? भक्तेः निष्ठापकाः परिपाक-प्रापकाः, अनेन च भक्तेर्जाततया प्राप्तं भक्तेर्ज्ञानादिफलत्वं निरस्तं, भक्तिजातावान्तर-फलरूप-ज्ञानादिपरिकरैर्भक्तेर्भक्तिनिष्ठाफलत्वात्। हि-शब्दोऽवधारणे। ततस्तेभ्यस्तदभिप्रायेणैव वा तत्तमता तेषामुदिता उद्गता, तत्र तत्रोक्ता वा, अन्यथा ज्ञानादिमात्रपरत्वेन भागवतोत्तमत्वाद्यनुपपत्ते। एतच्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे सकारणं विवृतमेवास्ति। अत्र च तादृश-ज्ञानाद्यनङ्गीकारेण-असामान्यभक्तमात्रलक्षणे ते लिखिताः, तथापि भागवतोत्तम इत्यादिकं पूर्व्वलिखितभगवद्व्रतपराद्यपेक्षयोह्यमित्येषा दिक् ॥२९॥

यथा ज्ञानादि-सम्प्रदायेषु भगवज्ज्ञानादिपरतया भगवद्भक्तलक्षणं लिखितम्, तथा शैवसम्प्रदायेष्वपि श्रीशिवेन सह श्रीकृष्णस्याभेदकता अपृथग्दर्शनं भगवद्भक्तलक्षणमित्यर्थः ॥३०॥

यद्यपि पूर्व्ववत् शास्त्रपरेषु भागवतशास्त्रपरता भगवद्भक्तलक्षणसिद्धेस्तत्कल्पनयालमिति श्रीभागवतशास्त्र-परतादावत्रापि व्याख्या घटते, तथापि श्रीभागवतशास्त्र-परतादौ साक्षादेव श्रीभगवद्भक्तलक्षणसिद्धेस्तत्कल्पनयालम्। अतएव लिखति—अन्यच्चेति। तेषां श्रीभगवद्भक्तानां साक्षाद्भक्त्यात्मकं भक्तिस्वरूपम्, अतएव पूर्व्वं सर्व्वत्र भक्तिहेतुरिति घटितम् ॥३१॥

जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम एवं जाति द्वारा अहंभाव को प्राप्त नहीं करते हैं, वे ही श्रीहरि के प्रिय हैं। ज्ञान, अनासक्ति, अमानिता प्रभृति भावसमूह, किञ्चित् परिचर्य्यादि भक्ति द्वारा ही भक्ति के परिपोषक होते हैं, अतएव पूर्व पूर्व भाव से उनकी उत्तमता होती है ॥२८-२९॥

शैवेषु श्रीशिवकृष्णाभेदकाः

शैवसमूह के मध्य में श्रीशिव एवं श्रीकृष्ण में अभेद ज्ञानकारी व्यक्तिगण ही वैष्णव हैं। बृहन्नारदीय पुराण में उक्त है—परमेश्वर शिव एवं परमात्मा विष्णु में जो जन समबुद्धि सम्पन्न हैं वे सब ही भागवतोत्तम हैं ॥३०॥

भगवद्भक्तगणों के अन्यान्य भगवत्शास्त्रपरतादि भगवद्भक्ति के लक्षण होने पर भी, अधुना साक्षात् भक्तिस्वरूप भगवद्भक्ति का मुख्य लक्षण लिखित होरहा है ॥३१॥

श्रीभागवतशास्त्रपरता

स्कान्दे—

येषां भागवतं शास्त्रं सदा तिष्ठति सन्निधौ। पूजयन्ति च ये नित्यं ते स्युर्भागवता नराः ।।३२।।

येषां भागवतं शास्त्रं जीवितादधिकं भवेत्। महाभागवताः श्रेष्ठा विष्णुना कथिता नराः ।।३३

वैष्णवसम्मान-निष्ठा

लैङ्गे—

विष्णुभक्तमथायातं यो दृष्ट्वा सुमुखः प्रियः। प्रणामादि करोत्येव वासुदेवे यथा तथा।
स वै भक्त इति ज्ञेयः स पुनाति जगत्त्रयम् ।।३४।।

रुक्षाक्षरा गिरः शृण्वन् तथा भागवतेरिताः। प्रणामपूर्व्वकं क्षान्त्वा यो वदेद्वैष्णवो हि सः ।।३५

भोजनाच्छादनं सर्व्वं यथाशक्त्या करोति यः। विष्णुभक्तस्य सततं स वै भागवतः स्मृतः ।।३६

गारुड़े—

येन सर्व्वात्मना विष्णुभक्त्या भावो निवेशितः। वैष्णवेषु कृतात्मत्वान्महाभागवतो हि सः ।।३७

भागवतं भगवतारं श्रीमद्भागवताख्यं वा ।।३२।।

यद्यपि वैष्णवसम्मानन-मात्रमेव भक्तिहेतुत्वेन पूर्व्ववद्भगवद्भक्तलक्षणं स्यात्, तथापि कदाचिदन्यस्या-ख्यातिथ्यादिना तन् घटत इति भगवद्व्रतपरतादिवत् तत्परत्वाभावेन भगवद्भक्तत्वहानि-प्रसङ्गादत्र निष्ठा-शब्दप्रयोगः। एवमग्रेऽप्यूह्यम् ।।३४।।

तथेति पूर्व्वसमुच्चये, अनिर्व्वचनीया इति वा,भागवतेन वैष्णवेन ईरिता उक्ता गिरो वाक्यानि शृण्वन्नपि; क्षान्त्वा ता गिरः सोढ्वा, वदेत् सम्भाषेत् ।।३५।।

यथाशक्त्या यथाशक्ति; यद्वा, यथा यथावत् शक्त्या स्वशक्तिं न्यस्येत्यर्थः ।।३६।।

श्रीभागवतशास्त्रपरता

स्कन्दपुराण में लिखित है—जिनके समीप में सर्वदा भागवतशास्त्र विद्यमान है, एवं जो नित्य भागवत शास्त्र की पूजा करते हैं वे सब मनुष्य भागवत नाम से अभिहित होते हैं, भागवत शास्त्र, जिनका निज जीवन से भी अत्यधिक मूल्यवान् है, वे सब श्रेष्ठमानवगण ही महाभागवत नाम से कीर्त्तित होते हैं ।।३२-३३

वैष्णवसम्मान-निष्ठा

लिङ्गपुराण में वर्णित है—वासुदेव को जिस प्रकार प्रणाम किया जाता है, तद्रूप, विष्णुभक्त को आता हुआ देखकर जो प्रफुल्ल वदन एवं प्रीति पूर्वक उनको प्रणाम करते हैं, उन्हीं को भगवद्भक्त जानना चाहिये, उन्हीं के द्वारा त्रिभुवन पवित्र होते हैं। जो भगवद्भक्त के मुखोच्चरित रुक्ष वचन को सुनकर सहिष्णुता अवलम्बन पूर्वक प्रणाम कर सम्भाषण करते हैं, वे निश्चय ही वैष्णव हैं ।।३४-३५।।

जो सर्वदा साध्यानुसार भगवद्भक्तों का भोजनाच्छादन निर्वाह प्रभृति करते हैं, उनको अवश्य ही भगवद्भक्त कहा जाता है ।।३६।।

गरुड़पुराण में लिखित है—जो सर्वतोभावेन विष्णुभक्ति में निविष्ट चित्त होकर वैष्णववृन्द में आत्म-समर्पण किये हैं, वे निश्चय ही महाभागवत नाम से अभिहित होते हैं ।।३७।।

श्रीतुलसीसेवा-निष्ठा

बृहन्नारदीये श्रीभगवन्मार्कण्डेय-संवादे—

तुलसीकाननं दृष्ट्वा ये नमस्कुर्व्वते नराः । तत्काष्ठाङ्कितकर्णा ये ते वै भागवतोत्तमाः ॥३८॥

तुलसीगन्धमाघ्राय सन्तोषं कुर्व्वते तु ये । तन्मूलमृद्धृता यैश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥३९॥

श्रीभगवतः कथापरता

बृहन्नारदीये श्रीभगवन्मार्कण्डेय-संवादे—

मत्कथाश्रवणे येषां वर्त्तते सात्त्विकी मतिः । तद्वक्तरि सुभक्तिश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥४०॥

स्कान्दे श्रीभगवदर्ज्जुन-संवादे—

मत्कथां कुरुते यस्तु मत्कथाञ्च शृणोति यः । हृष्यते मत्कथायाञ्च स वै भागवतोत्तमः ॥४१॥

तृतीयस्कन्धे (२५।२३) तत्रैव—

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च । तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥४२

तस्यास्तुलस्या मूलस्य मृत् मृत्तिका तिलकादि-रूपेण भालादौ यैर्धृता ॥३९॥

एवं भक्ति-वाह्याङ्गवतां भगवद्भक्तानां लक्षणानि लिखित्वेदानीं भक्त्यन्तरङ्गवतां लक्षणानि लिखति-मत्कथेत्यादिना यावदेतल्लक्षणसमाप्ति । सात्त्विकी कामादिरहिता स्थिरा वा, तस्या मत्कथाया वक्तरि कथके ॥४०॥

एतान् मत्कथायाः श्रोतॄन् वक्तॄंश्च तापा आध्यात्मिकादयो न तपन्ति, न व्यथयन्ति । कुतः ? कथयैव मद्गतं चेतो येषां तान्; यद्वा, ये तापैर्नाभिभूयन्ते, ते साधव इत्यत्रार्थो द्रष्टव्यः, साधुलक्षणान्तरुक्तत्वात् । ततश्च श्रवणादित्रयं तापानभिभूतत्वं चैकमित्येवं लक्षणचतुष्टयमुक्तम्; यद्वाः मद्गतचेतस इति—मत्स्मरण-पराश्च न तपन्तीत्यर्थः; एवं क्रमेण श्रवणकीर्त्तन-स्मरणपराणां माहात्म्यं ज्ञेयम्; ते साधव इति—साधु-लक्षणान्तःपातित्वात् स्वत एवायाति ॥४२॥

श्रीतुलसीसेवा-निष्ठा

बृहन्नारदीय पुराण के श्रीभगवन्मार्कण्डेय-संवाद में लिखित है—तुलसी कानन को देखकर जो प्रणाम करते हैं एवं तदीय काष्ठ का कर्णभूषण धारण करते हैं, वे सब निश्चय ही भागवतोत्तम हैं । तुलसी गन्ध आघ्राण पूर्वक जो सन्तुष्ट होते हैं, एवं तुलसी मूलस्थ मृत्तिका के द्वारा ललाटादि में तिलक रचना करते हैं, वे सब निश्चय ही भागवतोत्तम हैं ॥३८-३९॥

श्रीभगवतः कथापरता

बृहन्नारदीय पुराण के श्रीभगवान्-मार्कण्डेय-संवाद में उक्त है—मेरी कथा को सुनकर जिनकी सात्त्विकी मति उत्पन्न होती है, और मेरी कथा कहने वाले के प्रति जिसकी सुभक्ति विद्यमान है, निश्चय ही वे सब भागवतोत्तम हैं ॥४०॥

स्कन्दपुराण के श्रीभगवदर्ज्जुन-संवाद में वर्णित है—जो मानव, मेरी कथा कीर्त्तन, मेरी कथा श्रवण, एवं मेरी कथा में आनन्द प्रकाश करते हैं, निश्चय ही वे सब भागवोत्तम हैं ॥४१॥

तृतीय स्कन्ध में लिखित है—हे मातः ! जो मानव, मुझमें अभिनिविष्ट चित्त होकर मेरी विशुद्ध कथा श्रवण अथवा कीर्त्तन करते हैं, उनकी आध्यात्मिकादि विविध ताप, तापित करने में समर्थ नहीं होते हैं ॥४२

नामपरता

बृहन्नारदीये तत्रैव—

मन्मानसाश्च मद्भक्ता मद्भक्तजनलोलुपाः । मन्नामश्रवणाशक्तास्ते वै भागवतोत्तमाः ॥४३॥

येऽभिनन्दन्ति नामानि हरेः शृण्वन्ति हर्षिताः । रोमाञ्चितशरीराश्च ते वै भागवतोत्तमाः ॥४४

तत्रैवान्यत्र—

अन्येषामुदयं दृष्ट्वा येऽभिनन्दन्ति मानवाः । हरिनामपरा ये च ते वै भागवतोत्तमाः ॥४५॥

स्मरणपरता तत्र स्वधर्म्मनिष्ठया रागद्वेषादिनिवृत्त्या स्मरणम्

श्रीविष्णुपुराणे यम-तद्दूत-संवादे—

न चलति य उच्चैः श्रीभगवत्पदारविन्दे, सितमनास्तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥४६॥

मद्भक्ता इति—मत्सेवादिपरा इत्यर्थः । यद्यप्येवं लक्षणचतुष्टयमुक्तं, तथाप्यन्यत्र स्मरणादित्रयवृत्तेरत्र नामपरताप्रकरणे नामश्रवणासक्तत्वमेव एकं लक्षणम्, तत्त्रयञ्च तत्र दृष्टान्तत्वेन ज्ञेयम्; एवमन्यत्रापि ॥४३॥

नामपरा इति—नाम-श्रवणकीर्त्तनादिचारिण इत्यर्थः ॥४५॥

एवं कथापरतया नामपरतया च भगवद्भक्तानां श्रवण-कीर्त्तनपरत्वं लक्षणं लिखित्वा इदानीं 'न चलति' इत्यादिना 'अर्कतापः' इत्यन्तेन स्मरणपरत्वं लक्षणं लिखन् तत्र विशेषं लिखति—तत्रेति । स्वधर्म्मनिष्ठया रागतो द्वेषाच्च; आदि-शब्देन कलिकलुषलोभादेश्च सकाशान्निवृत्तिरुपरतिः, तया यत् स्मरणम् ।

तत्र तु स्मरणपरं श्रीमद्भगवद्भक्तं ससाधनं निर्दिशति—न चलतीति । उच्चैः श्रीकृष्णविषयकत्वादतिशयेन सितं स्वच्छं रागादिरहितं मनो यस्य; यद्वा, प्रस्तावादर्थापत्त्या विष्णावेव, किंवा उच्चैः परमं ततरे अत्यन्त-दुर्ल्लभे श्रीभगवच्चरणारविन्दे सितं बद्धं मनो येन तं विष्णुभक्तं विद्धि । सितमनस्तस्याविज्ञेयत्वात् ज्ञापकचिह्नान्याह—न चलतीति । विष्णं रियमाज्ञेत्येवं हि क्रियमाणः स्वधर्म्मो विष्णुं प्रीणयन् सत्त्व-शुद्धिद्वारा तद्भक्तिहेतुत्वेनात्र स्मरणस्य साधनम् । शुद्धसत्त्वस्य रागाद्यभावादात्मनः सुहृत्पक्षे विपक्षपक्षे च समनतित्वं, परस्वहरणादिनिवृत्तिश्च स्वत एव भवतीति तदपि तस्य साधनमुपपद्यत एव । ततश्चैवं व्याख्येयम्—यो न चलति, स उच्चैः सितमनाः स्यात्, तञ्च विष्णुभक्तं विद्धीति । तत्र च स्वधर्म्मनिष्ठादीनां स्वातन्त्र्येण सर्व्वेषामपि साधनत्वं, किंवा यथासम्भवं हेतुहेतुमत्त्वं द्रष्टव्यम्; एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥४६॥

नामपरता

बृहन्नारदीय पुराण के उक्त स्थान में वर्णित है—मुझमें समर्पित चित्त मेरा भक्त, मेरी सेवादि में निष्ठावान्, मेरे भक्तों के प्रति प्रेमवान् एवं मेरे नामश्रवण में अनुरक्त चित्त हैं, इस प्रकार व्यक्तिगण निश्चय ही भागवतोत्तम हैं ॥४३॥

श्रीहरिनाम श्रवण से जिनका हृदय आनन्दित होता है एवं जो हृष्ट चित्त से श्रीहरिनाम श्रवण करते हैं, एवं श्रीहरिनाम श्रवण से रोमाञ्चित कलेवर होते हैं, वे सब निश्चय ही भागवतोत्तम हैं ॥४४॥

बृहन्नारदीय पुराण के अन्यत्र वर्णित है, अपर की उन्नति को देखकर जो लोक आनन्दित होते हैं, एवं जो लोक हरिनाम परायण हैं, वे सब निश्चय ही भागवतोत्तम हैं ॥४५॥

स्मरणपरता तत्र स्वधर्म्मनिष्ठया रागद्वेषादिनिवृत्त्या स्मरणम्

श्रीभगवान् के नाम स्मरण में तत्परता का वर्णन करते हैं। इस विषय में स्वधर्म निष्ठा द्वारा राग-द्वेषादि का अपगम होने से ही स्मरणोदय होता है। श्रीविष्णुपुराण के यम एवं यमदूत संवाद में लिखित है - जो मानव, विषय स्वभाव से विचलित नहीं होते हैं, अतएव श्रीभगवत्-पदारविन्द में अतिशय रतचित्त हैं, उनको भगवद्भक्त जानना होगा। अथवा भगवत्पदारविन्द को ही जिन्होंने परम महत्त्व से अवलम्बनीय

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा, विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम् ।
मनसि कृतजनार्द्दनं मनुष्यं, सततमवेहि हरेरतीवभक्तम् ॥४७॥
कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्धचा, तृणमिव यः समवैति परस्वम् ।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः, पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥४८॥
स्फटिकगिरिशिलामलः क्व विष्णु,-र्मनसि नृणां क्व च मत्सरादिदोषः ।
न हि तुहिनमयूखरश्मिपुञ्जे, भवति हुताशनदीप्तिजः प्रतापः ॥४९॥
विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः, शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः ।
प्रियहितवचनोऽस्तुमानमायो, वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः ॥५०॥

अस्यैव प्रपञ्चः—कलिकलुष इत्यादिना । यद्वा, न हरति, न चलतीत्यादिना परस्वहरण-परद्रोहनिवृत्ति-लक्षणमात्र-पापनिवृत्तिरुक्ता; इदानी कलिकालीन-विविधपापवर्गनिवृत्तिरेव विष्णुभक्तस्य साधनं स्वभावं वा लिखति—कलीति । आत्मा बुद्धिः मनो वा, मनसापि पापं यो नाचरति, किं पुनर्वाचा कायेन वेत्यर्थः । अतः मनसि सततं कृतो जनार्द्दनो येन तम्, अतीवेति—परमदुस्तरकलिकालीनपापपरम्परया प्रमादादिना कथञ्चिदप्यस्पर्शात् ॥४७॥

अधुना पापमूल-लोभराहित्यञ्च विष्णुभक्तस्य पूर्व्ववत् साधनं स्वभावो वेत्याह—कनकमपीति । परस्वं कनक मित्यन्वयः, अवेक्ष्य दृष्ट्वा बुद्धचा तृणमिव समवैति, अत्यन्ततुच्छबुद्धचा नादत्त इत्यर्थः ॥४८॥

अधुना निःशेषदोषराहित्यं विष्णुभक्तस्य साधनातिशयं स्वभावं वेति वदन् तदेव द्रढ़यन् बोधवतान्तु श्रीभगवान्न सुदूरतर इत्याह—स्फटिकेति, स्फटिकगिरेः शिलेवामलः, अतो मत्सरादिदोषवतां मनसि विष्णुर्न सम्भवत्येवेति दृष्टान्तेन बोधयति—न हीति । तुहिनमयूखश्चचन्द्रस्तस्य रश्मीनां पुञ्जे सति विषये वा, एवं दृष्टान्तेन क्वद्वयांक्तमन्योऽन्यविरोधित्वं साधितम् ॥४९॥

अशेषसद्गुणवतामेव चित्ते भगवान् सदा परिस्फुरतीत्यतः सद्गुणवत्तैव तस्य साधनं स्वभावो वेति लिखति—विमलेति । अत्र प्रथमपदत्रयेणान्तःकरणे सद्गुणो दर्शितः; विमलमतेरेव विवरणम्—'अमत्सरः

माना है एवं विषयों का आकर्षण से आकृष्ट मनाः नहीं हुआ है, तथा स्वधर्म परायणता का निर्वाह सुन्दर रूप से किया है, उनको ही भगवद्भक्त समझना होगा ॥४६॥

कलिकलुषरूप मालिन्य के द्वारा जिनका चित्त मलिन नहीं होता, अर्थात् जो व्यक्ति मन से भी परस्व हरण परद्रोह प्रभृति निषिद्धाचरण नहीं करते हैं, अतएव शरीर से भी उक्त पापाचरण नहीं करते हैं, अतएव निरन्तर मनोमध्य में भगवान् जनार्दन को धारण करते हैं, उन्हीं को श्रीहरि का परमभक्त जानना चाहिये ॥४७॥

निर्जन स्थान में निपतित परस्व सुवर्ण को देखकर भी जो व्यक्ति निजबुद्धि से उसको तृणवत् अनुपादेय मानता है, एवं जिसका मन, श्रीभगवान् में एकान्त आसक्त है, उसी पुरुष प्रवर को विष्णुभक्त जानना चाहिये ॥४८॥

स्फटिक गिरिशिला के समान निर्म्मल चरित्र श्रीविष्णु कहाँ ? और मानववृन्दों के मनोगत मत्सरादि दोष कहाँ ? अथात् मनुष्यवृन्द के जिस मन में निर्मल चरित्र श्रीविष्णु स्फूर्त्तिशील हैं, वहाँ मत्सरादि दोष नहीं रह सकते हैं। जिस प्रकार चन्द्र-रश्मि-पुञ्ज में अग्नि का उद्दीप्त उत्ताप अनुभव नहीं होता है, उस प्रकार उभय में महदन्तर है। निःशेष दोषराहित्य ही विष्णुभक्त का स्वभाव है ॥४९॥

अमलमति, निर्मत्सर, प्रशान्त, विशुद्ध आचरणयुक्त, अखिल प्राणियों का स्वभावतः हितकारी अर्थात्

वसति हृदि सनातने च तस्मिन्, भवति पुमान् जगतोऽस्य सौम्यरूपः।
क्षितिरसमतिरम्यमात्मनोऽन्तः, कथयति चारुतयैव शालपोतः ॥५१॥

अन्यविजये वैराग्यादिना च स्मरणम्

एकादश स्कन्धे श्रीहवियोगेश्वरोत्तरे (२।४९,५३-५४)—

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो, जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्म्मैरविमुह्यमानः, स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥५२॥

प्रशान्तश्च रागद्वेषादिरहितः' इति। यद्यपि विमलमतित्वेनैव कामाद्यरिषड्वर्गजयोऽपि वृत्तः, तथापि परम-दुर्ज्जयस्य मत्सरदोषस्य जये सत्येव विमलमतिता स्यादित्यभिप्रायेणामत्सर इति पृथगुक्तिः; यद्वा विमल-मतित्वे हेतुः—अमत्सर इति; तत्रापि हेतुः—प्रशान्त इति। एवमपि तथैवार्थः। कर्म्मणि सद्गुणं दर्शयति—शुचि शुद्धं चरितं यस्य; किञ्च अखिलानां सत्त्वानां प्राणिनां मित्रभूतः, स्वभावतो हितकारी; वचसि सद्गुणं दर्शयति—प्रियं सर्व्वेषां श्रवणमनःसुखावहं हितञ्च परिणामेऽपि शुभकरं वचनं यस्य, तच्च न दाम्भिकत्वेन, किन्तु विशुद्धभावेनैव। किञ्च, तथापि न गर्व्वस्पर्श इति—निर्द्दम्भ-निरहङ्कारतालक्षणगुणविशेषमाह—अस्ते निरस्ते मानमाये गर्व्वदम्भौ येन सः; यद्वा, मान एव भगवन्माया, अविद्यामूलकाखिलदोषाणामहङ्कार-प्राधान्यात्, अहङ्कारमूलत्वाच्चाखिलमायिकप्रपञ्चस्य। अन्यत् पूर्व्ववदेव। एवञ्च सति सर्व्वसद्गुणमूल-निरहङ्कारतैव दर्शिता ॥५०॥

रुचिरप्रसन्नरूपता च प्रकटमेव, तस्य लक्षणं स्वभाव एव वेति लिखति—वसतीति। मुखप्रसादादिचिह्नं तदन्तःस्थं परमानन्दघनं श्रीविष्णुं सूचयतीत्यत्रान्यार्थनिदर्शनमाह—क्षितीति। चारुतया कोमलतया शालपोतः शालवृक्षः सर्ज्जस्य शिशुर्वा आत्मनोऽन्तःस्थितं परमोत्तमं क्षितिरसं कथयति सूचयतीत्यर्थः। एवं च 'उच्चैः सितमनसम्' इति, 'मनसि कृतजनार्द्दनम्' इति, 'भगवदनन्यचेताः' इति, 'वसति सदा हृदि तस्य' इत्यादिना भगवच्छरणपरतैवोक्ता। स्वधर्म्मनिष्ठादीनि च तस्य स्वाभाविकानि साधनानि वा विविच्य द्रष्टव्यानीति पुरा लिखितमेव। अत्र च सौम्यरूपता प्रायो लक्षणेष्वेवान्तर्भवति, 'अविभ्रन् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया' इत्याद्युक्तेरित्येषा दिक् ॥५१॥

अन्यविजयेन अन्यवैराग्येण च, आदि-शब्दात् श्रद्धादिना च यत् स्मरणं तत्, तत्रान्यविजयेन स्मरणम्—देहेन्द्रियेति। हरेः स्मृत्या हेतुना देहादीनां संसारधर्म्मैर्जन्माप्ययादिभिः कृत्वा योऽविमुह्यमानः, न बाधितो

मित्र, समस्त प्राणियों के प्रति श्रवण मनः सुखावह एवं परिणाम में हितकर उपदेष्टा, यह केवल कपटपूर्वक नहीं, किन्तु गर्व दम्भ रहित रूप से ही है। अतएव गर्व दम्भ वर्जित है। मान ही भगवन्माया है, मायामूलक अखिल दोष हैं, उसमें अहङ्कार का भी प्राधान्य है, मायिक प्रपञ्च, अहङ्कार मूलक है। अतः निरहङ्कारता ही सर्व सद्गुणों का मूल है। इस प्रकार स्वभावाक्रान्त व्यक्ति के हृदय में वासुदेव सर्वदा निवास करते हैं ॥५०॥

शालवृक्ष यद्रूप कोमलतानिबन्धन स्वीय अन्तरस्थ परम उत्तम पृथ्वीरस की सूचना करता है। तद्रूप-सनातन श्रीविष्णु-हृदय में निवास करने से वह पुरुष भी मनोहर मूर्त्ति सम्पन्न होता है ॥५१॥

अन्यविषये वैराग्यादिना च स्मरणम्

अन्य विषय में वैराग्य होने से ही श्रीकृष्ण स्मरण सम्पन्न होता है, सोदाहरण उसका वर्णन करते हैं। एकादशस्कन्ध में श्रीहवियोगेन्द्र के उत्तर में वर्णित है—श्रीहरिस्मरणनिबन्धन, शरीरोत्पत्ति एवं लय, प्राण की क्षुधा, चित्त की भीति, बुद्धि की तृष्णा, एवं इन्द्रिय वर्ग के श्रमरूप संसार धर्म द्वारा जो व्यक्ति विमुग्ध नहीं होते हैं, उन्हीं को भागवत प्रधान जानना होगा ॥५२॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ,-स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा,-ल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा,-नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स, प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५४॥

भवति, तथा सर्व्वेन्द्रियवृत्त्यादिजयेनान्यविस्मरणात् स भागवतप्रधानः । तत्र देहस्य जन्माप्ययौ, प्राणस्य क्षुत्, मनसो भयं, बुद्धेस्तर्षस्तृष्णा, इन्द्रियाणां कृच्छ्रं श्रमः ; यद्वा, देहादीनां जन्मादिभिरन्यैश्च संसारधर्म्मैः सुखदुःखादिभिरविमुह्यमानः सन्, यः स्मृत्या विशिष्टो भवति । एवं बहुविघ्नजयेन स्मरणपरो भागवतश्रेष्ठ इत्यर्थः ॥५२॥

अन्यवैराग्यादिना स्मरणम्— 'त्रिभुवन'- इति, त्रैलोक्यराज्यार्थमपि; यद्वा, त्रीणि भुवनानि यस्माद्विधातुस्तस्य विभवः पारमेष्ठ्यं पदं, तदर्थमपि; यद्वा, त्रिभुवनस्यापि, किमुतात्मनो यो विभवः भवाभावो: मोक्षः, तदर्थमपि लवार्द्धमपि निमिषार्द्धमपि भगवत्पदारविन्दभजनात् यो न चलति, स वैष्णवाग्र्यः । ननु लवार्द्ध-निमिषार्द्ध-भजनोपरमे चैतावान् लाभो भवेत्, तत् कुतो न चलेत् ? तत्राह— अकुण्ठस्मृतिः, भगवत्पदारविन्दतोऽन्यत् सारं नास्तीत्येवंरूपा अकुण्ठा अनपगता स्मृतिर्यस्य सः । भगवत्पदारविन्दादन्यत् सारं नास्तीति कुतः ? अत आह—अजिते हरावेव आत्मा येषां तथाभूतैः सुरादिभिरपि दुर्ल्लभात्; किन्तु केवलं विमृग्यात्, तदपेक्षया सर्व्वस्य तुच्छत्वं स्मरन् यो न चलतीत्यर्थः ; यद्वा, भगवत्पदारविन्दाद्हृदि गृहीतात् न चलति न स्मरणाद्विरमतीत्यर्थः । त्रिभुवनविभवार्थः लवनिमिषार्द्धमपि ततोऽचलने हेतुः— अकुण्ठा अनवच्छिन्ना स्मृतिर्यस्य । सदा भगवत्स्मृत्या अन्यस्य मनसि प्रवेशाभावादिति स्मरणस्यैव परमपुरुषार्थतामाह—अजितम् अपरिच्छेदादिना अवशीकृतं ब्रह्म तदात्मानस्तत्स्वरूपा मुक्ता इत्यर्थः । तादृशा ये सुरा ब्रह्मादयः, आदि-शब्दात् मुन्यादयश्च, तैरपि विमृग्याद्विशेषतः प्रार्थ्यादिति; अन्यत् समानम् ॥५३॥

किञ्च, विषयाभिसन्धिना चलनमपि कामेनातितापे सति भवेत, तत्तु भगवत्सेवानिर्वृतौ न सम्भवतीत्याह भगवत इति । उरुविक्रमौ च तावङ्घ्री च तयोः शाखा अङ्गुलयः, तासु नखानि तान्येव मणयः तेषां चन्द्रिका शीतला दीप्तिः, तया निरस्तः कामादितापो यस्मिन् ! उपसीदतां भजतां हृदि कथं पुनः स तापः प्रभवति ? चन्द्रे उदिते सति अर्कस्य ताप इव । यद्वा, अहो इतः पूर्व्वं चिरं वञ्चित आसम्, 'अहो वत किञ्चित्तावद्-भगवदन्तर्द्धानं भविता', 'हा हन्त कदा साक्षादिमं द्रक्ष्यामि' इत्यादि-तापोऽपि तस्य सदा तत्स्मरणानन्दतो न स्यात् कुतोऽन्यकामदुःखमित्याह— भगवत इति । उरवो महान्तो विक्रमाः शकटपरिवर्त्तन-कालीयमर्द्दनाद्या यस्य तस्यैकस्याप्यङ्घ्रेः, शाखा-शब्देन कल्पद्रुमत्वं रूप्यते, श्रीचरणकल्पद्रुमस्य शाखा स्वल्पांशवत् कनिष्ठाङ्गुलिः, तन्नखमणिचन्द्रिकयैवैकया तत् सकृत्स्मरणमात्रानन्दविशेषेणैवेत्यर्थः, निरस्तः तापः, 'इतः पूर्व्वं चिरं वञ्चितोऽस्मि' इत्यादिरूपोऽपि यस्मात् तस्मिन् हृदि स तापः कथमुपसीदतां समीपमायातु ? तत्र तत्र दृष्टान्तेनार्थान्तरमुपन्यस्यति—चन्द्रे उदिते इव उद्गतप्रायेऽपि सति अर्कतापः प्रभवति किम् ? काक्वा अपि तु, सन्ध्यायामपि न किञ्चित् कर्त्तुं शक्नोतीत्यर्थः । एवं स्मरणानन्दनिष्ठया यः केनापि तापेन नाभिभूतः, स च वैष्णवाग्र्य इति भागवत-लक्षणान्तरुक्तत्वात् पूर्व्ववदिदमपि लक्षणमेवमूह्यम् ॥५४॥

त्रिभुवनगत विभवसमूह कर तल होने पर भी, इन्द्रादि देवगण कर्त्तृक अन्वेषणीय भगवच्चरणारविंद से लव निमिषार्द्ध काल के निमित्त विचलित न होकर जो व्यक्ति, भगवत्पदारविन्द को ही सार जानकर स्थिर किये हैं, वे ही वैष्णवाग्रणी हैं ॥५३॥

चन्द्रोदय होने से जिस प्रकार भास्कर ताप विदूरित होता है, उस प्रकार भगवान् त्रिविक्रम की चरणाङ्गुलनखरूप मणि की शीतल दीप्ति के द्वारा उपासक के हृदय ताप निवारित होने से पुनर्वार किस प्रकार उसका अभ्युदय होगा ? ॥५४॥

अथ पूजापरता

स्कान्दे तत्रैव—

येऽर्च्चयन्ति सदा विष्णुं यज्ञेशं वरदं हरिम् । देहिनः पुण्यकर्म्मणः सदा भागवता हि ते ॥५५

लैङ्गे—

विष्णुक्षेत्रे शुभान्येव करोति स्नेहसंयुतः । प्रतिमाञ्च हरेर्नित्यं पूजयेत् प्रयतात्मवान् ॥५६॥

विष्णुभक्तः स विज्ञेयः कर्म्मणा मनसा गिरा । नारायणपरो नित्यं भूप भागवतो हि सः ॥५७

अथ वैष्णवधर्म्मनिष्ठतादि

पाद्मोत्तरखण्डे—

तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्म्मकारकः । अर्थपञ्चकविद्विप्रो महाभागवतो हि सः ॥५८॥

एवं श्रवणकीर्त्तन-स्मरणपरतारूपं भगवद्भक्तलक्षणं क्रमेण लिखित्वा इदानीमर्च्चनादिपरतालक्षणं लिखति—येऽर्च्चयन्तीति त्रिभिः । यद्यपि 'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्च्चनं वन्दनम्' इत्यादि-भक्तिलक्षणाभिधायि-प्रसिद्धवचनेष्वग्रे लेख्येषु स्मरणानन्तरमेव पादसेवोक्तेः स्मरणपरतानन्तरं पादसेवापरतैव लिखितुं युज्यते, तथापि प्रायः पादसेवार्च्चनयोरेकरूपत्वेनैक्याभिप्रायादर्च्चनपरतैव लिखितेति ज्ञेयम् । अर्च्चने हेतुत्वेन योग्यत्वेन वा यज्ञेशमित्यादि-विशेषणत्रयम् । एवार्थे हि-शब्दः, त एव पुण्यकर्म्माणः, त एव च भागवताः, शुभानि यात्रोत्सवादीनि, स्नेहो भक्तिः ; अनुक्तं संगृह्णाति; एवं कर्म्मणा परिचर्य्यादिना, मनसा स्मरणादिना, गिरा च स्तुत्यादिना यो नारायणपरः, स च भागवत एवेति । एवं परिचर्य्या-वन्दनादीनां पूजाङ्गत्वं, तत्तत्परतापि भगवद्भक्तलक्षणमेवोह्यम्, तच्च स्वमेवाग्रे लेख्यं, लक्षणानि च यान्यग्र इति ॥५५-५६॥

एवमेकैकलक्षणेन एकैकस्य भागवतस्य लक्षणं लिखित्वा अधुना मुद्राधारणादिना समुचित-श्रवणादिना ज्ञानविशेषेण च लक्षणं लिखति—तापादीति, तापः तप्तमुद्राधारण, तदादि पञ्चसंस्कारयुक्तः, पञ्च संस्काराश्च तत्रैवोक्ताः—'तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागस्तु पञ्चमः' इति । अस्यार्थः—नाम श्रीकृष्णदासेत्यादि, मन्त्रः श्रीगुरोः सकाशात् मन्त्रग्रहणं, यागः—होमपूर्व्वक-यथाविधिदीक्षाग्रहणमित्यर्थः, नव इज्याकर्म्माणि पूजा-सम्बन्धिकृत्यानि श्रवणादीनि पाद्मोक्तार्च्चनादीनि वा, सर्व्वेषां तेषां पूजाङ्गत्वात् । तानि च तत्रैवोक्तानि—'अर्च्चनं मन्त्रपठनं यागयोगौ महात्मनः । नामसंकीर्त्तनं सेवा तच्चिह्नैरङ्कनं तथा । तदीयाराधनं चर्य्या नवधा भिद्यते शुभे ॥' इति । अस्यार्थः—हे शुभे पार्व्वति ! अर्च्चनं यथाविध्युपचारार्पणं, यागो नित्यहोमः, योगो मनसि भगवतः संयोजनं ध्यानादीत्यर्थः, सेवा प्रणामः, तस्य महात्मनो भगवतश्चिह्नैः चक्रादिभिरङ्कनं, गोपीचन्दनादिना स्वाङ्गेषु लिखनं, चर्य्या परिचर्य्या, अर्थपञ्चकं चत्वारो धर्म्मादयः पुरुषार्थाः, पञ्चम-

---

अथ पूजापरता

स्कन्दपुराण के उक्त स्थल में लिखित है—जो मनुष्य, सर्वदा वरदेश्वर यज्ञेश्वर श्रीहरि की पूजा करते हैं वे सब ही पुण्यकर्मा भागवत नाम से अभिहित होते हैं ॥५५॥

लिङ्गपुराण में लिखित है—हे राजन् ! भक्तिमान् होकर श्रीहरिक्षेत्र में देवादिदेव श्रीविष्णु के यात्रा उत्सव प्रभृति का शुभानुष्ठान जो मानव करते हैं, एवं यत्नपूर्वक नित्य श्रीहरिविग्रह की पूजा करते हैं, वे ही भागवद्भक्त हैं । और जो मानव काय-वाक्य मन से नित्य नारायणपरायण हैं वे भी भागवत हैं ॥५६-५७

अथ वैष्णवधर्म्मनिष्ठतादि

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में लिखा है—जो विप्र, ताप प्रभृति पञ्च-संस्कार युक्त हैं, नवधा पूजा क्रिया विशिष्ट, एवं अर्थ पञ्चक ज्ञाता हैं, वे अवश्य ही महाभागवत हैं ॥५८॥

एकान्तिकता

गारुड़े—

एकान्तेन सदा विष्णौ यस्माद्दे वे परायणाः। तस्मादेकान्तिन प्रोक्तास्तद्भागवतचेतसः ॥५९॥

तद्विज्ञानेनानन्यपरता

एकादशे उद्धवप्रश्नोत्तरे (११।३३)—

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।

भजन्त्यनन्यभावेन ते वै भागवता मताः ॥६०॥

एकादशस्कन्धे (२।५०)—

न कामकर्म्मवीजानां यस्य चेतसि सम्भवः। वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥६१॥

सा च एकान्तिता चतुर्द्धा, तत्र धर्म्मानादरेण श्रीमदुद्धव-प्रश्नोत्तर एव (श्रीभा ११।११।३२)—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मया दिष्टानपि स्वकान्।

धर्म्मान् सन्त्यज्य यः सर्व्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ॥६२॥

पुरुषार्थश्च भक्तिरित्येतान् पञ्चार्थान्; यद्वा, पञ्चतत्त्वानि अनात्मात्म-परमात्म-परमेश्वर तद्भक्तानामित्येवं पञ्चानां याथार्थ्यानि वेत्तीति तथा सः। अशेषवैष्णवधर्म्म-समुचितत्वात् अस्य पूर्व्वतः श्रेष्ठत्वम्। तत्र च विप्रश्चेन्महाभागवतोत्तमः, अन्यस्तु महाभागवत इत्यर्थः ॥५८॥

एवं पृथक् पृथक् भगवद्भक्तानां लक्षणं लिखित्वा इदानीं तैः सर्व्वैरपि समुचितैर्भगवदेकनिष्ठतारूपं सख्यात्मनिवेदनविशेषात्मकं लक्षणविशेषं लिखति—न कामेति द्वादशभिः। तत्र एकान्तितायाः सामान्य-लक्षणम्—वासुदेवः वासुदेवनन्दनः श्रीकृष्ण एवैको निलय आश्रयो यस्येति। तल्लिङ्गमेव दर्शयति—कामाश्चाभिलाषा विषयभोगा वा, कर्म्माणि तत्कारणानि तत्सिद्धयर्थचेष्टा वा, वीजानि च वासनाः, तन्मूलानि तेषां यस्य चेतस्यपि सम्भव उत्पत्तिर्न स्यादिति। सर्वथा भगवदेकनिष्ठया तदन्यवाह्यान्तरचेष्टादि-रहितो य इत्यर्थः ॥६१॥

सा च सर्वनैरपेक्ष्येण तदेकनिष्ठतारूपा एकान्तिता चतुर्द्धा चतुर्भिः प्रकारैः। एको धर्म्मानादरः, अन्यश्च कर्म्मज्ञानाद्यशेषनिरपेक्षता, अपरो विघ्नाकुलत्वेऽपि रतिपरतापरश्च प्रेमैकपरतेति। तत्र धर्म्मानादरेणैकान्तितां लिखति—आज्ञायैवमिति। मया वेदरूपेणादिष्टान् स्वधर्म्मान् सन्त्यज्य सम्यक् त्यक्त्वा यो मां भजेत्। त्वर्थे चकारः, स तु सत्तमः पूर्व्वोक्तसाधुतः श्रेष्ठ इत्यर्थः। किमज्ञानात् नास्तिक्याद्वा? न, धर्म्माचरणे एवमीदृशान् कृपालुतादिसदृशान् सत्त्वशुद्धयादिगुणान्, विपक्षे दोषांश्च आज्ञाय सम्यक् ज्ञात्वापि मद्भक्त्यैव सर्व्वं भविष्यतीति दृढ़निश्चयेनैव सर्वधर्म्मान् मन्निष्ठनाविक्षेपकतया सन्त्यज्येत्यर्थः ॥६२॥

एकान्तिकता

गरुड़पुराण में लिखित है—एकान्तभाव से सदा देवदेव श्रीविष्णु के शरणागत होने से वे सब भगवद्गतचित्त भक्तगण ही एकान्ती नाम से अभिहित होते हैं ॥५९॥

तद्विज्ञानेनानन्यपरता

एकादशस्कन्ध के उद्धवप्रश्नोत्तर में वर्णित है—जो मानव, देश काल अपरिच्छिन्न, सर्वात्मा, सच्चिदानन्द-रूप मुझको जानकर अथवा न जानकर अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं वे सब भी महाभागवत हैं ॥६०॥

एकादशस्कन्ध में उक्त है—जिस व्यक्ति के चित्त में काम कर्म वासना की उत्पत्ति नहीं होती है, एवं वासुदेव ही जिनके एकमात्र आश्रय हैं, उन्हीं को निश्चय भागवतोत्तम जानना चाहिये ॥६१॥

सा च एकान्तिकी चतुर्द्धा, तत्र धर्म्मानादरेण श्रीमदुद्धव-प्रश्नोत्तर एव

उक्त एकान्तिता चार प्रकार की हैं—(१) धर्मानादरः, (२) कर्म ज्ञानाद्यशेष निरपेक्षता, (३) विघ्ना-

श्रीभगवद्‌गीतायाम् (१८।६६)—

सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६३॥

चतुर्थस्कन्धे (२९।४७)—

यदा यस्य नुगृह्णाति भगवानात्मभावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥६४॥

अन्यसर्व्वनिरपेक्षता

श्रीभगवदुद्धव-संवादे— (श्रीभा ११।२६।२७) ऐलोपाख्याने—

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः। निर्म्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥६५

सर्व्वान् नित्यनैमित्तिकादि-कर्म्मलक्षणान् परित्यज्य सर्व्वथा त्यक्त्वा मामेकं शरणं व्रज, मदेकनिष्ठो भवेत्यर्थः। यद्वा, शरणागतत्वमात्रेणापि मामेकमाश्रय, किमुतैकान्तित्वेन? ननु विहिताकरणेन पापं स्यात्, तत्राह—सर्व्वेभ्यो विहिताकरणजेभ्यः कथञ्चिन्निषिद्धाचरणजेभ्यश्च, तथा संसार-दुःखकारणकर्म्मरूपेभ्यः तद्वासनादिरूपेभ्योऽपि पापेभ्यो मोक्षयिष्यामीति। अतः मा शुचः, पापभयेन भीष्मद्रोणादिबधेन वा शोकं मा कुरु। एवञ्चान्यलोकशिक्षणार्थमर्ज्जुनमधिकृत्योक्तं, न तु तं प्रति तथोपदेशः, तस्य नरावतारत्वेन परम-सख्यादिना च स्वत एव परमभागवतत्वात् ॥६३॥

धर्म्मत्यागस्तु कर्म्मपरलोक-वेदापेक्षात्यागेनैव स्यात्, स च भगवतोऽनुग्रहेण भगवद्भक्तस्य स्वतः सम्पद्यत इत्याशयेन लिखति—यदेति। यस्य समनुग्रहे हेतु—आत्मनि मनसि भावितो ध्यातः सन्; यद्वा, स तदा आत्मभावितः शुद्धचित्तः सन् भगवद्भक्तियुक्तः सन् वा, लोकव्यवहारे वेदे च कर्म्ममार्गे परिनिष्ठितां पूर्व्व-जन्माभ्यासेन परमनिष्ठां प्राप्तामपि मतिं जहाति। अतएव श्रीभगवद्‌गीतासु (२।४५)—'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्ज्जुन' इति ॥६४॥

एवं धर्म्मानादरेणैकान्तितालक्षणं लिखित्वा इदानीं भगवद्‌व्यतिरिक्तैहिकामुष्मिकाद्यशेषनैरपेक्ष्येण या एकान्तिता, तल्लक्षणं लिखति—सन्त इति। सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः'(श्रीभा ११।२६।२६) इत्युक्तयापेक्षितं सतां लक्षणं मुख्यमाह—सन्त इति। अनपेक्षाः मद्‌व्यतिरिक्ते कुत्रचिदपेक्षारहिता ये ते सन्तः। तत्र हेतुः—मय्येव चित्तं येषां ते; प्रशान्त इत्यादिविशेषणषट्कस्य यथासम्भवं हेतुहेतुमत्तोह्या। तत्र प्रशान्ता रागद्वेषादिरहिताः, समदर्शिनः मित्रे शत्रौ चैकदृष्टयः, निर्म्ममा ममत्वमोहहीनाः, निरहङ्काराः अभिमान-शून्याः, निर्द्वन्द्वाः शीतोष्णादिनाऽनाकुलाः निष्परिग्रहाः अकिञ्चनाः ॥६५॥

कुत्रत्वेऽपि रतिपरता, (४) प्रेमैकपरतेति। वर्णाश्रमादि धर्म के प्रति अनादर द्वारा भगवद्भक्त का लक्षण श्री उद्धव के प्रश्नोत्तर में प्रकाशित है। हे उद्धव! जो मानव, मत्कर्त्तृक वेद द्वारा उपदिष्ट स्वधर्मसमूह को परित्याग पूर्वक एवं धर्माधर्म के गुणदोष को जानकर मेरा भजन करते हैं, वे भी सत्तम हैं ॥६२॥

श्रीभगवद्‌गीता में लिखित है—हे पार्थ! नित्यनैमित्तिकादि कर्मलक्षण युक्त सर्व प्रकार धर्म परित्याग पूर्वक एकमात्र मेरा ही भजन करो, मेरी ही शरण ग्रहण करो, मैं तुमको समस्त पापों से मुक्त करूँगा। सुतरां पाप भय से कर्त्तव्य पराङ्मुख एवं शोकग्रस्त न हो ॥६३॥

अतएव चतुर्थस्कन्ध में लिखित है—जब प्रभु भगवान् मनोमध्य में ध्यान का विषयीभूत होकर कृपा करते हैं, उसी समय वह पुरुष वेद विषय में परिनिष्ठिता मति को विसर्जन करता है ॥६४॥

अन्यसर्व्वनिरपेक्षता

श्रीमदुद्धव-संवाद के ऐलोपाख्यान में वर्णित है—निरपेक्ष, मद्‌गतचित्त, प्रशान्त, समदर्शी, निर्मम, निरहङ्कार, निर्द्वन्द्व एवं निष्परिग्रह होने पर ही साधुवृन्द सत् संज्ञा से अभिहित होते हैं ॥६५॥

अतएव श्रीकपिलदेवहूति-संवादे (श्रीभा ३।२५।२४)—

त एते साधवः साध्वि सर्व्वसङ्गविवर्जिताः । सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥६६

विघ्नाकुलत्वेऽपि मनोरतिपरता

स्कान्दे तत्रैव—

यस्य कृच्छ्रगतस्यापि केशवे रमते मनः । न विच्युता च भक्तिर्वै स वै भागवतो नरः ॥६७॥

आपद्गतस्य यस्येह भक्तिरव्यभिचारिणी । नान्यत्र रमते चित्तं स वै भागवतो नरः ॥६८॥

प्रेमैकपरता च

श्रीऋषभदेवस्य पुत्रानुशासने (श्रीभा ५।५।३)—

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था, जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु, न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥६९॥

सर्व्वेण वाह्येन आन्तरेण च सङ्गेन अन्यासक्त्या च विशेषतो वर्ज्जिता रहिताः । एतच्च एकान्तिलक्षणं दर्शितम् । अथ अतः तेष्वेव सङ्गस्त्वया प्रार्थ्यः, स्वतः परमपुरुषार्थत्वेन परमदुर्ल्लभत्वान्मनसापि वाञ्छनीयः, किमुत वक्तव्यं साक्षात्कार्य्य इत्यर्थः । यद्वा, ननु तर्हि तैः सह मम सङ्गो भवता क्रियताम्, तत्राह— तैः सङ्गः तेष्वेव त्वया प्रार्थ्यः । एवार्थे अथ शब्दः, तेषां कृपयैव स्वभक्त्या तत्सङ्गः प्राप्येत, न त्वन्यथेत्यर्थः । ननु सङ्गतः कथञ्चिद्रागद्वेषा अपि सम्भवेयुः, तत्राह—सङ्गे ये दोषास्तान् हरन्तीति तथा ते; यद्वा, सर्व्व-सङ्गविवर्ज्जितानां तेषां सङ्गो गृहादिसङ्गवत्या मया कथं प्राप्यः ? तत्राह— सङ्गेति । गृहादिसङ्गदोषं दर्शनमात्रेणैव ते हरिष्यन्तीत्यर्थः ; यद्वा, सङ्ग एव दोषरूपो येषां ते निःसङ्गा यतय इत्यर्थः, तानपि हरन्ति स्वगुणैराकर्षन्तीति तथा ते । अतस्तेषां माहात्म्येनैवाकृष्टा सती स्वयमेव सर्व्वं त्यक्त्वा यास्यतीत्यर्थः । अलमतिविस्तरेण ॥६६॥

रतिर्भावः, स च आगमे 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते' इति तत्परतया मनोरम इति रतिरुक्ता । भक्तिः श्रवणादिलक्षणा, भागवतोत्तमा इति वा पाठः, एवमग्रेऽपि । भक्तिरत्र रतिः, अन्यत्र केशव-व्यतिरिक्ते चित्तं न रमते, तत्र प्रेमाकृष्टत्वात् ॥६७-६८॥

अधुना प्रेमैकपरतया यैकान्तिता, तल्लक्षणं लिखति—ये वेति त्रिभिः । पूर्व्वं 'महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ताः' इत्यर्द्ध-श्लोकेन महतां सामान्यलक्षणमुक्त्वा इदानीं मुख्यलक्षणमाह—मयि ईशे भगवति कृतं सौहृदं प्रेमैव अर्थः पुरुषार्थं येषां ते । वा-शब्देनान्यनिरपेक्षस्यैवास्य लक्षणत्वं दर्शितम् । तद्वाह्यलिङ्गमाह—

अतएव कपिलदेवहूति संवाद में उक्त है—हे साध्वि ! सर्वसङ्ग विवर्जित होने से ही उसको साधु कहा जाता है । उस प्रकार साधुसङ्ग ही आपको प्रार्थनीय है । कारण, साधुगण, सङ्गजनित दोष को विदूरित करते हैं ॥६६॥

विघ्नाकुलत्वेऽपि मनोरतिपरता

विघ्नाकुल होने पर भी श्रीकृष्ण में चित्तानुरक्तता का वर्णन करते हैं, स्कन्दपुराण में वर्णित है—विघ्न उपस्थित होने पर भी जिसका मन श्रीहरि में अनुरक्त रहता है, एवं श्रीहरिभक्ति से विचलित नहीं होता है, उनको सुनिश्चित श्रीहरिभक्त कहा जाता है । आपत् प्राप्त होने पर भी जिसमें श्रीहरिभक्ति ऐकान्तिक रूप से विद्यमान रहता है, जिसका मन श्रीहरिव्यतीत अन्यत्र आसक्त नहीं है, उसी को भागवत कहा जाता है ॥६७-६८॥

श्रीमद्भागवत के पञ्चमस्कन्ध में ऋषभदेव के पुत्रानुशासन में वर्णित है—जो ईश्वररूपी मुझमें सौहार्द्य स्थापन करते हैं, एवं उसको ही पुरुषार्थ जानते हैं, विषयानुरक्तजन के प्रति एवं पुत्रकलत्रादि सम्पन्न गृह

त्रिधा प्रेमैकपरता प्रेम्णः स्यात्तारतम्यतः । उत्तमा मध्यमा चासौ कनिष्ठा चेति भेदतः ॥७०॥

तत्रोत्तमा

यथा एकादशे हविर्योगेश्वरोत्तरे (२।४५)—

सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥७१॥

स्वेष्टदेवस्य भावं यः सर्व्वभूतेषु पश्यति । भावयन्ति च तान्यस्मिन्नित्यर्थः सम्मतः सताम् ॥७२॥

श्रीकपिलदेवहूति-संवादे (श्रीभा ३।२५।२२)——

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्व्वन्ति ये दृढ़ाम् । मत्कृते त्यक्तकर्म्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥७३॥

देहं बिभर्त्तीति देहम्भरा विषयवार्त्ता एव न धर्म्मादिविषयवार्त्तापि येषु; यद्वा, देहम्भरैव वार्त्ता जीवनोपाय-धनादिर्न तु भगवत्पूजाद्यर्था येषां तेषु जनेषु गृहेषु च जायादियुक्तेषु न प्रीतियुक्ताः । रातिर्मित्रं धनं वा, लोके यावदर्थाश्च यावदर्थमेवार्थो येषां मध्यपदलोपी समासः । देहनिर्व्वाहाधिक-स्पृहाशून्या इत्यर्थः । यद्वा, ननु प्रीत्यभावाद्देहादीनामुपेक्षापरतया देहनिर्व्वाहः कथमस्तु ? तत्राह- लोके यावानर्थोऽस्ति, स एवार्थो येषाम्, लोकाः प्रारब्धवशेन स्वयमेव स्वधनादिना तद्देहपोषणादिकं कुर्य्युरेवेति भावः । पूर्व्वमासक्ति-रहिततोक्ता, अनासक्तौ च कथञ्चित् कदाचित् कुत्रापि प्रीतिरपि घटेत, किन्तु आसक्त्यभावान्निर्मूला विनश्वरा च। तत्र च सर्व्वथा सर्व्वदा सर्व्वत्र प्रीतिराहित्यमेवोक्तम्, अत अस्य लक्षणस्य पूर्व्वतोऽपि श्रेष्ठ्यं द्रष्टव्यम् । एवमग्रेऽपि । ६९॥

न विद्यतेऽन्यत् किञ्चित् फलानुसन्धानादिकं यस्मिन् तेन विशुद्धेन भावेनेत्यर्थः । भावेन प्रेम्णा, अतएव दृढ़ां परमनिष्ठां प्राप्तां भक्तिं श्रवणादिरूपां विविधां केवलनामसंकीर्त्तनात्मिकां वा ये कुर्व्वन्ति, ते साधव इत्युत्तरश्लोकेनान्वयः । अतएव मत्कृते मम कर्मणि निमित्ते ; यद्वा, मत्प्राप्त्यर्थं, यद्वा, मत्प्रीत्येत्यर्थः ; त्यक्तानि कर्म्माणि नित्यनैमित्तिकादीनि सर्व्वाण्येव यैः ; तथा त्यक्ताः स्वजना ज्ञातयो बान्धवाश्च सम्बन्धिनो यैस्ते । एतच्च प्रेमनिष्ठताया बाह्यलक्षणं ज्ञेयम् । पूर्व्वमासक्तित्याग एव, ततश्च प्रीत्यभाव एवोक्तः । अत्र सर्व्वथा समूलत्याग एव दर्शितः । एवं पूर्व्वपूर्व्वतोऽस्य श्रेष्ठ्यमायातम् । इत्थं व्रतपरतामारभ्य प्रेमपरतापर्य्यन्त-मुत्तरोत्तरं, तथा तत्तदवान्तरे च श्रेष्ठ्यमूह्यम् । अतएव सर्वतः श्रेष्ठतमत्वादस्याः सर्व्वान्ते लिखनम् । एवं श्रीहविर्योगेश्वरेणापि 'विसृजति' इत्येतदुक्तमिति दिक् ॥७३॥

में जिनका अभिलाष नहीं है, एवं जो सब मानव, देहयात्रा निर्वाहार्थ विपुल धन की आकाङ्क्षा नहीं करते हैं, वे सब ही महापुरुष हैं ॥६९॥

प्रेम के तारतम्यानुसार त्रिविध प्रेमैकपरता हैं—उत्तमा, मध्यमा एवं कनिष्ठा ॥७०॥

तत्रोत्तमा

एकादश स्कन्धस्थ हविर्योगेश्वर के उत्तर में सुव्यक्त है—जो सर्व प्राणीवर्ग में स्वीय भगवद्भाव, एवं भगवान् में सर्वभूत को निरीक्षण करते हैं, वे ही भागवत श्रेष्ठ हैं ॥७१॥

जो मानव सर्व प्राणीवृन्द में स्वीय अभीष्टदेव का भाव अर्थात् सत्ता को अवलोकन करते हैं, एवं भगवान् में भूतगण की अवस्थिति की चिन्ता करते हैं, वे ही साधुवृन्द सम्मत भागवत हैं ॥७२॥

श्रीकपिल-देवहूति-संवाद में लिखित है—जो मानव, प्रेमनिष्ठाहेतु मत्प्रति अनन्यभाव से दृढ़ भक्तिमान् होते हैं, उन सबको मन्निमित्त कर्मत्याग एवं स्वजन बन्धुबान्धवादि को परित्याग करना यदि पड़ता है, वह भी करते हैं ॥७३॥

श्रीहवियोगेश्वरोत्तरे च (श्रीभा ११।२।५५)

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा,-द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रि पद्मः, स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥७४॥

तत्र मध्यमा

हवियोगेश्वरोक्तावेव (श्रीभा ११।२।४६)—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च । प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।७५॥

तत्र कनिष्ठा

तत्रैव (श्रीभा ११।२।४७) —

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥७६॥
श्रद्धया पूजनं प्रेमबोधकं भक्त इत्यपि । लक्षणानि च यान्यग्रे भक्तेर्लेख्यानि तान्यपि ॥७७॥
वन्दनादीनि विद्यन्ते येषु भागवता हि ते । एतानि लक्षणानीत्थं गौणमुख्यादिभेदतः ।७८॥
ऊह्यानि लक्षणान्येवं विवेच्यानि पराण्यपि ॥७९॥

'सर्व्वभूतेषु यः पश्येत्' इत्यादिना बहुधा भागवतस्य लक्षणमुक्त्वा इदानीमुक्त-समस्तलक्षणसारमाह— विसृजतीति; हरिरेव साक्षात् स्वयं यस्य हृदयं न विसृजति न मुञ्चति; कथम्भूतः ? अवशेनाप्यभिहित-मात्रेऽपि अघौघं पापसमूहं संसारवेगं वा नाशयति यः सः । तत् किमिति न विसृजति ? यतः प्रणयरसनया प्रेमश्रृङ्खलया धृतं हृदये बद्धमङ्घ्रिपद्मं यस्य सः; स एव भागवतप्रधान उक्तो भवति तत्त्वविद्भिरिति। प्रधान-शब्दः 'कोषे अस्त्रियाम्' इत्युक्तः ; यद्वा, वैष्णवाग्रय इति पूर्व्वेण सम्बन्धः ; प्रकरणबलादध्याहार्य्यमेव वा। भागवतो भगवद्भक्तो भागवताख्यशास्त्रं वा प्रधानं यस्य स इति वाह्यलक्षणं तस्येति ॥७४॥

ननु 'सर्व्वभूतेषु यः पश्येत्' इत्यादौ बहुविधोऽपि भगवद्भक्तः, एष भागवतोत्तमः' इत्यादिना श्रीभागवते सामान्येनैव सर्व्व उक्तः, तथात्रापि लिखितः, किन्तु भगवद्व्रतकर्म्मादिपरताया ज्ञानादिपरतायाश्च तथा कथादिपरताया एकान्तितायाश्च पृथक् लिखनात् तारतम्यप्रतीतेर्भेदो भासत एव, स च व्यक्त न लिखितः;

श्रीहवियोगेश्वर के उत्तर में प्रकाशित है—अवशभाव से भी जिनका नामोच्चारण करने से समस्त पातक विनष्ट होते हैं, वह भगवान् श्रीहरि, प्रेमरज्जु द्वारा बद्धपादपद्म होकर जिनके हृदय को त्याग नहीं करते हैं, वे ही 'भागवतश्रेष्ठ' शब्द से अभिहित्त हैं ॥७४॥

तत्र मध्यमा

श्रीहवियोगेश्वर की उक्ति यह है—जो भगवान् में प्रेम, भगवद्भक्त में मित्रता, अज्ञजन के प्रति कृपा, एवं भगवद्विमुख के प्रति उपेक्षा करते हैं, भेद ज्ञान निबन्धन वे मध्यम भक्त हैं ॥७५॥

तत्र कनिष्ठा

उक्त हवियोगेश्वर उपाख्यान में वर्णित है—जो मानव, श्रद्धापूर्वक श्रीहरि की अर्च्चना करते हैं, किन्तु हरिभक्त अथवा अपर की पूजा में पराङ्मुख हैं, वे प्राकृतभक्त हैं, अर्थात् प्रथमारम्भ भक्त हैं, पर्य्याय क्रम से भक्तिशास्त्रोपदेश प्राप्तकर उत्तमाधिकारी हो सकते हैं ॥७६॥

श्रद्धापूर्वक भक्त व्यक्ति का भगवदर्च्चन ही प्रेमबोधक है। अनन्तर वन्दनादि जो सब भक्तिलक्षण विवृत होंगे, वे सब लक्षणान्वित होने से ही भगवद्भक्त आख्या होगी ॥७७॥

इस प्रकार जो सब व्रतपरावधि- महाभागवत लक्षण यावत् प्रेम भक्तवद् भक्त लक्षण वर्णित हुये हैं, तन्मध्य में किञ्चिदंश गौण एवं किञ्चिदंश को मुख्य रूप से जानना चाहिये ॥७८-७९॥

ईदृग्लक्षणवन्तः स्युर्दुर्ल्लभा बहवो जनाः । दिव्या हि मणयो व्यक्तं न वर्त्तेरन्नितस्ततः ॥८०॥

अतएवोक्तं मोक्षधर्म्मे नारदीये—

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः । सात्त्विको स तु विज्ञयो भवेन्मोक्षार्थनिश्चयः ॥८१॥ इति

एवं संक्षिप्य लिखिताद्वैष्णवानान्तु लक्षणात् ।
माहात्म्यमपि विज्ञेयं लिख्यतेऽन्यच्च तत् कियत् ॥८२॥

अथ भगवद्भक्तानां माहात्म्यम्

सौपर्णे श्रीशक्रोक्तौ—

कलौ भागवतं नाम यस्य पुंसः प्रजायते । जननी पुत्त्रिणी तेन पितृणान्तु धुरन्धरः ॥८३॥

कथं विवेचनीय इत्यपेक्षायां लिखति—एतानीति । इत्थमनेन लिखितप्रकारेण, लिखितानि एतानि व्रत-परतादीनि महाभागवतलक्षणान्तानि भगवद्भक्तलक्षणानि गौणमुख्यादिभेदेन कानि च गौणानि वनिह्यानि, कानि च मुख्यानि; आदि-शब्दात् तत्रैव कानिचिद्वहिरङ्गाणि कानिचिच्चान्तरङ्गाणीत्यादिभेदेन ऊह्यानि विविच्य बोद्धव्यानि । तत्र व्रतकर्म्मादिपरता गौणलक्षणं, ज्ञानादिपरता तत्तदपेक्षया मुख्यलक्षणमपि भक्तेर्वहिरङ्गमेव ; अतएव सा तस्य साक्षाद्भगवद्भक्तलक्षणासम्पत्तेस्तत्र तत्र भक्तिहेतुरिति लिखितम् । श्रवणादीनि च मुख्यलक्षणान्यन्तरङ्गाण्येव, एकान्तिता च परममुख्या अत्यन्तान्तरङ्गा च, तत्र तत्रैवान्तर-गौणमुख्यादीन्यप्यूह्यानि । एवं गौणमुख्यादिभेदेन अपराणि अत्र लिखितानि वन्दनादीन्यपि विवेच्यानि, विविच्य ज्ञेयानि, तथा तत्तल्लक्षणानां तारतम्यादिना भगवद्भक्तानामपि तारतम्यं विवेचनीयमिति दिक् ॥ ७८-७९॥

ननु कर्म्मज्ञानादिपराः सर्व्वत्र बहवो दृश्यन्ते, लिखितलक्षणाश्च महाभागवता एकान्तिनो न दृश्यन्ते, सत्यं ते निगूढ़ा एवेति लिखति—ईदृगिति । तथा च हरिभक्तिसुधोदये—'सुदुर्ल्लभा भागवता हि लोके' इति । दिव्या अमूल्याश्चिन्तामण्यादयः, इतस्ततः सर्व्वत्रेत्यर्थः; व्यक्तमिति सन्त्येव, अन्यथा लोकरक्षानुपपत्तेः। किन्तु, अलक्षितं क्वचित् कश्चित् वर्त्तत इति भावः ॥८०॥

स एव मोक्षार्थे मोक्षस्य अर्थः फलं भक्तिस्तस्मिन्निश्चितः कृतनिश्चयो भवति; एवं परमदुर्ल्लभत्वमेव सिद्धम् ॥८१॥

'सुप्रियः श्रीपतिर्येषाम्' इत्यादिरूपात्, तथा 'सदाचाररताः' इत्यादिरूपात्, 'तितिक्षवः' इत्यादिरूपाच्च, 'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः' (श्रीभा ५।५।२) इत्यादिरूपादपि लक्षणात् विज्ञेयं स्यादेव; तत् माहात्म्य अन्यच्च कियत् संक्षिप्तं लिख्यते ॥८२॥

भागवतं नाम—वैष्णव इति नाम; यद्वा, श्रीकृष्णदासेत्यादिसंज्ञापि; तथापि दीक्षयैव तादृशनामोदयात् भगवद्भक्तत्वं सिद्धमेव; यद्वा, नाममात्रेण तादृश-माहात्म्यं, किं पुनराचारादिनेत्यर्थः । एवमन्यदप्यूह्यम् ॥८३

उक्त लक्षणाक्रान्त बहु व्यक्ति दुर्ल्लभ होते हैं, अर्थात् अति स्वल्प संख्यक होते हैं । कारण, चिन्तामणि प्रभृति अमूल्य रत्नसमूह सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते हैं ॥८०॥

अतएव नारदीय पुराण के मोक्ष धर्म प्रसङ्ग में उक्त है—भगवान् मधुसूदन, जिस प्रादुर्भूत पुरुष के प्रति दृष्टिनिःक्षेप करते हैं, वह सात्त्विक शब्द से कथित होता है, वही मनुष्य, मुक्ति फल भक्ति हेतु दृढ़ निश्चय का होता है ॥८१॥

इस प्रकार संक्षेप से वर्णित लक्षण द्वारा वैष्णव माहात्म्य को भी जानना होगा। अधुना संक्षेप से अपर कतिपय वैष्णव माहात्म्य कहा जाता है ॥८२॥

अथ भगवद्भक्तानां माहात्म्यम्

गरुड़पुराण में इन्द्र की उक्ति यह है—कलिकाल में भगवद्भक्त नाम से प्रसिद्ध होने से, उक्त पुरुष के

कलौ भागवतं नाम दुर्लभं नैव लभ्यते । ब्रह्मरुद्रपदोत्कृष्टं गुरुणा कथितं मम ॥८४॥

यस्य भागवतं चिह्नं दृश्यते तु हरिर्मुने । गीयते च कलौ देवा ज्ञेयास्ते नास्ति संशयः ॥८५॥

श्रीमार्कण्डेयोक्तौ—

समीपे तिष्ठते यस्य ह्यन्तकालेऽपि वैष्णवः । गच्छते परमं स्थानं यद्यपि ब्रह्महा भवेत् ॥८६॥

नारदीये श्रीवामदेव-रुक्माङ्गद संवादे—

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णोर्भक्तो द्विजाधिकः । विष्णुभक्तिविहीनो यो यतिश्च श्वपचाधिकः ॥८७

स्कान्दे रेवाखण्डे श्रीब्रह्मोक्तौ—

इन्द्रो महेश्वरो ब्रह्मा परं ब्रह्म तदैव हि । श्वपचोऽपि भवत्येव यदा तुष्टाऽसि केशव ॥८८॥

श्वपचादपि कष्टत्वं ब्रह्मेशानादयः सुराः । तदैवाऽच्युत यान्त्येते यदैव त्वं पराङ्मुखः ॥८९॥

स कर्त्ता सर्व्वधर्म्माणां भक्तो यस्तव केशव । स कर्त्ता सर्व्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ॥९०

गुरुणा श्रीवृहस्पतिना ॥८४॥

चिह्नं तप्तमुद्रादिलक्षणं, हरिर्गीयते च यैः ते कलौ देवा ज्ञेयाः । कलावित्यस्य पूर्व्वेण वान्वयः ॥८५॥

गच्छते गच्छति ॥८६॥

द्विजात् विप्रादप्यधिक उत्तमः, श्वपचादप्यधिकः परमनिकृष्ट इत्यर्थः । अधम इत्येव वा पाठः ॥८७॥

यदा तुष्टोऽसि, तदैव श्वपचोऽपि इन्द्रादिर्भवति । तत्र परब्रह्मेति — मुक्तस्तन्मयो वेत्यर्थः ॥८८॥

न च्युतः, कथञ्चिदपि न भ्रष्टो भवति भक्तो यस्मादिति तत्सम्बोधनम्—हे अच्युतेति । तथा चोक्तम्—'न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि । अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः' इत्यादि; एतच्चाग्रे लेख्यमेव ॥९०

द्वारा जननी पुत्रवती होती है, एवं वही पुरुष पितृ पुरुषों का भारवाही होता है, अर्थात् उद्धारकर्त्ता होता है ॥८३॥

कलियुग में भगवद्भक्त नाम दुष्प्राप्य है, कदाच प्राप्य नहीं है । भागवत नाम ब्रह्म रुद्रपद से भी उत्तम है, गुरु वृहस्पति ने मेरे समीप ऐसा कहा है ॥८४॥

हे मुने ! कलिकाल में, जो मानव, तप्तमुद्रादि चिह्न धारण करते हैं, जिनके मुख से श्रीहरिनाम कीर्त्तित होता है, वे सब निःसन्देह देव सदृश हैं ॥८५॥

श्रीमार्कण्डेय की उक्ति है—मृत्युकाल में समीप में वैष्णवजन अवस्थित होने पर ब्रह्मघाती पापी भी परमपद प्राप्त करने में समर्थ होता है ॥८६॥

नारदीय पुराण के वामदेव-रुक्माङ्गद-संवाद में वर्णित है—हे राजन् ! वैष्णव होने से श्वपच व्यक्ति भी द्विज से उत्तम होता है एवं विष्णुभक्ति विवर्जित होने से यतिव्यक्ति भी श्वपच से हीन गण्य होता है ।

स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में श्रीब्रह्मोक्ति में प्रकाश है—हे केशव ! तुम्हारी प्रसन्नता होने पर श्वपच भी इन्द्र, शिव, ब्रह्मा एवं परमब्रह्म स्वरूप होता है और तुम्हारी विमुखता होने पर महादेव, विरिञ्चि प्रभृति देववृन्द भी श्वपचाधम होते हैं ॥८७-८९॥

हे अच्युत ! त्वद् भक्त ही सर्वधर्मकर्त्ता एवं तुम्हारे प्रति भक्तिहीन होने पर ही उनको समस्त पापों से पापी जानना चाहिये ॥९०॥

धर्म्मो भवत्यधर्म्मोऽपि कृतो भक्तैस्तवाच्युत ।
पापं भवति धर्म्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे ॥९१॥

निःशेषधर्म्मकर्त्ता वाऽप्यभक्तो नरके हरे । सदा तिष्ठति भक्तस्ते ब्रह्महापि विशुध्यति ॥९२॥
निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्द्दन । मुक्ता एव हि भक्तास्ते तव विष्णो यतो हरे ॥९३

तत्रैव दुर्व्वासोनारद-संवादे—
नूनं भागवता लोके लोकरक्षाविशारदाः । व्रजन्ति विष्णुनादिष्टा हृदिस्थेन महामुने ॥९४॥
भगवानेव सर्व्वत्र भूतानां कृपया हरिः । रक्षणाय चरँल्लोकान् भक्तरूपेण नारद ॥९५॥

तत्रैव श्रीब्रह्मनारद-संवादे—
यस्तु विष्णुपरो नित्यं दृढ़भक्तिर्जितेन्द्रियः । स्वगृहेऽपि वसन् याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९६॥
अश्वमेघसहस्राणां सहस्रं य करोति वै । नासौ तत्फलमाप्नोति तद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥९७॥

तव भक्तैः कृतः अधर्म्मः कदाचित्तीर्थादावधिकप्रतिग्रहादिना पापमपि धर्म्म एव भवति, भक्त्या त्वदर्थमेव कृतत्वात् । तवाभक्तैः कृतो धर्म्मो योगादिरपि पापमेव भवति, त्वदनादरात्; तदुक्तम्—'अरिमित्रं विषं पथ्यमधर्मो धर्मतां व्रजेत् । प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे विपरीते विपर्य्ययः ॥' इति ॥९१॥

नरके सदा तिष्ठति, अभक्त्या भगवदनादरेण नास्तिकत्वापत्तेः; तथा चोक्तमेकादशस्कन्धे (५।३)—'य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् । न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ।' इति ॥९२॥

देहान्ते विमुच्यत इति किं वक्तव्यं, त्वयि भक्तिनिष्ठया तस्मिन्नेव देहे मुक्त एवासावित्याशयेनाह—निश्चलेति । जनार्द्दन हे जन्मलक्षणसंसारनाशक ! विष्णो हे अपरिच्छिन्न ! हरे हे संसार दुःखहरेति सम्बोधनत्रयेण तव भक्तेर्भक्तानाञ्च तादृशत्वं युक्तमेवेति द्योत्यते ॥९३॥

व्रजन्तीत्यादौ गच्छन्ति भ्रमन्तीति वा ॥९४॥

नित्यं विष्णुपरत्वे हेतुः—दृढा निश्चला भक्तिर्यस्येति, अतएव जितेन्द्रियः । येषां वैष्णवानाम्, अतएव महात्मनां स्मरणमात्रेण ॥९६-९९॥

हे अच्युत ! हे हरे ! त्वद्भक्तगणानुष्ठित अधर्म भी धर्म एवं तुम्हारे अभक्तगण आचरित धर्म भी अधर्म में गणनीय है ॥९१॥

हे हरे ! तुम्हारे प्रति अभक्तिमान् पुरुष नरक में निवास करता है, और तुम्हारे प्रति भक्तिमान् होने से ब्रह्मघाती भी पवित्र होता है ॥९२॥

हे जनार्दन ! हे विष्णो ! हे हरे ! त्वत्प्रति जो अचला भक्ति है, वह ही मुक्ति शब्द से कीर्त्तित है, अतएव त्वद्भक्तगण ही मुक्त हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥९३॥

उक्त पुराण के दुर्वासा-नारद-संवाद में वर्णित है—हे महामुने ! लोक रक्षा विशारद भगवद्भक्तगण हृदयाधिष्ठित श्रीहरि की आज्ञानुसार संसार में विचरण करते हैं ॥९४॥

हे नारद ! भूतगण की रक्षा हेतु कृपा परवश होकर भगवान् जनार्दन ही भक्तरूप में निखिल लोक में परिभ्रमण करते हैं ॥९५॥

उक्त पुराण के श्रीब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—नित्य दृढ़ा भक्तियुक्त, हरिपरायण, जितेन्द्रिय व्यक्ति निज गृह में अवस्थित होकर भी विष्णुधाम गमन करते हैं, दशलक्ष अश्वमेधयज्ञकारी व्यक्ति भी हरिभक्तगण प्राप्य फल प्राप्त करने में असमर्थ हैं ॥९६-९७॥

तत्रैवामृतसारोद्धारे श्रीयम-तद्दूतसंवादे—

सर्व्वत्र वैष्णवाः पूज्याः स्वर्गे मर्त्ये रसातले । देवतानां मनुष्याणां तथैवोरगरक्षसाम् ॥९८॥

येषां स्मरणमात्रेण पाप-लक्षशतानि च । दह्यन्ते नात्र सन्देहो वैष्णवानां महात्मनाम् ॥९९॥

येषां पादरजेनैव प्राप्यते जाह्नवीजलम् । नार्म्मदं यामुनं चैव किं पुनः पादयोर्जलम् ॥१००॥

येषां वाक्यजलौघेन विना गङ्गाजलैरपि । विना तीर्थसहस्रेण स्नातो भवति मानवः ॥१०१

तत्रैव चातुर्म्मास्यमाहात्म्ये—

तावद्भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डतत्पराः । यावत् कुले भक्तियुक्तः सुतो नैव प्रजायते ॥१०२

स एव ज्ञानवाँल्लोके योगिनां प्रथमो हि सः । महाक्रतूनामाहर्त्ता हरिभक्तियुतो हि यः ॥१०३॥

काशीखण्डे ध्रुवचरिते—

न च्यवन्ते हि यद्भक्त्या महत्यां प्रलयापदि ।
अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्व्वगोऽव्ययः ॥१०४॥
न तस्माद्भगवद्भक्ताद्भेतव्यं केनचित् क्वचित् ।
नियतं विष्णुभक्ता येन ते स्युः परतापिनः ॥१०५॥

तत्रैवाग्रे—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः ।
विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्व्वोत्तमोत्तमः ॥१०६॥

पादस्य रजेन रजसैव, नार्म्मदं यामुनञ्च जलं प्राप्यते । किं पुनस्तेषां पादयोर्ज्जलं, तन्महिमा किं पुनर्वक्तव्य इत्यर्थः । अस्य पानसम्भवेन रजसः सकाशात् माहात्म्यापेक्षया किं पुनरिति न्यायोक्तिः ॥१००॥

वाक्यमुपदेशरूपं भगवत्कथाकीर्त्तनादिरूपं वा, तदेव जलौघः पयःपूरः, तेनैव ॥१०१॥

प्रलयापदि अपि ॥१०४॥

उस पुराण के अमृतसारोद्धारस्थ श्री यमदूत-संवाद में वर्णित है—वैष्णवगण, स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, सर्वत्र ही देवता, मनुष्य, पन्नग एवं राक्षसकुल कर्त्तृक पूजनीय हैं। वैष्णव महात्मावृन्द का स्मरण से ही निःसन्देह शतलक्ष पाप विनष्ट होते हैं ॥९८-९९॥

जिनकी चरणधूलि से जाह्नवी, नर्मदा एवं यमुना जल प्राप्त होता है, जिनके उपदेश से किंवा भागवत सङ्कीर्त्तनरूप सलिल द्वारा मानवगण असंख्य तीर्थ एवं गङ्गोदक व्यतीत भी स्नान होते हैं, उनके चरणोदक का माहात्म्य और क्या वर्णन करूँ ? ॥१००-१०१॥

उक्त पुराण के चातुर्मास्य माहात्म्य में वर्णित है— यावत्काल वंश में भक्तिमान् पुत्र उत्पन्न नहीं होता है, तावत्काल ही पितृकुल पिण्डलुब्ध होकर संसार में भ्रमण करते हैं। संसार में हरिभक्ति परायण पुरुष ही ज्ञानी, योगीश्रेष्ठ एवं सर्वयज्ञ आहर्त्ता नाम से अभिहित है ॥१०२-१०३॥

काशीखण्ड के ध्रुवचरित में उक्त है— महाप्रलय रूप आपद में भी हरिभक्तिगण विच्युत नहीं होते हैं, तज्जन्य ही अखिल संसार में अच्युत, सर्वगामी एवं अव्यय शब्द से कीर्त्तित होते हैं। सुतरां हरिभक्त से किसी प्रकार से भय की आशङ्का नहीं है। विष्णुभक्तगण कदाच अन्य को ताप प्रदान नहीं करते हैं ॥१०४-१०५॥

उक्त पुराण के अग्रिम भाग में लिखित है—विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अपर जाति क्यों न हो,

शङ्खचक्राङ्किततनुः शिरसा मञ्जरीधरः। गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः ॥१०७॥

महाभारते राजधर्म्मे—

ईश्वरं सर्व्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम्। भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१०८॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

शयनादुत्थितो यस्तु कीर्त्तयेन्मधुसूदनम्। कीर्तनात्तस्य पापानि नाशमायान्त्यशेषतः ॥१०९॥

तत्रैव—

यस्याप्यनन्ते जगतामधीशे, भक्तिः परा यादवदेवदेवे।

तस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, पात्रं त्रिलोके पुरुषप्रवीर ॥११०॥

द्वारका-माहात्म्ये श्रीप्रह्लादबलि-संवादे—

नित्यं ये प्रातरुत्थाय वैष्णवानान्तु कीर्त्तनम्।

कुर्व्वन्ति ते भागवताः कृष्णतुल्याः कलौ बले ॥१११॥

हरिभक्तिसुधोदये—

स्वदर्शन-स्पर्शनपूजनैः कृती, तमांसि विष्णुप्रतिमेव वैष्णवः।

धुन्वन् वसत्यत्र जनस्य यन्न तत्, स्वार्थं परं लोकहिताय दीपवत् ॥११२॥

इतिहाससमुच्चये श्रीलोमशवाक्ये—

ये भजन्ति जगद्योनिं वासुदेवं सनातनम्। न तेभ्यो विद्यते तीर्थमधिकं राजसत्तम ॥११३॥

तुलसीमञ्जरीधरः, शिरसेत्यत्र तुलसीति वा पाठः; तत्तदा ॥१०७॥

ये भक्ता अभजन्, दुर्गाणि दुस्तरविविधदुःखानि ॥१०८॥

विष्णुप्रतिमेव स्वदर्शनादिभिर्जनस्य सर्व्वलोकस्य तमांसि पापानि अज्ञानानि वा धुन्वन् नाशयन्; अत्र लोके वैष्णवो यद्वसति, तत्स्वार्थं न, किन्तु परं केवलं लोकहितायैव। अत्र दृष्टान्तः—यथा दीप इति ॥१११॥

ततोऽधिकं श्रेष्ठम् ॥११३॥

हरिभक्त होने से वह सर्वापेक्षा श्रेष्ठ परिगणित होता है। शङ्ख चक्र से चिह्नित गात्र, मस्तक-तुलसीमञ्जरी विभूषित, गोपीचन्दन लिप्ताङ्ग महात्मा को दर्शन करने से पातक की आशङ्का कहाँ होती है ?१०६-१०७॥

महाभारत के राजधर्म में लिखित है, सर्वभूतेश्वर, जगदुत्पत्ति लयकारी श्रीहरि के भक्तवृन्द, विविध दुष्पार दुःख से उत्तीर्ण होते हैं ॥१०८॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—निद्रा से उत्थित होकर मधुसूदन नाम कीर्त्तन करने से पातकराशि निःशेष से विदूरित होती है ॥१०९॥

उक्त ग्रन्थ में और भी वर्णित है—हे पुरुषप्रवर ! जो अनन्त, जगदीश्वर, यादव, देवदेव श्रीहरि के प्रति भक्तिपरायण होते हैं, त्रिभुवन में तदपेक्षा अन्य अपर उत्कृष्ट पात्र नहीं हैं ॥११०॥

द्वारका माहात्म्य के प्रह्लाद-बलि-संवाद में कथित है—हे बले ! जो मानव, प्रत्यह प्रातःकाल में उठकर वैष्णव नामकीर्त्तन करते हैं, कलियुग में वे सब ही भागवत एवं कृष्णतुल्य हैं ॥१११॥

हरिभक्ति सुधोदय में उक्त है—पुण्यचरित वैष्णव, श्रीहरिप्रतिमा तुल्य, निज दर्शन, स्पर्शन एवं अर्चन द्वारा लोकों का अज्ञान विदूरित करने के निमित्त ही दीपवत् परहितार्थ संसार में निवास करते हैं, स्वयं के निमित्त नहीं ॥११२॥

इतिहाससमुच्चय में श्रीलोमश वाक्य इस प्रकार है—हे राजप्रवर ! जो मानव, जगत् कारण सनातन

यत्र भागवताः स्नानं कुर्व्वन्ति विमलाश्रयाः । तत्तीर्थमधिकं विद्धि सर्व्वपापविशोधनम् ।।११४
यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः । तत्र सन्निहितो विष्णुर्नृपते नात्र संशयः ।।११५।।
न गन्धैर्न तथा तोयैर्न पुष्पैश्च मनोहरैः । सान्निध्यं कुरुते देवो यत्र सन्ति न वैष्णवाः ।।११६।
बलिभिश्चोपवासैश्च नृत्यगीतादिभिस्तथा । नित्यमाराध्यमानोऽपि तत्र विष्णुर्न तृप्यति ।।११७
तस्मादेते महाभागा वैष्णवा वीतकल्मषाः । पुनन्ति सकलाँल्लोकांस्तत्तीर्थमधिकं ततः ।।११८।।
शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा । वीक्षते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम् ।।११९
तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत् । प्रसादसुमुखो विष्णुरतेनैव स्यान्न संशयः ।।१२०

तत्रैव श्रीनारदपुण्डरीक-संवादे—

ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचाररताः सदा । तेऽपि यान्ति परं धाम नारायणपराश्रयाः ।।१२१।।
लिप्यन्ते न च पापेन वैष्णवा विष्णुतत्पराः । पुनन्ति सकलाँल्लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः ।।१२२
जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्याद्बुद्धिरीदृशी । दासोऽहं वासुदेवस्य सर्व्वान् लोकान् समुद्धरेत्।।१२३
स याति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः । किं पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रियाः ।।१२४

अधिकं सर्व्वतः श्रेष्ठं विद्धि; कुतः ? सर्व्वेषामेव पापानां विशेषेण वासनोन्मूलनेन शोधनम् ।।११४।।

बलिभिः उपहारैः, यत्र वैष्णवा न सन्ति, तत्र न तृप्यति, न तुष्यति । ११७।।

तस्मादेत एव लोकान् पुनन्ति, ततस्तस्माद्धेतोः । तदित्यव्ययं त इत्यर्थः; यद्वा, तीर्थविशेषणत्वान्नपुंसकत्वम्, वैष्णवा एव परमं तीर्थमित्यर्थः ।।११८।।

जातिसामान्यात् नीचजातिरयमिति; यद्वा, यथान्यः शूद्रस्तथायमपीत्यादिप्रकारेण समानजातितया यो वीक्षते ।।११९।। तेन वैष्णवपरितोषणेनैव ।।१२०।।

नारायण एव परः परम आश्रयो येषां ते; यद्वा, नारायणपरा वैष्णवास्तदाश्रया अपि सन्तः ।।१२१।।

वासुदेव की आराधना करते हैं, वे सब श्रेष्ठ तीर्थस्वरूप हैं, उनसे अधिक श्रेष्ठ तीर्थ और दूसरा विद्यमान नहीं हैं ।।११३।।

विमलमति भक्तगण, जहाँ स्नान करते हैं, वह स्थान, सर्वपाप विनाशक तीर्थ श्रेष्ठ है । हे नृप ! रागादि शून्य हरिपरायण वैष्णवगण कर्त्तृक अधिकृत स्थान में श्रीहरि सदा विराजमान हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जहाँ वैष्णव अधिष्ठित नहीं हैं, वहाँ वारि एवं मनोहर पुष्प द्वारा पूजित होने से भी श्रीहरि निवास नहीं करते हैं । वैष्णवगण कर्त्तृक अनधिष्ठित स्थान में उपहार, अनशन एवं नृत्य गीतादि द्वारा आराध्यमान होने से भी श्रीहरि सन्तुष्ट नहीं होते हैं ।।११४-११७।।

तज्जन्य सकल निष्पाप महाभाग वैष्णववृन्द निखिल लोक को पवित्र करते हैं, अतएव वे सब तीर्थ से भी अधिक पवित्र हैं ।।११८।।

शूद्र, चण्डाल अथवा श्वपच होने से भी वैष्णव को जो मानव, सामान्य जाति ज्ञान से हीन बुद्धि से दर्शन करते हैं, वे सब निःसन्देह से नरक गमन करते हैं ।।११९।।

तज्जन्य श्रीहरि प्रीति विधान निमित्त वैष्णवगण को सन्तुष्ट करना चाहिये, ऐसा होने से श्रीहरि प्रसन्न होंगे, इसमें सन्देह नहीं है ।।१२०।।

उक्त ग्रन्थ के श्रीनारद-पुण्डरीक-संवाद में उक्त है—नारायण परायणगण का आश्रय ग्रहण करने से क्रूर, दुरात्मा, एवं सदा पापाचारी व्यक्तिगण कदाच पापलिप्त नहीं होते हैं, वे सब सूर्य्य सदृश उदित

किञ्च—

स्मृतः सम्भाषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तमाः ।
पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया ॥१२५॥

श्रीव्यासवाक्ये —
जन्मान्तरसहस्रेषु विष्णुभक्तो न लिप्यते । यस्य सन्दर्शनादेव भस्मीभवति पातकम् ॥१२६॥

इतिहाससमुच्चये श्रीभगवद्वाक्ये—
न मे प्रियश्चतुर्व्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥१२७॥

तत्रैव ब्रह्मवाक्ये —
सभर्त्तृका वा विधवा विष्णुभक्तिं करोति या । समुद्धरति चात्मानं कुलमेकोत्तरं शतम् ॥१२८

द्वारकामाहात्म्ये प्रह्लादबलि-संवादे—
सङ्कीर्णयोनयः पूता ये भक्ता मधुसूदने । म्लेच्छतुल्याः कुलीनास्ते ये न भक्ता जनार्द्दने ॥१२९॥

आदिपुराणे श्रीकृष्णार्ज्जुन-संवादे—
वैष्णवान् भज कौन्तेय मा भजस्वान्यदेवताः । पुनन्ति वैष्णवाः सर्व्वे सर्व्वदेवमिदं जगत् ।
मद्भक्तो दुर्ल्लभो यस्य स एव मम दुर्ल्लभः ॥१३०॥

यदृच्छया यथा कथञ्चिदित्यर्थः; अस्य स्मृतः इत्यादिनान्वयः ॥१२५॥
न लिप्यते प्रमादादिना कथञ्चित् कृतैरपि पापैः, अन्येषामपि पातकं सर्व्वं भस्मीभवति समूलं
विनश्यति ॥१२६॥
चतुर्वेदी वेदचतुष्टयाभ्यासयुक्तोऽपि विप्रो न मद्भक्तश्चेत्तर्हि न मे प्रियः; श्वपचोऽपि मद्भक्तश्चेन्मम प्रिय
इत्यर्थः, तस्मै तादृश-श्वपचायैव ॥१२७॥ कुलं कुलानि च, दुर्ल्लभो वल्लभः ॥१२८-१३०॥

जन्मसहस्रान्त में जिनकी इस प्रकार मति
होकर अखिल लोक को पवित्र करते हैं। "मैं वासुदेव दास हूँ"
होती है, वे अखिल लोकोद्धार करते हैं एवं वे सब निश्चय ही हरि-लोक को प्राप्त करते हैं। श्रीहरिगतप्राण
संयतेन्द्रिय पुरुष की कथा ही क्या है? ॥१२१-१२४॥
और भी लिखित है—हे द्विजश्रेष्ठगण! भगवद्भक्त चण्डाल होने से भी उनका स्मरण, तत्सह सम्भाषण,
उनकी पूजा करने से यदृच्छा से पवित्रता लाभ होती है ॥१२५॥
श्रीव्यास वाक्य में वर्णित है—विष्णुभक्त के दर्शनमात्र से ही पातक भस्मीभूत होता है, सहस्र जन्म के
मध्य में प्रमादवशतः पापानुष्ठान कथञ्चित् होने पर भी विष्णुभक्तगण उससे लिप्त नहीं होते हैं ॥१२६॥
इतिहास समुच्चय में श्रीभगवद् वाक्य यह है—मद्भक्ति परायण न होने से चतुर्वेद अभ्यास सम्पन्न
व्यक्ति भी मेरा प्रिय नहीं होता है, भक्तिमान् होने पर श्वपच भी मेरा प्रिय होता है। तद्रूप श्वपच को ही
दान देना चाहिये, उनसे ग्रहण भी करना चाहिये। वह श्वपच मत्तुल्य पूजनीय है ॥१२७॥
उक्त ग्रन्थ के ब्रह्म-वाक्य यह है—क्या सधवा क्या विधवा, विष्णुभक्ति परायण होने से एकाधिक शत-
कुल की रक्षा कर सकती है ॥१२८॥
द्वारका माहात्म्य के प्रह्लाद-बलि-संवाद में लिखित है—मधुसूदन के भक्त होने से नीच जाति भी
परम पवित्र होती है, किन्तु हरिभक्ति विहीन होने पर कुलीन भी म्लेच्छ तुल्य होता है ॥१२९॥
आदिपुराण के श्रीकृष्णार्ज्जुन-संवाद में लिखित है—हे पार्थ! वैष्णववृन्द की उपासना करो, अन्यान्य
देवतागण की उपासना करने का प्रयोजन नहीं है। वैष्णववृन्द, निखिल सुरगण के सहित इस जगत् को

तत्परो दुर्ल्लभो नास्ति सत्यं सत्यं धनञ्जय । जगतां गुरवो भक्ता भक्तानां गुरवो वयम् ॥१३१
सर्व्वत्र गुरवो भक्ता वयञ्च गुरवो यथा । अस्माकं बान्धवा भक्ता भक्तानां बान्धवा वयम् ।
अस्माकं गुरवो भक्ता भक्तानां गुरवो वयम् । मद्भक्ता यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छामि पार्थिव ।

भक्तानामनुगच्छन्ति मुक्तयः श्रुतिभिः सह ॥१३२॥
ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥१३३॥
ये केचित् प्राणिनो भक्ता मदर्थे त्यक्तबान्धवाः ।
तेषामहं परिक्रीतो नान्यक्रीतो धनञ्जय ॥१३४॥

एषां भक्ष्यं सुनिर्णीतं श्रूयतां निश्चितं मम । उच्छिष्टमवशिष्टञ्च भक्तानां भोजनद्वयम् ॥१३५॥
नामयुक्तजनाः केचिज्जात्यन्तरसमन्विताः । कुर्व्वन्ति मे यथा प्रीतिं न तथा वेदपारगाः ॥१३६

बृहन्नारदीये मार्कण्डेयं प्रति श्रीभगवदुक्तौ—

विष्णुभक्तकुटुम्वीति वदन्ति विबुधाः सदा । तदेव पालयिष्यामि मज्जनो नानृतं वदेत् ॥१३७॥

तेषामहं परिक्रीतस्तैः परिक्रीतः ॥१३४॥

सुनिर्णीतं निश्चितमिति—वाक्यभेदादपौनरुक्त्यम्; अवशिष्टं पुरस्तादानीतं पाकपात्रादौ स्थितम् ॥१३५

भक्त एव कुटुम्वीति, तदेव पालयिष्यामीति—यथा स्वकुटुम्वीमकृत्येनापि परिपाल्यते, तथा निजभक्तो मया परिपाल्य इत्यर्थः ॥१३७॥

पवित्र करते हैं। मेरा भक्त जिसका प्रिय है, वह व्यक्ति, मेरा भी प्रिय है। हे अर्जुन ! मैं पुनः पुनः सत्यकर कहता हूँ, उससे मेरा और कोई प्रिय नहीं है। भक्तवृन्द समस्त जगत् के गुरु हैं, मैं भक्तवृन्द का गुरु हूँ। जिस प्रकार मैं अखिल जगत् का गुरु हूँ, भक्तगण भी तद्रूप हैं। भक्तवृन्द, मेरे बान्धव हैं, और मैं भक्तों का बान्धव हूँ। भक्तगण मदीय गुरु हैं, एवं मैं भी भक्तगण का गुरु हूँ। हे धनञ्जय ! भक्तगण जिस स्थान में गमन करते हैं, मैं भी वहाँ पर गमन करता हूँ। मुक्तिगण श्रुतिगण के सहित भक्तगण के अनुसरण करती हैं ॥१३०-१३२॥

हे कौन्तेय ! जो मेरे ही भक्त हैं, उनको यथार्थ भक्त गणन करना नहीं चाहिये। मदीय भक्तगणों के भक्तों को ही मदीय सर्वोत्तम भक्त कहे गये हैं ॥१३३॥

हे धनञ्जय ! जिन्होंने मद्भक्तिमान् होकर मन्निमित्त बन्धु-बान्धव को विसर्जन किया है, मैं उन भक्तों के द्वारा क्रीत हूँ, मुझको क्रय करने में और कोई समर्थ नहीं हैं ॥१३४॥

जो कुछ भक्ष्य उक्त भक्तगण के निमित्त निर्दिष्ट हैं, अवहित चित्त से श्रवण करो। उच्छिष्ट एवं अवशिष्ट भेद से भक्तवृन्द के भोजन द्विविध हैं। निवेदित द्रव्य को उच्छिष्ट कहते हैं, एवं अग्रांश देकर अवशिष्ट पाक पात्र में जो रहता है, उसको अवशिष्ट कहते हैं। जात्यन्तर युक्त नीचजन मन्नामपरायण होने से तद् द्वारा मैं जिस प्रकार सन्तुष्ट होता हूँ, वेदविचक्षण विप्र के द्वारा भी उस प्रकार सन्तुष्ट नहीं होता हूँ ॥१३५-१३६॥

वृहन्नारदीय पुराण में मार्कण्डेय के प्रति भगवदुक्ति यह है—देवतागण सर्वदा इस प्रकार कहते हैं—विष्णुभक्तजन कुटुम्वी हैं, मैं उन्हीं की रक्षा करूँगा। मद्भक्तगण कभी मिथ्याभाषी नहीं होते हैं ॥१३७॥

मम जन्म कुले यस्य तत्कुलं मोक्षगामि वै । मयि तुष्टे मुनिश्रेष्ठ किमसाध्यं वदस्व मे ।।१३८।।
मयि भक्तिपरो यस्तु मद्याजी मत्कथापरः । मद्ध्यानी स्वकुलं सर्व्वं नयत्यच्युतरूपताम् ।।१३९
मदर्थं कर्म्म कुर्व्वाणो मत्प्रणामपरो नरः । मन्मनाः स्वकुलं सर्व्वं नयत्यच्युतरूपताम् ।।१४०।।
अहमेव द्विजश्रेष्ठ नित्यं प्रच्छन्नविग्रहः । भगवद्भक्तरूपेण लोकान् रक्षामि सर्व्वदा ।।१४१।।

तत्रैवादितिमाहात्म्ये श्रीसूतोक्तौ—

विप्राः शृणुध्वं माहात्म्यं हरिभक्तिरतात्मनाम् ।
हरिध्यानपराणान्तु कः समर्थः प्रबाधितुम् ।।१४२।।

हरिभक्तिपरो यत्र तत्र ब्रह्मा हरिः शिवः । तत्र देवाश्च सिद्धाद्या नित्यं तिष्ठन्ति सत्तमाः ।।१४३

निमिषं निमिषार्द्धं वा यत्र तिष्ठन्ति सत्तमाः ।
तत्रैव सर्व्वश्रेयांसि तत् तीर्थं तत् तपोवनम् ।।१४४।।

तत्रैवादितिं प्रति श्रीभगवदुत्तरे—

रागद्वेषविहीना ये मद्भक्ता मत्परायणाः । वदन्ति सततं ते मां गतासूया अदाम्भिकाः ।।१४५।।

यस्य कुले मज्जन्म तस्य कुलं, यस्येत्यत्र यस्मिन्निति वा पाठः ।।१३८।।

अच्युतरूपतां मत्सारूप्यमित्यर्थः; यद्वा, न च्युतं, कथञ्चित् कदाचिदपि न निजस्वभावाद्भ्रष्टं रूपं येषां वैकुण्ठवासिनां तद्भावमित्यर्थः ।।१४०।।

भगवद्भक्ता मद्भक्ताः, यद्वा, भगवन्त ऐश्वर्य्यादिगुणयुक्ताः; यद्वा, परमगौरवेण भगवच्छब्द-प्रयोगः । भगवन्तः ये मद्भक्तास्तद्रूपेण ।।१४१।।

प्रबाधितुं कथञ्चित् पापादौ जातेऽपि काञ्चिदपि बाधां विघ्नं वा कर्त्तुम् ।।१४२।।

देवाः इन्द्राद्याः, हे सत्तमाः; यद्वा, सिद्धाद्याः सत्तमाः परमसाधवः; यद्वा, सत्तमाः श्रीनारदादयश्च तत्रैव नित्यं तिष्ठन्ति ।।१४३।।

सत्तमा हरिभक्ता यत्र ।।१४४।।

हे ब्रह्मन् ! मैं जिस कुल में अवतीर्ण होता हूँ, वह कुल मोक्षगामी होता है । हे मुनिवर ! मैं सन्तुष्ट होने पर अपर क्या साध्यातीत होता है ? मुझको कहो ।।१३८।।

मद्भक्ति विशिष्ट, मत् पूजक, मत्कथानुरागी, मद्ध्यायी, मत् कर्मकारी, मत् प्रणामपर एवं मननशील मनुष्य स्वीय निखिल कुल को अच्युत सारूप्य प्रदान करते हैं ।।१३९-१४०।।

हे द्विजवर ! मैं सर्वदा ही प्रच्छन्न देह से भक्त भक्तरूप में सर्वक्षण निखिल लोक रक्षा करता हूँ ।।१४१

उक्त पुराण के अदिति माहात्म्य में श्रीसूतोक्ति यह है— हे विप्रगण ! हरिभक्तवृन्द का माहात्म्य श्रवण करें । श्रीहरि ध्यानपरायण में पातकादि सञ्चारित होने पर भी उनमें कोई विघ्न उत्पादन कर सकते हैं ? हे साधुसत्तमवृन्द ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, देवगण, सिद्धवर्ग श्रीहरि कर्त्तृक अधिष्ठित स्थान में सतत निवास करते हैं । विष्णुभक्तगण, निमेषकाल अथवा निमेषार्धकाल जहाँ रहते हैं, मङ्गल वहाँ विराजित है, एवं वह स्थान तीर्थ एवं तपोवन नाम से कीर्त्तित है ।।१४२-१४४।।

उक्त पुराण में अदिति के प्रति श्रीभगवद् वाक्य इस प्रकार है—मत्परायण, रागद्वेषादि वर्जित मद्भक्त-गण सर्वदा असूया एवं दम्भ विसर्जन पूर्वक मेरे गुणादि का कीर्त्तन करते हैं । कभी भी वे सब अपर का

परापकारविमुखा मद्भक्तार्च्चनतत्पराः। मत्कथाश्रवणासक्ता वहन्ति सततं हि माम् ॥१४६॥

तत्रैव ध्वजारोपण-माहात्म्ये श्रीविष्णुदूतोक्तौ—

यतीनां विष्णुभक्तानां परिचर्य्यापरायणैः।
ईक्षिता अपि गच्छन्ति पापिनोऽपि परां गतिम् ॥१४७॥

तत्रैव श्रीभगवत्तोषप्रकारप्रश्नोत्तरे—

रिपवस्तं न हिंसन्ति न बाधन्ते ग्रहाश्च तम्। राक्षसाश्च न खादन्ति नरं विष्णुपरायणम् ॥१४८

भक्तिर्दृढ़ा भवेद्यस्य देवदेवे जनार्द्दने। श्रेयांसि तस्य सिध्यन्ति भक्तिमन्तोऽधिकास्ततः ॥१४९

तत्रैवाग्रे—

अद्यापि च मुनिश्रेष्ठा ब्रह्माद्या अपि देवताः।
प्रभावं न विजानन्ति विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ॥१५०॥

किञ्च—

धर्म्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्था द्विजोत्तमाः।
हरिभक्तिपराणां वै सम्पद्यन्ते न संशयः ॥१५१॥

तत्रैव लुब्धकोपाख्यानस्यादौ—

ये विष्णुनिरताः शान्ता लोकानुग्रहतत्पराः। सर्व्वभूतदयायुक्ता विष्णुरूपाः प्रकीर्त्तिताः ॥१५२

अपि-शब्दस्य सर्वत्रानुषङ्गः। यतीनामपि विष्णुभक्तानां परिचर्य्यापरायणैरपि ॥१४७॥

न हिंसन्ति, हिंसां कर्त्तुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः; यद्वा, कुलक्रमागतवैरवन्तोऽपि न द्विषन्ति, परमप्रीतिविषयत्वात्। एवमग्रेऽप्यूह्यम् ॥१४८॥

हे द्विजोत्तमाः ॥१५१॥

विष्णुनिरता इत्यस्य लक्षणानि—शान्ता इत्यादिविशेषणानि त्रीणि। तत्रानुग्रह-शब्देनोपकारः, दया-शब्देन तत्कारणं स्नेहो ज्ञेयः; यद्वा, लोकानुग्रहः लोककर्त्तृकस्वविषयकोऽनुग्रहस्तत्परास्तदेकापेक्षका इत्यर्थः। सर्वभूतेषु दयायुक्ताश्च, विष्णुरूपा विष्णुतुल्या इत्यर्थः ॥१५२॥

अपकार नहीं करते हैं। मद्भक्त पूजा में नियुक्त रहते हैं, और जो सब मत्कथा श्रवण में अनुरागी हैं, वे सब निरन्तर मुझको वहन करते हैं ॥१४५-१४६॥

उक्त पुराण के ध्वजारोपण प्रसङ्ग में श्रीविष्णुदूतों का वाक्य यह है—संन्यासी एवं हरिभक्त के परिचर्य्याकारी व्यक्तिगण जिसके प्रति दृष्टिपात करते हैं, पातकी होने पर भी वह परमगति को प्राप्त करता है ॥१४७॥

उक्त पुराण के श्रीभगवत्तोष प्रकार प्रश्नोत्तर में वर्णित है—विष्णुभक्तगण को शत्रुगण हिंसा करने में असमर्थ हैं। ग्रहगण पीड़ा प्रदान नहीं कर सकते हैं। देवदेव जनार्दन में अचला भक्ति होने से निखिल कल्याण सिद्ध होते हैं, कारण, भक्तिपरायणजन ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ होते हैं ॥१४८-१४९॥

उक्त पुराण के अग्र भाग में उक्त है—हे मुनिश्रेष्ठवृन्द! विरिञ्चि प्रमुख सुरवृन्द भी अद्यापि हरिभक्त-वृन्द का माहात्म्य अवगत होने में अक्षम हैं ॥१५०॥

और भी वर्णित है—हे द्विजोत्तमवृन्द! विष्णुभक्तगण ही धर्मार्थकाममोक्षाख्य पुरुषार्थ लाभ करते हैं, सन्देह नहीं है ॥१५१॥

उक्त पुराण के लुब्धकोपाख्यान के प्रथम में वर्णित है—श्रीविष्णु के प्रति अनुरागी, शान्त, लोकों के

विष्णुभक्तिविहीना ये चाण्डालाः परिकीर्त्तिताः ।
चाण्डाला अपि वै श्रेष्ठा हरिभक्तिपरायणाः ॥१५३॥

तत्रैव यज्ञध्वजोपाख्यानस्यादौ श्रीसूतवाक्यम्—

हरिभक्तिरसास्वादमुदिता ये नरोत्तमाः । नमस्करोम्यहं तेषां तत्सङ्गी मुक्तिभाग्यतः ॥१५४॥
हरिभक्तिपरा ये च हरिनामपरायणाः । दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा तेषां नित्यं नमो नमः ॥१५५॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ।
यस्मान्मुक्तिः करस्थैव योगिनामपि दुर्ल्लभा ॥१५६॥

तत्रैव कलिप्रसङ्गे—

घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्व्वधर्म्मविवर्ज्जिते । वासुदेवपरा मर्त्याः कृतार्था नात्र संशयः ॥१५७
अत्यन्तदुर्लभा प्रोक्ता हरिभक्तिः कलौ युगे । हरिभक्तिरतानां वै पापबन्धो न जायते ॥१५८॥
वेदवादरताः सर्व्वे तथा तीर्थनिषेविणः । हरिभक्तिरतैः सार्द्धं कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥१५९

अतएवोक्तं देवैस्तत्रैव भारतवर्षे-प्रसङ्गे—

हरिकीर्त्तनशीलो वा तद्भक्तानां प्रियोऽपि वा ।
शुश्रूषुर्वापि महतां स वन्द्योऽस्माभिरुत्तमः ॥१६०॥

तेषां तेभ्यो नमस्करोमि, यतः तेषां सङ्गयपि मुक्तिभाक् जीवन्मुक्त एवेत्यर्थ । अतस्तेषां वाह्याचारो न कदापि विचार्य्यः, सर्वथा सम्मान एव कार्य्य इत्याशयेनाह—दुर्वृत्ता वेति ॥१५४-१५५॥

यस्मादन्यस्यापि तेषां प्रसादान्मुक्तिः करस्था स्वाधीनैव । येषामिति पाठेऽपि तथैवार्थः । यद्वा, स्वाश्रितेभ्यो मुमुक्षुभ्यो दातुं करनिहितेत्यर्थः ॥१५६॥

पापरूपो बन्धः; यद्वा, पापेन कथञ्चित् कृतेनापि बन्धः ॥१५८॥

यतः स एवोत्तमः सर्वतः श्रेष्ठः ॥१६०॥

प्रति अनुग्रहवान् एवं सर्वभूत के प्रति दयाशील व्यक्तिगण ही श्रीहरि-स्वरूप होते हैं। श्रीहरि भक्ति वर्जित जनगण को चण्डाल कहते हैं। श्रीहरिभक्तिनिष्ठ होने से चण्डाल भी श्रेष्ठ शब्द से अभिहित होता है ॥१५२-१५३॥

उक्त पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के आदि में श्रीसूतवाक्य है—जो मानवश्रेष्ठ, विष्णुभक्तिरूप रसास्वादन में आनन्दित हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ। कारण, उनके सान्निध्य से मोक्ष लाभ होता है। श्रीहरिभक्ति परायण एवं श्रीहरिनाम निरत व्यक्तिगण दुर्वृत्त हों अथवा सुवृत्त हों, उनको सदा पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ। अहो! श्रीहरिभक्तगणों का क्या ही सौभाग्य है? क्योंकि उनके अनुग्रह से योगिजनदुर्लभ मोक्ष करतल गत होता है ॥१५४-१५६॥

उक्त पुराण में कलिप्रसङ्ग में लिखित है—सर्व धर्म रहित घोर कलिकाल समागत होने से वासुदेव-परायण जनगण कृतार्थ होंगे, सन्देह नहीं है। कथित है, कलिकाल में हरिभक्ति अतीव दुर्लभा है। हरि-भक्तिनिष्ठ जनगण का पातकजनित बन्धन नहीं होता है। वेदवाद परायण एवं निखिल तीर्थसेवकगण हरि-भक्तवृन्द के षोड़शांश के एकांश के तुल्य नहीं हैं ॥१५७-१५९॥

अतएव उक्त पुराण के भारतवर्ष प्रसङ्ग में सुरगण कर्त्तृक वर्णित है—हरिकीर्त्तन परायण अथवा हरि-भक्तगण के प्रिय किंवा महाजनगण की सेवानिरत श्रेष्ठजन ही हमारा वन्दनीय है ॥१६०॥

पाद्मे श्रीभगवद्ब्रह्म-संवादे —

दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्स्यकूर्म्मविहङ्गमाः। पुष्णन्ति स्वान्यपत्यानि तथाहमपि पद्मज ॥१६१॥

मुहूर्त्तेनापि संहर्त्तुं शक्तो यद्यपि दानवान्।

मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः ॥१६२॥

तत्रैव माघ-माहात्म्ये देवदूतविकुण्डल-संवादे—

न यमं यमलोकं न न दूतान् घोरदर्शनान्। पश्यन्ति वैष्णवा नूनं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥१६३

श्वपाकमिव नेक्षेत लोके विप्रमवैष्णवम्। वैष्णवो वर्णवाह्योऽपि पुनाति भुवनत्रयम् ॥१६४॥

न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भावता मताः। सर्व्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्द्दने ॥१६५॥

विष्णुभक्तस्य ये दासा वैष्णवान्नभुजश्च ये। तेऽपि क्रतुभुजां वैश्य गतिं यान्ति निराकुलाः ॥१६६

तत्रैव वैशाख-माहात्म्ये पञ्च-पुरुषाणामुक्तौ —

भव्यानि भूतानि जनार्द्दनस्य, परोपकाराय चरन्ति विश्वम् ॥१६७॥

तथा—

सन्तः प्रतिष्ठा दीनानां दैवादुद्भूतपाप्मनाम्।

आर्त्तानामार्त्तिहन्तारो दर्शनादेव साधवः ॥१६८॥

पद्मज हे ब्रह्मन्! यथा मत्स्यादयो दर्शनादिभिः क्रमेण स्वान्यपत्यानि पुष्णन्ति, तथाहमपि दर्शनादिभिः समुचितैरेव सर्वान् स्वभक्तान् पुष्णामीत्यर्थः ॥१६१॥

इत्थं मम सर्वं रूपलीलादिवैभवं भक्तोत्सवार्थमेवेत्याह—मुहूर्त्तेनापीति ॥१६२॥

दैवात् पूर्व्वदुष्कर्म्मवशात् अकस्माद्वा उद्भूतं यत् पापं तद्वतां, पाठान्तरेऽपि स एवार्थः, अतएव दीनानां जनानां सन्त एव प्रतिष्ठा आश्रयः; यद्वा, साक्षात् प्रतिष्ठारूपा एव, यथा प्रतिमादीनां प्रतिष्ठयैव शोधनं, पूज्यत्वादिकञ्च सम्पद्यते, तथा सद्भ्य एव तेषां तदित्यर्थः ॥१६८॥

पद्मपुराण के श्रीभगवत्-ब्रह्म-संवाद में लिखित है—हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार मीन, कूर्म एवं पक्षीगण, दर्शन, ध्यान एवं स्पर्श द्वारा निज-निज सन्तानगण का पोषण करते हैं, उस प्रकार ही मैं भी निज भक्तवृन्द का पोषण करता हूँ। मैं मुहूर्त्त काल के मध्य में दानवगण को विनष्ट करने में सक्षम हूँ तथापि भक्तवृन्द के प्रमोदार्थ नाना रूप कार्य्यानुष्ठान करता हूँ ॥१६१-१६२।

उक्त पुराण के माघ-माहात्म्य के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में उक्त है—मैं पुनः पुनः सत्यकर निःसंशय के सहित कहता हूँ, वैष्णवगण, यम, यमालय, किंवा घोर दर्शन यमदूतगण का दर्शन नहीं करते हैं, विष्णु-भक्तिरहित विप्र को श्वपच चण्डाल सदृश भी न देखें। अन्त्यज जाति वैष्णव होने से त्रिभुवन को पवित्र कर सकती है। भगवद्भक्ति परायण व्यक्तिगण, कदाच शूद्र शब्द से अभिहित नहीं होते हैं, वे सब भागवत शब्द से कीर्त्तित होते हैं। सर्व वर्ण के मध्य में जो मानव केशव के प्रति भक्तिहीन हैं वे सब ही शूद्र हैं। विष्णुभक्त के दास एवं वैष्णवान्नभोजिगण निराकुल होकर यज्ञभुक्‌गण की गति को प्राप्त करते हैं ॥१६३-१६६॥

उक्त पुराण के वैशाख माहात्म्य में पञ्चपुरुषगण के वाक्य में प्रकाश है—हरिभक्तगण, परोपकारार्थ ही संसार में भ्रमण करते हैं ॥१६७॥

उक्त विषय में उक्त है—पूर्वानुष्ठित कुकर्म्म अनुष्ठानजनित पातकी दीन जनगण के एकमात्र आश्रय साधु पुरुषगण हैं, साधु पुरुषों के दर्शन से तत्काल पीड़ित पुरुषों की पीड़ा विदूरित होती है ॥१६८॥

तत्रैवोत्तरखण्डे शिवपार्वती-संवादे —

न कर्म्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते । विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥१६९॥

न दास्यं वै परेशस्य बन्धनं परिकीर्त्तितम् । सर्व्वबन्धननिर्मुक्ता हरिदासा निरामयाः ॥१७०

ब्रह्माण्डपुराणे जन्माष्टमीव्रत-माहात्म्ये श्रीचित्रगुप्तोक्तौ —

दर्शन-स्पर्शनालाप-सहवासादिभिः क्षणात् ।
भक्ताः पुनन्ति कृष्णस्य साक्षादपि च पुक्कशम् ॥१७१॥

त्यक्तसर्व्वकुलाचारो महापातकवानपि । विष्णोर्भक्तं समाश्रित्य नरो नार्हति यातनाम् ॥१७२

वाशिष्ठे —

यस्मिन् देशे मरौ तज्ज्ञो नास्ति सज्जनपादपः ।
सफलः शीतलच्छायो न तत्र दिवसं वसेत् ॥१७३॥

सदा सन्तोऽभिगन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न । या हि स्वैरकथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ते ॥१७४

गारुड़े —

सत्रयाजिसहस्रेभ्यः सर्व्ववेदान्तपारगः । सर्व्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते ॥१७५

वैष्णवानां सहस्रेभ्य एकान्त्येको विशिष्यते । एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम् ॥१७६

कर्म्मणा बध्यते सम्बध्यते इति कर्म्मबन्धनम्, अनुचरत्वं दास्यं, हि यतः ॥१६९॥
बन्धनं संसारबन्धापादकं, निरामया निर्द्दोषाः ॥१७०॥
तं भगवन्तं जानातीति तज्ज्ञः, दिवसमेकदिनमपि ॥१७३॥
तेषां याः स्वैरकथाः अन्योऽन्यं स्वच्छन्दवार्त्तारता अपि । ते तव, त एव वा; उपदेशविशेषणत्वेन पुंस्त्वम्, उपदेशा भविष्यन्ति ॥१७४॥

उक्त पुराण के उत्तरखण्डस्थ शिव-पार्वती-संवाद में लिखित है — वैष्णववृन्द को कर्मबन्धन निमित्त जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता है, श्रीहरिदास्य ही बुधगण कर्त्तृक मोक्ष शब्द से कीर्त्तित है, परमेश्वर श्रीहरि का दास्य कदाच भवबन्धन का कारण नहीं हो सकता है । कलिकलुष रहित श्रीहरिदासवृन्द सकल बन्धनों से मुक्त हैं ॥१६९-१७०॥

ब्रह्माण्ड पुराण के जन्माष्टमी-व्रत-माहात्म्यस्थ श्रीचित्रगुप्त की उक्ति है — श्रीहरि के भक्तवृन्द, दर्शन, स्पर्शन, आलाप एवं सहवासादि के द्वारा साक्षात् पुक्कश को भी आशु पवित्र करते हैं । विष्णुभक्त का आश्रय ग्रहण करने से निखिल कुलाचार त्यागी एवं अखिल पाप लिप्त व्यक्ति को भी क्लेश भोग नहीं करना पड़ता है ॥१७१-१७२॥

वाशिष्ठ में वर्णित है — जिस मरुप्रदेश में भगवत्तत्त्वज्ञ सफल शीतलच्छाया विशिष्ट सज्जन तरु नहीं है, वहाँ एक दिन भी निवास न करे । सर्वदा साधुगण के समीप में गमन करना उचित है । वे सब उपदेश प्रदान न करने पर भी उनके स्वच्छन्द कथोपकथन ही उपदेश स्वरूप हैं ॥१७३-१७४॥

गरुड़ पुराण में वर्णित है — एक जन सर्ववेदान्ताभिज्ञ, सहस्र याज्ञिक की अपेक्षा श्रेष्ठ है, एकजन विष्णु-भक्त, कोटि वेदान्तविद् अपेक्षा श्रेष्ठ है, एक जन एकान्ती वैष्णव, सहस्र वैष्णव से श्रेष्ठ है । एकान्ती वैष्णव गण ही परमपद प्राप्त करते हैं ॥१७५-१७६॥

श्रीभगवद्गीतासु (६-३०-३३)—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।१७७

क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।१७८।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।१७९।।

किञ्च तत्रैव (श्रीगी ६।४७)—

योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।१८०

मद्भक्तेरतितर्क्यः प्रभाव इति दर्शयन्नाह—अपीति; अत्यन्तं दुराचारोऽपि नरो यदि पृथक्त्वेन देवतान्तर-भक्तिमकुर्वन् मामेव परमेश्वरं श्रीदेवकीनन्दनं भजति, मद्भजने मतिं कुर्य्यादित्यर्थः, तर्हि साधुः श्रेष्ठ एव मन्तव्यः । यतोऽसौ सम्यक् व्यवसितः शोभनमध्यवसायं कृतवान् ।।१७७।।

ननु कथं समीचीनाध्यवसायमात्रेण साधुर्मन्तव्यः ? तत्राह—क्षिप्रमिति, दुराचारोऽपि मां भजन् शीघ्रं धर्म्मचित्तो धर्म्मस्वरूपो वा भवति प्राप्नोति; यद्वा, भगवद्भक्तिलक्षणस्य धर्म्मस्य आत्मा प्रवर्त्तको भवति; ततश्च शश्वच्छान्तिं शाश्वतीमुपरमशान्तिं परमेश्वरनिष्ठां नितरां गच्छति प्राप्नोति । कुतर्ककर्कशवादिनो नैवं मन्येरन्निति शोकव्याकुलमर्ज्जुनं प्रोत्साहयति—हे कौन्तेय ! पटहकाहलादि-(कोलाहलादि) महाघोषपूर्वकं विवदमानानां सभां गत्वा बाहुमुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु । कथम् ? मे परमेश्वरस्य, यद्वा, मे परमेश्वरभक्तस्यापि भक्तः सुदुराचारोऽपि न प्रणश्यति, अपि तु कृतार्थ एव भवतीति । ततश्च ते प्रौढ़िवादविजृम्भ-विध्वंसितकुतर्काः सन्तो निःसंशयं त्वामेव गुरुत्वेनाश्रयेरन् ।।१७८।।

आचारभ्रष्टं मद्भक्तिः पवित्रीकरोतीति किमत्र चित्रम् ? यतो मद्भक्तिर्यथाकथञ्चित् मदाश्रयापि वा दुष्कुलानप्यनधिकारणोऽपि संसारान्मोचयतीत्याह—मां हीति । येऽपि पापयोनयः स्युः, निकृष्टजन्मानोऽन्त्यजादयो भवेयुः, ये पि वैश्याः केवलं कृष्यादिनिरताः, स्त्रियः शूद्रादयश्चाध्यनादिरहिताः, तेऽपि मां व्यपाश्रित्य संसेव्य; यद्वा, विधित्यागादिना विरूपतया अपकर्षेणापि यथाकथञ्चिदाश्रयमात्रं कृत्वापि परां गतिं वैकुण्ठप्राप्तिलक्षणां यान्ति लभन्ते । हि निश्चितं, यदैवं तदा सज्जातयः सत्कुलाः सदाचाराश्च मद्भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं वक्तव्यमित्याह—किमिति । पुण्याः सुकृतिनो ब्राह्मणाः, तथा राजानश्चैते ऋषयश्च, एवम्भूताः भक्ताः सन्तः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ।।१७९।।

युक्ततमः सर्व्वयोगिश्रेष्ठ इत्यर्थः ।।१८०।।

श्रीमद्भगवत गीता में वर्णित है— अनन्य भक्त होकर मेरी आराधना करने से सुदुराचार जन भी समुचित अध्यवशायशील साधु में वरेण्य हो सकता है । वह भी आशु धर्मशील एवं नित्य शान्तिभागी होता है । हे अर्जुन ! मद्भक्त का कभी विनाश नहीं होता है, यह निश्चय जानना चाहिये । हे अर्जुन ! निकृष्ट-जन्मा अन्त्यजादि, स्त्री, वैश्य अथवा शूद्र मेरी शरण ग्रहण करने से उसे परमगति मिलती है । अतएव पुण्यजन्मा ब्राह्मण, अथवा क्षत्रिय वंशोत्पन्न राजर्षि भक्त के पक्ष में सन्देह क्या है ? ।।१७७-१७९।।

और भी उक्त श्रीभगवद् गीता में उक्त है—सकल प्रकार योगिगण के मध्य में जो मुझमें अर्थात् श्रीकृष्णरूप मेरे चरणों में अन्तरात्मा समर्पण पूर्वक श्रद्धा के सहित मेरी आराधना करते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं, यह ही मेरा अभिमत है ।।१८०।।

श्रीभागवतस्य प्रथमस्कन्धे श्रीपरीक्षितोक्तौ (१९।३३)—

येषां संस्मरणात् पुंसः सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः ।
किं पुनर्दर्शन-स्पर्श-पादशौचासनादिभिः ॥१८१॥

तृतीयस्कन्धे श्रीविदुरस्य (१९।४)—

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सूरिभिरीड़ितोऽर्थः ।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द,-पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥१८२॥

देवहूतिं प्रति कपिलदेवस्य (श्रीभा ३।२५।३८) —

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे, नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥१८३॥

येषां भवादृशां संस्मरणादपि, स-शब्दस्तस्यैव स्वतः सम्यक्त्वाभिप्रायेण ईषदर्थे वा । पुंसामिति—अविशेषेणाखिलजनानामेवेत्यर्थः । आदि-शब्देन सम्भाषणादीनि, सुचिरं श्रमो यस्मिन् तस्य पुंसां श्रुतस्य शास्त्राभ्यासस्य अयमेव अर्थः फलम् । ननु निश्चितं, अञ्जसा मुखेन, ईड़ितः स्तुतस्तमेवाह--मुकुन्दपादारविन्दं येषां हृदयेष्वस्ति, तेषां गुणानुस्मरणमिति । अञ्जमेत्यस्यात्रैवान्वयः ॥१८१-१८२ ॥

हे शान्तरूपे ! कदाचिदपि न नङ्क्ष्यन्ति, भोगहीना न भवन्ति । तत्र हेतुः—अनिमिषो मे हेतिः मदीयं कालचक्रं न लेढ़ि, न तान् ग्रसति; यद्वा, जिह्वाग्रेणापि न स्पृशति, तत्रैव हेतुः—येषामिति । सुत इव स्नेह-विषयः, सखेव विश्वासास्पदं, गुरुरिवोपदेष्टा, सुहृदिव हितकारी, इष्ट दैवतमिव पूज्यम्, एवं सर्वभावेन ये मां भजन्ति, तान् मदीयं कालचक्रं न ग्रसतीत्यर्थः । यद्वा, न नङ्क्ष्यन्ति विचित्रविषयादिभोगेऽपि निजमार्गान्न भ्रश्यन्तीत्यर्थः । यद्वा, ममादृश्या न भवन्ति, अतः कालचक्रं जिह्वया लेढ़ुं कथञ्चित् स्प्रष्टुं न शक्नोतीत्यर्थः । चकारोऽत्र विकल्पे तेषामेव तरत्वेनैव सर्वसिद्धेः । यद्वा, येषां साक्षात् प्रियादिरूपोऽप्यहं भवामि । तत्र प्रियः उपकारादिना प्रीतिविषयः, आत्मा स्वभावत एव प्रियः, सुहृदः सर्वज्ञातयः सम्बन्धिनश्च, इष्टं दैवतम्, आत्म-प्रदा नाथः, एषां दुर्घटत्वं यथोत्तरमूह्यम्; यथा प्रियो भर्त्ता दण्डकारण्यवासिमुनीनां गोपीजनानाञ्च आत्मा स्वयमेवाहम् । एवमत्र भक्तमाहात्म्यवर्णनरसेनक्रमो नापेक्षितः ॥१८३॥

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में श्रीपरीक्षित वाक्य यह है—प्रभो ! आप सबका स्मरण से ही लोक समूह का गृह सद्यः पवित्र होता है, दर्शन, स्पर्शन, पादप्रक्षालन एवं उपवेशन प्रभृति के द्वारा जो पवित्र होगा, इसमें आश्चर्य क्या है ? ॥१८१॥

तृतीय स्कन्ध में श्रीविदुर वाक्य में लिखित है—हे मुने ! जिनके हृदय में श्रीमुकुन्द के चरणकमल विद्यमान हैं, उनके गुणों को सुनना ही पुरुषों के चिरश्रमार्जित श्रवणादि का फल है, बुद्धिमान व्यक्तिगण उन्हीं का स्तव यथार्थ रूप से करते हैं ॥१८२॥

देवहूति के प्रति कपिलदेव ने कहा है—हे शान्तरूपे ! मद्भक्ति योग से मुक्त होकर जनगण वैकुण्ठवासी होकर विविध भोग्यवस्तु प्राप्त करते हैं। इसमें इस प्रकार आशङ्का करना समीचीन नहीं है कि स्वर्गादि के समान वैकुण्ठस्थित भोक्ता भी भोग्यसमूह का क्षय कालक्रम से होता है। जो मानव, एकान्तभाव से मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, उन सबको कभी भोगहीन नहीं होना पड़ता है एवं मेरा अनिमिष कालचक्र भी उन सबको कभी ग्रास नहीं करता है। फलतः मैं जिनका आत्मा, अर्थात् आत्मवत् प्रिय, पुत्रवत् स्नेहभाजन सखा सदृश विश्वासास्पद, गुरुतुल्य उपदेष्टा, सुहृत् सदृश हितकारी, इष्टदेवसम पूजनीय हूँ, अर्थात् जो मानव उक्त भाव से मेरी आराधना करते हैं, मदीय कालचक्र उन सबके निकट परास्त होता है ॥१८३॥

चतुर्थे श्रीध्रुवस्य (९।१०)—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म,-ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्, किंवान्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ॥१८४

श्रीरुद्रस्य (श्रीभा ४।२४।२९)—

स्वधर्म्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरिञ्चितामेति ततः परं हि माम् ।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं, पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ।।१८५॥

पञ्चमे श्रीजड़भरतस्य (१२।१२)—

रहूगणैतत् तपसा न याति, न चेज्यया निर्व्वपणाद्गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नापि जलाग्निसूर्य्यै,-र्विना महत्पादरजोऽभिषेकात् । १८६॥

तनुभृतामविशेषेण सर्व्वेषामेव जीवानाम्, अप्यर्थे वा-शब्दः, भवज्जनानां कथायाः श्रवणेनापि; यद्वा, विकल्प एव, ततश्च पादपद्मध्यानेन सह वैष्णवकथाश्रवणस्य साम्यतो माहात्म्यविशेष उक्तो भवति। स्वमहिमनि निजानन्दरूपे; यद्वा, स्वः असाधारणः अन्यानन्दाद्यपेक्षया विशिष्टो महिमा यस्य तस्मिन्नपि मा भूत्, न भवेदित्यर्थः। अन्तकस्य असिना कालेन लुलितात् खण्डितात् विमानात् पततां सा नास्तीति, किमु वक्तव्यम् ॥१८४॥

स्वधर्म्मनिष्ठः पुमान् बहुभिर्जन्मभिः विरिञ्चितां प्राप्नोति, ततोऽपि पुण्यातिशयेन मामेति; भागवतस्तु अथ देहान्ते भागवतत्वानन्तरं वा अव्याकृतं प्रपञ्चातीतं वैष्णवं पदमेति। यथाहं रुद्रो भूत्वा आधिकारिकवद्-वर्त्तमानः, विबुधा देवाश्च आधिकारिकाः, कलात्यये अधिकारान्ते लिङ्गभङ्गे सत्येष्यन्ति; यद्वा, कलात्यये प्रकृत्यतिक्रमे ॥१८५॥

हे रहूगण! एतत् श्रीवासुदेवरूपं वस्तु तपसा पुरुषो न याति, इज्यया वैदिककर्म्मणा, निर्वपणात् अन्नादिसंविभागेन, गृहाद्वा, तन्निमित्तपरोपकारेण, छन्दसा वेदाभ्यासेन, जलाग्न्यादिभिरुपासितैरपि, अभिषेक-शब्देन महत्पादरजसः सर्व्वतीर्थमयत्वं सूच्यते ॥१८६॥

चतुर्थस्कन्द में श्रीध्रुव ने कहा है—हे नाथ! आपके चरणकमलों का ध्यान अथवा भक्तजनों का वाक्य श्रवण से जो आनन्द लाभ होता है, आत्मानन्दस्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार में भी उस प्रकार आनन्द लाभ नहीं होता है, अतएव अन्तक के काल रूपी खड्ग के द्वारा खण्डित विमान से जो पतित हो रहे हैं, उनकी बात और क्या कहूँ? ॥१८४॥

चतुर्थ स्कन्ध में ही रुद्र वाक्य इस प्रकार है—स्वधर्म निष्ठ मानव अनेक जन्म के पश्चात् ब्रह्मत्व लाभ करते हैं, अनन्तर रुद्रत्व लाभ होता है। किन्तु मद्भक्त का देहावसान के पश्चात ही प्रपञ्चातीत वैष्णवपद लाभ होता है। इस विषय में दृष्टान्त यह है—मैं रुद्र होकर अधिकारी के समान विद्यमान हूँ, एवं देवगण भी अधिकारी के समान विद्यमान हैं। किन्तु जिस अधिकार का अवसान होगा, उस समय ही लिङ्ग देह भङ्ग होगा, एवं प्रपञ्चातीत पद प्राप्ति होगी ॥१८५॥

पञ्चम स्कन्ध में श्रीजड़भरत वाक्य में उक्त है—हे रहूगण! महापुरुषवृन्द की चरणरेणु से अभिसिक्त होने से ही वासुदेव का लाभ होता है, अन्यथा तपस्या, वैदिक कर्म, अथवा अन्नादि संविभाग किंवा गृहस्थ-धर्मार्थ परोपकार अथवा वेदाभ्यास, जल, अग्नि एवं सूर्य्योपासना प्रभृति के द्वारा वासुदेव तत्त्व का लाभ नहीं होता है ॥१८६॥

षष्ठे श्रीपरीक्षितः (१४।३-५)—

रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः। तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥१८७॥

प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम। मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति। १८८॥

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥१८९॥

श्रीशिवस्य (श्रीभा ६।१७।२८)—

नारायणपराः सर्व्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्ग-नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥१९०॥

सप्तमे श्रीप्रह्लादस्य (५।३२)—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं, स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं, निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥१९१॥

पार्थिवै रजोभिः परमाणुभिः समाः संख्याता अनन्ता इत्यर्थः; जन्तवो जीवाः, तेषां मध्ये ये केचन
कतिपये श्रेयो धर्म्ममीहन्ते कुर्व्वन्ति ॥१८७॥
मुच्यते गृहादिसङ्गान्मुच्यते, सिध्यति तत्त्वं जानाति; यद्वा, मुच्येत संसारान्मुक्तो भवेत्, तस्मिन्नपि
कश्चिदेव सिध्यति, स्वस्वरूपानुभवरूपमानन्दांशं प्राप्नोति। एवं मुक्तेः सकाशात् सिद्धेर्विशेषः यद्वा, मुच्येत
जीवन्मुक्तो भवेत्, सिध्यति भगवति परमानन्दसमुद्रे लीयते; एवं जीवन्मुक्तत्वे स्वरूपानुभवरूपानन्दांशमात्रा-
नुभवात्, सिद्धत्वे चानन्दविशेषानुभवेन पूर्व्वतोऽस्य श्रैष्ठ्यं सिद्धमेव। भगवल्लयत्वेऽपि पृथक्स्थित्यभिप्राये-
णोत्तरश्लोके सिद्धानामिति बहुत्वम्; एतच्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे सम्यङ्निरूपितमेवास्ति ॥१८८॥
मुक्तानामपि सिद्धानामपि कोटिष्वपि मध्ये सुदुर्ल्लभः परमदुष्प्राप्यः। एवं परमदौर्लभ्येनास्यात्यन्त-
श्रेष्ठतमत्वमुक्तम्। प्रशान्तात्मेति—स्वरूपमात्रनिर्द्देशः, तस्यैव मुख्यतमत्वं सम्पूर्णप्रशान्तत्वात्; हे महामुने!
इति एतच्च त्वमेव सम्यग्जानासि, नान्यः; यद्वा, त्वमेवैक एतादृशः, नान्य इति भावः ॥१८९॥
कुतश्चन कस्माच्चिदपि देवादेः शापादेर्वा सकाशान्न भयं प्राप्नुवन्ति; यतः स्वर्गादिष्वपि तुल्योऽर्थः
प्रयोजनमिति द्रष्टुं शीलं येषां ते, तथा न चान्यत् किमपि वाञ्छन्त्यपीति भावः ॥१९०॥
निष्किञ्चनानां निरस्तविषयाभिमानानां भगवत्प्रीत्या त्यक्ताशेषपरिग्रहाणां वा, अतएव महत्तमानां
पादरजोऽभिषेकं यावन्न वृणीत, प्रीत्या न भजेत्, तावत् श्रुतिवाक्यादिना ज्ञातमपि एषां दुराशयानां मतिः
उरुक्रमस्य भगवतः श्रीकृष्णस्याङ्घ्रिं न स्पृशति, न प्राप्नोति, असम्भावनादिभिर्विहन्यत इत्यर्थः। अनर्थस्य
संसारस्यापगमो यस्या अङ्घ्रिस्पर्शिन्या मतेरर्थः प्रयोजनं, महदनुग्रहाभावान्न तत्त्वनिश्चयः, नापि मोक्षस्तेषा-
मित्यर्थः; यद्वा, अनर्थस्य अर्थतया भासमानस्य विचारेणानर्थरूपस्य; यद्वा, वेदान्तादौ न विद्यते अर्थो यस्मात्

षष्ठ स्कन्ध के परीक्षित् वाक्य में वर्णित है—हे ब्रह्मन्! इस पृथिवी के परमाणु सदृश असंख्य जीव
विद्यमान हैं, किन्तु तन्मध्य में कतिपय मानव ही श्रेयःसाधन अर्थात् स्वधर्माचरण में तत्पर होते हैं।
हे द्विजोत्तम! उन मनुष्यों में मुक्तिकामी व्यक्ति विरल होते हैं, कदाचित् कोई व्यक्ति, गृहादि सङ्ग त्यागी
होकर तत्त्वज्ञ होते हैं, उक्त मुक्त एवं तत्त्वज्ञ व्यक्तिवृन्द के मध्य में नारायण परायण प्रशान्तात्मा व्यक्ति
अतिशय दुर्लभ है ॥१८७-१८९॥
षष्ठ स्कन्ध में पार्वती के प्रति श्रीशिव वाक्य यह है- नारायण परायण व्यक्तिगण किसी से भी भीत
नहीं होते हैं, वे सब स्वर्ग, मोक्ष, एवं नरक में समान प्रयोजन बुद्धि रखते हैं ॥१९०॥
सप्तमस्कन्ध में श्रीप्रह्लाद वाक्य में लिखित है—हे पितः! यद्यपि एक विष्णु ही समस्त प्राणियों में गूढ़
रूप में अवस्थित हैं, सर्वव्यापी हैं, सर्वभूतान्तर्यामी हैं, तथापि विद्याभिमानशून्य महत्तम वृन्द की

किञ्च (श्रीभा ७।९।१०)—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ,-पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ,-प्राणं पुनाति स्वकुलं न तु भूरिमानः ॥१९२॥

अष्टमे श्रीगजेन्द्रस्य (३।२०)—

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं, वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं, गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥१९३॥

तस्य मोक्षस्यागमो यस्य पादरजोऽभिषेकस्यार्थः। भगवद्भक्तकृपाविशेषमन्तरेण न मोक्षेच्छानिवृत्तिः, न च तां विना मतेर्भगवच्चरणारविन्दस्पर्शनमपीति ॥१९१॥

'मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज,-स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः' (श्रीभा ७।९।९) इति पूर्व्वोक्ता ये धनादयः द्विषट् द्वादशगुणास्तैर्युक्ताद्विप्रादपि श्वपचं वरिष्ठं मन्ये; यद्वा, उद्योगपर्व्वणि सनत्सुजातोक्ता द्वादश-धर्म्मादयो गुणाः द्रष्टव्याः; तथाहि— 'धर्म्मश्च सत्यञ्च दमस्तपश्च, अमात्सर्य्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया। यज्ञश्च दानञ्च धृतिः श्रुतञ्च,व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य॥' इति। कथम्भूताद्विप्रात्? अरविन्दनाभस्य पादारविन्दतो विमुखात्। कथम्भूतं श्वपचम्? तस्मिन् अरविन्दनाभपादारविन्दे अर्पिता मनआदयो येन तम्; ईहितं कर्म्म; वरिष्ठत्वे हेतुः—सः एवम्भूतः श्वपचः स्वं कुलं पुनाति, भूरिमानो गर्व्वो यस्य, स तु विप्र आत्मानमपि न पुनाति, कुतः कुलम्? यतो भक्तिहीनस्यैते गुणा गर्व्वायव भवन्ति, अतो हीन इति भावः। यद्वा, तादृशाद्विप्रात् श्वपचमेवाहं मन्ये आद्रिये, भगवद्विमुखत्वेन विप्रस्य श्वपचाऽधमत्वम्। श्वपचस्य च जात्यादिस्वभावेन भगवज्ज्ञानाद्यसम्भवात् केवलं भगवत्याभिमुख्याभावः, न तु वैमुख्यम्; अतस्तस्मादव्ययमेव साधुः। अतएव तं मन्ये इति। तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं सन्तं वरिष्ठं सर्व्वोत्कृष्टं मन्ये। तत्र हेतुः—पुनातीति। यद्वा, आदितो विप्रस्य सन्ध्योपासनादौ स्वत एव नित्यं भगवदाभिमुख्यमस्त्येव, पश्चाच्चाध्ययनादिना तादृशद्वादश-गुणाः सम्पन्नाः, अतोऽधुनाभिमुख्यविशेषस्तावद्दूरेऽस्तु, अथच 'अहमेव सत्यं परं ब्रह्म नारायणः, मत्तोऽन्यच्च दृष्टश्रुतं सर्व्वं मन्मायाकल्पितं मय्यध्यस्तमेव' इत्यादिमिथ्याभिमानेन सता भगवत्पादारविन्दाद्वैमुख्यं गतादिति; अन्यत् समानम् ॥१९२॥

भगवत्प्रपन्ना ये एकान्तिनः, भगवद्भक्तेषु मध्ये ये एकान्तभक्ता इत्यर्थः; यद्वा, भगवद्भिर्ब्रह्मादिभिर्मुक्तैर्वा प्रपन्ना आश्रिता, अतएव ते तस्य भगवतश्चरितं गायन्तः सन्तस्तत एव आनन्दरससमुद्रमग्नाः सन्तः यस्य अर्थमैश्वर्य्यादिकं, यद्वा, यस्येति यस्मात् कञ्चनार्थं मोक्षादिकं श्रीवैकुण्ठलोकमपि न वाञ्छन्ति। कुतः? सुमङ्गलं परमसुखात्मकम् अत्यद्भुतञ्च अनिर्व्वचनीय-माहात्म्यमिति। एवमेकान्तिनां माहात्म्यं लक्षणञ्चोक्तम् ॥१९३॥

चरणरेणु के द्वारा यावत् अभिषिक्त नहीं होता, तावत् वेदवाक्य द्वारा श्रीविष्णु ज्ञात होने पर भी गृहासक्त मानवों की मति श्रीविष्णु के चरण को प्राप्त नहीं कर सकती है, किन्तु असम्भावनादि द्वारा विघ्नाभिभूत होती है, श्रीभगवत् चरणारविन्द लाभ होने से ही संसार विदूरित होता है ॥१९१॥

प्रह्लाद कहे थे—हे प्रभो! मैं मानता हूँ, द्वादश गुण सम्पन्न विप्र भी यदि पद्मनाभ भगवान् के पदारविन्द विमुख होते हैं तो उनकी अपेक्षा जिनके मन, वाक्य, कर्म, अर्थ, प्राण भगवान् में ही अर्पित हैं, तादृश चण्डाल भी निज कुल को पवित्र करने में समर्थ हैं, किन्तु प्रभूत गर्वान्वित उक्त विध विप्र, निज आत्मा को पवित्र करने में अक्षम हैं, अतएव कैसे निज कुल को पवित्र कर सकेंगे? वस्तुतः भगवद्भक्ति-हीन के गुणसमूह केवल गर्व प्रकाश के निमित्त ही होते हैं। सुतरां वे सब चण्डाल से भी निकृष्ट हैं ॥१९२॥

अष्टम स्कन्ध में गजेन्द्र की उक्ति यह है—भक्तगण के मध्य में जो मानव, भगवान् के एकान्त भक्त हैं,

नवमे श्रीभगवतः (४।६३-६६, ६८)—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।।१९४।।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ।।१९५

ये दारागारपुत्त्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ।।१९६।।

मयि निर्व्वद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः । वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ।।१९७

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।१९८।।

तत्रैव श्रीदुर्व्वाससः (श्रीभा ९।५।१५)—

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् ।
यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः ।।१९९।।

कथम्भूतैः ? साधुभिर्भक्तैः, न तु कर्म्मादिपरैः; एवमग्रेऽप्यूह्यम् ।।१९४।।

नाशासे न स्पृहयामि, नापेक्षे वा, आत्यन्तिकीं मदेकनिष्ठाम् ।।१९५।।

दारादीन् वित्तञ्च धनं, नृणामिति भगवदुक्तेः; इमं परञ्च लोकं हित्वा उपेक्ष्य ।।१९६।।

मयि निर्व्वद्धहृदयत्वादेव समदर्शिन इति—स्वर्गनरकादिषु तुल्यदृष्टयः; तदुक्तमेव श्रीरुद्रेण—'स्वर्गापवर्ग-नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः' (श्रीभा ६।१७।२८) इति ।।१९७।।

अतः मम हृदयमन्तरङ्गं सारवस्तु वा, अहञ्च तेभ्योऽन्यत् मनागपि न जाने, एवं तैर्मम हृदयाक्रमणात् तेषामधीन एवाहं, न स्वतन्त्र इति भावः ।।१९८।।

सात्वतां सात्वतानाम् ऋषभः श्रीदेवकीनन्दनः, भगवान् परमस्वतन्त्रोऽपि हरिर्यथाकथञ्चित् स्मृतोऽपि संसारदुःखापहारकः, यैः संगृहीतः भक्त्या वशीकृतस्तेषां साधूनाम्, अतएव महात्मनां कोऽर्थो दुष्करः दुस्त्यजो वा, अतो ब्रह्मादिदुष्कर-मत्प्राणरक्षादिकं मन्महापराधक्षमादिकञ्च युक्तमेवेति भावः ।।१९९।।

एवं भगवान् के निकट कुछ भी अभिलाष नहीं करते हैं, वे सब भगवान् के अद्भुत सुमङ्गल चरित्र गान द्वारा आनन्दार्णव में निमग्न रहते हैं ।।१९३।।

नवम स्कन्ध में श्रीवैकुण्ठनाथ के वाक्य है—हे द्विज ! मैं भक्तपराधीन हूँ, तज्जन्य अस्वतन्त्र के तुल्य हूँ, मत् प्रिय भक्तजन हैं, एतज्जन्य साधुजनगण मेरे हृदय को ग्रास किये हैं ।।१९४।।

हे ब्रह्मन् ! मैं ही जिनकी परमागति हूँ. उन साधुजनगण व्यतीत मैं निज आत्मा को एवं आत्यन्तिकी श्री को भी अत्यन्त प्रीति नहीं करता हूँ ।।१९५।।

जिन्होंने पुत्र, कलत्र, गृह, स्वजन, धन, प्राण एवं इहलोक, परलोक प्रभृति परित्याग पूर्वक मेरी शरण ली है, मैं किस प्रकार उन सबको त्याग दूँ ? ।।१९६।।

साध्वी स्त्री जिस प्रकार सत् पति को वशीभूत करती है, ऐसे ही सर्वत्र समदर्शी साधु पुरुषों ने मेरे प्रति निज निज हृदयार्पण पूर्वक मुझको वशीभूत किया है ।।१९७।।

अतएव साधुवृन्द ही मेरे हृदय हैं, मैं भी उन सबका हृदय हूँ, वे सब मुझको छोड़कर अपर किसी को नहीं जानते, मैं उन सबको छोड़कर अपर कुछ भी नहीं जानता हूँ ।।१९८।।

नवमस्कन्ध में श्रीदुर्वासा का कथन है—जिन्होंने सात्वतपति श्रीहरि को संग्रह किया है, अर्थात् वशीभूत

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्म्मलः।
तस्य तीर्थपदः किंवा दासानामवशिष्यते ॥२००॥

दशमे देवस्तुतौ (२।३३) —

तथा न ते माधव तावकाः क्वचि,-द्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया, विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ॥२०१॥

श्रीबादरायणेः (श्रीभा १०।६।२१)—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥२०२॥

निर्म्मलः अविद्यासम्बन्धमलरहितः मुक्त इत्यर्थः। दासानां सेवापराणां सर्व्वथा भक्तिपराणां वा ॥२००॥

माधव हे श्रीमधुवंशसमुद्रचन्द्र ! त्वर्थे तथाशब्दः 'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः' (श्रीभा १०।२।३२) इत्यादिनोक्तेभ्योऽभक्तेभ्यो भिन्नक्रमापेक्षया तावकास्त्वदीयास्तु क्वचिन कदाचिदपि न भ्रश्यन्ति न स्खलन्ति, किमुन प्राप्तपरमपदात्; यद्वा, मृग्यते इति मार्ग श्रीमच्चरणारविन्दयुगलं, तस्मादपि न भ्रश्यन्ति, किमुत भक्तिमार्गात्। कुतः ? त्वयि बद्धं दृढ़तया योजितं सौहृदं प्रेम यैस्ते। अत्र बद्ध-शब्देनेदं सूच्यते—यथा दृढ़रज्ज्वा महावृक्षे दृढ़ं बद्धा नौर्नदीवेगादिना स्वस्थानाच्चालयितुं न शक्येत, तथा प्रेमविशेषेण भगवच्चरणाब्ज-निबद्धात्मनामापत्स्वपि कथञ्चित् निजसाध्यसाधनतः स्खलनं न स्यादिति। त्वथेत्यस्य बद्धसौहृदा इत्यनेने वा सम्बन्धः। तेनानिर्व्वचनीय-प्रकारेणेत्यर्थः, अतएव विनायका विघ्नहेतवस्तेषामनीकानि स्तोमाः सैन्यानि वा तानि पान्ति, ये तन्मुख्यास्तेषां मूर्द्धसु विचरन्ति, विघ्नान् जयन्तीत्यर्थः। यतस्त्वया अभितो गुप्ता रक्षिताः, अतएव निर्भयाः कुतश्चिदपि शङ्कारहिताः सन्तः, अत्र च मूर्द्धसु विचरन्तीत्यनेनैवं सूच्यते—अत्युच्चपदारोहणार्थं यथा निःश्रेणिरपेक्ष्यते, तथा भागवतानां भगवत्पदारोहणार्थं विघ्ना एव निःश्रेणिका भवेयुः, विघ्नेषु जातेषु भगवत्स्मरणादभिनिवेश-विशेषोत्पत्तेः। विघ्नजये च भगवद्वात्सल्यविशेषानुसन्धानादिना भक्तिविशेषसम्पत्तेश्चेति दिक्। तावका मार्गान्न भ्रश्यन्ति, त्वयि बद्धसौहृदास्तु त्वयाभिगुप्ता मूर्द्धसु विचरन्तीति वाक्यद्वयम्। अस्माकमुपरि विचरन्ति, हे विनायकानीकप गरुड़स्तोमपते ! अन्यत् समानम् ॥२०१॥

गोपिकासुतोऽयं भगवान् श्रीदामोदरो देहिनां देहाभिमानिनां तापसादीनां ज्ञानिनाञ्च निवृत्ताभिमानिनाम्, अतएव आत्मभूतानां स्वरूपं प्राप्तानामात्मारामाणामित्यर्थः। अतएव न सुखापः न सुलभः; यद्वा, भक्तिमतां विशेषणमात्मभूतानामिति; आत्मस्वरूपाणां भगवतः परमप्रियतमानामित्यर्थः, अतएव सुखापः ॥२०२॥

किया है, उन सब महात्मा साधु पुरुष के पक्ष में दुष्कर अथवा दुस्त्यज क्या है ? जिनका नाम श्रवण से ही पुरुष निर्मल होता है, उन तीर्थपाद प्रभु के दासों के पक्ष कौन कार्य्य अवशिष्ट हैं ? ॥१९९-२००॥

दशमस्कन्धस्थ देवस्तुति में वर्णित है—ब्रह्मादि देवगण ने कहा है, हे माधव ! जो तुम्हारे भक्त हैं, आपके सहित दृढ़ सौहार्द्द बद्ध हैं, वे वैसी दुर्गति को प्राप्त नहीं करते, वे सब आपके द्वारा रक्षित होकर निर्भय अन्तःकरण से विघ्नकारियों के मस्तक में विचरण करते रहते हैं, साधन-मार्ग से स्खलित नहीं होते हैं, प्रत्युत विघ्नकारिगण के अधिपतियों के मस्तकों को सोपान कर श्रीवैकुण्ठ में आरोहण करते हैं ॥२०१॥

दशमस्कन्ध में श्रीशुकदेव का वाक्य यह है—हे राजन् ! गोपिकासुत भगवान्, भक्तिमान् पुरुषों के पक्ष में जिस प्रकार सुखलभ्य हैं, देहाभिमानी तापसादि का एवं निवृत्ताभिमान आत्मभूत ज्ञानिवृन्द का उस प्रकार सुलभ नहीं है ॥२०२॥

तत्रैवश्रीभगवतः (श्रीभा १०।१०।४१)—

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥२०३॥

किञ्च, (श्रीभा १०।८४।११)—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्यरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥२०४॥

अपिच (श्रीभा १०।८४।१२-१३)—

नाग्निर्न सूर्य्यो न च चन्द्रतारका, न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं, विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्त्तसेवया ॥२०५॥
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि,-ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥२०६॥

साधूनां स्वधर्म्मवर्त्तिनां समचित्तानामात्मविदां, सुतरां मत्कृतात्मनाम् एषां कृपातिरेकात् सुतरामित्युक्तम् । यद्वा, साधूनामेव विशेषणद्वयं समचित्तानामिति मत्कृतात्मनामिति च। दर्शनादपि पुंसः सर्व्वस्यैव पुंमात्रस्य संसारबन्धः सुतरां न भवेत्, स्वयमेव समूलं विनश्यतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—सवितुर्दर्शनादक्ष्णोर्यथा तमो बन्धो न भवेदिति ॥२०३॥

तीर्थेभ्यो देवेभ्योऽपि साधव एव श्रेष्ठा इत्याह—न हीति । अम्मयानि तीर्थानि मृण्मयाः शिलामयाश्च देवा न भवन्तीति न, अपि तु भवन्त्येव । तथापि साधूनां तेषां च महदन्तरमित्याह—ते पुनन्तीति । अतः साधव एव महातीर्था न परमदेवताश्च. अतएव नित्यं सेव्या इति भावः । तदुक्तं तत्रैव (श्रीभा १०।४८।३०) —'भवद्विधा महाभागाः संनिषेव्या अर्हत्तमाः । श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्य देवाः स्वार्था न साधवः ॥' इति ॥२०३

वाङ्मनसयोरप्युपासनाविषयत्वं, 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते,' 'यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते' (श्रीछा ७।२।२, ७।३।२) श्रुतेः । इति अघं पापं तन्मूलमज्ञानं वा न हरन्ति; कुतः ? भेदकृतः भेदकर्त्तारः । यद्वा, भगवता सह विच्छेदकारकाः । पृथक् पृथक् तत्तदुपासनेन भगवत्परताहान्यापादनात् । विपश्चितः भगवद्भक्तास्तु यदेकपरतापादकाः; यद्वा, विपश्चितः, अद्वैतदर्शिनोऽपि भेदकृतः, 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्' इत्याद्युक्त-भेदाभेदन्यायेन जीवतत्त्वाद्भगवत्तत्त्वस्य भेदकर्त्तारो वैष्णवसिद्धान्ततत्त्वाभिज्ञाः परमभागवता ये इत्यर्थः, ते मुहूर्त्तमात्रसेवयैवाघं घ्नन्तीति ॥२०५॥

अत. साधव एवात्मादिरूपाः, तांस्तु विहायान्यत्रात्मादिबुद्धया सज्जन्नतिमन्द एवेत्याह—यस्येति । त्रयो धातवो वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतयो यस्य तस्मिन् कुणपे मृततुल्ये शरीरे आत्मबुद्धिः, अहमिति बुद्धिः, कलत्रादिषु स्वधीः स्वीया इति बुद्धिः, भौमे भूविकारे मृण्मयप्रतिमादौ इज्यधीः देवताबुद्धिः, सलिल एव यत्

दशमस्कन्ध में श्रीभगवान् कहते हैं—स्वधर्मशील, समदर्शी एवं मुझमें समर्पित चित्त व्यक्तियों का सन्दर्शन से संसार बन्धन नहीं रहता है, जिस प्रकार सूर्य्यदर्शन से चक्षु का अन्धकार बन्धन नहीं रहता है, उस प्रकार जानना होगा ॥२०३॥

और भी वर्णित है—जलमय स्थान को तीर्थ नहीं कहा जाता है, एवं मृण्मयी अथवा शिलामयी प्रतिमा होने से ही देवता में नहीं गिनी जाती है, कारण, वे सब अनेक काल के पश्चात् मनुष्य को पवित्र करते हैं, इस प्रकार साधुओं से तीर्थ एवं देवता का महद् भेद है ॥२०४॥

और भी लिखित है—'अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र, तारका, पृथिवी, जल, आकाश, वायु, वाक्य एवं मनः' इत्यादि का भजन करने से पापमूलक अज्ञान विनष्ट नहीं होता है, किन्तु मुहूर्त्तमात्र साधु सेवा से सकल

श्रुतिस्तुतौ (श्रीभा १०।८७।२७)—

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया, त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां,-स्त्वयि कृतसौहृदा, खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२०७

यस्य तीर्थबुद्धिः, अभिज्ञेषु तत्त्ववित्सु कदाचिदपि आत्मादिबुद्धयो यस्य न सन्ति, स एव गोष्वपि खरः दारुणः अत्यविवेकीत्यर्थः। यद्वा, गवां तृणादिभारवाहकः खरो गर्द्दभः, एवं साधव एवात्मादिरूपा इति तेषां माहात्म्योक्तिः ॥२०६॥

तवेति कर्म्मणि षष्ठी; त्वां ये परिचरन्ति, छन्दसि व्यवहिताश्चेति यच्छब्देन व्यवधानमदोषः। केन रूपेण ? अखिलसत्त्वनिकेततया अखिलानि सत्त्वानि निकेतो यस्य सः, तथा तस्य भावस्तत्ता तया सर्व्वभूतावासतयेत्यर्थः, अतएव अविगणय्य तिरस्कृत्य त एव निर्ऋतेर्मृत्योः शिरः मूर्द्धानं पदा पदेनाक्रामन्ति मृत्योर्मूर्द्ध्नि पदं दधति, तं तरन्ति मुच्यन्त इत्यर्थः। ये पुनर्विमुखा अभक्तास्तान् गिरा वेदलक्षणया वाचा पशूनिव विबुधान् विदुषोऽपि परिवयसे बध्नासि। कुतः ? त्वयि कृतसौहृदाः—कृतं सौहृदं प्रेत यैस्ते; खलु निश्चितं, पुनन्ति पवित्रयन्ति, आत्मानमन्यानपीति शेषः, नेतरे; तथा च श्रुतिः- 'तस्य वाक्तन्त्रिर्नामानि दामानि, तदस्येदं वाचा तन्त्र्या नामभिर्दामभिः सर्व्वं सितम्' इति; यद्वा, येऽखिलसत्त्वनिकेततया परिचरन्ति, ते मृत्योः शिरः पदाक्रामन्ति, अविवेकिनस्तु बध्नन्ति, बद्धसौहृदास्तु जगदेव मोचयन्तीत्यर्थः। अन्यत् समानम्; यद्वा, अविगणय्य स्वधर्म्मादिकमनादृत्य उत अपि। अखिलसत्त्वनिकेततया, किन्तु प्रेम्णा ये परिचरन्ति भजन्ते, यद्वा, अखिलसत्त्वेषु अन्तर्यामितया भगवद्दृष्ट्या परिचर्य्यामात्रमपि कुर्व्वन्ति, किं पुनः साक्षाद्भूतभगवतीव त्वदीय-श्रीमूर्त्तौ प्रेम्णा, ये सर्व्वथा भजन्ति तेऽपि संसारान्मुच्यन्ते, न च केवलमेतावदेव, त्वत्परमप्रसादपात्रतामपि यान्तीत्याहुः। विबुधान् सर्व्वज्ञानपि तान् परिचारकान् गिरा 'अहं भक्तपराधीनः' इत्यादिवचनेन पशून् विवेकहीनानिव परिवयसे वशीकरोषि। त्वद्भक्तिमाहात्म्य-श्रवणेन तद्रसेन किमप्यननुसन्दधानान् सहसा प्रेमाब्धौ पातयसीत्यर्थः। तथा चोक्तं श्रीभगवद्गीतादिभिः (श्रीभा १०।३१।८)—'मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया' इत्यादि। एवं त्वयि कृतसौहृदास्तु, खल्विति समुच्चये, ये त्वयि न विमुखाः, तत्त्वज्ञाने जातेऽपि भक्त्यागिनस्तेऽपि पुनन्ति, जगदपि संसारान्मोचयन्तीत्यर्थः यद्वा, त्वयि ये विमुखाः, शुष्कज्ञाननिष्ठया भक्तित्यागेन वैमुख्यं गतास्तांस्तु न पुनन्ति, भगवद्वैमुख्य-महापापफलभोगेन तेषामन्येषाञ्च शिक्षणार्थं भक्तिमाहात्म्य-प्रदर्शनार्थञ्च; यद्वा, ये विमुखास्तान्न पुनन्ति, किं कावा, अपि तु पुनन्त्येव, अग्न्यादेरुष्णतादिवत्तेषां प्रकृत्या पावनत्वादिति; अन्यत् समानम् ॥२०७॥

अज्ञान विनष्ट होते हैं, साधुवृन्द को परित्याग पूर्वक आत्मादि बुद्धि द्वारा अन्यत्र आसक्त होने पर मन्दपुरुषों में परिगणित होना पड़ता है। कारण, वात, पित्त श्लेष्मात्मक शरीर में आत्मज्ञान, कलत्र पुत्रादि में आत्मीयज्ञान, मृद्विकार में देवज्ञान एवं जल में तीर्थ बोध एवं साधु पुरुषों में साधु ज्ञान न होने पर, उसको भी तृणवाही गर्दभ स्वरूप जानना होगा। यह श्लोक, साधुजन की महिमा कीर्त्तन में उद्धृत हुआ है, किन्तु प्रतिमा में देवता बुद्धि एवं गङ्गादि जलादि में तीर्थबुद्धि रूप निन्दा में तात्पर्य्य नहीं है।२०५-२०६॥

दशमस्कन्ध की श्रुति स्तुति में वर्णित है—जो लोक जगदाधार रूप आपकी आराधना करते हैं, वे सब अनादर के सहित मृत्यु के मस्तक में पदाघात करने में सक्षम होते हैं और जो लोक आपकी आराधना में विमुख हैं, वे सब पण्डित होने पर भी रज्जु के द्वारा पशु बन्धन के समान वाक्यों से आबद्ध होते हैं, मुक्त होने में सक्षम नहीं हैं। कारण, आपके सहित कृत सौहार्द्द साधुगण निज को एवं अन्य को पवित्र करते हैं, किन्तु अभक्तजनगण अपने को एवं अपर को पवित्र करने में असमर्थ हैं ॥२०७॥

एकादशे श्रीवसुदेवस्य (२।५-६)—

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ।।२०८

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ।

छायेव कर्म्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ।।२०९।।

तत्रैव श्रीभगवतः (श्रीभा ११।२०।३६) —

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः । साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ।।२१०।।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् । शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ।।२११।।

देवैरपि महतामुपमानमनुचितमित्याह— भूतानामिति । देवानां चरितमतिवृष्ट्यादिना भूतानां दुःखायापि भवति । त्वया सदृशानामपि, अतः अच्युते आत्मा मनोमात्रं, न तु सर्व्वेन्द्रियवृत्तिर्येषां तेषामपि ।।२०८।।

किञ्च, सुखं कुर्व्वन्तोऽपि देवा भजनानुसारेणैव कुर्व्वन्ति, न तथा साधवः इत्याह- भजन्तीति । छायेव यथा पुरुषो यावत् करोति, तावदेव तस्य छायापि, तथा कर्म्मसचिवाः कर्म्मसहाया दीनाः सत्कर्म्मादिराहित्येन सदार्त्तास्तेषु वत्सलाः ।।२०९।।

भक्तिनिष्ठानान्तु न गुणदोषा इत्याह—मयीति; मयि ये एकान्तभक्ताः, कर्म्मज्ञानाद्यशेषनैरपेक्ष्येण भक्तिनिष्ठां प्राप्तास्तेषां गुणदोषैर्विहितप्रतिसिद्धैरुद्भवा येषां ते गुणाः पुण्यपापादयः । साधूनां निरस्तरागादीनाम्, अतः समचित्तानाम्, तत एव बुद्धेः परमीश्वरं मां प्राप्तानाम्; यद्वा, गुणाः सत्कर्म्माचरणादयस्तदुद्भवा ये गुणाः सत्त्वशुद्ध्यादयः, दोषाः सत्कर्म्मत्यागादयस्तदुद्भवाश्च ये गुणा ज्ञाननिष्ठादयः । ज्ञाननिष्ठार्थं श्रीभगवत्पादादिभिर्ज्ञानकर्म्मसमुच्चयदोषदर्शनेन कर्म्मत्यागोपपादनात् ते न सन्ति, किं वाववा ? अपि तु सन्त्येव, एकान्तभक्तत्वेन पूर्व्वमेव स्वतः सर्व्वगुणसिद्धेः; तदुक्तम् — (श्रीभा ५।१८।१२)—'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना' इत्यादि; तदेवाभिव्यञ्जन् विशिनष्टि- साधूनामित्यादि; यद्वा, गुणदोषोद्भवा येऽर्थाः सत्त्वशुद्ध्यादयः ज्ञाननिष्ठादयश्च, ते तेषां गुणा उपकारका महिमानो वा न भवन्ति, किं दोषा एवेत्यर्थः । एकान्तभक्ततायाः साधनत्वेन पूर्व्वमेव तद्गुणानां सिद्धेरधुना पुनःसाधनप्रवृत्त्या भक्तिनिष्ठाहान्यापत्तेः; यद्वा, गुणा बहुलोपचारसमर्पणादयस्तदुद्भवा ये गुणाः साधनविशेषाः; दोषाश्च पूजाविध्यतिक्रमादयस्तदुद्भवगुणा द्वात्रिंशदादयः, ते मयि न भवन्ति, तेषामाराधनविशेषाश्च मया नापेक्ष्यन्ते, न चापराधा गृह्यन्त इत्यर्थः । अन्यत् सर्व्वत्र समानम् । अलमतिविस्तरेण ।।२१०।।

अस्तु तावत् साधूनां माहात्म्यं, तदाश्रितानामपि माहात्म्यमनिर्व्वचनीयमिति लिखति—यथेति । विभावसुमग्निम् उपश्रयमाणस्य समीपे गत्वा सेवमानस्य; अप्येति नश्यति, तथा कर्म्मादिजाड्यमागामिसंसारभयं, तन्मूलमज्ञानञ्च नश्यतीत्यर्थः । साधून् संसेवतः श्रद्धया किञ्चिद्द्रव्यप्रदानादिना दूरतोऽपि सेवमानस्य ।।२११।।

एकादशस्कन्ध में श्रीवसुदेव ने कहा है—देवगण को भी महत् मानव का सम्मान करना कर्त्तव्य है, कारण, देवचरित, लोकों में सुख एवं दुःख के निमित्त होता है, अर्थात् अतिवृष्टि अनावृष्टि से दुःखद होता है एवं सुवृष्टि प्रभृति से सुखद होता है । किन्तु भवत् सदृश अच्युतात्मा साधुवृन्द का आचरण, केवल सुख के निमित्त ही होता है । जो व्यक्ति, जिस भाव से देवता की उपासना करते हैं, छाया के समान देवगण भी कर्मानुसार उनको तदनुरूप फल प्रदान करते हैं, किन्तु साधुगण, उस प्रकार नहीं होते हैं, अर्थात् सत्कर्म मुखापेक्षी नहीं हैं, वे सब दीनवत्सल हैं ।।२०८-२०९।।

एकादशस्कन्ध में श्रीभगवान् ने कहा है—हे उद्धव ! जिन्होंने प्रकृत्यतीत परमपुरुष को प्राप्त किया है, उन एकान्तभक्त, समचित्त, साधुगण के सम्बन्ध में विधिनिषेधक पाप पुण्यादि की सम्भावना नहीं है ।।२१०

और भी लिखित है—भगवान् विभावसु के समीप में आश्रय ग्रहण करने से जिस प्रकार शीत, भय,

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥२१२॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राणा आर्त्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्म्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग्बिभ्यतोऽरणम् ॥२१३॥

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि वहिरर्कः समुत्थितः । देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥२१४

किञ्च, (श्रीभा ११।२०।३४)—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥२१५॥

द्वादशे च श्रीपरीक्षितः (६।३)—

न ह्यद्भुतमिदं मन्ये महतामच्युतात्मनाम् । अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः ॥२१६॥

निमज्ज्योन्मज्जतामुच्चावचयोनीर्गच्छताम्; यद्वा, भवाब्धौ निमज्ज्य पश्चात् उन्मज्जतां सन्तरिष्यताम्; परमायणं परमाश्रयः, ब्रह्मविद इति—आत्मतत्त्वमात्रोपदेशेन भवाब्धितारणसिद्धेः; यद्वा, वेदार्थवेदिनः 'शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्' (श्रीभा ११।३।२१) इति गुरुलक्षणोक्तेः ॥२१२॥

किञ्च, यथान्नमेव प्राणिनां प्राणा जीवनम्, अहमेव यथा शरणम्, धर्म्म एव यथा प्रेत्य परलोके वित्तम्, तथा सन्त एव अर्व्वाक् सर्व्वान्ते संसारपतनाद्बिभ्यतः पुंसः अरणं शरणम्; यद्वा, यतः कुतश्चिद्बिभ्यतो जनस्य अर्व्वाक् नूतनं जीर्णत्वादिदोषहीनं शरणम् ॥२१३॥

किञ्च, चक्षूंषि सगुणनिर्गुणज्ञानानि, अर्कः पुनः सम्यगुत्थितोऽपि वहिः तदप्येकमेव चक्षुरित्यर्थः । अतः सतां सेवयैव कृतार्थता स्यात्, इत्याह—देवता इति ॥२१४॥

धीरा धीमन्तः, यतः मम एकान्तिनः मय्येव प्रीतियुक्ताः; यद्वा, भक्त्येकनिष्ठायुक्ताः, अतो मया दत्तमपि न गृह्णन्ति, किं पुनर्वक्तव्यं न वाञ्छन्तीत्यर्थः; यद्वा, वाञ्छन्त्यपि किं पुनर्वक्तव्य, न गृह्णन्तीति—कैवल्यमात्यन्तिकमपि, अपुनर्भवं मोक्षम् ॥२१५॥

अज्ञेषु भगवद्भजनादिमहिमानभिज्ञेषु, अतएव तापैस्तप्तेषु भूतेषु प्राणिमात्रेषु अनुग्रह इति यत्, इदमद्भुतघटमानं न मन्ये; यतः अच्युतस्यैव आत्मा स्वभावः दीनानामेव शरणत्वादिरूपो येषामिति ॥२१६॥

अन्धकार विदूरित होता है, उस प्रकार श्रद्धापूर्वक साधुवृन्द की सेवा करने से सकल पातक विनष्ट होते हैं।

जलमग्न मानव के पक्ष में नौका जिस प्रकार एक मात्र गति है, उस प्रकार घोर संसारार्णव में निमग्न जनगण के पक्ष में शान्त, ब्रह्मज्ञ साधुगण ही परमागति हैं ॥२११-२१२॥

यद्रूप अन्न, प्राणियों का प्राण है, मैं आर्त्तजनगण का आश्रय हूँ, धर्म, मनुषवृन्द का पारलौकिक धन है, तद्रूप साधुगण, संसार भयभीत मानवों के पक्ष में सर्वशेष शरण्य हैं ॥२१३॥

बहिर्भाग में समुदित सूर्य्य, केवल वहिर्दृष्टियुक्त नेत्र प्रदान करते हैं। किन्तु साधुगण, प्रत्यक्ष उदित होकर सगुण निर्गुण ज्ञानरूप नेत्रद्वय का उपदेश प्रदान करते हैं। अतः वे ही देवता, बान्धव एवं आत्मस्वरूप मत् सदृश हैं ॥२१४॥

उक्त स्कन्ध में और भी लिखित है—एकान्तभक्त धीर साधुवृन्द, अन्य वस्तु की बात तो दूर है, मद्दत्त आत्यन्तिक मुक्ति अथवा पुनर्जन्मराहित्य की वाञ्छा भी नहीं करते हैं ॥२१५॥

श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध में श्रीपरीक्षित का कथन है—ताप सन्तप्त अज्ञजन के प्रति अच्युतात्मा महाजन की इस प्रकार अनुकम्पा होती है, यह आश्चर्य्यकर नहीं है ॥२१६॥

श्रीरुद्रस्य च मार्कण्डेयमधिकृत्य (१२।१०।२५)—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि महापातकिनोऽपि वः। शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु सम्भाषणादिभिः ॥२१७

अतएव श्रीधर्म्मराजस्य स्वदूतानुशासने षष्ठस्कन्धे (३.२७)—

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा, ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्, नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥२१८॥

तथा श्रीविष्णुपुराणे—

यमनियमविधूतकल्मषाणा,-मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्।
अपगतमदमान-मत्सराणां, व्रज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥२१९॥

अस्तु तावन् महतां सङ्गसेवादिकं, नामश्रवणादिनापि महादुष्टा अपि मुक्ता भवन्तीति श्रीमार्कण्डेय-विषयक-श्रीशिववचनं लिखति—श्रवणादि त। वः भगवद्भक्तानां युष्माकं, महापातकिनः महापापकर्म्मरताः, अन्त्यजाश्च महापापजातयः, शुध्येरन् तत्तत्पापतः संसारमहामलाद्वा विमुक्ता भवन्ति। आदि-शब्देन प्रणामादिः ॥२१७॥

एवं सर्व्वशास्त्रसाराखिलवेदफलरूप-श्रीभागवते प्रतिस्कन्धमेव भगवद्भक्तानां माहात्म्यं विभातीति स्कन्धक्रमेण लिखित्वा इदानीं पूर्व्ववत् साक्षात् माहात्म्याभावेऽपि केषाञ्चिद्वचनानां तात्पर्य्येण विशेषतो माहात्म्य एव पर्य्यवसानात् तानि पृथग्लिखति—ते देवेत्यादिना नमो नम इत्यन्त्येन। ये भगवन्तं प्रपन्ना यथा कथञ्चिदप्याश्रिताः, अतएव साधवः सुशीलाः समदृशश्च, ते देवैः सिद्धैश्च श्रीसनकादिभिः परिगीत-पवित्रगाथाः अनुवर्णितपवित्रकथाः। अतस्तान्नोपसीदत तत्समीपमपि नोपगच्छत तत्प्रतिवेशिनोऽपि परित्यजतेत्यर्थः। किञ्च, गदया कौमोदक्याऽभितो गुप्तान्; ततस्तत्समीपगताः सन्तस्तया हनिष्यध्वे इति भावः। तेषां कथञ्चित् पापे जातेऽपि न कोऽपि किञ्चित् कर्त्तुं शक्नुयात्, भगवत्प्रपन्नत्वेनैव सर्व्वपाप-क्षयापत्तेरित्याह—नैषामिति। वयमिति निजभृत्याद्यपेक्षया बहुत्वम्। वयः कालोऽपि सर्व्वनियन्ता न प्रभवति ॥२१८॥

अच्युतासक्तमानसानां भगवत्स्मरणपराणां, यद्वा, अच्युतासक्ता भगवदनुरक्तास्तेषु मानसमपि येषां तेषामपि यम-नियम-विधून-कलमषाणामिति—अपगत-मद-मान-मत्सराणामिति च, विशेषणद्वयम् अच्युता-सक्तमानसानां स्वभावः साधनं वा पूर्व्ववत् ज्ञेयम्। दूरतरेण व्रजेति तन्निकटवर्त्तिनामपि निकटं न गच्छेति पूर्व्ववदर्थः; एवमग्रेऽपि ॥११९॥

उक्त स्कन्ध में मार्कण्डेय के प्रति श्रीरुद्रोक्ति यह है—अन्त्यज महापापीगण भी तुम्हारा दर्शन प्राप्त कर एवं तुम्हारे नामादि श्रवण कर पवित्र होते हैं, सुतरां तुम्हारे सहित कथोपकथन से जो लाभ होता है, उसका वर्णन और क्या करूँ? ॥२१७॥

अतएव षष्ठस्कन्ध के श्रीधर्मराज के दूतानुशासन में वर्णित है—श्रीयमराज ने कहा-हे दूतगण! अद्यावधि तुम सब मेरा यह सब अनुशासन वाक्य को सुनकर मन में धारण करो। जो सब साधुपुरुषवृन्द भगवत् शरणागत हैं, सर्वत्र समदर्शी हैं, सिद्धगण जिनके पवित्र चरित्र गान करते हैं, तुम सब कभी भी उन सब पुरुषों के निकट न जाना। भगवान् की गदा सर्वतोभावेन उन सबकी रक्षा करती है, उनका शासन करने में हमारी सामर्थ्य नहीं है, और काल की सामर्थ्य भी नहीं है ॥२१८॥

विष्णुपुराण में तद्रूप कथित है—हे दूत! यम-नियम के द्वारा जिनकी पापराशि विधूत हो गई है, जो अप्रमत्त, अमानी, निर्मत्सर एवं भगवदासक्त मनाः हैं, उन सब वैष्णववृन्द के निकट से तुम सब दूर में रहना ॥२१९॥

सकलमिदमहञ्च वासुदेवः, परमपुमान् परमेश्वरः स एकः ।
इति मतिरमला भवत्यनन्ते, हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात् ॥२२०॥
कमलनयन वासुदेव विष्णो, धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै, त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥२२१॥
वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा, पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते ।
तव गतिरथवा ममास्ति चक्र,-प्रतिहतवीर्य्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः ॥२२२॥

नारसिंहे, विष्णुपुराणे च—

अहममरगणार्च्चितेन धात्रा, यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः ।
हरिगुरुविमुखान् प्रशास्मि मर्त्यान्, हरिचरणप्रणतान्नमस्करोमि ॥२२३॥

तथैव ज्ञानभक्तानामपि तन्निकटवर्त्तिनामपि निकटं न गच्छेत्याह—सकलमिति । इदं जगत् सकलं वासुदेव एव, वासुदेवाद्भिन्नं न भवति, अहश्च वासुदेवाद् भिन्नो न भवामि, तदंशत्वाज्जीवानां स चास्मत्तो न भिन्नः, सर्व्वनियन्तृत्वादिनेति भेदाभेदन्यायेनाह । सः वासुदेवः एवैकः परमेश्वरः, यतः परमपुमान् प्रकृत्यधिष्ठातुः पुरुषादपि परमः परब्रह्मात्मकत्वात् । अतो वयं सेवकाः, स च परमसेव्य इति भावः । शुद्धभक्तिमद्भ्यो ज्ञानभक्तानां न्यूनत्वाद्दूरादित्युक्तं, तत्र च दूरतरेणेति ॥२२०॥

पापकारिणामपि भगवत्कीर्त्तनकृतान् तयेत्याह—कमलनयनेति, ईरयन्ति उच्चारयन्ति, अपापानिति कथञ्चित् पापे जातेऽप्यपापानेवेत्यर्थः ॥२२१॥

दूरतरेण व्रजेत्यादि यदुक्तं, तत्र हेतुमाह—वसतीति । तस्य दृष्टिपातं यावद्विष्णोश्चक्रं परिभ्रमति, अतस्तच्चक्रात् प्रतिहतं वीर्य्यं बलञ्च यस्य तथाभूतस्य तव वा मम वा तावति देशे पापिष्ठं जनमानेतुमपि गतिर्नास्ति । स पुनरन्यलोक्यः वैकुण्ठलोकार्हः न त्वस्मल्लोकार्ह इति ॥२२२॥

यमयति नियमयतीति यमः नियन्तेति लोकानां हिते निमित्ते पुण्यफलस्वर्गादि दानार्थम्, अहिते च निमित्ते पापफल-नरकादिदानार्थं नियुक्तोऽपि सन्, हरिरेव गुरुस्तद्विमुखान् अभक्तानेव प्रशास्मि, प्रकर्षेण दण्डं करोमि ॥२२३॥

हे दूत ! निखिल जगत् वासुदेव से भिन्न नहीं है एवं मैं भी वासुदेव से भिन्न नहीं हूँ । वासुदेव ही एक मात्र परम पुरुष परमेश्वर हैं, इस प्रकार जिनकी निर्म्मल बुद्धि होती है, उनको छोड़कर दूर में ही रहना ।

हे दूत ! जो मानव, 'हे पद्मपलाशलोचन ! हे वासुदेव ! हे विष्णवे ! हे पृथ्वीधर ! हे अच्युत ! हे शङ्ख-चक्रहस्त ! तुम मेरी शरण हों, इस प्रकार कीर्त्तन करते हैं, तुम उन सब अकलुषजन को परित्याग कर अति दूर में रहना ॥२२०-२२१॥

अव्ययात्मा परम पुरुष जिनके हृदय में निवास करते हैं, उनकी दृष्टि जहाँ तक जाती है, वहाँ तक सुदर्शन-चक्र भ्रमण करता है, उस चक्र के द्वारा प्रतिहत बलवीर्य्य तुम सब हो एवं मैं भी हूँ, अतएव वहाँ तक जाने की सामर्थ्य तुम सबकी अथवा मेरी नहीं है । वे अन्य मानव, वैकुण्ठलोक में जाने के उपयुक्त पात्र हैं ॥२२२॥

नृसिंहपुराण में एवं विष्णुपुराण में लिखित है—सर्व-लोक-वन्द्य विधाता ने सर्व-लोकहित के निमित्त अर्थात् पुण्य फल स्वरूप स्वर्गादि प्रदान के निमित्त, अहितार्थ-पापफल नरकादि प्रदान के निमित्त, मुझको यम पद में प्रतिष्ठित किया है । अतएव मैं गुरु रूप श्रीहरि के चरणकमलों से विमुख मनुष्यों पर शासन करता हूँ और हरि चरणों में प्रणत पुरुषों को नमस्कार करता हूँ ॥२२३॥

सुगतिमभिलषामि वासुदेवा,-दहमपि भागवतस्थितान्तरात्मा ।
मधुवर वशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः, प्रभवति संयमने ममापि कृष्णः ॥२२४॥
न हि शशकलुषच्छविः कदाचि,-त्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः ।
भगवति च हरावनन्यचेता, भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः ॥२२५॥

पाद्मे देवदूत-विकुण्डल-संवादे—

प्राहास्मान् यमुनाभ्राता सादरं हि पुनः पुनः ।
भवद्भिर्वैष्णवास्त्याज्या न ते स्युर्मम गोचराः ॥२२६॥
दुराचारो दुष्कुलोऽपि सदा पापरतोऽपि वा ।
भवद्भिर्वैष्णवस्त्याज्यो विष्णुञ्चेद्भजते नरः ॥२२७॥
वैष्णवो यद्गृहे भुङ्क्ते येषां वैष्णवसङ्गतिः ।
तेऽपि वः परिहार्य्याः स्युस्तत्सङ्गहतकिल्विषाः ॥२२८॥

सुगतिं मुक्तिं श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तिं वा, भागवतेषु भगवद्भक्तेषु स्थितः, स्थिरतां प्राप्तः अन्तरात्मा मनो यस्य तथाभूतः सन्, तेषु कदाचित् पापेऽपि जाते ममैश्वर्य्यं नास्तीत्याह—मधुवरेति । श्रीकृष्णाधीन एवाहं, न स्वतन्त्रोऽस्मि ॥२२४॥

तेषां कथञ्चित् जातेऽपि पापे न कोऽपि दोषः स्यात्, प्रत्युत भगवद्विश्वासविशेषेण शोभैव स्यादित्याह—न हीति । शशरूपं कलुषं कलङ्कः, तस्य छविश्छाया वा यस्मिन् सोऽपि यथा तया तस्य शोभाविशेष एव स्यात्, तथेत्यर्थः ॥२२५॥

मम गोचराः मदधिकारविषयाः ॥२२६॥

तेऽपि दुराचारादयोऽपि स्युस्तथापि ते परिहार्य्या दूरतस्त्याज्या इत्यर्थ ; यतस्तेषां वैष्णवानां सङ्गेन हतं किल्विषं येषां ते ॥२२८॥

मैं श्रीहरिभक्त के प्रति अपना चित्त निश्चलरूप से सन्निवेशित करके भी श्रीहरि के समीप में वैकुण्ठ-लाभ की वासना करता हूँ। कदाचित् वैष्णव कभी किसी पाप का अनुष्ठान करे तो भी उस विषय में मैं प्रभु नहीं हूँ, क्योंकि मैं स्वाधीन नहीं हूँ किन्तु वासुदेव के अधीन हूँ। श्रीहरि, शासन विषय में मेरे भी प्रभु हैं ॥२२४॥

मृगलाञ्छनधारी चन्द्र जिस प्रकार कभी भी अन्धकार के निकट पराभव को प्राप्त नहीं करता, उस प्रकार भगवान् श्रीहरि में एकान्त-चित्त मनुष्य अतिशय मलिन होने पर भी शोभा प्राप्त करते हैं, अर्थात् भगवद्भक्तगण कथञ्चित पापाचरण करने पर भी दूषणीय नहीं होते हैं ॥२२५॥

पद्मपुराण के देवहूति-विकुण्डल-संवाद में वर्णित है—यमुनाभ्राता यम आदरपूर्वक पुनः पुनः हम सबको कहे हैं—तुम सब वैष्णववृन्द को परित्याग करना, वे सब हमारे अधिकार में नहीं आ सकते हैं। दुराचारी, दुष्कुल जात, एवं सर्वदा पापाचारी होने पर भी विष्णु-भजनकारी मनुष्य, वैष्णव नाम से परिगणित होते हैं। तुम सब उनको परित्याग करना। जिनके आलय में वैष्णव भोजन करते हैं एवं जो मानव वैष्णव के सहित अवस्थान करते हैं, वे सब वैष्णवसङ्ग हेतु निष्कलुष होते हैं, सुतरां तुम सब उन सबको परित्याग करना ॥२२६-२२८॥

स्कान्दे अमृतसारोद्धारे—

एकादश्यामभुञ्जाना युक्ताः पापशतैरपि । भवद्भिः परिहर्त्तव्या हिता मे यदि सर्व्वदा ॥२२९

ये स्मरन्ति जगन्नाथं मृत्युकाले जनार्द्दनम् । पापकोटिशतैर्युक्ता न ते ग्राह्या ममाज्ञया ॥२३०॥

न ब्रह्मा न शिवाग्नीन्द्रा नाहं नान्ये दिवौकसः ।
शक्ता न निग्रहं कर्त्तुं वैष्णवानां महात्मनाम् ॥२३१॥

अतोऽहं सर्व्वकालञ्च वैष्णवानां बिभेमि वै । भवद्भिः परिहर्त्तव्या वैष्णवा ये सदैव हि ॥२३२

वैष्णवा विष्णुवत् पूज्या मम मान्या विशेषतः ।
तेषां कृतेऽपमानेऽपि विनाशो जायते ध्रुवम् ॥२३३॥

किञ्च—

येषां स्मरणमात्रेण पापलक्षशतानि च । दह्यन्ते नात्र सन्देहो वैष्णवानां महात्मनाम् ॥२३४॥

येषां पादरजेनैव प्राप्यते जाह्नवीजलम् । नार्म्मदं यामुनञ्चैव किं पुनः पादयोर्जलम् ॥२३५॥

येषां वाक्यजलौघेन विना गङ्गाजलैरपि । विना तीर्थसहस्रेण स्नातो भवति मानवः ॥२३६॥

किञ्च—

ब्रह्मलोके न मे वासो न मे वासो हरालये । नालये लोकपालानां वैष्णवानां पराभवे ॥२३७॥

ममाज्ञयेति—अन्यथा मदाज्ञाभङ्गे मयैव भवन्तो दण्डयितव्या इत्यर्थः; यद्वा, ममाज्ञयापि कदाचित् प्रमादेन ममाज्ञायां दत्तायामपीत्यर्थः ॥२३०॥

वैष्णवानां वैष्णवेभ्यो बिभेमि, तेष्वपराधेन भगवत्क्रोधविशेषोत्पत्तेः । अतः सदैव परिहर्त्तव्याः ॥२३२॥

सर्व्वेषामेव पूज्याः, विशेषतश्च मम भगवद्धर्म्माभिज्ञस्य मान्याः ॥२३३॥

येषां वैष्णवानामतएव महात्मनां स्मरणमात्रेण ॥२३४॥

पादस्य रजेन रजसैव; नार्म्मदं यामुनञ्च जलं प्राप्यते, किं पुनस्तेषां पादयोर्जलं, तन्महिमा किं वक्तव्य इत्यर्थः । अस्य पानसम्भवेन रजसः सकाशात् माहात्म्यापेक्षया किं पुनरिति न्यायोक्तिः ॥२३५॥

वाक्यमुपदेशरूपं भगवत्कथाकीर्त्तनादिरूपं वा, तदेव जलौघः पयपुरस्तेनैव ॥२३६॥

पराभवे मत्तो भवद्भ्यो वा कथञ्चित् तिरस्कारे सति ब्रह्मलोकादिष्वपि वासं कर्त्तुं न शक्नोमीत्यर्थः ॥२३७

स्कन्दपुराण के अमृतसारोद्धार में लिखित है—हे दूतगण ! यदि तुम सब मेरे हितकारी हो तो, जो मनुष्य एकादशी में भोजन ग्रहण नहीं करते हैं, वे सब शत शत पापयुक्त होने से भी उन सबको परित्याग करना । कोटि कोटि पापयुक्त होने से भी जो मनुष्य, मृत्युकाल में जगन्नाथ जनार्दन का स्मरण करते हैं, मेरी आज्ञा तो यह है कि, उन सबको परित्याग करना । महात्मा वैष्णववृन्द के अनुशासन में ब्रह्मा, हर, अग्नि, इन्द्र, मैं (यम) एवं अन्यान्य सुरगण कोई भी समर्थ नहीं हैं । मैं वैष्णववृन्द के समीप में सर्वदा ही रहता हूँ, अतएव तुम सब वैष्णववृन्दों को परित्याग करना । वैष्णवगण, विष्णु सदृश पूज्य हैं । विशेषतः मेरे माननीय हैं, वैष्णवापमान करने से, अपमानकारी व्यक्ति निश्चय विनष्ट होता है ॥२२९-२३३॥

और भी लिखित है—महात्मा वैष्णववृन्द के स्मरण मात्र से ही निःसन्देह शतलक्ष पाप भस्मीभूत होते हैं, जिनकी चरणरेणु द्वारा गङ्गा, नर्मदा एवं यमुना का सलिल लाभ होता है, उनके चरणयुगल के जल की कथा और क्या कहूँ ? वैष्णववृन्द के वाक्यरूप सलिल समूह के द्वारा गङ्गाजल के विना एवं सहस्र सहस्र तीर्थ के विना मनुष्य स्नात होते हैं ॥२३४-२३६॥

और भी लिखित है—हे दूतगण ! मेरे द्वारा अथवा तुम सबके द्वारा वैष्णववृन्द परास्त होते हैं, तो

न देवा न च गन्धर्व्वा न यक्षोरगराक्षसाः । त्रातुं समर्था ऋषयो वैष्णवानां पराभवे ।।२३८।।
करोमि कर्म्मणा वाचा मनसापि न विप्रियम् । वैष्णवानां महाभागाः सुदर्शनभयादपि ।।२३९
एकतो धावते चक्रमेकतो हरिवाहनम् । एकतो विष्णुदूताश्च वैष्णवे चार्दिते मया ।।२४०।।

बृहन्नारदीये चैकादशी माहात्म्ये —

ये विष्णुभक्तिनिरताः प्रयताः कृतज्ञा, एकादशीव्रतपरा विजितेन्द्रियाश्च ।
नारायणाच्युत हरे शरणं भवेति, शान्ता वदन्ति सततं तरसा त्यजध्वम् ।।२४१।।
नारायणार्पितधियो हरिभक्तभक्तान्, स्वाचारमार्गनिरतान् गुरुसेवकांश्च ।
सत्पात्रदाननिरतान् हरिकीर्त्तिभक्तान्, दूतास्त्यजध्वमनिशं हरिनामसक्तान् ।।२४२।।
पाषण्डसङ्गरहितान् हरिभक्तितुष्टान्, सत्सङ्गलोलुपतरांश्च तथातिपुण्यान् ।
शम्भोर्हरेश्च समबुद्धिमतस्तथैव, दूतास्त्यजध्वमुपकारपरान् नराणाम् ।।२४३।।
ये वीक्षिता हरिकथामृतसेवकैश्च, नारायणस्मृतिपरायणमानसैश्च ।
विप्रेन्द्रपालजलसेवनसम्प्रहृष्टै,-स्तान् पापिनोऽपि च भटाः सततं त्यजध्वम् ।।२४४

हे महाभागा इति स्वदूतान् प्रति शिक्षणार्थं यमस्य सलालनं सम्बोधनम् । हरिवाहनं गरुड़ः, अर्दित इत्यादिते पीड़ार्थोद्यमेऽपि कृते सतीत्यर्थः । विष्णुभक्तिनिरतानेवाह— प्रयता इत्यादिना । स्वाचारो वैष्णवधर्मस्तन्मार्गनिरतान्, सत्पात्राणि वैष्णवास्तेभ्यो यद्दानं, तस्मिन् निरतान् ।।२३९-२४२।।

पाषण्डा विष्णुविमुखाः, अतिपुण्यान् परममङ्गलरूपवैष्णवचिह्नधारिण इत्यर्थः । उपकारः भगवद्भक्त्युपदेशादिरूपस्तत्परान् ।।२४३।।

विप्रेन्द्रा वैष्णव-ब्राह्मणाः ।।२४४।।

ब्रह्मलोक, शिवलोक, लोकपालगण के आलय में कहीं पर मेरा वास नहीं होगा । देव, गन्धर्व, यक्ष, उरग, राक्षस एवं ऋषि,-कोई भी वैष्णव पराभवकारी की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं । हे महाभागगण ! मैं सुदर्शन-चक्र के भय से ही वाक्य एवं मन द्वारा वैष्णवों का अप्रिय कार्य्य करने में समर्थ नहीं हूँ । वैष्णववृन्द मत् कर्त्तृक पीड़ित होने से एक ओर सुदर्शन चक्र, दूसरी ओर हरि-वाहन गरुड़, अन्य ओर विष्णुदूतगण मेरे प्रति धावित होते रहते हैं ।।२३७-२४०।।

बृहन्नारदीय के एकादशी माहात्म्य में वर्णित है—हे दूतवृन्द ! विष्णुभक्तिपरायण, यत्नशील, कृतज्ञ, एकादशी व्रतरत एवं जितेन्द्रिय होकर 'हे नारायण ! हे अच्युत ! हे हरे ! मेरे आश्रय होओ' सर्वदा शान्तचित्त होकर जो मानव इस प्रकार कहा करते हैं, आशु उन सबको परित्याग कर देना ।।२४१।।

हे दूतगण ! जिन्होंने श्रीहरि को बुद्धि समर्पण किया है, जो वैष्णव भक्त हैं, वैष्णव मार्ग में जिनका आग्रह है, जो गुरु-सेवक हैं, जो वैष्णववृन्द को दान करते हैं एवं हरिकीर्त्ति में भक्तिमान् हैं, हरिनाम में अनुरक्त हैं, सर्वदा उन सबको छोड़ देना ।।२४२।।

हे दूतवृन्द ! अवैष्णव सङ्गत्यागी, हरिभक्ति में सन्तुष्ट, सत्सङ्ग में अतिशय लालसाविशिष्ट, परम मङ्गलरूप वैष्णव-चिह्न विभूषित, शिव एवं हरि में समबुद्धिमान् एवं परोपकार निरत अर्थात् हरिभक्ति उपदेश प्रदाता व्यक्तिगण को उसी प्रकार छोड़ देना ।।२४३।।

हे दूतगण ! हरि-कथामृत-सेवी, नारायण स्मृतिविशिष्ट मानस, वैष्णव ब्राह्मणवृन्द के चरणामृत सेवन से प्रफुल्लचित्त मानव, जिनके प्रति कृपा दृष्टिपात करते हैं, वे सब नित्य पातकी होने से भी सर्वदा उन सबको वर्जन करना चाहिये ।।२४४।।

अतएवोक्तं श्रीनारदेन चतुर्थस्कन्धशेषे (३१।२२ —

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च, द्विपदपतीन् विबुधांश्च यः स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः, कथममुमुद्विसृजेत् पुमान् कृतज्ञः ।।२४५।।

अतएव प्रार्थनम्

नारायणव्यूहस्तवे—

नाहं ब्रह्मापि भुयासं त्वद्भक्तिरहितो हरे । त्वयि भक्तस्तु कीटोऽपि भूयासं जन्मजन्मसु ।।२४६।।

श्रीब्रह्मस्तुतौ च दशमस्कन्धे (१४।३०)—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो, भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां, भूत्वानिषेवे तव पादपल्लवम् ।।२४७।।

अतएवोक्तं श्रीनारायणव्यूहस्तवे—

ये त्यक्तलोकधर्म्मार्था विष्णुभक्तिवशं गताः । भजन्ति परमात्मानं तेभ्यो नित्यं नमो नमः ।।२४८

अनुचरन्तीमनुवर्त्तमानामपि श्रियम्; तदर्थिनः सकामान् द्विपदपतीन् नरेन्द्रान् विबुधान् देवानपि यो नानुवर्त्तते, यतः स्वैर्निजभक्तैरेव पूर्णः, अतः स्वभृत्यवर्गानुरक्त एव केवलम्; यद्वा, न भजतीत्यत्र हेतुद्वयम्—स्वपूर्णः स्वेन आत्मनैव पूर्ण इति निजभृत्यवर्गतन्त्र इति च;यद्वा, स्वपूर्णोऽपि निजभृत्यवर्गाधीनः सन् न भजति, एवम्भूतममुं हरिमुत् ईषदपि कथं विसृजेत् ? कृतज्ञः—तस्य कृतमुपकारं कर्म्म वा जानाति अनुसन्दधाति य इत्यर्थः । एवमन्ते भगवद्वशीकरणरूपो भगवद्भक्तानां माहात्म्यविशेषो दर्शितः ।।२४५।।

जन्मजन्मस्विति—मुक्तिविषयके नैरपेक्ष्यं दर्शितं, तत्र भक्तिरसाभावात् ।।२४६।।

तत्तस्मात्तद्भक्तानामेव परमोत्कर्षाद्धेतोः, अत्र भवे ब्रह्मजन्मनि तिरश्चामपि मध्ये यज्जन्म, तस्मिन् वा भूरिभागो महद्भाग्यं मे सोऽस्तु, येन भाग्येन भवदीयानां जनानामेकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा त्वत्पादपल्लवं निषेवे अत्यर्थं सेवे ।।२४७।।

एवं माहात्म्यप्रकरणमुपसंहरन् भगवद्भक्तान् प्रणमति—य इति । त्यक्ताः लोकाः कलत्रपुत्रादयः, धर्म्मा वर्णाश्रमाचारादयः, अर्थाश्च धनानि मोक्षादयो वा यैस्तथाभूताः सन्तो ये परमात्मानं श्रीकृष्णं भजन्ति। तर्हि किमर्थम् ? इत्यत्राह—विष्णुभक्तेर्वशं गतास्तत्प्रसाकृष्टचित्तत्वादित्यर्थः । तदुक्तमेव—'कुर्व्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः' (श्रीभा १।७।१०) इति । एवं चान्ते परममाहात्म्यविशेषो दर्शित इति दिक् ।।२४८

अतएव चतुर्थस्कन्ध के अन्त में श्रीनारद कहे हैं—हे राजन् ! जो स्वयं परिपूर्ण एवं जो निज भक्तजन से ही अनुरक्त होने के कारण, अनुवर्त्तमाना श्री एवं सकाम राजवृन्द एवं देववृन्द की भी अनुवृत्ति ग्रहण नहीं करते हैं, तादृश भगवान् को कौन कृतज्ञ व्यक्ति स्वल्पमात्र भी त्याग करने में समर्थ होगा ?।२४५।।

अतएव प्रार्थनम्

अतएव नारायण व्यूह स्तव में प्रार्थना इस प्रकार है—हे हरे ! मैं तुम्हारी भक्ति से हीन होकर ब्रह्मा होने का इच्छुक नहीं हूँ । तुम्हारे भक्त होकर जन्म-जन्म यदि कीटदेह भी हो तो वह मेरा वाञ्छनीय है ।

दशमस्कन्धस्थ श्रीब्रह्मस्तुति में लिखित है—हे नाथ ! अतएव, भक्तवर्ग के परमोत्कर्ष हेतु—इस ब्रह्म जन्म में अथवा पशु-पक्ष्यादि के मध्य में जिस किसी जन्म में देह धारण क्यों न करूँ, मेरा उस प्रकार महाभाग्य हो, जैसे मैं भवदीय पुरुषों के मध्य में अर्थात् आपके भक्तगण के मध्य में एक व्यक्ति होकर आपके पादपल्लव की सेवा उत्तम रूप से कर सकूँ ।।४४६-२४७।।

अतएव श्रीनारायणव्यूह स्तव में कथित है—जो मानव, पुत्र, कलत्र, वर्णाश्रमधर्म, धन एवं मोक्षप्रभृति

एवं श्रीभगवद्भक्तमाहात्म्यामृतवारिधेः ।
विचित्रभङ्गलेखार्हो लोभलोलं विनास्ति कः ॥२४९॥
अतः श्रीभगवद्भक्तजनानां सङ्गतिः सदा ।
कार्य्या सर्व्वैः प्रयत्नेन द्वौ लोकौ विजिगीषुभिः ॥२५०॥

अथ श्रीभगवद्भक्तसङ्ग-माहात्म्यम्

भगवद्भक्तपादाब्जपादुकाभ्यो नमोऽस्तु मे ।
यत्सङ्गमः साधनञ्च साध्यं चाखिलमुत्तमम् ॥२५१॥

तत्र सर्व्वपातकमोचकता

बृहन्नारदीये यज्ञमाल्युपाख्यानान्ते—

हरिभक्तिपराणान्तु सङ्गिनां सङ्गमात्रतः । मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो महापातकवानपि ॥२५२॥

असंख्येयस्य भगवद्भक्तानां माहात्म्यस्य लिखनद्वारा संख्याया इयत्तापादनेन निजचापल्यमुद्भाव्य तत् परिहरति—एवमिति । श्रीभगवद्भक्तमाहात्म्यमेवामृतवारिधिस्तस्य विचित्राणां भङ्गानामूर्मीणां परम्पराणां लेखस्य लिखनस्य अर्हो योग्यः । लोभेन तद्रसतृष्णया लोलं चञ्चलं जनं विना कोऽन्योऽत्रास्ति ? केवलं चाञ्चल्येनै । तद्योग्यः स्यान्न चान्यथा कथञ्चित्, तच्च तन्माधुरीविशेषेणाकर्षणादेवेत्यर्थः ॥२४९॥

अतः लिखितादस्मात् माहात्म्याद्धेतोः, द्वौ लोकौ विजिगीषुभिः, लोकद्वयं विशेषतो जेतुमिच्छद्भिः, ऐहिकामुष्मिक-साधनसाध्यवर्गं वशीकर्त्तुं सर्व्वैरेव सदा कार्य्येत्यर्थः ॥२५०॥

इदानीं तेषां सङ्गमाहात्म्यं लिखन् तत्सुसिद्धये प्रथमं तान् प्रणमति—भगवदिति; यद्यपि भगवद्भक्तानां माहात्म्यलिखनेन तत्सङ्गति-माहात्म्यलिखनेन तेषाञ्च माहात्म्यं लिखितं स्यात, तथापि सङ्गं विनापि दूरतः कथञ्चित् सेवयापि कृतार्थता स्यादित्यभिप्रायेण पृथग् पृथग् लिखितम् । उत्तमं सर्व्वतः श्रेष्ठमखिलं साधनं साध्यञ्च फलम, एवं संक्षेपेण माहात्म्यमखिलमेवोल्लिखितम् ॥२५१॥

तदेव विवेचयन् यथोत्तरं श्रैष्ठ्यक्रमेण लिखति—हरिभक्तीत्यादिना साधुसमागम इत्यन्तेन । सङ्गिनां गृहाद्यासक्तिमतामपि; यद्वा, हरिभक्तिपराणां ये सङ्गिनस्तेषामपि ॥२५२॥

वर्जन पूर्वक विष्णुभक्ति परायण होकर परमात्मा श्रीहरि की आराधना करते हैं उनको नित्य नमस्कार, नमस्कार ॥२४८॥

उक्त रसतृष्णा में चञ्चलजन व्यतीत अपर कौन व्यक्ति श्रीभगवद्भक्त माहात्म्यरूप सुधार्णव की विचित्र तरङ्ग परम्परा का चित्रण करने में सक्षम हैं ? ॥२४९॥

अतएव इस लोक एवं परलोक के जयेच्छु व्यक्ति, सर्वदा सर्व प्रयत्न से भगवद्भक्त का सङ्ग करें ॥२५०

अथ श्रीभगवद्भक्तसङ्ग-माहात्म्यम्

जिनका सङ्ग, निखिल साध्य साधन का फलस्वरूप है, उन भगवद्भक्त की पादुका के प्रति मेरा नमस्कार है ॥२५१॥

तत्र सर्व्वपातकमोचकता

बृहन्नारदीय पुराण में यज्ञमाली के उपाख्यान के अन्त में लिखित है—हरिभक्तिपरायण व्यक्ति के सङ्गी का सङ्ग प्राप्त मात्र से ही महापातकान्वित जनगण भी निखिल पापों से विमुक्त होते हैं ॥२५२॥

सामान्यतोऽनर्थनिवर्त्तकतार्थप्रापकता च

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीमुनिशर्म्माणं प्रति प्रेतानामुक्तौ—

विनाशयत्यपयशो बुद्धिं विशदयत्यपि । प्रतिष्ठापयति प्रायो नृणां वैष्णवदर्शनम् ।।२५३।।

तत्र श्रीयमब्राह्मण-संवादे महारथनृपोक्तौ—

यथा प्रपद्यमानस्य भगवन्तं विभावसुम् । शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतः सदा ।।२५४।।

तत्रैव प्रेतोपाख्याने प्रेतोक्तौ—

अपाकरोति दुरितं श्रेयः संयोजयत्यपि । यशो विस्तारयत्याशु नृणां वैष्णवसङ्गमः ।।२५५।।

अथ सर्व्वतीर्थाधिकता

तत्रैव—

गङ्गादिपुण्यतीर्थेषु यो नरः स्नातुमिच्छति । यः करोति सतां सङ्गं तयोः सत्सङ्गमो वरः ।।२५६

अथ सर्व्वसत्कर्म्माधिकता

तत्रैव भगीरथनृपोक्तौ—

यः स्नातः शान्तिसितया साधुसङ्गतिगङ्गया ।
किन्तस्य दानैः किन्तीर्थैः किन्तपोभिः किमध्वरैः ।।२५७।।

प्रतिष्ठापयति प्रतिष्ठां करोति, तत्र प्राय इति कस्याश्चित् प्रतिष्ठाया वैष्णवैरुपेक्ष्यत्वात्; वैष्णवानां दर्शनमात्रमपि, अस्तु तावत् सङ्गः ।।२५३।।

पूर्व्वं यथोपश्रयमाणस्येत्यत्र दूरतोऽपि सेवामात्रमपेक्षितं, न तु सङ्गः ; अत्र च प्रपद्यमानस्येत्यनेन सङ्ग एवेति भेदः । एवं सं-शब्देनात्र सङ्गोऽभिप्रेतः, तत्र च श्रद्धयेत्येषा दिक् ।।२५४।।

दुरितं पापं, श्रेयः मङ्गलं, यशः मुक्तत्व-भक्तत्वादि-माहात्म्यम्; यद्वा, दुरितं संसारं, श्रेयश्चतुर्वर्गं, यशः मुक्तेभ्योऽप्युत्कर्षादिकम्; आशु इत्यस्य पूर्व्ववाक्यत्रय एव सम्बन्धः ।।२५५।।

स्नातुमिच्छति श्रद्धया स्नातीत्यर्थः, तयोः स्नातृसङ्गकर्त्रोर्मध्ये वरः श्रेष्ठः ।।२५६।।

साधुसङ्गतिरेव गङ्गा, तया स्नातः । कथम्भूतया ? शान्त्या सितया परमोज्ज्वलया; गङ्गापि शुक्लवर्णा

सामान्यतोऽनर्थनिवर्त्तकतार्थप्रापकता च

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में श्रीमुनिशर्मा के प्रति प्रेतगण की उक्ति है— वैष्णव दर्शन, मनुष्यवृन्द की अकीर्त्ति को विनष्ट करता है, उत्तमा बुद्धि प्रदान करता है, अर्थात् बुद्धि को निर्म्मल करता है, एवं प्राय प्रतिष्ठा प्रदायक है ।।२५३।।

उक्त पद्मपुराण के श्रीयम-ब्राह्मण-संवाद में महारथ नृपति ने कहा है—जिस प्रकार भगवान् अग्नि का आश्रय ग्रहण करने से शीत, भय एवं अन्धकार विदूरित होता है, उस प्रकार सर्वदा साधु संसेवि जनगण के सब भय विनष्ट हो जाते हैं ।।२५४।।

पद्मपुराण के प्रेतोपाख्यान में प्रेतोक्ति इस प्रकार है— वैष्णवसङ्ग, सत्वर मनुष्यवृन्द का पाप निवारण करता है, मङ्गल प्रदान करता है एवं यशः विस्तार करता है ।।२५५।।

अथ सर्व्वतीर्थाधिकता

पद्मपुराण में लिखित है— जो मनुष्य, गङ्गादि पुण्यतीर्थ समूह में स्नान करते हैं एवं जो व्यक्ति सत्सङ्ग करते हैं, उभय के मध्य में सत्सङ्गकारी व्यक्ति ही श्रेष्ठ हैं ।।२५६।।

अथ सर्व्वसत्कर्म्माधिकता

पद्मपुराण में ही भगीरथ नृपति की उक्ति है—जो मानव, शान्ति समुज्ज्वला सत्सङ्गतिरूपा गङ्गा में

अथ सर्व्वेष्टसाधकता

तत्रैव—

यानि यानि दुरापाणि वाञ्छितानि महीतले ।
प्राप्यन्ते तानि तान्येव साधूनामेव सङ्गमात् ॥२५८॥

अथ अनर्थस्याप्यर्थत्वापादकता

वाशिष्ठे—

शून्यमापूर्णतामेति मृतिरप्यमृतायते । आपत् सम्पदिव भाति विद्वज्जन-समागमे ॥२५९॥

तृतीय स्कन्धे (२३।५५) श्रीदेवहूतेरुक्तौ —

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया । स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥२६०॥

श्रीकपिलदेवोक्तौ (श्रीभा ३।२५।२०) —

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥२६१॥

यतः—

अरिर्मित्रं विषं पथ्यमधर्म्मो धर्म्मतां व्रजेत् । प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे विपरीते विपर्य्ययः ॥२६२॥

भवति । एवं साधुसङ्गतेरुत्कर्षः ; यद्वा, शान्तिरेव सिता शर्करा यस्यामिति गङ्गायास्तथात्वाभावात् साधुसङ्गतेरुत्कर्षो वितर्क्यः ॥२५७॥

शून्यं बन्धुवियोगादिना रिक्ततां प्राप्तमपि गृहादि अमृतायते, भगवत्पदप्रापणात् । सम्पत् धनैश्वर्य्यादि; इवेति लोकोक्तौ, विद्वांसः श्रीभगवद्भक्तिमाहात्म्याभिज्ञाः ॥२५९॥

अधिया विवेकहीनेन जनेन असत्सु विहितो यः संसारस्य हेतुः सङ्गविषयभोगादिरूपः; अप्यर्थे एवशब्दः, सोऽपि साधुषु कृतश्चेत्तर्हि निःसङ्गताय संसारनाशाय कल्पते, समर्थो भवति ॥२६०॥

प्रसङ्गमत्यन्तासक्तिम्; अपावृतं निरावरणम् ॥२६१॥

ननु तादृशस्य महानर्थस्य कथमीदृशत्वम् ? श्रीभगवत्कारुण्यमहिम्नैवेति लिखति—अरिरिति द्वाभ्याम्; 'धर्म्मो भवत्यधर्म्मोऽपि' इति पूर्व्वं लिखितार्थमेव ; मत्प्रभावत इत्यस्योभयत्रापि सम्बन्धः, अतोऽत्र हेत्वनुसन्धानादिकं न कार्य्यमिति भावः ॥२६२॥

स्नान किये हैं, उनको दान, तपस्या, तीर्थ यज्ञानुष्ठान प्रभृति का प्रयोजन नहीं है ॥२५७॥

अथ सर्व्वेष्टसाधकता

पद्मपुराण में लिखित है—महीमण्डल में जो सब दुष्प्राप्य वाञ्छित द्रव्य हैं, तत् समुदाय की प्राप्ति साधुसङ्ग प्रभाव से ही होती है ॥२५८॥

अथ अनर्थस्याप्यर्थत्वापादकता

वाशिष्ठ में उक्त है—भगवद्भक्तिमाहात्म्याभिज्ञ बुधजन के सहित समागम होने से बन्धुवियोगादि द्वारा शून्य गृह भी परिपूर्ण होता है, मृत्यु—अमृतत्व को प्राप्त करती है एवं आपद भी सम्पद् के समान प्रतिभात होती है ॥२५९॥

तृतीयस्कन्ध में देवहूति की उक्ति है—अज्ञानतावशतः असज्जन के सहित जो संसर्ग बन्धन का कारण होता है, वह संसर्ग ही सज्जन के सहित होने से निःसङ्गत्व होता है, अर्थात् विमुक्ति का कारण होता है ॥२६०॥

तृतीयस्कन्ध में श्रीकपिलदेव की उक्ति है—हे मातः ! पण्डितगण कहते हैं, आसक्ति— आत्मा का दृढ़ पाश स्वरूप है, किन्तु वही पुनः सत्पुरुषों में विहित होने से उद्घाटित मुक्ति द्वार स्वरूप होती है ॥२६१॥

कारण, पुण्डरीकाक्ष प्रसन्न होने पर, शत्रु-मित्र, विष-पथ्य, अधर्म-धर्म में परिणत होता है, एवं उसके

किञ्च, श्रीभगवद्वाक्यम्—

मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्म्माय कल्पते। मामनादृत्य धर्म्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः २६३॥

अथ देहिदैहिकादिविस्मारकता

चतुर्थस्कन्धे श्रीध्रुवोक्तौ (९।१२)—

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं, ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द,-सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥२६४॥

अथ जगदानन्दकता

पाद्मे तत्रैव प्रेतोक्तौ—

रसायनमयी शीता परमानन्ददायिनी। नानन्दयति कं नाम वैष्णवाश्रयचन्द्रिका ॥२६५॥

अथ मोक्षप्रदत्वम्

दशमस्कन्धे श्रीमुचुकुन्द-स्तुतौ (५१।५३)—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे,-ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ, परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥२६६॥

ते अतितराम् अत्यन्तं प्रियमपि मर्त्यं देहं न स्मरन्ति नानुसन्दधते; अतितरामित्यस्यात्रैवान्वयः, सम्यग्विस्मरन्तीत्यर्थः। ये च सुतादयः अदः मर्त्यमनुसम्बन्धास्तानपि न स्मरन्ति; ते के न स्मरन्ति ? ये कृतप्रसङ्गाः। केषु ? भवदीयं भवदीयानामपि यत् पदारविन्दसौगन्ध्यं तस्मिन् लुब्धमपि हृदयं येषां तेषु; तु-शब्देनान्येषां केवलयोगादि-निष्ठानां देहाभिमानान्निवृत्तिं, तत्र तत्राभिमानविशेषं वा दर्शयति ॥२६४॥

रसायनं रोगहर्त्ता, पुष्ट्यादिकर्त्ता, स्वादुकौषधविशेषस्तन्मयी, शीता शीतला तापहरेत्यर्थः। चन्द्र-रश्मिरपि अमृतमयत्वाद्रसायनमयी सद्य एव पित्तोपशमनादि-स्वभावकत्वात्। अन्यत् सममेव ॥२६५।

भो अच्युत ! भ्रमतः संसरतो जनस्य यदा त्वदनुग्रहेण भवस्य बन्धस्य अपवर्गः अन्तो भवेत्, कालः प्राप्तः स्यात्, तदा सतां सङ्गमो भवेत्। यदा च सत्सङ्गमो भवेत्, तदा सर्व्वसङ्गनिवृत्त्या कार्य्यकारणनियन्तरि

विपर्य्यय से विपर्य्यय होता है। अर्थात् भगवान् अप्रसन्न होने पर मित्र, शत्रु होता है, पथ्य, विष होता है और धर्म भी अधर्म होता है ॥२६२॥

भगवद्वाक्य भी इस प्रकार है—मेरे निमित्त पातक अनुष्ठित होने पर भी मेरे प्रभाव से वह धर्मार्थ कल्पित होता है, और मेरे प्रति आदर न होने से धर्म भी अधर्म में परिणत होता है ॥२६३॥

अथ देहिदैहिकादिविस्मारकता

चतुर्थस्कन्ध में श्रीध्रुवोक्ति यह है—हे कमलनाभ ! आपके चरण-कमल की सौगन्ध्य से जिनका हृदय अतिशय लोलुप है, अर्थात् जो मानव आपके ऐकान्तिक भक्त हैं, उनका सङ्गप्राप्त जिस मनुष्यगण को है, वे सब, अत्यन्त प्रिय मानवदेह एवं मानवदेह के अनुवर्त्ती गृह, वित्त, मित्र, पुत्र, कलत्र प्रभृति को भूल जाते हैं। ॥२६४॥

अथ जगदानन्दकता

पद्मपुराण में प्रेतोक्ति इस प्रकार है—रसायनमयी, शीतला, परमानन्ददायिनी, वैष्णवाश्रयरूपाचन्द्रिका किसको आनन्दित नहीं करती है ? ॥२६५॥

अथ मोक्षप्रदत्वम्

दशमस्कन्ध की मुचुकुन्द स्तुति में वर्णित है—श्रीमुचुकुन्द ने कहा—हे अच्युत ! आपकी अनुकम्पा से जिस समय सांसारिक-जन का भव-वन्धन छिन्न होता है, उस समय साधुसङ्ग लाभ होता है। उसी समय

अतएवोक्तं श्रीप्रचेतोभिश्चतुर्थस्कन्धे (३०।३५-३७)—

यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः। निर्व्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥२६७॥

यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः। प्रस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥२६८॥

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया। भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः ॥२६९

अथ सर्व्वसारता

बृहन्नारदीये श्रीनारद-सनत्कुमार-संवादे—

असारभूते संसारे सारमेतदजात्मज। भगवद्भक्तसङ्गो हि हरिभक्तिं समिच्छताम् ॥२७०॥

त्वयि भक्तिर्भवति, ततो मुच्यत इत्यर्थः। यदि वायमर्थः—भवस्य गृहाद्यासक्तिलक्षणस्य संसारस्यापवर्गः परित्यागो यदा भवेत्, तदैव अच्युतः स्थिरः सत्समागमो भवेत्। पूर्व्ववद्वा विषयमहिमवतः परमपुरुषार्थता-बोधनार्थं विशेषणद्वयम्। सतां मुक्तानामपि भक्तानामेव वा गतौ आश्रये; परावरयोः चिच्छक्ति-माया शक्तोः लक्ष्मीभूम्योर्वा पराणां श्रीगोपीनाम्, अवराणाञ्च श्रीरुक्मिण्यादीनामीशे स्वामिनीति तदा च भगवत्प्रेम-प्रदत्वेऽयं श्लोको द्रष्टव्यः ॥२६६॥

यत्र येषु, यतो याभ्यः कथाभ्यः, निर्वैरं वैराभावः, यत्र यासु कथासु मुक्तसङ्गैस्तैरेव नारायणः साक्षात् प्रस्तूयते; यद्वा, न्यासिनामपि गतिराश्रयो नारायणो भगवान् यत्र साक्षादस्तीति। मुक्तसङ्गैः श्रीसनकादिभिः सत्कथासु मध्ये प्रस्तूयते; यद्वा, मुक्तसङ्गैरात्मारामैरपि यत्र नारायण एव साक्षात् प्रस्तूयते, न तु ज्ञानादि; एतादृशं येषां माहात्म्यमित्यर्थः ॥२६७-२६८॥

पद्भ्यां पावनेच्छया; यद्वा, पद्भ्यां विचरतामिति सौलभ्यमुक्तम्। संसाराद्भीतस्यापि किं न रोचेत? अपि तु रोचत एव, भीतानामनन्यगतित्वात्; तदुक्तं भगवतैव—'सन्तोऽर्व्वाग्बिभ्यतोऽरणम्' इति ॥२६९॥

संसारे, प्रपञ्चे, किम्? तदाह—भगवद्भक्तसङ्ग इति। हरिभक्तिं सम्यगिच्छतां जनानामिति हरिभक्ति-वाञ्छाविशेषं विना भगवद्भक्तसङ्ग-माहात्म्याननुभवात्; यद्वा, तेषां श्रेष्ठसाधनमेतदेवेति व्याख्यायां श्लोको भक्तिसम्पादकतायां द्रष्टव्यः ॥२७०॥

सर्व सङ्ग निवृत्ति द्वारा कार्य्यकारण नियन्ता एवं साधुजनों के परमाश्रयस्वरूप आपमें दृढ़ निश्चयरूपा मति का उदय होता है, उससे मुक्ति प्राप्ति होती है ॥२६६॥

अतएव चतुर्थस्कन्ध में प्रचेतोगण की उक्ति इस प्रकार है—हे भगवन्! तुम्हारे निज सङ्गीयों के सन्निधान में तृष्णाशान्तिकारिणी पवित्र कथा का प्रसङ्ग होता है। जो प्राणिसमूह में वैरहीन हैं, जिनके निकट किसी प्रकार उद्वेग नहीं है। जो मुक्तसङ्गिगण, सत्कथा के अवसर में संन्यासिवृन्द की परमागति साक्षात् नारायण का प्रसङ्ग कीर्त्तन पुनः पुनः करते हैं, जो तीर्थसमूह को पवित्र करने के मानस से पदव्रज से तीर्थसमूह में भ्रमण करते हैं, उन भवदीय पुरुषों का सङ्ग प्राप्त करने में संसारभीत किस पुरुष की इच्छा नहीं होती है?॥२६७-२६९॥

अथ सर्वसारता

बृहन्नारदीय में श्रीनारद-सनत्कुमार-संवाद में लिखित है—हे ब्रह्मनन्दन! जो जन, सम्यक् प्रकार से हरिभक्ति नाम का अभिलाषी हैं, उनके सम्बन्ध में इस असार संसार में भगवद्भक्त-सङ्ग को ही सार जानना चाहिये ॥२७०॥

पाद्मे तत्रैव महारथनृपोक्तौ —

असागरोत्थं पीयूषमद्रव्यं व्यसनौषधम् । हर्षश्चालोकपर्य्यन्तः सतां किल समागमः ॥२७१॥

अथ भगवत्कथामृतपानैकहेतुता

पाद्मे वैशाख-माहात्म्ये श्रीनारदोक्तौ —

प्रसङ्गेन सतामात्ममनःश्रुतिरसायनाः । भवन्ति कीर्त्तनीयस्य कथाः कृष्णस्य कोमलाः ॥२७२

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलदेवोक्तौ (२५।२५)—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसंविदो, भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि, श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥२७३॥

चतुर्थे श्रीनारदोक्तौ (२९।४०-४१)—

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः । भगवद्गुणानुकथन-श्रवणव्यग्रचेतसः ॥२७४॥
तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र,-पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ़कर्णै,-स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥२७५॥

सतां समागमः पीयूषं भवत्येव, किन्तु असागरोत्थम्; अतः सागरोद्भूतस्य देवभोग्य-पीयूषस्य मथनादि-परिश्रमेणैव साधनाद्वारुण्यादिसम्बन्धाच्च ततोऽप्यस्य श्रैष्ठ्यं सूचितम् । तथाह—अद्रव्यमिति, द्रव्यमयौषधे पाकक्रियाप्रयासोऽथ भक्षणादियत्नश्चापेक्षते इत्यत्र तत्तदभावादस्य श्रैष्ठ्यम् । तथा 'सुखस्यान्ते भवेद्दुःखम्' इति न्यायेनान्यो हर्षः शोकावसान एव स्यात्, अयं हर्षयतीति हर्षरूपो वा शोकान्तो न भवति, किन्तु सदा हर्ष एव; अतोऽस्य नित्यपरमानन्दमयत्वमित्यर्थः । एवञ्च सर्व्वसारतैव सिद्धा ॥२७१॥

आत्मनां सर्व्वेषामेव जीवानां मनसः श्रुत्योश्च रसायनाः सुखप्रापकाः, यतः कोमला मधुराः ॥२७२॥

वीर्य्यस्य सम्यग्वेदनं यासु ताः वीर्य्यसंविदः, अतएव हृत्कर्णरसायनाः सुखदाः, तासां जोषणात् सेवनात् अपवर्गोऽविद्यानिवृत्तिर्मोक्षो वा वर्त्म यस्मिन् तस्मिन् हरौ प्रथमं श्रद्धा, ततो रतिस्ततो भक्तिः अनुक्रमिष्यति क्रमेणैव भविष्यतीत्यर्थः । रतिश्च रत्याख्यो भावः, भक्तिश्च प्रेमलक्षणा; एतद्विवरणञ्च श्रीमहानुभावैरेव रसार्णवे कृतमस्त्येव ॥२७३॥

ननु साधुसङ्गं विना स्वयमेव हरिकथा-चिन्तना-दिना भक्तिर्भवेदित्याशङ्क्याह—यत्रेति द्वाभ्याम् । स्थाने भगवतो गुणानुकथने श्रवणे च व्यग्रं सत्वरमत्यासक्तं वा चेतो येषां ते ॥२७४॥

तस्मिन् स्थाने महद्भिर्मुखरिताः; कीर्त्तिताः यद्वा, महान्तः मौनादिशीला अपि मुखरिता याभिः ताः; मधुभिदश्चरितमेव पीयूषं, तदेव शिष्यत इति शेषो यासु ताः, असारांशरहित-शुद्धामृतवाहिन्य इत्यर्थः ।

पद्मपुराण की महारथनृपोक्ति में लिखित है—सत्समागम, असागरोद्भूत अमृत है, अनायास लभ्य औषध है, एवं समस्त प्राणियों का एकमात्र आनन्द प्रदायक है ॥२७१॥

अथ भगवत्कथामृतपानैकहेतुता

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में श्रीनारदमुनि का कथन है—सत्प्रसङ्ग में मन एवं कर्ण सुख दायिनी कीर्त्तनीय श्रीकृष्ण की कोमला कथा होती है ॥१७२॥

तृतीयस्कन्ध में श्रीकपिलदेव की उक्ति है—हे मातः ! सज्जनसङ्ग उपस्थित होने पर मद्वीर्य्य प्रकाशिका कथा होती है, वह हृदय एवं कर्णानन्द दायक है, अतएव उसका सेवन से आशु मुझमें अर्थात् अपवर्ग वर्त्म-स्वरूप भगवान् श्रीहरि में, क्रमानुसार- श्रद्धा, रति एवं भक्ति का उदय होता है ॥२७३॥

चतुर्थस्कन्ध में श्रीनारदमुनि का कथन है—हे राजन् ! निर्म्मल मति भगवद्भक्ति परायण साधुव्यक्तिगण

पञ्चमे श्रीब्राह्मणरहूगण-संवादे (१२।१३) —

यत्रोत्तमःश्लोकगुणानुवादः, प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो,-र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥२७६॥

एकादशे श्रीभगवदुद्धव-संवादे श्रीऐलोपाख्यानान्ते (२६।२८-२९)—

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः। सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥२७७
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥२७८॥

भक्तिसम्पादकता

बृहन्नारदीये तत्रैव —

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते। सत्सङ्गः प्राप्यते पुम्भिः सुकृतैः पूर्व्वसञ्चितैः ॥२७९॥

अवितृषः अलं बुद्धिशून्याः सन्तो गाढैः सावधानैः कर्णैः ये ताः सरितः पिबन्ति सेवन्ते। अशन-शब्देन क्षुल्लभ्यते, अशनादयस्तान्न स्पृशन्ति, भक्तिरसिकान्न बाधन्त इत्यर्थः। नृप हे प्राचीनबर्हिः! सत्सङ्गमन्तरेण स्वयमेव कथाचिन्तनादावालस्यादिना रसावेशाभावतः क्षुत्पिपासाद्यभिभूतस्य भक्त्यसम्भवादवश्यं सत्सङ्गो विधेयः, ततश्च भगवत्कथामृतरसपानादिरूपा भक्तिः स्वतः सम्पद्यत एवेति भावः ॥२७५॥
विशेषतः, सतीं मतिं प्रेमभक्तिमित्यर्थः ॥२७६॥

यत्र येषु महत्सु, ग्राम्यकथानां विघातः यस्मात् मुमुक्षोरपि, सतीं मतिं प्रेमभक्तिमित्यर्थः ॥२७६॥

यत्र येषु महत्सु, ग्राम्यकथानां विघातः यस्मात् मुमुक्षोरपि, सती मतिं प्रेमभक्तिमित्यर्थः संसार-दुःखं सम्भवन्ति सम्यक् जायन्ते, ताः कथा एव अघं पापं प्रकर्षेण पुनन्ति, सवासनमुन्मूलयन्ति, संसार-दुःखं नाशयन्तीति वा ॥२७७॥

श्रवणादिभिरेव मत्पराः श्रद्दधानाश्च श्रवणादिष्वेव प्रीतिमन्तः सन्तः भक्तिं प्रेमलक्षणां विन्दन्ति। भगवद्-भक्तसङ्गस्य दौर्ल्लभ्यमाह — सत्सङ्ग इति ॥२७८-२७९॥

श्रीप्रभु के गुण कीर्त्तन एवं श्रवण करने के निमित्त व्यग्रचित्त होकर जहाँ विराज करते हैं, वहाँ प्रायशः
महद् व्यक्तिगणों के वदन से भगवान् मधुसूदन के अमल चरित्र कीर्त्तित होते हैं, हे राजन्! भगवच्चरित्र
कथा, साक्षात् अमृतवाहिनी नदीस्वरूपा है। जो व्यक्ति, सावधानतया उक्त नदी की सेवा करते हैं, उनको
क्षुधा, तृष्णा, भय, शोक, मोह प्रभृति स्पर्श करने में अक्षम हैं। फलतः जो भक्तिरस में सुरसिक हैं, क्षुधा
प्रभृति के द्वारा उनके पक्ष में विघ्न उत्पन्न होने की सम्भावना ही कहाँ है?॥२७४-२७५॥

पञ्चमस्कन्ध में श्रीब्राह्मण रहूगण-संवाद में लिखित है— हे नरेन्द्र! साधुजनगण के निकट सर्वदा उत्तम
श्लोक भगवान् का गुणानुवाद ही होता है, वहाँ ग्राम्यवार्त्ता का लेशमात्र नहीं है, सर्वदा उक्त गुणानुवाद
सेवित होने से वही श्रीवासुदेव के प्रति मुमुक्षु पुरुषों को सद्बुद्धि प्रदान करता है ॥२७६॥

एकादशस्कन्ध के भगवदुद्धव-संवाद में लिखित है— हे महाभाग उद्धव! शिष्ट मानवों के हितकर मेरी
कथा साधुवृन्द के निकट में उपस्थित होती है, वह श्रवणकारी व्यक्तियों का हितकारी होकर पाप मोचन
करती है। जो सश्रद्ध भक्त, आदरपूर्वक उक्त कथा श्रवण करते हैं अथवा गान करते हैं, किंवा अनुमोदन
करते हैं, वे सब मुझमें भक्ति लाभ करते हैं ॥२७७-२७८॥

भक्तिसम्पादकता

बृहन्नारदीय पुराण के उक्त स्थान में लिखित है—भगवद्भक्त सङ्ग होने से भगवद्भक्ति का उदय होता
है। जन्मान्तरीण पुण्य के फल से ही सत्सङ्ग लाभ होता है ॥२७९॥

श्रीभगवद्वशीकारिता।

एकादशे श्रीभगवदुद्धव-संवादे (११।४६, १२।१-२)—

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा ॥२८०

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म एव वा।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ॥२८१॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्व्वसङ्गापहो हि माम् ॥२८२॥

अतएवोक्तं विदुरेण तृतीयस्कन्धे (७।१९)—

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः। रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्द्दनः ॥२८३॥

सांख्ययोगादीनि साधनान्तर-सव्यपेक्षाणि सव्यभिचाराणि च, सत्सङ्गस्तु स्वतन्त्र एव, समर्थः फलाव्यभिचारी चेति वर्णयितुमाह—अथेति त्रिभिः। एतद्वक्ष्यमाणं परमं गुह्यं शृणु, यतस्त्वं मम भृत्यः, सुहृत्, ज्ञातिः, सखा च, अतः सुगोप्यमपि वक्ष्यामि। न बोधयति न वशीकरोति, योगोऽष्टाङ्गः, सांख्यं तत्त्वानां विवेकः, धर्म्मः सामान्यतः अहिंसादिर्वर्णाश्रमाचारो वा, स्वाध्यायो वेदजपः, तपः कृच्छ्रादि, त्यागः सन्न्यासः, इष्टापूर्त्तं इष्टं पूर्त्तञ्च; तत्र इष्टमग्निहोत्रादि, पूर्त्तं कूपारामादिनिर्म्माणम्; दक्षिणा-शब्देन सामान्यतो दानं लक्ष्यते, व्रतानि एकादश्युपवासादीनि, यज्ञो देवपूजा, छन्दांसि रहस्यमन्त्राः, नियमा वाह्येन्द्रियनिग्रहादयः, यमा अन्तःकरणसंयमादयः; यद्वा, 'अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्य्यञ्च मौनं स्थैर्य्यं क्षमा भयम् ॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्च्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्य्यसेवनम् ॥' (श्रीभा ११।१९।३३-३४) इति भगवदुक्तलक्षणा ग्राह्याः। अत्र अस्तेयं मनसापि परस्वाग्रहणम्, आस्तिक्यं धर्म्मे विश्वासः, भयं पापादिभ्यः, शौचं वाह्यमान्तरञ्चेति द्वयम्, अतो द्वादशनियमाः श्रद्धाधर्म्मादय इति। अवरुन्धे वशीकरोति, सर्व्वसङ्गापहः वाह्यान्तराशेषासक्ति-निरसनः ॥२८०-२८२॥

येषां भगवद्भक्तानां सेवया सङ्गरूपया, कूटस्थस्य निर्व्विकारस्यापि; यद्वा, श्रीगोवर्द्धनशृङ्गोपरि वर्त्तमानस्य मधुद्विषो भगवतः श्रीकृष्णस्य पादयोः चरणारविन्दयो रतिरासः प्रेमोत्सवः तीव्रः स्वाभाविको भवेत्। व्यसनं संसारदुःखमर्द्दयति नाशयतीति तथा सः; यद्वा, मधुद्विट्सम्वन्धिरत्या प्रेम्णा रतियुक्तो वा रासः रासक्रीड़ा तीव्रः अत्युत्कटा देवादीनामपि मोहनत्वात् बहुकालव्यापित्वाच्च। पादयोर्व्यसनानि दुःखान्यर्द्दयतीति तथा सः, सर्व्वेन्द्रियानन्दकस्यापि रासस्य प्रायो नृत्यविशेषत्वेन गतिविशेष-सम्पत्तेः। यद्वा, मधुद्विषः पादयोरित्येवान्वयः। ततश्च तच्चरणारविन्दद्वयेन सहेत्यर्थः। पूर्व्ववदेव, अतोऽस्य फलविशेषत्वेनान्ते लेख्यः ॥२८३॥

श्रीभगवद्वशीकारिता

एकादशस्कन्ध के भगवदुद्धव-संवाद में वर्णित है—श्रीभगवान् कहे थे—हे उद्धव ! तुम मेरा भृत्य, सुहृत् एवं सखा हो, अतएव तुम्हें परम गोपनीय विषय कहता हूँ, सुनो। अष्टाङ्ग योग, तत्त्वविवेक, अहिंसादि धर्म, वेदपाठ, तपस्या, संन्यास, यज्ञ, कूपारामादि निर्माण, दान, एकादश्यादि व्रत, देवपूजा, रहस्य मन्त्र, तीर्थ भ्रमण, नियम एवं यम, यह सब तादृश वशीभूत करने में सक्षम नहीं हैं। सर्व संसार सङ्गापहारक साधुसङ्ग जिस प्रकार मुझको वशीभूत करता है ॥२८०-२८२॥

अतएव विदुरकर्त्तृक तृतीयस्कन्ध में वर्णित है—विदुर मैत्रेय को कहे थे, हे मुने ! आपके चरणकमलों की आराधना करने से निर्विकार मधुसूदन के चरणकमलों में तीव्र प्रेमोत्सव उत्पन्न होता है, अतएव वही उत्सव संसार को विदूरित करता है ॥२८३॥

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता

प्रथमस्कन्धे श्रीशौनकादीनां (१८।१३), चतुर्थे च श्रीप्रचेतसामुक्तौ (३०।३४)—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥२८४॥

चतुर्थे श्रीप्रचेतसः प्रति श्रीशिवोपदेशे (२४।५७)—

क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥२८५॥

द्वादशे श्रीमार्कण्डेयोपाख्याने श्रीशिवस्य (१०।७)—

तथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना। अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥२८६॥

अतएव श्रीप्रह्लादं प्रति श्रीधरण्योक्तं हरिभक्तिसुधोदये—

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि, तन्वाः फलं त्वादृशगात्रसङ्गः।
जिह्वाफलं त्वादृशकीर्त्तनं हि, सुदुर्लभा भागवता हि लोके ॥२८७॥

अतएव विदुरेण तृतीयस्कन्धे (७।२०)—

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु। यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्द्दनः ॥२८८॥

भगवत्सङ्गिनो भगवद्भक्ताः, तेषां सङ्गस्य यो लवः अत्यल्पः कालः, तेनापि स्वर्गं न तुलयाम, समं न पश्याम, न चापुनर्भवं मोक्षम्। मर्त्यानां तुच्छा आशिषो राज्याद्या न तुलयामेति किमुत वक्तव्यम्। एवं फलरूपात् स्वर्गात् अपवर्गादप्यधिकत्वेन सत्सङ्गस्य परमफलत्वं सिद्धम् ॥२८४॥

भगवत्-सङ्गिसङ्गस्य क्षणार्द्धेनापि स्वर्गं न तुलये, समं न पश्यामि, न वापुनर्भवम् ॥२८५॥

यद्यपि 'नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत। भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥' (श्रीभा १२।१०।६), तथापि अनेन श्रीमार्कण्डेयेन सह संवदिष्यामः, सम्भाषां करिष्यामः, यतः साधुभिः समागमः संयोगः, अयमेव परमो लाभः फलम् ॥२८६॥

त्वादृशानां कथञ्चिन् त्वदनुकरणवतामपि दर्शनमेवाक्ष्णोः फलम्, एवमन्यदपि ॥२८७॥

वैकुण्ठवर्त्मसु श्रीभगवतः तल्लोकस्य वा मार्गभूतेषु महत्सु सेवा सङ्गादिरूपा अल्पतपसो भाग्यविशेष-हीनस्य जनस्य दुरापा यत्र यैरित्यर्थः; यद्वा, येषु विषयेष्वन्यैरपि सर्व्वैर्गीयते, अतस्तेषां सान्निध्यमात्रेणैव कृतार्थता, न चोपदेशापेक्षापीति भावः; यद्वा, येषु निमित्तेषु यत्प्राप्त्यर्थमित्यर्थः, एवञ्च सत्सङ्गस्य स्वतः पुरुषार्थता सिद्धैव ॥२८८॥

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता

प्रथमस्कन्ध में श्रीशौनकादि के वाक्य में एवं चतुर्थस्कन्ध में प्रचेतोगण की उक्ति में वर्णित है—हे भगवन्! हम सब भगवत् सङ्गिगण के सङ्ग लेश के सहित स्वर्ग एवं मोक्ष की तुलना नहीं करते हैं, मनुष्य वाञ्छित तद्भिन्न विषयों की कथा तो दूर है ॥२८४॥

चतुर्थस्कन्ध में प्रचेतों के प्रति श्रीशिव का उपदेश यह है—मनुष्यों को राज्यादि वैभव की बात तो दूर रहे, भगवद् सङ्गीगण के क्षणार्द्ध सङ्ग के सहित स्वर्ग अथवा मोक्ष की तुलना नहीं होती है ॥२८५॥

द्वादशस्कन्ध के मार्कण्डेयोपाख्यान में श्रीशिव का कथन इस प्रकार है—हे देवि! तो भी तुम्हारे अनुरोध से मैं इनसे सम्भाषण करूँगा। कारण, साधुसमागम ही सबके पक्ष में परम लाभ है ॥२८६॥

अतएव हरिभक्ति सुधोदय में श्रीप्रह्लाद के प्रति श्रीवसुमति की उक्ति इस प्रकार है—त्वादृश भक्त-दर्शन ही नयनयुगल का एकमात्र फल है, त्वादृश भक्तगण का एकमात्र सङ्ग ही देह धारण का फल है, एवं त्वादृश भक्तगण के नामकीर्त्तन ही जिह्वा का फल है, संसार के मध्य में भगवद्भक्तगण ही परम दुर्लभ हैं।

श्रीविदेहेनाप्येकादशस्कन्धे (२।२९)—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः । तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२८९॥

अतएव हि प्रार्थितं श्रीध्रुवेण चतुर्थस्कन्धे (९।११)—

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो, भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं, नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥२९०॥

प्रचेतसः प्रत्युपदेशे श्रीशिवेन च (श्रीभा ४।२४।५८)—

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्त्तितीर्थयो,-रन्तर्व्वहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोश-सुसत्त्वशीलिनां, स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥२९१॥

बहवो देहा भवन्ति येषां ते देहिनो जीवास्तेषां क्षणभङ्गुरोऽपि मानुषो देहो दुर्लभः, परमपुरुषार्थ-साधनत्वात् । वैकुण्ठः प्रियो येषां वैकुण्ठस्य वा प्रियास्तेषां दर्शनमपि, किमुत सङ्गादिकम् ॥२८९॥

भक्तिं त्वयि प्रवहतां सातत्येन कुर्व्वताम्, अतएवामलाशयानां प्रसङ्गो मे मया सह भूयात् । ननु मोक्षं किं न याचसे ? अत आह—येन महत्प्रसङ्गेन अञ्जसा अयत्नत एव, उरूणि व्यसनानि यस्मिन् तत्, नेष्ये पारं गमिष्यामि । भगवद्गुणकथैवामृतं, तस्य पानेन मत्तः सन्; अत्र मत्त-शब्देनैवं सूच्यते—यथा मदिरामत्तो न जानाति कथं रात्रिर्गता, दिनमायातं वेति, तथा सत्सङ्गजातकथामृतपानमत्तोऽपि न जानाति कथं ससारोऽपगतः, मोक्षो वा जात इति । एवममृतपानस्य यथा देहगेहाद्यननुसन्धानं न फलं, किन्तु परममधुर-रसास्वादनादिकमेव, तथा सत्सङ्गस्य भगवत्कथामृतपानमेव फलं, मोक्षस्त्वानुषङ्गिकः स्वयमेवोपरथास्यति, किन्त्वयाचनेनेनि भावः ॥२९०॥

अथ अतो हेतोः, अनघौ अघहरावङ्घ्री यस्य तस्य तव कीर्त्तिर्यशः तीर्थं गङ्गा तयोः क्रमेणान्तर्व्वहिः-स्नानाभ्यां विधूतः विनाशितः पाप्मा येषामन्येषामपि यैरिति वा; अतएव भूतेषु अनुक्रोशः कृपा सुसत्त्वञ्च रागादिरहितं चित्तं शीलं चार्ज्जवादि, तद्वतां सङ्गोऽस्मासु अस्तु । एष एव नोऽस्मान् प्रति त्वदनुग्रहः । २९१

अतएव तृतीयस्कन्ध में विदुर कहे हैं—जो महद् व्यक्तिगण, सर्वदा देवदेव जनार्दन के गुण कीर्त्तन करते हैं, वे सब भगवान् अथवा तदीय लोक वैकुण्ठधाम के वर्त्मस्वरूप हैं, उन सबकी सेवा अल्पतया व्यक्तिगण के पक्ष में अनायास लभ्य नहीं है ॥२८७-२८८॥

एकादशस्कन्ध में विदेह का वाक्य यह है—देहिगण के मध्य में यह क्षणभङ्गुर मनुष्य देह दुर्लभ है। उसके मध्य में विष्णुभक्तगण का दर्शन सुदुर्लभ है ॥२८९॥

अतएव चतुर्थस्कन्ध में श्रीध्रुव की प्रार्थना यह है—हे अनन्त ! मेरी प्रार्थना यह है कि, जो बिमल मति महापुरुषगण आपके प्रति सर्वदा भक्ति करते हैं, भवदीय कथा श्रवण हेतु उनके सहित जैसे मेरा प्रसङ्ग हो । कारण, महत् सङ्ग लाभ होने से ही मैं आपके कथामृत पान से विभोर होकर बिना यत्न से ही इस भयङ्कर विपद्सङ्कुल संसार समुद्र से पार होने में समर्थ होऊँगा ॥२९०॥

प्रचेतोगण के प्रति श्रीशिवोपदेश यह है—हे प्रभो ! मेरे प्रति आपका यह अनुग्रह हो कि, त्वदीय कीर्त्ति गान एवं गङ्गा एतदुभय में अन्तर्वहिः स्नान के द्वारा जिनके क्रमशः अन्तः (मनोगत) वहिः (देहगत) पातक विधूत हुये हैं, जो दयालु, रागादिशून्य, आर्जवादि गुणविशिष्ट हैं, उन सब साधुशील मानवों के सहित मेरा समागम हो ॥२९१॥

श्रीप्रचेतोभिश्च (श्रीभा ४।३०।३३)—

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्म्मभिः । तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥२८२

श्रीप्रह्लादेनापि सप्तमस्कन्धे (श्रीभा ७।२४)—

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ, आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात् ।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण, कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥२८३॥ इति ।

अथासत्सङ्गदोषाः

असद्भिः सह सङ्गस्तु न कर्तव्यः कदाचन ।
यस्मात् सर्व्वार्थहानिः स्यादधःपातश्च जायते ॥२८४॥

श्रीकात्यायन-वाक्ये—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः । न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम् ॥२८५॥

स्पृष्टा व्याप्ताः सन्तो वयं कर्म्मभिर्यावदिह प्रपञ्चमध्ये भ्रमामस्तावद्भवति प्रकृष्टः सङ्गो येषां तेषां सङ्गोऽस्माकं जन्मनि जन्मनि स्यात् । यावद्भ्रमाम स्तावदिति श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तौ स्वत एव भगवद्भक्तानां सङ्गसिद्धेः; यद्वा, यावत् कर्म्मभिर्भ्रमामः मायया अस्पृष्टा मुक्ता वा भवामः । एवं भवे संसारे अभवे च मोक्षे सङ्गः स्यात्; अन्यत् समानम् ॥२८२॥

यस्मात् लोकप्रार्थ्याः स्वर्गिणामायुरादयो विभवा मत्पितृक्रोध-भ्रूक्षेपेणैव विनष्टास्तस्मात् आशिषः भोगान्, ऐन्द्रियमिन्द्रियैर्भोग्यं, ब्रह्मणो भोग्यमभिव्याप्य किमपि नेच्छामि; यतो ज्ञस्तत्परिपाकं विद्वान् नश्वरत्वादित्यर्थः । ते कालात्मना कालरूप-स्वरूपेण उरुविक्रमेण विलुलितान् अणिमादीनपि; यद्वा, कालात्मना अविलुलितान् अमृष्टान् अर्थान् सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य-सायुज्यलक्षणानपि नेच्छामि । तर्हि किमिच्छसीत्यत आह- उपनयेति । परमफलरूपस्त्वद्भक्तसङ्गमो यत्र कुत्रापि भूयात्, तत्र मम स्थानाद्याग्रहो नास्तीति भावः ॥२८३॥

एवं सत्सङ्गसेवनमुत्पाद्य तस्यैव दार्ढ्यायासत्सङ्गवर्ज्जनं लिखति—असद्भिरिति । सर्व्वेषामैहिकाना-मामुष्मिकाणाञ्च अर्थानां साधनानां साध्यानाञ्च हानिः क्षयः स्यात्, न च तावदेव, किन्तु अधःपातः नरकादि-भोगश्च जायते ॥२८४॥

विशेषेण अवस्थितिर्निवासः । शौरिः श्रीकृष्णस्तस्य चिन्ताया अपि विमुखो यो जनस्तेन संवासः सहवास एव वैशसं पीड़ा तु नैव सोढ़व्यमित्यर्थः, लोकद्वये स्वकुलस्याप्यनर्थावहत्वात् ॥२८५॥

श्रीप्रचेतोगण की उक्ति यह है—हे प्रभो ! भवदीय माया स्पृष्ट होकर हम सब जब तक इस संसार में विचरण करते रहेंगे तब तक प्रति जन्म में भवदीय सङ्गीगणों का समागम मिले ॥२८२॥

सप्तमस्कन्ध में श्रीप्रह्लाद की उक्ति इस प्रकार है—हे प्रभो ! भोगावसान में देहधारियों के भाग्य में जो जो होता है, उसको मैं विशेष रूप से जानता हूँ । अतएव आयुः श्री, विभव, ब्रह्मा का भोगपर्य्यन्त इन्द्रिय भोग्य विषय किंवा अणिमादि सिद्धि किसी में मेरी कामना नहीं है । कारण सुस्पष्ट लक्षित होरहा है कि—आप स्वयं महाविक्रमशाली कालस्वरूप होकर इन सबको विनष्ट करते हैं, अतएव इतनी प्रार्थना ही करता हूँ आप निज किङ्करों के समीप में मुझको ले जाइये ॥२८३॥

अथासत्सङ्गदोषाः

कभी भी असज्जनों का सङ्ग न करे, क्योंकि उससे अर्थक्षय एवं सद्यः पतन होता है ॥२८४॥

कात्यायन की उक्ति यह है—अग्निशिखारूप पिञ्जराभ्यन्तर में वास करना भी श्रेष्ठ है किन्तु श्रीकृष्ण-चिन्ता विमुखजन के सहित सङ्ग रूप क्लेश भोगना जैसे न पड़े ।२८५॥

पाद्मे उत्तरखण्डे श्रीउमामहेश्वर-संवादे—

अवैष्णवास्तु ये विप्राश्चाण्डालादधमाः स्मृताः ।
तेषां सम्भाषणं स्पर्शं सोमपानादि वर्ज्जयेत् ॥२९६॥

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिल-देवहूति-संवादे (३१।३३-३५)—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥२९७॥

तेष्वशान्तेषु मूढ़ेषु योषित्क्रीड़ामृगेषु च । सङ्गं न कुर्य्याच्छोच्येषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ॥२९८
न तथास्य भवेद्बन्धो मोहश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥२९९

एकादशे च श्रीभगवदुद्धव-संवादे (२६।३)—

सङ्गं न कुर्य्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् । तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत् ॥३००

भगवद्भक्तिहीना ये मुख्याऽसन्तस्त एव हि ।
तेषां निष्ठा शुभा क्वापि न स्यात् सच्चरितैरपि ॥३०१॥

कथञ्चित् सम्भाषणे सत्यपि स्पर्शं वर्ज्जयेत्, कथञ्चित् स्पर्शे सत्यपि सोमपानं वर्ज्जयेदित्यर्थः। आदिशब्देन सहवासान्नभक्षणादि ॥२९६॥

शमोऽन्तःकरणोपरतिः, दमो वाह्येन्द्रियसंयमः, भगः भाग्यम्, योषितां क्रीड़ामृगवदधीनेषु । खण्डितात्मसु देहात्मबुद्धिषु अस्थिरचित्तेष्विति वा, अतएव शोच्येषु निन्द्येषु ॥२९७-२९८॥

अत्र च योषितां योषिदासक्तानाञ्च सङ्गोऽवश्यं त्याज्य इत्याह—न तथेति । यथा च योषित्सङ्गिनां सङ्गतो बन्धो मोहश्च, तथा अन्यप्रसङ्गतो न भवेत् ॥२९९॥

असतां लक्षणमाह—शिश्नोदरे तर्पयन्तीति शिश्नोदरतृपस्तेषां क्वचित् कदाचिदपि । आस्तां तावत्तादृशानां बहूनां सङ्गः, तस्यैव कस्याप्यनुगः अनुवर्त्ती, अन्धमनुगच्छति योऽन्धस्तद्वत् ॥३००॥

यद्यपि योषिदासक्ताः शिश्नोदरतर्पणपरा एवासन्तो निर्दिष्टाः, तथाप्यभक्ता एवासत्सु मुख्याः भगवद्भक्त्यभावेन सर्व्वदोषाश्रयत्वात्; अतस्तेषां कथञ्चित् कुत्रापि शुभं न स्यादिति सत्सङ्गति-दार्ढ्यायैव लिखति—भगवद्भक्तीति । मुख्याश्च ते असन्तश्च परमासाधव इत्यर्थः; निष्ठा गतिः प्राप्यमित्यर्थ ॥३०१॥

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड के उमा महेश्वर-संवाद में लिखित है—अवैष्णव ब्राह्मणों के सहित सम्भाषण, उनको स्पर्श, उनके सहित एकत्र सोम पानादि न करे। कारण, वे सब चाण्डाल से भी निकृष्ट होते हैं।२९६

तृतीयस्कन्ध के श्रीकपिल-देवहूति-संवाद में वर्णित है - हे मातः ! असत् सङ्ग सर्वथा अहितकर है। तद्द्वारा सत्य, शौच, दया, मौन, मति, ह्री, श्री, कीर्त्ति, क्षमा, शम, दम, ऐश्वर्य्य प्रभृति विनष्ट होते हैं। एतज्जन्य इन सब मूर्ख, अशान्त, स्त्रियों के क्रीड़ामृग स्वरूप, निन्दनीय, देहात्मबुद्धि सम्पन्न असत् व्यक्ति के सहित सङ्ग करना कभी उचित नहीं है। असाधु मानव सङ्ग व्यतीत योषित् सङ्ग एवं योषित् सङ्गी का सङ्ग भी अतिशय अनिष्टकर है। इन दोनों के सङ्गवशतः मोह एवं बन्धन यद्रूप होता है तद्रूप अन्य सङ्ग से नहीं होता है ॥२९७-२९९॥

एकादशस्कन्ध के श्रीउद्धव-संवाद में वर्णित है - शिश्नोदर परायण असत् मानव का सङ्ग करने पर अन्ध का अनुगामी अन्ध के समान अन्धतम कूप में गिरना पड़ता है, अतएव उन सबका सङ्ग न करे ।३००

जो मानव भगवद्भक्ति विमुख हैं, वे सब ही असाधु प्रधान हैं, सदाचार निष्ठ होने पर भी कभी उनकी सद्गति नहीं होती है ॥३०१॥

अथासतां निष्ठा

बृहन्नारदीये प्रायश्चित्तप्रकरणान्ते—

किं वेदैः किमु वा शास्त्रैः किमु तीर्थनिषेवणैः ।
विष्णुभक्ति-विहीनानां किं तपोभिः किमध्वरैः ॥३०२॥

श्रीगारुड़े—

अन्तं गतोऽपि वेदानां सर्व्वशास्त्रार्थवेद्यपि । यो न सर्व्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ॥३०३

तृतीयस्कन्धे (९-१०) श्रीब्रह्मस्तुतौ—

अह्न्यापृतार्त्तकरणा निशि निःशयाना, नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देवा, युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥३०४॥

अतएवोक्तं षष्ठे(१।१८) —

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥३०५॥

वेदादिभिः किम्? अपि तु न किमपि फलमित्यर्थः। सर्व्वेषां सत्कर्म्मणां भगवद्भक्तिसाधनत्वात् तदभावे च वैयर्थ्यापत्तेः; तदुक्तम्—'धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्' (श्रीभा १।२।८) इत्यादि ॥३०२॥

विवेकिनोऽप्यभक्ताश्चेत् सदा संसारदुःखाद्यनुभवन्त्येवेत्याह—अह्नीति। दिवसे आपृतानि च तानि आर्त्तानि च क्लिष्टानि करणानि इन्द्रियाणि येषाम्; रात्रावपि सुखलवो नास्ति, यतो निःशयानाः स्वप्नदर्शनेन च क्षणे क्षणे भग्ननिद्राः, दैवेन आहताः सर्व्वतः प्रतिहताः अर्थरचनाः अर्थार्थोद्यमा येषाम् ॥३०४॥

चीर्णानि कृतान्यपि न निष्पुनन्ति, न शोधयन्ति, महतामप्यशोधकत्वे दृष्टान्तः—सुराकुम्भमिवापगा इवेति ॥३०५॥

अथासतां निष्ठा

बृहन्नारदीय पुराण के प्रायश्चित्त प्रकरण के अन्त में लिखित है—जो मानव, विष्णुभक्ति विहीन हैं, उनको वेद, शास्त्र, तीर्थसेवा, विपुल तपस्या एवं यज्ञानुष्ठान से क्या फल होगा?॥३०२॥

श्रीगरुड़पुराण में लिखित है—सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के प्रति भक्तिमान् न होने से, सर्व वेद पारदर्शी एवं सर्व शास्त्रार्थवेत्ता भी पुरुषाधम में गण्य होता है।॥३०३॥

तृतीयस्कन्ध की श्रीब्रह्म-स्तुति में वर्णित है—हे प्रभो! विवेकिगण भी अभक्त होने से दुर्गति ग्रस्त होते हैं। आपके प्रति भक्तिविमुख ऋषिगण एवं देवगण को भी भवयन्त्रणा भोगना पड़ता है। दिवस में इन्द्रियग्राम विविध विषय में व्यापृत होने पर जो क्लेश प्राप्त होता है, उससे रात्रि में निद्रावस्था में भी सुखोदय नहीं होता है, एवं दुरदृष्टवशतः अर्थोपार्जन उद्यम भी प्रतिहत होता है, तज्जन्य विवेकी को भी आपके प्रति भक्ति करना एकान्त कर्त्तव्य है।॥३०४॥

अतएव षष्ठ स्कन्ध में वर्णित है—हे नृपते! भक्ति ही पवित्रता विधान करने में सक्षम है, यद्रूप नदी समूह सुराभाण्ड को पवित्र करने में अक्षम हैं, तद्रूप यथानुष्ठित महाप्रायश्चित्त भी नारायण पराङ्मुख जन को पवित्र करने में असमर्थ है।॥३०५॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

कुतः पापक्षयस्तेषां कुतस्तेषाञ्च मङ्गलम् । येषां नैव हृदिस्थोऽयं मङ्गलायतनो हरिः ॥३०६

अतएव बृहन्नारदीये लुब्धकोपाख्यानारम्भे—

हरिपूजाविहीनाश्च वेदविद्वेषिणस्तथा । द्विजगो-द्वेषिणश्चापि राक्षसाः परिकीर्त्तिताः ॥३०७

अतएव निजदूतान् प्रति धर्म्मराजस्यानुशासनं षष्ठस्कन्धे (३।२८-२९)—

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द,-पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसङ्गैः,-र्जुष्टाद्गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥३०८॥
जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं, चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि, तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥३०९॥

मङ्गलम् ऐहिकामुष्मिकश्रेयः, हृदिस्थोऽपि न स्यात्, मनसापि न चिन्त्यत इत्यर्थः ॥३०६॥

हरिपूजाविहीनत्वादेव वेदादिविद्वेषिणो राक्षसाश्च परिकीर्त्तिताः ॥३०७।

असतो दुष्टान् तानेवाह—मुकुन्दपदारविन्दयोर्मकरन्दरूपो रसः भक्तिलक्षणस्तस्माद्विमुखान्। कथम्भूतान्? रसज्ञैः भक्तिसुखाभिज्ञैः रसविवेकिभिर्वा परमहंसकुलैः, अतएव निष्किञ्चनैः अभिमानशून्यैर्निरपेक्षैर्वा, अजस्रं जुष्टान् सेवितान्; यद्वा, अजस्रं विमुखानिति सम्बन्धः। तादृशे महारसे सकृत् क्षणमपि येऽभिमुखा न भवन्ति, तानित्यर्थः। असतां ज्ञापकमाह—निरयवर्त्मनि स्वधर्म्मशून्ये गृहे अनिवेदितभोगादौ वा बद्धास्तृष्णा यै स्तान् दण्डार्थमिहानयध्वम्; एवं तेषां लक्षणं निष्ठा चोक्ता ॥३०८॥

किञ्च, यत् येषां जिह्वेत्याद्यन्वयः, न कृतं विष्णुकृत्यं भगवद्व्रतम् एकादश्युपवास-कार्त्तिकनियमादि यैस्तांश्च एकदापीत्यस्य पूर्व्ववाक्यद्वये सम्बन्धः। अपि-शब्दस्यापि सर्व्वत्रानुषङ्गः। ततश्चायमर्थः—जिह्वापि गुणकृत-नामधेयं दीनवत्सल इत्यादिकमपि न वक्तीति यथा कथञ्चिदेव नामोच्चारणम्, तच्च निजार्त्तादि-हेतुनापि, न त्वर्थानुसन्धानपूर्व्वकं श्रद्धया श्रीकृष्णस्य नाम सम्यगुच्चारणं करोतीत्यर्थः। एवं चेतोऽपि तच्चरणारविन्दमपीति यथाकथञ्चिन्मनोमात्रेणैवाङ्गस्य स्पर्शनं, न तु सर्व्वाङ्गस्य, श्रीमच्चरणारविन्दयोर्वा सम्यक् ध्यानम्; तथा शिरोऽपि कृष्णायापीति, शिरोभिर्नमनमात्रेण वन्दनं, तच्च कृष्णोद्देशेन यं कञ्चिदप्यालक्ष्येति, न तु सर्व्वाङ्गैः साक्षात् श्रीमूर्त्त्यादिकं वेति। एवं कथञ्चिदपि श्रीकृष्णभक्तिसम्बन्धहीना ये तानेवानयध्वमिति। अतएव जिह्वादि-शब्दप्रयोगः, अन्यथा जिह्वादीनामेव वचनादि-व्यापारात् पुनस्तत्तच्छब्दप्रयोगस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति दिक् ॥३०९॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—जिनके हृदय में मङ्गल श्रीहरि का अधिष्ठान नहीं है, उनका कल्याण कहाँ है ? अथवा पाप क्षय भी कहाँ है ?॥३०६॥

अतएव बृहन्नारदीय पुराण के लुब्धकोपाख्यान के आरम्भ में लिखित है—हरिपूजा पराङ्मुख, वेद विद्वेषी, द्विज गो विद्वेषी व्यक्तिगण राक्षस नाम से अभिहित हैं ॥३०७॥

अतएव षष्ठस्कन्ध के निज दूतगण के प्रति धर्मराजानुशासन प्रसङ्ग में वर्णित है—हे दूतगण ! जो मानव, अकिञ्चन रसज्ञ परमहंस कुल कर्त्तृक निरन्तर सेवित हरि-पाद-पद्म का मधुर रसपान में विमुख हैं, एवं नरक-मार्ग स्वरूप गृह में बद्धतृष्ण हैं, उन असाधु मानववृन्द को मेरे पास ले आना ॥३०८॥

जिनकी जिह्वा एक बार भी भगवान् के गुण कीर्त्तन अथवा नामोच्चारण नहीं करती है, जिनका मन, एक बार भी भगवच्चरण कमल का स्मरण नहीं करता है, जिनका मस्तक एक बार भी श्रीकृष्ण पदद्वय में अवनत नहीं होता है, एवं जिनके द्वारा भगवत् व्रत का अनुष्ठान नहीं हुआ है, उन सब असाधु मनुष्यों को मेरे समीप में ले आना ॥३०९॥

अथ श्रीवैष्णवनिन्दादिदोषः

स्कान्दे मार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

यो हि भागवतं लोकमुपहासं नृपोत्तम । करोति तस्य नश्यन्ति अर्थधर्म्मयशःसुताः ॥३१०॥

निन्दां कुर्व्वन्ति ये मूढ़ा वैष्णवानां महात्मनां ।
पतन्ति पितृभिः सार्द्धं महारौरवसंज्ञिते ॥३११॥

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति । क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट् ॥३१२॥

तत्रैवामृतसारोद्धारे श्रीयमोक्तौ —

जन्मप्रभृति यत्किञ्चित् सुकृतं समुपार्ज्जितम् ।
नाशमायाति तत् सर्व्वं पीड़येद्यदि वैष्णवान् ॥३१३॥

द्वारकामाहात्म्ये प्रह्लादबलि-संवादे—

करपत्रैश्च फाल्यन्ते सुतीव्रैर्यमशासनैः । निन्दां कुर्व्वन्ति ये पापा वैष्णवानां महात्मनाम् ॥३१४

पूजितो भगवान् विष्णुर्जन्मान्तरशतैरपि । प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चापमानिते ॥३१५

दशमस्कन्धे (७४।४०) च—

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥३१६॥

असतां निष्ठामेव विशेषतो दर्शयन् तेषु चासत्सु मध्ये वैष्णवविषयकापराधिनोऽसत्तममुख्या इत्यभिप्रेत्य तेषाञ्च निष्ठादिकं पूर्व्वतो विशेषेण पृथक् लिखति—यो हीत्यादिना अच्युत इत्यन्तेन ॥३१०॥

भागवतं प्रति, हन्ति प्रहरति, दर्शने सत्यपि हर्षं न याति नाप्नोति—एतानि षट् पतनानि पातित्यापादकानि नरकावहानीत्यर्थः ३१२॥

अस्तु तावत् वैष्णवनिन्दाकारिणां परमानर्थः, वैष्णवनिन्दाश्रोतॄणामपि महानरकं स्यादिति लिखति—निन्दामिति । ततस्तस्मात् निन्दाश्रवणात् तत्स्थानाद्वा, सुकृतात् पूर्व्वपूर्व्वकृतादपि पुण्याद्भ्रष्ट सन् अधो यातीति किं वक्तव्यमित्यपि-शब्दार्थः ॥३१४-३१६॥

अथ श्रीवैष्णवनिन्दादिदोष

स्कन्दपुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में लिखित है—हे राजेन्द्र ! भगवद्भक्त को उपहास करने से धर्म, अर्थ, कीर्त्ति एवं सन्तति का नाश होता है । महात्मा वैष्णववृन्द की निन्दा करने वाले मूढ़ मानवगण पितृगण के सहित महारौरव नरक में निपतित होते हैं । जो मानव, वैष्णवगण को प्रहार, निन्दा, द्वेष अथवा अनादर करते हैं, प्रत्युत उनके प्रति क्रोध प्रकाश करते हैं, उन सबको देखकर हर्षित नहीं होते हैं, वे सब निरयगामी होते हैं । यह छः नरक पतन के कारण हैं ॥३१०-३१२॥

उक्त पुराण के अमृतसारोद्धार में श्रीयमोक्ति यह है—वैष्णववृन्द को प्रपीड़ित करने से आजन्म सञ्चित पुण्य सकल विनष्ट होते हैं ॥३१३॥

द्वारकामाहात्म्य के प्रह्लाद-बलि-संवाद में वर्णित है—महात्मा वैष्णववृन्द की निन्दा करने से यमदूत-गण सुशाणित करपत्र के द्वारा उक्त पापीवृन्द को विदीर्ण करते हैं । शत-शत जन्म अर्चित होने से भी विश्वात्मा भगवान् हरि, वैष्णवापमानकारी के प्रति प्रसन्न नहीं होते हैं ॥३१४-३१५॥

दशमस्कन्ध में लिखित है—जो मानव, भगवान् अथवा भगवद्भक्त की निन्दा को सुनकर वहाँ से स्थानान्तर में गमन नहीं करते हैं, उनको भी सुकृत भ्रष्ट होकर निरय में पतित होना पड़ता है ॥३१६॥

अतएवोक्तं श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे—

जीवितं विष्णुभक्तस्य वरं पञ्चदिनानि च । न तु कल्पसहस्राणि भक्तिहीनस्य केशवे ॥३१७

अतएवोक्तं श्रीभागवते ऐलपाख्यानान्ते (११।२६।२६ —

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥३१८॥

अथ श्रीभगवद्भक्तान् सल्लक्षणविभूषितान् । गत्वा तान् दूरतो दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेन्मुदा ॥३१९

अथ श्रीवैष्णवसमागम-विधिः

तेजोद्रविणपञ्चरात्रे—

वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेद्भुवि । उभयोरन्तरा विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥३२०॥

तत्र च विशेषो बृहन्नारदीये—

सभायां यज्ञशालायां देवतायतनेष्वपि । प्रत्येकन्तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥३२१॥

पुण्यक्षेत्रे पुण्यतीर्थे स्वाध्यायसमये तथा । प्रत्येकन्तु नमस्कारो हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥३२२॥

अतो भगवद्भक्तिहीनस्य सद्य एव मरणं श्रेयः, चिरजीवनं च महानर्थायैवेत्याशयेन लिखति—जीवितमिति ॥३१७॥

सन्तो भगवद्भक्ता एव, न तु कर्मज्ञानादिपराः, मनसो व्यासङ्गं गृहाद्यासक्तिं कामादिसम्बन्धं वा, उक्तिभिः हितोपदेशैः ॥३१८॥

सद्भिरुत्तमैस्तप्तमुद्राधारणादिभिर्लक्षणैर्विभूषितान् ॥३१९॥

वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा प्रणमेदिति द्वयोरन्योऽन्यमेव प्रणामोऽभिप्रेतः, अतएव तयोरुभयोर्मध्ये विष्णुर्भवति तिष्ठतीत्यर्थः । यच्च कौर्म्मे व्यासगीतायाम्— 'न कुर्य्याद्योऽभिवाद्यस्य द्विजः प्रत्यभिवादनम् । नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥' इति प्रत्यभिवादनमात्रमुक्तम्, तच्च स्मार्त्तजनपरमिति ज्ञेयम् । यद्वा, अभिवादन-प्रत्याभिवादनाभ्यां प्रणाम प्रतिप्रणामवाचिभ्यामन्योऽन्य नमस्कार एवाभिप्रेत इति ॥३२०॥

तत्र च सर्व्वान् सभास्थितान् श्रीवैष्णवान् एकत्रैव प्रणमेन्न तु प्रत्येकमिति लिखति—सभायामिति ॥३२१

अतएव विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—विष्णुभक्त होकर पाँच दिन जीवित रहना भी श्रेष्ठ है, किन्तु केशव के प्रति भक्तिहीन होकर सहस्र कल्प पर्य्यन्त जीवित रहने का भी प्रयोजन नहीं है ॥३१७॥

अतएव श्रीमद्भागवत के ऐलोपाख्यान के अन्त में वर्णित है--दुःसङ्ग विसर्जनपूर्वक सत्सङ्ग में अनुरागी होना ही बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है । कारण, साधुगण उपदेश द्वारा मन की गृहादि में आसक्ति को दूर करते हैं ॥३१८॥

अनन्तर तप्तमुद्रादि वैष्णवचिह्न से विभूषित वैष्णववृन्द को देखकर ही प्रसन्नतापूर्वक दण्डवत् निपतित होकर प्रणाम करे ॥३१९॥

अथ श्रीवैष्णवसमागम-विधिः

तेजोद्रविण पञ्चरात्र में लिखा है--वैष्णव को दर्शन करते ही भूतल में पतित होकर दण्डवत् प्रणाम करना वैष्णव का कर्त्तव्य है, क्योंकि–शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी हरि, दीनजनों के ही मध्य में स्थित रहते हैं ॥३२०॥

वैष्णव प्रणति विषय में व्यवस्था बृहन्नारदीय पुराण में इस प्रकार है--सभा, यज्ञायतन, देवालय, इन सब स्थानों में प्रत्येक व्यक्ति को पृथक् पृथक् प्रणाम करने से पूर्व सञ्चित पुण्य ध्वंस होता है, एवं पुण्यक्षेत्र, पुण्यतीर्थ एवं वेदाध्ययन के समय प्रत्येक के प्रति भी भिन्न भिन्न प्रणाम पूर्व सञ्चित पुण्य विनष्ट करता है।

वैष्णवञ्चागतं वीक्ष्याभिगम्यालिङ्ग्य वैष्णवम् ।
वैदेशिकं प्रीणयेयुर्दर्शयन्तः स्ववैष्णवान् ॥३२३॥

तथा चोक्तं श्रीब्रह्मणा तेजोद्रविणपञ्चरात्रे—

नारायणाश्रयं भक्तं देशान्तरसमागतम् । प्रीणयेद्दर्शयंस्तस्य भक्त्या नारायणाश्रयान् ॥३२४॥
इति ।

ततश्च वैष्णवः प्राप्तः सन्तर्प्य वचनामृतैः ।
सद्बन्धुरिव सम्मान्योऽन्यथा दोषो महान् स्मृतः ॥३२५॥

अथ वैष्णवसम्मानन-नित्यता

स्कान्दे श्रीमार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

दृष्ट्वा भागवतं दैवात् सम्मुखे यो न याति हि । न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम् । ३२६
यो न गृह्णाति भूपाल वैष्णवं गृहमागतम् । तद्गृहं पितृभिस्त्यक्तं श्मशानमिव भीषणम् । ३२७
अथवाभ्यागतं दूराद्यो नार्च्चयति वैष्णवम् । स्वशक्त्या नृपशार्द्दूल नान्यः पापरतस्ततः ॥३२८
श्रान्तं भागवतं दृष्ट्वा कठिनं यस्य मानसम् । प्रसीदति न दुष्टात्मा श्वपचादधिको हि सः ॥३२९॥
विप्रं भागवतं दृष्ट्वा दीनमातुरमानसम् । न करोति परित्राणं केशवो न प्रसीदति ॥३३०॥

एवं यात्रिकस्य कृत्यं लिखित्वा सभ्यानामपि कृत्यं लिखति—वैष्णवञ्चेत्यादिना पूजार्थ्याधिकेत्य तेन । वैदेशिकं दूरदेशादागतञ्चेत्, स्वकीयान् वैष्णवान् दर्शयन्तः तत्तन्नामकथनादिना परिचयं कारयन्तः सन्तः ॥ ३२३॥

दूरात् दूरदेशादभ्यागतम् ॥३२८॥
कठिनं स्नेहार्द्रं न स्यात्, न च प्रसीदति, अतः स एव दुष्टात्मा श्वपचादप्यधिकः परमाधम इत्यर्थः ।

विदेशस्थ वैष्णव का आगमन दर्शनकर उनके समीप में उपस्थित होकर उनको आलिङ्गन करना चाहिये, एवं निजसङ्गी वैष्णव को नामोल्लेख द्वारा परिचय प्रदान कर उनको आनन्दित करावे ॥३२१-३२३॥

अतएव तेजोद्रविण पञ्चरात्र में श्रीब्रह्मा का वाक्य यह है—विदेश से समागत नारायणाश्रय भक्त को देखकर स्वीयनारायणाश्रय भक्तगण को दिखाकर भक्तिपूर्वक उनका प्रीति वर्द्धन करे ॥३२४॥

इस हेतु वैष्णव समागत होने से अमृतमय वचनों के द्वारा परितृप्त करके सद्बन्धु के समान सम्मान प्रदान करे, नहीं तो महादोष होता है ॥३२५॥

अथ वैष्णवसम्मानन नित्यता

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में उक्त है— जो व्यक्ति अकस्मात् भगवद्भक्त को देखकर उनके सम्मुख में गमन नहीं करते हैं, भगवान् द्वादश वत्सर पर्य्यन्त उन व्यक्ति की पूजा ग्रहण नहीं करते हैं

हे राजन् ! गृहागत वैष्णव को आदर पूर्वक ग्रहण न करने से, उस श्मशान सदृश भीषण गृह को पितृगण विसर्जन करते हैं। हे नृपश्रेष्ठ ! दूरदेश से अभ्यागत वैष्णव को सामर्थ्यानुसार जो व्यक्ति पूजा नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा पापी और कोई नहीं है ॥३२६-३२८॥

हरिभक्त को श्रान्त देखकर जिसका कठिन चित्त प्रसन्न नहीं होता है, वह दुष्टात्मा श्वपच से भी अधिक निकृष्ट है ॥३२९॥

दीनभावापन्न कातर भगवद्भक्त विप्र को देखकर उसका उद्धार न करने पर, श्रीकेशव उसके प्रति अप्रसन्न होते हैं ॥३३०॥

दृष्ट्वा भागवतं विप्रं नमस्कारेण नार्च्चयेत् । देहिनस्तस्य पापस्य न च वै क्षमते हरिः ।।३३१।।
अपूजितो यदा गच्छद्वैष्णवो गृहमेधिनः । शतजन्मार्ज्जितं भूप पुण्यमादाय गच्छति ।।३३२।।
अनभ्यर्च्चर्य पितॄन् देवान् भुञ्जते हरिवासरे । तत् पापं जायते भूप वैष्णवानामतिक्रमे ।।३३३
पूर्व्वं कृत्वा तु सम्मानमवज्ञां कुरुते तु यः । वैष्णवानां महीपाल सान्वयो याति संक्षयम् ।।३३४

पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये यमब्राह्मण-संवादे—

वैष्णवं जनमालोक्य नाभ्युत्थानं करोति यः । प्रणयादरतो विप्र स नरो नरकातिथिः ।।३३५।।

चतुर्थस्कन्धे (२२।११) च—

व्यालालयद्रुमा ह्येतेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः । यद्गृहास्तीर्थपादीय-पादतीर्थविवर्ज्जिताः ।।३३६

अथ वैष्णव-स्तुतिः

स्कान्दे—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं यद्यूयं गृहमागताः । दुर्ल्लभं दर्शनं नूनं वैष्णवानां यथा हरेः ।।३३७।।
मेरुमन्दरतुल्या वै पुण्यपुञ्जा मया कृताः । संप्राप्तं दर्शनं यद्वै वैष्णवानां महात्मनाम् ।।३३८।।

नमस्कारेणापि नार्च्चयेत् ।।३२९-३३१।।

हरिवासरे च ये भुञ्जते, तेषां यत् पापं तत्, अतिक्रमे अपूजनादिनापराधे सति ।।३३३।।

नरकातिथिः बहुल-नरकदुःखं चिरं भुङ्क्त इत्यर्थः ।।३३५।।

व्यालानामालया द्रुमा एव, अरिक्ताः पूर्णाः अखिलाः सम्पदो येषु तादृशा अपि; यद्गृहा ये गृहाः तीर्थपादीया वैष्णवास्तेषां पादतीर्थेन पादोदकेन वा विवर्ज्जिताः ।।३३६।।

वचनामृतैः सन्तर्प्येति लिखितं, तान्येव लिखति—धन्योऽहमित्यादीनि सप्त । अत्र च धन्योऽहमित्यादिवचनपाठेन तदर्थनिर्व्वचनेन वा स्तुतिः कार्य्येति ज्ञेयम् ।।३३७।।

यत् यस्मात् येभ्यः पुण्यपुञ्जेभ्य इति वा ।।३३८।।

भगवद्भक्त विप्र को देखकर प्रणति पूर्वक पूजा न करने से श्रीहरि, उस पातकी व्यक्ति को कदाच क्षमा नहीं करते हैं । हे नृप ! वैष्णव अपूजित होकर गृह से प्रतिगमन करने से उस गृहस्थ का शतजन्मार्जित पुण्य उस वैष्णव के सहित गमन करता है ।।३३१-३३२।।

हे राजन् ! वैष्णवगण को अतिक्रम करने से पितृ देवार्चन विमुख एवं हरिवासर में भोजनकारी के पाप से लिप्त होना पड़ता है ।।३३३।।

हे भूप ! प्रथम वैष्णवगण के प्रति सम्मान प्रदर्शन पूर्वक पश्चात् अवज्ञा करने से वंश के सहित विनष्ट होना पड़ना है ।।३३४।।

पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में यम-ब्राह्मण-संवाद इस प्रकार है—हे विप्र ! वैष्णव को देखकर प्रीति एवं आदरपूर्वक अभ्युत्थान न करने से निरयपुर का अतिथि होना पड़ता है ।।३३५।।

चतुर्थस्कन्ध में वर्णित है—निखिल सम्पत्तिपूर्ण होने पर भी साधु-वैष्णव के चरणोदक वर्जित गृहसमूह भुजङ्गावास वृक्ष तुल्य होते हैं ।।३३६।।

अथ वैष्णव-स्तुतिः

स्कन्दपुराण में वर्णित है—मेरे घर में आपका शुभागमन होने से आज मैं धन्य एवं कृतकृत्य हुआ । श्रीहरिदर्शन के समान वैष्णव दर्शन भी निश्चय दुर्लभ है । मैंने अवश्य ही मेरु मन्दर के तुल्य राशि-राशि पुण्यार्जन किया हूँ, तज्जन्य ही महात्मा वैष्णववृन्द का दर्शन प्राप्त किया ।।३३७-३३८।।

दशमस्कन्धे श्रीगर्गाचार्य्यं प्रति श्रीनन्दस्य वाक्यम् (८।४)—

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् । निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ।।३३९

चतुर्थस्कन्धे (२२।७, १०, १३-१४) सनकादीन् प्रति पृथुमहाराजस्य—

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः ।
यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्द्दर्शानां च योगिभिः ।।३४०।।

अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः । यद्गृहा ह्यर्हवर्य्याम्बु-तृणभूमीश्वरावराः ।।३४१

कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम् ।
व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्म्मभिः ।।३४२।।

भवत्सु कुशलं प्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते । कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ।।३४३।।

महतां स्वाश्रमादन्यत्र विचलनं गमनं न स्वार्थं, किन्तु गृहिणां मङ्गलाय । ननु तर्हि त एव महद्दर्शनार्थं किमिति नागच्छन्ति ? तत्राह—दीनचेतसां कृपणानां क्षणमपि गृहं त्यक्तुमशक्नुवतामित्यर्थः । यद्वा, गृहिणां निःश्रेयसाय महतां विचलनं भगवत्पूजापरतादिस्वधर्म्मत्यागोऽपि कल्पते योग्यं भवति । कुतः ? दीनचेतसां सदा परमार्त्तानामित्यर्थः । स्वार्थानपेक्षणात् न च क्वचित् कदाचिदपि, अन्यथा पूजाऽलाभादित्यर्थः ।।३३९

मङ्गलमयनं येषां हे मङ्गलायनाः, मया किं मङ्गलमाचरितम् ? यस्य मे योगिभिरपि दुर्द्दर्शानाम् ।।३४०

येषां साधूनां गृहाः अर्हाणां पूज्यानां वर्य्या वरणीयाः स्वीकारार्हाः, चर्य्येति पाठे आचरणयोग्याः अम्ब्वादयो येषु तादृशाः । अम्बु च तृणञ्च भूमिश्च ईश्वरो गृहस्वामी च अवराश्च भृत्यादयः ।।३४१।।

हे नाथाः, कच्चिदिति प्रश्ने । इन्द्रियार्थं विषयमेव अर्थं पुरुषार्थं ये विदन्ति तेषां नः, व्यसनानि उप्यन्ते यस्मिन् संसारे ।।३४२।।

ननु भागवतानामेव कुशलं पृच्छ्यते, न त्वात्मनस्तत्राह—भवत्स्विति । कुशला अकुशलाश्च मतेर्वृत्तयोऽपि येषां न सन्ति ।।३४३।।

दशमस्कन्ध में श्रीगर्गाचार्य्य के प्रति श्रीनन्दमहाराज का कथन इस प्रकार है—हे प्रभो ! गृहिवृन्द के कल्याण विधानार्थ महज्जनगण निजाश्रम से स्थानान्तर में गमन करते हैं, स्वार्थ निमित्त नहीं । गृहिगण अतीव कृपण हैं, मुहूर्त्त के निमित्त भी गृह त्याग करने में अक्षम हैं । महापुरुषगण कृपापूर्वक स्वयं गृहिवृन्द के गृह में आकर दर्शन प्रदान करते हैं । हे भगवन् ! एतद् व्यतीत गृहि गृह में आगमन का अपर कारण परिलक्षित नहीं होता है ।।३३९।।

चतुर्थस्कन्ध में सनकादि के प्रति पृथुमहाराज की उक्ति है अहो ! महापुरुषवृन्द ! आप सब मङ्गलायन हैं, आपका दर्शन योगिवृन्द के पक्ष में भी दुर्लभ है, सुतरां मैंने ऐसा मङ्गलानुष्ठान क्या किया है, जिससे आपका दर्शन प्राप्त किया ।।३४०।।

अहो ! पूज्य व्यक्तिगण, जिनके गृह में उपस्थित होकर तृण, भूमि, गृहस्वामी एवं भृत्यवर्ग को स्वीकार करते हैं, निर्धन होने पर भी वह गृही निश्चय ही धन्यवादाई है ।।३४१।।

हे नाथ ! हम अपने-अपने कर्मफल से व्यसन के वपन क्षेत्र स्वरूप अर्थात् जहाँ केवल समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं, इस संसार में पतित होकर इन्द्रिय ग्राम के रूप-रसादि विषय-सुख को परम पुरुषार्थ जानते हैं, अतएव हमारा कुशल कहाँ ? ।।३४२।।

हे महापुरुषगण ! आप सब मेरे घर में अभ्यागत हैं, अभ्यागत का कुशल पूछना गृही का कर्त्तव्य है । अपने निज कल्याण का पूछना अनुचित है, यह सत्य होने पर भी आप सब आत्माराम हैं, आत्मा में ही आप सबकी प्रीति है, सुतरां कुशल अथवा अकुशल प्रश्न निष्प्रयोजन है ।।३४३।।

अथ वैष्णवाभिगमन-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीमार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

सम्मुखं व्रजमानस्य वैष्णवानां नराधिप । पदे पदे यज्ञफलं प्राहुः पौराणिका द्विजाः ॥३४४॥

अथ वैष्णवस्तुति-माहात्म्यम्

तत्रैव—

प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा यः प्रशंसति वैष्णवम् । ब्रह्महा मद्यपः स्तेयी गुरुगामी सदा नृणाम् ।
मुच्यते पातकात् सद्यो विष्णुराह नृपोत्तम ॥३४५॥

किञ्च—

प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा ये प्रशंसन्ति वैष्णवम् । प्रसादाद्वासुदेवस्य ते तरन्ति भवार्णवम् ॥३४६॥

अथ श्रीवैष्णव-सम्मानन-माहात्म्यम्

तत्रैवामृतसारोद्धारे—

श्रद्धया दत्तमन्नञ्च वैष्णवाग्निषु जीर्य्यति । तदन्नं मेरुणा तुल्यं भवते च दिने दिने ॥३४७॥

दैवे पैत्रे च यो दद्याद्वारिमात्रन्तु वैष्णवे । सप्तोदधिसमं भूत्वा पितृ़णामुपतिष्ठति ॥३४८॥

एवं वैष्णवानामभिगमनं सम्मानं स्तुतिञ्च लिखित्वा इदानीं तत्तन्माहात्म्यं लिखति—सम्मुखमित्यादिना नरा इत्यन्तेन ॥३४४॥

गुरुगामी गुरुतल्पगः, नृणां मध्ये, नर इति पाठो वा ॥३४५॥

यद्यपि यथालिखनक्रमं वैष्णवसम्मानन-माहात्म्यानन्तरमेव वैष्णवस्तुति-माहात्म्यं लिखितमुपयुज्यते, तथापि प्रथमं स्तुतिस्ततः सम्माननमित्यपेक्षया तथा सम्माननमाहात्म्यस्य बाहुल्याच्च तस्य पश्चाल्लिखनम् ॥ ३४६॥

सर्व्वदोषनिर्हारकत्वाद्वैष्णवा एवाग्नयस्तेषु जीर्य्यति, सुखं तैर्भुज्यते इत्यर्थः । हे विप्रेन्द्राः ॥३४७-३५१॥

अथ वैष्णवाभिगमन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में वर्णित है—हे नरपते ! पौराणिक द्विजगण कर्त्तृक उक्त है कि—जो मानव वैष्णव के सम्मुख में गमन करते हैं, उनको पद पद में यज्ञ का फल मिलता है ॥३४४॥

अथ वैष्णवस्तुति माहात्म्यम्

उक्त पुराण में लिखित है—हे नृपवर ! मनुष्यों के मध्य में निरन्तर ब्रह्महा, सुरापायी, सुवर्ण स्तेयी, एवं गुरुदारगामी होने पर भी साक्षात् अर्थात् परोक्ष में वैष्णव की प्रशंसाकारी मानव आशु पातक से उत्तीर्ण हो जाते हैं। यह कथन स्वयं श्रीविष्णु का है ॥३४५॥

और भी वर्णित है—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में जो व्यक्ति वैष्णव की प्रशंसा करते हैं, हरि की प्रसन्नता से वे भवसागर पार हो जाते हैं ॥३४६॥

अथ श्रीवैष्णव-सम्मानन-माहात्म्यम्

उक्त पुराण के अमृतसारोद्धार प्रस्ताव में लिखित है—वैष्णववृन्द के जठरानल में श्रद्धापूर्वक प्रदत्त अन्न जीर्णता को प्राप्त होने पर वह प्रतिदिन सुमेरु पर्वत के समान होता है। देव कार्य्य किंवा पितृ कार्य्य में वैष्णव को जल मात्र प्रदान करने से, वह जल सप्त समुद्र सदृश होकर पितृलोक के समीप में समाहत होता है ॥३४७-३४८॥

विष्णुधर्म्मे —

किं दानैः किं तपोभिर्वा यज्ञैश्च विविधैः कृतैः ।
सर्व्वं सम्पद्यते पुंसां विष्णुभक्ताभिपूजनात् ॥३४९॥

पूजयेद्वैष्णवानेतान् प्रयत्नेन विचक्षणः । स्वशक्त्या वैष्णवेभ्यो यद्दत्तं स्यादक्षयं भवेत् ॥३५०॥

बृहन्नारदीये यज्ञमाल्युपाख्यानान्ते—

हरिभक्तिरतान् यस्तु हरिबुद्ध्या प्रपूजयेत् । तस्य तुष्यन्ति विप्रेन्द्रा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥३५१

हरिपूजारतानाञ्च हरिनामरतात्मनाम् । शुश्रूषाभिरता यान्ति पापिनोऽपि परां गतिम् ॥३५२

तत्रैव यज्ञध्वजोपाख्यानस्यारम्भे —

संसारसागरं तर्त्तुं य इच्छेन्मुनिपुङ्गवाः । स भजेद्धरिभक्तानां भक्तांस्ते पापहारिणः ॥३५३॥

तदन्ते च —

यो विष्णुभक्तान् निष्कामान् भोजयेत् श्रद्धयान्वितः ।
त्रिसप्तकुल-संयुक्तः स याति हरिमन्दिरम् ॥३५४॥

विष्णुभक्ताय यो दद्यान्निष्कामाय महात्मने । पानीयं वा फलं वापि स एव भगवान् हरिः ॥३५५

विष्णुपूजापराणान्तु शुश्रूषां कुर्व्वते हि ये । ते यान्ति विष्णुभवनं त्रिसप्तपुरुषान्विताः ॥३५६॥

देवपूजापरो यस्य गृहे वसति सर्व्वदा । तत्रैव सर्व्वदेवाश्च हरिश्चैव श्रियान्वितः ॥३५७॥

ते हरिभक्त-भक्ताः, पापं संसारदुःखं, तदपहारिणः ॥३५३॥ देवः श्रीकृष्णस्तस्य पूजापरः ॥३५७॥

विष्णुधर्मोत्तर में वर्णित है—दान, तपस्या और अनेक प्रकार यज्ञों के अनुष्ठान से क्या फल है ? हरि के भक्तों की पूजा करने से सभी सम्पत्ति प्राप्त होती है, सुतरां यत्नपूर्वक वैष्णववृन्द की पूजा करना सुधीजन का एकान्त कर्त्तव्य है । निज सामर्थ्यानुसार वैष्णववृन्द को जो कुछ प्रदत्त होता है, वह अक्षय फलद होता है ॥३४९-३५०॥

बृहन्नारदीय पुराण के यज्ञमाली उपाख्यान के अन्त में वर्णित—हे विप्रवर ! विष्णुभक्ति निष्ठ वैष्णवगण की पूजा श्रीहरि बुद्धि से करने पर ब्रह्मा, विष्णु एवं श्रीशिव प्रभृति प्रसन्न होते हैं ॥३५१॥

हरि पूजानिष्ठ, हरिनाम परायण वैष्णववृन्द की पूजा करने पर पातकी व्यक्ति भी परमागति को प्राप्त करते हैं ॥३५२॥

उक्त पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के प्रारम्भ में वर्णित है— हे मुनिश्रेष्ठगण ! भवसागर से उत्तीर्ण होने के इच्छुक जनगण, के पक्ष में हरिभक्तगण की उपासना श्रेयस्कर है, वैष्णववृन्द पापापहारक होते हैं ॥३५३

उक्त उपाख्यान के अन्त में वर्णित है, जो मानव, श्रद्धापूर्वक निष्काम भक्तगण को भोजन कराते हैं, वे एकविंशति कुल के सहित हरि-मन्दिर में निवास करते हैं ॥३५४॥

जो मानव, निष्काम महात्मा विष्णुभक्त को पानीय अथवा फल दान करते हैं, वे श्रीभगवान् हरि के सदृश होते हैं ॥३५५॥

जो व्यक्ति, विष्णुभक्तिनिष्ठ व्यक्तिवृन्द की सेवा करते हैं, वे एकविंशति कुल के सहित विष्णुधाम गमन करते हैं ॥३५६॥

जिनके भवन में श्रीकृष्ण पूजा-परायण वैष्णव, सर्वदा निवास करते हैं, वहाँ निखिल देवता एवं श्रीहरि स्वयं श्रीलक्ष्मी के सहित निवास करते हैं ॥३५७॥

लैङ्गे—

नारायणपरो विद्वान् यस्यान्नं प्रीतमानसः । अश्नाति तद्धरेरास्यं गतमन्नं न संशयः ॥३५८॥

स्वार्च्चनादपि विश्वात्मा प्रीतो भवति माधवः ।

दृष्ट्वा भागवतस्यान्नं स भुङ्क्ते भक्तवत्सलः ॥३५९॥

ब्राह्मे श्रीभगवद्वाक्यम् —

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं दृष्ट्वैव स्वीकृतं मया । भक्तस्य रसनाग्रेण रसमश्नामि पद्मज ॥३६०॥

पाद्मोत्तरखण्डे श्रीशिवोमा-संवादे—

आराधनानां सर्व्वेषां विष्णोराराधनं परम् । तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्च्चनम् ॥३६१

अर्च्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्च्चयेत्तु यः । न स भागवतो ज्ञेयः केवलं दाम्भिकः स्मृतः ॥३६२

तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन वैष्णवान् पूजयेत् सदा । सर्व्वं तरति दुःखौघं महाभागवतार्च्चनात् ॥३६३

एकादशे श्रीभगवद्वाक्यम् (११।४४; १९।२१)—

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या ॥३६४॥

मद्भक्तपूजाभ्यधिका ॥३६५॥

स भक्तवत्सलो माधवः श्रीकृष्णः ॥३५९॥

पुरतः श्रीशालग्रामशिलादिरूपिणो ममाग्रतो न्यस्तमेव सत् ॥३६०॥

परं श्रेष्ठं, परतरं परमश्रेष्ठम् ॥३६१॥

महत् यत् भागवतानामर्च्चनं, तस्मात् ॥३६३॥

वैष्णवेऽधिष्ठाने मत्पूजनञ्च, तस्मिन्नेव बन्धुवत् सम्माननेत्यर्थः ॥३६४॥

पुनश्च कथं यथापि मद्भक्तेः कारणं परमिति प्रतिज्ञयोक्तम्—मद्भक्तेति; मद्भक्तानां पूजा मत्तोऽप्यभ्यधिका विशेषेण कार्य्येत्यर्थः ॥३६५॥

लिङ्गपुराण में लिखित है—नारायण परायण पण्डित व्यक्ति, प्रसन्नचित्त से जो अन्न भोजन करते हैं, वह अन्न निश्चय ही श्रीहरि के वदनकमलगत होता है। भक्तवत्सल जगदात्मा श्रीहरि स्वीय पूजा की अपेक्षा भी वैष्णवान्न को देखकर सन्तुष्ट होते हैं एवं भोजन करते हैं ॥३५८-३५९॥

ब्रह्मपुराण में श्रीभगवद्वाक्य यह है—हे ब्रह्मन् ! मदीय शालग्रामादि मूर्त्ति के सम्मुख में जो अन्न निवेदित होता है, मैं दर्शनमात्र से ही उसको ग्रहण करता हूँ, किन्तु भक्त की जिह्वा के अग्रभाग के द्वारा रसास्वादन करता हूँ ॥३६०॥

पद्मपुराण के उत्तरखण्डस्थ श्रीशिवोमा-संवाद में लिखित है—यावतीय आराधना के मध्य में श्रीविष्णु की आराधना श्रेष्ठ है। तदपेक्षा वैष्णववृन्द की पूजा परम श्रेष्ठ है ॥३६१॥

वैष्णव पूजा वर्जन पूर्वक गोविन्दार्च्चन करने से, पूजक को भगवद्भक्त नहीं कहा जा सकता है, वह केवल दाम्भिक है, सुतरां सदा यत्न पूर्वक वैष्णव की पूजा करनी चाहिये। कारण, महाभागवत की पूजा सर्व दुःखहारिणी है ॥३६२-३६३॥

एकादशस्कन्ध में श्रीभगवद्वाक्य यह है—बन्धुवत् सम्मानकर वैष्णव में मेरी पूजा करे, मेरी पूजा की अपेक्षा मेरे भक्त की पूजा ही गरीयसी है ॥३६४-३६५॥

किञ्च, स्कान्दे श्रीमार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

कर्म्मणा मनसा वाचा येऽर्च्चयन्ति सदा हरिम्।
तेषां वाक्यं नरैः कार्य्यं ते हि विष्णुसमा नराः ॥३६६॥

इत्यादृतोऽनुशृणुयाद्भक्तिशास्त्राणि तत्र च। श्रीभागवतमत्रापि कृष्णलीलाकथां मुहुः ॥३६७॥

अथ वैष्णवशास्त्र-माहात्म्यम्

स्कान्दे श्रीब्राह्मनारद-संवादे—

वैष्णवानि च शास्त्राणि ये शृण्वन्ति पठन्ति च।
धन्यास्ते मानवा लोके तेषां कृष्णः प्रसीदति ॥३६८॥
वैष्णवानि च शास्त्राणि येऽर्च्चयन्ति गृहे नराः।
सर्व्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सर्व्ववन्दिताः ३६९॥

सर्व्वस्वेनापि विप्रेन्द्र कर्त्तव्यः शास्त्रसंग्रहः। वैष्णवैस्तु महाभक्त्या तुष्ट्यर्थं चक्रपाणिनः ॥३७०
तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे। तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद ॥३७१॥

एवमन्नादिसमर्पणेन सम्माननं लिखित्वा इदानीं वाक्यपरिपालनेनापि सम्मानः कार्य्य इति लिखति—कर्म्मणेति। कायादिव्यापारेण त्रिधा सदा ये अर्च्चयन्ति; यद्वा, कर्म्मादिना तेषां वचः कार्य्यमिति सम्बन्धः ॥

इति एवमादृतः सन् भगवद्भक्तिपराणि शास्त्राण्येव अनु निरन्तरं शृणुयात्। तत्र भक्तिशास्त्रेषु च मध्ये श्रीभागवतं विशेषतोऽनुशृणुयात्। तत्र श्रीभागवतेऽपि कृष्णस्य लीलाकथां दशमस्कन्धादि-सम्बन्धिनीमनु निरन्तरं शृणुयादित्यर्थः ॥३६६-३६७॥

भक्तिशास्त्रादीनाञ्चैषां प्रत्येकं माहात्म्यं लिखिष्यन्नादौ सामान्यतो विष्णुभक्तिसम्बन्धिशास्त्रमाहात्म्यं लिखति—वैष्णवानीत्यादिना सदेत्यन्तेन। पूर्व्वञ्च पूजाङ्गत्वेन स्नपने पुराणपाठस्य माहात्म्यं लिखितम्; अधुना च पूजानन्तरं सत्सङ्गे वैष्णवशास्त्रश्रवणादीनां माहात्म्यमिति भेदः। किन्तु प्रायो द्वयोरैक्यात् तत्र लिखितं माहात्म्यमत्र द्रष्टव्यमत्र लिखितं तत्र चेति ॥३६९॥

स्कन्दपुराण के श्रीमार्कण्डेय-भगीरथ-सवाद में लिखित है—जो मानव, काय-वाक्य-मन से सर्वदा श्रीहरि की पूजा करते हैं, उन हरिभजनकारी का वाक्य पालन करना मनुष्यों का कर्त्तव्य है। कारण, वे सब श्रीहरि सदृश होते हैं ॥३६६॥

इस प्रकार समादृत होकर वैष्णववृन्द के समीप में भगवद्भक्ति मूलक शास्त्रसमूह एवं तन्मध्य में विशेषतः श्रीमद्भागवत श्रवण करे, उसमें भी दशमस्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण कथा का अनुक्षण श्रवण करे। ॥३६७॥

अथ वैष्णवशास्त्र-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ही ब्रह्म-नारद संवाद में वर्णित है—इस संसार में जो मानव, वैष्णव शास्त्र श्रवण एवं अध्ययन करते हैं, वे सब ही धन्य हैं। श्रीकृष्ण उन सबके प्रति प्रसन्न होते हैं ॥३६८॥

मनुष्यगण निज निज गृह में वैष्णवशास्त्र की पूजा करके निखिल पातक से उत्तीर्ण होकर सबके पूज्य हो सकते हैं ॥३६९॥

हे विप्रश्रेष्ठ ! श्रीहरिप्रीति के निमित्त महती भक्ति के सहित वैष्णवशास्त्र संग्रह करना वैष्णववृन्द का एकमात्र कर्त्तव्य है ॥३७०॥

हे नारद ! लिखित वैष्णवशास्त्र, जिनके गृह में अवस्थित हैं, वहाँ श्रीनारायणदेव विराज करते हैं। पुराण सम्बन्धीय विष्णु माहात्म्य प्रकाशक एक श्लोक, अर्द्धांश, अथवा पादमात्र अध्ययन करने से

पौराणं वैष्णवं श्लोकं श्लोकार्द्धमथवापि च । श्लोकपादं पठेद्यस्तु गो-सहस्रफलं लभेत् ॥३७२॥

देवतानामृषीणाञ्च योगिनामपि दुर्ल्लभम् । विप्रेन्द्र वैष्णवं शास्त्रं मनुष्याणाञ्च का कथा ॥३७३

तत्रैव श्रीकृष्णार्ज्जुन-संवादे—

मम शास्त्राणि ये नित्यं पूजयन्ति पठन्ति च ।

ते नराः कुरुशार्द्दूल ममातिथ्यं गताः सदा ॥३७४॥

मम शास्त्रप्रवक्तारं मम शास्त्रानुचिन्तकम् । चिन्तयामि न सन्देहो नरं तं चात्मवत् सदा ॥३७५

अथ श्रीमद्भागवत-माहात्म्यम्

तत्रैव—

जीवितादधिकं येषां शास्त्रं भागवतं कलौ । न तेषां भवति क्लेशो याम्यः कल्पशतैरपि ॥३७६

धारयन्ति गृहे नित्यं शास्त्रं भागवतं हि ये ।

आस्फोटयन्ति वल्गन्ति तेषां प्रीताः पितामहाः ॥३७७॥

यावद्दिनानि विप्रर्षे शास्त्रं भागवतं गृहे । तावत् पिबन्ति पितरः क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥३७८॥

येऽर्च्चयन्ति सदा गेहे शास्त्रं भागवतं नराः । प्रीणितास्तैश्च विबुधा यावदाहूतसंप्लवम् ॥३७९

यच्छन्ति वैष्णवे भक्त्या शास्त्रं भागवतं हि ये ।

कल्पकोटिसहस्राणि विष्णुलोके वसन्ति ते ॥३८०॥

पौराणं पुराणसम्बन्धिनं, वैष्णवं विष्णुपरम् ॥३७२॥ आतिथ्यमतिथिवत् परमादरणीयतामित्यर्थः ॥३७४

चिन्तयामि कदाचिदपि न विस्मरामीत्यर्थः; यद्वा, तस्य योगक्षेममनुसन्दधे ॥३७५॥

प्रीताः हृष्टाः सन्तः वल्गन्ति नृत्यादिकं कुर्व्वन्ति ॥३७७॥

आहूतेत्यत्र भकारस्थाने हकारश्छान्दसः, भूतसंप्लवो महाप्रलयस्तत्पर्यन्तम् ॥३७९॥

भागवतं श्रीभागवतीयमित्यर्थः ॥३८०॥

गोसहस्रदान का फल लाभ होता है ॥३७१-३७२॥

हे विप्रवर ! मनुष्य की वार्त्ता तो दूर है, वैष्णवशास्त्र देवगण, ऋषिगण एवं योगिगण के पक्ष में भी दुर्ल्लभ हैं ॥३७३॥

उक्त पुराण के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद में वर्णित है—हे कुरुवीर ! जो मानव, नित्य मदीय शास्त्रसमूह का पाठ एवं पूजन करते हैं, वे सब मत्सम्बन्ध में सर्वदा अतिथिवत् पूज्य होते हैं । मैं सर्वदा मदीय शास्त्रवक्ता को एवं मदीय शास्त्र-चिन्तक को स्वीयवत् मानता हूँ, इसमें संशय नहीं है ॥३७४-३७५॥

अथ श्रीमद्भागवत-माहात्म्यम्

उसी पुराण में लिखित है—कलिकाल में जो मानव भागवतशास्त्र को अपने जीवन से भी अधिक जानते हैं, शतकल्प में भी उन सबको यम सम्बन्धीय यन्त्रणा भोगनी नहीं पड़ती है ॥३७६॥

जो मानव निज गृह में भागवत शास्त्र रखते हैं, उनके पितामहगण प्रफुल्ल मन से आस्फोटन एवं नृत्य करते रहते हैं ॥३७७॥

हे विप्रर्षे ! यावत् काल पर्य्यन्त भागवत शास्त्र गृह में विराजित हैं, पितृगण तावत् काल पर्य्यन्त क्षीर, मधु एवं जल सेवन करते हैं । जो मनुष्य, गृह में सदा भागवत शास्त्र की पूजा करते हैं, वे सब महाप्रलय पर्य्यन्त देववृन्द की तृप्ति विधान करते हैं ॥३७८-३७९॥

भक्तिपूर्वक जो मानव वैष्णव को भागवतशास्त्र अर्पण करते हैं, सहस्रकोटि कल्प पर्य्यन्त विष्णुलोक में

श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा वरं भागवतं गृहे । शतशोऽथ सहस्त्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ॥३८१॥
न यस्य तिष्ठते गेहे शास्त्रं भागवतं कलौ । न तस्य पुनरावृत्तिर्यमपाशात् पाशात् कदाचन ॥३८२
कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ । गृहे न तिष्ठते यस्य स विप्रः श्वपचाधमः ॥३८३॥
यत्र यत्र भवेद्विप्र शास्त्रं भागवतं कलौ । तत्र तत्र हरिर्याति त्रिदशैः सह नारद ॥३८४॥
तत्र सर्व्वाणि तीर्थानि नदीनदसरांसि च । यत्र भागवतं शास्त्रं तिष्ठते मुनिसत्तम ॥३८५॥
तत्र सर्व्वाणि तीर्थानि सर्व्वे यज्ञाः सुदक्षिणाः । यत्र भागवतं शास्त्रं पूजितं तिष्ठते गृहे ॥३८६॥

किञ्च—

नित्यं भागवतं यस्तु पुराणं पठते नरः । प्रत्यक्षरं भवेत्तस्य कपिलादानजं फलम् ॥३८७॥

श्लोकार्द्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम् ।
पठेत् शृणोति वा भक्त्या गोसहस्त्र फलं लभेत् ॥३८८॥

यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने । अष्टादशपुराणानां फलं प्राप्नोति मानवः ॥३८९॥

तत्रैव मार्कण्डेयभगीरथ-संवादे—

यो हि भागवते शास्त्रे विघ्नमाचरते पुमान् ।
नाभिनन्दति दुष्टात्मा कुलानां पातयेच्छतम् ॥३९०॥

श्रीभागवतसंग्रहस्य नित्यतामाह- न यस्येति द्वाभ्याम् ॥३८२॥
विघ्नं तत्पाठादावन्तरायं, न च तदभिनन्दति यः ॥३९०॥

उनका निवास होता है । श्रीमद्भागवत का अर्द्धश्लोक अथवा एक चरण मात्र भी गृह में रहना श्रेयस्कर है, शत शत सहस्त्र सहस्त्र अन्य शास्त्र संग्रह का क्या प्रयोजन है ? ॥३८०-३८१॥

कलिकाल में जिनके घर में भागवत-शास्त्र नहीं है, उसको यमपाश से पुनरागमन नहीं करना पड़ता है। कलिकाल में जिसके गृह में भागवत-शास्त्र विराजित नहीं हैं, उसको वैष्णव किस प्रकार जान सकते हैं । वह विप्र चाण्डाल की अपेक्षा अधम है ॥३८२-३८३॥

कलिकाल में जहाँ जहाँ भागवत-शास्त्र विराजित हैं, हे विप्र नारद ! स्वयं हरि, देवगण के सहित वहाँ गमन करते हैं ॥३८४॥

हे मुनिप्रवर ! जिस स्थान में भागवत शास्त्र विद्यमान हैं, उस स्थान में नद, नदी एवं सरोवर प्रभृति निखिल तीर्थ विराजित हैं ॥३८५॥

जिस गृह में भागवत-शास्त्र पूजित होकर विद्यमान हैं, वहाँ पर निखिल तीर्थ एवं सुदक्षिण सर्व यज्ञ विराजमान हैं ॥३८६॥

और भी कथित है—जो मानव, नित्य भागवत पुराण अध्ययन करते हैं, वे प्रति अक्षर में कपिला धेनु दान का फल प्राप्त करते हैं । भक्तिमान् होकर भागवत के श्लोकार्द्ध किंवा पादमात्र नित्य पाठ अथवा श्रवण करने से सहस्त्र गोदान का फल लाभ होता है, हे मुने ! जो मानव, शुद्धचित्त से भागवत का श्लोक पाठ नित्य करते हैं, वे अष्टादश पुराण पाठ का फल लाभ करते हैं ॥३८७-३८९॥

उक्त पुराण के मार्कण्डेय-भगीरथ-संवाद में लिखा है—जो भागवत-शास्त्र में विघ्न उत्पन्न करते हैं, अथवा अभिनन्दन नहीं करते हैं, वे दुष्टात्मा स्वीय शत कुल को अधोगामी करते हैं ॥३९०॥

पाद्मे गौतमाम्बरीष-संवादे—

अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु । पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम् ॥३९१॥

श्लोकं भागवतं वापि श्लोकार्द्धं पादमेव वा । लिखितं तिष्ठते यस्य गृहे तस्य सदा हरिः ।
वसते नात्र सन्देहो देवदेवो जनार्द्दनः ॥९२॥

द्वारकामाहात्म्ये श्रीमार्कण्डेयेन्द्रद्युम्न-संवादे—

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं पठते कृष्णसन्निधौ । कुलकोटिशतैर्युक्तः क्रीड़ते योगिभिः सह ॥३९३॥

गारुड़े—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ-विनिर्णयः । गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः ॥३९४॥

पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः । द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेदसंयुतः ।
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ॥३९५॥

तस्मिन्नेव श्रीभागवते प्रथमस्कन्धे (१।२, ३०।४०-४१)—

धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्म्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥३९६॥

कृष्णसन्निधौ क्रीड़ति, योगिभिः भक्तियोगपरैः; यद्वा, कृष्णसंयोगवद्भिः सह क्रीड़ति ॥३९३॥

ब्रह्मसूत्राणां, वेदान्तसूत्राणाम, पुराणानां मध्ये सामरूपः श्रेष्ठ इत्यर्थः । सारेति वा पाठः । विच्छेदाः प्रकरणानि ॥३९४-३९५॥

तथा स्वतः प्रमाणभूतानां वेदानां सर्व्वाण्येव वचनानि प्रमाणभूतानि, तथा सर्व्ववेदफलस्य श्रीभागवतस्य

पद्मपुराण में गौतम-अम्बरीष-संवाद में लिखित है—हे अम्बरीष ! भवबन्धच्छेदन करने की इच्छा हो तो, नित्य शुक प्रोक्त भागवत श्रवण अथवा निजमुख से पाठ करो । श्रीमद्भागवत का एक श्लोक अथवा अर्द्धश्लोक अथवा पादमात्र लिखित होकर जिसके गृह में विराजित है, देवदेव श्रीहरि उसके भवन में सर्वदा अधिष्ठित रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥३९१-३९२॥

द्वारका माहात्म्य के श्रीमार्कण्डेय-इन्द्रद्युम्न-संवाद में लिखित है–श्रीकृष्ण के पुरोभाग में श्रीमद्भागवत शास्त्र पाठ करने से स्वीय कोटिकुल समन्वित होकर भक्तिरसिक वैष्णवगण के सहित श्रीकृष्ण के समीप में क्रीड़ा कर सकते हैं ॥३९३॥

गरुड़पुराण में लिखित है—श्रीमद्भागवत ग्रन्थ, वेदान्तसूत्र का अर्थस्वरूप, महाभारत का अर्थनिर्णायक गायत्री का भाष्यस्वरूप, वेदार्थ बोधक एवं सकल पुराण के मध्य में गरीयान् है । यह श्रीमद्भागवत नामक ग्रन्थ, साक्षात् भगवान् कर्त्तृक कथित, द्वादशस्कन्ध विशिष्ट, शतप्रकरण संयुक्त एवं अष्टादश सहस्र श्लोक समन्वित है ॥३९४-३९५॥

उक्त श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में उक्त है—महामुनि श्रीनारायण कर्त्तृक यह श्रीमद्भागवतशास्त्र प्रणीत है, इस शास्त्र में मत्सरहीन अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति दयालु साधुपुरुषगण का अनुष्ठेय परमधर्म निरूपित है, इससे आध्यात्मिकादि त्रितापोच्छेदक परमार्थ वस्तु का परिज्ञान होता है । अतएव अन्यान्य शास्त्र की अथवा तदुक्त अनुष्ठान की आवश्यकता क्या है ? सुकृतिशालि व्यक्तिगण, इस भागवत-शास्त्र श्रवणमात्र से ही तत्काल परात्पर परमेश्वर को हृदयाभ्यन्तर में स्थिर करने में समर्थ होते हैं ॥३९६॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् । उत्तमःश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ।।३९७।।

वचनान्येव स्वयं परमप्रमाणभूतानीति तैरेव तन्माहात्म्यं लिखति—धर्म्म इत्यादिभिः। तत्र प्रथम श्रोतृ-प्रवर्त्तनाय श्रीभागवतस्य काण्डत्रयविषयेभ्यः सर्व्वशास्त्रेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति—धर्म्म इति। अत्र श्रीमति सुन्दरे साक्षाद्भक्तिसम्पत्तिगति वा भागवते परमो धर्म्मो निरूप्यते। साक्षादेवास्तीति वा, एतत्सेवयैव स स्वतः प्राप्तः स्यादिति भावः। परमत्वे हेतुः—प्रकर्षेण उज्झितं त्यक्तं कैतवं फलाभिसन्धिलक्षणं कपटं यस्मिन् सः। प्र-शब्देन मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः, केवलमीश्वराराधनलक्षणो धर्म्म इत्यर्थः। अधिकारितोऽपि धर्म्मस्य परमत्वमाह—निर्मत्सराणाम्, परोत्कर्षासहनं मत्सरः, तद्रहितानां सतां भूतानुकम्पिनाम्; यद्वा, परमत्वहेतुतया प्रोज्झितकैतवत्वमेव प्रतिपादयति; मत्सरकारणे वर्त्तमानेऽपि मत्सरहीनानां सतां भगवद्-भक्तानामित्यर्थः। कर्म्मिणां स्पर्द्धादिहेतुसद्भावेन मत्सरस्वभावत्वात्, ज्ञानिनाञ्च कर्म्मादिपरित्यागेन मत्सरकारणाभावात्, भक्तानान्तु पूजादिभगवद्धर्म्मपराणां कर्म्मिणामेव मत्सरसम्भवेऽपि भक्तिस्वभावेन परस्परमासक्त्या भगवत्कथाश्रवणादिनान्योऽन्यं प्रीतिसम्पत्त्या मत्सरादिदोषानुत्पत्तेः, एवं कर्म्मकाण्ड-विषयेभ्यः श्रैष्ठ्यमुक्तं, ज्ञानकाण्डविषयेभ्योऽपि श्रैष्ठ्यमाह—वेद्यमिति। वास्तव परमार्थभूत वस्तु वेद्यं, न तु वैशेषिकाणामिव द्रव्यगुणादिरूपम्; यद्वा, वास्तव-शब्देन वस्तुनोऽंशो जीवः, वस्तुनः शक्तिर्माया च, वस्तुनः कार्य्यं जगच्च, तत्सर्व्वं वस्त्वेव, न तु ततः पृथगिति। वेद्यं अयत्नेनैव ज्ञातुं शक्यम्; ततः किम् ? अत आह—शिवदं परमसुखदम्, आध्यात्मिकादि-तापत्रयोन्मूलनञ्च; यद्वा, वस्तुसारभूतं भगवद्भक्तिलक्षणं, तस्यापि वस्तु प्रेम तत् वेद्यं प्राप्यं, विद्लाभ इत्यस्मात्। एवं साधनसाधकसाध्यद्वारा क्रमेण श्रैष्ठ्यं दर्शितं, कर्त्तृतोऽपि श्रैष्ठ्यमाह—महामुनिः श्रीनारायणस्तेन प्रथमतः संक्षेपेण कृते। देवताकाण्डगतं श्रैष्ठ्यमाह—परैः शास्त्रैस्तदुक्तसाधनैर्वा ईश्वरो हृदि किं वा सद्य एव अवरुध्यते स्थिरीक्रियते। वा-शब्दः कटाक्षे, किन्तु विलम्बेन कथञ्चिदेव। अत्र तु शुश्रूषुभिः श्रोतुमिच्छद्भिरपि तत्क्षणादवरुध्यते; यद्वा, अपरैः प्रयोजनैर्वणितैः किम् ? सद्यः सम्प्रति स्थितो य ईश्वरः श्रीकृष्णः, तदवतारस्यैव निरन्तर-वर्णने श्रीभागवतप्रवृत्तेः; यद्वा, सद्यः सपद्येव हृद्यवरुध्यते, प्रकटसर्व्वाङ्गलावण्य-तत्तल्लीलापरिकरपरिवारादिसहितः साक्षादिव सदानुभूयत इत्यर्थः; यद्वा, हृदि स्थितो यः, सोऽवरुध्यते, साक्षान्निजसमीपं प्राप्यते। कीदृशः सः ? निर्व्वक्तुमयोग्यो यः क्षणः मरणकाल इत्यर्थः, तमत्ति नाशयतीति तथा सः, मरणादिसंसारदुःखहन्तेत्यर्थः; यद्वा, स अनिर्व्वचनीयः क्षणः उत्सवः मुक्तिलक्षणस्तमत्ति निजभक्तिमहिम्ना निरस्यति तथा सः; यद्वा, तं प्रसिद्धं क्षणम् इन्द्रमहम् अत्ति—श्रीगोवर्द्धनपूजाप्रवर्त्तनेन हन्तीति सः; यद्वा, तस्मिन् श्रीगोवर्द्धनमहोत्सवे तदखिल-बलिभक्षणेनोपचारात्तमेव अत्ति भक्षयतीति तथा सः, 'बलिमाददद्बृहद्वपुः' (श्रीभा १०।२४।३५) इति तत्रैवोक्तेः; यद्वा, तासां श्रीगोपीनां, तस्या वा श्रीराधायाः, तन्नामाग्रहणं गौरवादिना, क्षणं गृहाद्यशेषोत्सवं वाह्यमान्तरञ्च प्रेमविशेषविस्तारणेन प्रायो विरहदुःखप्रदानेन वा नाशयतीति तथा सः। एतच्च श्रीभागवतामृते विस्तरतो लिखितमस्ति। एवं सर्व्वथा श्रीकृष्ण एवेत्यर्थः, श्रीभागवतेऽस्मिन् श्रीकृष्णस्यैव नायकत्वेन प्राधान्यात्। तथा च—'यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नः' (श्रीभा १।२।५) इत्यत्र श्रीस्वामिपादैर्व्याख्यातम्—'यतः कृष्णविषयः प्रश्नः कृतः, सर्व्वशास्त्रसारोद्धारप्रश्नस्यापि श्रीकृष्णे पर्य्यवसानात्' इति, अतएव तत्तदुपाख्यानादेः सर्व्वस्यापि श्रीकृष्ण एव तात्पर्य्यं, साक्षादेव भातीति दिक्। ननु तर्हि इदमेव सर्व्वे किमिति न शृण्वन्ति ? तत्राह—कृतिभिः। एतच्छ्रवणेच्छा तु पुण्यैर्विना नोत्पद्यत इत्यर्थः; यद्वा, कृतिभिः पण्डितैः, सदसद्विचारा-भावेनास्य शुश्रूषानुपपत्तेः। एवं सर्व्वथा सर्व्वतः श्रैष्ठ्यादिदमेव नित्यमवश्यं श्रोतव्यमिति भावः।।३९६।।

इदं पुराणं भागवतं नाम श्रीभागवतसंज्ञम्; यद्वा, नामपुराणं नामप्रधानं पुराणमिदमित्यर्थः, सर्व्वत्रैव

हे ऋषिगण ! मैं आपके सम्मुख में यह श्रीमद्भागवत पुराण ग्रन्थ का वर्णन कर रहा हूँ, यह समस्त वेद तुल्य है, इसमें उत्तम श्लोक श्रीहरि के चरित्र वर्णित हैं। भगवान् वेदव्यास लोकहितार्थ इस शास्त्र का

निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् । तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ।
सर्व्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ॥३९८॥

किञ्च (श्रीभा १।३।४३)—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्म्मज्ञानादिभिः सह । कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥३९९॥

किञ्च (श्रीभा १।७।६-७)—

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥४००
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥४०१॥

विशेषतो भगवन्नाम-माहात्म्यप्रतिपादनात् । ब्रह्मसम्मितं सर्व्ववेदतुल्यम्; यद्वा, अष्टादशसाहस्री-संहितारूपेण सम्मितं परिमितमिव प्राप्तं परब्रह्मैव, 'कृष्णे स्वधामोपगते' (श्रीभा १।२।४३) इत्यादि-वक्ष्यमाणत्वात् । उत्तमःश्लोकस्य चरितं यस्मिन् तत्; यद्वा, उत्तमाः सर्व्वतः श्रेष्ठाः उत्तमसो वा तमो अज्ञानादिदुःखं, तन्निवर्त्तकाः श्लोकाः पद्यानि चरितानि चाख्यानानि यस्मिन् । भगवानेव ऋषिः व्यासरूपः सन् चकार निबबन्ध ॥३९७॥

धन्यं धनावहं, स्वस्त्ययनं सर्व्वमङ्गलप्रापकम; यद्वा, प्रेमधनावहमतएव सर्व्वमङ्गलाश्रयम् । किञ्च, महत् सर्व्वोत्कृष्टं स्वतः परमफलरूपमेवेत्यर्थः । तत्तस्मादेव हेतोः, सुतं श्रीशुकदेवं, महत्त्वमेवाभिव्यञ्जयति—सर्व्वेति । सारमभिधेयेपु श्रेष्ठं, वीप्सया सर्व्वं सारमित्यर्थः । समुद्धृतमित्यनेन क्षीरोद-महासागरादमृतमेवेति सूचितम् । अतएव आत्मवतां धीराणां जीवन्मुक्तानां वा वरं, परमभक्तत्वात्, अतएव तं ग्राहयामास, अन्यथा तस्यात्र प्रवृत्त्यसम्भवादिति दिक् ॥३९८॥

'ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्म्मवर्म्मणि । स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्म्मः कं शरणं गतः ॥' (श्रीभा १।१।२३) इत्यस्य श्रीशौनकादिप्रश्नस्य उत्तरमाह—कृष्णेति । स्वधाम वैकुण्ठमुपगते सति, अधुना कलौ नष्टदृशां सतां लोकानामेष भागवताख्यःपुराणार्को धर्मादिभिः सह उदितः । यथार्कोदये तमोनाशाच्चक्षुरिन्द्रिय प्रवृत्त्या दृश्यं दृश्यते, तथास्य प्राकट्येन सर्व्वाज्ञाननिवृत्तेर्भक्तिप्रवृत्त्या श्रीकृष्णः साक्षादिव प्राप्यत इत्यर्थः ॥ भक्ति-

साक्षादेव अनर्थं संसारम्; यद्वा, न अर्थो भक्तिलक्षणो यस्मिन् तं मोक्षमुपशमयतीति तथा तम् । भक्ति-योगमजानतो लोकस्यार्थे सात्वत-संहितां श्रीभागवताख्याम् ॥३९९-४००॥

अनर्थोपशमं दर्शयति—यस्यामिति । श्रूयमाणायामेव, किं पुनः श्रुतायामित्यर्थः । परमपुरुषे पुरुषोत्तमे, भक्तिः पुरुषोत्तम-विषयकभावविशेषः, पुंसः यस्य कस्यचिज्जनस्येत्यर्थः । शोकः संसारित्वादिनानुतापः, मोहः

प्रणयन किये हैं। अतएव यह निखिल पुरुषार्थ प्रापक, एवं परम शुभदायक, सर्व प्रधान है। महामुनि वेदव्यास ने इस श्रीमद्भागवत में सकल वेदों एवं इतिहासों का सार उद्धारकर, स्वतनयधीरश्रेष्ठ श्रीशुकदेव को उपदेश दिया है ॥३९७-३९८॥

और भी लिखा है—धर्म ज्ञानादि के सहित श्रीकृष्ण, स्वधाम गमन करने पर, कलिकाल में समस्त लोकों के चक्षुः अज्ञान तिमिर से विनष्ट हो गये थे, इसी समय में यह पुराणरूप दिवाकर का उदय धर्म-ज्ञानादि के सहित हुआ ॥३९९॥

और भी लिखा है—अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्ण में साक्षात् भक्तियोग विहित होने पर अनर्थरूप संसार का उपशम होता है। भक्तियोग विषय में अज्ञ जनगण के हितार्थ व्यासदेव ने यह श्रीमद्भागवतरूप सात्वत संहिता का प्रणयन किया है। इसके श्रवणमात्र से ही परम पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति शोक, मोह, भय नाशिनी भक्ति का उदय मानव हृदय में होता है ॥४००-४०१॥

द्वितीये श्रीशुकोक्तौ (१।६-१०)—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥४०२॥

तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान् । यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सतिः ॥४०३

द्वादशे च (१३।१४-१६, १८)—

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे । यावद्भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरः ॥४०४॥

सर्व्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते । तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥४०५॥

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा । वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥४०६

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥४०७॥

तन्मूलमज्ञानं, भयं संसारः, तान्यपहन्तीति तथा सा; यद्वा, शोकः भगवदप्राप्त्याऽनुतापः, मोहः गृहाद्यासक्तिः, भयं लोकादिभ्यः, तान्यपहन्तीति तथा सा । एतज्ज्ञानर्थोपशमतारूपमानुषङ्गिकफलं दर्शितम् ॥४०१॥

ब्रह्मानन्द-परिनिष्ठितस्य श्रीवादरायणेरेतदध्ययने प्रवृत्त्याः परमफलत्वं दर्शयन् तद्वचनेनैव लिखति—परिनिष्ठित इति । गृहीतचेता आकृष्टचित्तः, आख्यानं श्रीभागवतरूपम् ॥४०२॥

महापुरुषो भगवान् श्रीकृष्णस्तदीयः, एवं वैष्णवेष्वेव श्रीभागवतमभिधेयमित्युक्तम् । यस्य यस्मिन् श्रद्धां कुर्व्वतामपि, सती अहैतुकी मतिः प्रेमेत्यर्थः ॥४०३॥

अमृतं भगवद्भक्तिरसः, तस्य सागरः ॥४०४॥

तद्रसः, तस्यास्वादनं तत्प्रीतिर्वा, स एवामृतं तेन तृप्तस्य, अन्यत्र वेदान्तादौ ॥४०५॥

तद्रसः, तस्यास्वादनं तत्प्रीतिर्वा, स एवामृतं तेन तृप्तस्य, अन्यत्र वेदान्तादौ ॥४०५॥ पारमहंस्यं परमहंसैः प्राप्यं, यद्वा, परमहंसानामपि

वैष्णवानां प्रियत्वे हेतुमाह– यस्मिन्नित्यादिना । पारमहंस्यं परमहंसैः प्राप्यं, यद्वा, परमहंसानामपि हितं परं ज्ञानं भगवद्भक्तिमाहात्म्यादिविषयम्, अतोऽमलं सर्व्वमलनिवर्त्तकम्; अतएव श्रीभागवते व्याख्यातम्

द्वितीय स्कन्ध में श्रीशुकोक्ति यह है—हे नृप ! निर्गुण ब्रह्म में परिनिष्ठित होने पर भी मेरा चित्त उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण की लीला से आकृष्ट हुआ था, उससे ही मैंने इस शास्त्र का अध्ययन किया । तुम परम भगवद्भक्त हो, अतः मैं तुम्हारे निकट इस शास्त्र की व्याख्या करता हूँ । इसमें श्रद्धालु होने से भगवान् मुकुन्द में अमलामति होती है । उक्त विवरण से सुस्पष्ट प्रतीति होती है कि, वैष्णव के समीप में ही श्रीमद्भागवत पाठ करना उचित है । "एवं वैष्णवेष्वेव श्रीभागवतमभिधेयमित्युक्तम्" । टीका ॥४०२-४०३॥

द्वादशस्कन्ध में वर्णित है—यावत् पर्य्यन्त अमृतसिन्धुस्वरूप, अर्थात् भगवद्भक्ति रसरूप अमृत सदृश यह पुराण श्रुत नहीं होता है, तावत् पर्य्यन्त ही सज्जन समाज में अन्यान्य पुराण समादृत होते हैं ॥४०४॥

यह श्रीमद्भागवत, सर्व्ववेदान्तसार हैं, श्रीमद्भागवतीय सुधारस में परितृप्त होने पर अन्यत्र कदाच रति नहीं होती है ॥४०५॥

नदी के मध्य में यद्रूप गङ्गा हैं, देव के मध्य में यद्रूप विष्णु हैं, विष्णुभक्त के मध्य में जिस प्रकार महादेव हैं, पुराण के मध्य में तद्रूप यह श्रीमद्भागवत हैं ॥४०६॥

यह विमल श्रीमद्भागवत पुराण वैष्णववृन्द का अतिशय प्रिय है । इसमें परमहंसगण के प्राप्य भगवद्-भक्ति माहात्म्य विषयक एकमात्र श्रेष्ठ विशुद्ध ज्ञान गीत हुआ है एवं ज्ञान, विरागभक्ति विशिष्ट नैष्कर्म्य

अतएवोक्तं (श्रीभा १।१।३)—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥४०८॥

किञ्च (श्रीभा १।२।३)—

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक,-मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं, तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥४०९॥

—आदौ ज्ञानं, ततस्तत्त्ववेदनं, ततो विरागः विषयादिवैराग्यं, ततो भक्तिश्च श्रवणादिलक्षणा, तत्सहितं नैष्कर्म्म्यं, निष्कर्म्माणो भगवद्भक्तास्तैः प्राप्यं भगवत्प्रेम आविष्कृतं साक्षादिव दर्शितम् । एतत्-श्रवणादि-प्रवृत्त्या एव स्वतस्तत्तत्सिद्धेः । तत् श्रीमद्भागवतं भक्त्या शृण्वन् विपठन् संकीर्त्तयन् विचारणपरश्च तदर्थं विचारयंश्च सन् नरः सर्व्वो जनः विशेषेण मुच्यते, श्रीवैकुण्ठलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४०७॥

एवं प्रायः साधनरूपत्वमस्य दर्शितम्, अधुना स्वतः परमफलरूपत्वं दर्शयन् सर्व्वदा परमादरेणेदमेव सेव्यमिति लिखति—निगमेति, निगमो वेदः, स एव कल्पतरुः सर्व्वपुरुषार्थोपायत्वात् सेवकस्याभीष्टपूरकत्वाद्वा, तस्य फलमिदं श्रीभागवतं नाम; तत्तु वैकुण्ठगतं नारदेनानीय श्रीव्यासाय दत्तं, तेन च श्रीशुकमुखे निहितं, तच्च तन्मुखाद्भुवि गलितं शिष्यप्रशिष्यादिरूप-पल्लवपरम्परया शनैरखण्डमेवावतीर्णं, न तूच्चनिपातेन स्फुटत-मित्यर्थः । अतएवान्तनरूपेण द्रवेण संयुतम्; लोके हि शुकमुखस्पृष्टं फलममृतमिव स्वादु भवतीति प्रसिद्धम् । अत्र तु शुको मुनिः, अमृतं परमानन्दः, स एव द्रवो रसः; 'रसो वै सः, रसं ह्येव लब्ध्वानन्दी भवति' (श्रीतैः २।७।१) इति श्रुतेः । यद्वा, द्रवयति जगच्चित्तमार्द्रयतीति द्रवः, स एव परममधुरत्वादिना अमृतरूपः, श्रीकृष्णचरणारविन्द-विषयकप्रेमेत्यर्थः । अतः हे रसिकाः, तत्रापि भावुकाः रसविशेषभावनाचतुराः, अहो भुवि गलितमित्यलभ्य-लाभोक्तिः । इदं भागवतं नाम फलं मुहुः पिबत; ननु त्वगष्ठ्यादिकं विहाय फलाद्रसः पीयते, कथं फलमेव पातव्यम् ? तत्राह—रसं रसरूपम्, अतस्त्वगष्ठ्यादेर्हेयांशस्याभावात् फलमेव कृत्स्नं पिबत । अत्र च—रसतादात्म्य-विवक्षया रसवत्त्वस्याविवक्षितत्वात् अगुण वचनेऽपि रस-शब्दे मतुपः प्राप्त्यभावात् तेन विनैव रसं फलमिति सामानाधिकरण्यम् । अत्र फलमित्युक्ते पानासम्भवो हेयांशप्रसक्तिश्च भवेदिति तन्निवृत्त्यर्थं रसमित्युक्तम्; रसमित्युक्तेऽपि गलितस्य रसस्य पातुमशक्यत्वात् फलमित्युक्तमिति द्रष्टव्यम् । न च भागवतामृतपानं मोक्षेऽपि त्याज्यमित्याह—आलयं लयो मोक्षः, अभिविधावाकारः, लयमभिव्याप्य न हीदं स्वर्गादि-सुखवत् मुक्तैरुपेक्ष्यं, किन्तु सेव्यमेवेत्यर्थः । वक्ष्यति हि—'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे' (श्रीभा १।७।१०) इत्यादि ॥४०८॥

एवं श्रीभागवतस्यासाधारणमाहात्म्यमेव दर्शयन् तच्चोपसंहरन् भक्त्या तत्र प्रवक्तारं श्रीव्यासनन्दन-

---

आविष्कृत हुआ है । सुतरां भक्ति के सहित इसका श्रवण, अध्ययन, विचार करने पर मनुष्य मुक्त हो सकते हैं ॥४०७॥

अतएव प्रथम स्कन्ध में उक्त है—हे रसिक भावुकगण ! यह श्रीमद्भागवत निखिल पुरुषार्थ प्रदायक वेदरूप कल्पतरु का फलस्वरूप हैं, यह श्रीशुकदेव के मुख से मुखामृत द्रवसंयुक्त होकर अवनी मण्डल में अखण्ड रूप से पतित हुआ है । इसमें परित्याज्य हेयांश कुछ भी नहीं है । सुतरां तुम सब इस फल का पान मोक्षावधि निखिल अवस्था में पुनः पुनः करो ॥४०८॥

और भी वर्णित है—निविड़ भवान्ध तरणेच्छु संसारिगण के प्रति कृपा करके जिन्होंने यह असाधारण प्रभाव, वेदसार, अध्यात्म दीपक, गोपनीय पुराण वर्णन किया है, उन श्रीव्यासनन्दन मुनिगुरु श्रीशुकदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४०९॥

भगवद्धर्म्मवक्तारं भगवच्छास्त्रवाचकम् । वैष्णवं गुरुवद्भक्त्या पूजयेज्ज्ञानदायकम् ॥४१०॥

अथ श्रीभगवच्छास्त्रवक्तृ-माहात्म्यम्

नारदपञ्चरात्रे ऋषीन् प्रति श्रीशाण्डिल्योक्तौ—

वैष्णवज्ञानवक्तारं यो विद्याद्विष्णुवद्गुरुम् । पूजयेद्वाङ्मनःकायैः स शास्त्रज्ञः स वैष्णवः ॥४११

श्लोकपादस्य वक्तापि यः पूज्यः स सदैव हि । किं पुनर्भगवद्विष्णोः स्वरूपं वितनोति यः ॥४१२

किञ्च—

नारायणः परं ब्रह्म तज्ज्ञानेनाथ गम्यते । ज्ञानस्य साधनं शास्त्रं शास्त्रञ्च गुरुवक्त्रगम् ॥४१३

ब्रह्मप्राप्तिरतो हेतोर्गुर्वधीना सदैव हि । हेतुनानेन वै विप्रा गुरुर्गुरुतरः स्मृतः ॥४१४॥

यस्माद्देवो जगन्नाथः कृत्वा मर्त्यमयीं तनुम् ।
मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्याच्छास्त्रपाणिना ॥४१५॥

तस्माद्भक्तिर्गुरौ कार्य्या संसारभयभीरुणा । शास्त्रज्ञानेन योऽज्ञानं तिमिरं विनिपाततेत् ॥४१६

शास्त्रं पापहरं पुण्यं पवित्रं भोगमोक्षदम् । शान्तिदञ्च महार्थञ्च वक्ति यः स जगद्गुरुः ॥४१७॥

माक्षयति—य इति । अन्धं गाढ़न्तमः ससाराख्यं वा । अत्यन्तं सम्यक्तया तरितुमिच्छतां संसारिणां जनानां करुणया तद्विषयककृपया यः पुराणेषु मन्ये गुह्यं गोप्यमाह । गोप्यत्वे हेतुत्वेन चत्वारि विशेषणानि—स्वो निजः असाधारणः अनुभावः प्रभावः—'ईश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यते' (श्रीभा १।१।२) इत्यादिरूपो यस्य, अखिल-श्रुतीनां सारम्, एकम् अद्वितीयमनुपममित्यर्थः । आत्मानं कार्य्यकारणसङ्घमधिकृत्य वर्त्तमानमात्मतत्त्व-मध्यात्मम्; यद्वा, आत्मानं भगवन्तं हरिमधिकृत्य वर्त्तमानमध्यात्मं, तत्प्रसादैकलभ्यं तत्प्रेमेत्यर्थः । तस्य दीपं साक्षात् प्रकाशकम्, उपयामि शरणं व्रजामि ॥४०९॥

गुरुर्मन्त्रोपदेष्टा, तद्वत् ज्ञानस्य भगवद्धर्म्मादिविषयकस्य दायकं भगवच्छास्त्रवाचनेन, भगवद्धर्म्म-प्रतिपादनात् ॥४१०॥

स्वरूपं तत्त्वं तद्धर्म्मादि-माहात्म्यम् ॥४१२॥

हे विप्राः ॥४१४॥

शास्त्रमेव पाणिः उद्धारहेतुत्वात्, तेन ॥४१५॥

महानर्थः भक्तिलक्षणो यस्मात्तत् ॥४१७॥

भगवद्धर्मवक्ता, भगवच्छास्त्र वक्ता एवं ज्ञान प्रदाता वैष्णव की गुरु के समान भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिये ॥४१०॥

अथ श्रीभगवच्छास्त्रवक्तृ-माहात्म्यम्

नारदपञ्चरात्र में ऋषिगण के प्रति श्रीशाण्डिल्योक्ति यह है—जो मानव विष्णु सम्बन्धीय ज्ञानवक्ता को विष्णु सदृश गुरुरूप में जानकर काय-वाक्य-मन से पूजा करते हैं, वे ही शास्त्रज्ञ एवं वैष्णवपदवाच्च हैं जो विष्णु धर्मादि माहात्म्य का विस्तार करते रहते हैं, उनकी बात तो दूर रहे, पादमात्र श्लोकवक्ता भी सर्वदा पूजनीय हैं ॥४११-४१२॥

और भी लिखा है—हे विप्रगण ! परब्रह्म नारायण, उनके ज्ञान से प्राप्त होते हैं, ज्ञान साधन ही शास्त्र है, एवं शास्त्र भी गुरुमुखगत है, सुतरां ब्रह्म लाभ भी सर्वदा गुरु के आधीन है । तज्जन्य गुरु सर्वश्रेष्ठ रूप में अभिहित हैं । भगवान् जगत्पति श्रीहरि, मानुषी मूर्त्ति परिग्रह करके करुणापूर्वक शास्त्ररूप कर के द्वारा संसार में पतितजनगण को उद्धार करते हैं । जो शास्त्रज्ञान के द्वारा अज्ञानरूप अन्धकार को विदूरित करते

अथ श्रीकृष्णलीलाकथा-श्रवणमाहात्म्यम्, तत्र पापादिशोधकत्वम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

तेषां क्षीणं महत् पापं वर्षकोटिशतोद्भवम् ।
विप्रेन्द्र नास्ति सन्देहो ये शृण्वन्ति हरेः कथाम् ॥४१८॥

तत्रैवान्यत्र—

सर्व्वाश्रमाभिगमनं सर्व्वतीर्थावगाहनम् । न तथा पावनं नृणां नारायण-कथा यथा ॥४१९

बृहन्नारदीये यज्ञध्वजोपाख्यानान्ते—

अहो हरिकथा लोके पापघ्नी पुण्यदायिनी । शृण्वतां ब्रुवताञ्चैव तद्भावानां विशेषतः ॥४२०

प्रथमस्कन्धे (२।१७)—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥४२१॥

सर्व्वेषामाश्रमाणां ब्रह्मचर्य्यादीनाम् अभिगमनं क्रमेण तत्तद्धर्म्मानुष्ठानम् । कथेति—सामान्यतो यद्यपि कथायाः श्रवणं कीर्त्तनादिकं चोक्तं स्यात्; तथापि श्रवणानन्तरमेव कीर्त्तनादि सम्भवतीति आदौ श्रवणापेक्षा यद्वा, श्रवणे सति स्वत एव कीर्त्तनादि सिध्यतीति । कथायां श्रवणस्य प्राधान्याभिप्रायेण पद्यमेतदत्र संगृहीतम् । किञ्च, 'शृण्वतां ब्रुवताम्' इत्यादौ च यद्यपि कीर्त्तनादेरपि स्पष्टं माहात्म्यमुच्यते, तथापि श्रवणप्रकरणेऽत्र लिखनात् तत्तदत्र दृष्टान्तत्वेनोह्यम् । यदि वा तत् सर्व्वं स्वतन्त्रमेव मन्तव्यं, तर्हि एक एव महाभागवतो रसिकतया कदाचित् वक्ता, कदाचित् श्रोता, युगपद्वा श्रवणादिकर्त्तेत्येवं श्रवण-कीर्त्तनादिमिश्रित-प्रकरणं श्रीविष्णुपुराणलिखितानुसारेण पृथक् कल्पयितव्यम् । अत्र च प्रयोजनविशेषाभावेन ग्रन्थविस्तरभयेन च न लिखितमिति दिक्; एवमन्यदप्यूह्यम् ॥४१९॥

तस्यां हरिकथायां भावो भक्तिर्येषां तेषां कथा-चिन्तकानां वा ॥४२०॥

पुण्ये श्रवणकीर्त्तने यस्य सः, हृदि यानि अभद्राणि कामादिवासनास्तानि, अन्तःस्थः हृदयस्थः सन् सतां कथाश्रवणादिपराणां, सुहृत् हितकारी ॥४२१॥

हैं, उन गुरुदेव के प्रति भक्तिमान होना संसार भीरु जनगण का अवश्य कर्त्तव्य है । शास्त्र, पातक नाशक, पुण्य, विशुद्ध, भोगमोक्ष दायक, शान्ति प्रदायक एवं भक्तिलक्षण स्वरूप है । यह शास्त्र वक्ता ही जगद्गुरु पद वाच्च है ॥४१३-४१७॥

अथ श्रीकृष्णलीलाकथा-श्रवणमाहात्म्यम्, तत्र पापादिशोधकत्वम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—हे विप्रश्रेष्ठ ! जो मानव, श्रीहरिकथा श्रवण करते हैं, उनके शतकोटि वर्षोत्पन्न महापाप भी विनष्ट होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥४१८॥

उक्त पुराण के अन्यत्र वर्णित है—नारायण कथा, मानव कुल को जिस प्रकार पवित्र करती है, सकल आश्रम धर्माचरण अथवा सकल तीर्थावगाहन द्वारा भी तद्रूप पवित्रता की सम्भावना नहीं है ॥४१९॥

बृहन्नारदीय पुराण के यज्ञध्वजोपाख्यान के आरम्भ में उक्त है—अहो ! श्रीहरिकथा ही संसार में पाप-नाशिनी एवं पुण्यदायिनी है । भक्तिपूर्वक श्रीहरिकथा का श्रवण कीर्त्तन करने पर वह निःसन्देह विशेष रूप से पापनाशिनी एवं पुण्यदायिनी होती है ॥४२०॥

प्रथमस्कन्ध में वर्णित है—साधुगण के मङ्गलकारी पुण्य श्रवण कीर्त्तन भगवान् कृष्ण, निज कथा श्रवणकारी जनगण के हृदयस्थ होकर तदीय हृद्गत यावतीय अशुभ कामादि वासना को विध्वस्त करते हैं ॥४२१॥

एकादशे च देवस्तुतौ (६।९)—

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां, विद्या-श्रुताध्ययन-दान-तपःक्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध,-सच्छ्रद्धया श्रवणसंभृतया यथा स्यात् ।।४२२।।

अथ क्षुत्तृड़ादि-सर्व्वदुःखनिवर्त्तकत्वम्

दशमे श्रीवादरायणिं प्रति श्रीपरीक्षिदुक्तौ (१।१३)—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ।।४२३

स्कान्दे च तत्रैव—

श्रीप्रदं विष्णुचरितं सर्व्वोपद्रव-नाशनम् । सर्व्वदुःखोपशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ।।४२४।।

अथ प्रकर्षेण सर्व्वमङ्गलकारित्वम्

तत्रैव—

श्रोतव्यं साधुचरितं यशोधर्म्मजयार्थिभिः । पापक्षयार्थं देवर्षे स्वर्गार्थं धर्म्मबुद्धिभिः ।।४२५।।
आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं पुण्यवर्द्धनम् । चरितं वैष्णवं नित्यं श्रोतव्यं साधुबुद्धिना ।।४२६।।
कुटुम्बवृद्धिं विजयं शत्रुनाशं यशो बलम् । करोति विष्णुचरितं सर्व्वकालफलप्रदम् ।।४२७।।

हे ईड्य, हे ऋषभ ! दुराशयानां रागिणां विद्यादिभिस्तथा शुद्धिर्न भवति । अत्र विद्या उपासना, श्रुतं शास्त्रम्, अध्ययनं वेदाभ्यासः, तपः स्वधर्म्माचरणं, क्रिया यज्ञादयः, सत्त्वात्मनां सतां, ते यशसि श्रवणेन सम्भृतया परिपुष्टया अतिवृद्धया सत्श्रद्धया उत्तमप्रीत्या परमादरेण वा; यद्वा, सतामिव श्रद्धया आस्तिक्य-मात्रेणापि यथा स्यात्; यद्वा, शुद्धिर्न स्यादित्यत्र हेतुः— दुराशयानां विद्यादिभिरेव दुष्टाभिमानवतां सतामिति। शुद्धिः स्यादित्यत्र हेतुः—यशसि प्रवृद्धसत्श्रद्धयैव सत्त्वात्मनां शुद्धचित्तानां सतामिति । यद्वा, हे सत्त्वात्मनामृषभ, सात्वतवर्ग-प्रभो ! दुराशयानामपि यशसि प्रवृद्धसत्श्रद्धया यथा शुद्धिः स्यात्, तथा विद्यादिभिर्नस्यात्; यद्वा, तथा सत्त्वात्मनां सात्त्विकानामपि विद्यादिभिर्न स्यात्, भगवत्कथाश्रवणाभावात् ।।४२२।।

एषा क्षुत् तु अनशनव्रतोत्था सर्व्वानर्थमूलभूता सद्यो महार्त्तिप्रदत्वेन सर्व्वैरनुभूयमाना वा अन्येषामति-दुःसहापि मां त्यक्तोदमपि न बाधते, न पीड़यति; यद्वा, कायिकव्यापारादिबाधमपि नाचरति । कुतः ? सर्व्वदुःखं हरतीति हरिस्तस्य कथैवामृतं तत् पिबन्तं, तच्च त्वन्मुखाम्भोजच्युतमिति गुणविशेषो दर्शितः । हरिकथामृतपानाभावे च सद्य एव जीवनं न स्यादित्यर्थः ।।४२३।।

किं बहुनोक्तेन ? सर्व्वेषामेव कामानां वाञ्छानां फलं प्रकर्षेण ददातीति तथा तत् ।।४२७।।

एकादशस्कन्ध की देवस्तुति में वर्णित है—हे स्तवनीय ! हे ऋषभ ! आपकी यशोराशि श्रवण से उत्पन्न प्रवृद्ध श्रद्धा द्वारा साधुगण का जिस प्रकार चित्त विमल होता है, विद्या, अध्ययन, दान एवं तपस्यादि क्रिया द्वारा भी सांसारिकजन का चित्त उस प्रकार विशुद्ध नहीं होता है ।।४२२।।

अथ क्षुत्तृड़ादि-सर्व्वदुःखनिवर्त्तकत्वम्

दशमस्कन्ध में श्रीवादरायणि के प्रति श्रीपरीक्षित् का कथन है—मैं प्रायोपवेशन निबन्धन जल ग्रहण पर्य्यन्त परित्याग किया हूँ । किन्तु भवदीय मुखपद्म निःसृत कृष्ण कथामृत पान करने के कारण दुःसहा क्षुधा मुझको बिन्दुमात्र क्लेश प्रदान करने में सक्षम नहीं है ।।४२३।।

स्कन्दपुराण के उक्त स्थान में लिखित है—विष्णु-चरित्र श्रवण करने से सम्पत्ति लाभ, सर्वविध उपद्रव नाश, सकल दुःखोपशम एवं कुग्रह निवारण होता है ।।४२४।।

अथ प्रकर्षेण सर्व्वमङ्गलकारित्वम्

उक्त पुराण में वर्णित है—हे देवर्षे ! यशः, धर्म एवं जयार्थी व्यक्ति के पक्ष में एवं धर्मबुद्धि सम्पन्न,

सर्व्वसत्कर्म्मफलत्वम्

प्रथमस्कन्धे (२।८)—

धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।।४२८

अथ श्रोतेन्द्रिय साफल्यकारित्वम्

तृतीये श्रीविदुरमैत्रेय-संवादे (६।३७)—

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां, सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्‌भिरुपाकृतायां, कथासुधायामुपसंप्रयोगम् ।।४२९।।

अथ आयुःसाफल्यकारित्वम्

द्वितीये श्रीशौनकोक्तौ (३।१७)—

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ । तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमःश्लोकवार्त्तया ।।४३०।।

यो धर्म्म इति प्रसिद्धः, स यदि विष्वक्सेनकथासु रतिं नोत्पादयेत्, तर्हि स्वनुष्ठितोऽपि सन् अयं श्रमो ज्ञेयः। कथास्विति बहुत्वं गौरवेण, यासु कासुचिदित्येतद्विवक्षया वा। ननु मोक्षाद्यर्थस्य धर्म्मस्य श्रमत्वमस्त्येव, अत आह—केवलं विफलश्रम इत्यर्थः, भगवत्कथारत्यनुत्पत्त्या मोक्षासिद्धेः, निजसाध्यभगवत्कथारत्यनुत्पादनाद्वा। नन्वस्ति तत्रापि स्वर्गादिफलमित्याशङ्क्य एवकारेण निराकरोति, क्षयिष्णुत्वान्न तत्फलमित्यर्थः। ननु 'अक्षय्यं ह वै चातुर्म्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्यादि-श्रुतेर्न तत्फलस्य क्षयिष्णुत्वमित्याशङ्क्य हि-शब्देन साधयति, तद्वत् 'यथेह कर्म्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते, इति तर्कानुगृहीतया श्रुत्या क्षयप्रतिपादनात्। यद्वा, ननुसत्त्वशुद्धिद्वारा मोक्षः फलमस्तु, तत्राह—केवलमिति। तथापि विफलश्रम एवेति भावः, वैष्णवैर्मोक्षस्याप्यनादृतत्वात्। यद्वा, ननु भक्तिविघ्नरूपविविधसंसारदुःखनिरसनार्थं तेषामप्यसावपेक्ष्यः स्यात्, तत्राह—एवेति। तथापि तस्यापितुच्छत्वात् केवलं श्रम एवेति भावः। ननु मोक्षः परमपुरुषार्थो वेदान्तादौ प्रसिद्धः, तत्राह—हीति। 'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ' (श्रीभा १०।१४।२६) इत्यादिभिर्वचनैर्मोक्षस्य मायिकतुल्यताप्रतिपादनात्। तच्च विस्तरेण श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे व्यक्तमेवास्ति। एवं श्रीकृष्णकथारत्युत्पादनमेव सर्व्वधर्म्मफलमिति तात्पर्य्यम् ।।४२८।

एकान्ततो लाभं फलं नु निश्चितमाहुः—श्रुतेः श्रोत्रस्य च। उपाकृतायां निरूपितायाम्, उपसंप्रयोगं सन्निधात्र्पणम् ।।४२९।।

असौ सूर्य्यः उद्यन् उद्गच्छन् अस्तमदर्शनञ्च यन् गच्छन् यत् येन क्षणो नीतः, तस्यायुर्जीवनकालम् ऋते

साधुबुद्धि युक्त व्यक्तिगण के पक्ष में पापक्षय हेतु एवं स्वर्गलाभ निमित्त, आयुर्वर्धक, आरोग्यकर, यशःप्रद, पुण्यबर्धक श्रीविष्णुचरित्र श्रवण करना एकान्त कर्त्तव्य है। श्रीविष्णुचरित सेवन से कुटुम्ब वृद्धि, विजयलाभ, अरिक्षय, यशोवर्द्धन, बलवर्धन एवं सर्वभीष्ट पूरण होता है ।।४२५-४२७।।

सर्व्वसत्कर्म्मफलत्वम्

प्रथमस्कन्ध में वर्णित है—श्रीहरिकथा में अनुराग न होने से सुन्दर रूप में अनुष्ठित धर्म भी केवल श्रम मात्र में परिगणित होता है ।।४२८।।

अथ श्रोत्रेन्द्रिय-साफल्यकारित्वम्

तृतीयस्कन्ध में श्रीविदुर-मैत्रेय-संवाद में वर्णित है—हे विदुर ! पुण्यकीर्त्ति श्रीहरि के गुणानुवाद ही मानवों के वाक्य का एकमात्र फल कहा गया है। सुधीगण कर्त्तृक निर्दिष्ट श्रीहरिकथामृत में जो श्रवणों का सन्निकर्ष है, वही श्रवणद्वय की सार्थकता कही गई है ।।४२९।।

अथ आयुःसाफल्यकारित्वम्

द्वितीयस्कन्ध में श्रीशौनकमुनि कहे हैं—हे सूत ! दिवाकर प्रत्यह उदित एवं अस्तगत होकर सब लोकों

अथ परमवैराग्योत्पादकत्वम्

तृतीये श्रीविदुरोक्तौ (५।१३)—

सा श्रद्दधानस्य विवर्द्धमाना, विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य, समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते ॥४३१॥

चतुर्थे श्रीपृथुचरितान्ते श्रीमैत्रेयोक्तौ (२३।१२)—

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीह,-स्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो, यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्य्यात् ॥४३२॥

एकादशे च श्रीभगवन्तं प्रत्युद्धववाक्ये (६।४४)—

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम्। कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ॥४३३

वर्ज्जयित्वा हरति। एवं श्रीभगवद्वार्त्तारहितस्य वृथैवायुर्गच्छति। एकदापि श्रीभगवत्कथया सर्व्वमेवायुः सफलं स्यादिति भावः ॥४३०॥

सा हरिकथा श्रद्दधानस्य प्रीतिं विश्वासं वा कुर्व्वतः, तया विना तादृशविरक्त्यसिद्धेः, प्रवृत्त्यभावाच्च। यद्वा, आस्तिक्यमात्रं कुर्व्वतोऽपि पुंमात्रस्य, अन्यत्र ग्राम्यसुखे हरिकथाव्यतिरिक्ते वा सर्व्वत्र। ततः किम्? अत आह—हरेरिति, हरेः पादयोरनुस्मृतिः निरन्तरस्मरणं, तया निर्वृतस्य सतः ॥४३१॥

छिन्ना विनष्टा अन्यधीः देहात्मबुद्धिर्देवान्तरविषयकबुद्धिर्वा भक्तिव्यतिरिक्त-ज्ञानादिविषयकबुद्धिर्वा यस्य यस्य सः। यतः अधिगता अधिकं प्राप्ता आत्मगतिः आत्मतत्त्वं श्रीकृष्णो वा तद्भक्तिर्वा येन सः, अतएव निरीहः प्राप्तासु सिद्धिष्वपि निस्पृहः देहाद्यर्थचेष्टारहितो वा। किञ्च, येन वयुनेन ज्ञानेन इदं पूर्व्वोक्तं संशयपदं संसारबन्धनं वा अच्छिनत् तत्याज—श्रीपृथुः तत्प्रयत्नादप्युपररामेत्यर्थः, फले सिद्धे साधनप्रयासानुपपत्तेः। तस्याणिमादिसिद्धिषु चतुर्व्विधमोक्षेष्वपि निस्पृहत्वं युक्तमेवेत्याह—तावन्नाप्रमत्तः, किन्तु प्रमत्तो भवत्येव। यतिर्ज्ञाननिष्ठोऽपि, अतः श्रीपृथोः श्रीकृष्णकथारत्या तत्र तत्र न लोभो जात इत्यर्थः ॥४३२॥

आस्वाद्य प्रीत्या निशम्य; अन्यस्मिन् विषयभोगादौ मोक्षेऽपि स्पृहाम् ॥४३३॥

की आयुः हरण करते हैं, सुतरां तुम हम सबको हरिकथा श्रवण कराकर हमारे जीवनकाल को सार्थक करो ॥४३०॥

अथ परमवैराग्योत्पादकत्वम्

तृतीयस्कन्ध में विदुरोक्ति है—श्रद्धान्वित पुरुष की बुद्धि क्रमशः वृद्धिशीला होकर ग्राम्यसुख में वैराग्य उत्पन्न करती है, पश्चात् श्रीहरिपादपद्म के अनुस्मरण पुलकित करके आशु तदीय सकल दुःख विनष्ट करती है ॥४३१॥

चतुर्थस्कन्ध के श्रीपृथुचरितान्त में श्रीमैत्रेय की उक्ति है—नृपति पृथु के देह में आत्मबुद्धि विनष्ट होगई, एवं भगवत् स्वरूप प्राप्त होने से उपस्थित अणिमादि सिद्धि के प्रति भी आकाङ्क्षा उनकी नहीं रही, अतएव जिस ज्ञान से असम्भावनादि का आधार स्वरूप हृदयग्रन्थि छिन्न हुई, उसको भी उन्होंने परित्याग किया, कारण, यावत् श्रीहरिकथा में प्रीति नहीं होती है, तावत् काल ही योगिगण भोगगति में ममता त्याग करने में अक्षम होते हैं ॥४३२॥

एकादशस्कन्ध में श्रीभगवान् के प्रति उद्धव ने कहा है—हे कृष्ण! कर्णानन्ददायक एवं परममङ्गलकर तुम्हारे लीला विषयक आस्वादन करके मानवगण अन्य स्पृहा को विसर्ज्जन करते हैं ॥४३३॥

अथ संसारतारकत्वम्

चतुर्थे प्रचेतसः प्रति श्रीभगवदुक्तौ (३०।१९)—

गृहेष्वाविशताञ्चापि पुंसां कुशलकर्म्मणाम्। मद्वार्त्ता-यातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥४३४

अथ सर्व्वार्थप्रापकत्वम्

स्कान्दे तत्रैव—

धर्म्मार्थकाममोक्षानां यदिष्टञ्च नृणामिह। तत् सर्व्वं लभते वत्स कथां श्रुत्वा हरेः सदा ॥४३५

द्वादशे च श्रीशुकोक्तौ (४।४०)—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो,-र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण, पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्द्दितस्य ॥४३६॥

द्वारकामाहात्म्ये—

नित्यं कृष्णकथा यस्य प्राणादपि गरीयसी। न तस्य दुर्लभं किञ्चिदिह लोके परत्र च ॥४३७

द्वितीयस्कन्धे (३।१२)—

ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्म्मिचक्र,-मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः, को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्य्यात् ॥४३८॥

आविशताम् आसक्त्या निःसतामपि, कुशलं मदर्पितं कर्म्म येषाम्; मद्वार्त्तया यातो यामः कालः एक-प्रहरमात्रो वा येषां, न बन्धाय मताः, किन्तु संसारबन्धमोचनायैव मताः सद्भिरित्यर्थः ॥४३४॥

वत्स हे नारद; यद्वा, हरेर्वत्ससम्बन्धिकथां वत्सपालनलीलावार्त्तामित्यर्थः ॥४३५॥

त्रिविधं दुःखमेव दावानलः, तेनार्द्दितस्य पीड़ितस्य, अत उत्तितीर्षोः पुंसः भगवतो या लीलाकथास्तासां रसस्तन्निषेवणमन्तरेण अन्यः प्लवः उत्तरणसाधनं न भवेत ॥४३६॥

प्राणादपि कथा गरीयसीति—निजजीवनादपि कथाश्रवणादौ यस्यासक्तिरित्यर्थः ॥४३७॥

यत् यासु कथासु ज्ञानं भवति। कीदृशम्? आ सर्व्वतः प्रतिनिवृत्तम् उपरतं गुणोर्म्मीणां रागादीनां चक्रं समूहो यस्मात, तद्धेतुरात्मनो मनसः प्रसादश्च यत्र यासु। आत्मप्रसादहेतुः गुणेषु विषयेषु असङ्गो

अथ संसारतारकत्वम्

चतुर्थस्कन्ध में प्रचेतोगण के प्रति श्रीभगवान् का उक्ति यह है—हे वत्सगण! गृहाश्रम से बन्ध की उत्पत्ति होती है, सत्य है, किन्तु गृहाश्रम में प्रविष्ट होकर भी कर्मफल मुझको अर्पण करने पर एवं एक प्रहर काल मत्कथा प्रसङ्ग में अतिवाहित करने से गृहाश्रम कदाच बन्धनहेतु नहीं होता है ॥४३४॥

अथ सर्व्वार्थप्रापकत्वम्

स्कन्दपुराण के उक्त स्थल में लिखित है—वत्स नारद! इस संसार में यदि मनुष्यवृन्द की, धर्म, अर्थ, काम लाभ के प्रति इच्छा होती है, तब श्रीहरिकथा सर्वदा श्रवण करने से तत्समुदाय की प्राप्ति होगी। ४३५॥

द्वादशस्कन्ध में श्रीशुकदेव का कथन है—विविध दुःखदावाग्नि से पीड़ित एवं अति दुस्तर संसार-सिन्धु से उत्तरणेच्छु मानव के सम्बन्ध में पुरुषोत्तम श्रीभगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथारस सेवा व्यतीत अन्य उपाय नहीं है ॥४३६॥

द्वारकामाहात्म्य में उक्त है—जो मानव, नित्य श्रीहरिकथा को निज प्राण से भी अधिक महत्त्व देते हैं, उनको इस लोक किंवा परलोक में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥४३७॥

द्वितीयस्कन्ध में लिखित है—शुकदेव ने कहा, महाराज! हरिकथा में रति की कथा क्या कहूँ? हरि-कथा श्रवण करते करते एवं विध ज्ञानोदय होता है, जिससे विषय रागादि मूलतः विनष्ट हो जाते हैं, मन

अथ मोक्षाधिकत्वम्

दशमस्कन्धे श्रुतिस्तुतौ (८७।२१)—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो,-श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते, चरणसरोजहंसकुल-सङ्गविसृष्टगृहाः ।।४३९।।

तृतीयस्कन्धे श्रीकपिलदेवहूति-संवादे (२५।३४)—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि,-न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योऽन्यतो भागवताः प्रसज्य, सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ।।४४०।।

वैराग्यञ्च । उभयत्रेति पाठे इहामुत्र च गुणेष्वसङ्गः । अथ तत्तदनन्तरं कैवल्यमित्येव सम्मतः पन्था यो भक्तियोगः, स च भवति । निर्वृतः अन्यत्र श्रवणसुखेन निर्वृत इति वा ।।४३८।।

भो ईश्वर ! दुर्व्बोधं यत् आत्मनस्तव तत्त्वं, तस्य निगमाय ज्ञापनाय तवात्ततनोः आविष्कृतमूर्त्तेः चरितमेव महामृताब्धिः, तस्मिन् परिवर्त्तो विगाहस्तेन परिश्रमणाः परिवर्ज्जनार्थं श्रमणं श्रमः, गतश्रमा इत्यर्थः । यद्वा, तत् परिश्रमणमभ्यासो येषां ते; यद्वा, चरितमहामृताब्धेः परिवर्त्तास्तरङ्गास्तेषु परिश्रमणाः कृतपरिशीलनाः त्वन्मधुरकथारससेविन इत्यर्थः । अपवर्गमपि न परिलषन्ति नेच्छन्ति, कुतोऽन्यत् । केचिदिति एवम्भूता भक्तिरसिका विरला इति दर्शयति । न केवलमन्यन्नेच्छन्ति, किन्तु तेनैव सुखेन पूर्णाः सन्तः पूर्व्वसिद्धगृहादिसुखमप्युपेक्षन्ते इत्याह—तव चरणसरोजे हंसा इव रममाणा ये भक्तास्तेषां कुलं, तेन सङ्गस्तेन विसृष्टा गृहा यैस्ते तथा; यद्वा, चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्त-परिश्रमणत्वे हेतुः—'चरणसरोजहंसकुल-सङ्गविसृष्टगृहाः' इति । अर्थस्तु तथैव । श्रुतिश्च मुक्तेरप्याधिक्यं भक्तेर्दर्शयति—'यं सर्व्वे वेदा नमन्ति, मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च' इति । व्याख्यातञ्च सर्व्वज्ञैर्भाष्यकृद्भिः—'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते' इति ।।४३९।।

मोक्षादपि भक्तेर्गरिष्ठत्वमेवोपपादयति—नैकात्मतामिति, एकात्मतां सायुज्यमोक्षं, पादसेवाभिरतत्वमेवाह—मदीहा मदर्थमेव ईहाः श्रवणवागिन्द्रियादिव्यापारा येषाम् । तामेवाभिव्यञ्जयति—ये इति । प्रसज्य आसक्तिं कृत्वा पौरुषाणि वीर्य्याणि सभाजयन्ते श्रवणकीर्त्तनादिना सम्मानयन्ति । प्रसज्येत्यनेन अन्योऽन्य-प्रीतिहेतुः पौरुषभाजनस्य स्वाभाविको रसविशेषो दर्शितः, अतएव गरिष्ठत्वं सिद्धमिति दिक् ।।४४०।।

की प्रसन्नता होती है, एवं विषय वितृष्णारूप वैराग्योदय होता है, सुतरां उसको ही कैवल्य पथस्वरूप किंवा भक्तियोग कहा जाता है । अतएव विषय वितृष्ण ऐसा कौन व्यक्ति है, जो उस प्रकार श्रीहरिकथा में रति नहीं करेगा ? ।।४३८।।

अथ मोक्षाधिकत्वम्

दशमस्कन्धस्थ श्रुतिस्तुति में वर्णित है—हे ईश्वर ! दुर्बोध आत्मतत्त्व ज्ञापन के निमित्त आविष्कृतमूर्त्ति आपके चरित्ररूप महासमुद्र में अवगाहन से विगतश्रम व्यक्तिगण के मध्य में कतिपय व्यक्ति, आपके चरण-सरोज में हंसकुल के समान रममाण भक्तकुल के संसर्ग से परित्यक्ताश्रमी होकर मुक्ति पर्य्यन्त की भी वाञ्छा नहीं करते हैं ।।४३९।।

तृतीयस्कन्ध के श्रीकपिल-देवहूति-संवाद में लिखित है—हे मातः ! जो मेरी चरण-सेवा में अभिरत हैं, जिनकी मेरे निमित्त ही समस्त चेष्टा हैं, विशेषतः जो परस्पर मिलित होकर अनुरक्त चित्त से मदीय वर्णन में यत्नशील होते हैं, एतादृश कतिपय भागवतवृन्द तद्रूप मुक्ति अर्थात् मत्सह एकात्मता की वाञ्छा नहीं करते हैं ।।४४०।।

अथ वैकुण्ठलोकप्रापकत्वम्

द्वितीये श्रीसूतोक्तौ (२।३७)—

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां, कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं, व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ।।४४१।।

तृतीये कपिलदेवस्तुतौ (५।४५)—

पानेन ते देव कथासुधायाः, प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं, यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ।।४४२।।

स्कान्दे अमृतसारोद्धारे श्रीयमस्य दूतानुशासने—

ये शृण्वन्ति कथां विष्णोर्ये पठन्ति हरेः कथाम् ।
कलायुतं नावलोक्यं गतास्ते ब्रह्म शाश्वतम् ।।४४३।।
यस्य विष्णुकथालापैर्नित्यं प्रमुदितं मनः ।
तस्य न च्यवते लक्ष्मीस्तत्पदञ्च करे स्थितम् ।।४४४।।

सतां ज्ञानिनामात्मनः आत्मत्वेन प्रकाशमानस्य; यद्वा, सतां भक्तानामात्मनः परमप्रियस्य, श्रवणपुटेषु सम्भृतं पिबन्तीति सुखमादरेण, मुहुः शृण्वन्तीत्यर्थः। विषयैर्विदूषितं मलिनीकृतमाशयम्; यद्वा, विषयैर्विदूषित आश्रयो यस्य तमपि पुनन्ति शोधयन्ति, किमुतात्मानम्; किञ्च, तस्य चरणपद्मान्तिकं श्रीवैकुण्ठलोकं व्रजन्ति ।।४४१।।

वैराग्यं सारः बलं यस्य तम्; यद्वा, वैराग्यस्य सारः फलरूपं बोधं भगवद्भक्तिमाहात्म्यादिज्ञानं यथावत् प्रतिलभ्य लब्ध्वा अञ्जसा सुखेन अकुण्ठधिष्ण्यं श्रीवैकुण्ठलोकम् अन्वीयुः प्रापुः ।।४४२।।

ब्रह्मस्वरूपं शाश्वतं निरपायपदं श्रीवैकुण्ठलोकमित्यर्थः ।।४४३।।

तस्य विष्णोः पदं स्थानं श्रीवैकुण्ठलोकः, करे स्थितं सुलभमित्यर्थ ।।४४४।।

अथ वैकुण्ठलोकप्रापकत्वम्

द्वितीयस्कन्ध में श्रीसुत महाशय कहते हैं—भगवान् श्रीहरि, भक्तवृन्द के आत्मतत्त्व प्रकाशक हैं, उनके कथामृत को कर्णपुट में स्थापन कर जो मानव उसको पान करते हैं, उनका मन विषयों से दूषित होने पर भी, वे उसको शुद्ध करके श्रीविष्णु के चरण समीप में गमन करते हैं ।।४४१।।

तृतीयस्कन्ध के कपिलदेव स्तुति में वर्णित है—हे देव ! जिन मानवों का चित्त, तुम्हारी कथारूप अमृत पान द्वारा एवं वर्द्धनशील भक्ति द्वारा विमल होता है, वे वैराग्य का साररूप ज्ञान लाभ पूर्वक श्रीवैकुण्ठ-लोक में गमन करते हैं ।।४४२।।

स्कन्धपुराण के अमृतसारोद्धार में श्रीयमानुशासन में वर्णित है— हे दूतगण ! जो विष्णुकथा श्रवण करते हैं एवं विष्णुकथा कहते हैं, उनके अयुत कुल के प्रति दृष्टिपात न करना, वे सब वैकुण्ठलोक में पहुँच चुके हैं, ऐसा समझ लेना ।।४४३।।

विष्णुकथा से जिनका मन हर्षान्वित है, लक्ष्मी कदाच उनको परित्याग नहीं करती है, श्रीवैकुण्ठ-लोक भी उनका करतल स्थित है ।।४४४।।

अथ प्रेमसम्पादकत्वम्

द्वादशे (३।१५)—

यस्तूत्तमःश्लोकगुणानुवादः, संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं, कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥४४५॥

अथ श्रीभगवद्वशीकारित्वम्

स्कान्दे—

यत्र यत्र महीपाल वैष्णवी वर्त्तते कथा । तत्र तत्र हरिर्याति गौर्यथा सुतवत्सला ॥४४६॥

श्रीविष्णुधर्म्मे श्रीभगवदुक्तौ, स्कान्दे च श्रीभागवदर्ज्जुन-संवादे—

मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम् । मत्कथाप्रीतमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम् ॥४४७॥

दशमस्कन्धे ब्रह्मस्तुतौ (१४।३)—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव, जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम् ।
स्थानस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि,-र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥४४८॥

तमेव, न तु तद्व्यतिरिक्तं शृणुयात् । नित्यं प्रत्यहं, तत्राप्यभीक्ष्णं कृष्णे या अमला भक्तिः प्रेमलक्षणा तामभीप्समानः, गुणानुवादश्रवणेनैव सा सम्पद्यतेत्यर्थः ॥४४५॥

उदपास्य ईषदप्यकृत्वा, सद्भिर्मुखरितां स्वत एव नित्यं प्रकटिताम्; यद्वा, सन्तः संयतवाचोऽपि मुखरिता यया तां भवदीयां भवदीयानां वा भगवद्भक्तानामपि वार्त्ताम् । सत्स्थान एव स्थिताः, सत्सन्निधिमात्रेण सन्मुखरितत्वेन वा स्वत एव श्रुतिगतां श्रवणं प्राप्ताम्; तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तः सत्कुर्व्वन्तः ये जीवन्ति केवलं, न त्वन्यत् यद्यपि कुर्व्वन्ति, तैः प्रायशस्त्रिलोक्यामन्यैरजितोऽपि त्वं जितः प्राप्तः वशीकृतो वाऽसि । यद्वा, श्रुतिगतां वेदवर्त्तिनीं सन्मुखरितां भवदीयवार्त्तां प्रायशो नमन्तः, तदुद्देशेन नमनं कुर्व्वन्तोऽपि; अप्यर्थे एवकारः; प्रायश इति—कदाचिदशक्त्यादिना न नमन्तोऽपीत्यर्थः । जीवन्ति यद्यपि स्वप्राणान् पोषयन्ति; यद्वा, वार्त्तामुपजीवन्ति, तया निजजीविकां साधयन्ति । तथापि हे अजित ! त्रिलोक्यां सर्व्वत्रैवेत्यर्थः,

---

अथ प्रेमसम्पादकत्वम्

द्वादशस्कन्ध में श्रीशुकदेव बोले—हे राजन् ! श्रीकृष्ण-चरणयुगल में प्रेमलक्षण भक्ति लाभेच्छा से सर्वदा उनका अमङ्गलनाशक गुणानुवाद पूर्वक स्तव करना एवं नित्य वारम्बार उनका गुणानुवाद श्रवण करना ही पारमार्थिक जानना चाहिये ॥४४५॥

अथ श्रीभगवद्वशीकारित्वम्

स्कन्दपुराण में वर्णित है—हे भूप ! जहाँ जहाँ विष्णुकथा विद्यमान है, वहाँ वहाँ भगवान् हरि सन्तान वत्सला धेनु के समान गमन करते हैं ॥४०६॥

श्रीविष्णुधर्म के भगवद् वाक्य में एवं स्कन्दपुराण के भगवद्-अर्जुन-संवाद में वर्णित है—जो मनुष्य नित्य मेरी कथा कीर्त्तन करते हैं, मेरी कथा सुनने में अनुरागी होते हैं, और मेरी कथा के प्रति प्रीतियुक्त मानस हैं, मैं उन मनुष्य को कभी त्याग नहीं करता हूँ ॥४४७॥

दशमस्कन्ध की ब्रह्मस्तुति में वर्णित है— हे भगवन् ! जो मानव, मुक्तिविषयक ज्ञान के प्रति स्वल्प भी प्रयास परायण न होकर सज्जन के समीप में स्थित होकर साधुजन कर्त्तृक नित्य प्रकटित एवं स्वतः श्रुतिगत भवदीय वार्त्ता का अवलम्बन सत्कार पूर्वक काय-वाक्य-मन से करते हैं, वे अन्य कर्मानुष्ठान न करने पर भी त्रैलोक्य के मध्य में अपर के द्वारा आप जित न होने पर भी, वे आपको जीतते हैं, अर्थात् वे सहज में ही आपको प्राप्त कर लेते हैं ॥४४८॥

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता

तृतीये श्रीसनकादि-स्तुतौ (१५।४८)—

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं, किंवान्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः, कीर्त्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥४४६॥

चतुर्थे श्रीभगवन्तं प्रति सिद्धानां स्तुतौ (७।३५)—

अयं ते कथामृष्टपीयूषनद्यां, मनोवारणः क्लेश-दावाग्निदग्धः ।
तृषार्त्तोऽवगाढ़ो न सस्मार दावं, न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥४५०॥

अतएवोक्तं प्रथमस्कन्धे श्रीशौनकादिभिः (१।१६)—

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमःश्लोकविक्रमे । यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥४५१॥

तनुवाङ्मनोभिः कृत्वा तैरपि त्वं जितोऽसि, किं पुनर्यत्नतः सतां स्थाने गत्वा भक्त्या त्वत्कथाश्रवणादिपरैरित्यर्थः । तत्र तन्वा सह जितत्वं, सततविचित्रपरिचर्य्यादिशक्त्या, वाचा च सतत-त्वन्नामादिस्फूर्त्या, मनसा च सततचिन्तान्तराविर्भावेन; यद्वा, तैरेव तन्वादिभिः सह जितोऽसि, ततश्च तन्वा सह जितत्वं सततं श्रीमुर्त्तेः स्फूर्त्यादि, वाचा सह जितत्वञ्च तेनैव तत्स्तुत्यादिकं, मनसा सह जितत्वञ्च तेनैव तस्य ध्यानादिकमिति दिक् । अन्यत् समानम् । एवं ज्ञानानादरेण भगवत्कथाश्रवणपरताया माहात्म्यं दर्शितम् ॥४४८॥

आत्यन्तिकं मोक्षाख्यमपि ते प्रसादं वैकुण्ठलोकं वा ते न विगणयन्ति नाद्रियन्ते, किमुत अन्यत् ब्राह्मचादिपदम् । ते तव भ्रुव उन्नयैरुज्जृम्भैरर्पितं निहितं भयं यस्मिन् तत्; के ते ? अङ्ग हे भगवन् ! ये भवतः कथायाः रसज्ञाः, यतः कुशला निपुणाः, यतस्तदङ्घ्रयेकाश्रयाः । कथम्भूतस्य ? रमणीयत्वेन पावनत्वेन च कीर्त्तन्यं कीर्त्तनार्हं तीर्थञ्च यशो यस्य तस्य । एवं कथारसज्ञानां वैकुण्ठलोकानादरेण कथायाः स्वतः परमफलत्वं सिद्धम् ॥४४६॥

अयं मनोगजः त्वत्कथैव मृष्टं शुद्धं परममधुरं वा पीयूषं, तन्मयी या नदी, तस्यामवगाढ़ः प्रविष्टः दावाग्नितुल्यं संसारतापं न स्मरति स्म, न च ततो निर्गच्छति, तस्यैव स्वतः परमपुरुषार्थत्वात् । ब्रह्मसम्पन्नवत् — ब्रह्मैक्यप्राप्तोजनइव ॥४५०॥

एवं लीलाकथाश्रवणस्य पापादिशोधकत्वमारभ्य स्वतः परमपुरुषार्थतान्तं माहात्म्यं यथोत्तरश्रैष्ठ्यं क्रमेण लिखित्वा इदानीं केषुचिद्वचनेषु पूर्व्ववत् साक्षान्माहात्म्याभिधायकत्वाभावेऽपि तात्पर्य्येण तत्रैव

अथ स्वतः परमपुरुषार्थता

तृतीयस्कन्ध में श्रीसनकादि की स्तुति में लिखित है—हे भगवन् ! तुम्हारे यशः, कीर्त्तन करने के योग्य, तीर्थस्वरूप, अतिशय रमणीय, एवं परम पवित्र है । जो सब भगवच्चरणाश्रित विज्ञ व्यक्ति, तुम्हारी कथा में रसज्ञ हैं, वे आत्यन्तिक प्रसादरूप मुक्तिपद को भी नहीं गिनते हैं । विशेषतः तुम्हारी भ्रूभङ्गीभीति सङ्कुल अन्य इन्द्रादि पद की कथा ही क्या है ? ॥४४६॥

चतुर्थ स्कन्ध में श्रीभगवान् के प्रति सिद्धवृन्द की स्तुति में प्रकाशित है—हे भगवन् ! हमारा मनोमातङ्ग संसार क्लेश रूप दावाग्नि में दग्ध एवं तृष्णा से आर्त्त है । इस हेतु श्रीहरि-संकीर्त्तनरूप विशुद्ध अमृत नदी में अवगाहन स्नान करें, क्योंकि ऐसा होने से भव-सन्तापरूप दावाग्नि विस्मृत होगा एवं परब्रह्म के सहित ऐक्यप्राप्तजन के समान होने के कारण वहाँ से पुनर्वार निष्क्रमण नहीं होगा ॥४५०॥

अतएव प्रथमस्कन्ध में शौनकादि ने कहा है—हे सूत ! हम सब याग, योग प्रभृति अनुष्ठान में सुतृप्त हैं, किन्तु उत्तमश्लोक श्रीहरि के चरित्र श्रवण करते करते अभी तक वितृष्णा नहीं हुई है, कारण, उनके श्रवण से रसज्ञ व्यक्ति के पक्ष में पद पद में स्वादु से भी अतीव स्वादु बोध होता है ॥४५१॥

किञ्च (श्रीभा ११।१८।१४)—

को नाम लोके रसवित् कथायां, महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु,-र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ।।४५२।।

तृतीये श्रीविदुरेण (५।७)—

क्रीड़न् विधत्ते द्विजगोसुराणां, क्षेमाय कर्म्माण्यवतारभेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः, सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ।।४५३।।

दशमस्कन्धे च श्रीपरीक्षिता (५२।२०)—

ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः ।
को नु तृप्येत शृणुवान् श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः ।।४५४।।

पर्य्यवसानान्माहात्म्यदाढर्य्यायैव तानि संगृह्णाति—वयन्त्वित्यादिना सेव्यतामित्यन्तेन । एवमग्रेऽप्यन्यत्र बोद्धव्यम् । योगयागादिषु तृप्ताःस्म, उद्गच्छति तमो यस्मात् स उत्तमः, तथाभूतः श्लोका यशो यस्य तस्य विक्रमे तु विशेषेण न तृप्यामः, अलमिति न मन्यामहे । अत्र हेतु—यद्विक्रमं शृण्वतां, यद्वा, अन्ये तृप्यन्तु नाम, वयन्तु नेति तु-शब्दस्यान्वयः । अयमर्थः—त्रिधा ह्यलंबुद्धिर्भवति, उदरादिभरणेन वा, रसाज्ञानेन वा, स्वादविशेषाभावाद्वा । अत्र शृण्वतामित्यनेन श्रवणस्याकाशत्वात् न भरणमित्युक्तम् । रसज्ञानामित्यनेन च अज्ञानतः पशुवत्तृप्तिर्निराकृता । इक्षुभक्षणवद्रसान्तराभावेन तृप्तिं निराकरोति—पदे पदे प्रतिक्षणं स्वादुतोऽपि स्वाद्विति ।।४५१।।

रसवित् रसज्ञः, महत्तमानां श्रीनारदादीनामेकान्तं परमयनमाश्रयो यस्तस्य कथायाम्, अगुणस्य प्राकृत-गुणरहितस्य, कल्याणगुणानामन्तं ये योगेश्वरास्तेऽपि न जग्मुः, एतावन्त इति न परिगणयाञ्चक्रुः । भवः शिवः, पाद्मो ब्रह्मा च मुख्यो येषां ते ।।४५२।।

मत्स्याद्यवतारभेदैः क्रीड़न् यानि विचित्राणि कर्म्माणि विधत्ते, तानि सुश्लोकमौलेः सुश्लोकाः पुण्यकीर्त्तय-स्तेषां मौलिरिवाधिक्येनोपरि विराजमानस्तस्य चरितामृतानि शृण्वतामपि नोऽस्माकं मनो न तृप्यति ।।४५३

पुण्याः महाफलाः, माध्वीः श्रुतिसुखाः, लोकस्य मलापहाश्च शृणुवान् शृण्वन्नित्यर्थः; श्रुतज्ञः श्रुतसारवित्, नित्यनूतनाः प्रतिक्षणमाश्चर्य्यवत् प्रतीयमानाः ।।४५४।।

और भी वर्णित है—शौनकादिक ने कहा—हे सूत ! महत्तम मानववृन्द का एकमात्र आश्रय एवं प्राकृत गुण रहित भगवान् श्रीकृष्ण के मङ्गलकर गुणसमूह का अन्त, योगेश्वर शिव ब्रह्मादि भी प्राप्त नहीं हुए हैं। अतः उन श्रीहरि की कथा में कौन रसज्ञ मानव तृप्त हो सकते हैं ।।४५२।।

तृतीयस्कन्ध में श्रीविदुर ने भी कहा है—हे ब्रह्मन् ! भगवान् मत्स्यादि अवतार ग्रहणपूर्वक क्रीड़ाकरतः गो, ब्राह्मण एवं देवगण के मङ्गल के निमित्त जो जो कर्म करते हैं, उसका वर्णन आप करें, पुण्यश्लोक शिरोमणि भगवान् श्रीहरि का चरितामृत जितना ही क्यों न सुनें—किसी से भी मन की तृप्ति का अन्त नहीं होता ।।४५३।।

दशमस्कन्ध में भी श्रीपरीक्षित् का कथन इस प्रकार है—श्रीकृष्ण की कथा महाफलप्रदा, श्रुतिसुखदा, लोकमलपहा एवं नित्य नव-नवायमाना, अर्थात प्रतिक्षण में आश्चर्य्यवत् प्रतीयमाना है। उसको सुनकर श्रुतज्ञ व्यक्ति क्या तृप्त हो सकते हैं ? अतएव उसका वर्णन आप करें ।।४५४।।

अतो हि श्रीपृथुराजेन प्रार्थितम् (श्रीभा ४।२०।२४) —

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि,-न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।

महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो, विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥४५५॥

अतएव निश्चित्योक्तं पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये अम्बरीषं प्रति श्रीनारदेन —

नातः परं परमतोष-विशेषतोषं, पश्यामि पुण्यमुचितञ्च परस्परेण ।

सन्तः प्रसज्य यदनन्तगुणाननन्त,-श्रेयोविधीनधिकभावभुजो भजन्ति ॥४५६॥

प्रथमस्कन्धे श्रीसूतेन (१८।१०)—

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्म्मणः ।

गुणकर्म्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः ॥४५७॥

दशमस्कन्धशेषे च श्रीबादरायणिना (१०।४८)—

इत्थं परस्य निजधर्म्मरिरक्षयात्त,-लीलास्तनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।

कर्म्माणि कर्म्मकषणानि यदूत्तमस्य, श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥४५८॥इति ।

महत्तमानामन्तर्हृदयान्मुखद्वारा निर्गतो युष्माकं तव त्वदीयानाञ्च पदाम्भोज-मकरन्दयशःश्रवणसुखं यत्र नास्ति, तत् कैवल्यमपि क्वचित् कदाचिदपि न कामये। तर्हि किं कामयसे? तदाह—यशःश्रवणाय कर्णानामयुतं विधत्स्व। ननु कोऽप्येवं न वृतवानस्ति? किमन्यच्चिन्तय? इत्याह—मम तु एष एव वर इति ॥४५५॥

परस्परेण आसज्य अन्योन्यमासक्तिं कृत्वा अनन्तस्य भगवतो गुणान्, अधिकभावभुजः भक्तिविशेषयुक्ताः सन्त इत्यर्थः ॥४५६॥

किं बहुना, एतावदेव कर्त्तव्यमिति सर्व्वशास्त्रसारं कथयति— या या इति। कथनीयानि उरूणि कर्म्माणि यस्य तस्य, गुणकर्म्माश्रया गुणकर्म्मविषयाः, बुभूषुभिः सद्भावमिच्छद्भिः ॥४५७॥

इत्थमुक्तप्रकारेण निजधर्म्मो भगवद्धर्म्मः, तस्य रिरक्षया स्वीकृतमत्स्यकूर्म्मादिनानामूर्त्तेः परमेश्वरस्य विशेषतो यदूत्तमस्य सतः तदनुरूपानुकारीणि कर्म्मकषणानि कर्म्मनिबन्धननिरसनानि कर्म्माणि च चरितानि श्रूयात् शृणुयादित्यर्थः। यद्वा, भवान् श्रूयादिति श्रीपरीक्षितं प्रति; यद्वा, सर्व्वोऽपि जनः श्रूयादिति सर्व्व-लोकं प्रति श्रीबादरायणेराशीः, एवमपि तदेव तात्पर्य्यम्। अनुवृत्तिं तदेकनिष्ठताम् ॥४५८॥

चतुर्थ स्कन्ध में श्रीपृथुराज की प्रार्थना यह है—हे प्रभो! मैंने आपको "कैवल्यपति" शब्द से सम्बोधन किया है, इससे आप न समझें कि मैं मुक्ति प्रार्थी हूँ। हे नाथ! मोक्षपद में भी यदि महत्तम साधुपुरुषगण के वदनकमल द्वारा हृदयाभ्यन्तर से आपके पदाम्बुज का मकरन्द प्राप्त करने की आशा हो तो, अर्थात् आपका यशः श्रवण द्वारा सुख प्राप्ति की सम्भावना न हो तो उक्त पद प्राप्ति की प्रार्थना मैं कदाच नहीं करता हूँ। मैं यह वर चाहता हूँ कि हृदय पूर्ण कर आपका यशः सुन सकूँ तज्जन्य मुझको आप दश हजार कर्ण प्रदान करें ॥४५५॥

अतएव पद्मपुराण के वैशाख माहात्म्य में श्रीअम्बरीष के प्रति श्रीनारद ने निश्चय कर कहा है—भक्ति विशेषयुक्त भगवद्भक्तगण, परस्पर आसक्त होकर अनन्त भगवान् के अनन्त गुणसमूह का जो भजन करते हैं, तदपेक्षा परम परितोष का विशेष पोषक, समुचित पुण्य और दृष्ट नहीं होता है ॥४५६॥

प्रथमस्कन्ध में श्रीसुत वाक्य इस प्रकार है—अद्भुत कर्मा भगवान् के गुण कर्म विषयक जो कथा है, सद्भावनाभिलाषी व्यक्तिमात्र के पक्ष में ही उसका श्रवण करना उचित है ॥४५७॥

दशमस्कन्ध के शेष में श्रीशुक वाक्य इस प्रकार है—जिन्होंने निज धर्म रक्षा के निमित्त लीलाविग्रह

अतः कृष्णकथायान्तु सत्यामन्यकथाश्रुतिम्। तदश्रुतिञ्च वैमुख्यं तस्यां तृप्तिमपि त्यजेत्। ४५९

अथ श्रीभगवत्कथात्यागादिदोषः

तृतीयस्कन्धे कपिलदेवहूति-संवादे (३२।१९)—

नूनं दैवेन निहता ये चाच्युतकथासुधाम्। हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥४६०

तत्रैव श्रीवैकुण्ठवर्णने (१५।२३)—

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा,-च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।

यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा,-स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥४६१॥

किञ्च, स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

वाच्यमानन्तु ये शास्त्रं वैष्णवं पुरुषाधमाः। न शृण्वन्ति मुनिश्रेष्ठ तेषां स्वामी सदा यमः ॥४६२

अतोऽस्मालिलिखिताद्धेतोः, सत्यां वर्त्तमानायान्तु अन्यकथायाः श्रुति श्रवणं, तथा तस्याः कृष्णकथाया अश्रुतिमश्रवणं, तथा तस्यां कृष्णकथायां वैमुख्यम्, अश्रद्धया बलात्ततः पराङ्मुखत्वमित्यर्थः। तृप्तिं किञ्चित् श्रवणानन्तरं तत्र विरक्तया अलंबुद्धिमपि त्यजेत् वर्ज्जयेत् ॥४५९॥

एतदेव क्रमेण दर्शयति—नूनमित्यादिना पशुघ्नादित्यन्तेन। तत्रादौ अन्यकथाश्रवणदोषं लिखति—नूनमिति द्वाभ्याम्। ये तु अच्युतस्य कथासुधां हित्वा असतां गाथां शृण्वन्ति, ते नूनं दैवेन निहताः ॥४६०॥

यत् वैकुण्ठं न व्रजन्ति; के? ये कुकथाः शृण्वन्ति। कास्ताः? अघं पापं संसारदुःखं वा भिनत्ति नाशयतीति; यद्वा, अघासुरं भिनत्ति मूर्ध्नि विदारितवान् यः, सोऽघभित् तस्य, श्रीकृष्णस्य रचना सृष्ट्यादि-लीला, शाद्वलजेमनादक्रीड़ा वा, तस्य अनुवादात् कथनादन्यविषयाः अर्थकामादिवार्त्ता यागयोगाद्याश्रया वा मतिभ्रंशिकाः। तेषामव्रजने हेतुः—अशरणेषु निराश्रयेषु, यद्वा, न केवलं तेषां तत्राव्रजनमात्रं, ताभिश्च तेषां पुण्यक्षयो दुस्तर-नरकपातश्च भवतीत्याह—यास्तु हतभाग्यैरेव नरैः श्रुताः सत्यस्तांस्तान् श्रोतॄन् अशरणेषु निराश्रयेषु तमःसु नरकेषु क्षिपन्ति। हन्त खेदे; कथम्भूताः? आत्तं सारं श्रोतॄणां पुण्यं याभिस्ताः ॥४६१॥ अथाश्रवणदोषं लिखति—वाच्यमानन्तु इत्यादि चतुर्भिः। सदा यमः स्वामीति, सततं नरके वास इत्यर्थः ॥४६२॥

अर्थात् लीला से देह धारण किया है, उनके चरण-कमल के प्रति एकनिष्ठा प्राप्त्यभिलाषी व्यक्तिगण के पक्ष में यदूत्तम श्रीकृष्ण के तदनुरूप कर्म एवं चरितसमूह का श्रवण करना कर्त्तव्य है ॥४५८॥

अतएव कृष्ण-कथा की विद्यमानता में अन्य कथा श्रवण, भगवत्-कथा का श्रवण न करना, अश्रद्धा-पूर्वक कृष्ण-कथा में पराङ्मुख होना एवं कृष्ण-कथा में तृप्त होना अर्थात् किञ्चित् श्रवण करके विरक्ति पूर्वक अलंबुद्धि प्रकाश करना इन सब बातों को छोड़ देना चाहिये ॥४५९॥

अथ श्रीभगवत्कथात्यागादिदोषः

तृतीयस्कन्ध के कपिल-देवहूति-संवाद में वर्णित है—जो मनुष्य, भगवान् अच्युत के कथामृत को परित्याग कर विष्ठाभोजी शूकर के पुरीषभोजन के समान असत्गाथासमूह का श्रवण करते हैं, उन सबको निश्चय ही दैवहत जानना होगा, अर्थात् वे सब भाग्यहीन होते हैं ॥४६०॥

तृतीयस्कन्ध के वैकुण्ठ वर्णन में लिखित है—जो मनुष्य, पापनाशन, श्रीभगवान् के सृष्ट्यादि लीलानुवाद से पराङ्मुख होकर अर्थकामादि विषयक मतिविभ्रंशिका कुकथा श्रवण करते हैं, वे सब कभी भी वैकुण्ठ गमन नहीं कर सकते हैं। उसके दौर्भाग्य की कथा क्या कहूँ। अन्य विषयक कुकथा श्रवण, उन सबको पूर्वार्जित पुण्यसमूह का अपहरणकर निराश्रय निरय में निक्षेप करता है ॥४६१॥

और भी स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में उक्त है—जो सब नराधम मनुष्य, पठ्यमान वैष्णवशास्त्र

न शृण्वन्ति न हृष्यन्ति वैष्णवीं प्राप्य ये कथाम् ।
धनमायुर्यशो धर्म्मः सन्तानश्चैव नश्यति ॥४६३॥

न शृणोति हरेर्यस्तु कथां पापप्रणाशिनीम् । अचिरादेव देवर्षे समूलन्तु विनश्यति ॥४६४॥

द्वितीयस्कन्धे श्रीशौनकोक्तौ (३।२० —

बिले बतोरुक्रम-विक्रमान् ये, न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत, न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥४६५॥

तृतीये श्रीब्रह्मस्तुतौ (९।७, ५।१४)—

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्, सर्व्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्व्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना, लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥४६६॥
तान् शोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे, हरेः कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषा,-मायुर्वृथावाद-गतिस्मृतीनाम् ॥४६७॥

न शृण्वतः अशृण्वतो नरस्य ये कर्णपुटे, ते बिले वृथारन्ध्रे इत्यर्थः । न चेदुपगायति, तस्य जिह्वा असती दुष्टा, दर्दुरो भेकस्तदीय-जिह्वेव ॥४६५॥

वैमुख्यदोषं लिखति—दैवेनेति द्वाभ्याम् । प्रसङ्गात् श्रवणकीर्त्तनादिरूपात् कथाया वा, सर्वाणि अशुभानि अमङ्गलानि दुःखानि वा उपशमयतीति तथा तस्मात् । विमुखानि अश्रद्धया निवृत्तानि इन्द्रियाणि येषां ते, विमुखेन्द्रियत्वं तत्फलं तद्धेतुं वा अभिव्यञ्जयति - कुर्व्वन्तीति । अकुशलानि अक्षेमकराणि कर्म्माणि ॥४६६॥

एवम्भूतायां कथायां ये न रमन्ते, शोच्यशोच्यान्—शोच्या ये तेषामपि शोच्यान्, ततः अविदः भारतादि-तात्पर्य्यानभिज्ञान् हरिकथानभिज्ञान् वा शोच्यान् । ये ज्ञात्वापि हरेः कथायां विमुखास्तान्, तेषामपि शोच्यानिति योज्यम । अनिमिषः कालो येषामायुः क्षपयति, अत्र हेतुः—वृथैव भगवत्कथावैमुख्येन विफला वादगतिस्मृतयः वाग्देहमनोव्यापारा येषां तेषाम् ॥४६७॥

श्रवण नहीं करते हैं, हे मुनिश्रेष्ठ ! सर्वदा उनके पक्ष में यमराज ही प्रभु हैं । अर्थात् वे सब निरन्तर नरक में वास करते हैं । जो मनुष्य वैष्णवी कथा प्राप्त कर भी उसका श्रवण नहीं करते हैं, एवं उससे हर्षान्वित नहीं होते हैं, उनके धन, आयु, यशः, धर्म एवं सन्तान विनष्ट होते हैं । हे देवर्षे ! जो मनुष्य, पापप्रणाशिनी श्रीहरि-कथा श्रवण नहीं करते हैं, वे मूलतः विनष्ट होते हैं ॥४६२-४६४॥

द्वितीयस्कन्ध में श्रीशौनकोक्ति में लिखित है—मनुष्य के जो कर्णद्वय हरिकथा श्रवण में पराङ्मुख हैं, वे दोनों वृथा छिद्र स्वरूप ही हैं । एवं जो दुष्टा जिह्वा भगवत्कथा का गान नहीं करती है, वह भेक जिह्वा के सदृश है ॥४६५॥

तृतीयस्कन्ध में श्रीब्रह्मस्तुति में लिखित है—जो मनुष्य, भवदीय सर्वदुःख निवर्त्तक लीला-कथा-प्रसङ्ग से विमुख होकर तुच्छ कामसुखाशा से लुब्ध होकर निरन्तर अमङ्गलकर कार्य्य करते रहते हैं, वे सब निश्चय ही दुर्भाग्यवशतः अत्यन्त हतबुद्धि हैं ॥४६६॥

तृतीयस्कन्ध में श्रीविदुर वाक्य यह है—पापवशतः हरिकथा में पराङ्मुख, शोच्यवर्ग से भी शोचनीय उन मूढ़ व्यक्तिगण के निमित्त मैं चिन्तित हूँ, जो वृथा कायिक, वाचिक, मानसिक प्रयत्न में रत हैं, एवं जिनकी आयु निरन्तर काल के द्वारा अपहृत हो रही है ॥४६७॥

श्रीमैत्रेयोक्तौ च (श्रीभा ३।१३।५०)—

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्, पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा,-महो विरज्येत विना नरेतरम् ॥४६८॥

चतुर्थे श्रीपृथुस्तुतौ च (२०।२६)—

यशः शिवं सुश्रव आर्य्यसङ्गमे, यदृच्छया चोपशृणोति तेऽसकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं, श्रीर्यत् प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया ॥४६९॥

दशमारम्भे श्रीपरीक्षितप्रश्ने (१।४)—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना,-द्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमःश्लोकगुणानुवादात्, पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥४७०॥

तृप्तिदोषं लिखति—को नामेति त्रिभिः । पुराकथानां पूर्व्ववृत्तानां मध्ये भगवत्कथासुधां कथञ्चिदापीय को विरज्येत ? विरमेत् विरक्तचा तृप्तिं यातीत्यर्थः । नरेतरं पशुं विना, सारासारज्ञानाभावात् ॥४६८॥

ननु भक्तिर्मुक्तिफला, अतः फलं विहाय साधने कोऽयमाग्रह ? इत्याशङ्क्याह—यश इति । हे सुश्रवो मङ्गलकीर्त्ते ! शिवं परमसुखात्मकं ते यशः सतां सङ्गमे यः सकृदपि यदृच्छयापि उप श्रोतृणां समीपे उपविष्टगात्रोऽपि शृणोति, गुणज्ञश्चेत् कथामाहात्म्याभिज्ञश्चेत्, स कथं विरमेत् ? पशुं विना—पशुरेव विरमति, नान्य इत्यर्थः । गुणातिशयं सूचयति, श्रीर्यत् यश एव प्रकर्षेण वृतवती. गुणानां सर्व्वपुरुषार्थानां संग्रहः समाहारस्तदिच्छया, अतो यशःसेवयैव परमानन्दोऽवान्तरफलत्वेनाखिलार्थसिद्धिरपीति; किं मूलपरित्यागेन पत्रमात्रच्छायाश्रयणेनेति दिक् । अथवा मत्कथाश्रवणमात्रेण कृतार्थ एवासि, किं पुनस्तच्छ्रवणाग्रहेण ? तत्राह—यश इति । अन्यथा गुणज्ञत्वाभावेन पशुत्वापत्तेरिति भावः, अन्यत् समानम् ॥४६९॥

अत्र लोके त्रिविधा जनाः—मुक्ता मुमुक्षवो विषयिणश्च, तेषां मध्ये कस्यापि नात्रालंप्रत्यय इत्याह—निवृत्ततर्षैरिति, गततृष्णैर्मुक्तैरपीत्यर्थः । मुमुक्षूणां परमो विषयोऽयमेवेत्याह—श्रोत्रमनोऽभिरामादिति । उत्तमः श्लोकस्य श्रीकृष्णस्य गुणा भक्तवात्सल्यादयः; यद्वा, उत्तमश्लोका युधिष्ठिरादयो भगवद्भक्तास्तेषामपि गुणा महिमानः, तेषामनुवादः कथनं तस्मात्; यद्वा, अनुवादयतीति अनुवादः श्रवणं, श्रोतृणां श्रवणेनैव वक्तुर्वचनप्रवर्द्धनात् ; यद्वा , अनुवादः कथा आख्यायिकेत्यर्थः , तस्मात् को विरज्येत , निर्विण्णो भवेत्

श्रीमैत्रेयोक्ति में प्रकाशित है—अहो ! जगत् में पशुव्यतीत पुरुषार्थ सारवेत्ता कौन मनुष्य पुराण में कथित संसार नाशक हरिकथारूप अमृत का पान श्रवणाञ्जलि के द्वारा नहीं करते हैं ॥४६८॥

चतुर्थस्कन्ध में श्रीपृथुमहाराज का कथन है—हे भगवन् ! मैं फलस्वरूप मुक्ति को परित्याग करके साधनाङ्ग भक्ति की प्रार्थना करता रहता हूँ, इससे आप कुछ मन में न करें। परम मङ्गलस्वरूप भवदीय यशः, साधुसङ्ग द्वारा यदृच्छाक्रम से जिस मनुष्य के कर्णगोचर होता है, गुणज्ञ होने से, वह क्या उससे विरत होगा ? फलतः पशुव्यतीत कोई भी व्यक्ति उससे निवृत्त होने का इच्छुक नहीं हैं। कारण, स्वयं पद्मालया कमला भी समस्त पदार्थ संग्रहेच्छु होकर उक्त यशः श्रवणाभिलाषिणी हुई थीं ॥४६९॥

दशमस्कन्ध के आरम्भ में श्रीपरीक्षित् प्रश्न में सुव्यक्त है—हे ब्रह्मन् ! इस जगत् में त्रिविध मनुष्य हैं, मुक्त, मुमुक्षु एवं विषयी। इन तीनों के मध्य में किसी का भी भगवत् चरित्र श्रवण में अलंबुद्धि नहीं होती है। फलतः उत्तमश्लोक भगवान् का गुणानुवाद, मुक्तजन कर्त्तृक सतत परिकीर्त्तित है। वह भवरोग विनाशक परमौषध है, मुमुक्षुवृन्द का मोक्षोपाय है। श्रवणमनोऽभिराम होने के कारण विषयीवृन्द का भी एकमात्र उपजीव्य है। अतएव आत्मघाती पशुव्यतीत कौन मनुष्य उससे विरत होगा ? ॥४७०॥

अतएवोक्तं देवैः पञ्चमस्कन्धे (१९।२३)—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा, न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।

न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः, सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ।।४७१।।

अतो निषेव्यमाणाञ्च सर्व्वथा भगवत्कथाम् । मुहुस्तद्रसिकान् पृच्छेन्मिथो मोदविवृद्धये ।।४७२

विरमेदित्यर्थः । एवं मुक्तानां परमफलत्वेन मुमुक्षूणां संसारदुःख-विनाशनात्मानन्द-प्रकाशनयोः परमसाधनत्वेन, विषयिणां चेन्द्रियसुखप्रदत्वेन सदा सेव्यत्वान्न केषाञ्चिदपि तृप्तिरुचितेति भावः । यद्यपि मुक्तानां मुमुक्षूणामपि वस्तु-स्वभावतः श्रोत्रमनोऽभिरामत्वं स्यादेव, तथापि 'एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं, वाञ्छन्ति ये वै भगवत्-प्रपन्नाः । अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं, गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ।।' (श्रीभा ८ ३।२०) इत्यादि-न्यायेन श्रीनारदादीनामिव, 'जितन्ते पुण्डरीकाक्ष' इत्यादि-संकीर्त्तनपर-श्रीश्वेतद्वीपनिवासिनामिव च मुक्तानां प्रायः कीर्तनपरत्वेन वहिरन्तश्चानन्दरसनिमग्नत्वात्, तथा मुमुक्षूणां केवलं मोक्षमात्रापेक्षया वहिःश्रोत्रमनोऽभि-रामतानपेक्षणात् । इन्द्रियसुखैकापेक्षकाणां विषयिणामेव विषयासक्त्या लज्जादिना च कीर्त्तनासम्भवात् श्रवणमात्रद्वारा श्रोत्रमनोऽभिरामत्वमुक्तम्; यद्वा, उपगानेन मुक्तानामपि स्वत एव श्रोत्रमनोऽभिरामता सिध्यत्येव, मुमुक्षूणाञ्च भवौषधत्वेन सदा तत्कीर्त्तन-श्रवण-स्मरणम्, तेन च तत्तदिन्द्रियाभिरामत्वं सिध्यत्येव । विषयिणाञ्च पूर्व्वोक्तयुक्त्या केवल-श्रोत्रमनसोरेवाभिरामत्वम् । यद्यपि विषयिणामपि कदाचित् ज्ञानादिना वागभिरामत्वमपि घटेत, तथापि श्रीपरीक्षिता निजश्रवणापेक्षया श्रीगुणगौरवेण च तथोक्तम् । एवं गुणानु-वादस्य साध्यत्वं साधनत्वञ्च दर्शितम् । तत्र स्तुतिक्रमोल्लङ्घनेन साध्यत्वात् पश्चात् साधनत्वोक्तिः, श्री-परीक्षितो विनयभरेण विषयिषु निजान्तःपातविवक्षया । अतः सर्व्वथा सर्व्वसेव्यात्तस्मात् को विरज्येत ? किञ्च, पुमांश्चेत्, स्त्रीवदशक्तः क्लीवचित्तश्च कथञ्चिद्विरज्येतापीत्यर्थः; यद्वा, पुंस एव सर्व्वत्र प्राधान्यात् पुमानित्युक्तम् । तेन च सर्व्वोऽपि जन उपलक्ष्यते । अपगता शुक् शोको यस्मात् तमात्मानं हन्तीति अपशुघ्नस्तस्मात्, 'घुटो धुट्येव वर्गे' इति गकारलोपः । पशुघातिनो व्याधादिति वा । विषयित्व सम्भवेऽपि पशुघातार्थनिरन्तरारण्यपरिभ्रमणादि-महादुःखेन लोकद्वय-सुखोपेक्षया विषयित्वस्याप्यसिद्धेः पृथग्निर्द्देशः । अस्मिन् श्लोके आपीयेत्याद्यभावेऽपि श्रवणानन्तरं को विरज्येतेत्येव ज्ञेयम् । नवमस्कन्ध-कथाश्रवणानन्तरमेव श्रीपरीक्षित एवैतदुक्तेरिति दिक् । अलमतिविस्तरेण ।।४७०।।

यत्र वैकुण्ठकथामृतनद्यो न सन्ति, मधुरमधुरा भगवत्कथाः सततं न वर्त्तन्ते, यद्वा, वैकुण्ठस्य कथासुधा आपगाश्च श्रीगङ्गायमुनादिनद्यः, वैकुण्ठ शब्देन तत्कथासुधापगानामप्यकुण्ठत्वं सर्व्वथा सूचितम् । तदाश्रयाः कथापगाश्रयाः, महान्तो नृत्याद्युत्सवा येषु तथाभूता, यज्ञेशस्य विष्णोर्मखाः पूजाः; यद्वा, महोत्सवाश्च जन्माष्टम्यादिविषयकाः, यज्ञेश-शब्देन स एव मखयोग्यः, न त्वन्य इत्यभिप्रेतम् । यद्वा, गोवर्द्धन-मख-प्रवर्त्तक-स्तद्यज्ञभोक्ता श्रीगोवर्द्धनधरः श्रीकृष्णोऽभिहितः । सुरेशस्य ब्रह्मणोऽपि लोको न सेव्यतां, श्रद्धया चिरं नोपभुज्यतां, किन्तु द्रुतमेव परित्यज्यतामित्यर्थः; यद्वा, सेवितुं न गम्यतामित्यर्थः । वै प्रसिद्धौ ।।४७१।।

अतोऽस्मान्माहात्म्यविशेषाद्धेतोः, अप्यर्थे चकारः, सर्व्वथा श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणाद्यखिल-प्रकारेण निरतां सेव्यमानामपि, मिथः प्रष्टृश्रोतृवक्तॄणामन्योऽन्यं प्रीतिविवृद्धये भगवत्कथारसिकान् पृच्छेत ।।४७२।।

अतएव पञ्चमस्कन्ध में देवगण की उक्ति है—जहाँ पर भगवान् की कथारूप सुधावाहिनी नदी नहीं है, जहाँ भक्त एवं भगवान् का अधिष्ठान नहीं है, जिस स्थान में नृत्यादि महोत्सव समन्वित यज्ञेश्वर भगवान् की यज्ञरूप पुजा नहीं होती है, वह स्थान ब्रह्मलोक होने पर भी सेवन के योग्य नहीं है ।।४७१।।

अतएव भगवत् कथा श्रवण सर्व प्रकार होने पर भी भगवत् कथा रसिक व्यक्तिगण के निकट उसकी जिज्ञासा बारम्बार करनी चाहिये, ऐसा होने पर पारस्परिक आनन्द वृद्धि होती है ।।४७२।।

अथ भगवत्कथासक्तिः

दशमस्कन्धे (१३।२)—

सतामयं सारभृतां निसर्गो, यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत्, स्त्रिया विटानामिव साधुवार्त्ता ॥४७३॥

अतएव तत्रैव (श्रीभा १०।८७।११)—

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः । अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥४७४॥इति ।
तथा वैष्णवधर्म्मांश्च क्रियमानामपि स्वयम् । संपृच्छेत्तद्विदः साधुनन्योऽन्यप्रीतिवृद्धये ॥४७५॥
श्रद्धया भगवद्धर्म्मान् वैष्णवायानुपृच्छते । अवश्यं कथयेद्विद्वानन्यथा दोषभाग्भवेत् ॥४७६॥

तदुक्तम्—

नाख्याति वैष्णवं धर्म्मं विष्णुभक्तस्य पृच्छतः ।
कलौ भागवतो भूत्वा पुण्यं याति शताब्दिकम् ॥४७७॥

सारभृतां सारग्राहिणां सतामयमेव निसर्गः स्वभावः । कोऽसौ ? अच्युतस्य वार्त्ता प्रतिक्षणं साधु यथा स्यात्तथा नव्यवद्भवतीति यत् । विटानां स्त्रैणानां स्त्रियाः कामिन्या वार्त्तेव । कथम्भूतानामपि सताम् ? अच्युतवार्त्तैव अर्थो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि । ४७३॥

अतएव श्रीसनकादयस्तथा चक्रुरिति लिखति—तुल्येति । श्रुतादिभिरविशेषाः अरिमित्रोदासीन-हीनत्वेन निरुपमकरुणाः, अतः सर्व्वे प्रवचनयोग्या अपि भगवत्कथारसिकतया एकं प्रवक्तारमन्यञ्च प्रष्टारं कृत्वा परे शुश्रूषुरित्यर्थः ॥४७४॥

तथेति पूर्व्वलिखित-समुच्चये । स्वयं क्रियमाणानपि वैष्णवधर्म्मान् ये विदन्ति, तान् साधून् सम्यक् पृच्छेत् ॥४७५॥

ननु भगवद्धर्म्माः परमगोप्याः प्रश्नमात्रेण कथं कथ्याः ? तत्र लिखति—श्रद्धयेति । विद्वान् वैष्णव-धर्म्माभिज्ञश्चेत्, अवश्यं कथयेदेव; कुतः ? वैष्णवाय तत्र च श्रद्धया वारं वारं पृच्छते । चतुर्थी द्वितीयार्थे सुगमत्वाय ॥४७६॥

अथ भगवत्कथासक्तिः

दशमस्कन्ध में लिखित है—हे राजन् ! सारग्राहि साधुपुरुषवृन्द का अच्युत चरित्र ही एकमात्र वाक्य, कर्ण एवं चित्त का विषय है, उनके स्वभाव ही यह है कि-स्त्रैण पुरुषों की कामिनी वार्त्ता के समान भगवान् की कथा अनुक्षण नव्यवत् प्रतीयमान होती है ॥४७३॥

अतएव उक्त दशमस्कन्ध में ही लिखित है—तत्रस्थ ऋषिवृन्द, स्वाध्याय, तपः एवं चरित्र विषय में समान एवं अरि, मित्र, उदासीन के प्रति समबुद्धि विशिष्ट होने पर भी भगवत् कथा लोलुप होकर एक व्यक्ति को वक्ता रूप में वरण कर अपर समस्त व्यक्ति श्रोता हुये थे ॥४७४॥

स्वयं वैष्णव धर्म का अनुष्ठान करने पर भी पारस्परिक प्रीति वृद्धि के निमित्त साधुवृन्द के निकट वैष्णवधर्म विषयक जिज्ञासा करे। श्रद्धापूर्वक बारम्बार वैष्णवधर्म की जिज्ञासा करने पर वैष्णवधर्माभिज्ञ व्यक्ति अवश्य ही वैष्णव को वैष्णवधर्म कहेंगे नहीं तो दोष का भागी होना पड़ता है ॥४७५-४७६॥

उक्त विषय में और भी वर्णित है—कलिकाल में विष्णुभक्त व्यक्ति वैष्णव धर्म जिज्ञासा करने पर भगवद्भक्त होकर यदि जिज्ञासु को वैष्णव धर्म नहीं कहते हैं, तो उनका शतवर्षार्जित पुण्य विनष्ट होता है। ॥४७७॥

अथ श्रीभगवद्धर्म्मप्रतिपादन-माहात्म्यम्

स्कान्दे ब्रह्मनारद-संवादे—

वैष्णवे वैष्णवं धर्म्मं यो ददाति द्विजोत्तमः। ससागर-महीदाने यत् फलं लभतेऽधिकम् ॥४७८॥

किञ्च, तत्रैव—

अज्ञानाय च यो ज्ञानं दद्याद्धर्म्मोपदेशनम्।
कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं हि तत् स्मृतम् ॥४७९॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे—

तत्कथां श्रावयेद्यस्तु तद्भक्तान् मानवोत्तमः। गोदानफलमाप्नोति स नरस्तेन कर्म्मणा ॥४८०॥

पाद्मे देवदूतविकुण्डल-संवादे—

ज्ञानमज्ञाय यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवम्। अपि देवास्तमर्च्चन्ति भवबन्धविदारकम् ॥४८१॥

बृहन्नारदीये—

सत्सङ्गदेवार्च्चन-सत्कथासु, परोपदेशेऽभिरतो मनुष्यः।
स याति विष्णोः परमं पदं तत्, देहावसानेऽच्युततुल्यतेजाः ॥४८२॥

ते च श्रीभगवद्धर्म्मा भगवद्भक्तलक्षणैः। व्यञ्जिताः कतिचिन्मुख्या लिख्यन्तेऽत्र परेऽपि ते ॥४८३

यत् फलं, ततोऽप्यधिकं लभते ॥४७८॥

विशेषतश्च भगद्धर्म्मं सम्यगजानते वैष्णवाय अवश्यं कथयेदित्याह—अज्ञानायेति। भगवद्धर्म्मोपदेशनरूपं ज्ञानं; यद्वा, सामान्यधर्म्मोपदेशरूपमपि ॥४७९॥

अर्च्चन्ति अर्च्चयन्ति, यतः आत्मनोऽन्येषामपि संसारमोचकम् ॥४८१॥

सत्सङ्गादिषु परोपदेशे च योऽभिरतः; यद्वा, सत्सङ्गादिषु विषयेषु यः परं प्रत्युपदेशस्तस्मिन् योऽभिरतः; तत् अनिर्व्वचनीयम्, यद्वा, तस्य उपदेशसम्बन्धिनो देहस्यान्त एव, न तु जन्मान्तरे इत्यर्थः। भगवत्तुल्यतेजाः सन् सारूप्यादिप्राप्तेः ॥४८२॥

के ते वैष्णवधर्म्माः? इत्यपेक्षायां लिखति—पूर्व्वलिखितैर्भगवद्भक्तानां लक्षणैर्द्वारभूतैर्मुख्याः श्रेष्ठाः कतिचिद्व्यञ्जिता व्यक्तीकृता एव, अ।रेऽपि ते श्रीभगवद्धर्म्माः कतिचिदत्र लिख्यन्ते। श्रीभगवद्धर्म्माः भक्तेरङ्गान्येव, तानि च मुख्यानि गौणानि च कानिचिच्च तत्साधनानि सर्व्वाण्येव एकत्रात्र लेख्यानीत्यर्थः॥

अथ श्रीभगवद्धर्म्मप्रतिपादन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद-संवाद में लिखित है—जो द्विजश्रेष्ठ, वैष्णव को वैष्णवधर्म प्रदान करते हैं, ससागरा पृथिवी दान करने से जो फल होता है उससे अधिक फल धर्म दान से होता है ॥४७८॥

और भी उक्त स्थान में लिखित है—जो मनुष्य, अज्ञान व्यक्ति को धर्मोपदेश रूप ज्ञान दान करते हैं, समस्त पृथिवी दान करने से जो पुण्य लाभ होता है, तद्रूप पुण्य लाभ धर्मोपदेश से होता है ॥४७९॥

विष्णुधर्मोत्तर में लिखित है—जो मानवश्रेष्ठ, विष्णुभक्तवृन्द को विष्णुकथा श्रवण कराते हैं, वे गोदान-जनित फल के समान फल लाभ करते हैं ॥४८०॥

पद्मपुराण के देवदूत-विकुण्डल-संवाद में लिखित है—जो मानव, वेदशास्त्र समुत्पन्न ज्ञान प्रदान अज्ञ व्यक्ति को करते हैं, उन संसार मोचक व्यक्ति की पूजा देववृन्द भी करते रहते हैं ॥४८१॥

बृहन्नारदीय पुराण में लिखित है—जो मनुष्य, सत्सङ्ग, देवपूजा, सत्कथा एवं परोपदेश में अनुरक्त हैं, वे इस देह का अवसान होने पर भगवत्तुल्य तेजस्वी होकर श्रीविष्णु के परमपद गमन करते हैं ॥४८२॥

पूर्व वर्णित भगवद्भक्त लक्षण द्वारा कतिपय मुख्य धर्म का प्रकाश हुआ है, यद्यपि उक्त भगवद्धर्म समूह

ते तु यद्यपि विख्याताः श्रीमद्भागवतादिषु । तथापि यत्नादेकत्र संगृह्यन्ते ससाधनाः ॥४८४॥

अथ भगवद्धर्म्माः

ते चोक्ताः काशीखण्डे द्वारकामाहात्म्ये चन्द्रशर्म्मणा—

अद्य प्रभृति कर्त्तव्यं यन्मया कृष्ण तच्छृणु । एकादश्यां न भोक्तव्यं कर्त्तव्यो जागरः सदा ॥४८५

महोत्सवः प्रकर्त्तव्यः प्रत्यह पूजनन्तव । पलार्द्धेनापि विद्धन्तु भोक्तव्यं वासरन्तव ॥४८६॥

त्वत्प्रीत्याष्टौ मया कार्य्या द्वादश्यो व्रतसंयुताः । भक्तिर्भागवती कार्य्या प्राणैरपि धनैरपि ॥४८७

नित्यं नामसहस्रन्तु पठनीयन्तव प्रियम् । पूजा तु तुलसीपत्रैर्मया कार्य्या सदैव हि ॥४८८॥

तुलसीकाष्ठसम्भूता माला कार्य्या सदा मया । नृत्यगीतं प्रकर्त्तव्यं संप्राप्ते जागरे तव ॥४८९॥

तुलसीकाष्ठसम्भूतचन्दनेन विलेपनम् । करिष्यामि तवाग्रे च गुणानां तव कीर्त्तनम् ॥४९०॥

मथुरायां प्रकर्त्तव्यं प्रत्यब्दं गमनं मया । तत्कथाश्रवणं कार्य्यं तथा पुस्तकवाचनम् ॥४९१॥

नित्यं पादोदकं मूर्धना मया धार्य्यं प्रयत्नतः । नैवेद्य-भक्षणञ्चापि करिष्यामि यतव्रतः ॥४९२॥

निर्म्माल्यं शिरसा धार्य्यं त्वदीयं सादरं मया । तव दत्त्वा यदिष्टन्तु भक्षणीयं मुदा मया ।४९३

तथा तथा प्रकर्त्तव्यं तव तुष्टिः प्रजायते । सत्यमेतन्मया कृष्ण तवाग्रे परिकीर्त्तितम् ॥४९४॥

ननु श्रीभगवद्धर्म्माः सर्व्वशास्त्रेषु व्यक्तमेव वर्त्तन्ते, किं तल्लिखनश्रमेण ? सत्यं, तथापि नानास्थान-स्थितानि समाहृत्य सविशेषमेकत्र संगृह्यन्त इति लिखति—ते त्विति । एवं भक्तलक्षणेषु पूर्व्वं लिखितानामपि केषाञ्चित् पुनरत्र संगृहीतवचनान्तर्वर्त्तित्वेन लिखनादपि न दोषः, एकत्रैव सुखलाभात् । ससाधना भगवद्-धर्म्मस्य साधनैः सहिताः, तानि चाग्रे तत्र तत्रैवाभिव्यञ्जयितव्यानि ॥४८३-४८४॥

वासरम् एकादशी-जन्माष्टम्यादि; भक्तिः परिचर्य्यालक्षणा; पुस्तकं श्रीभागवतादि ॥४८६-४९१॥

इष्टं प्रियं यद्वस्तु, तत् तुभ्यं दत्त्वा समर्प्यैव मया भक्षणीयम् ॥४९३॥

तत्तच्च सर्व्वं तव प्रीत्यर्थमेव यथाविधि कार्य्यं, न त्वन्यार्थमित्याह—तथेति । यद्वा, अनुक्तमन्यदपि संगृह्णाति तथा तथेति, तत्तत्प्रकारोऽन्यश्चेत्यर्थः ॥४९४॥

श्रीमद्भागवतादि शास्त्र में स्पष्ट रूप में वर्णित है, तथापि सुलभार्थ यत्नपूर्वक उक्त वचनसमूह संगृहीत हो रहे हैं ॥४८३-४८४॥

अथ भगवद्धर्म्माः

काशीखण्ड के द्वारका-माहात्म्य में चन्द्रशर्मा कथित भागवत धर्म इस प्रकार है—हे कृष्ण ! अद्यावधि मैं जो कुछ करूँगा, उसको कह रहा हूँ, आप श्रवण करें। एकादशी में भोजन नहीं करूँगा, सर्वदा रात्रि जागरण भी करूँगा। प्रत्यह महोत्सव एवं आपकी पूजा करूँगा। एकादशी एवं जन्माष्टमी प्रभृति आपका दिन यदि अर्द्धपल भी विद्धा होता है तो उसदिन भोजनकर आपकी प्रसन्नताहेतु व्रतलक्षणयुक्त अष्टमहाद्वादशी पालन करूँगा, प्राण एवं धन के द्वारा भी भगवद्भक्ति का अनुशीलन करूँगा, नित्य त्वत्प्रिय सहस्रनाम का पाठ करूँगा, मैं सर्वदा तुलसी-पत्र द्वारा आपकी पूजा करूँगा। सर्वदा तुलसीकाष्ठ-निर्मित माला धारण करूँगा। जागरण उपस्थित होने से उसमें नृत्य-गीत करूँगा। तुलसीकाष्ठोद्भूत चन्दन द्वारा अङ्गविलेपन एवं आपके समीप में आपका गुण कीत्तन करूँगा, प्रतिवर्ष मथुरा दर्शन करूँगा एवं आपका चरित्र श्रवण करूँगा एवं श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ पाठ करूँगा ॥४८५-४९१॥

मैं नित्य यत्नपूर्वक चरणामृत धारण मस्तक में करूँगा, एवं नियमानुसार नैवेद्य भक्षण भी करूँगा। मैं यत्नपूर्वक निर्माल्य धारण करूँगा एवं प्रिय वस्तु निवेदन कर आनन्द पूर्वक भोजन करूँगा ॥४९२-४९३

हे कृष्ण ! मैं शपथ पूर्वक कह रहा हूँ, जिसमें आपकी प्रसन्नता होगी, यथारीति मैं उस प्रकार

सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादेन (३०।३२)—

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्व्वलाभार्पणेन च ।
श्रद्धया तत्कथायाश्च साधुसङ्गेन चैव हि ।
तत्पादवन्दनाद्यैश्च तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ।।४६५।।

हरिः सर्व्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः । इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ।।४६६।।

एकादशे च श्रीकवियोगेश्वरेण (२।३४)—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया आत्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ।।४६७।।

तत्रैव प्रबुद्धयोगेश्वरेण (श्रीभा ११।३।२३-३०)—

सर्व्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गञ्च साधुषु । दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ।।४६८।।

गुरोः शुश्रूषया तस्यैव भक्त्या प्रेम्णा, तस्मिन्नेव सर्व्वेषां लाभानां लब्धानामर्पणेन च, साधवः सदाचारा ये भक्ता वैष्णवास्तेषां सङ्गेन, तल्लिङ्गानां श्रीमूर्त्तीनामीक्षणमर्हणञ्चादिर्येषां वन्दनादीनां तैश्च ।।४६५।।

कामैश्च तत्तदिष्टदानैः, एवं निर्ज्जितषड़्वर्गैः क्रियते भक्तिरित्यनेन सर्व्वेषामेवान्वयः । अत्र च ईश्वराराधनादीनि भक्त्यङ्गानि, तत्साधनानि च गुरु-शुश्रूषादीनि ज्ञेयानि ।।४६६।।

सामान्येन भागवतलक्षणमाह—ये वै इति । मन्वादिमुखेन वर्णाश्रमादिधर्म्मानुक्त्वाऽतिरहस्यत्वात् स्वमुखेनैव भगवता अविदुषामपि पुंसामञ्जः सुखेनैवात्मलब्धये जीवस्य स्वरूपस्फूर्त्त्यै, भगवतः प्राप्तये वा ये वै उपायाः 'यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि' (श्रीगी ९।२७) इत्यादिना सर्व्वकर्म्मार्पणरूपाः प्रोक्तास्तान् विद्धि; एते च प्रायः साधनान्येव; यद्वा, अन्तरङ्गत्वाभावेन मुख्याः; यद्वा, दास्यान्तरगता वाह्याः; यद्वा, 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' (श्रीगी १८।६५) इत्यादिना स्मरणादयः ये अर्ज्जुनं प्रति, तथा 'श्रद्धामृतकथायां मे' (श्रीभा ११।१९।२०) इत्यादिना ये चोद्धवं प्रति स्वयं श्रीभगवता प्रोक्तास्तान्; ततश्च सर्व्वे प्रायो मुख्या एवेति ।।४६७।।

'तत्र भागवतान् धर्म्मान् शिक्षेत्' (श्रीभा ११।३।२२) इत्युक्तान् दर्शयति— सर्व्वत इत्यष्टभिः । यथोचितमिति हीनेषु दयां, समेषु मैत्रीम्, उत्तमेषु च प्रश्रयं शिक्षेदिति सर्व्वत्र पूर्व्व-श्लोकस्थेनान्वयः । शौचं बाह्यं मृज्जलादिभिः, आभ्यन्तरञ्चादम्भमानादि, तपः स्वधर्म्माचरणं, तितिक्षां क्षमां, मौनं वृथावाचामनुच्चारणं,

---

आचरण ही करूँगा ।।४६४।।

सप्तमस्कन्ध में श्रीप्रह्लाद की उक्ति यह है—हे बालकगण ! गुरु शुश्रूषा, गुरु भक्ति, गुरुदेव को सर्व लब्ध वस्तु समर्पण, उसकी कथा में साधुसङ्ग में श्रद्धा, उनकी चरण वन्दना, उनकी मूर्त्ति दर्शन एवं पूजादि तथा भगवान् श्रीहरि की सर्वभूत में विद्यमानता विचारणा, एवं प्राणीमात्र को अभीष्ट प्रदान पूर्वक सम्यक् सम्मान करना चाहिये ।।४६५-४६६।।

एकादशस्कन्ध में श्रीकवियोगेश्वर ने कहा है—हे राजन् ! मूढ़मति मनुष्यगण सहज में आत्मज्ञान लाभ करें, तज्जन्य भगवान् ने जिन सब उपायों का उपदेश प्रदान किया है अर्थात् 'यत् करोषि यदश्नासि' रूप में जो आदेश किया है, उसी को भागवत धर्म जानना चाहिये ।।४६७।।

एकादश स्कन्ध में प्रबुद्ध योगेश्वर की उक्ति है— प्रबुद्ध कहे थे, हे राजन् ! प्रथमतः समस्त विषयों से मानसिक आसक्ति को परित्याग कर सज्जनों का सङ्ग करे, पश्चात् हीनजन के प्रति कृपा, समान लोकों के सहित मित्रता एवं निज अपेक्षा श्रेष्ठ लोकों के प्रति यथोचित सम्मान प्रदान करे ।।४६८।।

शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्ज्जवम् ।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसाञ्च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥४९९॥
सर्व्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् । विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥५००॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रे अनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कायदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि ॥५०१॥
श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्म्मणः । जन्मकर्म्मगुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥५०२॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥५०३॥

स्वाध्यायं यथाधिकारं वेदपाठादि, आर्ज्जवं स्वच्छतां, ब्रह्मचर्य्यं यस्य यादृगुचितम्, ऋतुषु स्वदारनियमादि, अहिंसा भूतेष्वद्रोहः, द्वन्द्वसंज्ञयोः शीतोष्णसुख-दुःखादिरूपयोः समं हर्षविषादराहित्यम्, आत्मेश्वरान्वीक्षां सच्चिद्रूपेणात्मेक्षां नियन्तृरूपेणेश्वरेक्षाञ्च, कैवल्यमेकान्त-शीलत्वम् । अनिकेततां गृहाद्यभिमान-राहित्यं, विविक्तचीर-वसनं विजनपतितानां वस्त्रखण्डानां शुद्धानां वा वल्कलादीनां परिधानं, भागवते भगवत्-प्रतिपादके श्रीभागवते वा, अन्यत्र शास्त्रादौ अनिन्दां, मनसः प्राणायामैः, वाचो मौनेन, कायस्यानीहया दण्डम् । सत्यं यथार्थभाषणं, शमदमौ अन्तःकरणवाह्येन्द्रियनिग्रहौ—इमानि च प्रायः साधनान्युक्तानि । भक्तेर्मुख्याङ्गान्याह—श्रवणमिति चतुर्भिः । हरेर्जन्मकर्म्मगुणानां श्रवणादि. अद्भुतकर्म्मण इति जन्मादीनि सर्व्वाण्येवाद्भुतानीति सर्व्वेषामपि जन्मादीनामद्भुतत्वमित्यर्थः । यद्वा, अद्भुतानि जगदाश्चर्य्यकराणि कर्म्माणि पूतनाबधादीनि यस्य तस्य हरेः श्रीकृष्णस्य, तदर्थे हर्य्युद्देशेन श्रीकृष्णप्रेमार्थं वा सर्व्वं कर्म्म विशेषतो यजनादि तदर्थे शिक्षेत् । इष्टं दत्तमित्यादयो भावे निष्ठाः । वृत्तं सदाचारः, आत्मनः प्रियं गन्धपुष्पादि, दारादीनप्यालक्ष्य परस्मै परमेश्वराय निवेदनं, तत्सेवकतया समर्पणं यत्तन शिक्षेत् ॥४९८-५०३॥

पश्चात् वाह्य आभ्यन्तर शौच, अर्थात् मृत्तिका एवं जल द्वारा वाह्यिक शौच एवं दम्भ मानादि वर्जन द्वारा आन्तरिक शौच, तदनन्तर तपः अर्थात् स्वधर्माचरण, क्षमा, मौन अर्थात् वृथा वाक्योच्चारण, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य्य, अहिंसा, प्राणिमात्र का अनिष्टाचरण न करना एवं शीतोष्ण दुःखादि सहन शिक्षा भी करे ॥४९९॥

अनन्तर सर्वत्र सच्चित् स्वरूप में आत्मा का ईक्षण, नियन्तृ रूप में ईश्वर का ईक्षण, निर्जन में वास, गृहादि के प्रति अभिमान शून्यता, विजन पतित वस्त्र खण्ड अथवा बल्कल परिधान, एवं यथा लाभ सन्तोष की शिक्षा करे ॥५००॥

भगवत् प्रतिपादक शास्त्र में श्रद्धा, अन्य शास्त्र की निन्दा न करना, मनः, वाक्य एवं शरीर का दण्ड-विधान, यथार्थ भाषण एवं शमदमादि अर्थात् अन्तरेन्द्रिय तथा वहिरिन्द्रिय निग्रह करने की शिक्षा करनी चाहिये ॥५०१॥

अद्भुत कर्मा श्रीहरि के जन्म, कर्म, गुणसमूह का श्रवण, कीर्त्तन, ध्यान करे एवं उन्हीं के उद्देश से सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये ॥५०२॥

इष्ट, दान, तपस्या, जप, सदाचार, स्वप्रिय वस्तु, कलत्र, पुत्र, गृह एवं प्राण— परमेश्वर को निवेदन करे। अर्थात्- इष्ट शब्द का अर्थ श्रीहरिसम्प्रदानक याग, दत्त, विष्णु एवं वैष्णवसम्प्रदानक दान, तपस्या- एकादश्यादि व्रत, जप-श्रीहरिमन्त्र जप, एवं निज प्रिय वस्तुसमूह परमेश्वर को निवेदन करे, एवं कलत्र पुत्रादि को भगवत् सेवा-कार्य्य में नियोजन करे ॥५०३॥

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् । परिचर्य्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ।।५०४।।
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः । मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ।।५०५।।

श्रीभगवता च (श्रीभा ११।११।३४-४१)—

मल्लिङ्ग-मद्भक्तजन-दर्शनस्पर्शनार्च्चनम् । परिचर्य्या स्तुतिः प्रह्वो गुणकर्म्मानुकीर्त्तनम् ।।५०६
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव । सर्व्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ।।५०७।।
मज्जन्मकर्म्मकथनं मम पर्व्वानुमोदनम् । गीतताण्डव-वादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ।।५०८।।
यात्रा बलिविधानञ्च सर्व्ववार्षिकपर्व्वसु । वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ।।५०९
ममार्च्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः । उद्यानोपवनाक्रीड़-पुरमन्दिरकर्म्मणि ।।५१०।।
संमार्ज्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः । गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवत् यदमायया ।।५११।।

कृष्ण एवात्मा नाथश्च येषां, श्रीकृष्ण आत्मनः स्वस्य नाथो येषामिति वा; यद्वा, कृष्णो जीवनस्वामी येषां तेषु । उभयत्र स्थावरे जङ्गमे च या परिचर्य्या तां, विशेषतो नृषु, तत्रापि साधुषु स्वधर्म्मशीलेषु, ततोऽपि महत्सु श्रीभागवतवरेषु । यद्वा, विशेषनः साधुषु दयालुषु महत्सु नृष्विति ।।५०४।।

तैश्च सह सङ्गम्य यत् पावनं भगवद्यशः, तस्य परस्परानुकथनं शिक्षेत्; यद्वा, यश प्रति, तत्र संस्पर्द्धादि-परित्यागेन मिथो या रतिः रमणं, या च तुष्टिः सुखं, या च निवृत्तिः समस्तदुःखनिवृत्तिस्तां शिक्षेत् ।।५०५।।

कृपालुरित्यादिभिः पञ्चभि श्लोकैः साधुलक्षणमुक्त्वा इदानीं भक्तेर्लक्षणमाह- मल्लिङ्ग इत्यष्टभिः । लिङ्गानि प्रतिमादीनि, मल्लिङ्ग-मद्भक्तजनानामेव परिचर्य्यादि, तत्र प्रह्वो नमस्कारः, पर्व्वाणि जन्माष्टम्यादीनि, तदनुमोदनं, बलिविधानं पुष्पोपहारादि-समर्पणं, सर्व्ववार्षिकपर्व्वस्विति चातुर्म्मास्यैकादश्यादिषु विशेषत इत्यर्थः । उद्यानादिकरणे सामर्थ्ये सति स्वतः, असति चान्यैः सम्भूय चोद्यमः । उद्यानं पुष्पप्रधानं वनम्, उपवनं फलप्रधानम्, आक्रीड़ं क्रीड़ास्थानं, संमार्ज्जनं रजसोऽपाकरणम्, उपलेपः गोमयोदकादिभि-रालेपनं, सेकः तैरेव प्रोक्षणं, मण्डलवर्त्तनं सर्व्वतोभद्रादिकरणम्; मह्यं मम ।।५०६-५११।।

इस प्रकार कृष्णभक्त मनुष्य के सहित सौहार्द्द स्थापन करे। स्थावर जङ्गम की परिचर्य्या करे, विशेष कर मनुष्यों के प्रति। तन्मध्य में धार्मिकों के प्रति। तन्मध्य में श्रीभगवद्भक्त साधुजनों के प्रति परिचर्य्या का अभ्यास करना चाहिये ।।५०४।।

अनन्तर भगवद्भक्त सङ्ग लाभ होने पर पवित्र भगवद् यशः का कथनोपकथन, गर्व परित्याग पूर्वक परस्पर प्रणय, सन्तोष एवं दुःखनिवृत्ति की शिक्षा का अभ्यास करना चाहिये ।।५०५।।

एकादश स्कन्ध में श्रीभगवदुक्ति यह है—हे उद्धव ! मेरी प्रतिमा-प्रतिमूर्त्ति, अथवा मेरे भक्त का दर्शन स्पर्शन, पूजा, सेवा, परिचर्य्या, स्तुति, प्रणाम एवं गुणानुवाद करे। मेरी कथा सुनने में श्रद्धा, मदनुध्यान, मेरा सदा ध्यान करना, मुझको प्राप्त द्रव्य प्रदान, दास्य भाव से आत्मार्पण, मेरे जन्म-कर्म कीर्त्तन, जन्माष्टम्यादि मेरे उचित पर्वों का अनुमोदन, मेरे मन्दिर में नृत्य गीत-वाद्य एवं सपरिवार मन्दिर में महोत्सव यह सब कार्य्य करे। सांवात्सरिक अर्थात् वर्ष दिन के सम्पूर्ण पर्वदिनों में मेरी यात्रा, बलिविधान पुष्पादि उपहार प्रदान, वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा, मेरा व्रत धारण, मेरी प्रतिमा के प्रतिष्ठा करने में श्रद्धा, स्वयं अथवा अन्यान्य पुरुषों के सहित एकत्र होकर उद्यान, उपवन, क्रीड़ा गृह, पुर, मन्दिर प्रभृति, मदीय प्रीतिकर कार्य्य में स्वयं अथवा बहुजन सम्मिलित होकर उद्योग, संमार्जन, गो-मयादि द्वारा उपलेपन, जल सेचन, सर्वतोभद्रमण्डलादि अर्पण, भृत्यवत् अकपट भाव से मद्गृह में शुश्रूषा, अमानित्व, अदाम्भित्व, कृत कार्य्य का अपरिकथन, मुझको अर्पित प्रदीपालोक में अन्य कार्य्य न करना, एवं जो जो वस्तु सर्वलोक-

अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्त्तनम् । अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥५१२
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः । तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥५१३॥

किञ्च (श्रीभा ११।१९।२०-२३)—

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्त्तनम् । परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥५१४॥
आदरः परिचर्य्यायां सर्व्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्व्वभूतेषु मन्मतिः ॥५१५॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् । मय्यर्पणञ्च मनसः सर्व्वकामविवर्ज्जनम् ॥५१६॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥५१७॥

कृतस्य धर्म्मस्य अपरिकीर्त्तनं, स्वयमन्येन वा निवेदितं न स्वीकुर्य्यात् । एतच्च साधारणस्थावरविषयं रागप्राप्तविषयं वा भक्त्या तु ग्राह्यमेव, षड्भिर्मासोपवासैश्च यत् फलं परिकीर्त्तितम् । विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन पुण्यं तद्भुञ्जतां कलौ ॥ हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमुदरे हरेः। पादोदकञ्च निर्म्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः ॥' इत्यादिवचनेभ्यः । यद्वा, अन्यस्मै निवेदितं मे नोपयुञ्ज्यात्, मह्यं न निवेदयेदित्यर्थः, 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते ॥ पितृशेषन्तु यो दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिनः ॥' इत्यादिवचनेभ्यः । यद्वा, पूर्व्वं मे निवेदितं सन्तं पुनर्मे न निवेदयेदित्यर्थः । एतच्च स्थावरातिरिक्त-निर्म्माल्यविषयकं ज्ञेयं, भूषणादीनां पुनरर्पणे दोषाभावात्, स च पूर्व्वमेव तत्तत्प्रकरणे लिखितोऽस्ति । आनन्त्याय श्रीविष्णुलोकाय, मल्लिङ्गेत्यादिषु चात्र भक्तेरङ्गान्येव प्रायेणोक्तानि, तत्र कानिचिन्मुख्यानि कानिचिदमुख्यानि च, अमानित्वमित्यादौ च साधनान्येवेति विवेचनीयम् ॥५१२-५१३॥

पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणमिति प्रतिज्ञातमेवाह— श्रद्धेति चतुर्भिः; श्रद्धा श्रवणादरः शश्वदिति सर्व्वत्रानुषज्यते । मदनुकीर्त्तनं श्रवणानन्तरं मत्कथाव्याख्यानमित्यर्थः । अङ्गचेष्टा लौकिकी क्रिया, वचसा लौकिकेनापि मद्गुणानामीरणं कथनं, मदर्थे मद्भजनार्थं तद्विरोधिनोऽर्थस्य परित्यागः, भोगस्य तत्साधनस्य चन्दनादेः, सुखस्य च पुत्रोपलालनादेः; यद्वा, अर्थो धनं, भोगो विषयोपभोगः, सुखं मोक्षानन्दः, तेषां परित्यागः; इष्टादि वैदिकं यत् कर्म्म, तदपि मदर्थं चेद्भक्तेः कारणमित्यर्थः । अत्रादौ प्रायो भक्तेर्मुख्यान्यङ्गान्युक्तानि । सर्व्वकामविवर्ज्जनादीनि च प्रायः साधनान्येव ॥५१४-५१७॥

अभिलषित एवं अपने को अत्यन्त प्रिय हैं, वह सब मुझको निवेदन करने से अक्षय फल मिल सकता है ॥ ॥५०६-५१३॥

एकादश स्कन्ध के अग्रभाग में वर्णित है— मदीय अमृतमयी कथा में सर्वदा श्रद्धा, नित्य मेरे नामों का कीर्त्तन, मेरी पूजा में विशेष निष्ठा, स्तुतिसमूह के द्वारा मेरा स्तव, मेरी परिचर्य्या में आदर, साष्टाङ्ग के द्वारा अभिवन्दन, मेरी पूजा से भी मेरे भक्त की अधिक पूजा, सर्वभूत में मद्बुद्धि अर्थात् सर्वभूत में मुझको देखना, यह ही सर्वापेक्षा मेरी उत्तम पूजा है ॥५१४-५१५॥

मेरे उद्देश्य में लौकिक कार्य्य का अनुष्ठान, अङ्गचेष्टा, लौकिक वाक्य द्वारा मेरे गुण वर्णन, मुझको मन अर्पण, सर्व कर्म त्याग, मेरे निमित्त अर्थ, भोग एवं सुख परित्याग, मेरे निमित्त ही इष्टापूर्त्त, दान, होम, जप व्रत, तपस्या, इन सबका अनुष्ठान करना उचित है । कारण, यह सब भक्ति के कारण हैं ॥५१६-५१७॥

अपि चाग्रे (श्रीभा ११।२९।९-१२)—

कुर्य्यात् सर्व्वाणि कर्म्माणि मदर्थे शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्म्मात्ममनोरतिः ॥५१८॥

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् । देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥५१९
पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्व्वयात्रामहोत्सवान् । कारयेन्नृत्यगीताद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥५२०॥
मामेव सर्व्वभूतेषु वहिरन्तरपावृतम् । ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥५२१॥

अथ श्रीभगवद्धर्म्म-माहात्म्यम्

उक्तञ्च सप्तमस्कन्धे श्रीप्रह्लादेन (७।३३)—

एवं निर्ज्जितषड़्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे । वासुदेवे भगवति यया संलभ्यते रतिः ॥५२२॥

एकादशे श्रीनारदेन (२।१२)—

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वाऽनुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्म्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ॥५२३॥

'हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्म्मान् सुमङ्गलान्' इति प्रतिज्ञाय तानेवाह—कुर्य्यादिति चतुर्भिः । मां स्मरन् शनकैः असम्भ्रमतः कुर्य्यात्, तदाह—मयीति, अर्पिते मनश्चित्ते सङ्कल्पविकल्पानुसन्धानात्मिके येन, अतएव मद्धर्म्मेष्वेवात्ममनसो रतिर्यस्य सः, पुण्यदेशलक्षणं मद्भक्तैरिति। देवादिषु ये ये मद्भक्तास्तेषामाचरितानि कर्म्माणि चाश्रयेत् । सत्रेण सम्भूय वा । सर्व्वभूतेषु आत्मनि चात्मानमीश्वरं स्थितं मामवेक्षेत । ननु कथमेकस्य सर्व्वेष्वनुवृत्तिः ? तत्राह—वहिरन्तरश्च अपावृतं पूर्णमित्यर्थः । एषु च क्रमेण साधनानि भक्त्यङ्गानि च मुख्यान्यपि पूर्व्वलिखितानुसारेण विवेचनीयानीति दिक् ॥५१८-५२१॥

एवमुक्त-गुरुशुश्रूषादिप्रकारेण निर्जितः षण्णां काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्याणामिन्द्रियाणां वा वर्गो यैस्तैः, भक्तिः ईश्वराराधनरूपैव; यया भक्त्या, रतिः प्रेमा ॥५२२॥

आदृतः आस्तिक्ये गृहीतः, अनुमोदितः परैः क्रियमाणः संस्तुतः, सद्धर्म्मः, देव हे वासुदेव; यद्वा, देवेभ्यो विश्वस्मै च द्रुह्यन्ति ये तानपि ॥५२३॥

उक्त एकादश स्कन्ध के अग्रभाग में और भी वर्णित है—मेरा स्मरणकर मुझमें मन अर्पण पूर्वक, धर्म-बुद्धि सम्पन्न होकर मन्निमित्त धीरे धीरे समस्त कर्मों का अनुष्ठान करे । मद्भक्त साधुकर्त्तृक आश्रित पुण्य देश में निवास करे, एवं देवासुर मनुष्यों में मेरे भक्त जिस प्रकार आचरण करे, उसी के अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये ॥५१८-५१९॥

परस्पर एकत्र होकर अथवा एकक-नृत्य गीतादि द्वारा एवं महाराजोचित विभूति द्वारा मन्निमित्त यात्रा महोत्सवादि का अनुष्ठान करे । विमलमति साधुभूतों के भीतर बाहर एवं आत्मा में अनाच्छादित रूप में मुझको निरीक्षण करे ॥५२०-५२१॥

अथ भगवद्धर्म्म-माहात्म्यम्

सप्तम स्कन्ध में श्रीप्रह्लाद ने कहा है—हे बालकवृन्द ! इन सब कार्य्यों के द्वारा षड़्वर्ग अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मत्सरता को जीतकर भगवान् श्रीहरि में प्रीति करना चाहिये, ऐसा होने पर भगवद् विषयक प्रीति प्राप्त हो सकती है ॥५२२॥

एकादश स्कन्ध में श्रीनारद ने कहा—हे वासुदेव ! भगवद्धर्म की महिमा परमाद्भुत है—उसको श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, आदर से ग्रहण, स्तवन अथवा अनुमोदन करने पर जगद्रोही पुरुष भी सद्यः पवित्रता लाभ करता है ॥५२३॥

तत्रैव श्रीकवियोगेश्वरेण (श्रीभा ११।२।३५)—

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।५२४

श्रीप्रबुद्धयोगेश्वरेण (श्रीभा ११।३।३३)—

इति भागवतान् धर्म्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ।।५२५।।

श्रीभगवता च (श्रीभा ११।१९।२४)—

एवं धर्म्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ।।५२६

किञ्चाग्रे (श्रीभा ११।२९।२०)—

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्म्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ।।५२७।। इति ।

यान् भगवद्धर्म्मान् आस्थाय आश्रित्य योगादिष्विव न प्रमाद्येत, विघ्नैर्न विहन्येत । किञ्च, निमील्य नेत्रे धावन्नपि इह एषु भागवतधर्म्मेषु न स्खलेत् । निमीलनं नामाज्ञानं, यथाह— 'श्रुति-स्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते । एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तितः ।।' इति । अज्ञात्वापीत्यर्थः; यथा पदन्यास-स्थानमतिक्रम्य शीघ्रं परतः पदन्यासेन गतिर्धावनं, तद्वदत्रापि किञ्चित् किञ्चिदतिक्रम्याति-शीघ्रमनुष्ठानं धावनं, तथानुतिष्ठन्नपि न स्खलेत्, न प्रत्यवायी स्यात्, तथा न पतेत, फलान्न भ्रश्येत् ।।५२४।।

तदुत्थया भागवतधर्म्मोत्पन्नया भक्त्या भक्तिनिष्ठया नारायणपरः सन्नतिदुस्तरामपि मायामञ्जः सुखेन तरति ।।५२५।।

एवमीदृशैरेतैर्वा आत्मनिवेदिनां सतां भक्तिः प्रेमलक्षणा सम्यग्जायते । अस्य भक्तस्य अन्यः कोऽर्थः साधनरूपः साध्यरूपो वावशिष्यते ? सर्व्वोऽपि स्वत एव भवतीत्यर्थः । यद्वा, अस्य मम, ततश्च सतां मद्भक्तिसम्यगाविर्भावे सति ममैव कृतार्थता स्यादित्यर्थः ।।५२६।।

अङ्ग हे उद्धव ! अनाशिषो निष्कामस्य; यद्वा न विद्यते आशीर्यस्मात् सतां परमाशीर्व्वादरूपस्येत्यर्थः । उपक्रमे आरम्भे सति अण्वपि ईषदपि वैगुण्यादिभिर्नाशो नास्त्येव, यतो ममैव निर्गुणत्वादयं धर्म्मः सम्यग्-व्यवसितो निश्चितः, न तु मन्वादिमुखेन कथञ्चित्; यद्वा, निराशिषो मोक्षस्य निर्गुणत्वात् फलविशेषाभावात्, सम्यक् तस्मादपि समीचीन इत्ययं व्यवसित इति ।।५२७।।

एकादश स्कन्ध में कवि योगेश्वर की उक्ति है—हे राजन् ! भागवत धर्म का आश्रय ग्रहण पूर्वक नेत्र मूँदकर दौड़ने पर भी कभी किसी प्रकार के विघ्न से उस पुरुष को स्खलित अथवा पतित होना नहीं पड़ता है ।।५२४।।

एकादश स्कन्ध में श्रीप्रबुद्ध योगेश्वर का कथन है—हे राजन् ! इस प्रकार के भागवत धर्म को सीखने पर उससे प्रेमभक्ति उत्पन्न होती है, एवं उससे श्रीनारायण-परायण होकर दुस्तर माया को भी अतिक्रम किया जा सकता है ।।५२५।।

श्रीभगवद्वाक्य इस प्रकार है—हे उद्धव ! इस प्रकार धर्म का आचरण करने से मेरे प्रति आत्मार्पण परायण की भक्ति बढ़ती है, उसके पुनः अर्थान्तर अवशेष नहीं रहता है, अर्थात् वह सब विषयों में ही पूर्ण कृतार्थता लाभ करता है ।।५२६।।

इस स्थान के आगे और भी लिखा है—भगवान् बोले, हे उद्धव ! मेरे इस धर्म के प्रारम्भ में वैगुण्य उत्पत्ति होने पर भी कामना विहीन मनुष्य के सम्बन्ध में धर्म के किञ्चिन्मात्र ह्रास होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि मदीय नैर्गुण्य के कारण मेरे द्वारा ही यह धर्म सम्पूर्ण रूप में व्यवसित है, अर्थात् लिखित है ।।५२७।।

अलाभे सत्सभायास्तु शुश्रूषुञ्च निजालये ।
देवालये वा शास्त्रज्ञः कीर्त्तयेद्भगवत्कथाम् ।।५२८।।

अथ श्रीभगवल्लीलाकथाकीर्त्तन-माहात्म्यम्

उक्तञ्च स्कान्दे श्रीभगवता अर्ज्जुनं प्रति—

मत्कथाः कुरुते यस्तु वैष्णवानां सदाग्रतः । इह भोगानवाप्नोति तथा मोक्षं न संशयः ।।५२९।।

प्रथमस्कन्धे श्रीनारदेन (५।२२)—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा, स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो, यदुत्तमःश्लोकगुणानुवर्णनम् ।।५३०।।

किञ्च (श्रीभा १।६।३५)—

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः । भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्य्यानुवर्णनम् ।।५३१।।

एकादशे श्रीशुकेनापि (३१।२८)—

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार,-वीर्य्याणि बाल्यचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो, भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ।।५३२।।

एवं सतां सभायां गत्वा भगवल्लीलाकथां शृणुयात्, भगवद्धर्म्मांश्च पृच्छेदिति लिखितम् । यत्र च तादृशी सभा नास्ति, तत्र किं कार्य्यमित्यपेक्षायां लिखति—अलाभे इति । शास्त्रज्ञश्चेत्तर्हि श्रोतुमिच्छुषु जनेषु भगवत्कथां स्वयमेव कथयेत् । क्व ? निजालये देवालये वा ।।५२८।।

भगवल्लीलाकथा-कीर्त्तनेनैव तपआदि सर्व्वं सफलं स्यात् । यद्वा, भगवल्लीलाकथाकीर्त्तनमेव तपआदीनां फलमित्याह—इदं हीति । श्रुतादयो भावे निष्ठा । इदमेव तपःश्रवणादेः अविच्युतो नित्योऽर्थः फलम् । किं तत् ? उत्तमश्लोकस्य गुणानुवर्णनं लीलाकथाकीर्त्तनमिति यत ।।५३०।।

मुहुर्मात्राणां विषयाणामुपभोगस्येच्छया आतुराणि विकलानि चित्तानि येषां तेषामपि हरेः चर्य्याया लीलाया अनुवर्णनं यत् ; यद्वा, मुहुरातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छयापि यत् हरिचर्य्यानुवर्णनं, एतदेव हि निश्चितं भवसिन्धोः प्लवः पोतः सुखोत्तार-साधनम् । न केवलं श्रुतिप्रामाण्येन, किन्तु अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां दृष्ट एवेत्यर्थः ।।५३१।।

रुचिराणामवताराणां मत्स्यादीनां वीर्य्याणि परमाद्भुत-चरितानि बाल्यचरितानि च पूतनावधादीनि लोकत्रयेऽपि शन्तमानि मङ्गलानि परमसुखरूपाणि वा, परामुत्कृष्टां प्रेमलक्षणामित्यर्थः, परमहंसानां गतौ श्रीकृष्णे ।।५३२।।

सत्सभा उपलब्ध न होने पर, शास्त्रज्ञ व्यक्ति, निज गृह में अथवा देवालय में जाकर स्वयं शुश्रूषु जनगण के निकट श्रीहरि-कथा कीर्त्तन करे ।।५२८।।

अथ श्रीभगवल्लीलाकथाकीर्त्तन-माहात्म्यम्

स्कन्दपुराण में भगवान् अर्जुन के प्रति कहे हैं—जो मनुष्य, सर्वदा वैष्णवगण के समीप में मेरी कथा का कीर्त्तन करते हैं, वे इस जगत् में भोग लाभ करेंगे एवं परलोक में मोक्ष लाभ करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है ।।५२९।।

और भी लिखित है—पुनः पुनः विषयभोगेच्छा से आतुरचित्त मानवों के पक्ष में इस श्रीहरिलीला-कीर्त्तन ही भवसागर पार जाने की नौका स्वरूप है । मैंने सम्यक् रूप से समझा है ।।५३१।।

एकादश स्कन्ध में श्रीशुकदेव का कथन है—हे राजन् ! भगवान् श्रीहरि की परमाद्भुत मनोज्ञ लीला-

अतएव श्रीप्रह्लादेन नृसिंहस्तुतावुक्तम् (श्रीभा ७।९।१८)—

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया, लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चिगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो, दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥५३३॥

गोपिकाभिरपि गीतम् (श्रीभा १०।३१।९)—

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरीड़ितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं, भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः ॥६३४॥

सोऽहं त्वद्दासः, भो नृसिंह ! तव लीलाकथा अनुगृणन् दुर्गाणि महादुःखानि अञ्जसा अनायासेन तितर्म्मि तरामि, न गणयिष्यामीत्यर्थः । तत्र हेतुः—गुणै रागादिभिर्विशेषेण प्रमुक्तः सन् । तत् कुतः ? ते पदयुगमेवालयो येषां भक्तानां त एव हंसा ज्ञानिनः सारासारविवेकिनो वा, तैः सङ्गो यस्य मम सोऽहम् । कथम्भूतस्य कथाः ? प्रियस्येत्यादि-विशेषणत्रयेणानेन कथाया अपि प्रियत्वादिविवक्षया परमसुखमयत्वादिकं, तेन च सदानुकीर्त्तन-मभिप्रेतम् । कुतो ज्ञाताः ? विरिञ्चिना गीताः तत्सम्प्रदायमप्रवृत्ताः ; तथा चाथर्व्वणी श्रुतिः—'देवा ह वै प्रजापतिम्ब्रुवन्' इत्यादि । एतेन कथायाः परमपुरुषार्थता च दर्शिता, सनकादिपरमहंसाचार्य्येणापि सेवितत्वात् । दुर्गाणि तितर्म्मीति आनुषङ्गिकफलमात्रमिति दिक् ॥५३३॥

कथैवामृतम्, अत्र हेतुः—तप्तजीवनम् । प्रसिद्धामृतादुत्कर्षमाहुः—कविभिर्ब्रह्मादिभिरपीड़ितं स्तुतं, देवभोग्यं त्वमृतं तैस्तुच्छीकृतम् । किञ्च, कल्मषापहं कामकल्मषनिरसनं तत्त्वमृतं नैवम्भूतम् । किञ्च, श्रवणमङ्गलं श्रवणमात्रेण मङ्गलप्रदं ननु तत्तदनुष्ठानापेक्षम्; किञ्च, श्रीमत् सुशान्तं, तत्तु मादकम् । एवम्भूतं त्वत्कथामृतम् आततं यथा भवति, तथा भुवि ये गृणन्ति निरूपयन्ति, ते जनाः भूरिदाः बहुदातारः जीवितं ददतीत्यर्थः । अधुना च तादृशानामलाभेन वयं मृता एवेति भावः । यद्वा, एवम्भूतं त्वत्कथामृतं ये गृणन्ति, ते भूरिदाः पूर्व्वजन्मसु बहु दत्तवन्तः परमसुकृतिन इत्यर्थः । अतो वयं तादृशादृष्टाभावेन त्वत्कथां कीर्त्तयितुमशक्ताः कथं जीवामेति भावः । यद्वा, त्वद्विरहे त्वत्कथास्फूर्त्तिविशेषेण वयं मारिता एवेत्याहुः—त्वत्कथैव मृतं मृतिः साक्षान्मरणमेव । कुतः ? तप्तं तापाभिभूतं भवति जीवनं यस्मात्, परमदाहकस्वभावस्य प्रेमविशेषस्य सद्योमृत्युजनकत्वात् । तथापि कविभिः काव्यकृद्भिरेवेड़ितम्, यतः कल्मषापहम्; किञ्च, श्रवणयोर्मङ्गलं सुखकरम्; किञ्च, श्रिया मदो येषां ब्रह्मादीनां तैराततं सर्व्वतो विस्तारितम्, वस्तुतस्तु श्रवणयोरेव मङ्गलं, श्रीमदैरेवाततमिति दोषः सूचितः । अत एवम्भूतं त्वत्कथामृतं ये भुवि गृणन्ति, त एव जना भूरि बहु द्यन्ति अवखण्डयन्ति गले कर्त्तयन्तीति तथा ते । एवञ्च तत्त्वतः श्रीकृष्णकथाया महाफलविशेष एव सूचित इति दिक् ॥५३४॥

वतार कथा एवं पूतनाबधादि सुमङ्गल बाल्य-चरित्र-कथा का श्रवण कीर्त्तन इस लोक में एवं परलोक में करके मनुष्य, परमहंसगति श्रीकृष्ण में उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त करते हैं ॥५३२॥

अतएव श्रीप्रह्लाद कर्त्तृक श्रीनृसिंह स्तुति में कथित है— हे नृसिंह ! प्रियगण के सुहृद पर देवतास्वरूप तुम्हारी विरिञ्चि गीत लीला कथा का गान करते करते तम्हारे चरणयुगलालय निवासी हंसवृन्द के अर्थात् सारासार विवेकीवृन्द के सङ्गप्राप्त लाभ से गुणातीत होकर मैं महादुःख समूह को अतिक्रम कर सकूँगा ॥ ॥५३३॥

गोपिकावृन्द की कथा में प्रकाशित है—तुम्हारे कथामृत, तापतप्त मानव का जीवन स्वरूप है, कविवृन्द के द्वारा स्तुत, पापहारी एवं श्रवणमात्र से मङ्गलप्रद है। इस प्रकार कथामृत का विस्तार पृथिवी में जिस प्रकार से हो, उस प्रकार जो कीर्त्तन करते हैं वे सब परमदाता हैं ॥५३४॥

कीर्त्तनेऽप्यत्र तज्ज्ञेयं माहात्म्यं श्रवणेऽस्य यत् ।
सिध्यति श्रवणं नूनं कीर्त्तनात् स्वमेव हि ॥५३५॥
शास्त्राभ्यासस्य चाभावे पूर्व्वेषां लोकविश्रुताम् ।
सतामाधुनिकानाञ्च कथां बन्धुषु कीर्त्तयेत् ॥५३६॥

इति श्रीगोपालभट्ट-विलिखिते श्रीभगवद्भक्तिविलासे सत्सङ्गमो नाम दशमो विलासः ।

ननु श्रवणस्य माहात्म्यवचनानि बहूनि लिखितानि, कथं कीर्त्तनस्याल्पतराणि ? ततोऽप्यस्य विशेषात्, तत्र लिखति—कीर्त्तनेऽपीति । हि यतः नूनं निश्चितं कीर्त्तनात् स्वयमेव श्रवणं सिध्यति, श्रोत्रेण स्वकीय-कीर्त्तनस्य स्वतः श्रवणात्; अतः श्रवणादपि कीर्त्तनस्य माहात्म्यविशेषोऽपि ज्ञेयः । तथाप्यल्पवचनानि प्रायः कीर्त्तनमाहात्म्योक्त्या वक्तुर्माहात्म्योपपत्तेर्लज्जादिना तथानुक्तेः । श्रोतॄणां श्रवणापेक्षया बहुलकीर्त्तन-योग्यत्वादिति दिक् ॥५३५॥

शास्त्रज्ञः कीर्त्तयेदिति लिखितं, किन्तु शास्त्रज्ञत्वाभावेऽपि तथा तेन भगवत्कथाशुश्रूषुवैष्णवस्यागम-विशेषाभावेऽपि कदाचिदपि भगवत्कथा न परित्याज्येति लिखति—शास्त्रेति । पूर्व्वेषां पुरातनानाम् आधुनिकानाञ्च तत्कालीनानां सतां श्रीवैष्णवानां कथां बन्धुषु निजभ्रातृपुत्रकलत्रादिषु कीर्त्तयेत् । ननु सापि कथं ज्ञेया ? तत्र लिखति—लोकविश्रुतामिति ॥५३६॥

इति दशमो विलासः ।

श्रवण विषय में जो माहात्म्य लिखा गया है, कीर्त्तन विषय में भी उसको ही जानना होगा । कीर्त्तन में स्वयं ही श्रवण सम्पन्न होता है । इसमें सन्देह नहीं है ॥५३५॥

शास्त्राभ्यास का अभाव होने पर पूर्वतन साधुवृन्द की लोकविश्रुता कथा किंवा आधुनिक वैष्णववृन्द की कथा का कीर्त्तन निज भ्रातृ, पुत्र, कलत्रादि के निकट में करे ॥५३६॥

इति श्रीगोपालभट्ट विलिखिते श्रीभगवद्भक्ति विलासे सत्सङ्गमो नाम दशमो विलासः ॥

प्रथमोभागः समाप्तः ।



